श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

अध्यात्मसहस्री प्रवचन

सप्तम भाग

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक.—
खेमचन्द जैन, सर्राफ
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ
(उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको भारत वर्षीयवर्णी जैन साहित्यमन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ।

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावो की नामावली —

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	"	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	"	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	"	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	"	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	"	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	"	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	"	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	"	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	"	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	"	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	"	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	ज्वालापुर
१३	"	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	"	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	"	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	"	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	"	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	"	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	"	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	"	बा० हरीचन्दजी ज्योतिप्रसादजी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	"	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन, संघी,	जयपुर
२२	"	मत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	"	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	"	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी जैन	गिरिडीह
२५	"	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	"	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर
२७	"	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत

२८ श्रीमान् गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,
२९ ,, दीपचद जी जैन ए० इंजीनियर,
३० ,, मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,
३१ ,, संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमककी मंडी
३२ ,, नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,
३३ ,, फब्बनलाल शिवप्रसादजी जैन, चिलकाना वाले,
३४ ,, रोशनलाल के० सी० जैन,
३५ ,, मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट
३६ ,, बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,
३७ ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर
३८ ,, दिगम्बर जैनसमाज
३९ ,, माता जी धनवंतीदेवी जैन राजागज
४० ,, ब्र० मुख्त्यारसिंह जी जैन, "नित्यानन्द"
४१ ,, ❀ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज
४२ ,, ❀ बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावड़ा,
४३ ,, ❀ इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,
४४ ,, ❀ सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,
४५ ,, ❀ बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर
४६ ,, ❀ ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर
४७ ,, × ब्र० शकुन्तला देवी जैन, दरियागज
४८ ,, × जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,
४९ ,, × जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सद गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

[शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित]

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुःख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५॥

[धर्मप्रेमी बधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नाकित अवसरो पर निम्नाकित पद्धतियो भारतमे अनेक स्थानोपर पाठ किया जाता है । आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमे श्रोताओं द्वारा सामूहिक रूपमें ।
—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।
—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।
—सूर्योदयसे एक घटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला, पुरुषों द्वारा ।
—किसी विपत्तिके भी समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ, स्वरुचि के अनुसार किसी अर्ध, चौथाई या पूर्ण छदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा ।

अध्यात्मसहस्री प्रवचन सप्तम भाग

संसारी जीवोंपर मूल संकट—हम आप सब जीवोपर मूल सकट मात्र जन्म मरण का है। जिसको यहाँ सकट समझ रखा है इष्टवियोग अनिष्टसंयोग अथवा अन्य-अन्य प्रकार की अनुकूल प्रतिकूल स्थितियाँ आदि ये सब कोई सकट नही है, क्योकि य हमैं आत्मा अपने देहमे जहा हू वैसा हू। हममे किसी बाहरी पदार्थसे कुछ आता नही है। बाहरमे जो कोई जिस प्रकार बोलता है, करता है, परिणमता है, वह अपनेमे परिणाम रहा है, उससे मेरेमे क्या बाधा आती ? तब यह निश्चय रखना चाहिए कि मेरेमे संकट किसी बाहरी पदार्थसे नही आया करता। इस प्रसंगमे भी जो संकट चल रहे है वे अपने विकल्पोके सकट है। किसी पदार्थके सम्बधमे कुछ मान रखा है, विपरीत मान रखा तो उस प्रसगमे भी संकट क्या आता है, जैसा हम चाहते है वैसा बाह्य पदार्थमे हो नही रहा इसीसे सकट मान रहे। और क्या सकट है ? जैसे कोई छोटा बच्चा अपनी मां की गोदमे कही महिलाओकी गोष्ठी मे बैठा हुआ है, सभी महिलाये बैठी है, अच्छा वातावरण है, अच्छी चर्चा चल रही है, सुखपूर्वक है लेकिन उस बच्चेके मनमे आ जाय कि हमे तो घर चलना चाहिए, और मा घर जाती नही है तो वह बच्चा रोता है, विह्वल होता है। सभी लोग देख रहे है कि वह बच्चा बडे सुखमे है, भूख प्यास आदिककी कोई वेदना नही है, खेलनेके लिए खिलौने सामने हाजिर है, पर वह बच्चा अपनेको बडे संकटमे समझ रहा है, क्योकि इच्छा है उसकी घर जानेकी और वह घर जा नही पा रहा। तो जैसे उस बच्चेका वह संकट मानना हम आप सभी लोगोको मूर्खता भरा मालूम होता है इसी तरह तो संसारके समस्त प्राणियोकी बात है। हम आप सभी लोग कुछ न कुछ इच्छाये बनाये हुए बैठे है और इच्छा माफिक हो नही पा रहा इसीलिए दुःखी है। और इन्ही विकल्पोके कारण जन्ममरणमय मूल संकटोकी परम्परा बन रही है।

चाहकी अपूर्यता—बाह्य पदार्थोंकी परिणति मेरे आधीन तो है नही। हाँ बहुत सी बाते इच्छा माफिक हो जाती है पर वे मेरे अधिकारपूर्वक नही होती। वैसा योग है, पुण्यका उदय है तो हो जाती है। परमार्थसे देखा जाय तो जो चाहा जाय सो मिलता ही नही है, जब चाहा जाय तब मिलता नही है। जब मिलता है तब चाह नही रहती। चाहा हुआ कभी होता नही। इसी सैद्धान्तिक दृष्टिसे देखा जाय तो यह बात पूर्ण निश्चित है कि जिस समय चाह उत्पन्न हो रही है उस समय वह काम है नही जिसे चाहा जा रहा है। चाहे

गृहस्थावस्थाके तीर्थंकर हो, महापुरुष हो, देवेन्द्र हो, जब चाहा उस समय वह बात होती ही नही है, क्योकि चाह वाली बात यदि उपस्थित होती तो फिर उसकी चाह ही क्यो होती ? चाह तो होती है इष्टके अभावके प्रसङ्गमे। यदि चाही हुई चीजका सद्भाव है तो चाह होगी ही क्यो ? मनचाहा तो कभी भी न हो सकेगा। प्रत्येक जीवमे इसी बातका तो सकट है कि जो चाहते है वैसा होता नही है, लेकिन यह संकट कोई सकट नही है। ये सकट तो भ्रमपर चल रहे हैं। यहाके ये संकट कोई वास्तविक चीज नही है। सकट तो वास्तवमे यहा जन्ममरणका है। यह जन्ममरणका सकट दूर होवे इस उपायमे हम आपको लगना चाहिए।

जन्ममरणके संकटसे दूर होनेका उपाय——जन्ममरणका सकट दूर होनेका उपाय यह है कि जिसके जन्ममरण हो रहे है उसके सत्य स्वरूपको देख लिया जाय। उसके स्वरूपमे तो जन्ममरण है ही नही। मुझपर जन्ममरणके सकट छा रहे है तो मैं अपने आपको देखूं तो सही कि ये जन्ममरण किधरसे हो रहे हैं, कहासे हो रहे है ? परमार्थ दृष्टिसे हम अपने आपके स्वरूपकी ओर देखे। क्योकि जन्ममरणके चक्रमे तो हमको ही पिलना पड रहा है तो अपनी ही बात सम्हालें कि ये जन्ममरण कहासे निकल रहे हैं, कैसे लगते हैं ? इसी बातको अत देखे तो यहा स्वरूपदर्शन होगा और यह निर्णय हो जायगा कि मेरे स्वरूपमे जन्ममरण तो है ही नही। किसी भी पदार्थकी न तो उत्पत्ति हुआ करती है और न विनाश। भले ही परिणतिया बदलती रहती है, और प्रति समय बदलती है, लेकिन यह वैज्ञानिक नियम है कि जो पदार्थ सत् है उसको किसीने बनाया नही है, वह अनादिसे ही बना हुआ है, स्वय सत् है और उसका कभी विनाश नही है, वह सदा रहेगा। कही ऐसा तो नही है कि मैं नही हू। यदि यह बात सही निकल जाय कि मैं नही हू तब तो बडे ही आनन्दकी बात होगी, क्योकि जब मैं हूँ ही नही तो न कोई दुख मुझे होना चाहिए, न किसी प्रकारका कोई झझट ही रहना चाहिए। असत् पर कोई झझट नही होता है। और परमार्थसत् पर भी कोई झझट नही। हम आपपर भी कोई परमार्थत झझट नही हैं। यह मैं तो अनादिसे हू और अनन्तकाल तक हू। अब अनादिसे अनन्तकाल तक रहने वाला जो मैं हू उसका स्वरूप है क्या ? स्वरूप वही होगा जो अनादिसे है और अनन्तकाल तक रहेगा। यह वर्तमानकी मनुष्यपर्याय मेरा स्वरूप नही है, क्योकि न यह अनादिसे है और न अनन्तकाल तक रहेगी। ये विषयकषायोके परिणाम ये विकल्प आदि भी मैं नही हू, क्योकि ये भी न अनादिसे हैं, न अनन्तकाल तक रहेगे। मेरा स्वरूप तो है चैतन्यमात्र, प्रतिभासमात्र, वह जन्ममरणसे रहित है। जन्ममरणसे रहित निज चैतन्यस्वभावमे दृष्टि लावें, उसीकी उपासनामे रहे तो ये जन्ममरणके संकट टल सकते हैं। इसके अलावा जन्ममरणके

संकट टालनेका अन्य कोई उपाय नही है।

जन्ममरणके संकट मेटनेमें ही कल्याणलाभ—मुक्ति प्राप्त करनेके उपाय अनेक लोगो ने अनेक प्रकारके बताये हैं—किसीने बताया कि प्रभुको अपना आत्मसमर्पण कर दिया जाय तो निर्वाण हो जायगा, किसीने कहा कि प्रभुमे घुल मिलकर अपना अस्तित्व मिटा दिया जाय तो निर्वाण हो जायगा, किसीने कहा कि बस प्रभुकी भक्ति, पूजा, पाठ करते रहो तो निर्वाण हो जायगा आदि। मगर एक निष्पक्ष विशुद्ध दृष्टिसे देखा जाय तो इन सभी मान्यताओमे निर्वाणका कोई न कोई गुप्त मार्ग पडा हुआ है। व्यवहारमे हम आप लोग कहते है कि प्रभुको अपना आत्मसमर्पण कर दो अर्थात् यह व्यवहारदृष्टि, यह कल्पना, यह व्यावहारिक जीवन न रहे और उस चैतन्यस्वरूपमे अपनेको अन्तर्लीन करे, प्रभुकी उपासना करे। प्रभु है एक चैतन्यस्वरूप। उस चैतन्यस्वरूपकी उपासना करे यही कहलायेगा प्रभुमे लीन होना। तो इस चैतन्यस्वरूपकी उपासनाके अतिरिक्त कोई ऐसा उपाय नही है जिससे ये जन्ममरणके सकट टल सके। अगर एक इस भवकी ही बात सम्हाल ली, खाने पीने, आवास निवास आदिकी ही सुविधाये बना ली, और जन्ममरणके संकट मेटनेका कुछ उपाय न बनाया तो यह तो एक धोखे वाली बात होगी, इससे आत्माका कुछ भी पूरा न पडेगा। मान लो यहाँ कुछ वैभव संचित कर लिया तो पहिले तो संचित करनेके पहिले भी दुखी हुए, उसके पीछे विकल्पोमे रहना पडा, दूसरे जब सचित हो चुका वैभव तो उसकी सम्हालमे दुखी होना पडा, अनेक प्रकारके विकल्पोमे रहना पडा, और तीसरे जब यह सचित वैभव मिटेगा तब भी दुखका ही कारण बनेगा। तो इस वैभवसे आत्माका कुछ भी पूरा न पडेगा। आत्माका उद्धार तो जन्ममरणके सकट मेट लेनेमे है।

उपास्य आत्मतत्त्वकी ओर—ये जन्ममरणके संकट मिटेंगे आत्मस्वरूपकी उपासना से। एतदर्थ वह उपास्य तत्त्व मैं क्या हू इसकी जानकारी करना अपना प्रधान कर्तव्य है। वर्तमानमे जो मुझमे ये रागद्वेष विषयकषायके झझट लगे हुए है। ये मेरे स्वभाव नही है, क्योकि ये तो मिट जाते है, ये तो क्लेशके कारण है। मेरा स्वरूप क्लेशका कारण नही है, मेरा स्वरूप मिट जाने वाला नही है। जो मिट जाने वाला होता है वह नियमसे किसी पर निमित्तके सन्निधानमे हुआ करता है। जो औपाधिक भाव है नियमसे वे किसी उपाधि के सन्निधानमे हुए है। जैसे जलका स्वभाव लोग ठंडा कहते है, यद्यपि ठडा स्वभाव नही है, न गर्म स्वभाव है, क्योकि ठडा भी किसी उपाधिको पाकर होता है और गर्म भी किसी उपाधिको पाकर होता है, फिर भी व्यवहारमे यो देखा जाता है कि पानी प्राय ठडी स्थिति मे रहा करता है और उसको रूढिमे कहते है पानीका ठडा स्वभाव और बहुत कुछ अंशोमें व्यवहारसे ठीक भी है। जब देखते है कि वह पानी गर्म हो गया तो उसके गर्म होनेके लिए

कोई न कोई उपाधि साथमे लगी हुई थी, जब वह उपाधि हट गई तो पानीका गर्मपन दूर हो गया और वह अपने गही स्वरूपमे आ गया। इसी प्रकार आत्मामे जो रागद्वेष विकल्प तरंग उठते है ये स्वभावरूप नही है। तो यह निश्चय रखना चाहिए कि ये देहके जन्म-मरण, ये रागद्वेषादिक विकल्प, उपाधिके सम्बन्धसे ही हुए हैं। यही जन्ममरण, यही रागद्वेषादिक विकल्पका काम अनादिकालसे चला आ रहा है, लेकिन ये सब औपाधिक भाव मिट सकते है। जिस कालमे हम अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूपपर दृष्टि देंगे उस कालमे ये औपाधिक भाव मिटने लगेंगे और कभी ये मूलत समाप्त भी हो सकते है। तो आज हममे उपाधि वाली पर्यायें है, लेकिन कभी हम उपाधिरहित पर्यायमे आ सकते है। ऐसी दो प्रकारकी पर्यायोमे रहने वाला यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसा हू, इसको हम जितना भी विवरणके साथ जानेंगे उतना ही सरल स्वरूपस्थ हो सकेंगे। यद्यपि विवरणके साथ जाननेमे लाभ नही है, किन्तु सक्षेपमे केन्द्रित होकर अथवा साधारण प्रतिभासमे रहकर अपने आपको जाननेमे लाभ है, लेकिन जिस साधारण प्रतिभासमे आकर अपने आपको हम जान सकें उसके लिए हमको विवरणसे जाननेकी आवश्यकता होती है। तो हम अपने उस आत्मस्वरूपको जाने कि वह क्या है ?

अपने अस्तित्वके परिचयमें प्रारम्भिक बोध—आत्मतत्त्वको जाननेके लिए पहिले तो यह निर्णय करना होगा कि वह मैं हूँ। अपनी सत्ताका भान करना होगा। यद्यपि सत्ता का भान चैतन्यके प्रतिभाससे लिपटा हुआ रहेगा, चैतन्यसे पृथक् अपनी सत्ताका बोध नही हो सकता, फिर भी इस तरहसे इसको विवरणमे लायें कि यह जानलें कि मैं कोई चैतन्य हू। जो भी पदार्थ होता है वह ६ साधारण गुणोरूप होता है, यह नियम है। जहाँ ये ६ साधारण गुण है–अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व और प्रमेयत्व आदि, तब वह पदार्थ सत् है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल आदि कोई भी पदार्थ हो, प्रत्येक पदार्थमे ये ६ साधारणगुण अवश्य होते है। पहिला गुण है अस्तित्व। पदार्थ है, है की बात चल रही है और है की बात समझमे आ रही है। सामने बहुतसे पदार्थोंको देखते है कि है, अपने आपका अनुभव करते हैं कि मैं कुछ हू। तो अस्तित्व गुण के प्रसादसे वस्तुकी सत्ताका निर्णय होता है। कोई भी पदार्थ यदि वह 'है' का कुछसे कुछ रूप बनाने लगे ऐसी स्वच्छन्दता नही चल सकती। जैसे चौकी पदार्थ है तो वह "है," कही दरी, भीत, खम्भा आदिक बन जाय ऐसा नही हो सकता तो निज पदार्थकी सत्ताको कायम रखे यह अस्तित्व गुण, उस अस्तित्व गुणकी रक्षाके लिए एक वस्तुत्व गुण आता है, यह समझानेके लिए कि यह पदार्थ यह "है" मिट न जायगा, क्योकि अस्तित्व गुण वस्तुत्वके साथ लगा हुआ है। वस्तुत्वका काम है कि वस्तु अपने स्वरूपसे है, परस्वरूपसे नही है,

पदार्थ अपने स्वरूपसे है, "है" तो सही है," किन्तु वह अपने स्वरूपसे ही है । परके स्वरूप से नही है । चौकी है, वह चौकी स्वरूपसे ही है, दरी भीत आदिक स्वरूपसे नही है । चलो यहाँ इसके अस्तित्त्वका तो विनाश हो रहा था वह मिटा, लेकिन इतना होनेपर भी अभी समभमे कुछ नही आया । क्या है, यह समभने चलते हैं तो कोई रूप आना चाहिए । जो व्यक्त स्वरूप है, उसकी पर्याय है । पर्याय दृष्टिमे आये बिना हम किसी भी वस्तुका विवेचन नही कर सकते । और, यदि पर्याय न हो तो अस्तित्व नही रह सकता । तो द्रव्यत्व गुण उस अस्तित्त्वकी रक्षाके लिए अब यह समर्थन कर रहा है कि पदार्थ है और निरन्तर परिणमता रहता है । अगर पदार्थमे निरन्तर अवस्थताये न बनें तो पदार्थ रह नही सकता ।

व्यवहार अनेकान्तके बोधसे शुद्ध अनेकान्तमें पहुँच--द्रव्य व पर्यायके समन्वयके बिना ही तो अनेक दार्शनिकोने उस सत्य तत्त्वके निकट पहुचनेकी कोशिश की, मगर सफल न हो सके । वह एक मैं ब्रह्म हू, निराकार हू, अपरिणामी हू, इस तरहसे चाहा । तो यह अपने उस निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप तक पहुच जाय जिसके पहुँचनेपर संसारके सारे संकट मिटते हैं लेकिन शुरूसे ही यह नही समभा कि मेरेमे परिणमन है, मेरा कुछ बाह्यरूप है, मै इन व्यवहार योनियोमे हू, इन सबको प्रारम्भसे ही समभा नही, तो उन्हे समभमे सही आया कि रमण कहाँ किया जायगा ? यह बात अवश्य है कि पर्यायदृष्टिसे, गुणोकी दृष्टिसे, भेददृष्टि से उसका निर्णय करे और इन सबको भूल जायें ।

पहिले अनेकान्तका निर्णय करके फिर शुद्ध अनेकान्तमें रह जाये यह ठीक है लेकिन शुद्ध एकान्त तो चाहा पर स्याद्वादका अनेकान्त छोड दिया तो वहाँ तत्त्वमे न पहुचे । वस्तु अनेकान्त स्वरूप है, अनेकान्तका अर्थ है अनेक अन्त, अन्त कहते है धर्मको । जहा अनेक धर्म पाये जाये उसका नाम अनेकान्त है । अनेकान्तका यह भी भाव है न एकः अन्त. यत्र । जहाँ एक भी धर्म नही है, ऐसा है पदार्थ । पदार्थमे उस तरह गुणभेद नही पडा है जैसे कि बोरेमे चने भरे है । वह तो एक अखण्ड वस्तु है । एक स्वरूपको लिए हुए है । उसके समभनेका उपाय और कुछ नही है । इसलिए गुण रूपसे समभाया गया है कि आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, तो जहा अनेक गुण दीखे वहा अनेकान्त की यह स्थिति बनी कि पदार्थ अनेकधर्मरूप है, लेकिन जब उस पदार्थके बहुत अतस्तत्त्वमे गए तो विदित हुआ कि यहा एक भी गुण नही है । जो है वह समूचा अखण्ड है । जहा एक भी धर्म नही, गुण नही, पर्याय नही, भेद नही, ऐसे तत्त्वमे जानेकी कुछ दार्शनिकोने कोशिश की, मगर गुणका निषेध करके पहुचनेकी कोशिश की इसलिए सफल नही हुए । स्याद्वाद शासनमे सफलता इसी कारण मिली कि पहिले स्याद्वादने यह आश्रय किया, अनेक गुण भेदसे पर्यायकी परीक्षा की, ऐसा तत्त्व स्वानुभूतिमे आया जहा विकल्प भेद कुछ भी दृष्टिमे नही रहता । इस पद्धतिसे

आत्माके सहज आनन्दका लाभ लिया जाता है जिसके प्रतापसे कर्म कटते और जन्ममरणके सकट मिटते है ।

तत्त्वमें छह साधारण गुणोंकी अनिवार्यता—यह मैं उपास्य तत्त्व कैसा हू, यह जानने के लिए बहुत विवरणके साथ जानने चलेंगे कि मैं हूँ और छह साधारण गुण रूप हू अपने स्वरूपसे हू, परस्वरूपसे नही हू और निरन्तर परिणमता रहता हू । इतना निर्णय होनेके बाद भी यदि यह द्रव्यत्व गुण ऐसा स्वच्छन्द बन जाय कि मेरा तो यह अधिकार है कि मैं परिणमता रहू, चाहे चौकी रहू, चाहे दरी, भीत आदिक रूप रहू । मेरा तो परिणमनेका व्रत है, तो इस स्वच्छन्दतामे अस्तित्व नही रह सकता । तब अगुरुलघुत्व गुणने सहयोग दिया और अस्तित्वकी रक्षा की । प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही परिणमेगा पररूपसे नही । लो अब इन चार साधारण गुणोसे वस्तुस्वरूपका सुन्दर व्यवहार बन गया । पदार्थ है, अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नही है, निरन्तर परिणमता है, अपनेमे परिणमता है, दूसरे पदार्थमे नही परिणमता । इतना समझ लेनेके बाद भी अभी समझमे नही आया, क्योकि निराधार समझ कुछ बन ही नही सकती । इतनी सब बाते हमे जहाँ समझना है वह चीज सामने तो हो । तो प्रदेशवत्व गुण कहता है कि वस्तु प्रदेशमय है । जहाँ प्रदेश हे, कुछ आकार है, कुछ बात है वहाँ ये चार गुण ठीक समझमे आते हैं । इतना करनेके बाद अगर इन पदार्थोमे प्रमेय होनेका स्वभाव न होता तो ये जाननेमे क्या आते ? यहाँ कुछ शका हो जाती है कि इसमे प्रमेय होनेके स्वभावसे मतलब क्या ? इन साधारण गुणोसे वस्तुकी व्यवस्था तो बन गई, पदार्थका अस्तित्व सद्-व्यवस्थित तो हो गया, लेकिन ऐसी शंका युक्त नही है, कारण कि यह व्यवस्था आप कैसे बनायेंगे कि यह सत् है और यह असत् ? सत् की ही तो यो व्यववस्था बनी कि यह सत् है असत् नही है, यह प्रमेयत्व गुणके सद्भाव अभावपर व्यवस्था बनी थी । जो असत् है वह प्रमेय नही, जो सत् है वह प्रमेय है । जो सत् है उसमे स्वभाव पडा है कि वह प्रमेय होगा ही । कोई छोटा पुरुष न जान सके यह बात अलग है, पर कोई न कोई उनके जानने वाला अवश्य है । उनमे प्रमेयपनेका स्वभाव पडा है । जो सत् है वह प्रमेय है, जो सत् नही है वह प्रमेय नही है । तो इन ६ साधारण गुणोकी दृष्टिसे यह निश्चय हुआ कि मैं हू ।

अपना साधारण परिचय—अब वह मैं क्या हू इसका निर्णय करना है । मैं एक सत् हू उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप हू । मुझमे नाना पर्याये बनती हैं, बिगडती है फिर भी मैं बना रहता हू । मैं हू, अपने ही स्वभावसे हू, नया नया बनता रहता हूँ, पुराना पुराना निरन्तर मिटता रहता हू, फिर भी बना रहता हू । मेरी यही यात्रा अनादि कालसे लेकर अब तक चली आयी है । शुद्धपर्याय होने पर भी प्रतिक्षण मुझमे शुद्धपर्याय बनेगी, पुरानी पर्याय मिटेगी फिर भी मैं सदाकाल बना रहूगा । संसार अवस्थामे विसदृश पर्यायें होती

है। शुद्ध अवस्थामे यह कठिनाईसे समझमे आयेगा कि क्या बना, ऐसा लगेगा कि जो था सो ही है, लेकिन पदार्थका स्वभाव है कि प्रति समय उसमे परिणमन होता ही रहता है। ऐसा मैं उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला हू। और मै स्वत: सिद्ध हू। इस मुझको किसने बनाया ? लोग तो कहते है कि हमारे माता पिता ने हमको जन्म दिया, पर ऐसा नही है मै किसीके द्वारा उत्पन्न नही किया गया हूँ, मै स्वत सिद्ध हू, औपाधिक स्थितियोमे ऐसी बात बनती रहती है। यह मै अनादि हू, अनन्त हू, अखण्ड हूँ और एक हू, मैं अपने मे पूरा एक हूँ, अपनेसे बाहर नही हू, अपनेमे अधूरा नही हू, जैसे कि लोग कहा करते है कि मेरा यह काम अभी अधूरा है, पर जगतमे ऐसा कभी होता ही नही, कोई भी काम अधूरा नही हुआ करता। बाह्यकी स्थिनियाँ, घटनाये, पदार्थ, कुछ भी अधूरा नही हुआ करता। कोई मकान बनवा रहा है और अभी आधा बनवा पाया है तो वह कहता है कि अभी हमारा यह काम अधूरा है पर अधूरा वहाँ कुछ नही है। वह तो पूराका पूरा काम सब जगह है। अधूरापन तो उस मालिककी कल्पनामे है। जितने कामको उसने पूरा समझा है उतना काम न देखकर वह अधूरा कहता है, पर अधूरा तो कुछ हुआ ही नही करता, सब कुछ सदा परिपूर्ण हुआ करता है। तो यह मैं आत्मा पूराका पूरा अपने आपमे हू, सबसे निराला हू, निरन्तर परिणमता रहता हू, ऐसा यह मैं मेरे लिए ही सर्वस्व हूँ, इस तरह यह आत्मा ज्ञान करे तो इसका मोह हटे। मोह हट जायेगा तो इसके जन्म मरणके सकट भी मिट जायेगे। जन्म मरणका सकट ही वास्तविक सकट है, इस सकटको हमे हटाना है ऐसा दृढ प्रतिज्ञ होना चाहिए और इसके उपायमे लगना चाहिए। बाहरी स्थितियाँ कैसी ही आये, उन्हे कोई सकट न माने, उनका प्रतिकार करे, पर भीतरमे यह न सोचे कि ये संकट है। ये कोई संकट नही है, ये तो बाह्यपदार्थोकी परिणतियाँ है, सकट तो इन बाह्य पदार्थोके बारेमे जो विकल्प बन रहे है वे सकट है।

आत्मतत्त्वके बोध बिना लेशमात्र भी शान्तिकी अपात्रता—शास्त्रोमे वर्णन आता है कि मुनिव्रतको धारण करके यह जीव अनन्तबार नवग्रेवयकमे भी उत्पन्न हुआ, फिर भी एक आत्माके ज्ञान बिना शान्तिका लेश भी नही प्राप्त किया। तो निज आत्मतत्त्वका ज्ञान कितना महत्त्वशाली है कि जिसके बिना लेश भी शान्ति नही प्राप्त होती। मुक्तिकी प्राप्ति की बात तो दूर रहो। इस लोकमे भी रंच शान्ति नही प्राप्त कर पाता वह जो आत्मज्ञान से परे है। भले ही बहुत वैभव हो, राज्य हो, सम्पदा हो, अनुकूल परिवार हो, मित्र जन हो, पञ्चेन्द्रिय और मनके विषय भी अच्छी तरह भोगे जा रहे हो, मौज भी मान रहा हो, फिर भी शान्ति लेश भी नही। संसारके सुखोमे आकुलतायें ही आकुलताये भरी हुई है और दुख भी। किसी प्रकारसे कुछ दुख कम हुआ तो से लोग साता शान्ति शब्दसे कहने

लगते है । पर जैसे किसीको १०५ डिग्री बुखार था और अब १०० डिग्री रह गया तो भले ही वह कहता है कि अब मेरी तबियत ठीक है, अब बहुत साता है, लेकिन बुखार तो है ही। इसी प्रकार जगतके कोई दु ख कम हो गए। लेकिन दु ख तो बने ही हुए हैं। सासारिक सुखोमे आकुलताये भरी है, इस बातको अनुभवसे भी देखिये कि जब कोई पुरुष किसी विषय को भोगता है, विषय भोगने के कालमे उसे कितनी ही आशायें, दौड धूप, आकुलतायें बेचैनी मनानी पडती है । पञ्चेन्द्रियके विषयोंमे यही बात पायेंगे, और जब उन विषयोको भोगा जा रहा है उस समयमे भी उसे आकुलताये है । भोजन तो लोग रोज ही करते है और बडी तसल्लीके साथ करते हैं, अपना घर है, रोज खाते है, तिस पर भी खानेकी पद्धतिको देखे तो उस कालमे भो वहां कुछ मनकी दौड, तृष्णा, आकुलता, बेचैनी ही वहा कारण है । जो भोग भोगे जा रहे हैं ऐसे सासारिक सुख भी आकुलता और दु खसे भरे हुए है । मौज केवल कल्पनाकी बात है । ससारके कितने ही मौजके साधन मिले हुए हो पर वहा इस जीवको रंच भी शान्ति नही है । शान्तिका उपाय तो इस आत्माका सत्य परिज्ञान है, दूसरा नही । जिसे लोग शान्ति कहते हैं मोही, लोभी धनिकोको देखकर वह तो एक मौज है, एक किस्मके दु खमे कमी है । वह परमार्थत शान्ति नही है ।

आत्माकी सतत ज्ञप्तिशीलता—आत्मतत्त्वकी बात यहा चल रही है कि वह मैं क्या हूँ, जिसके बोध बिना रच भी शान्ति नही प्राप्त होती । वह मैं आत्मा हू । आत्मा इस कारण हूँ कि निरन्तर जानता रहता हूँ । आत्माका अर्थ है अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा अर्थात् जो निरन्तर जानता रहे उसको आत्मा कहते हैं । ससार अवस्थामे देखिये, चाहे अनेक अन्तरकी पद्धतिया बदलती रहे, कभी राग है, कभी द्वेष है, कभी क्रोध है, कभी अन्य कोई कषाय है लेकिन ज्ञान सर्वत्र निरन्तर रहता है । जैसे जब क्रोध है तब मान, माया आदिक नही है । जब राग है तब द्वेष नही है, ऐसा वहा अन्तर पडता है, ऐसा ज्ञानका अन्तर न पडेगा कि इस आत्मामे इस समय ज्ञान नही है, भले ही वह ज्ञान बिगडा हो, विपरीत हो गया है, पर ज्ञानकी धारा निरन्तर बहती रहती है । सोया हो, बेहोश हो मरकर विग्रह गतिमे हो, सर्वत्र ज्ञान चलता ही रहता है, इस कारण यह मैं आत्मा कहलाता हूँ ।

आत्माकी उत्पादव्ययध्रौव्यमयता—यह मैं निरन्तर परिणमनशील हूँ । इस स्वभाव मे निरन्तर बना रहता हूँ, इस कारण मुझमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य सर्वदा मौजूद है । जो भी सत् है वह परिणमनशील होता है, चाहे शुद्ध स्वाभाविक परिणमन रहे, चाहे विषम परिणमन रहे, पर परिणमनशील हुए बिना वस्तुकी सत्ता कायम नही रह सकती । मैं परिणमनशील हूँ । अनुभव भी बताता है कि मैं परिणमन करता रहता हूँ । कभी किसी

विकल्परूप परिणमता हूँ कभी किसी। जो नाना स्थितियोमे मै गुजरता हूँ, यह परिणमन ही तो है। मेरेमे परिणमनका स्वभाव पडा है। परिणमनका स्वभाव प्रत्येक द्रव्यमें होता है। चाहे धर्म, अधर्म, आकाश, काल हो, सिद्ध भगवत हो, संसारी जीव हो, प्रत्येक पदार्थमे परिणमनशीलता निरन्तर रहती है। इसी बलपर अनन्तगुण हानि वृद्धि चलती है। तो परिणमनशील स्वभावमे रहनेके कारण मेरी सत्ता है और सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे गुम्फित है। मै कुछ बनूं नही यदि, तो बिगड भी नही सकता, बना भी नही रह सकता। किसी पर्यायरूपसे मै मिटूँ नही तो मुझमे बनना और बना रहना नही हो सकता। मेरी सत्ता बनी न रहे तो मैं बिगड और बन भी नही सकता। तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनो बातें परस्पर अविनाभूत है उत्पादके विना व्यय कुछ नही, व्ययके बिना उत्पाद कुछ नही, ध्रौव्यके बिना उत्पाद व्यय कुछ नही तिसपर भी उत्पादमे उत्पाद है, व्ययमे व्यय है और ध्रौव्यमे ध्रौव्य है। उत्पादमे व्यय ध्रौव्य नही, व्ययमे उत्पाद ध्रौव्य नही, ध्रौव्यमे उत्पाद व्यय नही। उत्पादके स्वरूपमे उत्पाद है, व्ययके स्वरूपमे व्यय है और ध्रौव्यके स्वरूपमे ध्रौव्य है। उत्पादसे हम जिसको समझते हैं वही व्यय और ध्रौव्यरूप है, व्ययसे जिसे समझते हैं वही उत्पाद ध्रौव्यरूप है, ध्रौव्यसे जिसे समझते है वही उत्पादव्यय रूप है, ऐसा परस्पर गुम्फन है कि इन्हे कभी वस्तुमे जुदा नही किया जा सकता।

आत्माके त्रिगुणात्मकत्वकी अनिषेध्यता—भैया! जो तथ्य है उसको मना नही किया जा सकता। भले ही उनको किसी रूपमे मान लिया गया हो। कोई लोग इस तथ्य को ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमे मानते है। यो तीन देवताओके रूपमे उन्हे अलग अलग कर दिया है। ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता, महेशको विनाशकारक और विष्णुको स्थितिकारक माना है। यहा यह दृष्टि देना चाहिये कि ये तीनो ही चीजें उत्पादव्ययध्रौव्यरूपसे पदार्थमे सदा स्थित है।

प्रत्येक पदार्थमे उत्पादव्ययध्रौव्य रूप रहनेका स्वभाव ही पडा हुआ है। इस बात का जब तक बोध न होगा तब तक अनेक प्रकारकी कल्पनाये तो चलेंगी ही। सृष्टि, संहार और स्थिति ये तीनो ही बाते प्रत्येक पदार्थमे प्रति समय होती है, लेकिन प्रतिसमयकी सृष्टि संहार स्थितिका बोध नही किया तो एक लम्बे कालमे सृष्टि संहार और स्थितिका भान किया गया। कभी यह जगत रचा गया था। अरे रचा तो प्रति समय जा रहा था, जा रहा है, जाता रहेगा, इसकी तो सुध नही की, क्योकि ऐसा सूक्ष्म तत्त्व दृष्टिमे नही आया। तब यह दृष्टि बनी कि यह जगत कभी था ही नही। इसी तरह सहार भी पदार्थमे प्रति समय होता रहता है, लेकिन इस प्रतिक्षणके संहारका बोध न होनेसें कोई ऐसी कल्पना हुई

होगा कोई ऐसा समय जिस समय समस्त विश्वका सहार हो जायगा। अरे किसी समय क्या सहार होगा ? पदार्थ है तो उसमे निरन्तर संहार होता रहता है। सृष्टि और सहारका इतना लम्बा समय बनानेपर यह आवश्यक हो गया कि उसके बीच पदार्थ रहा करे। उसके लिए स्थितिकी कल्पना की और एक विष्णु देवताकी कल्पना हुई। वस्तुत ये तीनो देवता प्रत्येक पदार्थमे निरन्तर अनादिसे रहते आये है और अनन्तकाल तक रहते जायेंगे। तभी यह व्यवस्था बनेगी कि तीन देवताओका समय भिन्न-भिन्न नही है किन्तु ये सदा रहा करते हैं। ये है पदार्थके उत्पादव्ययध्रौव्य गुण।

वस्तुकी सत्त्वरजस्तमोमयता——लम्बे सर्ग सहारकी मान्यतासे जब काम न चला कि किसी समय सृष्टि माना किसी समय सहार माना, किसी समय स्थिति माना, इतने मात्रसे वस्तुमे व्यवस्था न बन सकी, क्योकि निरखा तो जा रहा है कि वस्तु अब मिट गई, अब नवीन बन रही, तो इसके लिए फिर सत्त्व, रज, तम गुणकी व्यवस्था है। सत्त्व एक वह गुण है जिससे पदार्थमे सत्त्व समता, सौन्दर्य, औदार्य रहता है। रज एक वह गुण है जिससे पदार्थमे राजसी निष्पत्तिप्रधान गुण रहता है, तम एक गुण है जिससे पदार्थमे तमोवृत्ति होती है। इतना माननेपर भी इस दृष्टिमे पहुच नही हुई कि ये सत्त्व, रज, तम तीनो ही वस्तुमे प्रति क्षण हैं और ऐसा नही है कि कोई वस्तु इस समय सत्त्व गुणमे आया हो, किसी समय यह रजोगुणमे आता हो और किसी समय तमोगुणमे आता हो। जब वस्तुके इस त्रिगुणात्मक स्वरूप तक दृष्टि न पहुची तो सत्त्व रज तमको मानने पर भी इनका समय भिन्न-भिन्न मानना पडा। जैसे कि जब पदार्थ रजोगुणमे आता है तब उसमे नया उत्पाद होता है, नई सृष्टि सी होती है, जब उसमे तमोगुण आता है तो पदार्थमे प्रभाव बुरा पडने लगता है, जब सत्त्व गुण आता है तब पदार्थमे समता और सुन्दरता आती है। इस तरह सत्त्व, रज, तम गुण माना जाते समय भी समय भेद माना गया और एक पदार्थमे ये तीनो ही गुण एक ही समय एक साथ रह सकते है यह दृष्टि न बन सकी। वस्तुस्वरूप बतलाता है कि ये सर्ग स्थिति, सहार तथा सत्त्व, रज, तम, अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि कुछ भी कहो, ये पदार्थमे स्वभावत सदा रहा करते हैं तब उसमे सत्ता कायम है। ऐसी सत्तासे यह मैं अनुस्यूत हू।

उत्पाद व्यय ध्रौव्यके यथार्थ बोधकी हितकारिता— यहाँ अभी एक साधारण धर्मकी बात कही गई, लेकिन देखिये सत्यज्ञानका प्रभाव कि इस साधारण धर्मके भी यथार्थ ज्ञानसे मोह दूर हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है तो वह अपने स्वरूपसे उत्पन्न होता है, अपने आपकी ही एक अवस्था बनाता है। अपनी ही परिणतिसे वह परिणमता है, अपने ही प्रदेशमे उसका यह सर्जन हुआ है। इसको किसी दूसरे पदार्थ ने नही किया, किसी

दूसरे पदार्थकी परिणतिसे यह नही हुआ। यह तो समस्त अनन्त अन्य द्रव्योसे अत्यन्त भिन्न है। एक द्रव्यका अनन्त अन्य द्रव्यमे अत्यन्ताभाव है। तो किसीका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव किसी पदार्थमे कैसे पहुंच सकता है ? यह तो परिणमने वालेकी ही कला है कि वह कैसा सन्निधान पाकर किस रूप परिणाम जाय, न कि यह निमित्तका प्रभाव है कि वह उपादान को किस तरह परिणमा दे। निमित्तनैमित्तिक भाव है, पर निमित्तनैमित्तिक भावके मध्य परिणमनेकी कला, प्रभाव, ढंग उपादानका है। हाँ वहाँ यह बात अवश्य है कि किस किस प्रकारके पदार्थका निमित्त पाकर उपादान अपना प्रभाव बनाये। तो पदार्थ प्रति क्षण उत्पन्न होता रहता है, अपने स्वरूपसे उत्पन्न होता है व अपने मे ही निष्पन्न यह विलीन होता है। विलीन होकर बात क्या हुई ? पर्याय कहा चली गई ? कैसे मिट गई ? इसको किन शब्दोमे बताया है ? जैसे समुद्रमे तरग उठ रही है तो हवाका उसमे निमित्त है। जब हवा न रही, समुद्रकी तरग विलीन हो गई, मिट गई तो तरंग कहां गई ? कही समुद्रसे बाहर जाकर भस्म हो गई क्या ? अथवा समुद्रके भीतर छिपी छिपी अब भी वह तरग बनी हुई है क्या ? जो विलीन होती है पर्याय वह न द्रव्यमे मौजूद है, न द्रव्यसे बाहर है और फिर भी उसका अभाव है, ऐसी यह विलीन होनेकी अवस्था भी एक अद्भुत अवस्था है। तो पूर्व पर्याय विलीन हुई वह मेरेमे विलीन हुई। मेरे स्वरूपसे विलीन हुई, किसी अन्य स्वरूपको व्यक्त करती हुई विलीन हुई। और, यह मैं सदा बना ही हुआ हू। ऐसा मै अपने आपके चतुष्टयमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप हूँ, परसे निराला हूँ। ऐसे साधारण धर्मका बोध होने पर यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि मुझ वस्तुका किसी भी अन्य वस्तुके साथ रच भी सम्बबंध नही, रिस्ता नही। घरमे पैदा हुए, आये हुये ये दो चार जीव भी उतने ही निराले है जितने निराले जगतके सर्व अनन्त जीव है। वहाँ यह गुन्जाइश नही है कि ये तो कुछ कम निराले होंगे, ये कुछ तो मेरे कहलाते ही होगे। तो वाह्यमे मेरा रंच भी कुछ नहीं है। सर्व परका चतुष्टय विल्कुल भिन्न है, उनका परिणमन उनके अनुसार है। यहा कषायसे कषाय जुड मिल गई, समान कषाय मालूम हुई कि परस्परमे मित्र और बन्धु बन गए। जरा भी कषाय विपरीत हुई, एक की कषाय दूसरेकी कषायसे न मिली तो वहां बधुता और मित्रता नही रहती है। तो इस उत्पाद व्यय ध्रौव्यके मर्मको जानने से बहुत सी आकु-लताये, अशान्तिया दूर हो जाती हैं। तो प्रारम्भमे ही समझ लीजिये कि यह मैं उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे गुम्फित हूँ।

आत्माकी गुणपर्यायमयता——मैं हूँ, जो हूँ सो ही हूँ, लेकिन समझने के लिए जब विश्लेषण करेंगे तो गुण और पर्यायके द्वारा विश्लेषण करेगे। हूँ मैं और प्रति समय कोई न कोई मेरा रूप व्यक्त होता है, वही परिणमन है, और, ऐसे परिणमन यहा विदित हो

रहे कि नाना तरहके परिणमन है। यद्यपि परिणमन नाना तरहके नही हैं, प्रत्येक पदार्थमे एक समयमे एक ही परिणमन है। मुझमे भी इस वक्त भी एक ही परिणमन है, जो है सो ही है। जैसे द्रव्यका स्वरूप अवक्तव्य है ऐसे ही पर्यायका स्वरूप भी अवक्तव्य है। मुझमे इस समय क्या हो रहा है उसको नही बता सकते है। पर्यायका भी विश्लेषण करना होता है। कुछ तरग समझी। मैं जानता हूँ, देखता हू, रमण करता हू, कुछ ऐसी बातें समझी तो यह पर्यायोका विश्लेषण है, जिससे हमने पर्यायोका तथ्य समझा। जितनी तरहकी ये परिणतिया विदित होती हैं उतनी ही इसमे शक्तियाँ है। अनन्त परिणतिया तो हमे विदित भी नही है, वे सब भी यहा शक्तिया है। तो मुझमे ऐसी अनन्त शक्तिया है तभी तो अनन्त परिणतिया हो रही है। वस्तुत परमार्थ दृष्टिसे न मुझमे अनन्त परिणतिया हैं, न मुझमे अनन्त शक्तियाँ हैं, एक स्वभाव है, एक परिणमन है, एक मैं हू, पर उस एक का समझना व्यवहारमे नही बनता। और, यही व्यवहार तो उस एक परमात्मतत्त्वको समझा देता है। तब ऐसा ही विश्लेषण जो सही ढगका है अनेक आचार्योंने इसका वर्णन एक रूपसे किया है, वह सब भी व्यवहार है। इतना सही वर्णन, इतना सही भेदीकरण, इतना सही विश्लेषण व्यवहारनयसे समझा जाता है। अब जानियेगा कि व्यवहारनय भी कितना समर्थ नय है और उस पर कितनी बडी जिम्मेदारी है ? जैसे घरकी जिम्मेदारी एक भार्या पर रहती है इसी प्रकार यहाँ इस आत्माकी यह सारी प्रतिपादनकी पद्धति सब कुछ इस व्यवहारनयपर है। परमार्थ तो एक स्वतत्र विषय है। उस पर क्या भार है ? सर्व भार व्यवहारनयपर है। कैसा समर्थ यह व्यवहारनय है, जिसका सहारा लेकर हम आप किसी उत्थानमे पहुच पाते है। तो इस विश्लेषणसे हम अपने-आपके उस अखण्ड स्वरूपमे पहुँचते है। यह मैं आत्मा हूँ, प्रति समय परिणमता रहता हूँ।

आत्मतत्त्वकी अनात्मविविक्तता——यह मैं, इस मैं के अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं सर्व पदार्थोंसे अत्यन्त निराला हू। यह मैं एक जीव तत्त्व हू, ये पुद्गल रूप, रस, गध, स्पर्शमय हैं। मै रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित हू प्रकट निराला हूँ। धर्मद्रव्य गतिहेतु है, मै गति हेतुत्वसे रहित हू। अधर्मद्रव्य स्थितिहेतु है, मै स्थितिहेतुत्वसे रहित हू। आकाश अवगाहन निमित्त है, मै अवगाहन निमित्तत्वसे रहित हू। कालद्रव्य परिणमन हेतु है, मै परिणमनहेतुत्वसे रहित हू, और जितने भी अनन्त जीव हैं उन सब जीवोके इस चैतन्य-स्वरूपमे मै व्यापक नही हू। उनकी चेतनासे मै विविक्त हू। यो इस मेरे सिवाय जितने भी अनन्त जीव पुद्गल आदिक हैं मैं उन सबसे निराला हू। ऐसा यह मैं एक अखण्ड हू। बताया है अध्यात्म सिद्धान्तमे कि अद्वैतबुद्धिसे शान्ति मिलती है और द्वैतबुद्धिसे अशान्ति, असिद्धि। वह अद्वैतबुद्धि क्या है ? द्वैतको अद्वैत बनानेकी बुद्धि मिथ्या है, किन्तु जो परमा-

र्थत अद्वैत है, एक है, अपने आपमे है उसमे अद्वैतबुद्धि करना सम्यक् है। सारे विश्वके पदार्थोंको अद्वैत मानकर अद्वैतबुद्धि करनेमे शान्तिका रास्ता नही मिलता, किन्तु एक स्वयं जो त्रिकाल भी द्वैत रूप न हो, किसी भी अन्य पदार्थरूप न हो, ऐसे इस अद्वैतमें अद्वैतबुद्धि करनेसे सिद्धि और शान्ति प्राप्त होती है। ऐसे आत्माके ज्ञानके बिना इस जीवने अब तक शान्ति नही प्राप्त की। उसीका यह वर्णन है।

आत्माकी अखण्डता व असंख्यातप्रदेशिता—आत्मस्वरूपके परिचयके सम्बधमे अब तक यह कहा गया है कि यह आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यमय है, अनादि अनन्त है, इसका अपना अस्तित्व अपने आप ही सिद्ध है, एक और अखण्ड है। यह मै आत्मा अखण्ड हूँ, इसके भेद नही हो सकते। यह जितना जो कुछ है वह एक ही है। एकका खण्ड नही हुआ करता। जो वास्तविक एक पदार्थ है उसके टुकडे नही हो सकते। यहाँ जैसे ये दृष्टिगोचर हो रहे है कि काठ, पत्थर आदिकके टुकडे कर दिए जाते है, वहाँ सहसा लोग यह मान बैठते है कि एक पत्थरके कितने टुकडे कर दिये गए अथवा एक काठके कितने टुकडे कर दिए गए, लेकिन वह काठ एक पदार्थ था ही नही, उसमे तो अनन्त परमाणु पडे हुए थे, वे एक एक परमाणु एक एक पदार्थ है। यदि पदार्थके टुकडे हुए है तो समझना चाहिए कि उसमे अनेक पदार्थ थे सो वे कुछ पदार्थ विखर गए। एक हो और उसके टुकड़े हो जावे, यह नही हो सकता। मिले हुए पदार्थसे कुछ बिखर जाय यह ही बात सम्भव है। आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है, उसके कभी दो भाग नही हो सकते, ऐसी बात सुनकर यह चित्तमे नही लाई जानी चाहिये कि फिर वह आत्मा एक परमाणुकी तरह अखण्ड होवेगा। परमाणु एक-प्रदेशी है, वह दो प्रदेशोको घेर नही सकता। आकाशके दो प्रदेशोपर एक परमाणु नही ठहर सकता, चाहे एक प्रदेशमे अनन्त परमाणु रह जाये। यह परमाणुओके अवगाहन-शक्ति का प्रताप है, पर कोई भी परमाणु दो आकाश प्रदेशोपर स्थित नही हो सकता, क्योकि वह अखण्ड है। सो जैसे परमाणु अखण्ड एकप्रदेशी है इसी प्रकार आत्मा अखण्ड एक है, सो वह भी परमाणुकी तरह एकप्रदेशी होगा, ऐसी शंका न करना चाहिए। तो भी कोई दार्शनिक ऐसे हैं जो आत्माको बटके बीजकी तरह अत्यन्त छोटा मानते है और यह सारे शरीरमे तीव्र गतिसे चक्कर लगाया करता है। इस कारण यह मालूम होता कि सारे शरीरमे आत्मा है। लेकिन वह भी सिद्धान्त यथार्थ नही है और एक परमाणु बराबर आत्माको माननेका भी सिद्धान्त यथार्थ नही है। आत्मा यद्यपि एक अखण्ड है, पर अखण्ड होकर भी बड़े विस्तार वाला है और उसका विस्तार कभी कम हो जाता, कभी अधिक हो जाता। संसार अवस्थामे यह आत्मा जब जिस पर्यायमे पहुचता है वहाके मिले हुए देहके बराबर छोटा बडा होता जाता है। यो छोटा बडा होने जाने पर भी आत्मा अखण्ड एक है,

नियम है कि जो बहुत बडा हो उसके खण्ड किए जा सकते हैं ? आकाश अनन्तप्रदेशी है, अखण्ड है। उसके तो खण्ड नही किए जा सकते। तो यह कोई शकाके योग्य बात नही है कि आत्मा यदि शरीर बराबर बडा हो गया तो उसके खण्ड हो जायें।

आत्मकी अखण्डता व असंख्यातप्रदेशिता—आत्माके खण्ड कल्पनासे किए जा सकते है, अर्थात् बुद्धिमे माना जा सकता है कि आत्मा इतनी जगह फैला हुआ है तो आत्मा जितने प्रदेशको घेरकर फैला है, आकाशके जितने प्रदेशोमे फैला है, उतने प्रदेश तो इस आत्माके हो ही गए। वह भी असंख्यातप्रदेशी है। सूक्ष्मसे सूक्ष्म अवगाहना सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तककी कही गई है। वह अवगाहना भी असख्यात प्रदेशमे ठहरी है।

अब इससे आगे और बढें, यद्यपि कोई एक पशु पर्यायमे दो हाथ प्रमाण प्रदेशको घेर कर फैला है, वही हाथीके शरीरमे पहुँचकर बहुत बडे प्रमाणमे फैल जाता है। तो दो हाथ प्रदेश प्रमाणमे जब ठहरा था उस समय भी यह आत्मा शक्तिसे इतने ही प्रदेश वाला था। यह आत्मा अधिकसे अधिक जितनी दूर तक फैल सकता है उतने क्षेत्रमे जितने प्रदेश है उतने प्रदेश वाला है। यदि कम क्षेत्रमे भी ठहरा है तो भी वह असख्यातप्रदेशी है। यह विविध असख्यातप्रदेशिता सकोच विस्तारके कारण हुई है। आत्मा एक अखण्ड है, फिर भी वह परमाणु की तरह एकप्रदेशी नही है किन्तु असख्यातप्रदेशी है। हम आप सबके अनुभवमे यह बात आ रही है कि यह मैं इस शरीरमे सर्वत्र व्यापक हूँ। पैरसे लेकर शिर तक सर्व स्थानोमे यह आत्मा है और एक है। कभी ऐसा विदित होता है कि आत्मा को दर्द हाथकी जगह है, पैरकी जगह है। पैरमे फोडा हो गया तो वह सोचता है कि मुझे यहाँ दर्द है, लेकिन आत्माको दर्द सब प्रदेशोमे हैं। जहाँ फोडा हुआ है वहाँके प्रदेशोमे दर्द है सो बात नही है। आत्माको दु खका अनुभव उस समस्त अखण्ड अपने आपमे हो रहा है, अथवा भेद दृष्टिसे कहो तो समस्त असख्यात प्रदेशोमे हो रहा है, किन्तु दर्द इस ही जगह है ऐसा माना क्यो जा रहा और उस पैर आदिको क्यो बचाता है ? किसीको वह फोडा फोडने नही देता है। ऐसा क्यो होता है ? इससे यह बात जाहिर होना चाहिए कि आत्माको उस जगह दर्द है। इसका उत्तर सुनिये—बात यो हुई कि आत्माको दर्द तो सर्वप्रदेशोमे है, किन्तु उस दर्दका निमित्त वह शरीरका अवयव है। उस फोडेका निमित्त पाकर आत्माको वेदना होती है। अतएव दृष्टि उस फोडेकी जगह जाती है, पर ऐसा महसूस किया जाता है कि हमको इस जगह दर्द है। आत्माको दु खका अनुभव सर्वप्रदेशोमे होता है। असख्यात प्रदेश होने पर भी इसके प्रदेश जुदे जुदे निर्धारित नही किए जा सकते, क्योकि वह तो अखण्ड है। केवल एक विस्तारका क्रम मान करके कल्पनामे उसके प्रदेश कल्पित होते हैं।

अखण्ड वस्तुमें भेदीकरणत्वकी यथार्थता—देखिये कितनी ही बाते कल्पित होने पर

भी यथार्थ है, कितनी ही बातें कल्पित होने पर भी अयथार्थ है। क्या एक परमाणुके खण्ड नही किए जा सकते ? एक परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है, पर उसमे रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है, और प्रत्येक गुणमे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद है, कितने ही टुकडे कर दिए गए तो ये कल्पनासे कर दिए गए। कल्पना होने पर भी वहाँ ये बातें यथार्थ पायी जाती है। इसी तरह आत्मा असंख्यातप्रदेशी है यह भी यथार्थ है और आत्मा अखण्ड है यह भी यथार्थ है। असख्यातप्रदेशी होने पर भी अखण्ड है, अखण्ड होने पर भी असंख्यातप्रदेशी है। इस प्रसंग मे एक वात यह समझना है कि वस्तुके बोधके दो प्रकार है—१–द्रव्यार्थिकनय और २–पर्यायार्थिकनय। अखण्ड ही जिसका विषय हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है और अंश, खण्ड, भेद जिसका विषय हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते है। वस्तु स्वयं स्वरूपमे कैसा है ? तो बताया गया है कि व तु अखण्ड एक अवक्तव्य है, अखण्ड है, अभिन्न है, लेकिन वह अभिन्न है ऐसा कहने से भी वह और अभिन्न ऐसा भेद करना पडा। पर्यायार्थिकनयके प्रयोग बिना तो कोई जिह्वा भी नही हिला सकता। कोई कुछ बात ही नही कर सकता। वह पदार्थ समझमे न आये तो उसमे गुणगुणीका भेद किया जाता है। जीव चेतन है, जीवमे चेतन गुण है, जीव चेतनगुण वाला है यह बात क्या झूठ है ? यथार्थ है, लेकिन जीव स्वय कैसा है, क्या उसमे चेतन गुण पडा हुआ है ? अर्थात् जैसे किसी घडेमे लड्डू रखे हो ऐसे क्या जीवमे चेतन गुण पडा है ? वह तो सब चैतन्यस्वरूप है, अभेद है। उसे भेद करके बताया है तो क्या ऐसा भेद वहाँ है। यथार्थ है क्या ? लो अब इस दृष्टिसे यह भेद अयथार्थ हो गया और अयथार्थ का जो प्रतिपादन है वह उपचरित प्रतिपादन है।

व्यवहारनय और विशेषण शब्दोंका सामञ्जस्य—व्यवहारनय अनेक प्रकारका होता है। भिन्न वस्तुका दूसरी वस्तुमे सम्बध बताना भी व्यवहार है। अन्य वस्तुका अन्य वस्तुमे प्रभाव बताना भी व्यवहार है। एक वस्तुमे गुणपर्यायकी बात कहना भी व्यवहार है। और किसी भी वस्तुके बारेमे कुछ भी समझनेको जिह्वा चलाये तो वह व्यवहार है। जीव चेतन है। यद्यपि सुननेमे बडा भला लगेगा कि वस्तुके पूर्ण अखण्डत्वकी रक्षा की है इस वचनमे, लेकिन चेतन शब्दमे एक चेतनेके अर्थको ही तो कहा है। तो क्या जीव केवल चेतन गुण मात्र है ? उसमे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, सूक्ष्मत्व आदिक क्या कोई गुण नही है ? वस्तु समग्र जैसा है उसको वताने वाला दुनियामे कोई शब्द नही है। शब्द जितने होते है वे सब किसी न किसी विशेषताके ही कहने वाले है, क्योकि उनका अर्थ है। और, इस नीतिसे जगत मे जितने भी शब्द है वे सब विशेषण शब्द है विशेष्य नही। लेकिन व्यवहारमे और व्याकरणके प्रयोगमे विशेष्य शब्द अलग बताया है और विशेषण शब्द अलग बताया है। वह एक व्यवहारकी रीतिसे बताया है कि लोग समझ जायें इस शब्दसे, तो तारीफ की गई है,

इतना भेद बतानेके लिए विशेष्य शब्द और विशेषण शब्द बताया है पर शब्दार्थकी दृष्टिसे कोई भी शब्द विशेष्य नही है, बल्कि विशेषण है। विशेष्य उसे कहते है जो पदार्थका नाम हो। विशेषण कहते है उसे कि जो पदार्थकी तारीफ करने वाला है।

जैसे जीव चेतन गुण वाला है। यहा जीव हुवा विशेष्य शब्द। चेतन गुण वाला हुआ विशेषण शब्द। यह व्यवहारकी बात है, किन्तु यदि इतना भी कहा जाय कि चेतन तो व्यवहारमे वह मालूम होता कि यह विशेष्य शब्द है, लेकिन चेतन कहकर यही तो बताया कि जानने वाला। भला चेतने वाला यह शब्द विशेषण होगा कि विशेष्य होगा? "चेतने वाला" यह दूसरे शब्दकी प्रतीक्षा करेगा। जैसे कहने "गाडी वाला" तो इसका अर्थ है "यह गाडी वाला"। यह विशेष्य हुआ, गाडी वाला विशेषण बन गया। तो "चेतने वाला" यह किसी एक शब्दकी और प्रतीक्षा करेगा, तब मिलकर वाक्य बनेगा। तो चेतने वाला, इस अर्थको बताने वाला कोई विशेष्य शब्द है वह विशेषण बन गया। यदि कह दिया पुद्गल, तो पुद्गलका अर्थ है जो पूरने वाला हो, गलने वाला हो। जो घटे बढे, जिसका सचय हो, विघटन हो उसको पुद्गल कहते है। तो पुद्गल शब्दने तारीफ किया या किसी पदार्थका नाम बताया? तारीफ की कि जो सचय करने वाला और विघटन करने वाला है वह विशेषण बन गया। इस दृष्टिसे यहाँ यह समझना है कि जो कुछ भी कथन है, वचन है या भेदीकरण है वह सब व्यवहार है।

निश्चयसापेक्षताके कारण व्यवहारनयकी यथार्थता—निश्चय तो एक अनिर्वचनीय तत्त्व है उसे व्यवहारनयने भी दिखा दिया। जीव चेतने वाला है ऐसा कहकर जीव द्रव्यकी ओर व्यवहार ले गया। तो इस दृष्टिसे जितना भी भेदीकरण है वह व्यवहार है। और, व्यवहार होनेसे वह अयथार्थ है, लेकिन यथार्थकी ओर ले जानेका ध्येय है इस कारण व्यवहार यथार्थ है। व्यवहार स्वय स्वरूपमे यथार्थ नही है, किन्तु उसका प्रयोजन, उसका उद्देश्य यथार्थकी ओर ले जानेका है। अर्थात् निश्चय सापेक्ष होनेसे व्यवहारनय यथार्थ है। निश्चय निरपेक्ष होनेसे व्यवहारनय अयथार्थ है। तो निश्चयसे आत्मा अखण्ड है और व्यवहारसे आत्मा असख्यातप्रदेशी है। यद्यपि व्यवहारनयसे परखा गया आत्मा निश्चयनयसे नही है, निश्चयनयसे परखा गया आत्मा व्यवहारनयसे नही है, फिर भी व्यवहार और निश्चय की मैत्री है। जो निश्चयसे समझा गया उस ही का निर्देशन व्यवहारमे है और व्यवहारमे समझा गया वह निश्चयकी ओर ले जाने वाला है। यो आत्मा अखण्ड होकर भी असख्यातप्रदेशी है। और, असख्यातप्रदेशी होनेपर भी अखण्ड है।

असंख्यातप्रदेशी आत्माका एकत्व—मैं हू, उत्पादव्ययध्रौव्य वाला हू, अपने आप ही सिद्ध हू। सिद्ध मायने यहा कर्मक्षय, सिद्ध नही, किन्तु निष्पन्न हू, किसीके द्वारा बनाया

की ओर ले जाने वाली बात है।

निमित्तनैमित्तिकभावके व्यवहारका प्रयोजन—जरा जीवकी घटनाओंके सम्बन्धमे थोडा विचार करें। जीवमे रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होते है ये विभाव निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको लिए हुए है। निमित्तनैमित्तिक भावका यह भाव है कि कर्मोदय जिस समयमे है उस समयमे जीवमे इसके अनुकूल रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न हुए।

यह कथन तो इस श्रद्धाको लिए है कि रागादिक भाव तो जीवके ही परिणमन हैं, जीव ही पूरा उस समय रागमय बना हुआ है। वह एक समयकी पर्याय है। वह दूसरे क्षणमे विलीन हो जाती है, वह अपने उपादानसे प्रकट है, ऐसी श्रद्धा यदि साथमे है तो निमित्तनैमित्तिकभावकी बात भूलमे नही पटकती है और निमित्तनैत्तिक भावका व्यवहार भी अन्त ज्ञानस्वभावकी ओर ले जाने वाला बन जाता है। ये रागद्वेष कर्मोदयसे उत्पन्न हुए हैं, ये तो मुझमें प्रतिष्ठित ही नही है। इनका तो मुझमे स्वरूप ही नही है। ये तो आगतुक है। लो इसी निमित्तनैमित्तिक भावने अपने आपके ज्ञानस्वरूपको कैसा सुरक्षित रख दिया ? तो जिनका लक्ष्य निश्चयनयके विषयभूत अखण्ड एकस्वभावी द्रव्यकी ओर है उनके लिए व्यवहारनयके सर्व कथन प्रयोजनवान हैं और यथार्थ है। इस तरह यह आत्मा अखण्ड होकर भी असख्यातप्रदेशी है, यह बात यहाँ दिखाई गई है।

बाह्य पदार्थोंसे संकट माननेका ऊधम—हम आप सब जीवोपर सकट जो छाया हुआ है वह सकट मूलमे जन्ममरणका है। इसके सिवाय और जो सकट माने जा रहे है वह सब ऊधम है। क्योकि अपनेसे बाह्य क्षेत्रमे रहने वाले पदार्थ चाहे वे किसी तरह परिणम रहे हो उनका उस मुझ आत्मामे प्रवेश तो नही है। वे तो अपने क्षेत्रमे रहते हुए ही परिणाम रहे है, किन्तु यह मोही आत्मा उन पदार्थोंको जानकर उनका आश्रय करके अपने मे कल्पनायें बनाता है, जिससे कि राजी होता है, कभी दुखी होता है। तो ऐसे जो विकार के भाव बनाये वह सकट हुआ न कि बाह्य पदार्थ। बाह्यपदार्थ यहाँ रहे या कही रहे, या किसी तरह रहे, वह सकट नही है। तो सकट है यहा साक्षात् विकल्पोका, और ये विकल्प जब तक बनते रहेगे तब तक जन्ममरणकी परम्परा चलती रहेगी। तो हम आप सबकोएक इस निर्णयमे रहना चाहिए, चाहे बीते कुछ हो रहा हो कुछ, किन्तु निर्णय तो पक्का ही रहना चाहिए कि हम पर सकट है तो जन्म मरणका। यह सकट मिटे तो सब सकट मिट जायेंगे। तो जन्म मरणका सकट मिटे, इसके लिए उपाय क्या है ? उस ही उपायको मोक्ष मार्ग कहते है। मोक्ष मायने छुटकारा। किससे छुटकारा ? जन्म मरणसे छुटकारा। अब वहाँ सभी बातें समाविष्ट हो जाती हैं। जन्म मरणसे छुटकारेका नाम मोक्ष है, कर्मसे छुटकारा होवेका नाम मोक्ष है, इस शरीरसे छुटकारे कानाम मोक्ष है। वे सभी एक ही घर

की बाते है। तो हम आपका जिस प्रकार जन्म मरण छूटे वह उपाय यथार्थ उपाय कहलाता है, बाकी बातोके लिए कोई कषाय बनाना, अथवा कोई विषयकी चाह बनाना, ये सब बाते समझिये कि कुछ पुण्यका उदय मिला है उस समय हम यह ऊधम मचा रहे है।

अज्ञानज क्लेश—संसारमे जीवोमे परखिये कि कितने कितने प्रकारके दु खी जीव इस जगतमे है, ऐसे ही हम भी थे, ऐसे ही दु ख हमने भोगे, इतना तो निश्चित ही है कि हम आप सबका अनादिवास निगोद है। जो सिद्ध हुए है उनका भी अनादिवास निगोद था। निगोद जैसी निकृष्ट स्थिति जगतमे अन्य जीवोकी नही है। घनागुलके असंख्यातवे भाग प्रमाण तो देह है और एक ही देहमे अनन्त निगोद जीव बसे है उन सब जीवोका एक साथ जन्ममरण होता है। यहाँ भी जो अधिक मोही लोग होते है वे मुखसे कह डालते है कि इनकी जिन्दगीसे हमारी जिन्दगी है, इनके सुखसे हमारा सुख है, इनके दु खमे हमारा दु ख है, तो इतना तीव्र मोह करनेका मतलब है कि मानो वे निगोदमे जानेका अभ्यास वहीसे बना रहे है, क्योकि निगोदमे यही कवायत करनी पडेगी, एक मरा तो अनन्त मरे, एकका जन्म हुआ तो अनन्तका जन्म हुआ। इतनी कठिन कवायत निगोदमे करनी होगी, उसका अभ्यास मानो ये मोही जीव अभीसे कर रहे है। तो हमारा जो अज्ञानमय व्यवहार है यही हम आपको परेशान किए हुए है।

स्वरूपदृष्टिमें क्लेशका अनवकाश——भैया! अपने स्वरूपको देखे तो ऐसा प्रतीत होगा कि मुझे तो कही दु ख नही। यह मैं हू, अमूर्त हू, अपने स्वरूपमात्र हू, अपनेमे ही रहता हू। जो कुछ हो रहा है मेरा सब मुझमे हो रहा है। मेरेसे बाहर कही कुछ मेरा है ही नही। इतना निर्णय होनेपर फिर उसे यह आकुलता न रहेगी कि हाय! मेरा घर मिट गया, ये पुत्रादिक मेरेसे विपरीत परिणम रहे है। इस दृष्टिमे बाह्यका जब विकल्प नही रहता तो ऐसा मालूम होता है कि यह मैं तो आनन्दमय हू। दु ख है कहाँ इसके? दु ख तो हम बनाते है, दु ख बनावटी है। आनन्द यहाँ सहज है, और प्रयास करके पाया जाता है। दु खमयी प्रयास छोडनेपर, अपने आपमे कुछ विश्राम आनेपर मिलता है आनन्द। तो जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपके विकास होनेपर ये सर्व काम होने लगते है। कर्म कटे, जन्म मरण मिटे, विकल्प दूर हो। जो श्रेय अवस्था है वह प्राप्त होती है। इस कारण यह जरूरी है कि हम अपने आपके बोधमे अधिकाधिक बढे। बडी विशेषताके साथ अपने आत्माका परिज्ञान करे। मैं क्या हू? जिसको यह बोध नही कि मैं क्या हू वे ही तो बाहरमे अपने ज्ञान और आनन्दको ढूंढेगे। कही बाह्यपदार्थोंसे मुझे आनन्द मिलेगा। इन विषयभोगोसे ही मेरेको आनन्द प्राप्त होगा, अथवा मेरेको ज्ञान यहासे मिलेगा, ये देगे ··। यद्यपि निमित्त-नैमित्तिक भाव है फिर भी हम अपने आपकी शक्ति न सम्हाले और अपने आपमे होने वाली

यथार्थ बातको न समझे, तो यह तो एक अंधेरा है। महर्षिजन बताते हैं कि ज्ञानका दीपक जलाकर, तपश्चरणका तैल भरकर अपने घरको शोधें, भ्रमको छोड़ें, ऐसा किए बिना ये कर्म चोर यहासे निकल न सकेंगे।

बातका बतंगड़—देखो भैया! बात कितनी सी है और बतगड कितना बन गया है कि कीट आदिक पर्यायोमे पैदा होना पड रहा है, नाना गतियोमे भ्रमण करता पड रहा है, कैसे कैसे विकट शरीर ग्रहण करने पड रहे है, और कैसा दुर्निवार सा हो गया। क्या प्रयत्न करें कि इन झंझटोसे हम छूट सके ? प्रयत्न करते हैं, पर झंझट छूट नही पाते है, ससारके झंझट बाह्य वस्तुके सयोग वियोगके आधारपर अपनी सुविधाका निकालना यह तो जिन्दा मेढक तौलने जैसा कठिन काम है। एक दो मेढक तराजूपर रखे, ज्यो ही दूसरे मेढक रखने को हुए कि वे उछल गए, फिर रखनेको हुए कि फिर पहिले रखे हुए मेढक उछल गए, तो जैसे जिन्दा मेढक तौलना कठिन काम है ऐसे ही बाह्यपदार्थोका सग्रह विग्रह करना, उनसे अपनी सुख सुविधाये बना लेना यह भी बडा कठिन काम है। इस जीवको विश्राम, शान्ति, सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब कि बाह्यपदार्थोका विकल्प छोडकर निर्विकल्प स्थितिको प्राप्त करे। उसके लिए यह आवश्यक है कि पहिले अपने आपके स्वरूपका बोध करें कि मैं क्या हू ?

स्वयंकी परख बिना विडम्बना—एक कथानक बताते है कि एक बाबू साहब व्यवस्था करनेमे बडे चतुर थे। व्यवस्थाविषयक चतुराई यह कहलाती है कि चीजको जहा की तहा ही उचित ढगसे रखना। तो बाबू जी अपने दफ्तरमे व्यवस्था बना रहे थे, कोटकी जगह कोट, कमीजकी जगह कमीज, छडीकी जगह छडी, छाताकी जगह छाता आदि, और उसी जगह उस चीजका नाम भी लिख दिया। व्यवस्था करते करते रात्रिके ९ बज गए, नीद आ गई, खाटपर लेट गए, धुन वही बनी रही। जब खाटपर लेट गए, तो खाटके पावामे भी लिख दिया "मैं" याने यहापर मैं धरा हू। जब प्रात जगे, उठकर अपनी व्यवस्था देखा तो सब चीजे ठीक-ठीक व्यवस्थित ढगसे रखी हुई दिखी। जब खाटके पावापर निगाह गई तो उसमे लिखा था "मैं"। अब बाबू जी उस "मैं" को ढूंढने लगे, कही वह "मैं" मिले नही, तो हैरान होकर अपने नौकरको पुकारने लगे—अरे मनुआ (नौकरका नाम) बडा गजब हो गया। क्या हो गया ? मेरा मैं गुम गया। नौकरने सोचा कि बाबू जी कभी ऐसी पागलपनकी बातें तो नही करते थे, आज इन्हे क्या हो गया ? खैर, मनुआ (नौकर) सब बात समझ गया। बोला—बाबू जी आप थके हुए है। लेट जाइये, आपका "मैं" अभी मिल जायगा। बाबू जी को उस पुराने नौकर पर बडा विश्वास था, सो विश्वास कर लिया कि अब मेरा "मैं" जरूर मिल जायगा,

इस नौकरने कहीं देखा होगा। वावू जी निश्चित होकर फिर खाटपर लेट गए, आराम करने लगे। अब वह नौकर बोला—देखिये वावू जी अब आपका "मैं" 'आपको मिल गया कि नही ? वावू जी का वह "मैं" तो उस पलंगपर ही रखा था, जहाँ अपने ऊपर हाथ फेरा तहाँ शान्त हो गए, प्रसन्न हो गए, ओह ! मेरा मैं मुझे मिल गया। तो इसी प्रकार "मैं" मैं खुद हू, समर्थ हू, परिपूर्ण हूँ, आपमे हू, ज्ञानानन्दस्वरूप करके भरा हुआ हू, पर अपने आपको नही समझता हू तो वाहरमे खोजता हूँ। मेरा आनन्द कही वाहरमे मिलेगा, शायद इतनी बडी विल्डिङ्ग वनवानेपर मेरा आनन्द मिल जायगा। अरे ज्यो ज्यो काम वढाते गए त्यों त्यो झझट और वढते गए।

शान्तिके अर्थ आत्मसमाधानताका कर्तव्य—अवसे १५-२० वर्ष पहिले क्या सोच रहे थे कि मैं इन सव झझटोसे छूटकर धर्मसाधनामे लगूंगा, पर होता क्या है कि व्यापारादिकके काम वढ जानेसे फिर आकुलताका अनुभव करते है। तो ये सव परेशानियाँ बढ़ा लेनेकी वाते मोह अवस्थामे चलती है। हम आपका कर्तव्य है कि आज ही जैसी वर्तमान स्थिति हो उसी स्थितिमे अपनी धर्मसाधना वना ले अन्यथा यदि भविष्यकी बात सोचेगे कि यह मैं पहिले इतना काम वना दूं वादमे धर्मसाधनाके कार्यमे वेफिक्र होकर लगूंगा, तो यह तो उनका जिन्दा मेढक तौलने जैसा कार्य है। अरे वे तो थोडे-थोडे धर्मसाधनाके कार्यसे भी गए और एवदमसे भी गए। तो आत्मबोध हो और यह ही समझते रहनेकी प्रकृति वनाये, यहा ही रहकर तृप्त रहनेका निर्णय वनाये और ऐसी वृत्ति बनानेका प्रयत्न करे। जिससे वन सके—सामायिकमे, एकान्तस्थानमे बैठे हुए, जिस प्रकारसे भी यह यत्न बन सके, इस यत्नकी धुनमे रहना चाहिए। जिसने आत्माका निर्णय किया है और अपनी धुन भी सही बना ली है उस मेरेको काम केवल यही पड़ा है, अपनेको जानना, अपनेको निरखना, उसमे तृप्त रहना। ज्ञानी पुरुष जब कर्मोदय आता है, प्रमत्तावस्थामे आता ही है तो उनकी प्रकृति यो बदल जाती है कि वे शुभोपयोगमे रहते है। भक्ति करना, वदन करना, स्वाध्याय करना आदिक इन प्रवृत्तियोमे रहकर भी वे अपनेको इस तरह बना लेते है कि जैसे कोई छोटा वालक, भयभीत हुआ बालक, दूसरेके द्वारा डराया गया वालक दौडकर मां की गोदमे वैठकर अपनेको अनुभव करता है कि अव मुझे कुछ डर ही नही रहा। ऐसे ही शुभोपयोग की परिधिके अन्दर रहकर यह जीव अपनेको तात्कालिक ऐसा रक्षित अनुभव करता है, और अव उस स्थितिमे रहकर हमे अन्त कुछ अपनी ज्ञानवृत्ति जगाना है, अन्त रमण करनेका भाव करना है। ऐसा यत्न करता है।

शुभोपयोगकी तात्कालिक रक्षामें शुद्धोपयोगकी शाश्वत रक्षाका पौरुष—किसी क्षण ये वाह्य विकल्प न आने पावे, कोई भी वाह्यपदार्थ चित्तमे न वसने पावे और एक सहज

ज्ञानभाव वह ज्ञानमे आये, ऐसी स्थिति क्षणभरको भी बन जावे तो मैं उससे अपनेको कृतार्थ समझ लूंगा। ऐसा यत्न ही जन्ममरणका संकट मिटायेगा। यो इस ही उद्यममे रहने वाले ज्ञानी विवेकी जन सदा ऐसा ही यत्न करते है कि कभी अशुभ विकल्प मत जगे, मुझे दुर्गतिका पात्र बनना पडे ऐसा काम ही न करे। सत्सग होना, व्रत, तपश्चरण होना, भक्ति आदिक होना, ये सब जो वृत्तिया है ये हमारी तात्कालिक रक्षा करती हैं और वहा हमको ऐसा मौका मिलता है कि जिस मौकेमे रहकर हम उसका लाभ उठाये। बाह्य शुभोपयोगकी वृत्तिमे रहकर अन्त वृत्तिके लाभ उठानेका उद्देश्य नही बनता है तो हम वहाँ तक ही रहे, अभी हम मोक्षमार्गमे आगे नही बढ सके। हमारा कर्तव्य है कि हम ऐसी ही धुन बनाये कि मैं अपने आपमे रमूं, अपने आपमे निर्विकल्प, क्षणमात्रको भी तो देखू, ऐसा यह आत्म-ज्ञान, ऐसा यह रत्नत्रयभाव इस आत्माको जन्ममरणके सकटसे छुटानेमे समर्थ है। यह जन्म मरणका सकट ही हम आपपर सबसे बडा संकट है पहिले तो यह सकट पूरी तरहसे निवा-रण कर लिया जाय, और बाहरी बातोको सकटका नाम ही न दिया जाय। हैं वे विप-त्तिया, उन्हे भी जान रहे है कि हा ये आई है। होते है कुछ ऐसे गृहस्थजन भी कि बडेसे बडे इष्टवियोग होनेपर भी वे मुस्करा देते है कि लो–मै तो यह बात पहिलेसे ही जान रहा था। जो मै जान रहा था सो ही हुआ, अनहोनी नही हुई। मै जान रहा था बहुत वर्षोसे कि ये राजा, राणा, छत्रपति सब मिट जाने वाले हैं, मेरे घरमे जो कुछ लोगोका समागम हुआ है सब बिछुड जायेंगे। मै दशो वर्षोसे जो बात जान रहा था देखो वही बात आज हो गई है। पर जिन्हे यह विवेक नही है वे उसे अनहोनीका रूप देकर अपनेको व्यग्र बना लेते है। क्या है, अब मेरा सहाय कोई नही है, मेरा जीवन अब कैसे चलेगा, मेरा वही सर्वस्व था। ऐसा मालूम होता है कि वह अपने स्वार्थके लिए ही रो रहा है, और समझाने वाले लोग भी स्वार्थ जैसी बात कहकर समझाते है, पर ऐसा समझानेसे समझ नही होती। जब यह बोध होता है कि मै इन सबसे विविक्त केवल ज्ञानानन्दस्वभाव वाला आत्मतत्त्व हू, ये सब मेरेसे परे हैं, ये मेरे कुछ नही है तब जीवको विश्राम मिलता है। भेदविज्ञानमे शान्ति और सतोष दिलानेकी कुछ ताकत है। यही कारण है कि इसके प्रतापसे सबसे निराले अपने आपको यह लक्ष्यमे ले लेता है।

कल्याणार्थीकी कल्याणलाभ लेनेकी पात्रता––जिसको कल्याण चाहिए वह सब जगहसे कल्याणकी बात प्राप्त कर सकता है। जिसे कल्याण न चाहिए वह बडीसे बडी धर्म-सभामे रहकर भी, बडे से बडे सगमे रहकर भी गुणदृष्टि न करके, दोषदृष्टि करके अपने आपको कल्याणसे बहिर्मुख रख सकता है। सिद्धान्तकी चर्चायें बहुत चलती हैं लेकिन उन सब चर्चाओसे हम चाहे तो आत्महितकी बात प्राप्त कर सकते है। जैसे निश्चयकी चर्चा

तो आज कुछ अधिक प्रकट सी हो गई है, वहाँ यदि हम कल्याणार्थी है तो वहासे भी शिक्षा प्राप्त कर सकते है, निमित्तनैमित्तिक भावकी चर्चा, जिसे कहते है असद्भूत व्यवहार, कर्मके उदयका निमित्त पाकर आत्मामे क्रोधादिक भाव हुए है। यह विषय है असद्भूत व्यवहारका। यहाँसे हमको कितनी बडी प्रेरणा मिलती है कि ओह ! यह उपाधि भाव है, यह मेरे लिए उपाधि है, आगंतुक भाव है। कर्मोदयके निमित्तमे यह प्राप्त होता है। यह मेरा स्वभाव नही है, यह मिट जाने वाला है। मेरेको संकटमे डालने वाला है, मैं तो एक अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव हूँ। लो था तो वह असद्भूत व्यवहार मगर उसकी ही कृपासे यहा शुद्ध अतस्तत्त्वमें प्रवेश कर लिया। चर्चा कौन बुरी है ? कही पापो का वर्णन ही चल रहा हो तो वह भी अच्छी ही बात है। उससे पापोका यथार्थ स्वरूप जान गए तो लो उससे भी यह शिक्षा मिल गयी कि पाप न करना चाहिए। यो सभी चर्चाये आत्महितके लिए हो सकती है। एक यह भाव आ गया हो कि संसारमे मैं जन्म मरणके चक्र लगाता हुआ आज सुयोगसे इस भवमे आया हू। ये उत्तम कुल, उत्तम धर्म, उत्तम सग आदिक श्रेष्ठ समागम प्राप्त हुए है तो हमको एक इस जीवनमे एक ही काम है, जिस प्रकार बने उस प्रकार हम अपने आपमे लीन हो सके। एक यही बात करने को रह गई है, बाकी बहुतसी बाते की, पर सब असार हैं। सब क्षोभ वाली बाते थी। कार्य तो करने योग्य एक केवल यही है आत्मरमण, आत्मलीनता। देखिये—ज्ञानकी बात पूरे तौरसे सभी लोग कर सकते है जितना कि आज उपयोगी है, करनेकी बातमे थोडा अन्तर है। गृहस्थ पदमे कुछ दर्जे तक बात की जा सकती है। त्याग अवस्थामे कुछ अधिक दर्जे तक, मुनि अवस्थामे कुछ और उत्कृष्ट दर्जे तक की बात हो सकती है। आत्मरमणकी स्थितिमे पदानुसार बात आती है, मगर जाननेके लिए हमको कुछ मनाही न करना चाहिए। हम जाने समझे अपने आपको कि मैं क्या हू ?

चतुर्विकल्पविपदा—हम आप जीवोपर यहां जो कुछ विपदा है वह केवल विकल्प की विपदा है, क्योकि मुझमे किसी अन्य पदार्थका गुण और पर्यायका प्रवेश नही है, केवल उस बाह्य पदार्थके विषयमे कुछ सोचकर कल्पनाये करके अपने आपमे अपने ही गुणोका विकार बनाया करता हू, इसके अतिरिक्त यहा दूसरा और कारबार नही हो रहा है। तो सकट विपदायें जो कुछ है वे सब विकल्पके ही है। उन विकल्पोका विश्लेषण करने के लिए चार विभागोमे देखते है—वे चार विभाग हैं अहंकार, ममकार, कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि। इन चार प्रकारके विभावोमे से किसी न किसी विभावमे रहकर या सभी मे रहकर उपयोग की अपेक्षा भले ही किसी विभावका उपयोग हो, लेकिन जहा अहकार है, ममत्व है वहा चारो ही विभाव चल रहे है, उन विभावोके कारण हम दुखी है।

अहङ्कारविपदा——पहिला विभाव है अहंकार। जो मै नही हू उसमे मानना कि यह मै हूँ इसको कहते है अहकार। जैसे शरीर मै नही हू और इसको मान लिया कि मै हू, इसका नाम है अहंकार। जहा अहकारकी बुद्धि आयी वहा ये तीनो बुद्धिया आती ही रहती हैं। जब माना शरीर मैं हूँ तो इस शरीरसे जो सम्बधित है अथवा इस शरीरके कारणभूत है ऐसे पदार्थोंमे मोह होना, राग होना, ममत्व होना उसके लिए अनिवार्य है। तो शरीरमे यह बुद्धि हुई कि यह मै हू इसका नाम है अहकार। किसी भी नयसे यह नही कहा जा सकता कि शरीर मै हू। यदि कोई नय यह बताये तो वह नयाभास है, किन्तु वह कोई परिज्ञानका प्रकार नही हैं। नय होता है कार्यतत्त्व। प्रत्येक नयोसे हमारा कुछ भला हो, भले का मार्ग मिले तब तो वह नय है, अन्यथा नयाभास है। शरीर मैं नही हू उसे मानें कि यह मैं हू, यह है अहकार। अनादिसे अब तक मिथ्यात्वमें डसे हुए प्राणी यही विकल्प मचाते चले आ रहे हैं। किसी समय किसी कार्यमे व्यस्त होनेके कारण ऐसा उपयोग न भी हो रहा हो तब भी सस्कार ऐसा ही है कि शरीर मैं हू। नारकी जीव नरकगतिमे पहुचकर वहाँ मानता है कि यह मै हू। जो पर्याय जिसे मिली है उस पर्यायको मानता है कि यह मैं हू। साधक पुरष श्रद्धामे कभी यह बात नही लाता कि ज्ञायकस्वरूपके अतिरिक्त कुछ भी मैं हू। भले ही वह साधनामे लगा है और साधु पदमे भी आ गया है तिसपर भी यह श्रद्धा नही है साधकके कि मैं साधु हू, किन्तु उसकी यह अविचल श्रद्धा है कि मैं ज्ञायकस्वभाव एक पदार्थ हू। जैसे मुझमे अनेक अवस्थायें गुजरती है ऐसे ही यह भी एक साधक अवस्था गुजर रही है, इससे हम चल रहे हैं, किन्तु हू मैं वह ज्ञायकस्वभाव जो सर्वप्राणियोमे सहज सिद्ध बसा हुआ है। ऐसे अपने आपके उस अनादि अनन्त अहेतुक अतस्तत्त्वकी ओर दृष्टि हो, उस दृष्टिके प्रतापसे ये सर्वमल दूर हो जाते है। तो प्रथम मद लगा हुआ है अहकार। इस शरीरको माना कि यह मैं हू, यह भी अहकार है, और मैं सुखी दुखी, मैं रक राव आदिक रूपसे मानना यह भी अहकार है। जाति कुल श्रेष्ठ होनेपर भी मैं ऐसी जातिका हू, पवित्र हू आदिक रूपसे भीतर श्रद्धा रहना यह भी अहंकार है। एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वरूप अपना अनुभव है, वह तो अहकारसे निराला तत्त्व है और किसी भी अवस्था मे 'यह मैं हू' ऐसी श्रद्धा होना अहकार है। अहकारका अर्थ रूढिमे घमड किया जाता है, पर घमड तो एक अहकारसे उत्पन्न हुए विभावका अश है। जैसे क्रोध, माया, लोभ, इसी प्रकार खण्ड भी है, पर ऐसी समानता निरखकर अथवा ऐसा आधार देखकर कि घमड करने वाले के अभिप्रायमे यह बात बसी हुई है कि मैं ऐसा ऊँचा हूँ और ये सब लोग छोटे है, तो दूसरोके प्रति तुच्छताका भाव और अपने आपकी पर्यायमे उच्चताका भाव यह घमड का रूप होता है। और ऐसा रूप होना इस व्यवहारसे सम्बधित है। यह मैं हू। अहंकार

का अर्थ है मिथ्यात्व, न कि घमंड। घमड तो उसका फलित अर्थ है। और, सर्वप्रथम जीव मिथ्यात्व भावसे ग्रसित है। मैं अमुक हू, मै साधक हू उस पदका भी अगर श्रद्धामे आ जाय तो अभी वह ज्ञायकस्वभावके दर्शनसे बहिर्भूत है। ऐसा भाव है अहकार। जरा जरा सी बातोमे क्रोध आना, उल्टे वचन निकलना आदि ये सब अहकारसे निकली हुई बाते है। जिनको यह श्रद्धा हुई कि यह शरीर मै नही, जो भाव मुझ पर गुजर रहे हैं वे भाव भी मै नही हू वे अहंकार है।

ममकारविपदा—दूसरा विभाव है ममकार। यह मेरा है। भला बतलाओ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों ही दृष्टियोसे जो पृथक् है वह किस प्रकार मेरा हो सकता है? किसीको भी दृष्टान्तमे ले लीजिए। घर भी ईंट पत्थरका पिण्ड, वह भी बाह्य क्षेत्रमे है, अचेतन है, वह एक जुदा पिण्ड है, उसकी जुदी परिणति है। क्या सम्बन्ध है उससे, लेकिन इस मोहका प्रताप देखिये कि यह जीव अत्यन्त भिन्न जड जैसी चीजोमे भी ऐसा एक रस बन रहा है कि कभी यह स्वीकार करने को तैयार नही होता कि मै एक स्वतंत्र आत्मतत्त्व हू। मैं हू कौन? आकिञ्चन्य भाव क्या है? हम पूजामे पढ जाते है, स्वाध्यायमे पढ़ जाते हैं, पर आकिञ्चन्य भावकी ज्योति क्या है, इस ओर हम कुछ सही समझ नही बनाते। मेरा यहाँ कही कुछ नही है। लोग कह तो देते है उस समय जब किसीका मरण होता है कि देखो यह जीव अकेला ही यहाँसे चल गया, लेकिन वहाँ जीवको एक हवाके रूपमे मानते है या जैसा जो कुछ अपनेको समझा जा रहा है उस रूप मानते है। एक विकल्पात्मक विषयकषायोसे परिपूर्ण अध्यवसान रूप, ऐसा ही कुछ है, ऐसा समझकर कहते हैं कि अकेला ही तो यह जीव है। वहाँ जीवका अकेलापन सही रूपमे समझा ही नही। मैं अकेला हूं। शरीरसे तो प्रकट निराला हू। वह तो भिन्न वस्तु है। मैं कर्मोसे भी निराला हूँ, पर कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए क्रोधादिक भाव यद्यपि ये वर्तमानमे मेरी दशाये है, फिर भी मैं इनसे निराला हूं। किसको समझा, इनसे निराला हू। किसको समझा इसने "मैं"। एक विशुद्ध चैतन्य सहज भाव अपने आप जो कुछ है, उसको "मैं" स्वीकार करके यह बात कही जा रही हैं। फिर बाह्य वस्तु मेरी क्या होगी? यह जीव ममकारके भावसे परेशान है, अन्यथा यह बतलाओ कि कौन मनुष्य यहाँ दुखी है? किसीको कोई कष्ट नही है। सब आनन्दमे मौजूद हैं, लेकिन ऐसा समझ कहाँ रहे है? ऐसा अनुभव कहा हो रहा है? कष्ट मान रहे तो बनाकर कष्ट मान रहे। प्रकृत्या तो मैं आनन्दमे हू। मेरा स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। सुख मुझमे ही था, पर समझा नही। बाह्यसे सुख माना। ज्ञान मुझमे है, पर माना नही। बाह्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति माना है। जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूप का बोध कहाँ है? इसीलिए जीवको ममकारकी बात उत्पन्न होती है। यह मेरा है, और

जहा बात बिगड गयी, उपाय विपरीत हो गई तो सगे भाईको भी कहते हैं कि यह मेरा कुछ नही है। मेरा कहाँ भाई है ? वह तो मेरा शत्रु है। तो इस जीवका मेरापन भी कही स्थिर नही रह पाता। जो चीज प्रिय है उसे यह जीव समझता है कि यह मेरी है।

ज्ञानभावकी प्रियतमता—भैया ! जरा गौरसे परखिये कि यहा कोई भी चीज ऐसी नही जो वास्तविक प्रिय हो। जो बच्चा अभी साल छह महीनेका है उसके बारेमे सोचिये कि उसको क्या प्रिय है ? उसे प्रिय है अपनी मा की गोद। मा की गोदसे बढकर प्रिय उसके लिए और कुछ नही है। वही बच्चा जब तीन चार सालका हो जाता है तो उसे अब मा की गोद प्रिय नही रहती, उसे प्रिय हो जाते है खेल खिलौने। अब मा उसे कितना ही पकडकर अपनी गोदमे बैठा ले, पर वह नही बैठना चाहता, उसे तो खेल खिलौने प्रिय हो गए। वही बालक जब बढकर १०-१२ सालका हो गया तो अब उसे खेल खिलौने भी प्रिय न रहे। अब उसे विद्या प्रिय हो गई। उसे नई नई बाते पढने सीखनेको मिलती हैं। तो उसे अब विद्या प्रिय हो गई। वही बालक जब और अधिक सयाना हो गया तो अब उसे विद्या भी प्रिय न रही। अब उसे परीक्षामे केवल पास हो जाना प्रिय हो गया। चाहे जैसे भी हो परीक्षामे पास होना चाहिए। कुछ और बडा होने पर उसे डिग्री प्रिय हो गयी, चाहे पढे लिखे कुछ नही पर नकल सिफारिश वगैरह करके जैसे बने डिग्री मिल जाय, बस यही उसे सबसे अधिक प्रिय हो गया। जब डिग्री भी मिल गई तो अब उसे स्त्री प्रिय हो गयी। अब उसे डिग्री प्यारी नही रही। थोडे दिन बाद उसे बच्चे प्रिय हो जाते है, स्त्री प्रिय नही रहती। कुछ और बडा हो जाने पर फिर उसे धन प्रिय हो जाता है। स्त्रीपुत्र आदि कुछ भी उसे प्रिय नही रहते। और, कदाचित् उस व्यक्तिके दफ्तरमे यह खबर आयी कि घरमे आग लग गयी तो वह बडी जल्दीसे घर पहुचता है, घरसे धन निकालता है, बच्चो को निकालता है। आग और तेजीसे बढ गई, कोई एक बच्चा न निकल सका तो अब वह बडा हैरान होकर दूसरोसे कहता है— भैया मेरे बच्चेको भीतरसे निकाल दो, हम तुम्हे १० हजार रुपये देंगे। अब बताइये उसे क्या प्रिय हो गया ? उसे प्रिय हो गए अपने प्राण। धन भी अब उसे प्रिय न रहा। और, मान लो कदाचित उसे विरक्ति जग जाय, अपने आत्मस्वरूपका उसे भान हो जाय तब तो फिर उसे अपना आत्मा ही प्यारा हो गया, ऐसे ज्ञानका ज्ञानमे अनुभव करते रहना। उसे एक यही प्रिय हो गया, अन्य कुछ अब उसे प्रिय न रहा। वैराग्य और बढा साधु हो गया। तपश्चरणमे रत होने लगा, ज्ञान ध्यान की साधनामे लीन होने लगा, वहा उसे स्याल, सिंह आदिक जानवर चाहे भक्षण करे, कोई शत्रु चाहे उपसर्ग ढापे फिर भी वह अपने प्राणोकी रच भी परवाह नही करता। उसे अब प्राण भी प्रिय न रहे। एक सच्चा ज्ञान ही उसे प्रिय हो गया। यद्यपि अगर वह चाहे

तो सिंह, स्याल आदिको अपने पाससे दूर भगा सकता है। लेकिन वह इतना तक भी विकल्प अपने मनमेन ही लाता कि मैं इसे पहिले भगा दूं, बादमे निश्चिन्त होकर आत्मध्यान मे रत होऊ। वह तो सोचता है कि इस समय जो मेरी निर्विकल्पताकी जैसी धारा चल रही है उससे यदि मैं च्युत हुआ तो फिर मुझे आगे बढनेकी आशा ही क्या ? इसलिए उसे उस समय किसी प्रकारका विकल्प ही नही रहा, देहका मोह ही नही रहा कि वह वहां कुछ अन्यको समझ रहा हो। वह जानता है कि मुझमे विकल्प जगना, खोटे भाव जगना इस समय अनिष्ट है। यह तो परपदार्थकी परिणति है। इतना निज ज्ञानका उसे अभ्यास बढ गया कि उसे यह सब ऐसा विदित हो रहा कि कही दूसरी जगह यह कुछ हो रहा है। गजकुमार मुनिराजके शिरपर उनके ससुरने अंगीठी जलाया, इतना कठिन उपसर्ग होने पर भी वे अपने आत्मध्यानसे चलित नही हुए। उन्हे तो उस समय देह तक का भान न था, वहा तो ज्ञानामृतका सुधा प्रवाह चल रहा था। तो उस योगीको वहाँ क्या प्रिय है ? ज्ञान। अब कोई स्थिति ऐसी हो सकती है क्या कि जहां ज्ञान भी प्रिय न रहे, कुछ अन्य प्रिय हो जाय ? क्या है कोई ऐसी स्थिति ? नही है।

ज्ञानातिरिक्त अन्य भावोंमें प्रियतमताका अभाव—जिस प्रियतमके बाद अन्य कोई प्रिय नही रहता वह है वास्तविक प्रियतम। जो अधिकाधिक प्रिय हो उसे प्रियतम कहते है। जिसके बाद अन्य कुछ प्रिय होनेकी बात न रहे उसे प्रियतम कहा जाना चाहिए और जिसको हम बदलते रहते हैं वह क्या प्रिय है ? आज हमारी कषायमें अमुक वस्तु प्रिय है तो कल वही अपनी हो सकती है। जाडेके दिनोमे कपडा प्रिय है तो गर्मीके दिनोंमें वही कपडा बुरा लगता है। जगत्मे कोई भी चीज प्रिय नही है, क्योकि इसमे निर्णय ही कुछ नही बसा है। आज कुछ प्रिय है कल अप्रिय हो गया। प्रिय तो एक ज्ञानभाव है जो कभी बदलता नही। ऐसे ज्ञानभावकी ओर जब दृष्टि जगती है तब विदित होता है कि मेरा सर्वस्व यह मैं हू, ज्ञानमात्र देहसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र। यो अहंकार और ममकारसे दूर हुए ज्ञानी पुरुष, विपरीत अभिप्रायसे दूर हुए ये विवेकी पुरुष अपने आपमे ज्ञानका ही करना, ज्ञानका ही भोगना, ज्ञानकी ही उपासना करना सार कार्य मानते हैं। देखो इस प्रकाशके विरुद्ध जो अहकार ममकार भाव है वह इस जीवको परेशान किए है।

कर्तृत्वबुद्धिरूप अज्ञानभावकी परेशानी—तीसरा भाव है कर्तृत्वबुद्धि। मैं इसको कर दूंगा, मैं इसको करता था, मैं इसको कर रहा हू। भला जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अत्यन्त भिन्न पदार्थ है, जिसमे हमारा किसी प्रकार प्रवेश भी नही है उन पदार्थोंको यह मैं कर सकता हू। जहां यह वर्णन आता कि अज्ञानी तो परका कर्ता है, पर ज्ञानी परका कर्ता नही है, यह विकल्पकी ओरसे कथन है। अज्ञानी भी परका कर्ता नही हो सकता,

क्योकि वह तो वस्तुस्वरूपकी वात है, किन्तु अज्ञानी उस-परका कर्ता बनता है, ऐसे विकल्प मे बना हुआ है इस कारण यह उपचारसे कहा जाता है कि अज्ञानी परका कर्ता है। वास्तविकता तो यह है कि परपदार्थके सम्बधमे करनेके विकल्पका बोझ लाद लिया है। तो मै पर का क्या कर सकता हू ? यह सोचना कि मै कमाने वाला हू और घरमे रहने वाले ये १० लोग सब खाने वाले है, इनको मै पालता हू, इनका मै पोषण करता हू, ये वचन मिथ्या है। यह भी हो सकता है कि आजका पैदा हुआ वालक आपसे भी अधिक पुण्यवान हो। और प्राय ऐसा होता है तभी तो छोटे-छोटे बच्चोको सुखी रखनेके लिए आप जैसे बडे-बडे लोग भी नौकरकी तरह उनकी सेवा करते हैं। तब क्या यह नही कहा जा सकता कि उन छोटे-छोटे बच्चोका पुण्योदय आपसे विशेष है और उनके पुण्यसे प्रेरित होकर आप उनकी सेवा करते हैं। भला जितने भी घरमे रहने वाले लोग है सबके अपने-अपने भाग्य है। उसके अनुसार सब व्यवस्था चल रही है। वहाँ कोई किसीका करने वाला नही है, फिर भी जीव मे जो यह बुद्धि जगती है कि मै इसका करने वाला हू तो यह मिथ्याबुद्धि है। इस कर्तृत्व बुद्धिसे लोग परेशान है। वडे मिल भी चल रहे हैं, उसमे हजार नौकर काम कर रहे हैं, बडी आय हो रही है, सेठ सोचता है कि मं इन हजार आदमियोको पालता हू, पर क्या यह नही कहा जा सकता कि हजार आदमी उस सेठको पाल रहे है ? यदि वहाँ आय हो रही है तो उन हजारोका भी भाग्य है। जिसका जितना भाग्य है उसके अनुसार उसे आय होती है। यह सोचना कि मं दूसरेका कर्ता हू, पालता हू, पोषता हू, यह सब व्यर्थका अभिमान है। जीव इस कर्तृत्वबुद्धिसे परेशान है।

भोक्तृत्व बुद्धिरूप अज्ञानभावकी परेशानी—चौथा क्लेशका कारण है भोक्तृत्वबुद्धि रूप अज्ञानभाव। जीव सोचता है कि मैं भोगता हूँ, मै भोजनको भोगता हू, मै अमुक चीज को भोगता हू। लेकिन यहाँ भी भेददृष्टिसे सोचें तो यह मै आत्मा किसी चीजको भोगता नही हू। मैं अमूर्त हू, मुझमे पुद्गलसे क्या सम्वध ? किन्तु तथ्य यह है कि उस भोजनविषयक ज्ञान जो भीतरमे जगा है, उसके प्रति जो राग लगा है उसका आनन्द मान रहे है। तो यो ज्ञान इच्छाको हम भोग रहे है, आम्र फल आदिक भोज्य पदार्थोंको नही। जो पदार्थ है उसका अनुभवन, परिणमन उस ही पदार्थमे है, अन्य पदार्थमे नही है, तो यह भी एक मिथ्या भाव है। मै इतनी सम्पदा भोग रहा हू आदि, ये सब मिथ्या भाव हैं। इनके भोगते समय भी मै केवल अपने ज्ञान और इच्छाको भोग रहा हू और अपने योगमे ही प्रयत्नमे ही अनुभव कर रहा हू, इसके वाहर मेरा कही कुछ नही है। जीवके जितने भी संकट है वे सकट इन चार प्रकारके विकारोके कारण हैं। अहकार, ममकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मिटे, ऐसा उपाय हमे करना चाहिए।

संकटमोचक अन्तःसाहस—अज्ञानज संकट किस तरह मिटे, इसके लिए अन्त बडा साहस करना होगा। यह मे सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूं, मेरा किसीसे कुछ सम्बध नही है। प्रशंसा, निन्दा, सम्पदा विपदा आदि ये सब व्यर्थकी बाते है, बाह्यकी परिणति हैं। किसीने कुछ निन्दारूप शब्द कह दिया तो इस जीवका भाव है। उसके निमित्तसे जो मुख रूप हारमोनियम बजा, उससे यह शब्द निकल आया, उससे मेरेमे क्या सम्बध है? बल्कि वह जीव भी उन शब्दोका करने वाला नही है जो निन्दा कर रहा है। वह तो केवल अपने कषायभाव और विकल्पका ही कर्ता है। ये शब्द निकलते है यद्यपि जीवकी इच्छाके निमित्तसे, लेकिन इच्छा सीधा उनका उपादान नही है। जीवमे इच्छा बनी कि मै बोलूं, वैसा प्रयत्न हुआ, उससे वायु चली, उससे बोल निकला। ये हारमोनियमके पर्दे चले, उससे आपके शब्द निकले। वहाँ आप यह परख सकते है कि दातोमे जीभ लगती है तब त थ द ध आदि शब्द निकलते है क्योकि यदि पर्देको उठाने दबानेसे जो आवाज निकली वही निकली तो यहाँ हारमोयिम जैसा ही काम चल रहा है। यदि मूर्धामे जीभकी ठोकर लगे तो ट ठ ड ढ आदि शब्द निकलते है, ओठमे ओठ मिलाकर बोला गया तो प फ ब भ आदि शब्द निकलते है, यो यह मुख तो एक हारमोनियम बाजेकी तरह है, इसको जैसा बजाया जायगा वैसे शब्द निकलेंगे, याने इस मुखसे जैसा बोला जायगा वैसे वचन निकलेगे। तो किसीने अगर कुछ निन्दात्मक वचन बोल दिए तो उससे हमारा नुकसान क्या हो गया? उससे दुख क्यो मानना? ज्ञानी पुरुष तो अपने आपके स्वरूपको सम्हाल करके एक अनुपम आनन्द पाता है। अपना कर्तव्य यह है कि हम ऐसा ज्ञान प्राप्त करे, ऐसा आत्माके अन्तस्तत्त्वका दर्शन करे कि जिसके प्रसादसे ये अहंकार, ममकार, कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि समस्त विभाव विकार दूर होगे। मैं अपने असली एकत्वस्वरूपको पहिचानूं, उसके दर्शन करूं, उसका सही ज्ञान करूं और अपने आपको सर्वसंकटोसे मुक्त करूं।

आस्तिक्य भावना—लोकमे जो है सो है, जो नही है सो नही है। जो भी है वह अपने आप है, किसी दूसरेकी कृपासे नही है, ऐसे लोकमे अनन्तानन्त जीव है, अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु हैं—एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य। ये सभी अनादिसे है। अनादिसे न हो तो ये कभी हो ही नही सकते, क्योकि असत् कभी सत् नही होता और अपने आपके बारेमे तो खुद भी अनुभव करके समझा जा सकता है कि मै हू और हू तो अनादिसे हू। पहिले तो यह निर्णय करना कि मै हू। जो कोई पुरुष ऐसा कहे कि मै नही हू तो उनसे यह पूछा जाय कि ऐसा कौन कहता है कि मैं नही हू? तो वह उत्तर देता है कि मैं कहता हू कि मैं नही हूँ। तो उसके उत्तरने ही "मैं" को स्वीकार कर लिया। अब वह "न" करे तब भी "मैं" है और "हाँ" करे तब भी मैं" है। तो

यह मैं जो शान्तिका इच्छुक हूँ, दुखसे दूर रहना चाहता हू, यह मैं स्वय हू, अनादिसे हूँ और ऐसे ही सारे जीव, सभी पदार्थ स्वय हैं और अनादिसे है, यह व्यवस्था अब तक और अनन्तकाल तक बनी रहेगी कि जितने सत् है वे सब रहेगे। यह व्यवस्था किस कारणसे है कि सबकी स्वतत्र सत्ता है। किसीके गुण किसी दूसरेमे नही पहुचते, किसीका परिणमन किसी दूसरेमे नही होता। सभी पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यका व्रत लिए हुए है। चूँकि हैं अतएव प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। पदार्थ होनेमे नवीन परिणमन होना, पुराना परिणमन विलीन होना और ऐसा होता ही रहना, जिसमे ये होते है उसका सदाकाल बना रहना, यह बात स्वय असत्मे अपने आपसे है। इस तथ्यका जितना दृढ श्रद्धान होगा, स्पष्ट परिचय होगा उतनी ही प्रबलतासे इसके विशुद्ध परिणाम जगेंगे, निर्मलता बढेगी, निर्मोह अवस्था होगी।

अन्तः याथातथ्यके अपरिचयमें विपदाका भार— इस जीवको परेशान करने वाला तो एक मोह विकल्प है। अन्त स्वरूपको देखे तो मैं एक अमूर्त सबसे अपरिचित हू और परिचित भी हू तो वह स्वय अपने आप। जिस सहजस्वरूपमे है उस रूपसे नही, किन्तु पर्यायसे परिचित हू, जैसे लोग समझते है कि मैं इसे जानता हू, इससे अच्छी तरह परिचित हू, इस तरह। वस्तुत यहा किसीसे मैं परिचित नही हू। लोगोको परिचय है इस पर्यायका। इस पर्यायबुद्धिके बलपर ही ये मोह रागद्वेषादिकके प्रसग होते हैं। यदि तथ्यका परिचय हो तो ये रागद्वेषके प्रसग नही हो सकते। जहा यह कहा है कि जो मैं हू वह हैं भगवान, वहाँ यह बात क्या नही समायी जा सकती कि जो मै हू सो सब जीव है, जो सब जीव है सो मैं हू, स्वरूप ही तो तका जा रहा। उस दृष्टिसे सर्व ही समान है। जब सर्व ही समान है और सब एक ही प्रकारसे मुझसे अत्यन्त भिन्न है तब उन जीवो मे से कौनसे जीव रागके पात्र है, कौनसे जीव द्वेषके पात्र है? यह कुछ भी बात नही है। केवल एक बीचमे जो कषायकी आड आती है, कषायका अधेरा छा जाता है, उसमे एक बावलेपनकी दशा बन रही है, जो जगतमे मान रखा है कि ये जीव मेरे हैं, ये गैर हैं, ये हमारे प्रेमी है, ये विरोधी हैं, यह केवल अज्ञान दशामे एक आग्रह करना है। वस्तुत कोई जीव न मेरा शत्रु है, न मित्र। जब कुछ साधर्मीजन ऐसे एकत्रित होते हैं कि सबका लक्ष्य एक यही होता है कि मैं आत्माका सत्यस्वरूप समझूँ और उसमे लीन होकर सकटोको मेट डालू। यही मात्र एक जिनका उद्देश्य होता है, ऐसे बहुतसे साधर्मीजन मिले हो तो उनमे जो परस्परका परिचय है, मैत्रीभाव है वह सब एक शुद्ध उद्देश्यको लिए हुए है। उनमे सासारिक ढगसे रागद्वेषकी बात नही है। जहाँ यह बोध होता है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है, अनादिसे है, स्वत सिद्ध है, अपने आपमे अपने उत्पाद व्यय किए जा रहे है, जब यह ध्यानमे आता है तो यह ज्ञानी

जीव समझ लेता है कि ओह ! मैं अभी तक अज्ञानमे अपनेको परका कर्ता मान रहा । तब भी मै किसी भी परपदार्थका कर्ता न था, पर विकल्पमे मै अपनेको परका कर्ता मान रहा था । मैने किया, मैं कर रहा हू, मै इसे करूंगा, इन विकल्पोंसे व्यामोही प्राणी परेशान होते है, वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वय अपना अस्तित्व लिए हुए है, इसका ही यह अर्थ है कि मैं अपने आपमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य करता चला जा रहा हू । मै किसीके उत्पाद व्ययको करनेमे समर्थ नही हू । जहाँ जीव या पुद्गल कोई भी पदार्थ विभावरूप परिणमता है तो निमित्त सन्निधानमे परिणमता है । वह औपाधिक भाव है, फिर भी यह कला परिणमने वालेकी है कि वह ऐसे निमित्तका सन्निधान पाकर इस रूप परिणमेगा । निमित्त वहा उपस्थित है और अपनी क्रियामे वर्तमान हैं । उसके गुण या परिणति यहां नही पहुंचती इसका जिन्हे बोध है ऐसे ज्ञातापुरुष सबके ज्ञाता रहते है, पर कर्तापनका भाव नही होता । कर्तापनकी बात तो कही भी नही है । अज्ञानी भी परका कर्ता नही है, क्योकि वस्तु वस्तुस्वरूपको न छोड देगा । वस्तुस्वरूप यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने आपमे उत्पाद व्यय करता रहता है । कोई पदार्थ या जीव अपनेमे उत्पाद न करके क्या किसी दूसरेका उत्पाद कर देगा ? जैसा होना है होगा, उसके अनुसार योग मिलते रहेगे, पर ये अज्ञानी जीव परका विकल्प बनाये हुए है ।

ज्ञानीकी अन्य भावमें निःस्पृहता—गृहस्थावस्थामे जहाँ कि कर्तृत्वबुद्धि बना देनेमे अनेक प्रसग उपस्थित है । व्यापार करना होता है, घरमे सबकी खबर रखनी होती है, सबका पालन पोषण करना होता है ऐसी स्थितिमे हमे करना यह है कि घरके जितने भी जीव आजके उत्पन्न हुए बालकसे लेकर वृद्ध तक सबके साथ कर्म लगे हैं। अपने-अपने कर्मो के अनुसार सुख दुःख पा रहे है । उनके ही शुभ कर्मोदयमे कोई भी प्रधान या बडा पुरुष निमित्त हो रहा है कि अर्थका अर्जन हो और उनका पालन पोषण हो, पर कोई पुरुष किसी दूसरेका पालन पोषण सुख दुःख कुछ भी करनेमे समर्थ नही है । निमित्त भले ही होता है । तो ऐसा बोध करने वाला पुरुष यह जानता है कि सभी पदार्थ जो अपने अपने रूपमे परिणम रहे है उनका मैं कर्ता नही हू । और, उनकी तो बात जाने दो, ज्ञानी पुरुष तो अन्त यह भी तक रहा कि मुझमे जो रागद्वेष मोह रूपसे उत्पन्न हो रहे कर्म परिणाम है, कर्मके निमित्तसे होने वाले परिणाम अथवा ये भाव कर्म परिणाम, इनका भी मैं कर्ता नही हूँ ।

जैसे अचेतन अचेतन पदार्थोमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक भावमे अनेक कार्य होते हैं । यो ही समझिये कि रागद्वेष विकल्प ये अचेतन भाव है, चेतने वाले भाव नही है । इनमे भी निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसगमे कर्मोदय हुआ और यहाँ ये विकार जगे है । मैं जो चेतने

वाला ज्ञानमय पदार्थ हूँ तो इसकी अपनी ज्ञानशक्तिसे अपने स्वरूपसे ही विकारका कुछ कर्ता हू, ऐसा नही हो सकता। और किसी ज्ञानी जीवके जो ये विकल्प होते है, वह उन्हे चाहता नही है। जो नही चाहता उसको कर्ता नही कहा जा सकता। जैसे कोई सेवक कार्य कर रहा है, मनसे नही कर रहा है। जी चुराकर करता है तो मालिक कहता है कि वह तो कुछ भी नही करता। तो रागद्वेषके जो विकल्प होते है उनसे तो छूट पानेका ही भाव रख रहा है ज्ञानी, उनको करनेका भाव नही रखता। जैसे अज्ञानी जन क्रोध करते-करते जब क्रोध ठडा होता है तो वे यही कोशिश करते है कि मेरा क्रोध कम न होने पावे, नही तो मैं अपने शत्रुको बरबाद न कर सकूँगा। तो वह अपने क्रोधको और भी बढानेके प्रयासमे रहता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष किसी भी विकारको अपने पास नही रखना चाहता, वह उससे दूर रहना चाहता है। ज्ञानी पुरुष इन विकारोको आपत्ति समझता है।

विकल्पविपदा——यदि कोई आपत्ति है तो एक विकल्पोकी। ये बाह्यपदार्थोके परिणमन कोई आपत्ति नही है। टो टा हो जाय, घर गिर जाय, पुत्र उल्टे चलने लगें, मित्र प्रतिकूल हो जाये आदि ये सब कुछ भी आपत्ति नही है। आपत्ति तो खुदमे उठने वाले विकल्प है। इस सच्चे ज्ञानके किलेमे बैठकर स्वरक्षित होकर अपने आपमे इस ज्ञानप्रभुकी उपासना करे तो मेरे लिए जगतमे कहा सकट है ? संकट उसे ही है जो अपने अन्त प्रभुकी उपासनासे हटकर अधेरेमे दौड लगाता है। बाह्यदृष्टि करके अपने विकल्पोको मचा रहा है। आपत्ति कौनसी ? जैसा चाहता है वैसा बाहरमे परिणमन नही हो रहा है, इसकी जो भीतर मे कल्पना है, जो कुछ सोच रहा है, बस वह उसके लिए आपत्ति है। अगर ऐसा साहस बना लिया जाय कि जो कुछ होता है होने दो, मैं तो स्वरक्षित हूँ, अपने आपमे हूँ, मैं तो हूँ, मैं कभी खण्डित नही होता, मेरा कभी विनाश नही होता। बाहरमे किसी प्रकार कुछ हो तो हो, उसको कल्पनामे लेकर और अधिक रागद्वेषकी ही वृत्तिके साथ अनुभव न करें तो मेरे लिए कोई सकट नही है। कही भी कोई हो, सकट बना सकता है और अपने को निसकट भी बना सकता है, क्योकि सकट और निसकटपनेकी औषधि, उसका आधार, उसका कारण इसके अन्त मे मौजूद है। छोटे बालक भी बडा दुख मानते है, उनकी बडी सेवा करने पर भी बडा दुख मानते हैं।

मान लो वह बालक यहाँ अपनी माँकी गोदमे बैठा है, अच्छे प्रसगमे है, उसे भूख भी नहीं लगी है, उसके खेलनेके साधन भी पास ही रखे है, यो देखनेमे तो उसे कोई कष्ट नहीं, पर तनिक उसके मनमे ऐसा ख्याल बना कि हमे तो घर चलना चाहिए, और उसकी माँ उसे घर ले नही जा रही तो वह बालक बडा दुखी होता है, घर जानेके लिए खूब रोता है अथवा किसी बालकके मनमे ऐसा आ जाय कि इस हाथी हमारी जेबमे रख दो तो

भला बताओ ऐसा काम कोई कर सकता है क्या ? कर तो नही सकता। तो जैसे छोटा बालक एक अनहोनी बातको होनी बनाना चाहता है और वैसा न बननेपर दु खी होता है इसी प्रकार ये मोही प्राणी बाह्यपदार्थोंके प्रति अनेक प्रकारके विकल्प करके उनकी परिणति अपने मनके अनुकूल देखना चाहते है और होता ऐसा है नही तो वे दु खी होते हैं। तो ऐसी परिणति होनेसे जीवका उद्धार नही हो सकता। अपना एक लक्ष्य लेकर जीवनमे चलना है। मुझपर संकट है विकल्पोका, जिनके कारण ये जन्ममरण आदिककी सारी व्याधियाँ चल रही है। हमारा कर्तव्य है कि निर्विकल्प जो ज्ञानस्वभाव है, अपने आपके सत्त्वके कारण जो मेरेमे सहज भाव बना है, उसकी दृष्टि रखें, वहाँ आकुलताका काम नही है।

आत्माकी पावनता—जैसे आत्माके ये अनेक नाम रख दिए, जिन, शिव, ईश्वर आदि, तो ये सब नाम यो ही नही रख दिए गए। ये सब नाम तो उस आत्माकी करतूतसे रखे गए। जिन कहते हैं जीतने वालेको। जो रागद्वेषादि विकारोको जीते सो जिन। इन रागद्वेषादिका मेटना कहाँ बनेगा ? खुदमे बनेगा, खुदसे बनेगा। दूसरेसे न बनेगा। तब जिन कौन हुआ ? यही आत्मा। शिव अर्थात् कल्याणमय शिव कौन हुआ ? यह आत्मा। मैं ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण हू, मुझमे कोई सकट ही नही हैं। मेरा कही कुछ है ही नही, फिर इस मुझमे सकट आयेगे कहासे ? इन सकटोको मुझमे पैदा कौन करेगा ? यह आत्मा स्वयं शिवस्वरूप है, कल्याणमय है, पवित्र है, पावन है, शुद्ध ज्ञानरूप है। ईश्वर कहते है उसे जो स्वातन्त्र्य ऐश्वर्यका अधिकारी हो। आत्मा अपने सर्गसहारस्थितिमय ऐश्वर्यका स्वयं प्रभु है। ब्रह्मा सर्जकको कहे तो यही आत्मा उपादानसे अपना स्रष्टा है, निमित्तरूपसे दृश्यमान व अदृश्य कार्योंका कर्ता है। यहा परसे अपनेमे कुछ नही हो रहा है। जिसमे योगीजन रमे उसे राम कहते है। योगीजन इसी ज्ञायकस्वरूप आत्मामे ही तो रमते है, यह आत्मा ही राम है। जो सर्वत्र व्याप रहे सो विष्णु है। यह ज्ञान ही लोक अलोकमे सर्वत्र व्यापता है सो ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही तो विष्णु है। जो ज्ञाता हो सो बुद्ध। यह आत्मा ही तो बुद्ध है। जो पापोको हरे सो हरि। यही आत्मा तो स्वाश्रयसे पापोको हरता है, दूर करता है। ऐसी पावन करतूत है आत्माकी। इस ही तथ्यका समर्थन ये नाम कर रहे है। पर ऐसी पहिचान नही है, सो सारी विडम्बना है।

स्वपरिचयके अभावमें विडम्बना—बात जरा सी है—परमे आत्मबुद्धि होना। इसमे किसीका सहार तो नही कर रहे। भीतरमे केवल इतना भर किया परके प्रति कि यह मैं हू, ये मेरे है, यो बात तो इतनीसी है, मगर उसका बतंगड इतना बड़ा बन गया कि कैसे कैसे शरीरोमे जन्म लेना पड रहा है, कैसे कैसे क्लेश हो रहे है, कितने कितने दुर्निवार सकट हो गए, मरेगे फिर जन्मेगे, फिर मरेगे फिर जन्मेंगे। क्या हो गए, कैसे हो गए। यहाँके इन

इन अनेक प्रकारके पशु पक्षियोके ही दु ख देख लो—ये मुर्गा मुर्गी, ये सूकर, ये भेड बक-रियाँ आदि किस तरहसे निर्मम हत्यारो द्वारा मारे जा रहे हैं, इनके खाने वालोकी सख्या बहुत अधिक है। इन बेचारे जीवोपर कोई कृपा भी करता है क्या ? बस पैर पकडकर उठा लिया और जहाँ चाहे फेक दिया, असमयमे ही मार दिया। तो इन पशु पक्षियोकी कितनी दयनीय दशाये है। उन सब बातोको देखकर यही सोचना है कि एक इस आत्मज्ञानके बिना हमारी कैसी कैसी स्थितियाँ हुईं और हो सकती हैं। यह ससार ऐसा सकटपूर्ण है। कितनी विडम्बना है, कितना सकट है, कितनी आपत्तियाँ ? है केवल एक बात। परमे बुद्धि की। यह मैं हू, बस केवल इस गल्तीपर जो दिखनेमे मामूलीसी गल्ती लगती है लेकिन इस गल्ती पर जो दिखनेमे मामूलीसी गल्ती लगती है लेकिन इस गल्तीने इस जीवका कितना बडा बिगाड कर दिया ? इस देहको ही निरखकर समझा कि यही मैं हू एक इस पर्यायबुद्धिने ही इतनी बडी विडम्बना बना दी कि इस जीवको बहुत बडी परेशानीमे डाल दिया। अरे ये सारी परेशानिया मिटें इनके लिए बात कितनीसी करनी है ? बस इतनी सी बात करनी है कि यह मैं हूँ। जो मेरी बात है स्वय है। हूँ मैं। उसे मै अभी तक भूला हुआ था, और इस जीवके तो ऐसी आदत पडी हुई है कि वह किसी न किसीमे श्रद्धा बनाये रहेगा। अपने स्वरूपका पता न होनेसे परको "मै" मान रहे। अब इतना करना है कि मै अपनेको समझूं कि यह मै क्या हूँ। जिसे और कोई नही जानता, जिसका किसीको परिचय ही नही है, जिसका कही नाम नही, जिसकी कोई सकल सूरत नही, ऐसा यह मै हू। यह बुद्धि बने, यही श्रद्धा करना है जिसके बलपर ये सब सकट समाप्त हो जाते है। ऐसा उत्तम कुल, शासन, समागम प्राप्त करके जो करनेकी बात बहुत सीधी सरल भीतरकी है, अपने आधीन बात है उस बातके करने मे प्रमादी रहे तो यह कितना बडा भारी अपराध है। यह वही अपराध है जिसपर इतना बडा प्रसग बन जाता है। समस्त इन नाना प्रकारके विचित्र देहो मे जन्म लेना पडता है।

कल्याणार्थिक कर्तव्य—भैया ! अब कर्तव्य यह है कि कुछ अपने ज्ञानसे जो जैसा पदार्थ है उस तरहका माने। सच्चा जाननेकी इस जीवकी प्रकृति भी बनी हुई है। एक बालक भी किसी बातको सही जानना चाहता है। उल्टा जाननेकी किसीको चाह नही होती ? भले ही उल्टा जान रहे, उल्टी चल रहे है, मगर भीतरसे कोई यह नही चाहता कि मैं उल्टा चलूं। उल्टेको उल्टा भी नही समझा, उसे भी सीधा सच जानकर चल रहा है। इसकी आदत है कि सच्चा परिज्ञान करे। तो सच्चापरिज्ञान हम करने चले इसे कौन मना करेगा ? हममे ऐसी सन्मति जगे कि यह आग्रह बन जाय कि मैं तो वस्तुके वास्तविक पर-मार्थ यथार्थस्वरूपको जानूंगा और जानने चले तो जान लूंगा ' जो पर्याय है वह मिटने

वाली है। यह तो स्पष्ट है कि वह परमार्थ तत्त्व नही है। वह व्यक्त रूप है, मायारूप है। वह परिणमन है, जो परमार्थ है वह शाश्वत है और यह भी ज्ञानमे आ रहा है कि ऐसे परिणमन होते चले जा रहे है एकके बाद एक। तब वहाँ यह समझना है कि जिसके ये परिणमन होते चले जा रहे है वह वस्तु परमार्थ है, ऐसे ही यह मैं जिसके इशारे से परिणमन चलते जाते है वह मैं परमार्थ हू। बताओ उसे कौन जानता है ? फिर किसका नाम लेकर या किसको दृष्टिमे लेकर मै चाहूँ कि मेरी कीर्ति हो ? मै लोगो को ठीक जंचूँ, अरे इस संकटपूर्ण ससारमे ऐसा श्रेष्ठ मन पाया है तो यह यत्न करना है कि सब कुछ ये बाहरी बाते विकल्प चाह, ये सब धूलमे मिले। मै अपने आपमे अपने ही इस अलौकिक वैभव को निरखकर यहाँ ही रम जाऊ। जगतमे जो कुछ होता हो सो हो। मुझे अन्य कुछ प्रयोजन नही है। ऐसी दृढ भावना हो, ऐसा भीतरमे अपना विशुद्ध सस्कार बने और उसही रीतिसे अपनी प्रकृति बनाये तो यह जीवन सफल है, अन्यथा इस जीवनका क्या उठता ? कदाचित वैभववान हो गए तो इस जीवको क्या मिल गया ? लोकमे बडी इज्जत वाले बन गए तो इस जीवको क्या मिल गया ? यह जीव तो यहा अशरण है और स्वयं अपने आपके लिए सशरण है। ऐसा एक निर्णय करके एक ही धुन बने कि मुझ पर विकल्पोके सकट है और निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यस्वरूपको दृष्टिमे लेकर उसकी उपासनामे रहकर मैं इन समस्त विकल्पो को मेटूँ।

आत्मज्ञानकी विधिके प्रसङ्गमें—आत्मज्ञान एक ऐसा महत्वपूर्ण साधन है जिसके विषयमे आचार्योने यह कहा है कि आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य कार्य बुद्धिमे धारण मत करे। इतना न बने तो चिरकाल धारण न करे। कभी-कभी आत्मदृष्टि बने इस तरह अपने उपकारका मोड आये, ऐसा विचार रहे, वातावरण रहे, इस प्रकारका व्यवहार करना चाहिये जिसमे उस आत्मतत्त्वका ज्ञान जगे। जैसे अन्य पदार्थोके ज्ञानकी विधियाँ है व्यवहारत वैसे ही आत्माके ज्ञानकी विधियाँ है और निश्चयसे तो एक ज्ञानमात्रकी अनुभूति स्वानुभूति हुई है। जैसे पदार्थोको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार प्रकारोसे समझा जाता है इसी प्रकार आत्मतत्त्व भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार प्रकारोमे समझा जायेगा। द्रव्य नाम है गुणपर्यायके पिण्डका। जैसे व्यवहारमे कोई चीज उठाते रखते और कहते कि यह है। जिसको कहते है कि यह है वह इसी रूपमे ही तो समझा गया कि यह एक पिण्ड है। यह एक अनेक चीजोका समूह है। तो पिण्डरूपसे समझानेकी बात इस द्रव्य प्रकारमे है।

द्रव्यतः आत्माका बोध—द्रव्यका अर्थ जो व्युत्पत्तिपूर्वक है वह अर्थ यहा नही है। व्युत्पत्तिपरक अर्थ यह है कि जो पर्यायोको धारण करता रहा, धारण करता है व धारण

करता रहेगा उसे द्रव्य कहते है। इसमे जो पर्यायोकी वात है वह दृष्टि तो कालमे पहुचाती है। और, जो सर्वकालोमे रहने वाला कोई एक वस्तु है जिसको इस व्युत्पत्तिके अर्थमे जाना गया है वह भावरूपसे भी और द्रव्यमे गुणरूपसे परखा जाता है। तो जो गुणपर्यायोका पिण्ड है उसे द्रव्य कहते है। ये गुण पर्यायें जान लेने मात्रसे भी वस्तुका बोध हो जाता है, क्योकि अन्य सब विकल्प भी इसके ही विस्तार है। जैसे बाह्य पदार्थोंको हम लम्बाई चौडाईके ढगमे परखते है इसी प्रकार इस आत्माको भी हम जब लम्बाई और चौडाईके ढगसे परखते है, चूँकि यह अमूर्त है, उसमे लम्बाई चौडाई क्या हो ? तो लम्बाईका रूप दिया गया है पर्यायमे और चौडाईका रूप दिया गया है गुणोमे। जैसे चौडापन एक साथमे रहा करता है इसी प्रकार ये सब गुण एक साथ रहा करते हैं। इस कारणसे गुणोकी चौडाईसे तुलना की है। आत्मामे गुण शाश्वत है। अनन्त गुण एक साथ हैं, अतएव गुणोके रूपसे जब आत्माको निरखा तो अनन्तशक्तिमान यह आत्मा है। जब लम्वाईके रूपसे निरखा, पर्याय दृष्टिसे देखा तो भिन्न-भिन्न क्षणोमे भिन्न भिन्न परिणमनरूप यह आत्मा है। जितने भी परिणमन है उतनी ही इसमे शक्तिया हैं, अथवा न परिणमन नाना है, न शक्तियाँ नाना है। वस्तु अखण्ड है, और प्रति क्षण एक परिणमन एक स्वभावरूप है और एक परिणमन, पर उसको हम समझे कैसे, इसके लिए सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार इन दोनो पद्धतियोसे समझाया गया है। शुद्धस्वरूप तो सद्भूत व्यवहारसे जाना जाता है और अशुद्धस्वरूप विभाव यह अशुद्ध असद्भूत व्यवहारसे समझा जाता है। तो पर्यायका परिज्ञान एक समय-समयके परिणमनोकी दृष्टिसे होता है। यो गुण पर्यायोका पिण्ड यह मैं आत्मा हूँ।

क्षेत्रतः आत्मतत्त्वका बोध—जब क्षेत्रदृष्टिसे निरखता हूँ तो यह तो एक अखण्ड क्षेत्र है। इसके अलग-अलग टुकडे नही होते, फिर भी ये कितने विस्तारमे है यह समझानेके लिए हमे भेददृष्टिसे काम लेना होगा और उससे समझ सकेगे। अखण्डक्षेत्री होकर भी इसमे जब यह सामर्थ्य देखी जाती है कि यह फैले तो कहाँ तक फैले ? यह लोकप्रमाण ही फैल सकता है। असख्यातप्रदेशी यह बन जाता है। और उस कालमे लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमे एक एक प्रदेश अवस्थित है। इतना विस्तार होकर भी यह अखण्ड ही है। जब सकोच होता है तो सकोचमे नाना भेद हैं, कोई किसी अवगाहनामे है कोई किसीमे, ऐसे नाना भेद हो जाते है, पर नाना भेद होकर भी उसमे प्रदेश विस्तार सामर्थ्य कितनी है, उसको दृष्टिमे रखकर यह उत्तर होता है कि यह असख्यातप्रदेशी है। कितने असख्यात—जितने लोकाकाशमे फैले हैं। इस समय जब अपने आपमे अनुभव करते है तो इस देह प्रमाणमे ही जितने विस्तार हैं उतने विस्तारमे हमारा अनुभव है।

निमित्ताधीन दृष्टिमें वेदनाकी अनुभूतिका संकेत--आजकी स्थितिमे हम पराधीन है। परिणमनकी स्थितिमे तो ऐसा विदित होता है कि मानो इस देहके सहारे हमारा गुजारा है और हृदयमे ऐसा रागद्वेष मोह किया है, कोई वेदना हो जाय पैर, पीठ आदिमे, तो यह अनुभव करते कि मुझे पैरमे वेदना है, पीठमे वेदना है। तो इस विभाव स्थितिमें निमित्तकी मुख्यता करके इस तरहकी बाते अनुभवमे आती है, पर वस्तुत वहाँ भी ज्ञान परिणमन है तो सर्वप्रदेशोमे, सुख दु ख परिणमन है तो सर्व प्रदेशोंमे, रागद्वेष मोह परिणमन है तो सर्व प्रदेशोमे, किन्तु उसकी निष्पत्तिके जो साधन है, निमित्त है, विशेषवत् है, अथवा रोग आदि है उन सब कारणोसे ऐसे भिन्न भिन्न रूपसे अनुभवमे आता है, परन्तु यह आत्मा जब अखण्ड एक है तो कोईसा भी परिणमन हो वह उसके किसी अन्यमे हो, सो नही है, किसी अशमे हो सो न होगा किन्तु एक अखण्ड आत्मा है कि जो भी परिणमन है वह पूरा एक परिणमन है, वह पूरा एक परिणमन सर्व प्रदेशोमे है या आत्मसर्वस्व मे है। क्षेत्रकी अपेक्षा जब जाना तो यह आत्मा अपने स्वक्षेत्रमात्र है।

कालतः आत्माका बोध---जब कालदृष्टिसे परख करते है तो काल परिणमनका नाम है। भिन्न-भिन्न समयोमे जो इसके परिणमन होते है वे कालदृष्टिसे समझे जाते है। परिणमनोके समझनेकी अनेक पद्धतियाँ है। एक पद्धतिसे तो आत्मामे अनन्त परिणमन है और एक साथ है, क्रमसे नही है, क्योकि गुण अनन्त हैं और जितने गुण है उतने ही परिणमन हैं, और कोई गुण बिना परिणमनके रहता नही। शक्ति है तो उसका कोई न कोई व्यक्त रूप है। तो जैसे भेददृष्टिमे अनन्त गुण परखे गए है उस ही भेददृष्टिसे इसमे अनन्त परिणमन एक साथ है। अब दूसरी पद्धतिसे देखें---एक समयमे एक ही परिणमन होगा, अनेक परिणमन नही हो सकते है। सर्व परिणमनोका जो कि एक साथ अनन्त समझे जा रहे थे उनको तो अभेदरूपमे एक परिणमन कर दिया और ऐसा अभेदरूप ही एक परिणमन भिन्न भिन्न कालमे भिन्न-भिन्न होता है। यो एक समयमे एक ही परिणमन है, दो परिणमन नही हो पाते, और दोनो जगहकी ही भेद दृष्टियाँ करेंगे तो एक ही समयमे वे अनन्त परिणमन है, अब दूसरे समयमे दूसरे अनन्त परिणमन है, तीसरे समयमे तीसरे अनन्त परिणमन है। यो भेद अभेद दृष्टिसे नाना विलासोसे परखा गया यह आत्मतत्त्व अभी विज्ञान जैसा सम्बधित है।

भावदृष्टिसे आत्माका बोध---जब भावदृष्टिमे उतरते हैं तब इसका स्वानुभूतिके साथ विशेष सम्बन्ध दिखने लगता है। भावदृष्टिमे दो पद्धतियाँ है—एक भेद पद्धति और दूसरी अभेद पद्धति। भेद पद्धतिसे जो जीवकी आनन्द शक्ति आदि विदित है वह गुण है यह समझा गया। इस पद्धतिमे इतना आया कि ये सब भाव शाश्वत है और जिसके परिणमन

होते रहते है परिणमन नही, किन्तु जिनके परिणमन होते है ऐसी ये अनन्त शक्तियाँ है, तो शाश्वतपना, अनादि अनन्तपना ये सब विदित हो फिर भी यहाँ विकल्पोका अवकाश अधिक है, क्योकि अनन्त पर दृष्टि है। इसको सब दृष्टियोसे सिकोडकर जब अभेदभाव दृष्टि से देखते है तो ये अनन्तशक्तियाँ वहाँ विदित नही होती। अभेदभावदृष्टिमे दिखता है एक स्वभाव। वह स्वभाव क्या है ? तो कहनेके लिए शब्द रख लीजिए चैतन्यस्वभाव, प्रतिभास स्वभाव, पर जो स्वभाव है वह एक है, वह किन्ही शब्दोमे बाधा नही जा सकता। किसी भी रीतिमे परखनेके बाद जो जान लिया गया सो ही है वह। ऐसे अभेदभाव दृष्टिमे इस निज तत्त्वको परखनेपर, ऐसी अभीक्ष्ण दृष्टि बनाये रहने पर इस जीवको स्वानुभूति प्रकट हो सकती है और वहा ज्ञानमे ज्ञानका अनुभव है। इस रूपसे ही प्रतिपादनमे आता है। क्या किया स्वानुभवने ? जो ज्ञान नाना पदार्थोको जानता रहता था वह ज्ञान अब निज ज्ञानस्वरूपको जानने लगे और इसके जाननेकी ऐसी एकाग्र अभेद पद्धति रहे कि वहा ये विकल्प भी समाप्त हो जाये और एक ज्ञानानुभव मात्र बन जाय, उसे कहते है ज्ञानानुभव अथवा स्वानुभव। ऐसे ज्ञानानुभवमे क्या अनुभव आता है ? एक शुद्ध शाश्वत सहज आनन्द का अनुभव होता है। ऐसे इस आनन्दके प्रतापसे स्वय ही विकट कर्म टूटते हैं, द्रव्यकर्म टूटते है, जन्ममरणकी परम्परा मिटती है और कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होगी निकट कालमे कि सदा काल जन्ममरणके सर्व सकटोसे छुटकारा मिल सकता है।

सुनयरूप ज्ञानविशेषका उपकार—जीवके उन गुण पर्यायोका जब भिन्न-भिन्न परिचय किया जाता है तो यह बहुत प्रकारसे यह आत्मतत्त्व समझमे आता है। वर्णनका प्रयोजन मूलभूत वस्तुका परिज्ञान करना है, ये अनन्त शक्तिया है, असख्यात प्रदेश है, फिर भी ऐसा नही है कि प्रदेश कुछ अलग वस्तु है और यह शक्ति अलग वस्तु है। जो एक चीज है उसको क्षेत्र दृष्टिसे निरखना, कभी भाव दृष्टिसे निरखना। एक निरखनेकी बात है किन्तु जितने प्रदेश है वे सभी गुणस्वरूप है। जितने भी गुण है वे सब प्रदेश स्वरूप हैं। अर्थात् वहा तो सब कुछ एक सर्वस्व है। उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी विधियोसे नानारूप मे परखा गया है और यह परख वस्तुके अनुकूल है। है यह भेदीकरणकी बात, किन्तु यह भेदीकरण उस वस्तुकी ओर ठीक अनुरूप है, इस कारण इन नयोका प्रयोजन मूल तत्त्व पर पहुचनेका होता है। केवल एक वस्तु धर्मको मुख्य करके समझाया गया है पर उस समझमे भी ऐसी दिशा मिलती है कि जिसके द्वारा हम उस मूल तत्त्वपर पहुच जाते है। यदि नयोसे शिक्षा न मिले, जिससे हितकी प्रेरणा न मिले, जिससे अहितकी ओर जाय या अन्य खोटी धारणा बनने लगे, वह नय नही कहा गया। किन्तु मिथ्या नय है। जैसे ज्ञानके दो ढग है—एक प्रमाणरूप ज्ञान, एक अप्रमाणरूप ज्ञान, मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान। तो इसी

प्रकार उन नयोकी पद्धति तो यह है कि अशको ग्रहण करें, लेकिन वहा यदि मिथ्या अंशको ही ग्रहण किया, जो है नही, त्रिकाल कभी हो नही सकता, ऐसी बातोकी कल्पना लगाये तो वह मिथ्या है और जो है वस्तुमे किन्तु वहा कभी किसी अपेक्षासे बताया जाता है तो वह व्यवहारनय कहलाता है ।

नयों द्वारा शुद्ध तत्त्वमें प्रतिष्ठित होनेका उत्साह—नयोसे हमे उत्साह मिलता है उस शुद्ध तत्त्वमे प्रतिष्ठित होनेके लिए । जैसे निश्चयनयने सीधी दिशा बता दी अब उस स्वभाव दृष्टिकी उपासना करे । सद्भूत व्यवहारने हमे उस ढगकी शिक्षा दी है कि यह व्यवहार किया है समझानेके लिए, पर यह सब भेदीकरण है । ऐसा समझकर समझना है उस आत्मतत्त्वको । असद्भूत व्यवहार, इससे हमको यह शिक्षा मिलती है कि ये विकार-भाव है तो आत्मामे, पर वे असद्भूत हो रहे हैं अर्थात् आत्मामे स्वयं अपने सत्त्वके कारण नही हो रहे हैं । हो तो रहे आत्माके परिणमन, किन्तु किसी पर-उपाधिके निमित्त सन्निधानमे हो रहे अतएव ये जीवमे है, ऐसा कहना असद्भूत व्यवहार है । वस्तुत ये जीवके स्वरूप नही है । इस प्रकारकी दिशा मिलती तो जैसे प्रमाण हमारे लिए उपकारी है इसी प्रकार नय भी हमारे लिए उपकारी है । यो नय और प्रमाणसे आत्मतत्त्वकी बात परखकर और उसकी उपलब्धिके लिए उत्साही बनकर भीतरमे ज्ञानप्रकाशका ऐसा प्रयास करे कि हम अपने आपमे कभी अन्तर्मग्न हो सके । जीवनमे इस कार्यको छोडकर अन्य कोई कार्य करने योग्य नही है । किए जाते है, तो ध्यानमे यह रखना चाहिए कि मेरे करने योग्य कार्य तो एक यह ज्ञानानुभूति है, तब फिर जो किया जा सकता वह सब व्यवस्थित रूपसे होनेमे आयेगा, क्योकि इसकी दृष्टि सुधर गई है और धुन बनी है अपने उस शाश्वत ज्ञान-स्वभावमे प्रवेश करनेकी ।

आत्माके परमार्थस्वरूपके निर्देशकी ओर सद्भूतव्यवहारकी गति—आत्माको अभेद दृष्टिसे निरखनेपर वह परमार्थत अवक्तव्य है फिर भी उसका सद्भूत व्यवहार करनेके लिए कह सकते है कि वह चेतन पदार्थ है, और इसी आत्मतत्त्वको भेददृष्टिसे देखनेपर विदित होता है कि वह अनन्तशक्त्यात्मक है । अनन्त गुण उसमे है । जैसे आग स्वय क्या है ? जो है सो है । एक रूप है, लेकिन जब नाना कार्य देखनेमे आ रहे कि आग जलाती है, पकाती है, प्रकाश करती है तो उसमे ऐसी अनेक शक्तियाँ समझी जाती है कि ओह ! अग्निमे तो अनेक शक्तियां है । इसी प्रकार जब आत्माको भेददृष्टिसे देखते है तो यह विदित होता है कि श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिक अनन्त शक्तिया है, तब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि वे अनन्त शक्तियाँ वे अनन्त गुण क्या परस्पर एकमेक होकर रहते है या अलग-अलग ? इसके उत्तर दोनो हो सकते है । चूँकि सर्व गुणोका स्वरूप न्यारा न्यारा

है, तब लक्षरा कहेगे, जिसके द्वारा गुरा पहिचानमे आते है उस लक्षराकी दृष्टिसे यह विदित होता है कि जो ज्ञान है सो दर्शन नही, जो दर्शन है सो चारित्र नही, जो चारित्र है सो आनन्द नही। सभी गुरा पृथक्-पृथक है। सब लक्षराकी दृष्टिसे और आत्मामे जब वहाँ देखते है कि कैसे बसे हुए है तो वहाँ वे ही तो प्रदेश है। इसमे एक गुरा है। जहाँ एक गुरा है वही सारे गुरा है और इस काररासे यह भी निरखा जा सकता है कि चूंकि आत्मामे जहा ही एक गुरा है वहा ही सारे गुरा है आत्मामे उसमे अपने सर्वस्वमे जहा ये गुरा है वही अनन्त गुरा है।

उदाहरणपूर्वक एक गुणमें अनेक गुणोंकी विभुताका कथन—जैसे पुद्गलमे अणुमे जहा रूप गुरा है वही रस गुरा है, वही गध और वर्णादिक गुरा हैं। तो देशभेद तो नही है कि अराुमे किसी हिस्सेमे रूप हो, किसीमे रस हो, कही गध हो, कही स्पर्श हो, ऐसा भेद नही है। भेद कहासे हो ? उसके अश नही है। एक परमाराु निरश है, उसके अवयव ही नही है। वे दो प्रदेशको घेरते ही नही। एक परमाराु एक प्रदेश को ही घेर सकता है। अब उसमे रूप है, रस है, गध है, स्पर्श है। और, भी शक्तिया है, तो जहा एक है वहा ही सब है। तब इस तरह ज्ञान हो रहे हैं, पर स्वरूप निराला प्रतीत होता है। रसनाइन्द्रियसे जाना जाय वह रस है। चक्षुइन्द्रियसे जाना जाय वह रूप है, ऐसी भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंसे भिन्न-भिन्न गुरा पहिचाने जाते है। तो स्वरूप उनका निराला निराला है, उन्हे एकमेक नही किया जा सकता, और जहा एक गुरा है वहा ही सब गुरा है, उनका पार्थक्य नही हो सकता। विवेचन किया जाना अशक्य है। इससे एकमेक भी नजर आते है, पृथक पृथक भी नजर आते है। यो ही आत्माके गुरा स्वरूपदृष्टिसे पृथक पृथक समझमे आते है मगर स्वरूप और कल्पनामे समझमे आये यह भेद है। वस्तुमे तो जहा ही एक गुरा है वहा ही सब हैं। उस ही प्रदेशमे अनन्त गुरा है और प्रदेश भी निराला क्या ? उन्ही गुरागोका जो आत्मत्व है वही प्रदेश है। कुछ ऐसा नही बसा हुआ है कि जीवके प्रदेश कोई अलग ऐसी चीज हो और वहा ज्ञानादिक गुरा बसे हो। उन्ही अनन्त गुराोके द्वारा ही वे सब प्रदेश है या कहने वाले अनन्त गुराोका जो आत्मामे स्वरूप है वही प्रदेश है और वही अनन्त गुरा है। तब ऐसा भी नजर आता है कि एक गुराका प्रकाश अनेक गुराोपर है। जैसे सूक्ष्मत्व गुरा आत्मामे है तो ज्ञान भी सूक्ष्म है, दर्शन भी सूक्ष्म है, लो इसका प्रकाश भी सबमे पड गया। सबमे अमूर्तत्व है, सबमे रूपत्व है। जहाँ एक प्रदेश है वही सब गुरा है तो वहाँ क्या लखा जायेगा पृथक्।

आत्मामें गुण गुणांशका निर्देशन—आत्मामे एक विभुत्व शक्ति भी बतायी गई। ये शक्तिया, ये परिचय, जहा कुछ भी भेद मानना पडे झट एक शक्ति स्थाप लो, क्योकि

यह सब व्यवहारके लिए है। वस्तुमे तो स्वयं उसका जो स्वरूप है वह है। वस्तुमे अस्तित्व गुण है तो सारे गुण अस्तित्वरूप है, वस्तुत्व गुण है तो सारे गुण वस्तुत्व रूप है। जहाँ एक ही सर्व कुछ है वहाँ प्रदेश और गुणका नाम लेकर भेद करके उस द्रव्यको समझानेका यत्न किया गया गया है। यहा एक ऐसी जिज्ञासा हो सकती है कि जब प्रदेश और गुण वाले न रहे, अभिन्न ही रहे, जो ये प्रदेश है वे ही गुण है, तब फिर प्रदेश और गुणमे अन्तर क्या है ? वही एक आत्मा जो कि विस्तार और आयतके रूपसे देखा जाता है वही आत्मा जब एक विस्ताररूपसे निरखा जाता है तो वहा प्रदेशका बोध होता है और जब यही आत्मा आयत रूपसे देखा जाता है, गुणप्रवाहरूपसे देखा जाता है तो यह भी विदित होता कि यह क्रमसे अशो सहित है। और, ये जिसके अंश है ऐसी जो शाश्वत भक्ति है वह गुण कहलाती है। तो अनुभवमे भी, समझमे भी स्पष्ट आता है कि प्रदेश नाम इसका है और गुण नाम इसका है। यो स्वरूपसे भिन्न-भिन्न प्रकार समझमे आने पर भी प्रदेश न्यारे हो, गुण न्यारे हो, ऐसा नही है। अतएव स्वरूपसे कहा जाय तो कहा कि वे पृथक-पृथक है। और, जब वहा वर्तनाकी दृष्टिसे वस्तुत्वकी दृष्टिसे देखा जाय तो वहाँ वे सब एक है। अब यहा यह बात विदित हो जाती है कि द्रव्यका कोई प्रादेशिक ढगसे अश किया जाता है यह एक कल्पनामे अश हुआ। और सयुक्तिक वर्णन है वह, यो अटपट नही है जिस वर्णनके द्वारा हम उस वस्तुके निकट पहुंचते है वर्णन यथार्थ है। तो हम उस द्रव्यमे जब हम क्षेत्रदृष्टिसे तिर्यक विस्तार रूपसे अश निरखते है तो वहां प्रदेश विदित हुए और जब किसी असाधारण भावको दृष्टिमे लेकर उसके अश निरखते है तो वह अगुरुलघुत्व या उन अनुभाग रूपसे कुछ अश प्रकट हुए है, कुछ अश प्रकट हुए है, कुछ अप्रकट है, या सभी प्रकट है आदिक रूपसे वे निरखते है तो यहां यह समझमे आया कि प्रत्येक गुणमे अंश है और वे अश अनन्त है। एक तो यो एक ही साथ अनन्त अश विदित हो जाते है तभी तो व्यवहार होता है कि इसका ज्ञान थोडा है, इसको ज्ञान बहुत है, यह उनसे भी अधिक ज्ञानी है। यह कैसे बोध हुआ कि उस ज्ञानके तिर्यक् विस्तार रूपमे अश समझे गए। इतना ज्ञान इतने अंशका है, इतना ज्ञान और विशेष वाला है, यो अंश विदित होते है और कालक्रमसे अंश विदित होते है।

गुण और अंशका विवेचन—प्रश्न— गुण और अशमे क्या अन्तर है ? उत्तर— अंशको भी गुण कहते है, पर यह गुण हुआ जिससे पदार्थ लक्ष्यमे आये, वह एक ऐसा अखण्ड तत्त्व है। जैसे ज्ञानगुण। अब ज्ञानकी जो डिग्रियाँ बनी कि इसका ज्ञान इतना बडा है, इसका इससे ज्यादह। तो छोटेसे बडा समझा जाता है तो अश अधिक है, ऐसा ही समझमे आता है तो अश फिर वे गुणके हुए। गुणके अंश तो कालक्रमसे भी हैं। कालक्रम

से अश कैसे हुए कि अभी ज्ञानगुण यह जान रहा है, अब यह समझ रहा है, इसके पश्चात् फिर यह समझ रहा है इस तरह उसके अश बने। गुणमे भी अश होते है और गुण वे कहलाते है जिनके द्वारा पदार्थ पहिचाना जाय। जो मेरा निजस्वरूप हो, जिससे उस द्रव्य की पहिचान होती है उसे कहत है गुण। तो ऐसे गुणोमे अश अनन्त होते है और वे अश पृथक् नही है। अब सहदृष्टिसे देखा जाय तो इस ज्ञानने ज्यादह जाना। जाना अपने अन्त-र्मुहूर्तको, ज्ञानको जाना, जाना मगर जाननेके परिमाणमे भी जब छोटा वडापन समझा जाता है तो यह छोटा बडापन अशोके आधार पर ही होता है, तो वे अश कोई पृथक् नही है। जैसे बुखार है, किसीको कहते हैं कि इसको १०५ डिग्री बुखार है तो बुखारका माप हो गया, पर वे डिग्रियाँ उस बुखारमे न्यारी न्यारी नही रखी है, अथवा भिन्न नही है, निमित्त हैं और वे उतने रूपमे हैं। वे अश गुणमे पृथक्-पृथक् नही। किन्तु यो भी कह सकते कि उन अशोका स्वरूपात्मक गुण होता है। जैसे जीव पृथक् पृथक् नानारूप नही किन्तु विदित हुए, नाना गुणात्मक वह आत्मा होता है, इसी प्रकार गुणोमे अश पृथक्-पृथक् नही किन्तु उन अनेक अशस्वरूप गुण होते है।

उदाहरणपूर्वक गुण व अंशका विवेचन--जैसे दूधकी चिकनाईके बारेमे लोग कहते ही है, बकरीके दूधसे गायके दूधमे चिकनाई अधिक है, गायसे भैंसमे अधिक है, भैंससे भेडमे अधिक है, और सुनते है कि ऊटके दूधमे उससे भी अधिक चिकनाई है। वे सब छटाक-छटाक ही दूध है, वहाँ पर जो ये चिकनाईकी बातें अधिकाधिक बतायी जाती हैं तो उससे एक चिक्कणभावका बोध किया और वे अश कही पृथक्-पृथक् नही हैं, किन्तु उन सर्व अशो का जो स्वरूप है वही गुण कहलाता है। तो गाय भैंस आदिकके दूधमे चिकनाई और उसके अश सिद्ध होते है तभी तो यह व्यवहार है, यह जानकारी है कि इस दूधसे उस दूध मे चिकनाई अधिक है, उस दूधमे चिकनाई कम है। उस ही पशुके दूधमे पहिले चिकनाई कम है, कुछ महीने बाद चिकनाई विशेष होती है। तो ऐसे जो चिकनाईके अश हैं वे पृथक् नही, किन्तु उन सबका समूह ही चिकनाई है, ऐसे ही समझना चाहिए कि किसीका ज्ञान मानो हजार अविभाग प्रतिच्छेद वाला है, किसीका उससे ज्यादह है जिससे कि एक ज्ञानकी छोटाई बडाईका कुछ बोध करते है कि उनके ज्ञानसे उनका ज्ञान भी बहुत बडा है, उनके ज्ञानसे उनका ज्ञान छोटा है, तो ऐसे छोटे बडेका हम परिचय किस उपायसे कर पाते है ? जिस उपायसे कर पाते हैं उसमे अशो जैसी बात समझी हुई है। अब समझना चाहिए कि सभी गुण जो एक गुण सब कुछ उस आत्मामे पाये जाते है ऐसे अनन्तगुण वही सब पाये जाते है। जैसे बुखारका माप डिग्रियोसे होता है मानो १०४ डिग्रीका बुखार है तो उन डिग्रियोकी गिनती शरीरके हिस्सोकी तरह नही होती। शरीरमे एक द्रव्यपरिमाणके हिसाब

से इञ्चोका परिज्ञान कर लेते है। यहाँ तक दो फिट हुए, ४ फिट हुए आदि, किन्तु बुखारकी गिनती इंचोसे नही, तिर्यक् विस्तारसे नही, किन्तु प्रवाहसे है। कितना प्रवाह है, कितना विकास है ? तो आत्मामे जो गुणोका विकास है, प्रकाश है, तो सभी गुणोका प्रकाश है। वहाँ पर भी कितने भेद नजर आते, कितनी प्रकारता हो जाती है ? कही कोई गुण कितना ही विकसित है, कही कोई गुण कितना ही विकसित है ऐसी विकासकी जो पद्धतियाँ है, नानापन है, तो जहाँ ऐसा नानापन हो, जहाँ मिटने उपजने वाली बात हो, वहाँ समझना चाहिए कि यह सब पर्यायदृष्टिसे समझा जा रहा है।

आत्मामें मूलभूत शक्ति–आत्मामे अनन्त शक्तिया होती है और उन अनन्त शक्तियो मे कुछ शक्तियोका वर्णन मिलता है। सभी शक्तिया वर्णनमे क्या आये, उनका नाम भी नहीं कहा जा सकता। तो उन सब शक्तियोमे से सर्वप्रथम एक जीवत्व शक्तिसे प्रारम्भ करे कि इस आत्मामे जीवत्व शक्ति है। आत्मा स्वयं अपने आपमे जीता रहता है यह जीना १० प्राणोरूप नही है। १० प्राण रूपकी बात तो मिट जाने वाली है, किन्तु आत्मामे जो अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूपको धारे हुए है जिस शक्तिके प्रतापसे, उसका नाम है जीवत्व शक्ति। अर्थात् जीव अपने आपकी शक्तिपर जीवित है, अवस्थित है, उसका अस्तित्व है, उसे कर सकने वाला कोई दूसरा पदार्थ त्रिकालमे भी नही है। यह आत्मा अपने आपके उस ज्ञानभावके द्वारा ही जीता है। अन्य विकार भावोके कारण इस आत्माका जीवन नहीं, जीवत्व नही, अस्तित्व नही, क्रोधादिक कषाय विकार होते है, उपाधि पाकर हुए, होकर मिट गए। उन विभावोसे मेरा जीवन नही, मेरा अस्तित्व नही। मैं जीता हू अपने आपके स्वरूपके बलपर और यो जीवनका अर्थ एक अस्तित्वके रूपमे प्राय प्रयुक्त होता है तब कह सकते है कि ऐसा जीवन तो सभी पदार्थोंका है। सभी पदार्थ अपने-अपने अस्तित्वसे परिपूर्ण है। यहाँ चेतन पदार्थकी बात कही जा रही है। यह चेतन जीव अपने चैतन्यस्वरूपसे चैतन्य प्राणको धारण करता हुआ जीता रहता है। इसे कहते हैं जीवत्वशक्ति। इसके कारण आत्मा स्वयं जीता है, किसी अन्य पदार्थके सहारेपर नही जीता है, या रागद्वेष मोहादिकके सहारे नही जीता है, जो है वह स्वय है इसी बलपर बना रहता है, जीवित है। यो ही यह आत्मा अपने ही सहारेपर अपने ही स्वरूपसे जीता रहता है। कही परद्रव्यसे इसका जीवन नही, कही रागादिक विकारोसे इसका जीवन नहीं। यहाँ हमारी जो समझ चलती है ऐसे ज्ञान अंशसे हमारा जीवन नही।

जीवत्वशक्तिके परिचयका उपकार––हम बने हुए है तो अपनेमे असाधारण चैतन्य प्राण द्वारा बने हुए है जो कही अलग नही किए जा सकते। सदा इस जीवके साथ शाश्वत है। जो मान लेते हैं, समझ लेते है, परख लेते है उनका भला हो जाता है और जो इससे

उल्टा निरखते हैं वे विकल्प विपदाओमे भ्रमण कर रहे हैं। आत्मामे यह जीवत्व शक्ति इस आत्माको स्थिर बनाये हुए है, जीवनशाली बनाये है, जिसमे ज्ञान दर्शन आदिक चित्प्रतिभासरूप गुण भले ही ढगसे उसमे समा जाते हैं, उस स्वरूप हो जाते है, ऐसे चैतन्यप्राण को धारण करने वाली जो शक्ति है उस शक्तिका नाम है जीवत्वशक्ति। ऐसी जीवत्व शक्ति से सभी जीव निरन्तर जीते रहते है, ऐसे जीवत्व शक्तिका पहिचान करके हममे यह उत्साह होना चाहिए कि मैं अपने आपकी शरणपर हूँ, किसी दूसरेके आधारपर नही हू। लोग कहते है कि मेरा जीवन मिट गया, मेरा जीवन हो गया, तो वे किसी बाह्य घटनामे जीवन की कल्पना करके कहते है। मेरा जीवन, मेरे प्राण, मेरा स्वरूप मेरेमे मेरे अपने आपसे है, ऐसी इस जीवत्व शक्तिके द्वारा मैं जीवित रहता हू।

जीवत्व शक्तिसे जीवकी शाश्वत स्वरूपप्रतिष्ठ—आत्मामे जीवत्वशक्ति असाधारण होकर भी ऐसी साधारण शक्ति है कि जिसके बलपर जीवका अस्तित्व ही टिका हुआ है और इस दृष्टिसे ही लोकमे कहनेका ऐसा प्रचलन है कि सब पदार्थोके अन्दर जीवन बताया है। कोई काठ यदि सड गया तो कहते कि इसका जीवन खतम है, कोई काठ मजबूत है तो कहते है कि इसका जीवन मजबूत है। तो ऐसे जीवनसे अर्थ है उसका अस्तित्व टिका रहना। तो जीवका अस्तित्व ही टिका हुआ है जिस शक्ति पर उस शक्तिको जीवत्व शक्ति कह सकते हैं। लेकिन असाधारण धर्मको छोडकर अस्तित्व नही हुआ करता। कोई भी पदार्थ हो, किसी भी पदार्थका अस्तित्व तब ही है जब उसमे कोई असाधारण स्वरूप हो। असाधारण स्वरूप हुए बिना न तो अर्थक्रिया होती है और न उसका अस्तित्व होता है। पुद्गल द्रव्य है इसमे असाधारण स्वरूप है मूर्तपना। जैसे कि रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड रूप ये सब कुछ सामने है, वही उसका असाधारण रूप है और उसके ही कारण वहाँ अर्थक्रिया चल रही है। रग बदले, गध बदले, स्पर्श बदले, रस बदले, कुछ भी परिवर्तन हो, यह अर्थक्रिया तब ही सम्भव है जब कि उसमे असाधारण स्वरूप हो और अस्तित्व भी तब ही सम्भव है जब कि वहाँ असाधारण स्वरूप हो। तो जीवमे असाधारण स्वरूप है चैतन्य और असाधारण स्वरूप ही हुआ करता है पदार्थका प्राण। तो यो यह जीव चैतन्यप्राण करके जीवित है, ऐसे जीवनपनेकी शक्ति होनेका नाम जीवत्वशक्ति है। यह आत्मा चैतन्य प्राणोमे जीवित है और इसका यह जीवन अनादिकालसे चला आया। अब भी है और अनन्तकाल तक रहेगा। इस आत्माका जीवन किसी बाह्य वस्तुके आधारसे नही है, किन्तु इस ही मे स्वय जो जीवत्व शक्ति है उस शक्तिके ही आश्रय इसका जीवन है।

आत्मजीवनकी स्वतःसिद्धता—मोहदशामे इस जीवत्व शक्तिका परिचय न होनेसे नाना कल्पनायें उठने लगती हैं और यह जीव उल्टा निर्णय कर लेता है कि मेरा जीवन तो

इस घर कुटुम्ब आदिकके कारण है अथवा इस अन्य जीवके कारण है अथवा जो कुछ विचार विकल्प कषाय उठ रहे है, जिनका आग्रह बना हुआ है उनसे ही अपना जीवन जिन्दा रहना कायम रहना मानता है, लेकिन आत्माका जीवन इस किसीके कारण भी नही है। कभी-कभी लोग ऐसा भी कह उठते है, समझ लेते है कि यदि ऐसा न हो, मेरा अपमान हो, मेरी कीर्ति मे बाधा हो तो मेरा जीवन खतम हो जायगा। अरे आत्माका जीवन तो चैतन्य प्राणके आश्रय है, वह अनादि अनन्त है। वह कभी समाप्त नही होता। उससे ही जीवन है। जिन ज्ञानी पुरुषोको अपने इस शुद्ध असाधारण स्वरूपका परिचय है उनको ही परम समता प्राप्त होती है। रागद्वेषके कारण मिलनेपर भी अपनेको रागद्वेषमय न बनाना, अनुकूल प्रतिकूल साधन मिलनेपर भी अपने आपको ग्लान म्लान न बनाना ऐसी अद्भुत शक्ति उन ही ज्ञानी पुरुषोके प्रकट होती है जिन्होने यह समझ लिया कि मेरा जीवन मेरा अस्तित्व तो चैतन्य-प्राणके आश्रय है। इसके अतिरिक्त अन्य किसीमे आश्रय नही है। और, ऐसा श्रद्धान कर लेनेपर फिर उसका व्यवहार भी स्वयको अनाकुलताका साधन होना और दूसरोको भी अनाकुलताका साधन होना यह हो जाता है। तो यह निर्णय करना है कि मैं इस जीवत्व शक्ति के बलपर स्वय स्वत जी रहा हू, मेरा जीवन किसी परके आधीन नही है। किसी भी पदार्थ का अस्तित्व अथवा जीवन किसी अन्यके अस्तित्वपर नही टिका हुआ है। प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूपसे ही सिद्ध है। किसीके सहारेमे भले ही स्कंध पर्यायमे यह अपेक्षा है कि अनेक का पिण्ड हो, पुञ्ज हो तो वह स्कंध टिका हुआ है और जब वे स्कध विघट जाते है, बिगड़ जाते है तो स्कंध मिट जायें फिर भी किसीका जीवन खतम नही हुआ, किसीका अस्तित्व मिटा नही। जितने अणु थे वे सब अपने अस्तित्वमे ज्योके त्यो बने हुए है, उनका सत्त्व नही मिटा। इस आत्माका सत्त्व सही मिटा।

जीवत्व शक्तिकी असाधारण साधारणस्वरूपता—पदार्थ किसके बलपर टिका हुआ है? जब इसका विश्लेषण किया जायगा तो उस पदार्थका असाधारण स्वरूप बताना होगा। जो सर्वकालमे साधारण रहे, जो असाधारण होकर भी साधारण हो ऐसा स्वरूप बताना होगा, जिसके बलपर पदार्थोका अस्तित्व रहता है। आत्माका ऐसा स्वरूप है चैतन्यभाव। तो यह कहना होगा कि इस जीवका प्राण भी चैतन्यभाव ही है, जिसके होने पर जीवन रहे, जिसके न होने पर जीवन न रहे, उसको प्राण कहते है। यद्यपि यहाँ यह सम्भव नही है कि चैतन्यप्राण न रहे और जीवन भी न रहे, सदा ही चैतन्यप्राण है, सदा ही जीवन है फिर भी चैतन्यप्राण एक ऐसा असाधारण स्वरूप है जो साधारण रहा करता है। तो सब अवस्थाओमे, सब कालोमे, सर्व परिस्थितियोंमें मूलमे वे चैतन्यप्राण सदा एकरूप रहते है, उस चैतन्यप्राणसे यह आत्मा जीवित है और सदा काल बर्तता रहता है। तो वहाँ जब वह

असाधारण स्वरूप है कभी मिट ही नही सकता है तो कल्पनाओ द्वारा समझ लिया जाता है कि चैतन्यप्राण न हो तो आत्माका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। यद्यपि ऐसा कभी नही होता कि चैतन्य प्राण न रहा हो और आत्माका अस्तित्व न रहा हो, लेकिन कल्पनामे यह व्यतिरेक पुष्ट है और सदेह भी नही होता कि यह आत्मा चैतन्यप्राणके होने पर ही है और चैतन्यप्राणके अभावमे नही है। कल्पनामे यह व्यतिरेक व्याप्ति उतनी ही सुदृढ है जितनी कि अन्यत्र व्यतिरेक व्याप्तिके स्थलोमे व्यतिरेक व्याप्ति सुदृढ है। आत्मा चैतन्य प्राणोसे ही जीवित है, घर, धन, मित्र, प्रतिष्ठा और रागादिक भावोसे जीवित नही है। ऐसी भावनामे जितना अधिक प्रवेश करेंगे उतनी ही विशुद्धि बढती है और समय आयेगा कोई ऐसा कि यह व्यावहारिक जीवन जो पराश्रित है, अन्यके आश्रय है, शरीरके आश्रय है जिससे जीवन मरण सकट चला करते है, ये सब विडम्बनाये समाप्त हो जायेगी, इसही चैतन्य प्राणकी उपासनासे, चैतन्यभावके अभेद ध्यान प्रतापसे सब सकट कभी समूल नष्ट हो जायेगे। ऐसा यह मै आत्मा अपने चैतन्यप्राणसे ही जीवित हूँ।

जीवत्व शक्तिके बोधसे परिचित हुए अखण्ड आत्मतत्त्वकी उपासनाकी स्थिति—— चैतन्यभावके कहते ही यह समग्र आत्मा जो एक अभेदरूप है उसको लक्ष्यमे लेना है। किसी भी शक्तिका वर्णन करते हुए हमे केवल उस भेदरूप शक्तिके परिचयसे ही प्रयोजन नही रखना है, किन्तु उस शक्ति परिचयके माध्यमसे अभेद अन्तस्तत्वकी ओर जाना है। जैसे किसी भी परपदार्थके लक्ष्यसे आत्माको समाधि भाव प्राप्त नही होता तो उपयोगमे चल करके जो परपदार्थको समझा है तो उसके साथ इष्ट अनिष्ट बुद्धिका उठना प्राकृतिक हो जाता है, इसी तरह शरीरपर दृष्टि रखने से आत्माको समाधि प्राप्त नही होता, क्योकि इसको दृष्टिमे लेनेसे, निरखनेसे जो इष्टभाव है, ममता भाव है, मैं ऐसा हूँ, ठीक हूँ ऐसी बहुत सी तरगे उठती है वहाँ समाधिभाव क्या आया? इसी प्रकार अपने किसी विभाव-पर्यायको लक्ष्यमे रखने पर भी समाधिकी प्राप्ति नही है और यो ही जानकारीके लिए आत्माके गुणोका वर्णन करना आवश्यक ही है और भक्तिके लिए परमात्माकी उस शुद्ध-पर्यायको दृष्टिमे लेना आवश्यक है, पर यह बात सहज बन जाती है कि यथार्थ पद्धतिसे यदि प्रभुके स्वरूपको निरखा जा रहा है तो वह निरख ऐसे उस असाधारण किन्तु सर्व कालमे रहनेके कारण साधारण चैतन्यस्वरूपमे प्रविष्ट हो जाती है, वह उपयोग तो प्रभुके उस विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखते-निरखते ही चूँकि यह ज्ञानी विवेकी पुरुष है, सो वहाँ ही पता नही किस समय वह पर्याय लक्ष्यके विकल्पसे हटकर एक शुद्ध चैतन्यप्रभुकी उपासनामे रह जाता और वहाका चैतन्यस्वरूप भी इस विशेषणसे नही किन्तु चैतन्यस्वरूपमात्र उसके अनुभवमे रहता है। जिसे स्वानुभूति कहेगे, ऐसी स्थिति प्रकट हो जाती है। तो यो सहज

हो अथवा चलाकर उपयोगको उस चैतन्यस्वरूपके चिन्तनसे हो, जब यह अभेद आत्मतत्त्व लक्ष्यमे होता है तो इस जीवको ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति प्रकट होती है। तो शक्तियोकी बात सुनकर हमे केवल उस एक शक्तिका ही आग्रह करके नही रहना है। इससे भिन्न ही रहकर केवल उस शक्तिके परिचयमे ही नही लगना है किन्तु जैसे अनन्तशक्त्यात्मक अभेद-स्वरूप आत्माकी यह शक्ति है उस अखण्ड आत्मतत्त्वको लक्ष्यमे लेना है। गुणोका वर्णन उन गुणोके परिज्ञानके लिए है, इसी तरह इन शक्तियोका वर्णन अनन्तशक्त्यात्मक अखण्ड आत्मस्वरूपके परिचयके लिए है। आत्मामें जीवत्व शक्ति है। इस शक्तिके स्वरूपको यथार्थ जानने पर शक्तिभेदके उपयोगसे हटकर अनन्तशक्त्यात्म आत्मा लक्ष्यमे आ जाय तो यह पद्धति जिसको जाननेके लिए बताया जाता है वह यथार्थ हो जाता है।

जीवमें चित् शक्तिका महत्त्व—आत्मा जीवत्व शक्तिके कारण जीता है, चैतन्यप्राण से जीता है यहा यह बात कही गई है कि आत्माका जीवन किसपर निर्भर है ? यह जानने के बाद अब यह जानने चले कि आत्माका जीवन है कैसा ? इस बातको उस चित्शक्तिका परिचय समझा देता है। आत्मामे एक चित्शक्ति है जिसके कारण यह आत्मा प्रतिभासरूप परिणमता है प्रतिभास सर्व पदार्थोंका संचेतन होना, प्रतिभास होना, ज्ञान होना, जानना देखना इसका विशेषरूप है, ऐसा प्रतिभास होना यह चित्शक्तिका कार्य है। इससे यह जाना जाता है कि आत्माका पवित्र जीवन ऐसा जीवन है। उसका कार्य केवल एक प्रतिभासमात्र है। प्रतिभास जाननेमे आ जाय। कोई पुरुष अच्छा है, कोई पुरुष खराब है अथवा यह रागद्वेषके योग्य है इस प्रकारकी जो भीतरकी कल्पना है यह कल्पना इसे बरबाद करने वाली है, पर इसकी जो चित्शक्ति है उसका काम है, परिणमन है, सो इसकी शाश्वत सत्ता बनाने के लिए अपना स्वरूप अपने घातके लिए नही होता। किसी भी पदार्थका स्वरूप हो, वह उसके अस्तित्वके लिए है। उसे आबाद रखनेके लिए है। स्वरूप किसीके भी विघातके लिए नही होता। उसका स्वरूप चैतन्यस्वरूप है, चित्शक्तिके बलपर इस स्वरूपका परिणमन चल रहा है और वह परिणमन है प्रतिभास रूप। यह आत्मा जानन देखनसे आगे बढा अर्थात् रागद्वेषमे आया कि यह इस जीवकी बरबादीके लिए है, केवल यहाँ जाने देखे इसमे जीवकी आबादी है। ऐसे अलौकिक व्यक्त जीवनसे प्रभु जीते रहते है। तीन लोक तीन कालका यह समस्त विश्व उनके प्रतिभासमे आ रहा है तिसपर भी उनके राग द्वेष या किसी प्रकारके ये विकल्प तरग उत्पन्न नही होते। कितना समर्थ परिणमन है कि जिसके विचलित करनेमे कोई भी उपाधि समर्थ नही है। उपाधि तो उनके लिए है ही नही। कोई भी परद्रव्य उन्हें विकसित नही कर सकेगा।

इस जीवनमें जीवनका उद्देश्य—भैया, ज्ञानमय जीवनसे जीनेका अपना उद्देश्य बने

और यह निर्णय बने कि इस जीवनमे करने योग्य काम केवल एक यही है, दूसरा है ही नही। मनुष्यजन्म पाया, श्रावक कुल पाया, जैन शासन पाया, ऐसी अमूल्य अद्भुत बातें पाकर भी हम यदि अपना कल्याण न कर सके, खुद खुदमे शान्त गुप्त रीतिसे प्रवेश करके अपने आपको शान्त न बना सके तो फिर कल्याणका उपाय बनेगा कहाँ ? हमे यह निर्णय रखना है कि मैं जी रहा हूँ तो, मनुष्य हुआ हू तो एक इस ही कामके लिए हुआ हू।

मेरा काम केवल एक यह है—अपने शुद्ध स्वरूपका जानना और ऐसा ही जान कर तृप्त रहना, बाहरका कोई भी पदार्थ मेरा सुधार बिगाड करनेमे समर्थ नही है। मैं ही विकल्प मचाकर, मैं ही अपने स्वरूपके विशुद्ध उपयोगसे चिगकर दुखी हुआ करता हू और मैं ही अपने उस विशुद्ध स्वरूपकी ओर लगकर अपनेको दुखी कर सकता हू। मेरा दुख दूर करनेको कोई समर्थ नही है। जैसे किसी पुरुषको इष्टका वियोग हो गया तो रिश्तेदार लोग उसे समझानेको आते है, ज्यो ज्यो उनका समझाना होता है त्यो त्यो यह और भी दुखी होता जाता है। वे लोग समझाते तो इसीलिए है कि वह शान्त हो जाय पर उनके समझानेकी पद्धति ऐसी है कि जिससे उस व्यक्तिको अपने उस इष्टका राग और भी बढता जाता है और उसके प्रति अनेक प्रकारके ख्याल बना बनाकर और भी दुखी होता जाता है। वे रिश्तेदार लोग कैसे समझाते है ? अरे वह तो बडा अच्छा था, सबका बडा ख्याल रखता था, सबसे बडा प्रेम करता था, वैसी अनहोनी हो गई कि वह मर गया, आदि , इस तरहकी बातोको सुनकर उसका राग बढता जाता है और दुख भी बढ जाता है, और उसे कोई ऐसा समझाने वाला मिले कि अरे तुम तो उससे अत्यन्त भिन्न पदार्थ हो, तुम्हारा उससे कुछ भी तो सम्बध नही हो, तुम एक न्यारे जीव हो, वह एक न्यारा जीव था, तुम तो अपने स्वरूपकी सुध लो, वह तो सब मायारूप था , लो इस प्रकारसे समझाया जानेसे उसका दुख शान्त हो सकता है। कोई भी मित्र अनेक इन बाह्यसाधनोको जुटाकर या किसी भी प्रकार उसके दुखको शान्त करनेमे समर्थ नही हो सकता। किसी भी प्रकार कोई किसी दूसरेको शान्त नही कर सकता। यह खुद ही अपने ज्ञान और वैराग्यको सम्हाले, सबसे निराले इस चैतन्यमात्र निज स्वरूपको निहारे तो इसमे शान्ति प्रकट हो सकती है। चितशक्तिके स्वरूपका परिचय हो, इस ही दिशाकी ओर बढना हो। उससे हम यह समझें कि मै केवल एक चैतन्यशक्तिमय हू, और जिसका विशुद्ध काम केवल प्रतिभास है, ऐसे अपने इस असाधारण स्वरूपको सम्हालूं तो मुझे शान्तिका मार्ग मिलेगा।

वर्णित प्रथम द्वितीय शक्तिका संस्मरण—आत्मा अनन्त शक्त्यात्मक अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण स्वरूप है। उस आत्माको अन्तरङ्ग दृष्टिसे समझनेके लिए यहाँ शक्तियो का वर्णन चल रहा है। आत्मामे जीवत्व शक्ति है ऐसा बताकर यह समझाया गया है कि

आत्मद्रव्य कायम रहे, आत्मद्रव्यका जो निज स्वरूप है, चैतन्यमात्र भाव वह बना रहे, उस भावको धारण कराये रहने रूप जो शक्ति है उसे जीवत्व शक्ति कहते है। और उस जीवत्व शक्तिके प्रतापसे जो उसमे चैतन्यभावका धारण हुआ है उसका क्या प्रकाश है? उसका वर्णन चित्शक्ति द्वारा किया गया है। ये शक्तियाँ आत्मामे पृथक-पृथक नही है। और वे शक्तियाँ अमुक अमुक प्रकारसे इस आत्मद्रव्यका काम करके देती है ऐसा भाव नही है। आत्मा स्वय जैसा अपने स्वभावसे है सो ही है। उसका समझना गुण द्वारा ही होता है। और गुणका अर्थ है भेद करना, जिसके द्वारा पदार्थ भेदरूप हो जाय, उसे गुण कहते हैं। तो अखण्ड जो आत्मा है उसके ही अंश-अंश रूपसे जो समझाया गया है जिस अन्तरङ्ग विधिसे उसका नाम शक्ति है, तो चित्शक्तिमें यह समझा गया आत्मा चित्प्रतिभासरूप है ऐसी शक्ति आत्मामे है उसका नाम है चित्शक्ति। इस शक्तिके विशुद्ध स्वरूपको निहारने पर यह निर्णय हो जाता है कि इसमे विकारका स्वभाव नही पडा है। इसमे परपदार्थोंके मेलकी बात नही है। वह स्वय अपने आपमे एक चैतन्यभावसे एक प्रकाशमान चकचकायमान केवल वही एक चित्प्रतिभास ही जिसका सर्वस्व है इस प्रकारका आत्मतत्त्व है।

दृशिशक्तिका स्वरूप—अब उस उक्त चित्शक्तिमे क्या क्या कार्य होते है, उस प्रतिभासमे सामान्य और विशेष दोनो प्रकारसे प्रतिभास चलते है ऐसे सामान्य प्रतिभास रूप भेदका नाम है दृशिशक्ति और विशेष प्रतिभास शक्तिका नाम है ज्ञानशक्ति। आत्मा सामान्य प्रतिभास भी करता है और विशेष प्रतिभास भी करता है। सामान्य प्रतिभासमे यह अमुक पदार्थ है, यह स्व है, यह पर है, ऐसा भेदभाव या ऐसा आकार ग्रहणमे नही आता। वह तो एक सामान्य रूपसे सत् है। है ऐसे सामान्यको विषय करता है इस कारण उसे कहते है अनाकार उपयोग। दृशिशक्ति आत्मामे है। तो आत्माके किसी एक प्रदेशमे हुई दृशिशक्ति भी नही है, सर्व प्रदेशमे सर्व शक्ति है, तो दृशिशक्ति भी उतने विस्तारसे कितनी लम्बी चौडी है, इसका अगर प्रतिपादन किया जाय तो जैसे आत्माका लम्बा चौडापन बताया है वैसे ही सभी शक्तियोका समझ लीजिए। यद्यपि वस्तु केवल एक है, अखण्ड है। जब भेद करने चले तो प्रत्येक बातके भेद कर सकते है। दृशिशक्ति—अब इस शक्तिपर दृष्टि देकर बात देखिये- नयोमे ऐसी सामर्थ्य है कि जिस शक्तिका वर्णन हो उस वर्णन करनेके समय इसके उपयोगमे वही एक तत्त्व है और उसका वर्णन कर रहे हैं लेकिन केवल वही है इतनी कोई धारणा बनाये तो वह मिथ्यानय हो जाता है। अतएव परिचयमे तो सर्व कुछ है, पर जिस नयके अभिप्रायमे जो बात कही जा रही है उसका मुख्य रूपसे वर्णन होता है, तो दृशि शक्तिमे यह विषय आया है कि आत्मा अनाकार उपयोग रूप हो सके, सामान्य प्रतिभास कर सके, ऐसी उसमे शक्ति है, ऐसे प्रदेशमे रहता है। भेदकी दृष्टिसे सर्व शक्तियोका आकार

है। आकार अपने आधारभूत वस्तुसे सम्बधित है। पर इस विषयमे क्या आया है कि विषय की अपेक्षा अनाकारकी बात कही जाती है। उसमे सबका भेद आ जाय कि यह अमुक चीज है, यह अमुक चीज है तो वह ज्ञान बन जायगा। यह ज्ञानशक्तिका प्रताप है पर दृशिशक्ति मे अनाकार ही प्रतिभास है।

शक्तियोंके वर्णनमें अखण्ड ज्ञानस्वरूपकी ज्योति—किन्ही भी शक्तियोका वर्णन करते समय यह बात विदित हो जाती है कि आत्मामे ऐसी ऐसी ऋद्धिया है, ऐसी अमूल्य अनुपम विभूतिया है, स्वय ही यह परमेश्वर है, अपने स्वरूपके अवगमसे अपना महत्व विदित हो जाता है और स्वय ज्ञानानन्दशाली है, इसको अपनी विशुद्धिके लिए अपने शुद्ध ज्ञानानन्दके परिणमनके लिए किसी परकी प्रतीक्षा नही होती और न किसी परसे इसका कोई शुद्ध परिणमन होता। ऐसा विदित होनेसे ये सब बातें प्रकट होती हैं कि जितने विकार है, आपत्तिया है वे सब इन शक्तियोके स्वभावत स्वरसत अपने आप उत्पन्न होती है सो नही है। किन्तु उसमे कोई पर उपाधि निमित्त अवश्य है। ऐसी दृशिशक्तिमे आत्मा के उस साधारण प्रतिभासकी ओर दृष्टि जाती है कि जहा दृष्टि पहुचनेसे अभेद रूप उपयोग बनाना सरल हो जाता है। और वहा एक आत्मतत्त्वका परिचय सरल हो जाता है।

ज्ञानशक्तिके प्रसङ्गमें विशेषवादसम्मत द्रव्य गुण कर्म पदार्थका ज्ञान द्वारा विश्लेषण व याथात्म्य परिचय—अब आइये ज्ञानशक्तिकी ओर जिसमे साकार उपयोग होनेकी शक्ति हो उसे ज्ञानशक्ति कहते है। इसके प्रतापसे सर्व पदार्थोका बडे बडे विश्लेषण सहित परिज्ञान किया जाता है। वैशेषिक सिद्धान्तमे ७ पदार्थ माने हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इस सिद्धान्तमे विश्लेषणका एकान्त किया। यद्यपि विश्लेषण के साथ जानने पर ये सब तत्त्व सिद्ध है। द्रव्य भी तत्त्व है। गुण भी कर्म भी सामान्य विशेष समवाय (इनके सम्बन्धकी बुद्धि) है और अभाव भी परिज्ञात होता है। परिचयमे ये ७ बाते आती है लेकिन परिचयमे तो आया है, अब परिचित उस चीजको स्वतत्र सत् मान लिया जाय, पदार्थ मान लिया जाय तो यह मिथ्या हो जाता है। निरपेक्षनय मिथ्या होता है, सापेक्षनय सम्यक् होता है। इस स्याद्वाद रीतिका विश्लेषण करने पर निर्णय होता है कि सत् एक है और उसके अश गुण पर्याय हैं, ये पृथक् अंश नहीं हैं। ज्ञानशक्तिके प्रतापसे विश्लेषण होनेकी बात भी है, मगर वहाँ सत् क्या है और सदश क्या है, इसका यथार्थ बोध होना चाहिए। सत् एक केवल द्रव्य है। अब वह द्रव्य असाधारण स्वरूपकी दृष्टिसे ६ जातियोमे बँट गया और जीव जातिमे अनन्तानन्त जीव है पुद्गल जातिमे अनन्त पुद्गल हैं। धर्मद्रव्य वह स्वय एक है, अधर्मद्रव्य भी वह स्वय एक है, आकाश भी इसी तरह एक है और काल जातिके द्रव्य असंख्यात है तो ये सब द्रव्य ही हो गए। अब गुण,

कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये ६ गुण कोई सत् न रहे। सत्का लक्षण है जहाँ उत्पाद व्यय ध्रौव्य हुआ करे। तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यमयी सत्तासे अनुस्यूत न होनेके कारण गुण कर्म सामान्य आदिक सत् नही है। सत् केवल यह एक द्रव्य है और उसके प्रकार जातियाँ जब बनाते हैं तो अनेक धर्म बन जाते है। उस ही किसी एक द्रव्यमे जब हम कुछ विशेष खोज करते है तो वहाँ गुण पर्याय विदित होती है, गुणपर्यायके अंशरूप हो तो जैसे द्रव्य सत् कहा उस तरह सत् नही कहा किन्तु वे सत्के अंश है, अत पर्याय भी सत् नही किन्तु सत्के अश है, फिर भी जब हम उस द्रव्यको गुणकी दृष्टिसे निरख रहे है तो वहा गुण सत् है। पर्यायकी दृष्टिमे पर्याय सत् है, पर विवेचनके साथ जब बतायेंगे तो सत् द्रव्य है और उसके भेद किए गए तो गुण और पर्याय हो गए।

विशेषवादसम्मत सामान्य व विशेष पदार्थका ज्ञान द्वारा विश्लेषण व याथात्म्य परिचय--अब सामान्य पर चलिए। सामान्य स्वतत्र पदार्थ नही, किन्तु अनेक द्रव्योमे जो एक ऐसी शक्ति विदित होती है, ऐसा धर्म जाना गया जो सामान्य है, सर्वव्यापक है याने सबमे रहने वाला है उस धर्मकी दृष्टिसे वह सामान्य तत्त्व कहलाता है और जो भेद कराया उसे दूसरे से पृथक् करा दे ऐसी शक्तिका नाम, ऐसे तत्त्वका नाम है विशेष। तो सामान्य और विशेष ये दोनो स्वतंत्र सत् नही है। उत्पादव्ययध्रौव्यमयी सत्ता इसमे नही मानी जाती है, किन्तु जो जाना गया द्रव्य है उसके ही अंश सामान्य है, उसके ही अश विशेष है और यो सर्व द्रव्य सामान्यविशेषात्मक होते हैं, सर्व द्रव्य गुण कर्मात्मक होते है, गुण-पर्यायात्मक द्रव्य है। सामान्य विशेषात्मक द्रव्य है। यद्यपि इन दोनोमे से कुछ एक कहा जाय तो भी दूसरेका बोध हो जाता है, गुणपर्यायात्मक है। इसीका अर्थ है सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य विशेषात्मक है इसीका अर्थ है गुणपर्यायात्मक है। फिर भी इसी पद्धतिमे कुछ और भी भेद बनाकर गुणपर्यायात्मकको कहकर और तरह समझ लिया जाता है और सामान्यविशेषात्मक कहकर कुछ और तरह समझ लिया जाता है।

तो गुण, कर्म, सामान्य, विशेष ये स्वतत्र सत् नही है, किन्तु उस सद्भूत द्रव्यके अश है, इस तरह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष इन तत्त्वोकी चर्चा की। अब इसके आगे दो तत्त्व और वैशेषिकोने माने हैं—एक समवाय और दूसरा अभाव। समवायके मानने की यो आवश्यकता पडी कि जब यह मान लिया गया कि द्रव्य पदार्थ स्वतंत्र है, गुण पदार्थ स्वतत्र है, कर्म पदार्थ स्वतंत्र है तो द्रव्यमे गुण सदासे है, सदा तक रहते है, ऐसा सम्बंध क्यो बना हुआ है और उसका फिर विवेचन किस तरह किया जाय ? इसके समाधानके लिए समवाय पदार्थ मानना पडा कि गुणका द्रव्यमे समवाय रहता है। द्रव्य द्रव्यका तो सयोग रहेगा, क्योकि उनमे यह समझा जा रहा कि अभी निकट है, कुछ समय बाद वह

अलग भी हो सकता। चौकीपर पुस्तक है, तो यह तो है संयोग सम्बंध, संयोग सम्बंध द्रव्य द्रव्यमे हुआ करता है। समवाय सम्बंध द्रव्यगुणमे द्रव्यकर्ममे भी यह समवाय सम्बंध चलता है। तो जब निरखा कि दिखता तो यो है कि आत्मा गुणात्मक है और समझ पहिले यो लिया गया कि जब गुणका स्वरूप कुछ और है, द्रव्यका स्वरूप कुछ और है तो ये अलग-अलग पदार्थ है। स्वरूप तो सिद्धान्तमे भी अन्य-अन्य बताये गए हैं और जो गुणका स्वरूप है सो ही तो द्रव्यका स्वरूप नही। और, गुणोमे भी प्रत्येक गुणोमे अलग अलग स्वरूप दिखाया गया है, जैसे कि इसी प्रकरणमे अनेक शक्तियोका वर्णन चल रहा है कि उनका स्व रूप न्यारा न्यारा बताया तो जा रहा है।

विशेषवादके समवाय पदार्थका ज्ञान द्वारा विश्लेषण व याथात्म्य परिचय--जब स्व-रूप न्यारा न्यारा है तो पदार्थ भी न्यारे-न्यारे है ऐसा वैशेषिक सिद्धान्तमे स्वीकार कर लेने के बाद जब उनका समन्वय करनेका प्रसग आया, उस आत्मामे से क्या चैतन्यगुण कभी निकल जायगा ? क्या किसी समय ज्ञान अलग था, जीव अलग था ? क्या कभी ऐसा हो सकता था ? जब यह प्रसग सामने आता है तो वहाँ समवाय उनका समाधान करता है। ज्ञानका और आत्माका अनादि सम्बंध है, नित्य सम्बन्ध है। जैसे तादात्म्य रूप कहा है जैन सिद्धान्तमे, इस प्रकारका सम्बध बन गया है जिससे आत्मा ज्ञानी कहलाता है, पर वस्तुत आत्मा ज्ञान वाला नही। ज्ञानके समवायसे यह ज्ञान वाला कहलाता है यो समवायकी आव-श्यकता हुई लेकिन समबाय नामका कोई पदार्थ नही है और फिर समवाय नामका एक व्या-पक हो कोई पदार्थ यह तो प्रकट ही सिद्ध नही होता। वैशेषिक सिद्धान्तमे एक ही समवाय माना गया, ऐसा नही माना गया कि जीवमे और ज्ञानमे समवाय बना तो जीव और ज्ञान का समवाय हो गया। जब रूपादि गुणोका अणुसे समवाय बना तो वहाँ ऐसे अनेक पदार्थ हो गये, किन्तु एक समवाय सर्वव्यापक है। जहाँ आत्मा नही वहा भी समवाय है। जहाँ कोई चीज नही वहाँ भी समवाय है और एक समवाय सर्वव्यापक है। ऐसा सिद्ध करना तो और भी कठिन हो जाता है। तो विचार करनेपर समवाय भी क्या चीज हुई ? तादात्म्य हुआ और ऐसे तादात्म्य गुणके साथ तो शाश्वत है और पर्यायके साथ अनित्य तादात्म्य है। पर्याये जिसपर प्रकट होती हैं उनका द्रव्यमे तादात्म्य है, पर वे पर्यायें सदाकाल रहा करें ऐसा नही है इसलिए उनका तादात्म्य है। और गुणका द्रव्यमे शाश्वत तादात्म्य है। इसका अर्थ यह नही है कि गुण अलग चीज है, द्रव्य अलग चीज है, और इनका सम्बध बताया है। तादात्म्यका अर्थ यह है—तस्य आत्मा तदात्मा अथवा स एव आत्मा यस्य स तदात्मा, तदात्मन भाव तादात्म्यम्। उसका आत्मा अथवा वही आत्मा है जिसका सो तदात्मा। आत्माका अर्थ आत्मा नही है किन्तु स्वरूप, वही है स्वरूप जिसका, वही सर्वस्व है जिसका,

ऐसे को कहते हैं तदात्मा, उसका भाव तादात्म्य है। उसका जो भाव है उसे कहते है तादात्म्य अर्थात् वही है, भेददृष्टि करके पहिचानके लिए गुणकी बात कही गई है, तो इस तरह समवाय भी कोई पृथक पदार्थ नही है, किन्तु वही पदार्थ गुण रूपसे जब विवक्षित किया गया तो उस गुणका उस पदार्थमे सम्बंध बतानेके लिए तादात्म्य नाम दिया जाता है।

विशेषवादके सप्तम पदार्थका ज्ञान द्वारा विश्लेषण व याथात्म्यपरिचय—अब रहा विशेषवादका ७ वा पदार्थ अभाव। वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार अभाव नामका पदार्थ स्वतंत्र है, लेकिन जैसे भावात्मक पदार्थोंका उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता है, गुणपर्याय होती है, सामान्य विशेष होता है ऐसा कुछ क्या अभावमे होता है? जो कि एक स्वतंत्र माना जाय। हा अभावको भावात्मक मानकर फिर वहा यह सब घटाया जा सकता है। तो ऐसा अभाव पदार्थ कोई स्वतंत्र नही है, किन्तु अभाव किसीके अभावस्वरूप होता है। जैसे मृतपिण्डमे घटका अभाव है तो घटका पहिले अभाव है वही मृतपिण्ड घट बन जायेगा। उस घटका अभाव है, पहिले पर्यायमे घट नही है सो मृतपिण्ड ही घटका अभाव है याने घटका प्राग भाव है। घट मिट गया, खपरिया हो गई, यह भी घटका अभाव है तो यह घटका अभाव प्रध्वंसाभावरूप है। घट पहिले था अब नही रहा। घटका चौकी आदिकमे अभाव है, यह अभाव प्राग् और पश्चात् वाली जैसी बात नही है कि घडेका पुस्तकमे पहिले अभाव है, पीछे अभाव है, यह तो एक साथ बात कही जा रही है तो यह है इतरेतराभाव। घटमे पुस्तक नही, पुस्तकमे घट नही, और जो कभी त्रिकालमे उस रूप हो नही सकता ऐसे अभावकी बात अत्यन्ताभावमे है। जैसे जीवमे पुद्गल नही, पुद्गलमे जीव नही, तो ऐसा अभाव किसीके सद्भाव रूप हुआ करता है। तो अभाव भी कोई स्वतंत्र पदार्थ नही है। विश्लेषणकी प्रकृति ज्ञानमे है। ज्ञान विश्लेषण करेगा। विश्लेषण किए जाने पर भी पदार्थ क्या है और उसके ये सब अश है, ऐसा यथार्थ बोध हो तो पदार्थके सत्यस्वरूपको उसने पहिचाना। ज्ञानशक्तिके प्रतापसे यद्यपि ये सब विश्लेषण हो सकते है, फिर भी वहाँ सत् क्या है इसका निर्णय यथार्थ होना चाहिए। तो यह सब निर्णय आकाररूपमे विकल्पात्मक रूपसे होता है अर्थात् अर्थ विषयमे आया और विभिन्न विभिन्न विषयोके आकाररूप ज्ञानशक्तिका प्रकार है। यद्यपि जिस समय आत्मामे ज्ञानशक्तिकी दृष्टि करके कुछ निरखा जा रहा है परन्तु यह नही है, मैं केवल ज्ञानशक्तिमात्र हूँ, आत्मा अनन्तशक्त्यात्मक है। उसका विशेष परिचय करानेके लिए इन शक्तियोका वर्णन चल रहा है।

आत्मयाथात्म्यपरिचय विना तृप्तिकी अपात्रता—जिसने अपने आत्मस्वरूपका परिचय पा लिया है उसने मानो सब कुछ ही पा लिया है और जो आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ है वे चाहे बाहरमे कितना ही कुछ समझ लें, कितने ही बडे बड़े विज्ञान आदिके ऊँचे आवि-

ष्कारोकी बाते कर ले, तो भी वहाँ कुछ नही पाया, कुछ नही समझा, क्योकि यह जीव अपने आपमे अपना स्वरूप रखता हुआ उपाधिवश विपरीत परिणमन करता आया है। वे रागद्वेष मोहके विकार परिणमन इसकी परम्परा बाँधे हुए चले आ रहे है, वही मलिनता अब भी है आगे भी रहेगी यदि अपनी सुध नही की तो। तो इन सब बाह्य परिज्ञानोसे उसे लाभ क्या मिला ? तृप्ति, शान्ति, सन्तोष जहाँ हो ज्ञान तो उसे कहेगे। अब इस आधारपर आजकलके मनुष्योमे भी अनेकमे निहार लीजिए। बडे धनपति हो गए, करोडपति, अरबपति हो गए और जिसे आत्माका भान है नही तो उसका उपयोग बाह्यपदार्थकी ओर रहेगा, धन-सचयकी ओर रहेगा या अपनी इस पर्यायको ही आपा मान लिया तो इस शरीरकी, इस सकल सूरतकी प्रतिष्ठा हो, इज्जत हो, लोग माने इसके लिए खर्च करेगे। बाहरी बाते विकल्प उसके इतने होगे कि वह कही तृप्ति, शान्ति, सन्तोष नही पाता। थोडीसी मौजकी बात को तृप्ति तो नही कहा जा सकता। तृप्ति वह है जिसके बाद फिर अतृप्तिका सवाल न रहे। थोडा मौजमे मान लिया कि मैं बडा सुखी हूँ, लेकिन वस्तुत तृप्त नही है। आकुलता उसके अब भी पडी है। अज्ञानमे तो निरन्तर आकुलता रहती है। अनाकुलता तो थोडे समयको भी नही मिलती। अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको जहाँ दु ख और विपत्तिमे है, सासारिक झझटोमे है वहाँ तो आकुलता प्रसिद्ध ही है, पर जहाँ इन्द्रिय सुख मिल रहे हैं ऐसी घटना मे भी उसके आकुलता है। और, आकुलतापूर्वक ही वह सुखको भोग रहा है। पाँचो इन्द्रियो के विषयोका सुख और मनके विषयोका सुख इन सुखोको भोगनेमे आकुलता प्रेरित करती है और आकुलतासहित ही भोगे जाते है। तो जीवमे तृप्ति, शान्ति, सन्तोष, अनाकुलता अब तक नही पाया, उसका कारण यह है कि जहाँसे तृप्ति प्रकट होती है, जहाँसे सन्तोष मिलेगा, जहाँ अनाकुलताका वास है उसको देखा ही नही, समझा ही नही तो फिर इसे कैसे सन्तोष मिले ? अनाकुलताका वास तो इस जीवमे हो रहा है। आत्माके स्वरूपकी समझ बिना शान्ति प्राप्त हो ही नही सकती इस कारण आत्मतत्त्वके बोधके लिए अथक प्रयत्न भी हो तो भी उसका परमकर्तव्य है।

आत्माको ज्ञानमात्र अनुभवनेकी प्रेरणा—अहो मोहमे जीवकी ऐसी परिणति है कि आत्मबोधके लिए तो किसी भी बातका उत्साह नही, शरीरका कष्ट भी नही सहन कर सकते मनको भी सही नही बना सकते। किसी भी बातके लिए तैयार नही। आत्मबोधके लिए भी और विषयोके स्वादके लिए हर तरह तैयार हैं। तन, मन, धन, वचन सब कुछ एक विषयसुखके लिए ही है, ऐसा अपना निर्णय बनाये हुए हैं। तो जो आत्मतत्त्वसे विमुख है ऐसे पुरुष कभी भी अनाकुलता नही पा सकते। वह आत्मतत्त्व किस तरहसे समझा जाय— इसका सीधा उपाय यह है कि आत्माको ज्ञानमय स्वरूपमे निरखा जाय। मैं ज्ञानमात्र हू

स्वरूप हू, जो जानन है वही मैं हू। जो ज्ञान है, जानन है, प्रकाश ज्योति है वह पुद्गलकी तरह कोई पिण्डरूप नही है, रूप, रस, गंध, स्पर्शवान ढेला नही है। ऐसा हो तो वहाँ ज्ञान बन ही नही सकता। जड है, तो मैं ज्ञानमात्र हूं, ऐसी दृष्टि रखनेमे यह बात अपने आप आ गई कि मैं हूँ। अमूर्तके रूपमे ही ज्ञानस्वरूपको निहारा जा सकता। पुद्गलकी भाति कोई मूर्त रूप बनाकर वहा इसको ज्ञानमात्र नही निहारा जा सकता। तो आत्मा ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टि द्वारा लक्ष्यमे आता है, इतने पर भी यह न समझना कि आत्मामें केवल बस ज्ञान ही ज्ञान है और कुछ धर्म नही, 'ज्ञान' है ऐसा जो स्वीकार करेगा तो अनन्त धर्मो सहित ही स्वीकार करना पडेगा। जैसे मानो ज्ञान तो है पर वह सूक्ष्म नही है तो इन चौकी भीत जैसा मोटा बनकर वह ज्ञानरूप बनेगा क्या? जो ज्ञान तो हो, पर अमूर्त नही हो। तो मूर्तरूप होकर क्या वह ज्ञानका स्वरूप बन सकेगा? ज्ञान तो है पर उसमे अमूर्तता गुण न हो तो फिर रहा ही क्या? यो समझिये कि ज्ञानमात्र सोचनेमे सभी धर्मोकी स्वीकृति आ जाती है। जो आत्मामे पडे हुए है, और इस दृष्टिसे ऐसा भी कहा जाय तो कोई विशेष अत्युक्ति नही है कि शेष सर्व धर्म इस ज्ञानमात्र तत्त्वकी रक्षाके लिए है, इनमे लगे हुए है। तो ज्ञानमात्र इस दृष्टि द्वारा आत्मा लक्ष्यमे आया। इसके साथ ही आत्मामे जितने धर्म है, जितनी शक्तियाँ है वे सब भी उछल पडती है।

शक्तियोंके वर्णनके प्रसङ्गका संस्मरण—इस ज्ञानमात्र आत्माको व्यवस्थित समझाने के लिए यहाँ शक्तियोका वर्णन चल रहा है, जिनमे यह बताया गया कि आत्मामे जीवत्व शक्ति है, जिसके कारण यह चैतन्य प्राणोको धारण किए हुए है। जो उसका असाधारण स्वरूप है उस स्वरूपसे वह अस्ति है, फिर बतलाइये कि जीवत्व शक्तिके प्रतापसे जो चैतन्य प्राण धारित हुए है उस चैतन्यप्राणमे क्या खूबी है? बताया है कि उसमे प्रतिभासनेकी शक्ति है। प्रतिभास उसका कार्य है। तो प्रतिभासरूप कार्यके परिणमनेकी शक्ति यह चितिशक्ति है और वह चितिशक्ति जब सामान्यरूप भी प्रतिभास कर सकता है वह दृशिशक्ति है और जो विशेष रूप प्रतिभास करता है वह ज्ञानशक्ति है। ज्ञानशक्तिके समान ही दृशिशक्ति है, अनादि अनन्त अपरिमित जहाँ ज्ञानका पूर्ण विकास है वहाँ तीन कालके पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे है, ऐसे उस समस्त ज्ञानमय आत्माको प्रतिभासनेकी शक्ति दृशिशक्तिमे है। वह भी उस ही भाँति अमर्याद अनन्त रूप है। उन शक्तियो के शुद्ध स्वरूपपर दृष्टि पहुचने पर यह अनुभवमे आता है कि जो मैं हू वह है भगवान। परमात्मा, वीतराग सर्वज्ञदेव भी इन शक्तियोके पूर्ण विकास है, इस शक्तिमे पडा हुआ है, ऐसी पात्रता है मुझमे भी कि ऐसा समस्त प्रतिभास हो तो केवल इस सहजस्वरूप पर दृष्टि होनेसे यह सिद्ध होता है। यह अनुभवमे आता है कि यह परमात्मतत्त्व है, इसीको

कारणपरमात्मतत्त्व भी कहते है। परमात्मप्रणीत जो उपदेश है उसमे जो सारभूत तत्त्व है उसकी परख ज्ञानी जीव स्वय अपने आपमे इन शक्तियोकी दृष्टि करके एक निर्दोष विधिसे प्राप्त कर लेता है।

जीवमें आनन्दशक्तिका दर्शन—आत्मामे ऐसी सहज ज्ञानशक्ति है जिस शक्तिके विकासके साथ आनन्द भी उमड पडता है। ज्ञानके साथ जो आनन्दका भी विकास है तो भेददृष्टिसे सब परखा जा रहा है कि ज्ञानका स्वरूप और है, आनन्दका स्वरूप और है। आनन्द है आल्हादरूप, अनाकुलता रूप, एक शान्त अवस्थारूप और ज्ञान है परिचयरूप, प्रतिभासरूप, परिज्ञानरूप। तो यह जो आनन्द उमड रहा है यह आनन्द शक्तिको बता रहा है, आनन्द शक्तिका स्वरूप है अनाकुलता। आनन्द किसे कहते है ? जहा आकुलता नही है। आत्माकी भलाई इसीमे है कि आकुलता न रहे। बहुत कुटुम्ब मिल गया, बहुत मित्र हो गए, बहुत वधु हो गए, लोकमे वडी इज्जत मिल रही, प्राय सभी लोग मान रहे, ऐसी स्थितिमे भी इसे अनाकुलता है क्या ? आनन्दका पात्र नही है। केवल ऐसा अन्तर है कि जैसे कोई कडुवा विष होता, कोई मीठा। इस इष्ट सयोगके सम्वन्धमे जो कुछ भी यह मीठी आकुलता मचा रहा है अर्थात् मान नही रहा कि मैं आत्मतत्त्व हू और हो रहा पर्याय-बुद्धि वाला, विषय सम्भोगमे अथवा मनके विषयमे भोगमे यह जीव आकुलित हो रहा, पर समझ रहा कि मैं सुखी हूँ, मैं बडा भाग्यवान हूँ। यह एक मीठी आकुलता, मीठा विषपान है कि बरबादी की स्थितियाँ बनी हुई हैं, और पता नही है। अनाकुलता, इष्ट सयोग, अनिष्ट वियोग जैसे ये सासारिक स्थितियाँ है उनमे अनाकुलता न प्राप्त होगी। अनाकुलता प्राप्त होगी अपने इस अनाकुल आनन्दधाम ज्ञानमात्र विशुद्ध अतस्तत्त्वकी उपासनासे। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नही है। लोकमे अनेक देशके लोग है, अनेक मजहबके लोग है, बडे ऊँचे ऊँचे लौकिक कार्य करने वाले लोग है, वे सब भी प्राय आकुलताके ही मार्गमे दौड़ रहे है। अनाकुलताका मार्ग तो उन्हे ही मिलता है जिन्होने सर्वविविक्त अपने आपके स्वरूपमे इस एकत्वकी, इस ज्ञानस्वरूपकी झलक की है। अब उन्हे कहाँ असन्तोष रहा ? कहाँ दुख रहा ? वे तो अब तृप्त है। वाहरमे कोई काम मुझे करनेको नही पडा है, ऐसा विकल्प बना हो तो वहाँ आकुलता है। सम्यग्ज्ञानी जीवको यह विश्वास है कि बाहरमे कोई काम मेरे करनेको न था, न है और न होगा। जो कुछ भी मैं करता हूँ अपनेमे अपने भावोका ही परिणमन करता हूँ। यह ही करता आया, यह ही करता रहूँगा। अब इस स्थितिमे उस परका विकल्प बना हुआ क्यो परिणमे ? जैसा मेरा स्वरूप है, जैसा मुझमे अपने आप सहज सत्त्व है उसही रूप क्यो नही मैं जानता देखता हूँ ? ज्ञानी पुरुषको बाहर कुछ करनेको नही पडा है इसलिए उसे कोई आकुलता नही। आकुलता तो अज्ञानमे है,

मोहमे है। बाहरमे कही आकुलता नही। जो ज्ञानी जीव घरमे बस रहा है वह बहुतसे काम करनेके विचार भी करता रहता है। अब यह चीज लाना है, यह जोडना है, यह बनाना है, यह रखना है आदि, तिसपर भी उसके चित्तमे यही धारणा बनी है कि बाहरमे मेरे करने को कुछ भी नही पडा है। एक अपने आपको ज्ञाताद्रष्टा रहनेका ही बस काम है। वही सारभूत काम है, अन्य कोई सारभूत काम नही। लोग बनना तो चाहते है बडा और बडा बननेके लिए बडे बडे मायाचार करते है, बडे परिश्रम भी करते है, बडे-बड़े विकल्प भी करते है, लेकिन उन्हे यह भी तो निहारना चाहिए कि इस लोकमे बडा है कौन ?

लोकमें महानकी खोज और महान् परम आत्माकी उपासनामें ज्ञानीका लाभ— भैया ! लोकमे जब बडा देखने चलेंगे तब लगता जायगा ऐसा कि इससे यह लखपति बडा है, इससे यह करोडपति बडा है, इससे यह राजा बडा है आदि, पर यह लौकिक बडप्पन कोई बड़प्पन नहीं है। राजा भी तो कीचडमे लिप्त है, बाह्यपदार्थोंके विकल्पमे, संगमे लिपटा हुआ है। उसे चैन नही है और मुनिराज सर्वसंगरहित एक आत्मतत्त्वके ध्यानसे तृप्त रहने वाले, अथवा जिनके जंगलमे भी अनेक साथी है, जब मुनिराज अपने आत्माके अनन्त गुणोंको निहार रहे है जो स्वरूप अरहत और सिद्धमे है उस स्वरूपको तकनेके समय मानो अनन्त अरहत, अनन्त सिद्ध उनके साथी है, उनके सगमे हैं।

तो ऐसे अनन्त महान आत्माओका और अनन्त वैभवोका साथ जो अपनेको पाये हुए है उन मुनिराजसे बढकर कोई राजा हो सकता है क्या ? तो उत्तर होगा कि बडे तो ये मुनिराज है। और, आगे बढो तो मुनिकी साधना अपूर्ण है। साधनामे चल रहा है, वह क्या बनना चाहता है ? आखिर उसका साध्य है रागद्वेष रहित ज्ञानकी दशा। इसके लिए ही वह मुनि हुआ है तो मालूम होता है कि ज्ञान जो रागरहित है वह वीतराग विज्ञान बडी चीज है। और वीतराग विज्ञान है कौन ? वही परमात्मा। तो यह परमात्मा बड़ा है। लोकमे सबसे बडा है परमात्मा। यह तो अत स्वरूपसे निहारा। अब कुछ जरा अन्त स्वरूपमे निहारनेसे दृष्टि थक गई हो तो थोडा अब आराममे चलो। जहाँ परमात्माका समवशरण रचा है वहाँकी शोभा देखिये—आकाशमे पृथ्वीसे ५ हजार योजन ऊपर प्रभु विराजा है, उसके थोडे ही निकट नीचे समवशरण बसा है। कैसा उसका अद्भुत श्रृङ्गार है। कैसा अमूल्य मणियोसे खचित है, बारह सभाओके बीच स्फटिक मणिकी तरह स्वच्छ उस कोटसे आगे बीचमे गध कुटीमे ऊपर सिहासन पर अधर विराजमान, जिनका चारो ओर मुख दिखता, जिनपर तीन छत्र शोभित, जिनके चारो तरफ चमर ढुरते, जिनके चारो ओर देवी देवता इन्द्रादि स्वर्गोंसे आकर नाच गान करते हुए चले आ रहे है, उन देवताओकी कला तो मनुष्योंकी कलासे भी बढकर है। जब यहाँके ही सगीतकार गान और वाद्यकलासे कितना चमत्कार दिखा देते

है तो उन देवताओंकी कला तो और भी अपूर्व होगी । वैसा चले आ रहे है चारो ओरसे खटपटाने हुए, जल्दी पहुचें, प्रभुके दर्शन करें, लेकिन जिनकी ओर देव भी आकर्षित हो गए, ये मेढक बदर आदि पशुओ व पक्षियोंको किसने सिखाया ? ये भी दौड दौडकर वही भागे चले जा रहे है, तीनो लोकके इन्द्र जहाँ पहुँच रहे है, समझो कि सब जीव ही उपासना करते है ऐसा अद्‌भुत वैभव साम्राज्य किस कारणसे है ? वे प्रभु धन नही बाँट रहे, वे प्रभु किसीको संबोध भी नही रहे, किन्तु रागद्वेष रहित विशुद्ध ज्ञानकी दशा प्रकट हुई है, वह एक बडी चीज है, धर्मस्वरूप है । उस धर्मरूप ही के लिए सब लोग दर्शनको आ रहे हैं । बडे हैं तो परमात्मा । बडा बनना है तो इसका अर्थ यह लगाओ कि मुझे परमात्मा बनना है । परमात्मा होनेकी कुञ्जी यही है कि अपने आपमे जो यह शुद्ध स्वरूप शक्ति अत प्रकाशमान है, भले ही कषायसमूहसे आज तिरोहित है, लेकिन स्वरूपमे, स्वभावमे तो वही बात है । उस शक्तिमय अपने आत्मतत्त्वका परिचय हो, वहाँ ही धुन बने, तो अनाकुलता प्रकट होती है । सुख शक्तिका विकास वहाँ बनता है, ऐसा आत्मामे ज्ञानशक्तिके उत्थानके साथ समस्त शक्तियोका विकास भी उछल रहा है । यही है वैभव, यही है अपना सर्वस्व, इसकी ओर अपनी दृष्टि हो, और बाहरी बातोको यो ही न मान लें कि इन बाहरी बातोके पीछे विवाद झगडा लडाई आदि कितनी ही बातें विडम्बनारूप बन रही हैं । इन सब रुकटो को पार कर सकनेका सामर्थ्य है तो इस आत्मबोधमे है । हम सब लोगोका प्रयास इस विशुद्ध आत्मतत्त्वके परिचयके लिए रहना चाहिए ।

वर्णित जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति व आनन्दशक्तिका स्मरण एवं वीर्यत्वशक्तिका वर्णन—ज्ञानमात्र आत्माको लखने वाले ज्ञानियोकी धारणामे यह बात भी समायी हुई है कि यह ज्ञानमात्र आत्मा अनन्त शक्तियोका पिण्ड है और वे सब शक्तियाँ एक ज्ञानमात्र स्वरूपमे गर्भित है । ऐसी इन शक्तियोका यहा वर्णन चल रहा है । प्रथम जीवत्वशक्ति बताया, जिस शक्तिके प्रतापसे यह आत्मा चैतन्यमात्र भावको धारण कर रहा है और चैतन्यभाव आत्मद्रव्यके कायम रहनेका कारणभूत है, क्योकि चैतन्य स्वरूप ही तो आत्मा है । ऐसी जीवत्व शक्तिके प्रतापसे जो चैतन्यभाव प्राणधारणमे आया उसका क्या प्रकाश है ? इसका वर्णन चितशक्तिके माध्यमसे किया गया, जिस शक्तिके प्रतापसे आत्मा जड नही किन्तु अजडात्मक है । इसी चितिशक्तिकी उपासनामे दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति का वर्णन किया है । आत्मा अनाकार उपयोगमय है । सामान्य प्रतिभास कर सकें जिस शक्तिसे उसका नाम दृशिशक्ति है, और भिन्न-भिन्न रूपसे पदार्थोकी समझ बनाये रखे, ऐसा साकार उपयोग जिस शक्तिके प्रतापसे बने उसका नाम है ज्ञानशक्ति । जिस शक्तिके कारण जीव अनाकुल रहा करे उसे कहते है सुखशक्ति । अब आज वीर्यत्व शक्तिका वर्णन

चलेगा। अपने स्वरूपको रचनेकी सामर्थ्य होनेका नाम है वीर्यत्वशक्ति। आत्मामे वीर्यत्व शक्ति है उसके प्रतापसे यह आत्मा अपने स्वरूपको अनन्तगुणात्मक रच रहा है। आत्माका जो स्वरूप सर्वस्व है वह बना रह सके ऐसी सामर्थ्यका द्योतन वीर्यशक्तिने किया। आत्मा स्वय सहज किस स्वरूपमे है ? चिन्मात्र, केवल एक प्रकाश जड प्रकाश नही, किन्तु चैतन्य-प्रकाश। जड प्रकाश तो जड है, उसमे समझ नही है, और वह जडप्रकाश भी क्या चीज है कि जो पदार्थ प्रकाशित है उन पदार्थोका वह परिणमन। तो जड नही किन्तु चैतन्यात्मक प्रकाश होना और इस प्रकाशरूपसे बना रहना, ऐसी सामर्थ्यको बताती है यह वीर्यशक्ति।

अखण्ड अभेद आत्मतत्त्वका व्यवहारसे विवेचन—आत्माका स्वरूप जैसा कुछ है वह अवक्तव्य है। व्यवहारनयसे ही सर्व व्यवस्था बनायी जाती है। निश्चयनय तो अपने विषयको लख पाता है। जितने भी वचन है वे सब व्यवहारनयके प्रसाद है। इसी कारण यदि निश्चयनयको ऐसा विषय बताते है कि जो कभी व्यवहार न बन सके तो वह प्रतिषेध-गम्य हो सकेगा। व्यवहारनय जो कुछ कहेगा उसके प्रसादसे प्रयोजनभूत तत्त्वको समझकर यह कहा जाता कि जो व्यवहारनय बताये वैसा यथार्थतया नही है। जैसे जीव घर मकान आदिकको बनाता है यह तो नयमे ही शामिल नही। वस्तुमे जो गुण है उन गुणोका आरोप करना यह है व्यवहारनयका काम। जो गुण नही है वस्तुमे उसका आरोप करना यह नयमे शामिल नही है। अथवा विकल्पग्राही होने से नय भी माना जाय तो वह नया-भास कहलाता है, केवल एक समझ बनानेके लिए लोकव्यवहार चलता है।

अब तद्गुणारोपके सम्बधमे चलो। जैसे जीव क्रोधादिक है ये तद्गुणारोप है। क्रोधादिक रूप जीवके शाश्वत गुण नही, किन्तु गुण परिणमन तो है। गुणपरिणमन भी गुण कहलाता है और जो शक्ति है उसका भी नाम गुण है। तो क्रोधादिकको जीवमे आरो-पित किया यह है व्यवहारनय, लेकिन इस व्यवहारनयने असद्भूत बात बताया, और यदि वे क्रोधादिक अनुभवमे आ रहे, बुद्धिमे आ रहे तो बुद्धिगत होकर फिर आरोप किया तो वह हो जाता है उपचरित असद्भूत और जो बुद्धिगत नही हो पाते, ऐसे अबुद्धिगत क्रोधादिक जीवके है ऐसा कहना जो कि आगमगम्य है, युक्तिगम्य है उन्हे जीवके बताना यह अनुपच-रित असद्भूत कहलाता है। लेकिन क्रोधादिकभाव आत्मामे स्वयं स्वरूप उस शक्तिमे नही पडे हुए है और फिर उपाधिजन्य इन क्रोधादिकको जीवके कहना सो असद्भूत व्यवहारनय है। अब जीवके गुणोको अगर कहे तो वे तो शाश्वत जीवमे पाये जाते है। उसका व्यवहार सद्भूत व्यवहार होता है। जीव ज्ञानवान है। जीवमे ज्ञान दर्शन आदिक गुण है। यह सद्-भूत व्यवहार हुआ। व्यवहार इस कारण हुआ कि जीव अलग हो, ज्ञान अलग हो और जीवमे फिर ज्ञान बताया जाय, ऐसा नही है। किन्तु जैसा जो कुछ है ज्ञानात्मक उसके ज्ञान-

गुणका विवेचन करके समझाया जा रहा है यह व्यवहारनय हुआ, भेद कर लिया और सद्-भूत यो रहा कि बताया तो जीवका शाश्वत गुण ही है। ज्ञानरहित तो जीव नही है, सदा काल ज्ञानमय रहता है अतएव वह सद्भूत हुआ।

वचनमात्रमें व्यवहारपना—कम भेद वाले वचन हो तो भी वचन बोला इतने मात्रसे वहाँ भेद बन जाया करता है। जैसे कोई कहे कि जीव ज्ञानवान है, इसमे भी जीव निराला समझा गया है, ज्ञान उससे निराला समझा गया है, यो जीव और ज्ञानके स्वरूप न्यारे समझमे आये और कुछ न्यारापनसा समझकर फिर उसे जोडा गया अतएव वह भेद करना हुआ, व्यवहार बन गया। इससे और ऊपर कोई यो कहते कि जीव चित् है, चिदात्मक है, तो चूंकि चित् शब्द भी चित्ती चेतने धातुसे बना है, जिसका अर्थ चेतना है। तो यह शब्द एक चेतने वाला है। यही तो अर्थ बतावेगा और 'चेतना' इतना ही मात्र तो नही है। उसके साथ अनन्त धर्म है। उसमेसे एक अशको प्रकट करनेवाला बोला गया तो वह व्यवहार बन गया। जितना विशेषण विशेष्यरूप कथन होगा और जितने उदाहरण सहित वचन होगे वे सब व्यवहारनय बन जाते है।

निश्चयनयकी प्रतिषेधगम्यताका संकेत——निश्चयनयको ऐसा एक बतायें जो कि कभी व्यवहार न बने, वह है प्रतिषेधगम्य विषय। निश्चय विशेष अन्तरङ्ग दृष्टिके सामने व्यवहार बन जाया करता है। जैसे क्रोधादिक भाव कर्मकृत हैं यह व्यवहार बन गया तो निश्चय क्या बना कि क्रोधादिक भाव जीवके है, यह निश्चय बन गया। है अशुद्ध निश्चय, पर जिस समय जीवके उस सहज ज्ञानस्वरूपको निरखकर यह कहा जायगा कि जीव तो ज्ञानमात्र है, जीवके ज्ञानादिक गुण हैं, उस मुकाबलेमे यह वचन बोलना कि जीवके क्रोधा-दिक है, यह व्यवहार बन जायेगा। जीवके ज्ञानादिक हैं, यही निश्चय जीव ज्ञानात्मक है, इस कथनके सामने व्यवहार बन गया। तो निश्चय उत्तरोत्तर अन्तर्दृष्टिके मिलने पर व्यव-हार हो जाता है। मगर ऐसा निश्चय कि जो किसी भी प्रकार व्यवहारकी श्रेणीमे आ नही सकता वह तो लखनसे साध्य है।

जीवमें वीर्यस्वशक्तिका प्रताप——जीवमे जीवकी शुद्ध शाश्वत शक्तिया बतायी जा रही है। वीर्यत्व शक्तिके प्रतापसे यह जीव अपने स्वरूपको रचनेका सामर्थ्य रख रहा है। जीव तो जीवकी शक्तियोरूप ही रहेगा, कभी भी यह अन्यरूप नही हो सकता। यह बात इस वीर्यशक्तिके प्रतापसे बनेगी। जीव अपने स्वरूप को रचता रहेगा। किसी भी परको रचनेका इसमे सामर्थ्य नही है। यह मर्म भी वीर्यत्व शक्ति बतला रही है। सब पदार्थों मे अपने आपके स्वरूपको बनाये रखनेका सामर्थ्य है, उसके कारण सभी अपने अपने स्वरूप मे बने हुए हैं। आत्मा अपने स्वरूपमे बना हुआ है। तो इस सहज शक्तिका काम है अपने

स्वरूपकी सहज रचना बनाये रहना। रचनाका अर्थ यहाँ यह नही कि आत्माने कोई नवीन बात उत्पन्न की है। जो बात आत्मामे बनी हुई है उसही का प्रकाश किया जा रहा है।

जीवके स्वभावमें विकारका अभाव—विशुद्ध दृष्टिसे वीर्यत्व शक्तिने अन्त यह काम किया है, किन्तु अपने गुणोके साधारण परिणमनको बनाये रखनेके अतिरिक्त जो विकार आ गए है, जो क्रोधादिक कषायभाव बनते है उन भावोको बनाने का, रचनेका इस वीर्यत्व शक्तिका सहज स्वतत्र काम नही है। वह द्रव्य ऐसा है कि जिस आधारपर उपाधिका निमित्त पाकर क्रोधादिक भाव बनते हैं और वे सब शक्तिके विकार है, लेकिन शक्ति स्वयं विकार रूप नही है और शक्ति खुद विकारको करनेका स्वभाव नही रखती, किन्तु वैभाविक शक्तिके कारण इसमे विभाव आ जाते है पर उपाधिका निमित्त पाकर जीवकी इन शुद्ध शक्तियो पर दृष्टि देकर लखा जाय तो यह है कि जीव अपने द्रव्यरूप रहे, अपने समस्त गुणो रूप रहे और उन गुणोके ऐसे सहज विकास बनते चले जाये वे सब वीर्यत्व शक्तिके प्रतापसे हुए है, पर किसी योग्यतामे बाह्य उपाधिका सन्निधान पाकर जो यह आत्मा विकृत होता है तो ये औपाधिक भाव है। शक्ति स्वय अपनी ओरसे इस प्रकारके विभाव रचनेका सामर्थ्य नही रखती। विभावपरिणमनकी योग्यता तो है पर उपाधि सन्निधान बिना स्वय अपने आपमे विकारको बनाये रखनेका सामर्थ्य नही रखती। विकार होनेका उनमे स्वभाव नही पडा है। यदि ये विकार इन शक्तियोके स्वरूपमे बने हुए हो तो विकार भी शाश्वत हो जायेंगे। फिर कभी विकार हट न सकेंगे। यो जीवकी जो विशुद्ध शक्तिया है उन शक्तियोको निरखकर निर्णय जब होता है तब उस सहज भावका निर्णय होता है।

आत्माकी सहजवृत्तिमें कष्टका अनवकाश—यह जीव अपने आप सत् है। अपने आप अपनेमे चैतन्यप्राणसे जीवित है, अपनेमे सामान्य-विशेष प्रतिभास करता है, आनन्दमय है, यहाँ जिसका बाह्योपयोगी आचरण चर्या और विषय कषायोकी रुचि अथवा बाहरकी यह द्वैत दृष्टि है यह इस भगवान आत्माको पूरे तौरसे ढके हुए है। प्रकाशमे नही आने देती। यदि हम इन बाह्य विकल्पोको शिथिल करके छोड दे, अपने अन्त मे इन्हे स्थान न दें और एक जीवकी इन शुद्ध शक्तियोके देखनेमे अपने को लगाये रहे तो भीतरमे एक अलौकिक आनन्द बनेगा। उस आनन्दको जिन्होने तका है वे सदानदमय हो जायेगे, ऐसी इसमे सामर्थ्य पडी हुई है। आत्मा ज्ञानानदस्वरूप है। इसमे दु ख नही है, दु ख तो यह अपने उपयोगको बिगाड कर बनाया करता है। लोग प्राय कष्ट इसको मानते कि ये लोग मेरे अनुकूल नही, ये मेरे से पृथक् है, मेरी इच्छानुसार इतने समागम नही हो सक रहे, मुझे इतना वैभव नही मिला है, बस बाह्य पदार्थोंको परिणतियोके बारेमे विकल्प बनाकर हम क्लेश लादते है। अटकी क्या है कि मैं बाह्य पदार्थोके बारेमे विकल्प बनाऊँ, अथवा

ऐसी स्थितिमे विकल्प बन जाया ही करते है तो हम सही तथ्यके जाननहार तो रहे कि ये सब बाते मेरे स्वरूपमे नही है, इनसे मेरे हितका सम्बन्ध नही है, मैं इन सबसे निराला एक केवल चैतन्यस्वरूप हूँ, मुझमे चेतनेका जो सहज काम है वही मेरा काम है, वही मेरा वैभव है। वहाँ कष्टका नाम नही है। तो हम जो विपरीत धारणा बनाये हुए है और चित्तमे बसा लेते है उसपर हम अपनी ऐसी ही प्रतीति बनाये रखते है। उसमे जो विकल्प उठते है वे विकल्प इस जीवको बेचैन कर देते हैं। यदि अपने इस तथ्यभूत स्वरूपको सभाला जाय तो वहां कष्टका कोई काम नही।

स्वके एकत्वके उपयोगसे आत्मवीर्यका विकास––सबसे निराला जैसा मैं हूँ वैसे ही सब है। जैसे मैं शान्ति चाहता हूँ ऐसे ही सब शान्ति चाहते है। शातिका उपाय जैसा कि विशुद्ध अपने आपके ही सत्त्वके कारण मेरेमे जो कुछ स्वरूप है, जिसकी चर्चा यहा वीर्यत्व शक्तिके प्रसगमे चल रही है कि यह वीर्यत्व शक्ति अपने स्वरूपको बनाये रखनेमे सामर्थ्य रखती है। ऐसा जो कुछ मेरा सहजस्वरूप है वह स्वरूप बस वही तथ्य है, वही चीज है, बाहरमे किसी भी पदार्थमे कुछ हो रहा है, वह सब बाह्यका काम है। प्रत्येक पदार्थकी वह परिणति है, उनका उनमे अनुकूल प्रतिकूलकी बात तो यहा देखिये कि मैं जब अपने सहज स्वभावके अनुकूल विचार नही रखता हूँ तो यही बडी प्रतिकूलता आ गई और इसमे परेशान हो रहे है। और जब हम अपने सहजस्वभावके अनुकूल अपनी विचार दृष्टि बनायेंगे तो हमारी वे सब विकल्प बुद्धियाँ, वे आपत्तिया हमारी दूर हो जायेगी। मेरा कही कोई न शत्रु है, न मित्र, मेरा कोई न शरण है, न बिगाड करने वाला है। मेरा मात्र यह मैं ही हूँ। अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूपसे परिणमता रहता हू। मुझे किसी दूसरेको कुछ बताकर क्या करना है ? कुछ बनाकर क्या करना है ? हमे अपने आपकी क्या बात जताना दूसरो को जिससे कि कुछ हमारा साथ दे सके अथवा सुधार कर सकें, ऐसी बात तो नही है। हम केवल अपने आपके आधार पर शरणभूत हैं। दूसरा कोई मेरे लिए शरण नही है। थोडा पुण्यका उदय आया, वैभव सम्पदा मिल गई है, कुछ ज्ञान प्रकट हो गया है, देहबल भी मिला है, ऐसे कुछ अगर साधन मिल गए तो ये भी क्या चीज हैं ? इस लोकमे स्वप्न है, अधेरा है। हो गया, ये कोई तथ्यभूत बात हैं क्या ? ये कोई आत्माका हित करने वाली परमार्थरूप चीजें हैं क्या ? केवल मैं ही अविनाशी अपने आपके लिए शरणभूत हूँ। विनाशीक पदार्थोके सगमे क्या रोना धोना ? आये तो आये, गए तो गए, जैसे रहे रहे, न रहे, न रहे, मेरा तो केवल यह मैं ही हूँ और सब कुछ मेरा मेरेसे चल रहा है। ऐसा यदि मैं सर्वविविक्त अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि दूं तो हमारी यह सहज वीर्यत्वशक्ति सहज शुद्ध परिणमनके रूपमे उछल कर हमको ज्ञानानन्दमय रखेगी।

बाह्योपयोगी होनेके ऊधमके परिहारसे संकटोंका परिहार——भैया ! जब अपने स्वरूप को भूलकर बाहरी पदार्थोंमे ही विकल्प बनाये रहे, अपना ऊधम किया जाय तो खुदको ही दुःखी होना पडेगा। अपनी उद्दण्डतासे अपनेको ही फल मिलेगा। अपनी उद्दण्डतासे अपने को ही फल मिलेगा। अपनी उद्दण्डता, अपना ऊधम यही है कि हम विषय कषायके भावो मे लगते है और उसका आग्रह बना लेते है, उस ही मे हित है इस प्रकारकी धारणा बना लेते हैं। यदि अपनी इस सहज शक्तिके तथ्यको देख लिया जाय कि मुझमे अनन्त शक्तियां है वे सब शक्तिया विशुद्ध काम करनेके लिए है और उनमे सहज अपने आपसे अपने ही आपमे ऐसा महान सामर्थ्य है कि वह शुद्ध परिणमनोको बनाये रहे, उनकी परम्परा बनाये रहे। यही है हमारी शक्तियोका सामर्थ्य, लेकिन इन विशुद्ध ऋद्धियोपर दृष्टि न होकर हम जब बाहरमे अपना उपयोग लगा लेते है तो वहाँ सारे विकल्प उठते है और बरबादी होती है। मेरा वीर्यवल, मेरा सामर्थ्य मेरेको आवाद करनेके लिए ही बना हुआ है। बरबादी तो होती है उपाधिके मेलसे, पर स्वयं अपने आप मेरेको क्या बनाये रखेगी ये शक्तियाँ ? उसका उत्तर यह है कि जैसा प्रभुको बनाया, सिद्ध प्रभु जैसे है बस उस ही प्रकारकी बात रहे यही इन शक्तियोकी प्रतिज्ञा हैं, सामर्थ्य है, संकल्प है, ऐसा ही रचनेका इनका स्वभाव है, पर हो रहा विपरीत मामला। तो यह विपरीत मार्ग कब तक चलेगा ? जब तक हम ज्ञानको नही सम्हालते है और यथार्थ बात नही समझते है तब तक ही यह सब विपरीत मामला चलेगा। हम अपने आपमे अन्त प्रकाशमान इन ऋद्धियोको तके और अपने जीवनके इन दुर्लभ क्षणोको सफल करे।

ज्ञानमात्र भावमें उल्लसित अनन्तशक्तियोंमें कुछ शक्तियोंका व्यवहरण——जगतमे जितने भी पदार्थ है वे अपना कोई असाधारण स्वरूप लिए हुए है तभी उनका अस्तित्व है। न हो उनमे कोई खूबी तो सत्ता किसकी ? ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिसमे केवल साधारण गुण हो, असाधारण गुण न हो ? ऐसा कोई पदार्थ हो नही सकता। यदि पदार्थ है तो उसकी अर्थक्रिया अवश्य होगी। अर्थक्रियाशून्य कोई पदार्थ नही होता। अर्थक्रियाका अर्थ है परिणमन। परिणमनशून्य कुछ भी वस्तु नही है और परिणमन जब माना तो क्या परिणमा, इसमे कोई बात तो होगी ही। बस यही आधार है असाधारण गुणके परिचयका। प्रत्येक पदार्थमे अपना कोई विशेषस्वरूप अवश्य होता है। पुद्गलमे मूर्तरूप है। रूप, रस, गध, स्पर्श निरन्तर रहेगे उनका निरन्तर परिणमन रहेगा, और उसीके आधारपर अर्थक्रिया का परिज्ञान कर पाते है। बदली चीज तो क्या बदली ? तो अर्थक्रिया हम जब पहिचान लेते है तो उसके द्रव्य और गुणकी पहिचान कर लेते है।

आत्मामे ऐसा असाधारण स्वरूप है चैतन्य सो यह चैतन्य एक बहुत

कुछ अभेद जैसा ढग बनाकर कहा गया है। वस्तुत तो अवक्तव्य है। जब चैतन्य कहा तो वह भी विशेषण बन गया। आत्मा चेतने वाला है। तो आत्मा अलग हो, चेतने का काम अलग हो, फिर उसका सम्बन्ध जोडा गया हो ऐसा विशेषवाद तो यहा है नही। वह आत्मा ही स्वय ऐसा है जिसको कि हम वचनसे तो नही कह सकते, पर जब हम उसके अशोको ग्रहण करनेकी दृष्टि बनाते हैं तब बचनोसे बोल सकते है। परमार्थत आत्मा अवक्तव्य है और अवक्तव्य है इन शब्दो से भी अवक्तव्य है। जहा इतना भी जाना कि यह आत्मा अवक्तव्य है, तो अवक्तव्यता धर्मयुक्त है, इतना विशेषण बनाना पडा, पर इस विशेषण वाला भी नही है, वह तो जो है सो है। उसही को जब हम तीर्थ प्रवृत्तिके लिए प्रतिपादनमे लेते है तो उसीका नाम है व्यवहारनय। व्यवहारनयमे आत्माकी उन शाश्वत शक्तियोका भेद करके ही समझाया जाता है। आत्मा ज्ञानवान है, आत्मा दर्शनवान है आदिक गुणोका वर्णन करके हम आत्माके स्वरूपको जानते है।

आत्माकी जीवत्वशक्ति व चितिशक्ति आदिका संस्मरण—अब तक आत्माके सम्बन्धमे ६ शक्तियोका वर्णन किया गया। शक्ति कहो, गुण कहो, एकार्थवाचक शब्द है। जीवत्व शक्ति मूलमे आधारभूत शक्तिको प्रथम कहा है, जिसका अर्थ है कि जिस शक्तिके प्रताप से आत्मा अपने असाधारण स्वरूपको धारण करता हुआ बना रहे, उसे कहते है जीवत्व शक्ति। जब पदार्थमे कोई बात परखी जाती है तो उसकी वह शक्ति भी मान ली जाती है। जैन सिद्धान्तमे जब वस्तुका प्रतिपादन होता है और उनमे शक्तियोका कथन चलता है तो अनुदारता नही है वहा, क्योकि अनन्तशक्त्यात्मक पदार्थ है वह। जो भी बात एक भिन्न सी जची बस उसकी शक्ति मान लीजिए। जब भेद करने ही बैठे तो भेदोमे फिर क्या अनुदारता ? करते जाइये भेद। जरा भी अन्तर सा स्वरूप समझमे आया तो उसकी शक्ति मान लो। यहाँ जब निरखा गया कि आत्मा अपने असाधारण चैतन्यस्वरूपमे टिका हुआ है। कभी बदलता नही है। अनादिसे अनन्तकाल तक चैतन्य प्राणके आधारपर ही बना हुआ है, ऐसा ही सदा काल टिका है तो कुछ भी बात समझमे आये तो उसकी आधारभूत शक्ति भी समझ लेना चाहिए। ऐसी शक्ति है जीवत्व शक्ति। जिस शक्तिके प्रतापसे आत्मा अपने चैतन्यप्राण को धारण किए हुए सदा काल वर्तता रहता है। इसके पश्चात् जान तो लिया कि जीवत्व शक्तिमे यह जीव जीवित रहता है। जीवित रहनेके मायने जैसा कि पर्यायोमे जीवित है प्राणधारण करके, इस तरहका नही, किन्तु उसका जो एक असाधारण चैतन्यप्राण है जिसके न रहने पर नास्तित्व हो जायेगा। ऐसा होता नही कभी, पर युक्तिसे यह कहा जा सकता कि आत्मामे यदि चैतन्य न रहे तो आत्माका अस्तित्व ही नही रह सकता। ऐसे उस चैतन्यप्राणकी क्या जिम्मेदारी है ? उसका वर्णन

चितशक्तिसे किया गया है। वह चेतता रहता है, सर्व कुछ जानता रहता है। आत्माका काम प्रतिभास करनेका है, उसीकी विशेषता बताया दृशि और ज्ञानशक्तिने।

व्यामोहमें अपना दुरुपयोग—यह आत्मा जानता है सामान्य और विशेषरूपसे। यह सब होता हुआ भी जीवन केवल एक प्रकारकी ही वाञ्छा और लक्ष्य है कि मुझे सुख मिले, आनन्द मिले, और सब प्रयत्न आनन्दके लिए करते है, पर आनन्द प्राप्त होता नही। जितना प्रयास बढता जाता है उतना ही आनन्दसे दूर होते जाते है। उसका कारण है कि मन, वचन, कायके प्रयाससे आनन्दकी प्राप्ति नही है, किन्तु मन वचनके प्रयास सब मिट जाये तो आत्मा स्वय आनन्दमय है, इस कारण स्वय आनन्द प्रकट होता है।

इस आनन्दशक्तिके बाबत समझाया है कि हे आत्मन्! तू स्वय आनन्द-शक्तिमय है, रंच भी तेरेमे क्लेश नही है। तू जितना है उतना अपनेको निरख। तू जैसा है वैसा अपनेको देख। सबसे निराला, किसीको रंच भी सम्बंध नही, ऐसा अपनेको देख। जगतमे अनन्त जीव है। उनमे से दो चार जीवोको छाँट लिया मोही प्राणी ने कि ये मेरे है, मेरे घरके है, यह मेरी स्त्री है, मेरा पिता है, मेरी माता है आदि, तो यह एक अज्ञानता ही हुई ना। भीतरमे ऐसी श्रद्धा जिसने बसा लिया हो कि ये ही मेरे सम्बधी हैं, यह तो व्यामोह है। जहाँ यह व्यामोह हो वही पर इसको क्लेश होने लगेगा। यदि सबसे निराला अपने आपको देखे तो इसका बोझ बिल्कुल खतम हो गया। निर्भार अपने को अनुभव करेगा। मैं सबसे निराला हू और ज्ञानानन्दस्वरूप हू। मुझमे जो वीर्यत्वशक्ति है उस स्वरूपके कारण मेरेमे जितने भी गुण है उन सब गुणोकी ओरसे जो सहज विकास होना चाहिए बस उसके लिए वह सहयोगी है। विकार उत्पन्न हो, इसके लिए वीर्यशक्तिका सहयोग नही, फिर भी विकार होते है उपाधि पाकर, ऐसी इस आत्मामे पात्रता हो गई है, पर शक्तियोंकी ओरसे विकारोको गुजाइश नही है। उपाधिका सम्बंध पाकर विकार हुआ करते हैं। तो इस वीर्यत्वशक्तिके प्रतापसे ये सब गुण अपना विलास करते रहे, फिर बत-लावो वहाँ दुःखका क्या अवकाश? जहा यह दृष्टि बनी कि मैं तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू। मेरे करनेके लिए कार्य बाहरमे कुछ नही है। बस ज्ञानरूप परिणमता रहे, आनन्दरूप बना रहे, बस यही मेरा कार्य है, यही मेरा वैभव है, यही मेरा सर्वस्व है।

लौकिक जनोंसे अपरिचित अन्तःगुप्त आत्मतत्त्वकी संभालमें लाभ—जिसको अपनी परविविक्तताकी दृष्टि जग जाती है वह जगतसे अपरिचित हो जाता है और उसकी दृष्टिमे भी यह देखा हुआ जगत परिचित नही रहता, अपरिचितकी तरह हो जाता है। उसमे यह साहस होता है कि सारा लोक भी अगर मेरी निन्दा करे तो उससे मेरे मे कुछ भी बिगाड नही है। सारा लोक भी प्रशंसा करे तो उससे मेरेमे कुछ भी सुधार नही है। अपने आपके

श्रद्धान, ज्ञान, आवरणको अपना कार्य मान रहा है, ऐसा ज्ञान किसे जगता है ? बस इसी निज अत स्वरूपके श्रद्धानसे जगता है। जीवनमे करने योग्य कार्य एक यही अन्त स्वरूपका परिचय है। जिसे यो बताते है कविजन कि ज्ञानरूपी दीपक जलाओ, तपश्चरणका तैल भरो और अपने आत्माके घरको भ्रम छोड करके सोधो, हर एक कोना देखो, कही कोई चोर तो नही छुपा है। ऐसा करोगे तो ये कर्मरूपी चोर निकलेंगे, नही तो ये पहिले से ही बैठे है, इनका जमाव पूरा बना हुआ है। जब तक इन कर्मोंका भार है, इन अज्ञानमय सस्कारोका बोझ है तब तक यह जीव कहाँ जाकर आनन्द पायेगा ? स्वर्गमे जाकर पायेगा क्या ? वहाँ भी कर्मोंका बोझ है, राग और आकुलतायें भरी है। क्या धन वैभव पाकर आनद पायेगा ? वहाँ भी क्लेश है। सबसे बडी मूढता यह है कि जो यह चाह होती है कि ये लोग समझ जायें कि यह बडे आदमी है, वैभववान हैं, प्रतिष्ठावान है। अरे दूसरे तो दूसरे ही हैं, उनके विचार, उनके परिणमन उनमे ही समाप्त है, उनसे यहाँ कुछ भी आता नही है। यदि आज मनुष्य न होते हम आप, किसी कीडा मकोडाके भवमे होते तो आजका कुछ यह माना हुआ परिचय कुछ परिचय रहता क्या ? ऐसा हो नही सकता था क्या ? इसी तरह यहाँ समझ लेवे कि आज इस मनुष्यभवमे है तो यहाँ पर भी हमे कोई जानता नही और निश्चयसे हम अन्य किसी को जानते नही। सबसे बडा रोग यह है कि कुछ भी चीज परित्याग करनेको जो अपने को पामर अनुभव करते हैं वह केवल एक लौकिक परिचय और यशप्रतिष्ठाके लोभमे, नही तो क्या नही छोडा जा सकता ? बाकी छोडनेके लिए और जो कुछ भी बात बोली जाय, यो नही छोड सकते, वे सब बहाने हैं, और मूलमे केवल एक यह भाव पडा है कि इस परिचित लोकमे मेरी बडाई रहे, लोग बडा समझते रहे। तो ठीक है, पर बडा समझे जानेका कारण माना है धन वैभव, समाज, मित्रजन, पार्टीके लोग, अथवा यहा वहाके विकल्पमे किए हुए काम, ये माने जाते हे बडप्पनके कारण और इसी कारण उन्हे नही छोड सकते। सबसे पहिले अपनी इस मानी हुई लौकिक इज्जतमे गोली लगाना होगा, तभी अन्त प्रकाश मिल सकेगा।

स्वरूपके विशद बोधमें सर्व समस्याओंका समाधान—कभी कोई सोचता है कि कुछ धर्मकी ओर विशेष लगें, यहा समय अधिक दें, घरसे कुछ उदासी लायें तो इन बच्चो का, इन परिजनोका क्या हाल होगा, पर वे जरा यह तो बतावे कि खुदके मर जानेके बाद फिर बच्चोकी सारी जिम्मेदारी वे रख सकेंगे क्या ? वहा तो फिर कुछ नहीं कर सकते। तो अब जो ये जीवनके १०–५ वर्ष और शेष रह गए हैं उनमे यदि खूब विकल्प ही मचाते रहे तो क्या पार पा लेंगे ? पार तो तब पाते जब कि उन बच्चोकी सारी जिन्दगीभरके आप मददगार बनते, सो ऐसा तो हो नही सकता। कुछ थोडे वर्षों तक अगर आपने

उनकी मदद कर दिया तो उससे क्या पार पाडा ? और, आप तो यह समझिये कि जब तक उन बच्चोके पुण्यका उदय है तब तक आप उनकी नौकरी बजा रहे है। आप कुछ भी उनका पूरा नहीं पाड सकते। हम आपका कर्तव्य यह है कि बहुत कठिनाईसे यह मनुष्यभव मिला है। तो इस मनुष्यभवके क्षणोसे पूरा लाभ उठाये। ज्ञानवर्द्धन करके हम इन क्षणोसे पूरा लाभ पाये, इस ओर हमारी बुद्धि जगना चाहिए। लाभ पूर्ण यह है कि हम अपने स्वरूपको ऐसा स्पष्ट समझ लें जैसे कि मानो हाथ पर रखा हुआ कोई पदार्थ समझा जा रहा है। यह बात स्वानुभव द्वारा जानी जा सकती है। प्रत्यक्ष ज्ञानियोकी तरह यह स्पष्ट भान तो न होगा कि प्रदेशरूपसे, कर सकने रूपसे, सर्वरूपसे, किन्तु ज्ञान द्वारा ज्ञानमे ज्ञान का अनुभव जिस ढगसे होता है वह अनुभव आज भी हो सकता है और उसी अनुभवमे विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है।

आत्मामें श्रद्धाशक्तिका प्रकाश—आत्मामे अनेक शक्तिया है, जिनमे कुछ प्रसिद्ध शक्तियोका वर्णन चल रहा है। एक श्रद्धाशक्ति है। प्रत्येक जीवमे ऐसी प्रकृति है कि वह किसी न किसी प्रकारकी श्रद्धा बनाये रहे। लोग श्रद्धाकी बात स्थूल विकल्पके रूपमे समझ पाते है, पर वह श्रद्धाका शुद्ध वाच्य है ही नही। श्रद्धाका कार्य वह है जो प्रभु तकमे भी घटित किया जा सके। प्रभु किसका विश्वास बनाये हैं ? यहा तो कहते है कि देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान् ७ तत्त्वोंका श्रद्धान अथवा इनकी रुचि। और, सिद्ध भगवानमे क्या चीज है इसका स्पष्ट बोध आत्मबोधमे है। सम्यग्दर्शन तो है ही, पर जिन विकल्पोके रूपमें हम श्रद्धानका, सम्यक्त्वका यहां अर्थ लगा रहे हैं वह वस्तुत अर्थ नही है। सम्यक्त्वका परमार्थ अर्थ वह है जो सिद्धमें भी घटित हो सके और इसका वर्णन फिर निषेध द्वारा भी किया गया है कि विपरीत अभिप्राय रहित जो भाव है वह सम्यक्त्व है। इसमे पहिले अर्न्तदृष्टि करके देखें तो यही बात मिलेगी—किसी न किसी ओर प्रत्येक जीवका विश्वास। विकल्पात्मक रूपसे नही है, किन्तु जो कोई जीव रम रहा है तो रमण तो तब ही बनता है जब उस बातका विश्वास हो। सिद्ध भगवान आत्मामे रम रहे है, अनन्त काल तक रमते ही रहेगे, यह उनका रमण भी इसी आधार पर है जब कि उनको आत्मामे विश्वास है। विकल्परूप हम उसका वर्णन नही कर सकते, किन्तु युक्ति यह बतलाती है कि विश्वास बिना रमण नही हुआ करता। मोही जीवोका रमण बाह्य पदार्थोमे है। उनके बाह्य पदार्थोमे हितरूपका विश्वास जमा हुआ है इसलिए वे बाह्यपदार्थोकी ओर दृष्टि बनाये हुए है। तो श्रद्धाशक्तिका मूलत यह काम है कि हितस्वरूपमे विश्वास बनाये रहना। कोई भी जीव श्रद्धारहित न मिलेगा।

अद्यतन पुरुषोंकी प्राय श्रद्धाका समालोचन—अब स्थूल रूपसे ससारी प्राणियोका

निरीक्षण कीजिए। मोही जीव भी श्रद्धा बनाये हुए है, उनकी उल्टी श्रद्धा है। यह मेरा बड़प्पन है, यह मेरी जाति है, यह मेरा कुल है आदि। और फिर इसी कारण उसके अनुकूल अपना आचरण बना लेते है। देखिये—बहुतसे आचरण अच्छे चल रहे हैं। रात्रिको न खाना, जल छानकर पीना, देखभालकर चलना, किसीको न सताना, झूठ न बोलना आदि, पर वे आचरण तो इसी आधारपर है कि मैं उत्तम कुलका हू, उत्तम जातिका हू, मुझे ऐसा आचरण करना चाहिए, क्योकि यह तो मेरी कुल परम्परा चली आयी है। इस आधारपर यदि आचरण किया जा रहा है तो वह मोक्षमार्गमे नही है। भले ही पुण्यका बंध चल रहा है, पर जिसे कहते है वास्तविक शान्ति सो वह न मिल सकेगी। बल्कि जब कभी कोई बात प्रतिकूल आ जाती है तो गुस्सा भी बहुत हो जाता है। मैं तो उपवास किए हूँ, ये यो चलते हैं, मैं तो इतना बडा तपश्चरण करता हू, आचरण कर रहा हू, ये लोग कुछ समझते नही। क्रोध भी बस जाता है, और जिसका आधार यह है कि मैं विशुद्ध चैतन्यस्वभाव परमार्थ पदार्थ हू। मेरा परिणमन काम एक विशुद्ध श्रद्धान, ज्ञान, आचरण है, जिसमे आकुलताका नाम नही है। यह दिखने वाला शरीर मेरे किसी कामका है क्या ? मेरा रक्षक है क्या ? यह तो एक बन्धन है, विपदा है, कष्ट है। मैं शरीरसे निराला केवल एक चैतन्यमात्र हू। मेरा काम इन अपनी शक्तियोके विशुद्ध परिणमनमे बना रहना है, ऐसा जिसको बोध है और बन्धनवश यह पर्यायोमे पडा हुआ है तो इस पर्यायमे पडा रहनेके कारण मन, वचन, कायकी चेष्टाये भी करनी पडती हैं तो भी मन, वचन, कायकी चेष्टायें उसकी ऐसी पापरहित बनती है। उसका भी आचरण यही चल रहा है, रात्रिको खाता नही, जल छानकर पीता, झूठ नही बोलता, सारी बातें उसके भी चल रही, उसे शान्तिका अनुभव होता है क्योकि उसका उद्देश्य, लक्ष्य सीधा सम्यक्त्वपर है। श्रद्धा बिना कोई जीव नही है, पर जिसकी बाह्यपदार्थोमे हितरूप श्रद्धा है, यह शरीर मेरे लिए हितकारी है, इस शरीरसे मेरे सारे काम बनते है, शरीर ठीक है, सबल है मैं सब कुछ करनेमे समर्थ हूँ, शरीरके गुण तो समाये हुए हैं इस रूपमे और इसी आधारपर मैं उत्तम जातिका हू, उत्तम कुलका हू। अब उस पर्यायबुद्धिकी नीवपर सब विकल्प खडे हो गए। अब उसके जो भी काम होगे जो भी वह बात करेगा, वह शान्तिमूलक न करेगा, क्योकि शान्तिका आधारभूत शुद्ध आत्मतत्त्व उसकी परखमे नही है।

आत्मबोधनका अपना कर्तव्य—भैया ! समझना है अपनेको। मुझमे श्रद्धाशक्ति है, किसी न किसी रूपमे हितरूपताका विश्वास ये बनाये हुए हैं। बाहरमे हितरूपताका विश्वास इसकी बरबादीका कारण है, और, स्वयका जो सहज स्वरूप है उसका विश्वास इसकी आबादीका कारण है। इस निज सहज स्वरूपके विश्वाससे यह अपनेको लौकिक निर्विकल्प

बनायेगा और निकट कालमे ही निर्वाण प्राप्त करेगा, सदाके लिए शुद्ध आनन्दका अनुभव करने वाला बनेगा। हमे चाहिए कि हम अपनी भीतरी शक्तियोकी दृष्टि करे और उन ऋद्धियोसे ही अपनेको वैभवशाली माने। बाह्यपदार्थ तो धूलवत सारहीन है, इस प्रकारकी जो कुछ सत्यता है उसको उपयोगमे लायें। तो जितना हम अपना अत प्रकाश करेगे, अपनेमे अपनी सावधानी बनायेंगे उतना ही समझिये कि हमारे जीवनके ये दुर्लभ क्षण सफल हो रहे है, इसके अतिरिक्त यदि बाह्यपदार्थोंकी ओर अपने उपयोगको लगाया, उन्हीमे अपना चित्त बसाया तो समझिये कि हमारे जीवनके वे दुर्लभ क्षण व्यर्थ गए।

जीवमें श्रद्धाशक्तिका निरूपण—आत्मामे कैसी कैसी शक्तियाँ पाई जाती है? उनका यहाँ वर्णन चल रहा है। अनेक शक्तियाँ बतायी जा रही है, फिर भी न्यारी न्यारी शक्तियोपर दृष्टि न रखकर अन्य समस्त शक्तियोका अखण्ड पिण्ड जो आत्मा है उसको लक्ष्यमे लेनेका सरल भाव इस अनुभवमे तब आता है जब कि यह आत्मा अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करे। मै केवल ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानका जो स्वरूप है उस स्वरूपको केवल जहाँ ज्योति है ऐसे उस प्रतिभासको ज्ञानमे लेवे, इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तुको ज्ञानमे न रखें, ऐसी स्थितिमे जहाँ ज्ञानमात्र, प्रतिभासमात्रका अनुभव होता है वहाँ यह समस्त आत्मा यथार्थरूपसे परिचयमे आता है। उस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको समझानेके लिए यहाँ अनेक शक्तियोका वर्णन चल रहा है। आत्मामे एक श्रद्धा शक्ति है जिसके प्रताप से यह जीव किसी न किसी विश्वासपर कायम रहा करता है। और, यह विश्वास भी मुख्यतया इस पद्धतिमे कि यह हितरूप है, जिसमे आश्वासन रहे, तृप्ति मानी जा सके, ऐसा कही न कही इसका विश्वास बना रहता है। किसीका यह विश्वास अत्यन्त भिन्न होनेसे स्वरूपमे घुलकर एक परिणतिसी होती है और कही यह विश्वास स्वरूपके विरुद्ध होनेसे पृथक जँचता है और विकल्प रूपसे प्रतीत होता है, पर सब जीव इस श्रद्धाशक्तिसे सम्पन्न है और इनका परिणमन निरन्तर सभी जीवोमे होता है। जैसे स्थूलरूपसे विदित होता कि पशु भी मनुष्य भी सब कही न कही अपना विश्वास जमाये हुए है। ये पदार्थ मेरेको हितकारी है, ऐसी स्थिति मेरेको हितकारी है यो सभीके चित्तसे कोई न कोई बात समायी हुई है। ज्ञानी जीवके हृदयमे यह समाया है कि बाह्य विकल्प न उठकर आत्माका जैसा सहज ज्ञानस्वरूप है उस रूपको प्राप्त हो, मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहे यह स्थिति हितरूप है और इस स्थितिमे ही अपने आपका सही परिचय बनाया जाता है। तो तात्पर्य यह है कि श्रद्धाशक्ति वह है जिसके प्रतापसे यह जीव किसी न किसी विश्वासपर कायम रहता है।

जीवमें चारित्रशक्तिका निरूपण—एक चारित्रशक्ति है जिसका काम यह है कि आत्मा किसी प्रकारके आचरणमे बना रहे। चारित्रशक्तिकी ओरसे आत्मामे स्वयं क्या गुजरता है

तो वह है एक शुद्धोपयोगकी परिणति। आत्मा निज सहज स्वभावमे उपयुक्त रहे यह है चारित्रशक्तिका कार्य, किन्तु उपाधिके सयोगवश अनादि मलीमस आत्मामे रागद्वेष क्रोधादिक नाना प्रकारके विकार उद्भूत हो जाते हैं। उन विकारोको उत्पन्न करना चारित्रशक्तिका विशुद्ध कार्य नही है। यह तो चारित्रशक्तिकी योग्यता है और उपाधिका सम्बध है कि वहाँ ये विकार प्रतिबिम्बित होते है, फिर भी कोई विकार आत्माके स्वरूपमे घर नही कर सकते अर्थात् स्वभाव नही बन सकते। यो उपाधि और निरुपाधि सर्व स्थितियोकी ओरसे चारित्र-शक्तिके अनेक परिणमन हो जाते है। कही शुद्ध शान्त, अनाकुल रहना, कही क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाये उत्पन्न होना, कही किसी प्रकारके विकल्प विचार तरग उठाना, याने आत्मा अपने आपमे समतासे शान्त निस्तरग रहे इस स्थितिके अलावा जो स्थितियाँ चल रही है वे सब विकारकी साधक है। तो चारित्र शक्तिका विकृत परिणमन है यह विकार और चारित्र शक्तिका विशुद्ध परिणामन है आत्मा अपने आपमे स्थिर रहे। व्यवहार मे चारित्र कहते हैं मन, वचन, कायकी शुभ क्रियाओको। और, खोटा चारित्र कहते हैं मन, वचन, कायकी अशुभ क्रियाओको। किन्तु जब यह बाह्य खोटा चारित्र लगा है उस समय भी आत्मा किन्ही बाह्यपदार्थोकी क्रियामे न रहा, किन्तु अपने आपमे स्वरूप विरुद्ध विकल्प मे रम रहा, यह उसका मिथ्या चारित्रपन है और जब यह जीव मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्तियोमे लग रहा है उस समय वह किन्ही बाह्यपदार्थोको नही कर रहा है, किन्तु स्वरूपके अनुकूल अपने आत्माकी ओर इसका उपयोग रम रहा है। तो चारित्रशक्तिके कारण यह जीव अपने आपमे रमण करता है।

परमार्थतः जीवकी परमें रमणकी अशक्यता—जब यह परकी ओर रमण कर रहा है वहाँ भी यह परमे नही रम रहा किन्तु अपने आपमे रम रहा। रम रहा विकल्पात्मक अपने आपमे विकल्पोरूपसे। कोई भी पुरुष किसी भी बाह्य वस्तुका कुछ करनेमे समर्थ नही है, यह तो स्पष्ट है, परन्तु किसी परपदार्थके रमनेमे भी समर्थ नही है। जैसे लोग कहते है कि हमारा अमुक मित्रमे प्रेम है तो उनका यह केवल एक असद्भूत कथन है। मैं किसी परमे रम ही नही सकता। मैं आत्मा कितना हू और मेरा कार्य क्या है? वह कार्य भी कितनेमे होता है, इन सब बातोका विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि मैं किसी भी परपदार्थमे रमनेमे समर्थ नही हू। जहा यह मालूम हो रहा कि मेरा दिल मित्रमे पडा है, वहाँ ही चित्त बसा हुआ है, वहा ही मैं रम रहा हू, उसका अर्थ यह है कि उस मित्रका ध्यान करके, उस मित्रको विषय बनाकर मैं अपने आपके प्रदेशोमे ही रागरूपसे परिणम रहा हू, कही बाहर किसी जीवमे मैं राग नही कर सकता हू, राग करता हू तो अपने आपमे अपने विकल्पमे करता हू। तो चारित्रशक्तिका यह कार्य है कि यह जीव अपने आपमे

रमण करे। किसी न किसी प्रकारके आचरणमे बना रहे, उपाधिके मेलसे यह विरुद्ध आचरणमे रमता है और उपाधिरहित अवस्थामे यह अपने विशुद्ध तत्त्वमे रमण करता है। कोई जीव ऐसा नही है जो कही न नही रमता न हो। एकेन्द्रियसे लेकर सिद्ध पर्यन्त सब जीव कही न कही रम रहे है, अपना आचरण बनाये हुए है। मोही जीव अपना विरुद्ध आचरण बनाये है। प्रभु परमात्मा अपने शुद्धस्वरूपमे उपयुक्त हो रहे हैं, उनका ऐसा ही आचरण है।

परविविक्त स्वैकत्वगत अन्तस्तत्त्वके पावन दर्शनसे क्लेशका क्षय—यह जीव सबसे निराला ज्ञानमात्र स्वतंत्र तत्त्व है। हम आप सभी अपने आपकी ओर दृष्टि देकर देखे तो मुझ आत्माका इस देहसे भी सम्बन्ध नही, नाता नही कि यह देह मेरा कुछ बन जाय। यह देह अनेक प्रकारके हाड मास आदिक धातु उपधातुओका ढेर है। यह मै आत्मा आकाशवत अमूर्त केवलज्ञानदर्शन ज्योतिमय आनन्दका धाम हू। कितना अन्तर है इस शरीरमे और मुझ आत्मस्वरूपमे ? इस भेदविज्ञानपर जो दृढ बन जाते है ऐसे पुरुषोकी यह कहानी है कि शिरपर अंगीठी जलाई जा रही है और वे अपने निर्विकल्प ध्यानमे रत है। शत्रु छेद रहा है या आगमे जला रहा है और यहां निर्विकल्प ध्यानमे रत है। शुक्लध्यान हो गया। निर्वाण हो गया। यह मजबूती उन पुरुषोने अपने आपमे की। हम इतनी तेज मजबूती नही बना सकते किन्तु उसकी ओर आये तो सही। उसके अनुरूप कुछ तो अपने विचार बनायें, कुछ तो उस मार्ग पर चले। निरन्तर शरीर शरीरका ही बोझ ढोना, इसको ही साफ सुन्दर रखना, इसका ही विकल्प बनाये रहना। जो होना है हो रहा है पर अपने आपका जो स्वरूप है उस स्वरूपकी ओर दृष्टि रखनेसे बाहरमे भी अच्छा होगा और भीतरमे भी अच्छा होगा। इस जगतमे जो कुछ हो रहा है बाह्य पदार्थोका मेल, वियोग, आदि ये सब इस जीवके अपने पूर्व उपार्जित कर्मके अनुकूल हो रहा है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्म निमित्त बाहरी पदार्थोको पकडकर कुछ बनाते नही हैं। पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चला आ रहा है कि पापका उदय होनेपर अनिष्ट समागम प्राप्त होते है और पुण्यका उदय होने पर इष्ट समागम प्राप्त होते है। जो हो रहा है ठीक है, पर किसी भी समागममे जीवको कल्याण नही है, शान्तिका लाभ नही है।

आकिञ्चन्यभावमें शान्तिलाभ—शान्तिका लाभ तो अकिञ्चन बननेमे है। मेरा कही कुछ नही है, ऐसी दृष्टि जब बनेगी तब शान्तिका उदय होगा और जब तक बाह्यपदार्थोमे यह दृष्टि रहेगी कि मेरा सब कुछ है और मै ऐसा हू तब तक इसको शान्ति नही मिल सकती। जब तक कोई भी ख्याल रहेगा कि मैं यह हू, अमुक जाति कुल वाला हू, इज्जत प्रतिष्ठा वाला हू, ऐसी पोजीशन वाला हू, किसी भी प्रकारका मैं के सम्बधमे विकल्प रहेगा

तब तक इसको शान्तिलाभ न होगा। शान्तिलाभ तब ही है जब यह अपनेको बिल्कुल अकेला रहा हो, विकार भी मुझमे नही, रागद्वेप जिसमें केवल ज्ञान दर्शन ज्योति प्रतिभास ही जच समझ रहा हो, ऐसा अकेला कि परिणमन भी मेरे स्वरूपमे नही, रागद्वेषादिक परिणमन मैं नही और मेरे स्वरूप नही, पर्याय मैं नही, मेरे स्वरूप नही। मैं तो केवल आकाशवत् निर्लेप अमूर्त अखण्ड एक ज्योतिस्वरूप हूँ, ऐसा अपने समस्त परपदार्थोका सम्वध तोड दिया और अपने आपके इस अखण्ड स्वरूपकी ओर आये, शान्ति वहाँ मिलेगी।

जो पुरुप विरक्त होकर राज्य सम्पदा तजकर इस मार्गमे लगे है वे पुरुष क्या अविवेकी थे ? उन्होने जो किया वह सत्य था। यह बात उसके ही हृदयमे भी आ सकती है जिसने यह समझ लिया हो कि परमाणुमात्र भी वैभव सारसहित नही है, मेरा सार केवल मेरे इस शुद्ध चैतन्यप्रकाशमे है। बडे-बडे वैभवोको छोडकर तीर्थं करोने इस सयमका साधन किया और अरहत हुए। तो हम मामूली छोटेसे वैभवको छोड सके ऐसा साहस भी न बनायें तो बतावो इस परोपकारी, स्वोपकारी जीवोपयोगी जैनशासन के पानेका लाभ हमने क्या लिया ? लाभ तो वह है जो अन्त विशुद्ध शान्तिका लाभ हो, ये सासारिक मौज आकुलताओसे भरे हुए है और दु ख भी आकुलताओसे भरे हैं, रज और मौज ये दोनो ही विपदाये है। जो सासारिक मौज चाहते है वे आपत्ति ही तो चाह रहे हैं। इससे परे जो आकिञ्चन्यभाव रूपमे आत्माकी अनुभूति जगती है वह है शान्तिका मार्ग। हमे रमना कहाँ चाहिए ? यह निर्णय न हो तो हम कल्याण क्या कर सकेंगे ? हमे रमना चाहिए अपने उस विशुद्ध चैतन्य प्रकाशमे। लोग सोचते हैं कि हमारा बडा कुटुम्ब है, ऐसे पुत्र पुत्रियाँ हैं, ऐसी मेरी मित्र मण्डली है। अरे बाहरमे हमारा कुछ भी नही है। केवल विकल्प बनाये रहे और उन विकल्पोसे क्लेश पा रहे।

अपने पारमार्थिक कुटुम्ब और काल्पनिक कुटुम्बके लगावमें महान अन्तर—अन्तरङ्ग मे देखिये ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि कैसी अद्भुत शक्तियाँ मेरा कुटुम्ब बन रही है। ऐसा कुटुम्ब जो कभी बिछुडा न था, न कभी बिछुड सकेंगे ? इस निज कुटुम्बका ज्ञान नही किया, इस कारण वाह्यको कुटुम्ब मानकर हम क्लेश पाते रहे। मेरा यह अनन्त शक्तियोका पिण्ड कुटुम्ब सदा मेरी रक्षामे बना रहता है, उससे ही मेरा अस्तित्व है। अपने उस कुटुम्बको निहारो जहाँ कभी क्लेश ही नही है। सदा आनन्दका ही अवसर रहा करता है। लोग सोचते है कि मैंने बहुत परिश्रम किया, पुरुषार्थ किया, मैं बडा कर्मठ हूँ, मैंने इतनी दूकान, इतने फर्म, इतने मकान, इतने व्यापार ये सब हमने खोल दिये है और इस इस बडी विधिसे चला रहा हूँ, मगर बुद्धिमानी तो इस ओर है कि मैं अपने सही कर्मोको देखूं, क्रिया निरखूं, मैं क्या परिणमन कर सकता हूँ इस बातको सही समझें। मैं परमाणु-

मात्रका भी कर्ता नही हूं, फिर बाह्यका मैं क्या कर दूंगा ? यह सब तो उनके पुण्यानुसार चल रहा है जो घरमे सुख भोग रहे है, और जो जीव यहां उत्पन्न होकर सुख भोगेंगे या जिसके इच्छा हुई है उन सबके पुण्योदयके अनुसार यह सब व्यवस्था चल रही है। मैं इनका कुछ करने वाला नही, यह स्वयं परिणमन हो रहा है। निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक मेरा यह काम नही है, मैने यहाँ कुछ नही किया, बल्कि इन प्रसंगोमे मैने विकल्प किया, इच्छा की, सक्लेश किया, अधीरता की। घबडाहट किया, किन्तु इन पदार्थोका मैनें कुछ नही किया। तो जब कुछ सार ही नही है इन बाहरी बातोमे और जो अज्ञान किया, विकल्प किया उसमे भी सार नही है, तब यहाँसे हटकर केवल यही करनेका काम रहेगा कि मैं अपने स्वरूपकी ही सभालमे रहू, इसका ही मैं ज्ञाता दृष्टा रहू, मैं हू केवल एक चैतन्यस्वरूप। प्रतिभास होना मेरा काम है, इसके आगे मेरा कही कुछ सम्बन्ध नही।

धर्मलाभके लिये विकल्पत्याग और अविकारस्वभावरुचिकी अनिवार्य आवश्यकता— धर्मलाभके लिए, शान्तिलाभके लिए बडा त्याग करना होगा, और वह त्याग है अन्तरगमे इन बाहरी विकल्पोका त्याग करना। पर व्यामोहमे जीवको बडा कठिन मालूम हो रहा है कि कैसे छोड़ा जा सकता है यह सम्बन्ध, लेकिन छूटेगा अवश्य। चाहे, यो ही छूटे पापके उदय मे अथवा मरणकालमे, तो उस छूटनेसे हमे कुछ लाभ न होगा, सन्मार्ग न मिलेगा, किन्तु विवेक बलसे अभी ही विकल्पको छोड दे या उस सम्पर्कको छोड दें और जैनशासनके बताये गए उस शुद्ध आत्ममार्ग पर लगनेकी धुन बना ले तो इसका कल्याण है। यह जीव केवल अपनेमे ही रमा करता है, अन्य पदार्थमे नही रमा करता, तब फिर मैं यहाँ शुद्धस्वरूपको निहार कर ही क्यो न रहू, अपनेको नाना पर्यायोरूप मानकर रमना है सो रमना है और अपनेको इन सब अवस्थाओसे परे चैतन्यमात्र निरखकर रमना है सो भी रमना है। बाहर का तो कुछ काम होता ही नही, बाहरमे तो यह रम ही न सका। तो अब यहाँ यह विवेक बनाना चाहिए कि मैं इन बाहरी पदार्थोमे न रम कर अपने आपके शुद्धप्रकाशमे रमूं। बाहरी बाते ही कुछ नही हैं और केवल यहाँ की विचारभावनासे वह सब लीला बन रही है। तो उल्टा विचार करके उल्टी लीला क्यो करूँ ? वस्तुके अनुरूप विचार बनाकर शुद्ध लीला क्यो न बनाऊँ ? शुद्ध लीलाका अर्थ है अपनेको जानना, देखना और अपनेमे रमण करना, खोटी लीलाका अर्थ है कि अपनी सुध न रखकर बाहरी पदार्थोंका ही विकल्प करना, और उनमे ही रमना। तो बाह्यके रमणमे इस जीवको शान्ति नहीं है, स्वरमणमें ही जीव को शान्ति है और पररमण करनेमे यह कभी समर्थ नही है। उपचारसे कहा जाता है कि यह जीव घरमे रम रहा है, यह कुटुम्बमे रम रहा है। अरे जीव तो जितने प्रदेशमे है

शरीरमे बस रहा है बस वहाँ ही है और अपनी समस्त शक्तियोका केवल अपने प्रदेशोमे ही परिणमन कर सकता है, इससे बाहर तो उसकी दुनिया ही नहीं है। बाहर कहाँ क्या करेगा ? जो कुछ कर सकता है जीव सो अपनेमे कर सकता है। तब यही विवेक बनता है कि मै अपनेको एक शुद्ध स्वरूप जानूं, समझूं, मैं देहसे निराला हू, ज्ञानको ही करता हूँ, ज्ञानको ही भोगता हूँ, ज्ञानसिवाय मैं अन्य कुछ न करता हू, न भोगता हू। और इस मुझमे स्वय कोई विकार नही बसा है। ये जो कषायें झलक गई है ये मेरे स्वभावमे बसी हुई नही है। उपाधिका सम्बन्ध है, ये गडबड हो रहे हैं, पर मेरे स्वभावमे एक भी गडबडी नही है। ऐसा मैं अविकार ज्ञानस्वभाव हूँ सो हूँ। अविकार ज्ञानस्वभाव हे कारणपरमात्मतत्त्व अब तुम प्रसन्न होओ, निर्मल होओ, मेरी सुधमे आवो, मेरे ज्ञानमे विराजो। एक इसके निहारे बिना ही मैं समस्त सकटोमे फसा रहा और एक इसकी ही सुधसे सर्वसंकटोसे मुक्ति हो जाती है। यह मैं अनन्यशरण, अविकार, ज्ञानस्वभाव हू, ऐसे इस अनन्त शक्त्यात्मक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना करना ही बुद्धिमानी है। बाहरकी बातोमे बुद्धिमानी नही है।

जीवमें प्रभुत्वशक्तिका प्रकाश—आत्मामे एक प्रभुत्वशक्ति है जिसके प्रतापसे यह आत्मा अपने अखण्ड प्रताप, अखण्ड परिणमन व अखण्ड स्वतत्रतासे युक्त है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें परिपूर्ण सत् है। अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असख्यात कालद्रव्य, प्रत्येक जीव प्रत्येक अणु प्रत्येक पदार्थ स्वय सत् है, अनादिसे है, अनन्तकाल तक है, उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है, कोई है तो नियम से उसमे उत्पादव्ययध्रौव्य है, जिस स्वभावके कारण यह ही तो बात आयी कि प्रत्येक पदार्थ नियमसे निरन्तर प्रतिक्षण नई-नई अवस्थाओ रूपसे परिणमता है और उसी समय पूर्वपर्यायको विलीन कर देता है और तिसपर भी अनन्तकाल तक बना रहता है। तो पदार्थ मे नवीन पर्यायरूप परिणमनेकी जो बात है वह पदार्थके स्वभावसे है। तो पदार्थ अपने आपका परिणमन बनानेमे समर्थ है, प्रभु है, स्वतत्र है। पदार्थ एक अखण्ड है उसको समझनेके लिए शक्तियोका भेद किया जाता है। तो भेददृष्टिमे अनन्त शक्तियोका ज्ञान होता है, लेकिन इन समस्त अनन्त शक्तियोका जो एक पुञ्ज है वह सत् द्रव्य है। सत् अभेद है, अभेद भी किया जाय, भेद न रखा जाय तो भी कोई स्वभाव मानना ही होगा। तो पदार्थ अपने एक स्वभाव रूप है जो कि अनादि अनन्त है। वह भी अखण्ड परिपूर्ण है, तो यो प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्वमे, अपने गुणोमे, अपने परिणमनमे स्वयं प्रभु है, किसी परपदार्थके कारण यह प्रभुता नही आती।

सत्में परिणमनशीलताकी अनिवार्यता—हम है तो निश्चय है कि निरन्तर परिण-

मते रहते है। परिरणमना भी स्वभाव है, द्रव्यत्व गुणके कारण कहो अथवा अपने स्वभावत जीव सभी पदार्थ निरन्तर परिरणमते रहते है। तो मैं हूँ और निरन्तर परिरणमता हू, स्वभावसे परिरणमता हू। मेरे स्वभावमे जो परिरणमनशीलता है वह एक विशुद्ध परिरणमनशीलता है अर्थात् अगुरुलघुत्व गुण निमित्तक जो अर्थपरिरणमन है, षड्गुण हानि वृद्धिरूप परिरणमन है वह निरन्तर होता है। यह एक परिरणमनकी सूक्ष्म बात कही जा रही है कि पदार्थ एक अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्थामे आता है तो उस बीचमे कितना अद्भुत परिवर्तन होता है, जिसे अनन्त गुण हानि और अनन्त गुण वृद्धि रूप बताया गया है। एक पर्याय विलीन होती है और नवीन पर्याय उत्पन्न होती है इस बीचमे वस्तुमे इतना परिवर्तन होता है, परिरणमन होता है, जिसे षड्गुण हानि वृद्धिरूप कहा गया है। यह स्पष्टरूपसे हम आपके बोधमे न आयगा, आगमगम्य बात है, पर युक्ति इसे सिद्ध करती है। यो सभी द्रव्य और चैतन्यगुण होनेके कारण विशेषतया यह मैं आत्मा अपने परिरणमनमे प्रभु हूँ। अपना सत्त्व रखनेमे समर्थ हूँ। अपनी सर्वशक्तियोमे प्रभु हू। मेरा काम किसी अन्य पदार्थसे नही होता। भले ही कोई अशुद्ध विकारकी अवस्था है तो वहाँ पर भी कर्मोदय हो वह अपने आपमे अपने परिरणमन से हू। उसका निमित्त सन्निधान पाकर यह आत्मा विकाररूप परिरणमा है तो विकाररूप परिरणमनेमे किसी अन्यके परिरणमनको लेकर नही परिरणमा है, किन्तु स्वय अपने इस परिरणमनसे परिरणमा है। तो जैसे तबलापर हाथके थापड़ मारनेके बाद अर्थात् हाथका एक वेगपूर्वक स्पर्श हुआ है उतनी हाथकी क्रिया है, इसके बाद अब जो वह आवाज कर रहा है तो आवाज करनेकी जो आवाज वाली क्रिया है उस क्रियामे हाथको लेकन नही कर रहा है, किन्तु वह अपने आप उस आवाजको अकेला कर रहा है, किसी अन्य पदार्थकी परिरणति लेकर आवाज नही कर रहा। निमित्त सन्निधान होगा। निमित्त सन्निधान बिना यह बात नही हुई, फिर भी यह परिरणमन प्रत्येक द्रव्यकी क्रिया केवल उस अकेलेमे हुई, किसी दूसरेको साथ लेकर नही हुई। यो प्रत्येक पदार्थ अपने परिरणमनमे इस तरहका स्वतंत्र प्रभु है। पदार्थका परिरणमन स्वतंत्रतया होता है, इसका अर्थ कोई विकार अवस्थाके परिरणमनमे भी निमित्तका लोप करके करता है, सो यह अर्थ तो नही हुआ बल्कि निमित्तकी दृष्टि ही न रहे और फिर कहे कि विकार परिरणमन भी स्वतत्रतया होता तब भी सही है। पर निमित्तकी दृष्टि रखे निषेध करनेके लिए और फिर विकार परिरणमनको स्वतत्रतया कहे ये दो बाते न बनना चाहिए। या तो निमित्त दृष्टि ही न रखे और केवल एक विकार परिरणमनको देखे तो वहाँ यह कथन ठीक बैठ सकता है।

उदाहरणपूर्वक स्वपरिणामप्रभुताका कथन—जैसे कि दर्पणमे पीछे खडे हुए बालक का प्रतिबिम्ब आ गया, हम बालक पर दृष्टि ही न दें और केवल एक दर्पणको ही निरखें

और दर्पणको निरखकर ही कहे कि दर्पण इस तरहकी छाया वाला बन रहा है। यह दृष्टि हम बना सकते हैं, पर हम बालकका निषेध करते हुए कि यह दर्पणका प्रतिबिम्ब दर्पणमे स्वत हुआ है, बालक निमित्त यहाँ कुछ नही है, उस निमित्तको उडाते हुए वर्णन करें तो यह वर्णन ठीक न बैठेगा। या तो निमित्तकी दृष्टि ही न करे, जो बात वस्तुमे गुजर रही है उसका ही वर्णन करें तो भी ठीक है, पर यह द्रव्यका ही वर्णन बन सकेगा और निमित्त दृष्टि रखकर कहते है तो निमित्त सन्निधानको मानना चाहिए और फिर कहा कि यह परिणमन निमित्तकी परिणति लिए बिना हुआ है इसलिए उपादानके ही आधीन है, यह परिणति निमित्तके आधीन नही है। यो स्वतत्रताकी बात कही जा सकती है तो यह मैं जीव सर्व अवस्थाओंमे स्वतत्र हू अर्थात् अपना कुछ भी परिणमन केवल मैं अपने ही परिणमनसे करता हू। दूसरेका परिणमन लेकर नही। यो हर स्थितियोमे यह प्रभु है, समर्थ है। जब शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे कथन होता है तब तो इसका सर्व सर्वस्व स्वतत्र है और अपने सर्व परिणमनोमे प्रभु है यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है। तो यह मैं करता हू, अपनेको करता हू और शुद्धशक्तिकी ओरसे देखे तो मैं अपने विशुद्ध परिणमनमें समर्थ हू और अर्थ परिणमनमे समर्थ हू, विकार अवस्थामे भी उस निमित्त सन्निधानसे तो उस रूप परिणमा, लेकिन उस तरहके परिणमनोमे मैं अब उस दृष्टिमे निरपेक्ष होता हू। जैसे कि किसी चीज को फेंका जाय तो फेंकनेकी स्थितिमे निमित्त सन्निधान हुआ है। निमित्त बिना वह फिका नही है, लेकिन निमित्तका ठोकर लगनेके पश्चात् अब वह जो अपने आपमे फिक रहा है, जा रहा है, क्रिया कर रहा है, केवल उतनी परिणतिको निरखकर यह कहा जायेगा कि वह अपनी परिणतिसे फिका जा रहा है, किसी दूसरेकी परिणति लेकर नहीं। यो प्रत्येक पदार्थ अपनेमे, अपना अस्तित्व रखनेमे, अपना परिणमन करनेमे स्वतत्र प्रभु है।

सर्वद्रव्योंमें विशेषतया जीवद्रव्यकी प्रभुता—यह आत्मा प्रभु है और इसकी प्रभुता अन्य सर्व द्रव्योसे अधिक यो बढ गई है कि यह चैतन्यस्वरूप है, समस्त लोकालोकको प्रतिभासनेका इसमे सामर्थ्य है। सर्व व्यवस्था करने वाला यह आत्मा ही है इसलिए यह आत्मा सर्वद्रव्योमे सार और उत्तम द्रव्य माना गया है। यह कितना महान है आत्मतत्त्व, इसको यदि बाहरी पदार्थोंकी उपमा देकर कहा जाय तो नही कहा जा सकता। क्या यह आत्मा इस मध्य लोकसे भी महान है? ऊर्द्ध लोकसे भी महान है और अधोलोकसे भी महान है? अरे यह तो सर्वलोक और अलोकसे भी महान है। लोक तो सख्यात प्रदेशमे है, जहाँ अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल और द्रव्य समाये हुए है इन सबको यह आत्मा जान लेता है। जो शुद्ध आत्मा है, परमात्मा है वह सर्व लोकालोकको और त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जान लेता है, और इतना सब कुछ जाननेके बाद भी इतना और भी असख्यात लोक हो उनको भी

जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् अभी वह ज्ञानशक्ति और भी तैयार है, खाली सी पडी है कि और भी लोक हो तो उन्हे भी जान जाय। तब यह आत्मतत्त्व, यह ज्ञान, यह अंतस्तत्त्व इस लोकसे भी महान है, इसकी प्रभुताका क्या वर्णन किया जाय ? वर्णन नही हो सकता, किन्तु कोई अनुभव करे तो कर सकता है।

प्रभुताकी उपलब्धिके उपायका चिन्तन--बाह्य सर्व विकल्पोको त्यागकर एक अपने आपमे विशुद्ध चित्स्वरूपको निरखे ज्ञान द्वारा, यह केवल चैतन्यमात्र है, इसमे रूप, रस, गध स्पर्श नही है, जिसमे रूपादिक नही है वह किस तरहका होगा ? अमूर्त। तिस पर भी मै चित्प्रकाशमात्र हूँ, मुझमें प्रतिभास है, बोध है, निश्चय है, ऐसा प्रतिभासनेका सामर्थ्य अन्य द्रव्योमें नही है। तो यह जब मैं अपने उस चित्स्वरूपकी संभाल करू, उस वास्तविक प्रभुताकी सभाल करू तो उस निर्विकल्प अनुभूतिके समय जो एक अनुपम आनन्द उत्पन्न होता है, जिस आनन्दमे यह सामर्थ्य है कि इन अन्तरबाह्य विकारोको दूर कर देता है और सदाके लिए ज्ञानानन्दका अनुभव करा देता है। ऐसी निजकी ऋद्धि विभूतिका परिचय हो तो वहाँ वास्तविक प्रभुता प्रकट होती है। मोही जन इस लोकमे जिन-जिन संगोमे अपनी प्रभुता मानते है और जिन जिन विकल्पोमे अपनेको प्रभु समझते है, समर्थ, बडा ऐश्वर्यवान मानते हैं वह सब तो हमारी प्रभुताके आवरण है, घात करने वाले है, इन बाहरी समागमो से अपनेको प्रभु न माने। बल्कि अकिञ्चन अनुभव करे। मैं अकिञ्चन हू। यह वैभव क्या है ? जड पुद्गलकी परिणति है। ये रहे तो क्या, न रहे तो क्या, वे अपने स्वरूपमे ही तो रहते, निकट आकर भी कोई भी पदार्थ, कोई भी अणु मेरे स्वरूपमे नही है। किसी भी अणुसे मेरेमे सुख या दुःखकी किरण निकलकर नही पहुंचती। जो कुछ भी मेरा परिणमन हैं वह मेरेमे है, उस परिणमनमे किसी भी परद्रव्यका परिणमन गया नही है। मै तो एक अत्यन्त निराला हू। सर्वसे विविक्त हू, मुझमे एक अणु भी नही है। ऐसा सर्वसे निराला हू। यो अपने आपको अकिञ्चन निरखे। सतजनोने बताया है कि हे भव्य ! तू इस प्रकार निर्णय करके विश्रामपूर्वक बैठ जा। क्या निर्णय करके कि मै अकिञ्चन हू। मेरा कही कुछ नही है। मै परिपूर्ण निज चैतन्यप्रकाशमात्र हू। इस तरहका सत्य आग्रह करके कभी बैठ तो जाये। इस विश्रामके प्रतापसे तू तीनो लोकोका अधिपति हो जायेगा अर्थात् अरहंत अवस्था प्रकट हो जायगी।

बाह्य पदार्थोंकी ममतामें सर्वतः हानि--देखो भैया ! जब लग रहे है किसी बाह्य पदार्थकी ममतामे, उपयोगमे तो न उस बाह्य पदार्थके रहे, न अपने रहे। दोनोसे गए। बाह्यपदार्थोंकी ममता करके, बाह्य धन वैभवमे लग करके तू क्या उनका कुछ बन जायेगा ? क्या तू वैभववान हो सकेगा अथवा उस वैभवसे तुझे वर्तमानमे अन्तरङ्गमे कुछ लाभ पहुच

रहा है। न यहा का रहा और न अपने परमार्थ आनन्दका रहा, क्योकि बाह्य तरफ दृष्टि लग रही है तो अपनी सुध नही है और अपनी तृप्ति सन्तोष आनन्द नही है तो मोहमे यह प्राणी बाह्य विभूतिसे भी गया और अन्तरङ्ग विभूतिसे भी गया। बाह्यविभूतिसे गया सो गया, उसका खेद न होना चाहिए, क्योकि बाह्यविभूतिसे तो निराला यह शाश्वत है। किसी भी परपदार्थरूप यह नही है, पर खेद इस बातका है कि यह अपनी अनन्त अन्तर्विभूतिसे भी गया। जिसकी दृष्टिमे अपना वैभव नही है वह तो दीन है। भले ही किसीके घरमे, जमीनमे लाखोका धन गडा है, किन्तु उसे पता नही है तो लाखोका धन जिस घरमें है उस घरमे रहते हुए भी वह दीन है। वह दीनताका अनुभव करता है, उसके पास कुछ नही है, उस प्रकारका दु ख भोगता है, इसी प्रकार अपने घरमें अनन्त आनन्दका वैभव पडा है, अनन्त ज्ञान, अनन्त चतुष्टयरूप वैभव पडा है, पर जिसे खबर नही है कि यह मेरा स्वरूप है, मै ऐसा वैभववान हूँ, तो वह बाहरमें दृष्टि लगाकर दीन बन रहा है। अहा ! मेरे पास कुछ नही, अपने से बडे लौकिक वैभववानोको देखकर अपने आपमे बडी दीनताका अनुभव करते है। और, जो जितने वैभव तक पहुच जाता वह अपने को सम्पन्न नही मान पाता कि मै तो अब सब कुछ हो गया हू, अब इससे आगे कुछ न चाहिए। जब कि वे सारे वैभव दगा देते है, नष्ट होते है, पुण्य पापके अनुसार आते जाते है और जिनसे आकुलतायें उत्पन्न होती हैं। किसी भी प्रकारकी वास्तविक प्रभुता इसको नही मिल पाती। वहाँ तो मोही जीव समझते है कि इन बाह्य वैभवोके कारण मै प्रभु हू, ऐश्वर्यवान हू, और जो वास्तविक प्रभुता है, अपने अन्दर अपना जो आनन्दमयस्वरूप बना हुआ है उस प्रभुताको मानता ही नही। तो जो इस प्रभुताको नही मानता उसकी गति है निगोद। और भी गतियाँ है पर वे थोडे कालको रहती है, परन्तु पुन निगोद दशा मिलने पर असख्यातो काल तक रहती हैं। बहुतसे जीव अनादिकालसे निगोदमें है और अब तक नही निकले, वे तो अनन्तकाल निगोदमे रहे। तो जो अपनी प्रभुताकी सभाल न करेगा उसका घर निगोद बनेगा और जो अपनी इस प्रभुताकी सभाल करेगा उसका मोक्ष होगा। ये बीचकी स्थितिया तो इस तरह हैं कि जैसे बाँसके एक पोरमे बीचमे कीडा फसा है और बाँसके दोनो ओर छोरमे आग लगी हुई है, तो उस समय जरा सोचिये कि उस कीडेकी क्या हालत है ? ऐसे ही इस ससारमे जन्ममरण तो जीवके ओर छोर हैं, इन ओर छोरके सकट भी बडे विकट सकट हैं और इस जीवनमे देख लीजिए कितने कितने संकट है ? इन सकटोके बीचमे फसे हुये प्राणीकी क्या दशा है, सो तो विचारिये। इस ससारी प्राणीने अपने आपकी वास्तविक प्रभुताको नही पहिचाना, उसकी सभाल नही किया, यही कारण है कि इसकी ऐसी दुर्गति हो रही है। यह तो यदि अपनी प्रभुताको सभाले तब तो इसका उद्धार होगा, नही तो यही दुर्गति बनी रहेगी। जरा देखिये तो सही

कि हम आपकी प्रभुता कितनी अद्भुत है, अनुपम है ? मै स्वयं हू, स्वय परिणमता हू, अपने आपके गुण पर्यायमे स्वय ही बना हुआ हू, कैसा समर्थ हू । जो मेरा कार्य है उसमे मैं प्रभु हूँ, जो मेरा कार्य नही उसके करनेमे मैं सदा असमर्थ हू । तो इन बाहरी बातोसे अपनेको प्रभु न निरखना, किन्तु अपने अन्त स्वरूपको दृष्टिमे रखकर अपनी प्रभुता जानना । यह मैं पूर्ण समृद्ध हू, मुझमे बाहरसे कुछ नही आता । मैं अपने आपको देखूं, उसीमे रमूं और स्वानुभूतिका आनन्द लेता रहू, बस यही एक सारभूत काम है ।

विकारके कालमें भी प्रभुताकी एक बानगी--आत्मा प्रभु है अर्थात् आत्मा अपने आपके गुणोको अस्तित्त्वको कायम रखनेमे स्वयं ही सिद्ध है, समर्थ है और अपनी विशुद्ध परिणतियोके बनानेमे स्वय ही समर्थ है। आत्मामे जब कषायभाव जगते है तो उनके उत्पन्न करनेमे आत्मा प्रभु नही है अर्थात् होते तो है आत्मामे रागादिक भाव, पर अपनी सामर्थ्यसे केवल अपने स्वभावसे ही उन रागादिकको रच दे, ऐसी प्रभुता वह आत्मा नही रखता, परन्तु यह भी एक प्रभुताका अश है कि परउपाधिका निमित्त पाकर जीवमें कषाय भाव जग जाते है । जब जीवमे कषाय जगते है तब किसी बाह्य विषयको उपयोगमे लेकर जगते है । जैसे लोभकषाय हुई तो बाह्यमे किसी कुटुम्बको विषय बनाकर, धन वैभव आदिक को विषय बनाकर लोभकषाय जगा अथवा क्रोध कषाय जगा तो किसी अन्य व्यक्तिको विषय मे लेकर जिसके सम्बधमे क्रोध जगा है, क्रोध जग गया, परन्तु इस क्रोधको उस व्यक्तिने नही जगाया । इस जीवने स्वय उस व्यक्तिको विषय बनाकर अपने आपमे क्रोध जगाया । तो उस क्रोधका करने वाला वह दूसरा व्यक्ति नही है, और क्रोध करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी वह दूसरा व्यक्ति नही है, किन्तु वह जीव स्वय अपनी अज्ञानतासे अपनेमे क्रोध उत्पन्न कर लेता है । तो इसी प्रकार कर्मोदयका निमित्त पाकर क्रोध जगता है, यह बात यथार्थ है कि परउपाधिका निमित्त न हो ऐसी स्थितिमे क्रोधादिक भाव नही होते है, फिर भी कर्मोदयके सम्बधमे क्रोधादिक जगे और निमित्तनैमित्तिक भाव भी है ऐसा लेकिन उदित कर्मने अपने आपमे ही अपनी अवस्था बनाया है । अपनेसे बाहर किसी दूसरेमे इस उदित कर्मने कोई परिणति नही की, जब यह आत्मा स्वयं ही अज्ञान और भ्रमसे उस प्रकार निमित्त पाकर क्रोधरूप परिणम गया । तो प्रत्येक पदार्थ और आत्मा भी अपनी परि-णति अपने आपके परिणमनसे करते हैं, किसी दूसरेका कुछ लेकर परिणमन नही करते । विकार अवस्थामे भी निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी परिणमने वाला पदार्थ केवल अपने परिणमनसे परिणमता है, किसी अन्य वस्तुका गुण धर्म पर्याय आदिक कुछ नही लेकर अपनी ही परिणतिसे परिणमता है, यह प्रभुता पर विकार आया है । प्रभुताका कार्य तो शुद्ध प्रभुत्व है । ऐसी आत्मामे प्रभुता है कि अपने सहज कार्यमे वह स्वयं ही समर्थ है,

और जब स्वभाव शक्तिकी दशामे जाता है तो वहाँ यह ही नजर आता है कि आत्मा तो केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेमें समर्थ है, उसीका ही यह प्रभु है। इसके स्वभावमें रागादिक नही और न यह रागादिक विकारोको करनेके लिए प्रभु बना है। यह अपने आपके विशुद्ध गुण पर्यायोमे स्वय ही प्रभु है। तो ऐसी अनन्तशक्त्यात्मक अपने आपके गुणपरिणमनमे प्रभुता रखने वाले इस आत्माकी जो दृष्टि करते है उनके ऐसी प्रभुता जगती है कि सर्व लोक सर्व कालकी बातको प्रत्यक्ष जान और देख सके, ऐसे परमात्मा अनन्त है।

जीवमें विभुत्वशक्तिका प्रकाश—आत्मा अनन्तशक्त्यात्मक है और जहाँ ही आत्माकी एक शक्ति है वहाँ ही आत्माकी अनन्त शक्तियाँ पडी है और वे अनन्त शक्तियाँ आत्मप्रदेश से एक प्रदेश भी बाहर नही है। और आत्मा उन अनन्त शक्तियोसे भिन्न कोई आधारभूत पृथक् चीज नही है, इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा उन अनन्त शक्तियोमे विभु है, व्यापक है और जब आत्मा उन अनन्तशक्तियोमे व्यापक होकर एकभावरूप है, तो उससे यह भी सिद्ध हुआ कि वे समस्त अनन्त शक्तियाँ भी प्रत्येक शक्तियोमे व्यापक हैं। जब एक ही जगह ज्ञानगुण रह रहा है और उसही जगह दर्शन आनन्द श्रद्धा आदिक रह रहे है तब तो यही बात हुई कि एक गुणमे सर्व गुणोका समूह बन गया। एकमे सर्व व्यापक है। एकमे एक है, एकमे अनेक है। जब स्वरूपको देखते हैं ज्ञानका स्वरूप तो केवल जाननमात्र है। आनन्दका स्वरूप आल्हाद है तो स्वरूपसे जब भेद करते है तो एक शक्तिमे एक ही पायी जा रही है, लेकिन जहा आधार तकते हैं तो वह आधार भी शक्तियोसे निराला नही है। जैसे एक घडा हो और उसमे बहुतसे चने भर दिए जायें, इस तरहसे चनोसे पृथक् घडेका आधार है, यो अनन्त शक्तियोसे पृथक् कोई इसमे आधार है ऐसा नही, किन्तु अनेक शक्तियो स्वरूप ही यह आत्मा है।

एक गुणका सर्वगुणोंपर प्रकाश—जब अनन्त शक्तियोमे यह आत्मा व्यापक है तब एक शक्तिमे अन्य सर्व शक्तियाँ व्यापक हैं, यह भी विदित होता है जैसे एक आत्मामे अस्तित्त्व गुण है तो जितने भी गुण है सबमे अस्तित्वका प्रकाश है। सब अस्तिरूप हैं। देखिये ज्ञान गुण है तो सर्व गुणोमे ज्ञानका प्रकाश है। ऐसा नही है कि अन्य गुण जड हो गए हो और ज्ञान गुण ही एक चेतन हो। हा स्वरूपदृष्टि जब करते है तो स्वरूप अवश्य ऐसा है कि अस्तित्वका स्वरूप सत्तामात्रका है जाननेका नही है। लेकिन जब ज्ञानमय पदार्थमे अस्तित्व गुण है तो वह अस्तित्व गुण भी ज्ञानगुणकी विभुतासे दूर नही है। यो एक गुणमे सभी गुणोका प्रकाश चल रहा है। जब आत्मामे सूक्ष्मत्व गुण है तो ऐसा न होगा कि सूक्ष्मत्व गुण ही सूक्ष्म रहेगा, ज्ञान दर्शन आदिक स्थूल बन जायेंगे। सूक्ष्मत्वगुण का प्रकाश सब जगह है। सूक्ष्मत्व गुण उसे कहते हैं जिसके कारण आत्मा सूक्ष्म रहे।

जब आत्मा सूक्ष्म है तो आत्मामे जो अनन्त शक्तियाँ है वे सब सूक्ष्म है, क्योकि अनन्त शक्तियोका पिण्ड ही तो यह आत्मा है। आत्मामे जो भी एक शक्ति है उस शक्तिका प्रकाश सर्वगुणोमे है और सर्व गुण सर्व गुणोमे परस्पर व्याप रहे है, क्योकि उनका आधार निराला नही और वे शक्तियोके जुदे जुदे प्रदेशोमें नही रहते। इस तरह यह आत्मा सर्वगुणोमें व्यापक है और आत्माके प्रत्येक गुण सर्वगुणोमे व्यापक है और आत्मामे व्यापक है, इस दृष्टिसे विभुत्व शक्ति द्वारा यह परिचय होता है कि आत्मा सर्व भावोमे व्यापक होकर एक भावस्वरूप है।

आत्मस्वरूपकी रागादि विकारमें अविकृता--यहाँ विभुताकी बात कह रहे है। एक गुण सर्वगुणोमे व्यापक है और रागादिक विकार ये तो सर्वगुणोमे व्यापक नही है। और, रागादिक विकार जिस गुणकी पर्याय हैं चारित्र गुणकी पर्याय है।

तो ये राग विकार उस चारित्र शक्तिमे भी व्याप गया हो ऐसा भी नही है। विकार होकर भी चारित्र शक्तिमे रागादिक व्याप जाये तो शक्ति तो अनादि अनन्त है। तब राग भी अनादि अनन्त बन जायगा। शक्तिमय राग नही बन गया। शक्ति होनेके कारण उपाधिका सन्निधान पाकर विकारभाव जगा है, पर विकार स्वयं राग शक्ति स्वरूप नही बन गया है, क्योकि शक्ति तो स्वभावरूप है और राग स्वभावरूप नही है। तब यह दृष्टि जगती है कि रागादिक होते है वे अग्राह्य है, हेय है, मेरे स्वरूपमे इनकी प्रतिष्ठा नही है, उपाधि पाकर हुए है। ये विपरीत स्वभाव वाले है, और इनसे मेरेको कोई शरण नही मिलनेका। ये रागभाव मुझे शरण न देगे। मोही जीवोको ऐसा लगता है कि ये घरके लोग, ये मेरे प्रेमी जन ये ही मेरे सब कुछ है, इनसे ही मेरा पूरा पडेगा। ये ही मेरे लिए शरण है, इनसे ही मेरी रक्षा है आदि। पर ये मोही जन ऐसा नही समझ पाते कि हम वास्तवमे इन ही के कारण तो अरक्षित बने हुए है। किसी व्यक्ति, मित्र, कुटुम्ब आदिकमे रागभाव बनाकर हम अपने आप जो वर्तमानमे क्षुब्ध हो रहे हैं, इनसे शरण नही है। जिन्हे शरण समझ रखा है वे तो अशरण हैं। लोग सोचते हैं कि मेरे इतने मित्र होंगे तो मेरा कोई बाल नही बाँका कर सकता। मेरे इतने लोग समर्थक होगे तो मेरा कौन बिगाड कर सकेगा। मेरे पास इतना वैभव होगा तभी मेरी रक्षा है, फिर कोई मेरा बिगाड करनेमे समर्थ नही है। अरे जहाँ मान रहे कि मेरा बिगाड नही हो रहा उन्ही विकल्पोसे बिगाड हो रहा है, क्योकि ये भ्रम वाले भाव है। यह जीव इन सबसे निराला है, ये कुछ भी मेरा करनेमे समर्थ नही हैं, ये मित्रजन, ये कुटुम्बी जन, ये वैभव, ये लोग मेरे आत्माका कुछ भी परिणमन करनेमे समर्थ नही है। मैं स्वय सत् हूँ, परिणमनशील हू, मैं निरन्तर स्वय परिणमता रहता हूँ। हाँ परिणमनकी बात विशेष यह है कि जिनसे मैं अपनेको

शरणभूत मानता हू उनसे मैं विकाररूप परिणम रहा। तो विकार ही अरक्षा है, निर्विकार दशा होना यही वास्तविक रक्षा है। तो अब इतना तो कमसे कम हम महसूस करें कि धर्ममार्गसे हम दूर रहा करते है और विकल्प करके अन्यसे रागद्वेष करके या विचार विमर्श बनाकर स्वभावकी सुध भूलकर हम अपने आपकी कितनी बरबादी कर रहे है ?

धर्मका मूल आत्मस्वभावका परिचय—धर्म होता है तब जब कि अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी पहिचान हो, क्योकि शान्तिका आधार तो वह शुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्मतत्त्व है। अन्यकी दृष्टिसे शान्तिका उदय हो ही नही सकता, क्योकि जब यह दृष्टि हमारा उपयोग इस अमृत सागरसे, जो मरे नही ऐसा चैतन्यभाव वही है अमृतसागर, वहाँसे चिगकर जहाँ बाहरमे दृष्टि लगा रहे है, बाहर किसमे दृष्टि लगा रहे—जो मृत है, विनाशीक है वहाँ दृष्टि लगा रहे है तो ऐसी बाहर दृष्टि रखने वालेको चैन कहाँसे मिल सकती है ? जैसे मछली जल मे बसा करती है तो वह अपनी लीला विलासमै बनी रहा करती है, जब वह जलसे बाहर निकल गई तो अब उसकी रक्षा कैसे ? वह तो क्षुब्ध होगी और वह मर ही जायगी। तो ऐसे ही हम अपने आपमे निवास कर रहे और यहाँके निवासमे ही हम अपनी लीलामे अपने विलासमे तृप्त रहते हैं, आनन्दमय रह सकते हैं। जब अपने ही अमृतसागरसे चिगकर कही बाहर लग गये, बाह्यविषयोमे दृष्टि लगाया तो फिर हमारी रक्षा कहाँ है ? हम तो क्षुब्ध ही है।

आकिञ्चन्यभावसे अनुपम महत्त्वका विकास—भैया ! यह सब अधेरा है। जहाँ कि अपनेको महान (बडा) समझ लिया जाता है। हम अच्छी जातिके है, उत्तम कुलके है वैभववान हैं, प्रतिष्ठावान है, हम लोगोमे बडे महत्त्वके ढगसे रह रहे हैं, हम रोज धर्म भी करते है आदिक कुछ बातें सोच करके अपनेको कोई महान समझे तो वह तो महान अधेरा है। अपनेको जब इस सारी दुनियासे ऐसा अपरिचित समझ लें जैसे मानो मैं इस मनुष्यभव मे न होऊँ किसी अन्य भवमें होऊँ तो यहाँके लोग मुझको क्या जानते ? इसी तरह इस भवमें भी रहकर मैं इन सब मनुष्योके द्वारा अपरिचित हूँ। मेरेको कोई नही समझ रहे है, क्योकि जो मैं हू आनन्दमय अहेतुक ज्ञायक स्वभावरूप अमूर्त उसे लोग कहाँ समझ रहे ? और कोई ज्ञानी जन यदि समझते भी होगे तो वे अपनी समझके बन गए। इस मुझ व्यक्तिका उनको परिचय क्या ? उनको तो एक सर्वसाधारण चैतन्यस्वरूपका ज्ञान है, वे तो निश्चयत अपना ही ज्ञान कर रहे है, इस ढगकी वृत्ति जगी है, तो ज्ञानी जन हो वे भी मुझसे परिचित नही, अज्ञानी जन हो वे भी मुझसे परिचित नही, ज्ञानी जन इस साधारण ज्ञानस्वरूपसे ही तो परिचित है, वे इस पर्यायका व्यक्तिरूपसे तो परिचय नही कर रहे हैं।

तो यहाँ किनमे अपनेको महत्त्वशाली समझें ? और अपने स्वरूपसे चिगकर विकल्पोमें रहे ? जितने जो भी लोग कष्ट सह रहे है वह धनार्जनके लिए सह रहे है। धनार्जनमे बहुत कष्ट है। लोकव्यवस्थामे भी बडा कष्ट है। ये सब कष्ट लोग किस लिए किया करते है ? उसका केवल एक ही भाव है कि ये दुनियाके लोग मुझे समझ जायें कि यह भी कुछ है। इनमे हमारी प्रतिष्ठा बनी रहे, इस तरहकी भीतरमें एक गाँठसी बना ली है। तो अज्ञानमय भावके प्रसादसे ये सब नृत्य हो रहे है। आकिञ्चन्यभावको अमृततत्त्व कहा है। मैं अकिञ्चन्य हू। देखिये जहा आकिञ्चन्य भावकी पूर्ण सिद्धि होती है वहाँ ही पूर्ण ब्रह्मचर्य की सिद्धि है। जहा हमने जाना कि मैं बाह्यसे अत्यन्त भिन्न हू, मेरा कही कुछ नही है ऐसे ही पुरुष अपने इस अन्त ब्रह्ममे पूर्ण रूपसे लीन हो सकते है और जिनमे यह गाँठ लगी है कि मेरा तो इससे लाभ है, किसी भी बाह्य वस्तुके प्रति जिनके तरंग उठ रही है वे ब्रह्ममें लीन नही हो सकते। तो आकिञ्चन्यभाव है सो अमृत है। कुछ न चाहना, कुछ न मानना, बाहरमे कही भी मेरा कुछ नही है, इस प्रकारकी जो भीतर दृढ प्रतीति हो वहाँ ही आकिञ्चन्य भाव ठहर सकता है, और जो बाहरमे अपनेको कुछ अच्छा कहलवा रहे है, अपनेको कुछ मान रहे है वे कुछ कुछ ही रह जायेगे, महान नही हो सकते, आनन्दमय नही हो सकते। तो अकिञ्चन्य भाव, मेरा मात्र मैं ही शरण हू।

स्वायत्त शाश्वत अनन्त वैभवके मिलनका आनन्द--अहा, अपने स्वरूपमे कितना अनन्त वैभव है ज्योतिस्वरूप यह मैं अपने आपके लिए परिपूर्ण सर्वस्व अपने आपमे निरन्तर अपनी अपनी लीला करने वाला और दूसरोके द्वारा खण्डित न हो सके, जो किसीके द्वारा छेदा भेदा न जा सके ऐसा मैं सुरक्षित कभी भी किसीके द्वारा बाधित न होने वाला, अपने आपमे अनन्त गुण ऋद्धियोका पुञ्ज हू इस ही तत्त्वपर जब दृढ दृष्टि होती है तो ऐसे ज्ञानी सतोको एकान्तमे कभी ऊब नही आती। निर्जन वनमे रहकर वे कैसा तृप्त रहा करते है ? अत. प्रसन्न रहा करते हैं। उनको क्या बल मिला है ? एक चक्रवर्ती छह खण्डका वैभव छोडकर गया। हजारो राजाओ द्वारा प्राप्त होने वाले सेवा सम्मान आदिको छोडकर गया, हजारो रानियोके प्रेमयुक्त वचनोको छोडकर गया, सबके द्वारा सेवित हुआ उन सबको छोड़कर गया। अब निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्राधारी वह मुनि जगलोमे किस बातके कारण प्रसन्न रहा करता है ? उसे एक ऐसा ज्ञानबल मिला है कि जिसके कारण वह तृप्त है, पिछले भोगे हुए भोगोका वह ख्याल तक भी नही करता। उसे तो एक ऐसी ज्ञाननिधि प्राप्त हो चुकी है कि पिछले भोगे हुए ठाठबाटोका रंच भी वह स्मरण नही करता। उसे मिला है अपने आपका स्वरूप, उसे मिले है परमात्मस्वरूपके दर्शन। वह अकेला कहाँ है ? वह तो अपने

आपमे बसे हुए गुणोके साथ है। क्योकि उसकी दृष्टिमे अनन्त गुणात्मक भगवान आत्मा बस रहा है। वह अकेला कहाँ है ? वह बेकार कहाँ है ? निरन्तर आत्मामे पुरुषार्थ चल रहा है। अनन्त पुरुषार्थ चल रहे है, सत्य पुरुषार्थ चल रहा है। जरा भी क्षोभ नही, रच आकुलता नही। अपने आपके ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया जा रहा है। और हो क्या रहा है ? साथ ही साथ भव-भवके बाँधे हुए कर्म खिर रहे हैं। जिसने कर्मनिर्जरणकी प्रक्रिया जाना है वह जानता होगा कि कर्मोंकी कितनी तेज उछल पुछल होती है, कितना कर्मोका निर्जरण होता है ? कैसे कर्मोंकी स्थिति बँध जाती है, कैसे उनका खण्डन होता है, जिसकी उपमा बाहर कही नही मिल सकती। कर्मनिर्जरण हो रहा है, सकट अब उसके हट रहे हैं। देह का भान भी उसे अब नही है। तो वजन भी क्या हो ? अपने आपके उस विशुद्ध ज्ञान ज्योतिस्वरूपमे लीन हो रहा है। प्रसन्नता आनन्द तो वहाँ है वास्तविक।

ज्ञानीका अन्तःप्रकाश---इस मनुष्यभवमे आकर उसके लिए धुन न बने तो जैसे अनन्त पर्याये पायी गई है, पर्यायोका ताता लगा रहा ऐसे ही यह मनुष्य पर्याय प्राप्त की, यहाँसे मरेंगे, फिर पर्यायोका ताँता लगा रहेगा। यहाँ जो कुछ दिखनेमे आ रहा है वह सब धोखेसे भरा है, पर ज्ञानी होकर भी इस गृहस्थीमे बस क्यो रहा है ? ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी क्यो यहाँ व्यापारादिकको किया करता है ? उत्तर इसके अनेक हो सकते है ? एक तो उत्तर यह है कि कौन कहता कि लग रहा है ? ज्ञानी गृहस्थ घरमे कहाँ बस रहा है ? देखिये जो शब्द बोला जाय उस शब्दका जो अर्थ हो उस अर्थसे भरे हुये ही तत्त्वको लेना हैं। जैसे कोई पुरुष पढाता है अत पडित है, रोजिगार भी करता है अत व्यापारी है, फिर भी जब उसे पण्डित कहेगे तो पण्डितके कामसे ही उसका सम्बन्ध जोडना, व्यापारको न लगाना। ज्ञानी पुरुष उसे ही कहते हैं जो अपने ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानको लिए हुए हो, जिसके ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ही बस रहा हो, उसकी ही धुन लग रही है तो भले ही कर्मविपाकवश ये सब बातें होनी पड रही, मगर उनका अन्तरङ्ग छूकर बताओ कर कौन रहा है ? और भी उत्तर सुनो—कर्मविपाकवश विकल्प करना पडता है। वह चाह भी करता है, ये सब किए जानेपर भी इस बातमे अनुराग नही है, रुचि नही है, रुचि तो निज ज्ञानस्वभावकी ओर ही है। तो ऐसी स्थितियाँ आती हैं, फिर भी अपनेको ऐसी शिक्षा लेना है कि इस बाहरी दुनियासे अपना लगाव न रखें कि इसने बुरा कह दिया तो मेरा क्या होगा ? किसीके कुछ कहनेसे मेरा सुधार बिगाड नही है। मैं ही अपने आपको समझूँ, अपनेको निरखकर अनुभव करूँ, उससे आनन्दका मार्ग मिलेगा, बाहरी लोगोकी मोह ममतासे आनन्दका मार्ग नही मिल सकता।

सर्वदर्शित्वशक्तिका तेज---जितने भी आत्मा हैं सभीमे ज्ञान और दर्शन पाये जाते

है। ज्ञानके कारण तो सबको जानते है और दर्शनके कारण सबका सामान्य प्रतिभास करते है। जैसे हम आप लोग जानते है तो जाननेसे पहिले कुछ झलक होती है, उस झलकके बाद जानते है। तो जो सामान्य झलक है उसे दर्शन कहते है। दर्शन और ज्ञान ये सब जीवोमे पाये जाते है, जिन्हे यह खबर हो गई कि मेरा स्वरूप दर्शन ज्ञान है और उस दर्शन ज्ञानका ही मैं काम करता हू, और कुछ नही करता, बाहरी पदार्थोसे मेरा कोई सम्बध नही है। मैं अपने आपमे अपनेको समझता रहता हू और जानता रहता हू, बस यही किया करता हू, तो ऐसी जहाँ शक्ति पायी जाती है उसे कहते है सर्वदर्शित्वशक्ति। याने प्रभु तो सर्वदर्शी है, तीन लोक तीन कालके जितने भी पदार्थ है सबका ज्ञान करने वाले अपने आत्माको एक साथ झलकमे ले लेते है। जिसके साथ ही सारे पदार्थ भी सामान्यरूपसे प्रतिभासमे आते है। तो हम आपमे ऐसी दर्शनशक्ति है जिसका पूर्ण विकास यह है कि जगतमे जितने जो कुछ पदार्थ है सबको देखे। जब हम आपमे देखनेका स्वभाव है तो वहां यह मर्यादा नही है अपनी ओरसे कि हम इतना ही देख पायें, इससे आगे नही। आज जो हम आपमे देखने की म्याद बनी है वह कर्मोदयसे बनी है। हमारे स्वभावमे तो सबको देख लेनेकी शक्ति है। ऐसी जो प्रभुमे सबको देखनेकी शक्ति है वह पूर्ण प्रकट हो गयी है, हम आपमे पूर्ण प्रकट नही है। हम कुछ ही देख पाते हैं, सर्व कुछ देखनेमे नही आता। तो विश्वके सारे पदार्थों का सामान्यरूपमे प्रतिभास ले ले ऐसी शक्तिका नाम है सर्वदर्शित्वशक्ति।

जीवकी शक्तियोंके विकासकी बाधाओंका मार्गण—हम आपकी जो शक्तिया प्रकट नही है इनमे बाधक है रागद्वेष मोह। याने जीव मोह न करे तो इसका क्या बिगडता है ? कुछ भी तो इसका बिगाड नही है, फिर भी सस्कार ऐसा लगा हुआ है कि मोह करनेमे ही यह मौज मानता है और मोह छोडनेमे, वैराग्यकी स्थितिमे आनेमे इसको कष्ट मालूम होता है जब कि बात इसके उल्टी है। जीवको आनन्दस्वरूप वैराग्य रहनेका स्वभाव है इस कारण वैराग्यमे कष्ट न रहनेका स्वभाव है, इस कारण वैराग्यमे कष्ट न होना चाहिए। और राग करना इस जीवका स्वभाव नही है। तो रागमे तो कष्ट मानना चाहिये। पर जीवको ऐसा संस्कार पडा है तो इसको राग सरल और वैराग्य कठिन लग रहा है। अपना जो रागभाव है यह ही हमारी दर्शन ज्ञानशक्तिको दबाये हुए है। अगर राग न हो तो यह ही हमारी शक्ति ऐसी प्रकट हो जाय कि सारे विश्वको जानें। तो ऐसा भगवानसरीखे बननेकी हम आप सबमे सामर्थ्य पडी है, अपनी उस सामर्थ्यकी जो सुध लेगा वह भगवान बन जायगा, और जो अपनी सुध न लेगा वह ससारमे रुलता रहेगा। तो ऐसे सर्व पदार्थोंको देखनेका जो सामर्थ्य है बस यही प्रकट हो गया, इसीके मायने भगवान है। भगवानमे और हममे यही अन्तर है। हमारे पूरा ज्ञान नही है, दर्शन नही है और प्रभुके

पूर्ण दर्शन है, पूर्ण ज्ञान है और वे वीतराग है, यहाँ रागका फैलाव है, यही हममे और प्रभु मे अन्तर है। यह अन्तर जैसे मिटे वैसा उपाय बनाया जाय तो हम आप भी प्रभु हो सकते है। यहाँ जो कुछ भी अनुभव लोगोको होता है वह पर्यायमे दृष्टि रखकर होता है। मैं अमुक हू, ऐसी पोजीशनका हू, अमुक कुल वाला हू आदि, ये सब तुच्छ बातें है, ये ही विकास की बाधायें हैं।

लोकसमागमसे विरक्त होकर प्रभुवत् आत्मस्वरूपकी सम्हालका कर्तव्य—ससारमे रुलते-रुलते कभी कुछ योनि मिली, कभी कुछ, तो ये सब तुच्छ बातें है। महत्त्वकी बात तो अपनी आत्माकी शक्तिकी सभाल है। कोई अपने आत्माकी सुध लेना चाहे तो अभी भी ले सकता है, पर उसके लिए कुछ थोडा स्थूल रूपसे इतना ज्ञान तो चाहिए कि जगतमे जितने भी समागम है वे सब नष्ट हो जायेंगे। इन समागमोसे मेरा कुछ भी पूरा नही पडनेका। बल्कि इस समागमके ही कारण हमे दुःखी होना पडता, कष्ट सहना पडता। तो ये समागम मेरे लिए क्लेशकारी है, इतना बोध हो और फिर इस समागमसे अपना दिल हटा लें, मुझे कुछ न चाहिए, मेरा यह समागम कितने दिनोका समागम है? और, इससे फिर लाभ क्या है? इन समागमोमे राग होनेके कारण आत्माका स्वरूप ढक गया है इसलिए इन समागमोकी हमे आवश्यकता नही है ऐसा जानकर जो यहाँसे रागको छोडेगा, किसीको भी अपने दिलमे न बसाये, अपने आपमे शुद्ध आराम लें तो इस आरामके प्रतापसे ये शक्तियाँ प्रकट होगी। हम आपकी शक्तियाँ वे ही है जो प्रभुमे है। अगर यह श्रद्धा नही करते तो प्रभुका दर्शन, प्रभुका पूजन फिर ये सब किसलिए किए जा रहे है? इसीलिए पूजा है कि हम समझ लें कि ये प्रभु सुखी है, सर्व कर्मोसे दूर हैं, अनन्त आनन्दमे है, उनके पूरा ज्ञान प्रकट हुआ है। पूर्ण दर्शन प्रकट हुआ है, तो ये ही शक्तियाँ हममे है, हम आप भी ऐसे ही हो सकते हैं और सार बात इसी पदमे है। सर्व झझटोसे छुटकारा इसी पदमे मिलता है, यह हम आपको श्रद्धान हो तो प्रभुपूजाका भी बहुत लाभ है और यह श्रद्धान नही है, केवल इसीलिए प्रभु पूजन करते है कि हम लोकमे सुखी रहेगे तो ऐसी प्रभुपूजा करनेसे पुण्यबध तो होता है, इससे कुछ आराम तो मिलेगा, पर मुक्तिका मार्ग तो न मिलेगा।

लोकसमागमकी अहितरूपता—यहाँ की बात तो यह है कि बहुतसे लोग भगवान को जानते ही नही। जो लोग न किसी देवी देवताको मानते, न भगवानको मानते (जैसे अमेरिका वाले) तो वे भी तो बडे सुखी समृद्ध पाये जाते है। तो यह नियम तो न रहा कि जो भगवानकी पूजा करे वही धनिक, सम्पन्न हो सकेगा। यह धन वैभव आदिका मिलना, न मिलना तो सब पूर्वकृत पुण्यपाप आदिके कर्मका फल है। पर प्रभुको प्रभु सही रूपमे मानें, उनके गुणोका स्मरण करे तो उनको यदि शुद्ध ज्ञान है तो उनके कर्मोकी निर्जरा होगी,

मोक्षके मार्गमे लगेगे। और, यदि ज्ञात नही है तो भी मद कषाय होनेसे ऐसा पुण्य मिलेगा कि आगामी कालमें इसको सुख समागम मिलेगा। तो ये बाहरी समागम ये मेरे लिए हितके नही है। मेरा हित तो मेरे आत्माके स्वरूपमे बसा हुआ है। यो भी समझ लो कि आत्मा को सुख शान्ति तब ही नो मिलती जब कि सुख शान्तिका गुण उसमे भरा हो। ये पत्थर लकडो आदि जो दिखते है इनमे सुख तो नही नजर आता। जिसमे सुख हो उसमे ही सुख प्रकट हो सकता है। जिसमे शान्ति हो उसमे ही शान्ति बन सकती है। तो हममे जब शान्ति बनती है और हम शान्त होना चाहते है तब ही तो हो सकते है। जब हममे शान्ति पडी हो। तो पडी है शान्ति, प्रत्येक जीव अपने आपमे आनन्दमग्न है। केवल एक बाहरी चीजोकी ममता बढाई है इससे दुःखी हो रहे है, वैसे दुःखका कोई कारण नही। अभी अपनेको मानले कि मैं सबसे निराला हूँ, केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा न भाई है, न पुत्र है, न स्त्री है, न धन वैभव है। शरीर भी मेरा नही। इस शरीरसे भी निराला केवल मैं एक चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसा अभी भी मानकर रह जाये तो यहा भी सकट मिट जाये।

रागके विनाशमें ही शान्तिका अभ्युदय--भैया! संकट तो रागके लगे है। राग नही तो सकट नही। कितना आत्मा ऐसी उलझनमे पडा है कि मेरेको तो बहुत संकट है, बडे राग लगे है, बडे झझट है। मेरा दुःख दूर हो। तो दुःख दूर होनेका थोडा ही तो सुख दूर होनेका थोडा ही तो उपाय करना है कि पहिले यह समझ लेवें कि यहा मेरा कही कुछ नही है। इस समझके साथ तो शान्ति है और जहाँ माना कि यह मेरा है बस उसीके साथ अशान्ति है। अब यह बात तो जब हम आप अभ्यास करेंगे, ऐसी ही बातको बराबर विचारेंगे तो यह बात बन सकती है। पर अघोरे ही बन जाये और धन वैभव या बाहरी समागम इनमे ही लगे रहे तो यह चीज कैसे प्राप्त हो सकती है? तो आत्माको शान्ति चाहिए तो आत्मामे शान्ति है ऐसा श्रद्धान करना होगा। आत्मा कैसा है इसकी झलक लेना होगा। जब हम आत्माका दर्शन पा लेगे तो हमारे सब संकट दूर हो जायेंगे। जब तक आत्मदर्शन नही है तब तक कितने ही उपाय कर लिए जाये, शान्ति नही प्राप्त हो सकती। जो बडे बडे करोडपति अरबपति लोग है उनको भी देखिये—कितना झझटमे है, कितना व्याकुल है, कितना अशान्त है। और, कभी कभी तो वह धनिक ऐसा भी सोचने लगता है कि हमसे तो ये हमारे साधारण नौकर लोग अच्छे है, सुखी हैं। तो यहाँ के ये सुख दुःख बाहरी समागमोके साथ नही हैं। उन बाहरी समागमोके प्रति अगर राग है तो दुःख है और अगर राग नहीं है तो शान्ति है। तो पहिले इतना बोध बना लें कि यहाँके जितने भी बाह्य समागम हैं इनमे कुछ सार नही है, इनमे हितका कोई काम नही, तो इनसे दूर रहनेमे ही फायदा है। मैं इनको दूर हटाता हूँ। मैं अपने चित्तमे किसी भी

परपदार्थका राग नही बसाता हूँ। मै केवल अपने स्वरूपको निहारता हू। अपने आपको देखे। अपने आपमे रमे, अपने आपमे तृप्त हो तो हमको परमात्मपद मिलना आसान हो जायेगा। और, परमात्मा होनेमे ही सार है। बाकी कुछ भी बन जाय, किसी भी बातमे रच भी सार नही है। मैं हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ। शुद्ध चेतना जो एक ज्योति है, जहाँ प्रतिभास है बस वही मात्र मैं हू, ऐसी श्रद्धा करके रह जावें तो भीतरसे ऐसी शक्तियाँ उछलेंगी, ऐसा विकास प्रकट होगा कि जो विकास असंख्यात भवोके बाँधे हुए कर्मोंको नष्ट करता हुआ होगा। तो हमे उस विकासकी ओर जाना चाहिए और उससे अपना जीवन सफल कर लेना चाहिए, नही तो ऐसा मनुष्यभव मिला यह कितने दिनोका है? वह समय आने वाला है जब कि इस शरीरको छोडकर जायेंगे, फिर क्या होगा? जरा उस अगले आत्माकी भी तो खबर लो। खाली यहाके समागम ही तो कुछ नहीं हैं, आत्माकी सुध लो। जो आत्मा इस देहको भी छोडकर जायेगा उसका फिर यहा का अन्य कोई मददगार न होगा। मेरा मददगार है यह प्रभुदर्शन। यह भगवान आत्मा स्वय प्रभु है, समर्थ है, ज्ञानज्योतिर्मय है। इस चैतन्यस्वरूप आत्माको समझने मे ही जीवन सफल है, बाकी यहा वहा की चीजोके सुधार बिगाडमे जीवनकी सफलता नही है।

दर्शनशक्तिका विवेचन——आत्मामे एक दर्शनशक्ति है जिससे हम आत्माकी झलक लेते है। पदार्थोंको सामान्यतया सत्रूपमे कि "है" है" इतना मात्र जो "है" जानता है बस वही दर्शन है। यही दर्शन जब आवरण दूर हो जाते हैं तो यह पूर्ण प्रकट हो जाता है। तब उसे कहते है सर्वदर्शी। भगवान सर्वदर्शी है, सर्वको जानने वाले आत्माको जिन्होने देख लिया उन्होने सबको देख लिया और उस दर्शनमे सर्वपदार्थ एक सत् सामान्यरूपसे निरखनेमे आ गए। ऐसी सर्वपदार्थोंको देखनेकी शक्तिका नाम है सर्वदर्शित्व शक्ति। अभी जो कहते है कि हम आखो देखते है तो आखोसे जो हम देखते है इसका भी नाम जानना है। इसे देखना नही कहते। आखोसे जो हमने देखा, जिसे हम कहेंगे कि यह रूप देखा, यह हरा है, यह आकार देखा, यह इतना लम्बा चौडा है, यह तो सब ज्ञान है। इस ज्ञानसे पहिले जो हमे इतनी झलक मिली थी कि 'है' 'है' का जो झलक था वह दर्शन है। तो सारे पदार्थोका सत्त्व जहाँ प्रतिभास हो उसे कहते हैं केवलदर्शन। सारे पदार्थोंको जानने वाले आत्माका प्रतिभास हुआ उसे कहते हैं केवलदर्शन तो ऐसे केवलदर्शनकी शक्ति हम आपमे है। जिस दिन आवरण दूर होगे बस उसी दिन वह शक्ति प्रकट हो जायेगी। भगवानमे ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति ये पूर्ण प्रकट है। और, हम आपमे ये अधूरे है, इतना ही अन्तर है, आत्मा और प्रभुमे। तो यह अधूरापन मिटे कैसे? मैं अधूरा नही हूँ। मैं परिपूर्ण हू, मेरा स्वभाव है ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। ये कही बाहरसे

नही लाना है। ये मेरेमे है, तो ऐसा अपने आपको जब हम अपनी दृष्टिमे लेगे तो ये सब बाते प्रकट होगी।

बाह्य पदार्थोंके लगावकी स्थिति तक शान्तिकी असंभवता--भैया ! जब तक हम यह जानते है, मानते है कि मुझे वैभवसे, परिवारसे, बाह्य पदार्थोंसे सुख मिले तब तक आनन्द नही मिल सकता। वहा भी देखिये जैसे धन वैभव लोगोको रुचता है और ऐसा सोचते है कि मुझे इस धनसे ही सुख मिलेगा। इन सोना, चादी आदिसे या बाहरी ठाठ बाटोसे सुख मिलेगा तो पहिले यह बताओ कि वे मकान, धन दौलत, सोना चादी आदिक मे कोई सुख नामकी चीज भरी है क्या ? जिससे इस जीवको सुख मिले ? अगर लोटामे पानी भरा है तो लोटासे पानी मिल जायेगा, अगर शीशीमे तैल है या सरसोमे तैल है तब तो वह मिल जायेगा और अगर नही है तो कहासे मिलेगा ? जहा जो चीज हो वह वहीसे मिलेगी। तो इतना निर्णय कर ले कि इन धन वैभव, ईंट पत्थर आदिमे कुछ भी सुख नही भरा है। इन पौद्गलिक पदार्थोंमे तो रूप, रस, गध, स्पर्श आदि पाये जाते है तो फिर वहासे सुख कैसे मिलेगा ? सुख तो वहासे ही मिलेगा जहा सुख भरा हो। कहा सुख भरा है ? अपने आत्मामे। आत्माम आनन्द भरा है, और भरा क्यो है, आनन्द आत्माका स्वरूप ही है, आत्माका ज्ञानानन्द स्वरूप है, यह श्रद्धामे ले ले तो वहा धर्म मिलेगा और फिर आत्मा शान्त रहेगा। तो आत्मामे स्वयं आनन्द भरा है जिसमे आनन्द भरा है उसीकी भक्ति करे तो आनन्द मिलेगा। जहाँ आनन्द नही भरा है उसकी भक्तिसे आनन्द कैसे मिल सकेगा ? इन जड वैभवोमे आनन्द नही भरा है तो इनकी उपासनासे आनन्द न मिल सकेगा। और, आत्मामे आनन्द बसा हुआ है तो आत्माकी उपासना करनेसे आनन्द मिल जायेगा।

अपने यथार्थस्वरूपके अवगम व अनुसरणसे शुद्ध चिद्विकासका लाभ--जीवमे यह स्वभाव पडा है कि वह अपनेको कुछ न कुछ मानता रहे। अपनेको कुछ माने बिना कोई रहता नही, जो पशु पक्षी है वे भी अपनेको कुछ मानते है, तभी सुख दुख आदिक सभी उनके साथ चलते है। कीडा मकौडा भी अपनेको कुछ मानते है, मनुष्य भी अपनेको कुछ मानते है। बस यही निर्णय बनाना है कि हम क्या मानें अपनेको जिससे कि हमारे सब सकट मिट जायें ? सकट मिले या आनन्द मिले, ये सब इस बातपर निर्भर है कि हम अपने को किस रूप मानें। जहाँ हम अपनेको किसी मिथ्यारूप मानते है वहाँ सकट है और हम वास्तवमे जो हैं उस ही रूप मानते हैं तो वहाँ सुख है। तो अब सोचिये कि हम कैसे है ? लोग तो इस शरीरको ही निरखकर कहते है कि मै मोटा हू, पतला हू, गोरा हू, काला हू आदि, बस यह मान्यता ही दुखका कारण बन जाती है और जहाँ अपनेको इस रूप माना

कि मैं तो सबसे निराला (इस शरीरसे भी निराला) एक आत्मतत्त्व हू, शरीर, धन वैभव आदिक अन्य किसी भी रूप मैं नही हू, मैं तो इन रागादिक समस्त विकारोसे, समस्त झझटोसे निराला एक ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हू, ऐसी यदि अपने आपके स्वरूप की सही झलक ले ले तो यही अपनेको सही रूपमे मानना है, और इसी मान्यतासे सर्व सकट टलेगे। शान्ति पानेके लिए लोग तो अनेक बडे बडे उपाय करते है, मगर उन उपायो से शान्तिका मार्ग न मिलेगा। शान्ति मिलेगी तो इस ही उपायसे कि मैं अपने आत्माको जानूँ कि मैं क्या हू ? मैं हू एक आनन्द स्वरूप। बडे-बडे दार्शनिक लोग इसको आनन्दरूप मानते है, इस ब्रह्मका आनन्द स्वरूप है। यह आत्मा आनन्दका धाम है। तो आनन्दका धाम जो आत्मा है ऐसे आत्माकी सुध ले तो आनन्द मिलेगा। बाहरी पदार्थोमे उपयोग देनेसे आनन्द नही मिल सकता, बस ऐसे स्वरूपकी जिसने झलक पायी है वह पुरुष सर्वदर्शी हो जाता है। जिसने आत्माका दर्शन किया है वह सब विश्वका दर्शन कर लेता है और जिसने अपने आत्माका दर्शन नही किया वह दुखी ही रहता है। जन्म मरण करते-करते अपना समय गुजार देते है। तो यह धुन रखना है, यह विश्वास बनाना है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू। मेरेसे ही मेरा ज्ञान प्रकट होता है, मेरेसे ही मेरा आनन्द प्रकट होता है। तो जैसे मैं ज्ञानानन्दमय हू ऐसे को ही देखूँ, इसको ही अपनी झलकमे रखू और किसी पदार्थमे हितकी बुद्धि न करूँ तो यह उपाय बनते-बनते कोई समय ऐसा आयगा कि यह आत्मा प्रभु बन जायगा, सर्वदर्शी हो जायगा। और, तरहकी बात अपनेको बनानेमे आनन्द नही है, किन्तु जैसे भगवान बने है वैसा ही होनेमे आनन्द है। तो अपने आत्माका दर्शन हो तो सारे विश्व का दर्शन हो जायगा, ऐसी इस आत्मामे शक्ति पडी हुई है, इस शक्तिका नाम है सदर्शित्वशक्ति।

सर्वदर्शित्वशक्तिकी आत्मदर्शनमयिता—अमृतचन्द्र जी सूरिने सर्वदर्शित्वशक्तिका यह लक्षण किया है कि समस्त विश्वके सामान्य भावोका दर्शन करनेरूप परिणति हो, ऐसी आत्मदर्शनमयी शक्तिको सर्वदर्शित्व शक्ति कहते हैं। यहाँ आत्मदर्शनमयी इस शब्दसे यह ध्वनित होता है कि दर्शनका साक्षात् सम्बन्ध अतस्तत्त्वसे है। यद्यपि वहाँ समस्त पदार्थ सत् सामान्यरूपसे प्रतिभासित हुए हैं, पर वह दर्शन इस प्रकारका है कि जिसने सारे विश्व को जान लिया और ऐसे जानने वाले इस आत्माको सामान्यरूपसे देख लिया, तो यो सर्वदर्शीपना उस आत्माको हो जाता है। दर्शन इन्द्रियके निमित्तसे नही होता है। यद्यपि दर्शन मे चक्षुदर्शन आदिक भेद आ गए है, किन्तु वे सब औपचारिक नाम हैं। जैसे चक्षुइन्द्रियके निमित्तसे आत्माको जो ज्ञान होता है उस ज्ञानसे पहिले होने वाले दर्शनको चक्षुर्दर्शन कहते हैं। छद्मस्थ अवस्थामे दर्शनोपयोग पहिले होता है ज्ञानोपयोग उसके बाद होता है, इसके

मायने यह न लेना कि पहिले दर्शनगुण परिणान होता है, बादमे ज्ञान गुण। आत्माकी जितनी शक्तियाँ है वे सभी निरन्तर परिणमन करती है। छद्मस्थ अवस्थाके उपयोगकी बात कही गई है कि पहिले दर्शन होता है, पीछे ज्ञान होता है। तो यो उपयोगमे क्रम है, परिणमनमे क्रम नही है। यह दर्शन इन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न नही होता है, फिर भी दर्शनावरणका क्षयोपशम वहा अन्तरङ्ग कारण है और विशिष्ट विशिष्ट ज्ञाननिष्पत्तिकी भी वहा उत्तरापेक्षा है, परन्तु जहा सर्वशक्तित्व शक्ति विशुद्ध रूपसे विकसित हुई है, वहा न कोई प्रतीक्षा है और न कोई क्षयोपशम आदिकका निमित्त है। तो दर्शन गुणका आत्मतत्त्व से साक्षात् सम्बंध है। इससे आसानीसे यह भी विदित हो जाता है कि दर्शनका शुद्ध विकास आत्मतत्त्वके आलम्बनसे होता है, किसी बाह्य निमित्तके आश्रयसे नही होता है। किसी भी परपदार्थमे अथवा विकार भावमे ऐसी शक्ति नही है कि आत्माका सर्वदर्शित्व प्रकट कर दे। यद्यपि परिपूर्ण दर्शनके सम्बन्धमे यह बताया गया है कि जो समस्त लोकालोकका सामान्यरूपसे दर्शन करे उसे केवलदर्शन कहते है। यहा लोकालोककी बात कहना औपचारिक है। केवल दर्शनका विकास किसी निमित्तसे नही है किन्तु वह आत्माके स्वभावसे है। यह अनाकारोपयोगी दृशिशक्तिका विकास है। तो कही यह कोई शका न कर सके कि तब लोकालोकका दर्शन केवल दर्शनमे हुआ है तो उसका आकार आ गया। लोकालोकको जानने वाले विशुद्ध आत्माका दर्शन हो गया है तिसपर भी दर्शनको साकार नही कह सकते। साकारका अर्थ है पदार्थका भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतिभास कर लेना। सो ऐसा साकारपना दर्शनमे नही है। ऐसा निराकार उपयोग वाला समस्त विश्वको सामान्य रूपसे निरखने वाला आत्मदर्शनरूप सर्वदर्शित्व गुण आत्मामे अनादि अनन्त है। जो इस गुणकी दृष्टि करता है वह समस्त अभेद आत्मतत्त्वको भी लक्ष्यमे ले लेता है। यो इस अमूर्त आत्मतत्त्वके आलम्बनसे यह सर्वदर्शीपना प्रकट होता है।

जीवोंका सुख शान्तिके अर्थ विपरीत प्रयास—जगतके जीवोको केवल एक ही बात की चाह है कि शान्ति मिले। सब कुछ त्यागते है लोग या ग्रहण करते हैं या जो कुछ भी प्रयत्न करते है उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि शान्ति मिले। और, यह बात सबकी अपनी-अपनी बात है। लोग शान्तिके लिए अथक प्रयत्न भी कर रहे है और शान्ति क्यो नही मिलती इसका कारण नही सोचा। और भ्रममे जिस बातमे इसे शान्ति प्रतीत होती है उसी ओर यह भागता रहता है। इस बातको बडी गम्भीरतासे सुनना है कि हम अनेक प्रयत्न करके भी सुखी क्यो नही हो पा रहे। और, क्या हम सुखी हो सकते है? पहिली बातका तो उत्तर यह है कि हमने जितने प्रयत्न किये वे सब उल्टे किये, क्योकि यह आत्मा खुद जो सुख शान्ति चाहता है यह स्वय आनन्दका भण्डार है जो कि ज्ञानके साथ मिला हुआ

है अर्थात् ज्ञानमय है और आनन्दका धाम है, उसकी तो इसे पहिचान नही। और, जहाँ न सुख है, न अपना कुछ वास्ता है ऐसे बाहरी पदार्थोंमे इसने ममता लगाया, बस यही दुःख का कारण बन गया। दुःख देने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है। जिसने इस दुःख देने वाले कारणको मिटाया वह भगवान हुआ। जिनकी मूर्ति बनाकर हम आप पूजते हैं, उनकी बडी प्रतिष्ठा विधिसे यादगारीके लिए स्थापना, प्रतिष्ठा आदि भी करते है। तो जिन्होंने शान्तिका मार्ग अपना लिया और दुःखद्वन्द्वसे छूटकर शान्तिमे आ गये वे उत्कृष्ट हैं और उनकी हम पूजा करते हैं। क्या है कोई ऐसा उपाय जिससे हम सदाके लिए सुखी शान्त हो सकते है ? यह जो घर गृहस्थी परिवार बच्चो आदिमे सुख मान रखा है, छोटे बच्चे जब तोतले बोलते है या उनके चेहरेको निरख-निरखकर जो खुश हो रहे है यह सब क्या है ? भगवान आत्मा ऐसा दीन बन रहा है कि यह दूसरोसे सुखकी आशा करता है। लो। जिन जिन बाह्यपदार्थोंसे दुःखकी आशा कर रहे हैं वे सब सारहीन चीजे है, किसी भी समागममे रंच भी सार नही है।

अशान्तिके निवारणके प्रयास—जरा अपने आपकी बात सोचो, इसमे अन्त स्वभाव मे कितनी सुख शान्ति बसी हुई है, उस आत्मामे सर्वज्ञताकी जैसी शक्ति है। जिसमे इतनी शक्ति बसी हुई है कि लोकालोकको एक साथ जानता रहे उसको हम ढूंढ नही रहे, जिसमे कुछ भी सार नही उससे ममता कर रहे तब फिर दुःख क्यो न होगे ? जिनसे हम ममता करते है उनसे ही दुःख होता है। जब बच्चे थे तब कुछ कम दुःख थे, जब कुछ और बडे हुए तब भी कुछ कम ही दुःख थे, लेकिन जैसे जैसे उमर बडी होती गयी, धन वैभव, इज्जत प्रतिष्ठा परिवार आदिके परिचय बढते गए वैसे ही वैसे और भी अधिक दुःख बढते गए। क्योकि वे सब तो शान्तिमार्गसे विपरीत ही कार्य थे। यदि हम शान्ति चाहते है तो उस ओरसे हमे आँखें मीचना होगा। और अपने आपकी ओर देखना होगा तभी सुख शान्ति का मार्ग मिल सकता है। कितना अधेरा है, कितना खोटा ख्याल है कि दुनियाके ये कुछ लोग अगर अच्छा कह दें तो खुश हो गए और अगर कुछ बुरा कह दें तो झट दुःखी हो गए। अरे जिसने कहा वह भी स्वप्नवत् और जिसको देख करके कहा वह भी स्वप्नवत्। ये सब मायामयी चीजें हैं। इनमे कुछ सारकी बात नही है। दुनियाके लोग कुछ कहे, हमे तो अपना मार्ग देखना है कि हम कौनसे मार्गसे चलें कि सुखी शान्त हो जाये। और, वह विधि हम छोड़ दें जिससे हम दुःखी रहा करते है, उसी शान्ति पानेकी विधिका वर्णन यहा सर्वज्ञत्वशक्तिके प्रसङ्गमे बतला रहे हैं।

सर्वज्ञत्वशक्तिका निरूपण—आत्मामे एक ऐसी शक्ति है कि जो सारे विश्वको एक साथ जान जाय। जहाँ सारा विश्व एक साथ जाननेमे आ गया वहाँ फिर इसे कोई क्लेश

नही रहता। क्लेश तो लोग मुख्य दो बातसे मानते है—एक तो यह कि हम सब कुछ जान नही पा रहे, अभी आप बाजारसे किसी थैलेमे भरकर कुछ सामान लाये तो बच्चे लोगोकी ऐसी आदत होती है कि बिना उसके अन्दरकी चीजको देख लिए चैन नही मानते। भले ही उनके लायक कोई चीज उस थैलेके अन्दर न हो, मगर उन्हे यह जाननेकी इच्छा रहती है कि मैं देखूं तो सही कि इस थैलेके अन्दर क्या चीज भरकर लाये है ? तो सब कुछ जानने की इच्छा सभीको रहती है। सब कुछ जाननेका अर्थ है कि समस्त विश्वकी जानकारीका एक सच्चा ज्ञान जग जाय। सोचते तो सभी लोग ऐसा है पर उनके ज्ञानका क्षयोपशम इतना नही है, या कर्मोंका उनपर बोझ इतना लदा है कि वे सम्पूर्ण जानकारी नही कर पाते। दूसरा दुःख जीवोको तृष्णाका है। उन्हे विषयोके भोगनेकी चाह होती है—मैं अच्छा रूप देखूं, अच्छे रागभरे शब्द सुनूं, अच्छी गंध सूंघूं, अच्छा रस चखूं, अच्छा स्पर्श करूं आदि। इसके अतिरिक्त मेरी दुनियामे खूब इज्जत बढे, खूब वैभव बढे आदि अनेक प्रकारकी भीतर मे मनकी चाह बन गई है, इन चाहोसे तो जीवको बडी परेशानी है। चाह न करे यह जीव तो इसका कुछ बिगडता है क्या ? भगवानको तो एक भी चाह नही है। जिसे चाह नही रही वही भगवान बना है। वे तो अपने ज्ञानसुधारसका पान निरन्तर करते रहते है। कहते है ना कि हे भगवान ! आप सकल ज्ञेयके ज्ञायक है, फिर भी निजानन्दरसमे सदा लीन रहा करते है। बाहरकी ओर आपकी दृष्टि नही, कोई आपमे बाह्य विकल्प नही, रागद्वेष ममता आदि नही, आपका ऐसा शुद्ध परिणमन हुआ है। और, जहा रागद्वेष नही रहे वहा सर्वज्ञता आयगी ही। जगतके समस्त पदार्थोको जान जाय ऐसी शक्ति आत्मामे है। इतना तो निश्चित है कि हम आप सबमे ज्ञानका स्वभाव पडा हुआ है। ये चौकी, ईंट, पत्थर आदि तो जाननेका स्वभाव नही रखते। जाननेका स्वभाव मेरे आत्मामे है और जब जाननेका स्वभाव है तो स्वभावसे ही यह जानता है।

ज्ञानस्वभावसे ही ज्ञानकी उद्भूति—यहा हम समझते है कि हम आखोसे जानते, कानोसे जानते, पर ये आख कान आदि तो जड है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले है, मूर्तिक, पुद्गल है, इनमे तो जाननेकी प्रकृति ही नही है। इनके द्वारा हम क्या जानेगे ? पर ज्ञानावरणका पर्दा इतना ज्यादा इस जीवपर पडा है कि इन्द्रियकी खिड़कियोके बिना यह कुछ जान नही सकता। जैसे एक मकान बना हुआ है जिसमे चारो ओर की भीतोमे खिडकियां लगी है, भीतरमे जो पुरुष खडा हुआ है वह बिना खिडकियोके बाहरकी चीजोको तो नही देख सकता, क्योकि भीतकी ओट है। अब यह बतलावो कि बाहरीकी चीजोंको देखने वाली ये खिडकिया हैं या आदमी ? देखने वाला तो आदमी ही है, खिडकिया नही। तो इसी तरह इस शरीररूपी मकानके भीतर हम आप जीव (आत्मा) पड़े हुए है, और ऐसा ज्ञानका आव-

रण पडा है कि इस समय हम आत्माके सर्वप्रदेशोसे जान नही सकते, क्योकि शरीरकी भीत, कर्मोंकी आडमे यह जीव घिरा हुआ है। तब यह इन्द्रियरूपी खिडकियोके द्वारा जानेगा ही। आखोके द्वारा रूपको, कानोके द्वारा राग रागनीके शब्दोको, नासिका द्वारा गधको, रसना द्वारा रसको और स्पर्श द्वारा स्पर्शको जानेगा। ये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र आदि इन्द्रिया इस शरीररूपी महलकी खिडकिया है। बस समय यह आत्मा शरीरके बन्धन मे है इस कारण इसे इन्द्रियोकी खिडकियोके रास्तेसे जानना पड रहा है। इस तरहसे जानने का इस आत्माका स्वभाव नही है। इसका स्वभाव तो आत्माके सर्वप्रदेशोसे चारो ओरसे समस्त लोकालोकको एक साथ जाननेका है। वर्तमान, भूत और भविष्य इन तीनो कालोमे होने वाली चीजको एक साथ स्पष्ट जान ले ऐसा स्वभाव इस आत्मामे है। इस आत्मामे जब जाननेका स्वभाव है तो जो भी सत् है वह सब जाननेमे आयगा। तो देखिये—हम आपमे कितनी बडी निधि पडी हुई है, ऐसी ज्ञानशक्ति है, पर उसकी ओर दृष्टि नही देते। बाहरमे जो कुछ मिला है इसमे ही अटकते हैं।

न कुछ मिलेके अनुरागका निन्दन——भैया! जरा मिलेकी भी बात देखे कि मिला क्या है? मनुष्य तो छह खण्डकी पृथ्वीके स्वामी हो जाते हैं जिन्हे चक्रवर्ती कहते है। आज की जो मानी हुई दुनिया है, जिसमे अमेरिका, रूस, जापान, इगलैण्ड, हिन्दुस्तान आदि सभी आ गए, इतनी बडी यह सारी परिचित दुनिया इस भरत क्षेत्रके जरासे हिस्सेमे है। ऐसे ऐसे ६ खण्ड है उनके जितने राजा है—३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणोमे नतमस्तक रहते है ऐसी छह खण्डकी विभूति यह मनुष्य पा सकता है। इतने बडे वैभवके सामने यह लाख, करोडकी सम्पत्ति क्या चीज है? और, फिर इस आत्माकी विभूति तो वास्तविक ज्ञान और आनन्दकी है, जिसका ऐसा शुद्ध विकास है कि जिस ज्ञानानन्दके द्वारा सदा काल यह तृप्त रहता है। प्रभु उसका ही नाम है जिसके ज्ञान और आनन्द पूरा शुद्ध प्रकट हो गया है। जो प्रभुमे शक्ति है, स्वभाव है वही शक्ति, वही स्वभाव हम आप सबमे है। उसकी सुध ले तो प्रभु बनेगे, और बाहरके पदार्थोंकी सुध ले, ममता रखे तो ससारमे रुलेंगे, जन्ममरण करेंगे।

अन्यसे अपने सुख दुःख आदि परिणमनकी असंभवता——भैया! एक बार तो भीतर मे यह निर्णय कर लिया जाय कि इस लोकमे मेरा कोई शरण नही है। जब जरा शिरदर्द करता है तो घरके लोग, मित्रजन वगैरह सभी दवा भी देते है, शिर दाब भी देते हैं, मगर वे उस शिरके दर्दका रच भी बाट तो नही सकते। अरे उस दर्दको तो खुदको ही भोगना पडता है। जिसपर जो आपत्ति आती है वह उसीको तो भोगनी पडती है और कोई सुख की बात आये तो भी वह अकेलेको ही भोगनी पडती है। यह तो कोरा भ्रम है कि दुख

सुख हम सब घरके लोग मिलकर भोग रहे है। अरे जितने भी जीव है वे सब अपना-अपना ही सुख दु ख भोग रहे हैं, कोई किसीके सुख अथवा दु खको रच भी बाट नही सकता। सब केवल अपने-अपने ही परिणमनसे परिणमते है। तो इस लोकमे मेरा कोई शरण नही। न कुटुम्बीजन शरण है और न मित्रजन आदिक। पचपरमगुरु परमेष्ठी व्यवहारसे हमारे शरण माने गए है, क्योकि उनकी पूजा उपासना ध्यान करनेसे आत्मामे एक विशुद्धि जगती है और आत्मा परमात्मपदको कभी प्राप्त कर लेगा। तो ऐसी बडी बात जिसकी कृपासे मिली है शरण तो वह है व्यवहारसे। और, निश्चयसे हमको ही सब कुछ करना पडेगा। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका परिणमन हमे खुदको करना पडेगा तब ही शान्तिका स्थान मिल सकता है। तो यहा इतनी बातका निर्णय कर लीजिए कि हम लग रहे है वहा जहा सुख शान्तिका नाम ही नही है। और इसी कारण सारी जिन्दगीभर भी लगे रहे और उनमे से सुधार बिगाड भी करते रहे, फिर भी सुख शान्तिका लेश नही आ सकता। यहा भी देख लो—ऐसा रिवाज है कि मरते समय लोग यह कोशिश करते हैं कि भाई तुम अब ममता छोडो, रागद्वेष छोडो, खाट छोडो, जमीनपर सोओ, कपड़े भी त्याग दो आदि, तो यह रिवाज क्यो है ? वही त्यागकी सूचना देता है कि शान्ति तो त्यागसे मिलती है, सग्रहसे नही।

जीवनके अन्तिम क्षणोंको विवेकपूर्वक बितानेका संदेश——भैया ! अब जीवनके अन्त मे कुछ त्यागकी भावना लाओ। मोह ममताका त्याग करो तो शान्ति मिलेगी। वह मरण का समय एक ऐसा समय है कि उस समय यदि सम्हल गए, ममता न रहे, अपने आपके स्वरूपकी पहिचान हुई, प्रभुके भजनमे चित्त रहे तो अगला जो भव मिलेगा उसमे वह सारे जीवनभर सुखी रहेगा। और, अगर मरण समयमे बडा विलाप किया, बडा क्लेश माना तो आगेके जीवनमे जीवनभर दु खी रहना पडेगा। तो मरणके समयमे परिणाम अच्छे हो; एतदर्थ अच्छी तरह जब तक हम समर्थ है, हममे ताकत है, ज्ञानबल है तब तक हम चेत जायें। यह ज्ञान बनाये, ममताकी बात छोडे, व्रत, तप, सयमसे रहे तो हम मरण समयमे भी अच्छे भाव कर सकेगे, यह उम्मीद रखी जा सकती है और सारी जिन्दगी हम विकल्प करें, फिर भी आशा रखे कि मरण समयमे हमारे परिणाम भले हो जायेगे तो यह बात कठिन है। इससे हमे जीवनमे ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। सीखे तत्त्वज्ञानकी बाते। और उस तत्त्व ज्ञानकी मुख्य बात यह है कि मैं आत्मा क्या हू, कैसा हू, इसका सही निर्णय होना। आचार्यों ने जहाँ आत्माके ध्यानकी बात कही है तो यह उपाय बताया है कि तुम अपनेको ज्ञानमात्र सोचो। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हू, ज्ञानके सिवाय मेरेमे और कुछ नही है। जो ज्ञान है सो ही मैं हूँ और वह ज्ञान अमूर्त है, आकाशकी तरह निर्लेप है। तो इस देहमे बसा हुआ जो ज्ञान-

पुञ्ज है वही मैं आत्मा हूं और मेरा धन सिर्फ ज्ञान है। ज्ञानके सिवाय मेरी और कोई निधि नही है। ये बाहरी चीजे तो प्रकट विरानी है और इनके उपयोगसे दु ख ही मिलता है। और, मेरा जो धन है ज्ञान, उस ज्ञानस्वरूपकी मैं सुध लूं तो यहाँसे शान्ति प्रकट होगी। तो ज्ञानमात्र अपने आपको जाने तो शान्ति मिलेगी, ऐसी उपासना करें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, प्रभु ज्ञानमात्र है, भगवान अरहत कैसे है ? शुद्ध ज्ञानपुञ्ज हैं, जहाँ रागद्वेष नही रहे, जो ज्ञान शुद्ध प्रकट हो गया, पूर्ण केवलज्ञान हो गया वही तो प्रभु है। उस भगवानके स्वरूपका स्मरण करे ऐसा ही तो मैं हूँ। अपने स्वरूपकी सुध लें तो यहाँ अपनी रक्षा हो जायगी और बाहरमे जहाँ हम लगे हैं उस लगावमे हमारी रक्षा नही है। यह बात पूर्णरूपेण सत्य है, इस ओर जरा दृष्टि रखना चाहिए। यह मनुष्यभव बडी कठिनाईसे मिला है, इसे यों ही विषयोमे नही गवाना है, कषायोमे नही गवाना है, अज्ञानमे नही गवाना है, किन्तु तत्त्वज्ञान करें, आत्माका स्वरूप जानें, उसमे ही रमें, उसमे ही तृप्त हो और इस तरह इस दुर्लभ मानव-जीवनको सफल करें।

जीवका अनादिवास और आजका विकास तथा उसका सदुपयोग—यह बात जानी होगी कि हम आप सबसे पहिले क्या थे ? जैसे आज मनुष्य है। मनुष्यसे पहिले अन्दाज करते है कि मनुष्य होगे या पशु होगे या चारो गतियोमेसे कोई भी गति होगी, ऐसा अदाज बनाते है, तो ठीक है। उससे पहिले हम क्या थे ? ऐसे ही पहिले कुछ थे। उससे पहिले क्या थे ? ऐसा सोचते-सोचते यह भी पूछे कि मैं सबसे पहिले क्या था ? तो बताया है शास्त्रोमे कि यह जीव सबसे पहिले निगोदिया जीव था। छहढालामे पढते ही हैं—'एक श्वासमे अठदश बार, जन्मो मरयो सह्यो दु ख भार।" तो वह भी श्वास कैसा ? नाडीके एक बार उचकनेमे जो समय लगता है उतनेको एक श्वास कहते हैं। श्वास तो मुखसे लेनेको भी कहते है, पर यहाँ नाडीके एक बार उचकनेमे जितना समय लगता है उतनेको एक श्वास मानिए। बताया है कि एक श्वासमे १८ बार याने एक सेकेण्डमे २३ बार जन्ममरण वहाँ करना पडता है। तो इस तरहके जन्ममरणके दु ख निगोदमे अनन्त काल तक सहे। किसी प्रकार वहाँसे निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय जीव हुए। वहाँ भी इस जीवने कोई महत्त्वकी चीज न पायी। वहाँसे किसी तरह निकलकर दोइन्द्रिय–(लट आदिक) हुए, वहाँसे निकलकर तीनइन्द्रिय– (चीटी, खटमल आदिक) हुए, फिर वहा से निकलकर चारइन्द्रिय–(भँवरा, ततैया आदिक) हुए। वहासे निकलकर पञ्चेन्द्रिय-(पशु) हुए। वहा भी मन पाये बिना असह्य दु ख इस जीवने सहे। वहासे भी निकले तो बडी मुश्किलसे समझिये कि मनुष्य हुए है। तो मनुष्य जन्मका मिलना बडा कठिन है। यह मानव जीवन बार बार नही मिल सकता। तो अपना ऐसा सकल्प बनायें कि हम बडी कठिनाईसे

आज मनुष्य हो गए है। तो इस मनुष्य जीवनके क्षण हमे व्यर्थ नही गंवाना है। इस मनुष्य जीवनके एक-एक समयका हमें पूरा सदुपयोग लेना है। पूरा सदुपयोग यही है कि आत्माका अध्ययन करे। मैं क्या हू इसका मनन करें, यही सुख शान्तिकी जड बनेगी, इससे ही कर्म कटेंगे और इससे ही संसारमे बडप्पन है। आत्माका ध्यान करें, आत्माकी समझ बनावे, अपने आत्माके पास ही अपने ज्ञानको बनाकर तृप्त रहे, यह बात स्त्री पुरुष आदिक सभी लोग कर सकते है। सब कोई सम्यक्त्व पैदा कर सकते है और अपने आत्माकी दृष्टि बना सकते है। तो ऐसी दृष्टि बनावे।

अब तककी भूलोंको दूर करनेमें ही कल्याणलाभ—आत्मस्वभावके विरुद्ध जो ममता की, रागद्वेष मोहकी दृष्टि बनी है अब तक, इसको खोटी जानकर इसका बहिष्कार करे। इस ममतासे मुझे कोई लाभ नही, उल्टा बरबादी ही है, ऐसा अपना निर्णय बना लेवें, अपने आत्माको जाने। जो ज्ञानका खजाना है, जिसके माध्यमसे यह जीव सर्वज्ञ बनता है, परमात्मा होता है, सर्वको जाननेकी इसमे शक्ति है, वह शक्ति पूरी प्रकट हुई है, ऐसे आत्मतत्त्वकी जानकारीमे सारी जिन्दगी बितावे और यह निर्णय रखे कि मेरेको करनेको काम तो केवल आत्माको समझना और आत्माके निकट अपने ज्ञानको रखना यही सारभूत काम है। इसको छोडकर बाकी कोई सारभूत काम नही है। पहिले असारको असार समझ ले फिर उससे हटना बन जायगा। पहिली भूल तो हम आपकी यही है कि असार बातोको हम सारभूत समझे बैठे है। इन्द्रियके विषय सब असार है और हम सारभूत समझे बैठे है, भले ही किसीको जवानी, अज्ञान आदिकके जोशमे समझमे न आये, मगर बादमे वे भी पछताते है। तो जो सारहीन बात है उसे सारहीन समझे। यह देह भी क्या है? हाड माँसका पिण्ड, ऊपरसे पतली चामकी चादर मढी है जिससे सारी मलिनता ढकी है, नही तो इस शरीरके बराबर और घिनावनी चीज कुछ नही है। खून, पीप, नाक, मल, मूत्र आदि समस्त गदी अपवित्र चीजोसे भरा हुआ यह शरीर है। इस शरीरसे अधिक गदी चीज कोई दूसरी नही है। इससे क्या ममता करना, और फिर यह शरीर कभी जल्दी ही मिट जाने वाला है। अपने आत्माके स्वरूपको जाने जिसके जाननेके बाद यह जीव अमर हो जायगा। परमात्मपद पायगा, सदाके लिए यह शान्त आनन्दमय हो जायगा। तो जीवनमे यह ही निर्णय रखिये कि बडी कठिनाईसे यह मानव-जीवन पाया है तो मेरे करनेके लिए काम यही है कि मैं इस आत्माके सहज शुद्ध स्वरूपको जानूं और यहा ही ज्ञान रमाकर तृप्त होऊँ। ऐसा किया जा सके तो मनुष्य जीवन पाना सफल है, ऐसा उत्तम धर्म पाना सफल है अन्यथा जैसे अनेक भवोमे अनेक समागम पाये और छोडे, इसी तरह यह जो समागम मिला है यह भी छूट जायगा, तत्त्वकी बात कुछ न मिलेगी।

सर्वज्ञत्वशक्तिकी प्ररूपण.—सर्वज्ञत्वशक्तिका अर्थ श्री अमृतचन्द्र सूरि महाराजने यह किया है कि समस्त विश्वके विशेष भागोको जाननेरूप परिणत हुई आत्मज्ञानमयी शक्तिको सर्वज्ञत्वशक्ति कहते है। यहाँ आत्मज्ञानमयी शब्द देनेसे यह प्रसिद्ध होता है कि ज्ञानशक्तिका कार्य अपने आपमे जाननरूप परिणमन करना है। बाह्यपदार्थ कैसा है ? यह बात ज्ञानद्वारा विदित कर ली जाती है, फिर भी निश्चयसे इस जीवने परपदार्थको नही जाना, किन्तु अपने आपको ही जाना, इसी कारणसे प्रत्येक आत्मा निश्चयसे आत्मज्ञ है, व्यवहारसे परपदार्थज्ञ है। और, प्रभु निश्चयसे आत्मज्ञ है और व्यवहारसे सर्वज्ञ है। व्यवहारसे प्रभु सर्वज्ञ हैं, इसका अर्थ यह नही है कि यह मिथ्या है, किन्तु ज्ञानमे कितनी अपार महिमा है और उस ज्ञानका कितना विस्तृत प्रकाश है, उस ज्ञानका स्वरूप क्या बना है, इन बातोका प्रतिपादन व्यवहारका अथवा परपदार्थका नाम लिए बिना नही हो सकता था, इस कारण व्यवहारसे परपदार्थज्ञ कहा। तब बात सत्य है कि सर्वज्ञदेव स्व और समस्त परको स्पष्ट जानते हैं, पर वह जानना अपने आपके आत्मामे अपने आपका परिणमनरूप है। दर्शनमे और ज्ञानमे यह अन्तर है कि दर्शन तो सबका है, इतनी सत्ता सामान्य भावसे देखना है, परन्तु ज्ञानमे सर्व विशेषताओका परिज्ञान बसा हुआ है। भले ही सर्वपदार्थ सत्ता रूपसे समान हैं, फिर भी उनमें विविध विशेषता है, कोई चेतन है, कोई अचेतन है, कोई शुद्ध है; कोई शुद्धकी साधना करने वाला है, नाना विशेष पडे हुए हैं। उन सबको विशेषरूपसे जाने ऐसी आत्मामे सर्वज्ञत्व-शक्ति है।

ज्ञानाविर्भावकी स्वावलम्बिता—सर्वज्ञत्वशक्तिके प्रतापसे सर्वपदार्थ स्पष्ट प्रतिभासित होते है। कोई पदार्थ दूर है, वह स्पष्ट न आये, और कोई पदार्थ निकट है वह स्पष्ट आये, ऐसा प्रकार सर्वज्ञपनेमे नही है और न सर्वज्ञत्वशक्तिमे ही भेद है, क्योकि ज्ञान जो व्यक्त दशामे आता है वह परपदार्थके अवलम्बनसे नही आता। अवलम्बन तो निजका ही है, पर उसमे विषय पडता है परपदार्थ। केवल विषयमात्रपना है। तो विषयमात्रपना होनेसे दूर और निकटवर्ती होनेसे अन्तर न आयगा। आत्मामे सर्वज्ञत्वशक्ति है और इसको मुख्यरूपसे समझना चाहिए। इस शक्तिके प्रतापसे आत्मामे ऐसा स्वभाव है कि जो भी सत् हो, सर्व इस ज्ञानमे प्रतिभास हो जाता है। तो इस आत्माका यह स्वभाव है कि वह सबको जान जाय, किन्तु किसी परपदार्थमे कुछ करे, ऐसी शक्ति आत्मामे नही बतायी गई। किसी पर-पदार्थमे परिणमन करे यह बात तो अत्यन्त दूर रहो। यह तो त्रिकाल असम्भव है, किन्तु यह भी नही होता कि आत्मा परपदार्थको जानता है। परपदार्थ विषयभूत होते है और जानता है निश्चयसे अपने आपको ही। इसी मर्मको समयसारमे यो खोला गया है कि भग-वान श्रुतकेवली निश्चयसे तो आत्मज्ञ हैं और व्यवहारसे द्वादशाङ्गके ज्ञाता हैं। व्यवहार

परमार्थका प्रतिपादक कैसे होता ? इसका यह उदाहरण है। श्रुतकेवली वास्तवमे जान क्या रहे है ? एक आत्माकी ओरसे ही या निश्चय रूपसे ही बतानेके लिए कोई शब्द न था। तो उसमे विषय क्या हुआ है उसका नाम लेकर बताया गया है। यो ही परमात्मा सर्वज्ञ है, तो वास्तवमे परमात्मा किस प्रकारसे जाननक्रिया करता है इसको बतानेके लिए कोई उपाय न था तो विषयभूत सर्व जगतका नाम लेकर बताया गया कि प्रभु सर्वज्ञ है। तो जानते सबको है, पर सर्व परपदार्थोमे किसीमे भी तन्मय होकर नही जानते। तन्मयता तो अपनी ज्योतिमे ही है। तो सारे विश्वको जाननेकी शक्ति आत्मामे शाश्वत है, इसकी जिसको प्रतीति हो गयी वह मोह ममतासे दूर हो जायगा और धर्मका पालन कर सकेगा।

सर्वज्ञत्वशक्तिकी आत्मज्ञानमयिता—आत्मा परमार्थसे अपने आपमे ही अपने गुणो की परिणति करता है। बाह्यपदार्थमे कुछ भी नही करता। तो बाह्यपदार्थमे कुछ कर दू इस प्रकारके विकल्पमे धर्म नही है, किन्तु ज्ञायक स्वभाव निज अन्तस्तत्त्वके आलम्बनमे धर्म है। सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि सर्वज्ञ नही हुआ है फिर भी उसे आत्माके सर्वज्ञत्वशक्तिकी पूर्णतया प्रतीति है। मेरेमे त्रिकाल सर्वज्ञता परिणमन हो इस प्रकारकी शक्ति है, ऐसा ही मेरा स्वभाव है। इस तरह जो अपने आपके विशुद्ध स्वभावके सम्मुख होकर अपनेको सत्य स्वरूपमे निरखता है वह यद्यपि वर्तमानमे सर्वज्ञ नही है किन्तु वह सब सर्वज्ञताके विकासका ही सत्य पुरुषार्थ है। इस सर्वज्ञत्वशक्तिके स्वरूपको निहारकर ऐसा प्रतीतिमे रहना है कि मेरेमे ऐसा ज्ञान वैभव विद्यमान है कि मैं अपने आपमे ही रहकर तीन लोक तीन कालके सर्वपदार्थोको जान सकता हू। यह सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमयी है अर्थात् आत्माके साथ ही तन्मय होकर, आत्मा रूपसे ही परिणत होकर इस ज्ञानशक्तिका कार्य हो रहा है, किसी परपदार्थसे इसका सम्पर्क नही है। पदार्थोका स्वरूप शाश्वत अपने आपमे नियतरूप होता है। आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यमय है, असाधारण चैतन्यस्वरूप है और वह निरन्तर चेतना रूपसे परिणत होता रहता है। यह अन्य पदार्थकी परिणति रूपसे नही बन सकता। सारे पदार्थ ज्ञानमे आ गए इतनेपर भी वह ज्ञानशक्ति सर्वज्ञत्वशक्ति निज आत्मज्ञानरूप ही है, किसी परपदार्थरूप नही है। ज्ञान विकसित हुआ है, अपनी सामर्थ्यसे अपने आपमे विकसित हुआ है। कभी सारे लोकको जान ले इसके कारण विकसित नही हुआ है, किन्तु अपने स्वभावसे चूँकि पदार्थोमे उत्पादव्ययध्रौव्यका स्वभाव पडा हुआ है। तो स्वभावत ही महान ज्ञान विकास रूप यह सर्वज्ञ बन रहा है और वहाँ जो ज्ञान विकास हुआ है तो ऐसा भेद नही है कि केवल ज्ञान गुण ही वहा उछल रहा है, विकसित हो रहा है। चूँकि सभी गुण एक अभेद धर्मीमे अभेदरूपसे है, उन सर्वशक्तियोका परिचय भेदपूर्वक कराया जाता है। विभुत्व शक्तिके कारण सर्व गुण सर्व गुण रूप हो रहे है। तो जहाँ इसके असाधारणगुण स्वरूपका

अमर्याद विकास हो रहा है तो समझना चाहिए कि अनन्य धर्मोंका अमर्यादित विकास वहाँ हो रहा है।

ज्ञानमात्र निज सर्वस्वके अवलम्बनमें आत्मसिद्धि—जो ज्ञानमात्र रूपमे अपने आपको निहार लेते है ऐसे पुरुष अपने आपके विशुद्ध स्वरूपको स्वीकार करते है। स्वतत्र अपने उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावसे ही निरन्तर परिणमते रहने वाला सर्वसे निराला अनन्त आनन्द स्वरूप मैं आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि भला जिस पुरुषके हो उसको ससारमे संकट कहाँ रहेगे ? सकट तो तभी होते है जब अपने ज्ञानस्वरूपसे चिगकर बाह्यपदार्थोसे ही अपने हितकी आशा करते हैं। बाह्यपदार्थोसे ही बडप्पन और विकास मानते है सकट तो वहाँ पर है। मेरेमे जो शक्तियाँ है उन सर्वशक्तियोका विकास मेरे परिणमन स्वभावसे होता है। उन्हे परिणमाने वाला कोई दूसरा पदार्थ नही है। विकार अवस्थाकी घटनामे भी देखो तो वाह्यपदार्थ उपाधिका सन्निधान है, इतनी ही तो बात है। उस योग्य उपाधि सन्निधानमे यह आत्मा जिस किसी भी विकाररूप हुआ है वह अपने परिणमनसे परिणमता हुआ हुआ है। किसी कर्म परिणतिसे या निमित्तकी, विषयभूतकी परिणतिसे नही परिणमा है। यद्यपि ऐसा निमित्तिनैमित्तिक भाव है कि क्रोध प्रकृतिका उदय आये तो यह क्रोधरूप परिणमता है, पर क्रोधरूप परिणमनेमे भी आत्मा स्वतत्रतासे परिणमा है, दूसरेका द्रव्य, गुण, पर्याय लेकर नही परिणमा हैं, फिर यहाँ तो शुद्ध शक्तिकी वात की जा रही है। इस शुद्ध शक्ति का काम शुद्ध परिणमने रूपसे ही है। विकाररूपसे परिणमनेका इसका काम नही है। ऐसा अपनेको अविकार स्वभावमे निरखे और ऐसे ही अविकार ज्ञानस्वभावका आलम्बन करे तो उस उन जीवको कालान्तरमे सर्वज्ञता नियमसे प्रकट होगी। ऐसी सर्वज्ञता प्रकट होनेकी शक्ति मुझमे अब भी बसी हुई है। यो अपने स्वभावकी सामर्थ्यकी श्रद्धा करनेसे विकार भाव दूर होने लगते है और शान्ति एव आनन्दका विलास वृद्धिगत होने लगता है। ऐसी सर्वको जाननेकी विशुद्ध सर्वज्ञत्वकी शक्ति मुझमे है ऐसा समझकर ज्ञानीने इस सम्पूर्ण आत्माको लक्ष्यमे लिया है।

जीवकी स्वच्छत्वशक्तिका प्रताप—आत्मामे ज्ञानज्योति प्रति प्रदेशमे पूर्णरूपसे समायी हुई है, यो कहो कि आत्मा ज्ञानज्योतिस्वरूप है। उसमे ऐसी स्वच्छता है कि सारा विश्व उसके प्रतिभासमे आ जाय, सबको जान जाय। जैसे दर्पण ऐसा स्वच्छ पदार्थ है कि उसके सामनेकी सब चीजें उस दर्पणमे प्रतिबिम्बित हो जाये। याने दर्पणमे सवकी झलक हो जाती और सबकी झलक होनेपर भी दर्पण अपनी जगह है, वह अपनेमे स्वच्छ है। जैसे उसमे पुरुषोका प्रतिबिम्ब आ गया तो दर्पण कोई पुरुष न वन जायगा। वह तो एक झलक है। झलक सबकी आनेपर भी दर्पण तो अपनेमे जैसा स्वच्छ है सो ही है, इसी तरह इस आत्मा

में सारा विश्व भी प्रतिभासित हो जाय, यह सब कुछ जाननेमे आ जाय तो जाननेमे आया इस वजहसे ये अनेक अर्थविकल्प हो रहे है फिर भी आत्मा अपने आपमे तो स्वच्छ ही है, ऐसे स्वच्छ आत्माकी जो दृष्टि करेगा वही पुरुष स्वच्छ कहलायगा। बाहरकी ये स्थितियाँ– जैसे शरीरको स्नान कराया, या शरीरको बडा शुद्ध रखा इससे आत्माकी स्वच्छता क्या ? देह तो एक भिन्न चीज है। जीवको शान्ति मिलेगी तो अपने आपकी स्वच्छताकी पहिचान से मिलेगी।

विकल्पपङ्कसे हटकर स्वच्छ ज्ञानसागरमें प्रवेश कर संकट संताप हटा लेनेका संदेश– भैया! कितने तरहके रागद्वेष मोह बसा रखे है, कितनी विकल्प तरगे उठा रखी है, ये आत्माके स्वभाव नही है। ये विकार है। तो जो स्वभाव नही है उनमे उपयोग लगाया है इसीलिए सारा जगत परेशान है। नही तो परेशानीका कारण क्या है ? जब कुछ भी वस्तु अपनी नही है, धन वैभव कुटुम्ब सब प्रकट जुदे हैं और जो घरमे आये हुए लोग है वे भी उतने ही जुदे है जितने कि जगतके अन्य अनन्त जीव। फिर उनसे हमारा कोई नाता तो नही है, वे चाहे किसी ढगमे रहे, कैसा ही उनका परिणमन रहे, उससे मेरेको क्या बाधा ? लेकिन जीवने जो मोह बसा रखा है, अपनी स्वच्छता बिगाड रखी है उससे यह समझता है कि मेरा बेटा इस तरहका बढिया बने तो मेरेको सुख हो अथवा यह यो उल्टा चलने लगा है, इससे मुझे बडा सकट है। अरे अच्छा बनेगा उससे भी आपको शान्ति न मिल जायगी और प्रतिकूल चलेगा तो भी उससे आपको क्या दुःख मानना ? उससे आप अपना सम्बध तोड दीजिए, यथार्थ बात मान लीजिए। भले ही व्यवहारमे राग करना पडेगा, घरमे रहो है तो प्रेमपूर्वक बोलचाल व्यवहार रहेगा। एक दूसरेके दुःखमे मददगार रहना होगा, इतनेपर भी जो वास्तविक बात है उसको न भुलाये तो शान्ति आपकी आपके पास है। आत्मा ऐसा स्वच्छ है कि इसमे सारा विश्व भी समा जाय, जानने मे आ जाय इतनेपर भी आत्मा जैसा मूलमे स्वच्छ है वैसा ही रहेगा, उसमे कोई मलिनता न आयगी। जैसे दर्पणमे रग बिरगी सब चीजे प्रतिबिम्बित होती है, उसमे छाया आ जाती है इतनेपर भी दर्पणमे मूलमें कोई रग बिरगापन आया क्या ? वह तो ज्योका त्यो स्वच्छ है। ऐसे ही आत्मामे अनेक वस्तु ज्ञानमे आ गए, इतनेपर भी आत्माका कोई बिगाड होता है क्या ? बिगाड कुछ भी नही है। बिगाड है तो मोह रागद्वेषसे। अब समझिये—ये मोह रागद्वेष कितना व्यर्थकी चीजे है ? इनसे मेरा पूरा न पडेगा। मरण होनेपर तो साराका सारा समागम छोडकर जाना ही पडेगा और जब तक जीवन भी है तब तक भी इन समागमोसे कोई शान्ति नही मिल रही। अनेक विकल्प उठते है, अनेक विडम्बनाये जगती हैं। व्यर्थके विकल्पोमे ही सारा समय गवा रहे हैं, यह कोई शान्ति पानेका ढग है क्या ? बाहरी पदार्थोमे जो उपयोग लगाया है उससे तो अशान्ति बढ रही है। जिन्हे अ

उपाय चाहिये उन्हे अपनी स्वच्छताका भान करना होगा। मैं आत्मा तो अमूर्त ज्ञानमात्र स्वच्छ हू, जिसमे सारा विश्व भी प्रतिभासित हो जाता है, फिर भी मैं अपने आपमे स्वच्छ ही हू, पूर्ण आनन्दमय हू, यहाँ आकुलताका कोई काम नही है। ऐसी भीतरकी निजकी बात पकडे।

शान्तिके विपरीत प्रयासोंको छोड़कर शान्तिसाधक पौरुष करनेका अनुरोध—-शान्ति पानेके लिए लोग तो बडे-बडे परिश्रम करते हैं। रात दिन बडा परिश्रम करते हैं। जैसे—धर्म खोला, कारखाना खोला, अनेक व्यापार बनाया आदि, सब कुछ किया पर शान्ति नही मिलती। उल्टा अशान्ति ही हाथ लगती है। कितनी यह व्यर्थकी बात है कि जिनसे आत्मा का रच भी सम्बध नही, यह अमूर्त आत्मा उन सबसे निराला है, फिर भी उनमे इतना मोह, इतना उपयोग लगा रहे हैं कि अपने आपकी इन्हे कोई सुध नही है। शान्तिके लिए हजारो प्रयत्न अभी तक कर डाले, पर एक यह प्रयत्न करके तो देख ले कि मैं जानूं अपने आपको मैं क्या हूँ ? सब कुछ जाना, सबमे दिल दिया सबमे चित्त डाला, सबको बडे प्रेमसे देखा, चित्तमे बडा प्रेम बसाया और और लोगोके प्रति, पर जरा अपने आपके स्वरूपकी जानकारी मे तो आ जाये। इन सब बाहरी बातोमे सारका नाम नही है। किससे प्रेम किया जाय, किसको अपना माना जाय, सब अपने अपने कषायके भरे है, उनमे जो कषाय जगती है उसके अनुकूल वे काम करते है। आपका लडका यदि आपकी कोई बात मान ले तो आपकी वजहसे उसने बात नही माना, किन्तु उसने यह देखा कि इस तरह बात मान लेनेमे हमारे सुखका मार्ग है, हम सुखी रहेगे, हमको ये लोग बडे आरामसे रखेंगे । आप पिता हैं, बडे हैं, ऐसी बाते सोचकर कोई बात नही मानता, और कोई ऐसा थोडा बहुत सोचे भी तो ऐसा उसने अपने लिए सोचा, कि लोग मुझे अच्छा कहेगे, हमे इसमे शान्ति मिलेगी। आखिर उस लडकेने जो कुछ भी किया वह अपनी शान्तिके लिए किया। कोई किसी दूसरेके लिए कुछ नही करता। जब ऐसा प्रकट असार है यह सारा ससार तो यहाँ किनमे प्रीति करना ? प्रीति करने योग्य यहाँ कोई समागम नही है। हाँ आप कदाचित गृहस्थीमे रह रहे है, आप स्वतत्र नही हो सकते है इसलिए आपको सबसे पारस्परिक प्रेमका व्यवहार रखना होगा। लेकिन यह बात सच है कि प्रीति करने योग्य यहाँ कुछ भी नही है। एक अपने आपके स्व-रूपसे प्रीति कीजिए।

अपनी करतूत और वास्तविक लाभ अलाभके समीक्षणका संस्मरण—भला दिन रात के २४ घटे पडे हुए हैं, इन २४ घटोमे आप क्या किया करते हैं इस पर तो विचार कीजिए। आप अपनी करतूतोपर भी तो कुछ दृष्टि करे। कितनी देर आप अपने उपयोगको बाह्यकी ओर लगाये रहते है और कितनी देर अपने निज आत्माके ज्ञानमे लगा पाते हैं, इसपर जरा

आप भीतरमें कुछ विचार तो करे, जितनी देर आप सत्सगमे बैठे हो उसमे भी कोई बिरला ही मिनट ऐसा मिल पाता है कि जिससे अपने कल्याणकी जिज्ञासा होती है, बाकी समय तो सब उधेड बुनमे ही जाता है। सैकडों, हजारो, लाखो अनगिनते पुरुष हुए, वे भी अपनी-करामात दिखाकर चले गए, कोई यहा न टिक सके, तो यहा अपने आपके लिए क्या सोच रखा है ? मैं यहा सदा इसी तरह बना रहूगा क्या ? आप सब सदा इसी तरहसे बने रहेंगे क्या ? अरे अनन्ते तीर्थंकर हो गए, उन सबके नाम भी कोई नही जान रहे, वे सब भी यहा सदा न रहे। जिस कीर्तिकी आप यहा चाह कर रहे है वह कीर्ति है क्या चीज ? स्वार्थी जनोके द्वारा कुछ शब्द बोल दिए गए, उसे ही ये मूढ पुरुष समझते है कि मेरी कीर्ति हो गई, पर वह नितान्त असार चीज है। असारको असार यदि जान ले तो फिर यह चित्त आत्मामे लग जायगा। जहा ये बाहरी बातें सारभूत जानी जाती है तो वहा चित्त कैसे लग सकता है ? जो बात जैसी है उसको वैसी समझ लिया जाय तो फिर कल्याण अवश्य होगा। सम्यग्ज्ञानसे कल्याण होगा, मिथ्याज्ञानसे संसारमे रुलना पडेगा। सम्यग्ज्ञान वहा है जहा आत्माकी ऐसी शुद्ध स्वच्छताका भान हुआ है। मैं क्या हूँ ? यहा कुछ भी और चीज नही। केवल एक ज्ञानप्रकाश है और उसही का परिणमन है। मैं जानता रहूँ बस यही मेरा काम है, इसके आगे मेरा कोई काम नही, इसके आगे कोई कुछ करता है तो वह उसका ऊधम है। सारकी बात कुछ नही है। बस जो कुछ है, जान लिया। केवल जाननहार रहू, उसमे ही अपूर्व दशाका लाभ है, शाश्वत् आनन्दकी प्राप्ति है। जहा जाननेसे अधिक बढे वहा इसको केवल दुःख ही है, कष्ट ही है। जो मेरा कभी हो नही सकता, न हुआ, न हो सकेगा ऐसे इन बाह्यपुद्गलोके ढेरको यह मोही जीव अपना मानता है। तो यह तो एक मूढता है, जहा इतना व्यामोह बसा है वहा इस जीवको शान्ति कैसे मिले ?

ऋषि संतोंके चरित्रसे आत्मशिक्षण--लोग शान्ति पानेके लिए बडा प्रयत्न करते है, किन्तु विचार कुछ नही करते कि शान्ति पानेका ढग क्या है, उपाय क्या है, कैसे शान्ति मिले ? शान्ति पानेका तो उपाय तो ऋषि सतोने बताया। देखो उन ऋषि सतोकी पूर्व अवस्थामे कैसा उनके पास बडा-बडा राज्य साम्राज्य था, वे राजा महाराजाधिराज थे, लेकिन उनको उस विभूतिसे शान्ति न मिली। और, जब उन्हे यथार्थ ज्ञान जगा कि ओह ! ये सब समागम तो असार है, इनमे तत्त्वकी बात कुछ नही है। इनसे मेरा पूरा नही पडनेका। इनके लगावमे मेरी जन्ममरणकी परम्परा बनती रहेगी, प्रत्यक्ष बरबादीके ही वे सब सगम है आदि। बस उनका चित्त समस्त बाह्यपदार्थोंसे हट गया। फल यह हुआ कि उनका ज्ञान और वैराग्य बढा, सर्व कुछ त्यागकर वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर हुए, बनमे अपने आत्मासे ही बाते करते हुए तृप्त रहने लगे। अपने आत्माकी स्वच्छताको देखकर सन्तुष्ट हो गए। अब उन ऋषिजनोको

अपनी पहिलेकी स्थितिकी कोई यादगारी ही नही आ रही, कैसे भोग साधन थे, कैसा क्या ठाठ था वह कुछ भी अब उनके विचारमे नही आ रहा, उससे भी बढकर अनोखा आनन्द अब उन्हे वहाँ जगलोमें मिल रहा है। वह किस बातका आनन्द है? सबसे निराले केवल ज्ञानज्योतिर्मय अपने आपके स्वरूपका उन्हे बोध हो रहा, वे उसको ही लक्ष्यमे लिए हैं उसका आनन्द है। जब अपने आपके आत्माका सही ज्ञान हो उसका जो आनन्द है वही वास्तविक आनन्द है, बाकी तो सब एक भ्रम है। भ्रमसे जो क्लेश होता है उसका मिटाना बडा कठिन है। जब भ्रम नष्ट हो तब ही वह क्लेश मिट सकता है। जब तक भ्रम है तब तक इस जीव को कष्ट है। जिस क्षण इस जीवका भ्रम दूर हो जायगा उसी क्षण इसका कष्ट दूर हो जायगा। तो कष्ट मिटानेके लिए अपने भ्रमको दूर करनेकी कोशिश करे, बाहरी बातें तो पुण्यके अनुसार अपने आप मिलती है उनका क्यो ज्यादह विकल्प किया जा रहा है?

आनन्दमय होनेका अपूर्व अवसर व उपाय—आज बडे हुए है, अच्छा कुल पाया है, श्रेष्ठ धर्मका समागम मिला है तो धर्मकी बात बना ली जाय, इससे तो फायदा है। बाकी और बातोके सयोग जुटानेमे, विकल्प करनेमे इस जीवको लाभ नही है। अपने आपपर दृष्टि कीजिए। मैं देह नही हू। देह तो अपवित्र है, मैं पवित्र हू। इस देहमे तो हाड, मास, चाम, मल, मूत्र, नाक, थूक, पीप, खकार आदि समस्त गदी, अपवित्र घिनावनी चीजें भरी हुई है। यह शरीर महाघिनावना है, यह मैं नही हू। मैं तो इस शरीरके अन्दर विराजमान जो एक केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अमूर्त आत्मतत्त्व है वह हूँ। वही सर्वद्रव्योमे सारभूत, स्वच्छ, पवित्र चीज है। वही मैं आत्मा हू। अपने आपमे अनन्त वैभव भरे पडे है। कैसा अलौकिक सामर्थ्य है उसमे कि जिस सामर्थ्य पर दृष्टि करे तो जगतके सर्व बाह्यपदार्थ जीर्ण तृणवत् असार प्रतीत होने लगेंगे। इन दिखने वाले मायामयी पदार्थोंसे अपनी रुचि हटाना है और अपने आत्मस्वरूपमे जो आनन्द भरा हुआ है उसकी रुचि करना है। कितना सीधा उपाय है आनन्दमय होनेका, जिसमे किसी की पराधीनता नही जिसमे किसी अन्य साधनके जुटानेकी आवश्यकता नही। अपने ज्ञानको मोड लीजिए भीतरमे, अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि करने लगिए। जैसा कि मैं खुद हू सहजस्वरूप उस तरहका अपनेको मान लीलिए, बस सारे संकट तुरन्त समाप्त हो जायेंगे, किन्तु जो अपनी ऐसी स्वच्छताका भान नही करते वे बाहरी पदार्थोंका विकल्प कर करके मलिन बने रहा करते है। यह उपयोग अपने आधारभूत इस स्वच्छ आत्माकी ओर न रहे और बाह्य पदार्थोंकी ओर रहे तो यह हमारी मूढता है, मोह है, बेहोशी है। जिस जीवके अपने आपके स्वरूपमे उपयोग चलता है, निज स्वरूपको निरखकर तृप्त रहता है वह जीव चतुर है, वह इन सारे झभटोको शीघ्र ही खतम कर लेता है। तो आत्माका भान करे यही एक शान्तिका उपाय बनेगा, दूसरा कोई

शान्तिका उपाय न बनेगा। आत्माकी संभालके आगे यह लाखों करोडोका वैभव भी कोई मूल्य नही रखता। इसमे क्या दम है, क्या सामर्थ्य है ? ये मेरा क्या कर लेंगे ?

महात्मा जनोंकी वृत्तिकी उपासना--बडे-बडे ऋषि सतोकी इस उपेक्षा बुद्धिको निरखिये, बडा बडा राज्यपाट छोडकर एक आत्माके स्वरूपके ज्ञानमे लगे। तीर्थंकर महाराज भी जब तक गृहस्थावस्थामे रहे तब तक उन्हे चैन नही मिली। उन्होने भी इस गृहस्थावस्थाको छोडा, नियम संयमसे रहे, अपने आत्माके ध्यानमे लगे, तब उन्हे केवलज्ञान हुआ और वे भगवान बने। तो ऐसे वडे बडे तीर्थंकर भी जिनके इन्द्र सेवक थे, इन्द्र उन्हीकी तरह बच्चे बन बनकर उनके साथ खेलते थे, उनका दिल बहलाते थे ऐसे पुण्यवान तीर्थकर पुरुष भी तभी परमात्मा बन सके, तभी वे पूर्ण पवित्र बन सके जब कि उन्होने सारे ठाठ बाटका त्याग किया, उसका मोह राग विकल्प दूर किया और केवल एक अपने आत्माराम मे उन्होने रमण किया तब ही वे परमात्मा प्रभु बने। उनकी हम आप प्रतिदिन पूजा, भक्ति करते है, उनके गुण गाते है खूब हिन्दी, संस्कृत वगैरहकी विनतियाँ पढते है और इतनी बडी श्रद्धा बनाकर कि अमुक पाठ करनेसे मेरी सर्व बाधाये दूर होगी, उन पाठोमे है क्या ? भगवानके गुण गाये गए है। तो जिन भगवानके गुण हम आप प्रतिदिन गाते है उन्होने जो काम किया है उस कामके प्रति भी तो दृष्टि रखे कि इस तरह हमे भी करना चाहिए, तभी हमारा उद्धार है। यह प्रभु भी तो पहिले कभी निगोदमे थे, संसारमे भटक रहे थे, अपवित्र दशामे थे, लेकिन जब किसी भवमे उन्होने ज्ञान किया, अपने आत्माकी स्वच्छताकी सभाल की, अपनेको स्वच्छरूपमे निरखा तब उनके कर्म कटे, केवलज्ञान हुआ, सर्वज्ञ हुए, परमात्मा बने। तो जो मेरा स्वरूप है सो ही प्रभुका स्वरूप है। प्रभुका वह स्वच्छस्वरूप व्यक्त हो गया है, जिसकी स्वच्छताके कारण लोकालोकके समस्त पदार्थ एक साथ वहाँ झलक रहे है। फिर भी वे अपने आपमे स्थिर है, उससे जरा भी वे विचलित नही है और उनकी स्वच्छता वैसीकी वैसी ही निरन्तर रहती है। वहाँ जरा भी मलिनता नही आती।

अपनी स्वच्छत्वशक्तिकी संभालमें सहज आनन्दका लाभ--प्रभुकी जैसी स्वच्छता की शक्ति हम आपमे है, जरा उसका उपयोग करे, उसकी तरफ दृष्टि दे, अपने आत्मामे अपना उपयोग लगाये तो अपूर्व निधि प्रकट होगी और यहाँ इन बाहरी ककड पत्थरोमे अपना शिर मारेंगे, इन्हे विकल्पोमे ही अपने को बसाये रहेंगे, वहाँ इस आत्माको सारे उपद्रव लगेंगे। इन समस्त सकटोसे बचनेका उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है। मोक्षमार्ग मायने क्या है ? ससारके जितने भी संकट हैं उन सबसे छुटकारा पानेका उपाय मोक्षमार्ग कहलाता है। तो सर्व

सकटोसे छुटकारा पानेका उपाय है अपने इस स्वच्छ स्वभाव वाले आत्माका विश्वास करना। मैं ऐसा सबसे निराला स्वच्छ हूँ जिसमे केवल एक ज्ञानप्रकाश है। वहाँ मलिनता आनेका अवकाश ही नही है। अपने भीतरके उस सहज स्वरूपको देखिये। उसमे इतनी अपार सामर्थ्य है कि सर्व कुछ झलक जाय, फिर भी वहाँ मलिनता नही, आकुलता नही, क्षोभ नही, अन्त परम आनन्दका धाम ही रहेगा। ऐसे अपने इस स्वच्छ स्वरूपको सम्हालनेमे ही शान्ति मिलेगी। और, बातोकी सम्हालमे न तो शान्ति मिलेगी और न बाहरी बात कभी सम्हल भी सकेगी। आत्माकी सम्हाल करेगे तो आत्मा सम्हल जायगा और शान्ति मिल जायगी और परपदार्थोंकी सम्हाल करेगे तो परपदार्थ सम्हलेंगे भी नही, और अपने आपकी शान्ति भी मिलेगी नही। उसमे किसी भी प्रकारका लाभ नही है। यदि आत्मशान्ति की अभिलाषा है तो रत्नत्रयका पुरुषार्थ करना ही होगा। अपने आपको जान लें कि मैं केवल ज्ञानमात्र हू, और ऐसा ही जाननेमे लगे रहा करे, बाहरी विकल्पोमे न फसे तो यही अन्तरङ्गकी तपस्या इस आत्माको शुद्ध बना देगी और प्रभु बना देगी।

जीवमें प्रकाशशक्तिका प्रकाश--जगतमे बाहरकी समस्त चीजोको तो जान ले और खुदको न जान सके, तब भी वह अधेरेमे है। उसको न शान्तिका पथ मिलता है और न भ्रम दूर हो सकता है। जो ज्ञानी पुरुष अपने आपके स्वरूपको साक्षात् कर लेता है उसके समान वैभव वाला कोई दूसरा हो ही नही सकता। जीवको चाहिए आनन्द। वह आनन्द अपने आपके ज्ञानस्वरूपके ज्ञानोपयोगमे मिलेगा, बाहरकी चीजोपर दृष्टि देनेसे नही मिलता। आत्माको चाहिए महत्त्व। तो आत्माका जो स्वरूप है, सहज महान है वह दृष्टिमे है तव तो इसका वास्तविक महत्त्व है, बाहरी चीजोके मिलानेसे इसका कोई बडप्पन नही है। यह आत्मा स्वय ज्ञानमय है। ज्ञानमय है और खुदका ज्ञान न कर सके, यह बात तो बडे अचम्भे की है। अथवा समझिये कि यह बडी अज्ञानताकी बात है। यह तो ऐसा ज्ञानमय है कि स्वय प्रकाशमान है। इस आत्मामे एक शक्ति है जिसके कारणसे यह आत्मा स्वय प्रकामान है, उसका स्पष्ट स्वसम्वेदन है। भीतर देखो। हमने यदि जाना कि यह चौकी है तो यह चौकी है ऐसा जो भीतरमे एक निर्णय हुआ है वह ज्ञान तो स्पष्ट प्रकाशमान है भीतर और उसी प्रकाशमान ज्ञानके कारण यहाँ चौकीका निर्णय किया जा रहा है, किन्तु यह अज्ञानी जीव चौकीके ज्ञानकी बात तो जल्दी समझ लेते है और चौकीका ज्ञान जिस ज्ञानमे बन रहा है उस ज्ञानकी बातको नही समझ पाता। आत्मा स्वय प्रकाशमान है और स्पष्ट इसका स्वसम्वेदन हो रहा है। जैसे दीपक स्वय प्रकाशमान है और दूसरे पदार्थोके प्रकाशित होनेका कारण बन रहा है। दीपक जलाया तो वहाँ सारी रोशनी फैल गयी। सब पदार्थ जो कुछ घरमे है वे सब उजेलेमे आ गये, और यह दीपक स्वयं ऐसा प्रकाशमान है कि उस

दीपकको ढूंढनेके लिए किसी दूसरे दीपककी जरूरत नही होती। जैसे किसीने कहा कि अमुक कमरेसे पुस्तक उठा लाओ, तो वह कहता है कि मुझे बैट्री लावो। जब वह बैट्री लेकर जलाता हुआ जायगा तो पुस्तकको ढूंढ पायगा, इस तरहसे कही जलते हुए दीपकको लानेके लिए तो बैट्री या दूसरा दीपक प्रकाश करनेके लिए नही माँगता, क्योकि वह दीपक तो स्वयं प्रकाशमान है उसे तो यो ही देख लिया जायगा, ऐसे ही समझिये कि जो स्वरूप है, ज्ञान है वह स्वय प्रकाशमान है।

ऋद्धियोंके माहात्म्यके परिचयसे आत्माकी स्वभावऋद्धिकी महिमाका अनुमान— आत्मामे जो शक्तियाँ है अनन्त शक्तियाँ है, अपूर्व शक्तियाँ है, जिनके अल्प अल्प विकास वाले साधु सतोंको हम ऋद्धिधारी मुनि कहते है, जिनके बडी बडी ऋद्धियाँ उत्पन्न हो गई, शरीर छोटा बना लें, बडा बना ले, हल्का बना ले, भारी बना लें, ऐसा अन्तर्धान बनाले जो कि दूसरोको न दिखे और जिनमे इतनी ऋद्धियाँ हो जाती कि जिनके शरीरसे छुयी हुई हवा किसी रोगीके लग जाय तो उसका रोग दूर हो जाय। और, बात तो जाने दो, जिनके शरीरका पसीना, मल, मूत्र आदि भी किसी रोगीके लग जाय तो उसका रोग दूर हो जाय। ऐसी अद्भुत ऋद्धियाँ प्रकट हुई है, वे ऋद्धियाँ क्या है ? इस अनन्त शक्तिमान आत्माकी मामूली सी कला है जिन ऋद्धियोको हम इतना महत्त्व देते है वे ऋद्धियाँ भी आत्माकी जरासी कला है। इससे भी अनन्तगुनी कला ऋद्धि इस आत्मामे समायी हुई है। भगवान अरहत सिद्ध प्रभु केवलीके केवलज्ञानकी महिमाको कौन कह सकता है ? कितना स्वच्छ और स्पष्ट आत्मा हो गया है कि सारा विश्व जिनके ज्ञानमे झलकता है। यह आत्मा स्वय प्रकाशमान है।

विशुद्ध अन्तस्तत्त्वकी विशुद्ध ज्ञानगम्यता—जब हम आंखोसे देखते है तब आत्मा न दिखेगा, क्योकि इस प्रक्रियामे आत्माका उपयोग बाहरकी तरफ दौड गया। जब हम किसी भी इन्द्रियसे जानेंगे तो हम आत्माको जान सकेगे क्योकि इस प्रक्रियामे आत्माका उपयोग बाहरकी तरह दौड गया। अरे ज्ञान पैदा करके ऐसा प्रयास कर ले कि हमारा उपयोग बाहर की तरफ न दौडे और वह उपयोग मुडकर अपने आपके भीतरको ही निरखने लगे तो आत्मा जैसा प्रकाशमान है वह सब इसको विदित हो जायगा, सदा प्रकाशमान है, कोई देख सके या न देख सके यह उपयोगकी पद्धतिकी बात है, मगर आत्मा दिखनेके लिए, अनुभवमे आने के लिए सदा तैयार है, प्रकाशमान बैठा है। तो ऐसा यह आत्मतत्त्व भीतर प्रकाशमान है, जिसके समझे बिना बाहर ही बाहर घूम-घूमकर जीवोंने दुख उठाया। यही देखलो— दूसरे लोग इस कुटुम्बमे मोहमे आकर बहुत कुछ कष्ट मान रहे हैं तो हम उनकी मूर्खताका अंदाज कितनी जल्दी कर लेते हैं। देखो कितना मोह किया जा रहा है, व्यर्थका यह मोह। है कोई

किसीका नही, पर व्यर्थ ही मोह करके दुखी हो रहे…। तो दूसरेकी गल्ती तो लोग बहुत जल्दी समझ जाते हे पर अपने आपकी गल्ती समझमे ही स्पष्टरूपसे नही आ पाती है। तो जैसे दूसरेका मोह, दूसरेकी गल्ती स्पष्ट समझमे आ जाती है इसी तरह अपने मोहकी गल्ती भी स्पष्ट समझमे आये, कि मैं कितना मूर्ख बन रहा हू, बाहरमे मेरा कही क्या रखा है, न कुछ मेरे साथ आया था, न साथ जायगा। ये तो सब यहीकी चीजे है, मैं अपने अन्दर की चीज हू, बिल्कुल भिन्न है ये सब समागम। इन बाह्यपदार्थोंमे मोह करना यह बडी अज्ञानता है, मूढता है, यह मेरा काम नही। मैं तो स्पष्ट अपने अन्दरमे स्वय प्रकाशमान एक ज्ञानज्योति हू। उस ज्ञानज्योतिको निरखे और आनन्दमय रहे। बाहरमे जो गुजरता हो गुजरने दे।

धर्मसे सर्वत्र लाभ—देखिये—जो पुरुष आत्माकी ओर ध्यान लगायेगा वह जब तक ससारमे रहेगा तब तक भी भरपूर ऋद्धि सम्पन्न रहेगा, सुखी रहेगा, दीन न रहेगा। लोग तो यह सोचते है कि धन तो कमाना पडेगा, पर धन कोई कमाये जानेसे नही जुडता, अर्थात् किसी आदमीके शारीरिक परिश्रमसे नही जुडता, किन्तु पूर्वकालमे जो धर्मका सेवन किया था उस धर्मके प्रसादसे ऐसा पुण्यबध हुआ था कि जिसके उदयमे आज अनायास ही प्राप्त हो रहा है। तो इस धर्मकी बात कह रहे कि इसकी इतनी अनुपम तारीफ है कि जो धर्मकी ओर लगन रखेगा, अमूर्त ज्ञानमात्र अपने आत्मतत्त्वकी उपासनामे चलेगा उसे मुक्ति तो प्राप्त होगी ही, सदाके लिए ससारके सर्व सकट छूट ही जायेगे, पर जब तक मुक्ति नही मिलती, ससारमे बस रहा है तब तक भी वह अलौकिक ढगसे रहेगा, सम्पन्न रहेगा। बडे-बडे चक्रवर्ती नारायण आदिक पद, तीर्थंकर आदिक पद ज्ञानी पुरुषको ही मिलते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषको मिलते है। भले ही उनमे नारायण प्रतिनारायण जैसे कुछ पद ऐसे है कि नारायण प्रतिनारायण होनेके बाद सम्यक्त्व नही रहता, लेकिन उनको जो यह पद मिला है सो पहिले सम्यक्त्व था, उनका अद्भुत तपश्चरण था, जो स्वर्गसे आकर ही नारायण हए हैं। तो ऊँचे ऊँचे पदसे ये ज्ञानियोको प्राप्त होते है। ये बडीसे बडी विभूतिया ज्ञानी सम्यग्दृष्टिको मिलती है। तो धर्मका एक ऐसा प्रसाद है कि इसके फलमे मोक्ष मिलेगा और वह जब तक इस लोक मे जन्ममरण करता रहेगा तब तक भी वह सुखी रहेगा। तो अपना एक यही निर्णय बनावे कि हमे तो अपने आपको समझना है कि मैं प्रकाशस्वरूप हूँ, मैं अपने आप ही प्रकाशमान हू, मेरा प्रकाश किसी दूसरे पदार्थकी सहायतासे नही है। मैं स्वय ही इस प्रकारका पदार्थ हू कि निरन्तर प्रकाशमान रहता हू, सदा ज्ञानज्योतिर्मय रहता हू। कभी मैं चेतनसे अचेतन नही बना, चेतनस्वरूप ही रहूगा, ऐसी प्रकाशशक्ति इस आत्मामे है ऐसे इस आत्माका जो परिचय कर लेता है वास्तविक ऋद्धिधारी पुरुष वही है।

अनन्तकाल तक रहूँगा। यह जो मनुष्य मैं बना हू यह तो अनादि अनन्त नही है। यह पर्याय तो किसी समयसे मिला है और किसी समय तक रहेगा। कुछ ही दिन बाद नष्ट हो जायगा। मै नष्ट हो जाने वाला पदार्थ नही हू। नष्ट तो यह पुद्गल होगा। वैसे तो ये पुद्गल भी नष्ट नही होते, ये भी सदा रहेगे, पर इनके रूपमे परिवर्तन होता रहता है। ये भी सदा रहेगे, पर इनको जला दिया गया या ये स्वयं ही सडगलकर मिट्टी रूपमे, राख रूप मे हो गए, यत्र तत्र बिखर गए, अणु अणुरूपमे हो गए बस ऐसी दशा हो जाती है, पर जो परमाणु है वह कभी नष्ट नही होता, सदाकाल रहता है। मै आत्मा एक सत् हू इसलिए सदाकाल रहूगा।

आत्माकी निरन्तर ज्ञातृत—मैं निरन्तर रहता हू। और, मेरा स्वभाव है निरन्तर जाननेका। सोते, जागते, होशकी हालतमे, बेहोशीकी हालतमे, चलते फिरते, उठते बैठते आदि हर स्थितियोमे मैं कुछ न कुछ जाननेका ही काम करता रहता हू। यहाँ तक कि यहाँ से मरकर विग्रह गतिमे जाऊँ या देव आदिक पर्यायोमे पहुचूँ तब भी मैं निरन्तर जाननेका ही काम करता रहता हू। लेकिन ये जो क्रोधादिक कषाये जग जाती है उन रूप मैं नही हू। ये कषाये तो थोडी देरके लिए जगती है पर शान्त हो जाती है, क्रोध न रहे तब भी मैं जान रहा हूँ, क्रोधकी हालतमे भी मै जान रहा हू। क्रोध कषाय मिटकर घमड (मान) कषायमे आ गए तो वहाँ पर भी मैं जान रहा हू, इसी तरह माया, लोभ आदि कषायोमे आ गए तब भी मै जान ही रहा हू। तो समझिये कि ये कषाये मेरा स्वरूप नही है, क्यो कि ये सदा नही रहती। मैं तो वह हू जो सदा रहता हूँ। ज्ञान सदा रहता है, इसलिए मैं ज्ञानस्वरूप हू और सदा रहनेके मायने सदा प्रकाशमान रहता हूँ। किसी भी समय मैं पूर्ण ढक नही जाता, मैं तो सदा ही प्रकाशमान हूँ, ऐसा जो निरन्तर प्रकाशमान है उस आत्मा को हम जाने तो समझिये कि हमारा मनुष्यजीवन पाना सार्थक हो गया, अन्य बातोमें पडकर तो इस जीवनकी सार्थकता न समझे।

विषयसम्पर्कसे जीवनकी पशुजीवनतुल्यता—देखिये आप प्रतिदिन खूब बढिया रसीले भोजन खाते है, उसमे आप बडा मौज मानते हैं, पर उससे आपके जीवनकी सार्थकता न समझे। खाते तो ये पशु पक्षी आदि भी है। पशु पक्षी तो घास फूस अथवा फल फूल, दाने वगैरह खाकर मौज मानते है, फिर उनमे और आपमे कोई खास फर्ककी बात तो न रही। तो खाने पीनेमे मौज न माने, ये चीजें तो पशुपक्षियोकी पर्यायमे भी मिल जाती है। अपने जीवनकी सार्थकता इन बातोमे नही है। और भी देखिये आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदिक संज्ञायोमे ये मनुष्य भी मौज मानते है, ये पशु पक्षी भी मौज मानते हैं, तो इनमे मौज न माने, ये बातें तो पशु पक्षियोकी पर्यायमे भी प्राप्त हो जाती है, ये तो सब विना-

शीक चीजे है। इस मनुष्य जीवनको पाकर कोई ऐसी अद्भुत अविनाशी चीज पा ले जिससे कि अपना कल्याग हो जावे। ऐसा कर लेनेमे ही अपनी चतुराई है। यहाँके इन लौकिक कार्योमे थोडा चतुराई बगरा लेने से काम न चलेगा। अरे ये तो सब बाह्यपदार्थ है, अचेतन है, इन बाह्यपदार्थो से तेरा रच भी सम्बन्ध नही है।

बाह्यार्थोंके समागममें आत्मलाभकी अशक्यता––भैया! इन बाह्यपदार्थोंके सचय करनेका जो एक विकल्प बनाया है उनमे पडकर लाभ कुछ न मिलेगा, सारा टोटा ही टोटा रहेगा। मान लो यहाँ कुछ चतुराई करके धनिक बन गए, कुछ लोगोमे झूठी माया-मयी प्रतिष्ठा पा गए तो इससे आपका कुछ भी पूरा न पडेगा। ये तो सब विनाशीक चीजें हैं, व्यर्थकी चीजे है। तो इन बाहरी चीजोके पा लेनेमे चतुराई कुछ नही है। चतुराई तो इसमे है कि अपने आपके अन्दर विराजमान जो आत्मतत्त्व है उसकी परख कर लें, उसकी प्राप्ति कर ले। अन्य कार्यो मे चतुराई करनेसे तो धोखा है। उसके फलमे तो दुर्गतिका पात्र बनना पडेगा। वास्तविक चतुराई तो यह है कि अपने विशुद्ध चैतन्यस्वरूपको अपने लक्ष्यमे ले लें, यह मै स्वय आनन्दस्वरूप हू, परिपूर्ण हू, यह बात दृष्टिमे आ जाय तो इससे जीवन की सफलता है और यदि यह बात दृष्टिमे नही आयी, बाहर ही बाहरमे अपनी दृष्टिको भ्रमाते रहे, तो चाहे बडे बडे आविष्कारके कार्य भी कर डालें, पर उससे जीवनकी सार्थकता नही है। अपनेको परखिये कि मैं निरन्तर प्रकाशमान हू, किसी चीजसे ढका हुआ नही हूँ। जब मै परिपूर्ण सत् हू तो सत् प्रकट हो, सामने हो, खुला हो, इसको किसीने ढक नही रखा। मोही जीवने स्वय ही उल्टी श्रद्धा कर ली इसलिए ढक गया। जैसे हम पूरबकी ओर दृष्टि किए है तो पश्चिमकी तरफकी चीजें दिखनेमे न आयेंगी, और मुडकर अगर पश्चिमकी तरफको दृष्टि कर ले तो वह चीज दिख जायगी। तो इसी तरह इस मोही जीवकी दृष्टि पर-पदार्थोंकी ओर लगी हुई है, इसलिए ऐसा प्रकट प्रकाशमान निज आत्मस्वरूप उन्हे नही दिख रहा है और वे मुडकर बाहरसे दृष्टि हटाकर इस अपने आत्माकी ओर दृष्टि कर ले तो उनको यह आत्मस्वरूप स्पष्ट विदित हो जायगा। जिनका यह निर्णय है कि मैं प्रकाशमान हू, स्वत प्रकाशमान हू, किसी दूसरे पदार्थकी कृपासे प्रकाशमान नही हू, मेरा ऐसा ही स्वरूप है, स्वभाव है कि मै सदा सहज प्रकाशमान रहा करूँ। वस्तुका स्वरूप स्वय सहज रहा करता है। यदि ऐसा यह मै आत्मा उसको मै न जानूं तो यह तो इस जीवनमे बडे अधेरेकी बात है। यह समझिये कि मैंने इस जीवनमे कुछ नही किया। मुनिव्रत धारण करके अनन्ते बार नवग्रैवयकमे भी उत्पन्न हो गए, पर आत्माके ज्ञानके बिना इसने शान्तिका लेश भी नही प्राप्त किया। वह आत्मज्ञान क्या है ? वह आत्मज्ञान बडा सहज है, बडा सरल है, उसमे किसी की अपेक्षा नहीं करनी होती, किसीकी बाट नही जोहनी होती, किसी परपदार्थसे मेरे आत्मा

को प्रकाश नही मिलता। मै स्वय प्रकाशमान हू और मेरे ही द्वारा अपने आप सहज ही मेरा प्रकाश प्रकट होता है। ऐसी प्रकाशशक्तिके कारण मैं सदा स्वसम्वेदनस्वरूप हू।

स्वकी सहज प्रकाशरूपता—देखो—वाहरकी कोई चीज हम जान रहे हैं तभी ना, जव भीतरमे भी हम यह समझ रहे कि जो मेरा ज्ञान वन रहा है यह ज्ञान मेरा शुद्ध है। यह दरी है ऐसा भी जाने और इसके साथ-साथ यह भी ज्ञानमे आये कि यह मेरा ज्ञान बिल्कुल सही है, तो यहाँका ज्ञान भी स्पष्ट ज्ञानमे रहता है तब हम जान पाते है कि यह दरी है, ठीक बात है। किसी पदार्थको उपचारसे ठीक नही कर सकता। स्वयको ठीक करे, सच्ची समझ वनावे, यह आत्मा नित्य अन्त.प्रकाशमान है। कोई देखे अथवा न देखे, अज्ञानी नही जानता, लेकिन अज्ञानीकी आत्मा एक भीतरमे जाज्वल्यमान है, प्रकाशमान है, चमक रहा है, पर अज्ञानी अपने इस झलकते हुए आत्माको जान नही सकता। ज्ञानी पुरुष जान लेता है। जो जान ले वही ज्ञानी, जो प्रकाशमान अपने स्वरूपको न जाने सो अज्ञानी। तो आत्मा जो निरन्तर प्रकाशमान वना हुआ है वह इस प्रकाशशक्तिके कारण है। शक्तिके समझनेसे इस शक्तिके विलासके समझनेमे अनन्त शक्तियाँ समझमे आ जाती है। यह आत्मा एक ऐसा चैतन्यस्वरूप है जिसमे कष्टका नाम नही, जिसमे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है। जहाँ क्षोभका अवकाश नही, ऐसा ज्ञानानन्दस्वरूप मैं आत्मा हू। मुझे किसी वाहरी वस्तुके सयोगकी आवश्यकता नही, मैं दु खी ही नही, दु खी तो मैं बनता हू, हू नही दु.खी। कल्पनाये करी, बाह्यपदार्थोको अपनाया, बाह्यपदार्थोसे अपना महत्त्व जाना, बस उससे ही मै अपनेको दु खी बना डालता हू। दु खी तो वनकर होता है यह और आनन्दमय यह आत्मा खुद ब-खुद है, स्वय है। तो जो स्वय आनन्दस्वरूप है उस आत्माकी सुध ले, उसकी सम्हाल करे, उसकी उपासना करे, पूजा करे, यही तो भगवान आत्मा है। यही तो हमारा कारणपरमात्मा है, जिसके प्रसन्न होनेसे हमारे सारे सकट दूर हो जायेंगे।

आत्मामें असंकुचितविकाशत्वशक्तिका प्रताप—अपना यह आत्मतत्त्व परमार्थत अभेद अखण्ड एक स्वभावमय है, जिसको चैतन्य स्वभाव रूपसे कह सकते है। इससे आगे जव भेद मे पडते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि जितनी शक्तियाँ और गुण बताये हुए है वे सव इस चैतन्यस्वभावकी सिद्धिके लिए वताये जाते हैं। इसको एक ज्ञानस्वरूपमे ले लें। आत्मा जव अपनेको 'ज्ञानमात्र हू,' इस तरह अनुभवमे लेता है तो आत्माके स्वरूपका परिचय आसानीसे होता है। तो इस ही ज्ञानमात्र स्वरूपकी सिद्धिके साधक अनन्त शक्तियाँ वर्णित की जाती है। यद्यपि वे अनन्त शक्तियाँ इसके असाधारण स्वभावके साधकरूपसे है, फिर भी शक्तियो का जो विभिन्न स्वरूप है उस स्वरूपमे सब शक्तियोका अपना-अपना अलग-अलग प्रताप है। यहाँ एक असंकुचित विकासत्व शक्ति कही जा रही है। आत्मामे इस शक्तिके कारण

आत्मविकासके लिए क्षेत्रकी या कालकी सीमाका बधन नही रहता अर्थात् आत्माके गुणोका ऐसा असमर्यादित पूर्ण विकास होता है कि वह न क्षेत्रसे बँधेगा, जैसे इतने क्षेत्रको जाने, इससे आगे न जाने, न कालसे बँधेगा कि इतने समय तककी बात जाने, इससे आगे न जानेगा। तो सकोचरहित विकास होनेकी शक्ति इस आत्मामे है और ऐसा स्वभाव आत्मामे है, इसी कारण इसे ब्रह्म कहते है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है जो अपने गुणोसे बढता ही रहे, बडा ही रहा करे, तो आत्मामे जैसे ज्ञान गुण है तो इस सम्बधमे सम्भावना करे कि आत्माका ज्ञान सिर्फ १० हाथ दूर तककी बात जानेगा, इससे आगेकी बात न जानेगा तो क्यो न जानेगा ? यहाँ ही जब देखते हैं कि कोई कितनी दूरकी बात जानता है, अवधिज्ञानी और अधिक दूरकी बात जानता है और केवलज्ञानी जिसके कि शुद्ध ज्ञान प्रकट हो गया है वह समस्त कालकी बातको जानता है। जाननेका जो स्वभाव है जीवमे उस स्वभावके कारण उसमे मर्यादा नही बतायी जा सकती कि इतनी दूरकी ही बात जाने। क्योकि जाननेका स्वभाव है, जाननेमे आता है वह जो कि सत् पदार्थ हो। तो दुनियामे किसी भी कालमे जो कुछ भी वस्तु हो वह सब भगवानके ज्ञानमे आयेगा। तो ज्ञानमे सकोच नही है, आवृत अवस्थामे सकोच था, परतु स्वभावत सकोच नही हो सकता। अब अनावृत है, विकास चलता है। ऐसी परिपूर्ण शक्ति है, इसे असकुचित विकासत्व शक्ति कहते है।

जीवका अपराधके कारण असंकुचित विकासत्वशक्तिके लाभसे वञ्चितपना—जीवने बहुत-बहुत बातोका श्रद्धान किया, जिस किसी भी परपदार्थमें उपयोगको लगाया, परतु एक अपने आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूपकी श्रद्धामे ज्ञानमे अपने उपयोगको नही लगाया इस कारण यह आज तक भटक रहा है। अब प्रकट मूढता दिख रही है—दूसरे जीवसे इतना मोह रचा जा रहा कि उसको ही मान रहे कि यह ही मेरा सब कुछ है, इसी कुटुम्ब के पीछे सारा धन खर्च कर देगे ऐसी उनमे श्रद्धा बनी है, पर पडौसका कोई दूसरा दु खी हो उसके दु खका निवारण करनेके लिए कुछ भी खर्च करनेको मन भी नही होता, यह कितना बडा अज्ञान और मोहका अधकार है, इसे कितनी बडी मूढता कही जाय ? जो जीवो को कुछ भी समान नही समझ सकते। सब जीवोमे एकसी जान है, एकसा ज्ञान दर्शन है, समान शक्तियाँ हैं उन जीवोमे अटपट कोई जीव आपके घरमे आ गया तो क्या वजह है फिर कि वह आपका हो जायगा। जैसे ये जीव हैं वैसे ही सब जीव है, पर मोहकी बलिहारी है यह, इस जीवकी ऐसी मूढता गड्ढेमे गिरा देती है कि यह एक-दो जीवोको मान लेता है कि ये ही मेरे सब कुछ है। मेरी जान, मेरा शरीर, मेरा धन सब कुछ इनके ही लिए है, अपने आपकी सत्ता भी कुछ महत्त्वशाली नही मालूम पडती है और यह जानता है ये बच्चे लोग अच्छे रहे, धनी रहे तो इससे हमारा बडप्पन है, हम सुखी रहेगे। कितना बडा

घोर अँधकार है। जिसने इस आत्मस्वरूपको नही जाना उसके यह मूर्खता भरी रहेगी, उसे मेटनेके लिए कोई दूसरा न आयगा और जब तक यह मूढता रहेगी तब तक जीवको शान्ति का मार्ग न मिलेगा। समय आ रहा है, जीवन समाप्त होनेका क्षण भी नजदीक है जिस क्षण इस देहको छोडकर चले जायेगे। आगे जाकर न जाने कहाँ रहेगे ? वहाँ फिर ये बच्चे लोग कुछ मददगार होगे क्या ? लेकिन जो मददगार न हुए हैं, न हो सकते है उनके लिए तो सर्व कुछ समझ रखा है, अपना तन मन धन वचन और जो हितकारी है, जो तत्त्वज्ञान जैसी बात है, जो देव, शास्त्र, गुरुका प्रसग है उसे कुछ महत्त्व नही दे रखा है, अगर रूढिवश पूजा भी की तो लक्ष्य यही रहेगा कि मेरा धन वैभव ठीक रहे, मेरे घरके बच्चे लोग खुश रहे, तो आप देखिये कि अपने आपको न जाननेसे जीवमे कितनी बडी मूढता आ जाती है ? खुदका कुछ पता नही कि मुझमे कैसी अनन्त शक्तियाँ है, और यह जानता है कि मेरे ये बच्चे मुस्कराते रहेगे, ये सुखी नजर आते रहेगे तो मेरा जीवन धन्य है, मैं सुखी हू, इसी मे मेरा बडप्पन है। कैसी मोहभरी बात सोच रखी है, और है क्या कि सभी अपनी अपनी कषायसे भरे हुए है, वे अपनी कषायके अनुसार कार्य करते है। आपके आत्मासे बिल्कुल जुदा आत्मा है, लेकिन इस अटकावने आत्माकी अनन्त शक्तियोका विकास रोक दिया।

मायामय निःसार रागकी अटक समाप्त होनेपर असंकुचित विकाशत्वशक्तिका पूर्ण अभ्युदय—यदि बीचमे रागकी अटक न रहे तो प्रभु परमात्मासे इसका साक्षात् मिलन हो जाय, अपूर्व आनन्द आ जाय, मगर यह आनन्दका उपाय तो मोहीजन चाहते ही नही और जो झूठा मौज है, कल्पनाभरकी बात है उसमे ये तृप्त रहते है। हे आत्मन् ! यदि तुझे अपनी शान्ति चाहिए, उद्धार चाहिए तो इन सब बीचके रागके अटकोको दूर कर और अपनेको निरख कि मैं कैसा अनन्त सामर्थ्यवान एक ज्ञानज्योति स्वरूप पदार्थ हू, स्वयं सिद्ध हू, स्वय मैं परिपूर्ण समर्थ हू, मेरेमे बिना सकोच किए परिपूर्ण विकास हो ऐसा स्वभाव पडा हुआ है। इसको किसीकी प्रतीक्षा करनेकी जरूरत नही है, मेरा आनन्द, मेरा कल्याण, मेरा ज्ञान किसी दूसरी वस्तुके आधीन नही है। उसही दृष्टि द्वारा अपने भीतर अपनेको निहारू और उसही अलौकिक निज क्षेत्रमे विचर कर तृप्त रहू तो मैं ही तो प्रभु हू, मै ही तो समर्थ हू, पवित्र हूँ, शुद्ध हू, दु खका जरा भी काम नही है। लेकिन इस तत्त्वको तो दृष्टिमे नही लेते और बाहरी बातोमे अपने मनको स्वच्छन्द बना रखा है और तिसपर भी मोह एक ऐसी बुरी विपदृष्टि है कि गलत रास्ते पर चलते हुए भी मान रहा है यह कि मैं तो बडा चतुर हू, पर चतुराई है कहाँ ? चतुराई तो यह है कि जो सदा कालके लिए जन्म मरणका सकट मिट जाय ऐसा उपाय बनाले और जिससे जन्म मरणकी परम्परा ही बढती रहे ऐसी ही करतूतमे यदि लगे रहे तो वह चतुराई नही कहलाती है।

अपने आत्माके ज्ञानकी ओर अपना पुरुषार्थ बनाये, इस आत्मामे ऐसी शक्ति है कि बिना किसी रुकावटके, बिना संकोचके इसका परिपूर्ण विकास हो।

असंकुचितविकासत्व शक्तिकी ज्ञानमें विभुता—आत्माका स्वभाव एक प्रतिभासका है, जो कुछ जगतमे हो वह सब इसके जाननेमे आये, प्रतिभासमे आये ऐसा एक मुख्य स्वभाव पडा है। इसका कार्य यही है, दूसरा कोई कार्य नही है, यह ज्ञानमय आत्मा अपना ज्ञानपरिणाम करे, स्वज्ञानपरिणति हमारी चलती रहे, बस यही इसकी असली करतूत है, बाकी विकल्प जो उत्पन्न होते है वे तो इस आत्माके लिए कलक है। विकल्प करनेका स्वभाव आत्मामे नही है। ये तो उपाधिका निमित्त पाकर आया करते है। इस आत्मामे विकार स्वभावत नही बसे हैं और न विकारोको करनेकी आत्मामे शक्ति बतायी गई है। फिर भी होने तो है ही। इसलिए वैभव की शक्ति द्वारा इस तथ्यका प्रकाश किया है कि उपाधिके सन्निधानमे जीव और पुद्गल अपने शुद्ध स्वभावके विपरीत परिणम जाते हैं, परन्तु वे विपरीत परिणमन स्वभावत, वैभाविकी शक्तिके कारण नही हुए हैं, वह उपाधि निमित्तके योगका फल है। तो आत्मामे ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि वह जानता ही चला जाय। कहाँ तक जानता चला जाय? तीन लोकको ही नही किन्तु अलोकको भी। और, इतना ही नही, लोकके बराबर यदि अनगिनते लोक और भी होते तो उनको भी जानता। यह आत्मा जानता चला जा रहा है, कब तककी बात जान रहा है? हजार लाख वर्षका नही किन्तु जबसे काल है, जबसे समय है, जबसे परिणमन है और जब तक समय होगा, परिणमन होगा तब तक की सारी बातोको यह जानता है। यह अनादि अनन्त है। इन समस्त अनन्त पर्यायोको भगवान जानते हैं लेकिन यह जानना इतना शुद्ध है कि इतना सब कुछ जाननेके बाद भी भगवानके ज्ञानमे बोझा नही लदता। यहाँ तो मोही जीव यदि थोडा बहुत भी परवस्तुओको जानते है तो उसका भी भार लाद लेते है, किन्तु भगवानके ज्ञानमे तो तीन लोक और अलोक सब समाये हुए है, उनको जरा भी भार नही है। वे अपने आनन्दरसमे लीन रहते है। ऐसा बिना सकोचके ज्ञानका विकास हुआ है कि अनन्त काल तकका और समस्त क्षेत्र तक का जाने, अनन्तक्षेत्रको जाने, अलोकाकाश भी तो क्षेत्र है फिर भी उस ज्ञानमे मानो क्षुधासी बनी रहती है, उसमे इतनी सामर्थ्य और है कि इतना काल क्षेत्र और हो तो उन्हे भी जान ले।

असंकुचित विकासत्वशक्तिकी आनन्दमें विभुता—और भी देखिये जैसे ज्ञान बिना सकोचके पूर्णतया विकसित हुआ है इसी तरह आनन्द भी बिना सकोचके पूर्णतया विकसित हुआ है। कितना आनन्द प्रकट है सिद्ध भगवंतके, प्रभु परमात्माके, इसके लिए जगतमे कोई उपमा नही है। उपमा देनेकी कोशिश की गई है कि देखो—लोकमे जितने इन्द्र है, देव है,

चक्रवर्ती है और जितने हुए थे, जितने होंगे और भी अन्य जीवोको जितने सुख हैं वे सब भी जोड़ लिए जाये, यह सब सुख जितना होता हो उसके भी कई गुना सुख एक भगवानमे है। भगवानका आनन्द किसी तरहकी उपमासे बताया नही जा सकता और यह भी बताया है रागी जीवोको समझनेके लिए। वस्तुत तो उनके आनन्दकी जाति ही अलौकिक है। ये सब सुख पराधीन ही तो है, विनाशीक ही तो है, ऐसे पराधीन विनाशीक सुखोसे भगवानके आनन्दकी तुलना नही हो सकती। प्रभुका आनन्द तो सहज और अमर्यादित है, किसी पर-की अपेक्षासे नही होता, उसमे कोई मर्यादा नही है कि कितने दर्जेका आनन्द है। पूर्ण आनन्दमय है। भगवानका स्वरूप सक्षेपमे जानना हो तो यो जान सकते है कि जिसमे अमर्यादित ज्ञान है और अमर्यादित आनन्द है उसे प्रभु कहते है। जिसका ज्ञान इतना विशाल है कि जिसकी उपाधि ही नही। लोकालोकका जाननहार है जिसका आनन्द इतना निर्बाध है कि जिसकी कोई हद ही नही। जिस सुखमे हद होती है वह सुख नही, दु ख है। उससे और बडे सुखकी ओर दृष्टि जाय तो उस सुखमे भी यह राजी नही होता। किसी पुरुषने एक लाखके वैभवमे सुख मान रखा हो और उसकी दृष्टि १०-५ लाख वाले व्यक्तिकी ओर जाती है तो उसे वह अपना सुख, सुख नही मालूम होता। उसे तो अपनी दीनता नजर आती है। तो संसारके सुखोमे किसको सुख कहा जाय ? जो विषम है, पराधीन है, त्रुटित है, काल्पनिक है वह सुख नही कहला सकता। तो ससारी जीवोके सुखसे तुलना करके भगवानके आनन्दका स्वरूप समझा जाय सो नही समझा जा सकता।

स्वानुभूतिसे प्रभुके व्यक्त सहज आनन्दका प्रबोध—स्वात्मानुभूति ही एक ऐसा उपाय है जिस उपायसे भगवानका स्वरूप समझा जा सकता है। स्वानुभूति क्या चीज है ? अपने सहज सिद्ध आत्माकी अनुभूति करना यही स्वानुभूति हैं। यह मैं आत्मा ज्ञान द्वारा ही सबको जानता रहता हूँ। जिस ज्ञानके द्वारा हम बाहरी पदार्थोको जाननेका प्रयत्न करते है उनमे सार नही हैं ना ? तो उनके जाननेका प्रयत्न छोडे और अपने ही अन्दर विराजे हुए उस नाथको जाननेका प्रयत्न करे। मेरा नाथ, मेरा शरण, मेरे अपने आपके अन्दर बसा हुआ है। सुखी होता है यह जीव तो कोई दूसरा इसे सुखी करने नही आता, दु खी भी होता है जीव तो कोई दूसरा इसे दु खी करने नही आता। और, जब सुख दु खसे छूटकर विशुद्धअनुपम सहज आनन्दमे आता है यह जीव तो यह तो अत्यन्त संकट ही है, आत्मोद्भव है। तो ऐसे इस ज्ञायकस्वरूप आत्माको जब कोई ज्ञानमे ले, बाहरी पदार्थोका राग छोड़े और वही मात्र अनुभव करे कि मैं सिर्फ ज्ञानमात्र हू। ज्ञान ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, यही मेरा सर्वस्व वैभव है। इस प्रकार जब अपने ज्ञानमात्र स्वरूपमे लगेगा यह जीव तो इसको स्वानुभव होता है। उस समयमे जो आनन्द जगता है उस आनन्दसे फिर भगवानकी तुलना की जा सकती है।

अहो ! मुझे कैसे स्वाधीन सहज विशुद्ध आनन्द जग रहा था, वह थोडी देरके लिए जगा, वह मेरा आंशिक आनन्द था। इससे अनन्त गुना आनन्द प्रभुमे है।

असंकुचित विकासत्वशक्तिके सुपरिचयके प्रतापसे प्रभुताका लाभ—अपने आत्माकी अनुभूतिके उपायसे हम प्रभुके आनन्दका स्वरूप समझ सकते है। और, जिसने प्रभुका स्वरूप समझा उसने अपने आत्माका स्वरूप समझा, जिसने आत्माका स्वरूप समझा उसने प्रभुके स्वरूपको समझा, इस उपायसे जब यह विदित हो गया कि अहो ! मैं अतुल अनुपम अनन्त शक्तियोका पिण्ड हूँ। मुझमे किसी भी बातकी कमी नही, मैं निराकुल होना चाहता हू तो निराकुलता मेरा स्वरूप ही है। जो शुद्धस्वरूप है उस ओर लगना है। कितना सहज काम है, कितना सरल उपाय है, इस ओर हम लगे तो हम स्वय अपने आप अपनेमे विकसित होकर उस अनुपम प्रभुताको प्राप्त कर लेंगे और जहाँ अपनी इस निधिसे चिगे, बाहरी पदार्थोंको महत्त्व दिया, उनसे ही अपना जीवन समझा तो यह क्या स्थिति है ? दयनीय स्थिति है। कीडा मकौडा, पशुपक्षियो जैसी स्थिति है। मनुष्य होकर यदि इन्ही रागद्वेष मोहकी बातोमे ही लगे रहे, इसी भोजनपान, आराम इन्द्रियके विषयसुख इनमे ही रमे रहे, घरमे आये हुए कुछ जीवोको अपना सर्वस्व समझ लेते, बाकी जीवोको गैर मान लेते, बाकी जीव दु खी हो तो हृदयमे रंच भी वेदना नही जगती, ऐसा कठोर हृदय हो जाना, ये सब बाते क्या है ? यह तो पशु, पक्षी, कीडा मकौडा जैसी जिन्दगी है। किसलिए श्रावक कुल पाया, किसलिए नरभव पाया, और ऐसा श्रेष्ठ धर्म जो मिला है वह किसलिए मिला है ? इन्ही व्यर्थकी बातोमे गवानेके लिए मिला है क्या ? यदि ऐसा है तो ये सब श्रेष्ठ चीजें मिली है तो क्या, न मिलती तो क्या, बराबर है। अपने आपमे अपनी शक्तिको पहिचानें, मेरेमे ऐसी अद्भुत शक्ति है कि उसका पूर्ण विकास बिना रुकावटके, बिना सकोचके क्षेत्र, काल आदि किसीके भी बन्धनमे न आकर परिपूर्ण रहा करे, ऐसी मुझमे एक अद्भुत शक्ति है, उस शक्तिकी जिसे श्रद्धा है वह संसारमे रुलेगा नही, वह तो अपने आपके इस प्रभुका आलम्बन लेकर, इसकी शरण गहकर, इसकी उपासनामे ही तृप्त रहकर कर्मोको काटेगा और शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेगा। और, जिसने ऐसी अद्भुत अनन्त सामर्थ्यका भान नही किया वह ससारमे रुलेगा। ऐसी चतुराई करें, ऐसा उपाय बनावें कि ससारके जन्म मरण के सकट सदाके लिए मिट जाये।

शान्तिके अमोघ उपाय--जगतमे जितने भी जीव है उन सबकी एक यही अभिलाषा रहती है कि मुझे शान्ति मिले, सुख मिले। चाहे कोई भले कार्य करता हो या बुरे, पर अभिलाषा सभीकी एक यही रहती है। इस जीवने अभी तक उस शान्तिके, उस सुखके पाने के लिए अनेक उद्यम किए पर कभी प्राप्त न कर सका। तो अभी तक शान्तिसे, पारमार्थिक

सुखसे यह जीव वंचित रहा। इसका मूल कारण क्या था ? उसका मूल कारण यही था उसने अभी तक यही नही जाना कि शान्ति कहाँसे और कैसे मिलती है ? अरे जहाँ शान्ति का स्वभाव नही याने जिन दिखने वाले परपदार्थोंमें शान्तिका लेश नही, वहाँसे यह शान्ति चाहता है और जहाँ शान्ति बस रही है उसकी ओर यह निगाह भी नही करना चाहता। तो इस जीवको उस शान्तिकी प्राप्ति कैसे हो सके ? जिन बाह्य पदार्थोंसे इसने शान्ति समझा वे तो अशान्तिके ही कारणभूत है। खुदका आत्मा ज्ञान और आनन्दके स्वभाव वाला है सो ज्ञानानन्दकी उपलब्धि सरलतया हो सकती है। आत्माको शान्ति निज से मिलेगी, उस शान्तिको अन्य कोई छीन नही सकता। यह जीव जब अपने आपके स्वरूप की उपासना करेगा, अपने आपको ज्ञानानुभवमे लेगा समस्त बाह्य पदार्थोंका विकल्प तोडेगा केवल आत्मरुचि रखेगा तो इसे शान्ति मिल सकेगी। शान्तिका उपाय तो यही बताया है, जिसे एक सूत्रमें कह दिया है — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्राणि मोक्षमार्ग अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इनकी एकता मोक्षका मार्ग है। सम्यग्दर्शनका अर्थ है कि जैसा जो पदार्थ है उसको वैसा ही श्रद्धानमे लेना। अपना आत्मा, जिसको कुछ करने की इच्छा हो रही है, जो शाति चाहता है वह चीज है क्या ? वास्तवमे मेरा स्वरूप क्या है उसको श्रद्धानमे लेना और उसका ज्ञान बनाये रहना और उसमे ही लीन होना यह ही मुक्तिका उपाय है, शान्तिका उपाय है। तो आत्मा कैसा है इसको बहुत अधिक ज्ञानाभ्यास करके समझना चाहिए।

धर्मपालनमें प्रारम्भिक पौरुष—धर्मपालनके लिए आप जितना जो पुरुषार्थ करते हो उसमे यह समझो कि ९० प्रतिशत पुरुषार्थ आपका इस ओर होना चाहिए कि मेरा आत्मा वास्तवमे कैसा है ? मैं आत्मा कैसा हू ? यह बात बडी जल्दी समझमे आ सकती है ऐसा समझना चाहिए। पर जिसे समझना नही है उसके लिए बडा यत्न करे तब भी समझमे न आयेगा और समझनेके लिए कोई तैयार हो, समझना चाहे तो उसके लिए आसानीसे समझमे आयेगा। मैं आत्मा क्या हूँ ? यह बात कुछ थोडी देरको भी हम नही समझना चाहते है। पहिली बात तो यह है कि जो समझना चाहता है उसकी परीक्षा यह है कि उसे रुचि आत्माको समझनेकी सर्वाधिक हो। उसीको कहेगे कि यह समझना चाहता है। अब सर्वाधिक आत्माके समझनेकी रुचि बने, यह बात इस उपायसे बन सकती कि इतना तो पहिले समझमे आना चाहिए कि जगतका जो कुछ भी समागम है वह सारहीन है। घरमे रहना है, कुटुम्बका सम्बन्ध है या लोगोमे इज्जत है या जो जो कुछ भी मिला है वह सब सारहीन है। इनसे आत्माका पूरा नही पडता और इस वक्त भी लोग इनसे सुख मानते है, पर इनसे सुख नही मिलता। वे भी एक आकुलताकी बातें है। जगतके जिन

समागमोसे लोग सुख मानते, वे जिनके पीछे रात दिनके चौबीसो घंटे लोग अपने चित्तको फसाये रहा करते है, वे सब समागम सारहीन है, उनके पीछे अपना समय खोनेसे कुछ लाभ न मिलेगा। कोई व्यक्ति, जिसके चित्तमे यह बात समायी हो कि मुझे तो अपने आपको समझना है कि मैं क्या हूँ, उसे चाहिए कि गुरुवो द्वारा, शास्त्रो द्वारा या धार्मिक चर्चाओ द्वारा समझे कि मैं क्या हू ? मैं बहुतसे पदार्थोंको जानता रहता हूँ तो जो जानने वाला मैं हू तो मेरा जाननेका स्वभाव हुआ कि नही ? मुझमे जाननेका स्वभाव भरा पडा है तभी तो मैं जान रहा हूँ। मैं जानता हू तो समझूं कि मुझमे जाननेका स्वभाव पडा है। बतलाओ जिसमे जाननेका स्वभाव पडा हो, वह ज्ञानसे लबालब भरा हुआ है, फिर भी उसके जाननेमे बडी कठिनाई हो रही हो तब तो यह बडे अधेरकी बात होगी। हम समझना चाहे तो अपनेको बड़ी आसानीसे जान सकते है, क्योकि समझने वाले तो हम हैं और जिसे समझना है वह भी हम हैं। शान्तिका उपाय ज्ञान है। तो जिसे समझना है वह ज्ञानसे लबालब भरा है। ऐसे आत्मामे इस ज्ञानको समझना चाहे तो स्पष्ट समझ सकते है, और यह काम यदि कर लिया तो जीवन सफल है, और वही काम अगर न बने तो जीवनमे मान लो दया, दान, पूजा, तपश्चरण आदि कुछ भी करके पुण्य कमा लिया तो पुण्य तो कमा लिया, पर उससे मोक्षका मार्ग न मिल जायगा। मोक्षमार्ग तो तब मिलता है जब आत्माका ज्ञान करे।

ज्ञानस्वरूप आत्माकी स्वतःसिद्धता व स्वकर्तृताका निर्णय—मैं ज्ञानसे परिपूर्ण हू, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। मैं आकाशवत् अमूर्त हू। जब मै जाननेका स्वभाव रख रहा हू तो मुझमे रूपरसगधस्पर्शात्मकता, जडता कैसे हो सकती है ? यदि मुझमे रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक होते तो यह जाननेका काम नही हो सकता था। मैं जाननेका स्वभाव रखता हूँ, मैं अमूर्त हू, स्वत सिद्ध हू। सभी पदार्थ स्वत सिद्ध है। यहाँ अपने आत्माकी एक खास बात समझनी है। लोकमे अनन्तानन्त तो जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, जैसे चौकी वगैरह दिखते है उनमे अनन्तानन्त परमाणु भरे पडे हुए हैं. एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, इतने जगतके सब पदार्थ हैं। ये पदार्थ हैं। इनमे किसी भी पदार्थकी सत्ताके बारेमे प्रश्न कर लीजिये—"वह है" तो वह किस कारणसे है ? किसकी दयासे है ? किसीकी दयासे नही। खुद स्वय सिद्ध है। है तो अपने आप है, जो "है" होता है, उसमे ये तीन स्वभाव उत्पादव्ययध्रौव्य अपने आप पडे हुए है। नवीन पर्याय पाना, पुरानी पर्याय विलीन करना और फिर भी बना रहना। "उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सत्" याने—सारे जगत के समस्त पदार्थ अपने आप उत्पन्न होते हैं, विलीन होते हैं और फिर भी सदा बने रहते है। तो जब मैं भी एक सत् पदार्थ हू तो मैं भी अपने आपके स्वरूपसे अपनेमे अपनी परिणति बनाता हू। ज्ञानपरिणति बनायें, आनन्दपरिणति बनायें, सुख दुःख आदिकवी परिण-

तियाँ वनाये, जो कुछ भी मेरेमे बात गुजरती है सब मै ही बनाता हूँ । मेरा परिणमन करने वाला मैं ही हू । कोई नयी पर्याय बनी तो पहिली पर्याय मिटी । जैसे मिट्टीके लोधासे घडा बना तो वह लोधा अपने आप विलीन हो जाता है, जब मेरी कोई नई पर्याय बनी तो पुरानी पर्याय विलीन हो गई । यो मै कभी नष्ट नही होता, सदा बना रहता हू । इसी तरह ससार मे समस्त पदार्थ भी बनते है, बिगडते है और फिर भी बने रहने है । तो इससे यह जान लिया होगा कि मैं जो कुछ भी करता हू वह अपने आपका ही करता हू, किसी दूसरेका मै कुछ नही करता । जैसे किसी गुरुने शिष्यको पढाया तो गुरुने अपनेमे अपना काम किया, शिष्यने अपनेमे अपना काम किया, गुरुने शिष्यमे कुछ नही किया, शिष्यने गुरुमे कुछ नही किया । हाँ शिष्यको ज्ञान सीखनेमे वह गुरु निमित्त हुआ । तो ऐसे ही समझिए कि मैं किसी परपदार्थमे कुछ नही कर सकता, न कोई दूसरा पदार्थ मेरेमे कुछ कर सकता ।

आत्मामें अकार्यकारणत्वशक्तिका समीक्षण—मेरा अस्तित्व मुझमे है, दूसरेका अस्तित्व उसका उसमे है । हम अपना सब कुछ करनेमे स्वतत्र हैं, दूसरा पदार्थ अपना सब कुछ अपनेमे करनेमे स्वतत्र है । प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगडता है और सदा काल बना रहता है, यह प्रत्येक पदार्थमे स्वभाव पडा हुआ है । मुझमे भी यही स्वभाव है । मैं किसी दूसरे पदार्थका कार्य नही हू याने प्रभुने मुझे बनाया हो ऐसी बात नही है । प्रभु वह है जो ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण है । प्रभुका अनन्त आनन्द है, अनन्त ज्ञान है, ऐसा जो स्वरूप है अरहंत भगवानका वही मेरा स्वरूप है । भगवान वह है जिसमे अनन्तज्ञान और आनन्द प्रकट हो गया । प्रभु भी क्या कर रहे है ? अपने ज्ञान और आनन्दको विशुद्ध बना रहे है और विशुद्ध ज्ञानानन्दमे निरन्तर बर्तते रहते है । केवलज्ञानके द्वारा समस्त विश्वको वे जानते है । वे अपने उस आनन्दके द्वारा सदा निराकुल रहते है । अनाकुल रहना और समस्त विश्वका जाननहार रहना यह हैं प्रभुका काम । ये उपासना करने वाले साधु अथवा श्रावक क्या करते है ? प्रभुकी उपासना करते हैं तो प्रभुका कुछ नही करते । किन्तु अपने ही परिणामोमे ऐसी विशुद्धि लाते हैं कि अपना भला कर लेते है । प्रत्येक जीव अपना ही सब कुछ करनेमे समर्थ है, दूसरेका नही । ऐसी आत्मामे अकार्यकारणत्वशक्ति है, वह न दूसरेका कार्य है, न दूसरेका कारण । अपने आपमे अपनी पर्यायोको बनाता है ।

वर्तमान संकट और उससे छुटकारा पानेका उपाय—अब देखिये—इस समय हम आपका आत्मा इस शरीरके बन्धनमे पडा हुआ है । जन्ममरणके भारमे पडा हुआ हम आपका आत्मा आज सकटमे पडा हुआ है । यही हम आपपर वास्तविक सकट है । लोग तो सकट बाहरी बातोसे मानते है—वह तो एक पुण्यके उदयका ऊधम है । पुण्यके उदयमे कुछ वैभव आया था, अब पापका उदय आनेपर घट गया तो हो क्या गया ? यह कोई सकटकी वात

तो नही है, पर लोग तो इसीका बडा सकट मानते है। यह सकट नही है, यह तो व्यर्थका ऊधम है। हम आपपर वास्तविक सकट है जन्ममरणका। कदाचित् मान लो इस जीवनमे विशेष धनिक न हो सके तो उसमे आपका क्या विगाड हो गया ? उसमे क्यो संकट मानना ? अरे अपने ऊपर जो जन्ममरणका घोर सकट लगा हुआ है उसका निवारण करें। उसका निवारण तो होगा सम्यग्ज्ञानके प्रतापसे। वडे-वडे योगी जनोने इस जन्ममरणके सकटको मेटने के लिए क्या किया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको, रत्नत्रयको प्राप्त कर निर्वाण सिधारे। तभी उनका वास्तविक कल्याण हुआ। हम आपका कल्याण भी इसी उपाय से होगा। इस सारभूत कार्यको क्या योगी क्या गृहस्थ सभी कर सकते हैं ? हाँ योगीजन इस कार्यको वडे रूपमे कर सकते है और गृहस्थजन आशिक रूपमे कर सकते है। सम्यग्दर्शन तो योगी और गृहस्थ दोनोका एक जैसा वन सकता है। हाँ दोनोके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे अन्तर हैं। सयमी मुनि तो पूरे रूपसे इनका पालन कर सकेगा और श्रावक एक देश रूप से कर सकेगा। द्वादशाङ्गका ज्ञान तो मुनि भी कर सकेगा और श्रावक भी, सम्यग्दशन मुनि को भी हो सकता है श्रावक को भी। यो सम्यक्त्वमे तो कुछ कमी नही आ सकती योगी और श्रावकमे लेकिन ज्ञान और चारित्रमे अन्तर रहता है। तो सम्यक्त्व एक बडा धर्म है, जिसके विना जीव ऊँचे स्वर्गादिकमे भी उत्पन्न हो जाय, फिर भी ससारमे रुलना पडता है। तो अपना कल्याण करनेके लिए इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना होगा। इसीसे इस दुर्लभ मानवजीवनकी सफलता समझिये।

दुर्लभ मानवजीवनकी वास्तविक उपयोगिता—कैसा दुर्लभ है यह मानवजीवन ? सो वताया है कि यह मानवजीवन मिलना उतना मुश्किल है जितना कि किसी समुद्रके एक छोर पर बैलोके जुवाँसे एक सैलका निकलकर कही वह जाना और पुन उसी जुवाँके छिद्रमे उस सैलका प्रवेश हो जाना। उससे भी अधिक कठिन है यह मनुष्यभव, क्योकि यह जीव अनन्त काल निगोदमे रहा, वहाँसे निकला तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, बनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीव हुआ, वहाँसे निकलकर फिर दोइन्द्रिय, फिर क्रमश तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीव हुए। वहा भी मनरहित पञ्चेन्द्रिय हुए, पशु पक्षी आदि हुए तो वह जीवन भी क्या जीवन है ? यो मनुष्य होना तो एक वहुत बडे भाग्यका फल है। अब बडी मुश्किल मे मनुष्य वन गए तो यहा ऐसा कार्य करे कि जिसके आगे अन्य कोई अवनतिका कार्य न हो। यहा सर्वोत्कृष्ट उत्थानका पद है मोक्षप्राप्ति। इस मोक्षकी प्राप्तिके लिए सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्ति करनी होगी। अपने कषायोको अत्यन्त मद करना होगा। विषयोसे प्रीति तोडनी होगी। यहा तो लोगोको खाने पीनेकी ही एक ऐसी आदत हो जाती है कि जब देखो तव उनका मुख चलता ही रहता है। कभी कुछ खा रहे हैं, कभी कुछ। तो इन समस्त

प्रकारके भोगोकी व विषयोंकी वाञ्छा न रहे और अपना यही भाव रहे कि मैं ऐसा कौन सा कार्य करूँ जिससे मेरे आत्माका हित हो। यह भावना सच्चे हृदयसे बने। इस भावनाके बनाये बिना हमे अपने उद्धारका सही मार्ग न मिल पायेगा। मुझे यदि शान्ति चाहिए तो सर्वप्रथम अपने शान्तस्वरूपको समझना होगा। उस ही शान्तस्वरूपमे रमण करनेसे मेरा भला होगा। मुझे यही चाहिए। ऐसी जिसे रुचि जगे उसको सम्यक्त्व आसानीसे हो जायेगा। यहा आत्माकी बात कह रहे कि पहिले तो यह श्रद्धा लाये कि मै एक आत्मा शरीरादिक सर्वपदार्थोंसे निराला हूँ, मैं चेतन हू। ये सब दिखने वाले बाह्य पदार्थ जड है। मैं पवित्र हू, ज्ञानमय हूँ, मेरा आनन्दमय स्वरूप है, उसमे किसी प्रकारकी कोई आकुलताकी बात स्वभावसे नही पडी हुई है। यहा तो लोग इन बाहरी चीजोके सग्रह विग्रह करनेमे अपना वडा बडप्पन समझते है पर इनमे बडप्पनकी कुछ बात नही है। लेकिन फिर भी यहा जो कुछ मिला है वह सब पूर्वकृत कर्मका फल है। कोई यदि सोचता हो कि मेरे हाथ पैर आदिकके श्रम करनेसे यह कमाई होती है तो उसका यह सोचना गलत है। अरे यह तो पूर्वकृत कर्मका फल है। तो यहाकी इन बाहरी बातोमे अधिक दिल न लगाना, धर्मकी ओर अधिक समय तक लगाव हो तब तो फिर ये सब बाह्य पदार्थ पुण्योदयसे स्वत ही प्राप्त होगे उनमे रमनेका मेरा काम नही। मेरा काम तो मेरे आत्मामे आनेका है, यही मेरे करनेका काम है इस जीवनमे, और कुछ मेरे करनेका यहा काम नही है। यह जीव व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंके प्रति कल्पनाये बनाकर अपने को हैरान कर डालता है। अरे यह मैं आत्मा स्वय ज्ञानानन्दस्वरूप हू, मुझे किसी परपदार्थके पीछे क्या हैरान होना ? यहा जो बाह्य पदार्थोंके पीछे पडकर अपनेको हैरान किया जा रहा है। यह तो एक व्यर्थका ऊधम है। यह कोई शान्ति पानेका उपाय नही है। लोग तो व्यर्थ ही ऐसी हट बनाये है कि मैं इन बाहरी पदार्थोंका कुछ कर देता हूँ, मैं किसी दूसरेको सुखी अथवा दुखी कर सकनेमे समर्थ हूँ आदि। इस प्रकारके परके प्रति कर्तृत्व बुद्धि रखकर जो अनेक प्रकारके विकल्प बनाये जा रहे हैं ये तो अशान्तिके ही कारणभूत है।

आत्मसमाधानतामें सहज आनन्दका लाभ—यदि अपनेको यह समाधान हो जाय कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञान द्वारा ज्ञानका ही अनुभव कर सकता हू, इस ज्ञानमे ही समाऊँ, ज्ञानमे ही रम जाऊँ, इसीके करनेमे मैं स्वतंत्र प्रभु हू, इतना ही मेरा कार्य है, इसके आगे सब अधेरा है। इतनी बात यदि चित्तमे समा जाय तो फिर उसे शान्तिका रास्ता मिल जायगा। और, जब तक यह बात चित्तमे नही आती तब तक तो अशान्ति ही रहेगी। यह शान्तिका सही मार्ग हमे भगवान जिनेन्द्रदेवकी उपासनासे प्राप्त होता है। हमे इन देव, शास्त्र, गुरु पर कितना कृतघ्न होना चाहिए इसके लिए कोई तुलना नही की जा सकती।

जिसने यह समझ लिया हो कि हे आत्मन् ! तू तो सबसे निराले ज्ञानमय अपने स्वरूपको देख, और उसीमे रम । यही तेरी शान्ति है, यही तेरा आनन्द है । ऐसी बात हमे हमारे कल्याणके लिए जिस जैनशासनसे प्राप्त हुई है वह शासन सदा जयवन्त हो । इस जैनशासन के द्वारा हम आपका उपकार होता है, हम अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपका यथार्थ परिज्ञान कर सके हैं । अब तो मुझे अपने उस ज्ञानानन्दस्वरूपको ही परखना है, उसीमे रमकर तृप्त रहना है । यदि इस महान कार्यको कर सके तब तो हमारा जीवन सफल है अन्यथा इन बाहरी क्रियाकाण्डोमे ही यदि उलझे रहे तब तो जीवनकी बरबादी है । उसके फलमे तो इस ससारमे रुलना ही बना रहेगा, ससारकी घोर यातनायें ही सहन करनी पडेगी । इस कारण हमे इस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए निरन्तर यत्नशील रहना चाहिए । इसीमे हम आपका कल्याण है ।

अज्ञानमें जीवपर विपदा और कलङ्क—जीवमे आपत्ति है तो आस्रवकी । जीवमे आस्रवभाव हुआ करता है, यह जीवपर सकट है और कलंक है । आस्रव भावके मायने मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, ये ५ विकार जीवपर बडे भारी सकट है । मोह मिथ्यात्वका मतलब है कि जो बात जैसी नही है उसको उस प्रकारसे श्रद्धान करना और जैसा पदार्थ है वैसी श्रद्धा न हो सकना । जैसे देह मैं नही हू, देह निराला है, मैं निराला हूँ, क्योकि मेरेमे जो बात बनती है वह मेरे स्वरूपकी ही बात बनती है, देहमे जो कुछ बन रहा है वह देहके स्वरूपके अनुरूप ही बन रहा है । देहमे क्या होगा ? सडेगा, गलेगा, रूप रग बदलेगा, गध, स्पर्श आदिक बदलेंगे, वे सब देहके परिणमन है । आत्मामे क्या होगा ? आत्माके जो गुण हैं श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदिक इनकी जो परिणति होगी वह आत्मामे होगी । अब यह एक दूसरी बात है कि उपाधिके सन्निधानमे आत्मामे विकृत पर्यायें होती है, मगर जो होगी वे आत्मामे ही होगी, देह वाली बातें आत्मामे न होगी । इसी को कहते है कि यह दूसरेका न कार्य है, न कारण है । परमार्थत यह मैं अपने ही कारणसे हूँ और अपने ही कार्यको करता हू । जगतके सब पदार्थ ये अपने ही कारणसे हैं और अपने ही कार्यको करते हैं । जहा यह बोध होता है वहा वस्तुकी स्वतत्रता जान ली जाती है । प्रत्येक वस्तु अपने आपके अस्तित्वमे परिपूर्ण स्वतत्र है ऐसे ज्ञाताको बेहोशी नही रहती ।

मोह नाम बेहोशीका है । जिनके मोह है वे लोग शका करते हैं कि जब मेरे राग है तो मोह न रहे ऐसा कैसे हो सकेगा ? पर यह बात नही है । अरे राग अलग चीज है मोह अलग चीज है । राग नाम है प्रेमभाव आनेका और मोह नाम बेहोशी आनेका है जहां कुछ भी बोध नही अपने स्वरूपका और परके स्वरूपका । देखिये—कोई जीव ऐसा भी जानते कि ये दूसरे लोग है । कौन ये ? जो अपने घरके अतिरिक्त अन्य घरोमे रहने वाले हैं । तो

क्या इसे कोई ज्ञानकी बात कहेगे ? यह ज्ञान नही कहलाया। जाना तो जरूर है कि ये दूसरे हैं, मगर एक तो इस शरीरको ही जीव मान लिया, दूसरे जिनको अपने कामका न समझे ऐसे लोगोको गैर (दूसरे) माना। खुदके घरमे रहने वाले जो दो चार जीव हैं उनको मान लिया कि ये मेरे है। इस तरह दूसरोको दूसरा जानना यह भी कोई ज्ञानकी बात नही है। दूसरे जिस तरह दूसरे है उस तरहसे जाने। यह शरीर है सो इसके आत्मासे जुदा है, इससे तो इसका सम्बन्ध नही। आत्मा है इसका सो यह अपने चैतन्य अस्तित्वकार ही व्याप्त है, इसमे इसकी ही चेतना है मेरी नही, इस कारण ये दूसरे हैं। यह जीव है सो दूसरा है, शरीर है सो दूसरा है। ऐसा जाने कोई तो समझे कि उसने दूसरोको सही रूपसे दूसरा जान लिया। अगर इस तरहसे गैरको गैर, कोई सहीको सही समझ ले तव तो फिर वह खुदके घरमे रहने वाले लोगोको भी गैर (दूसरे) समझ लेगा। इनका यह दिखने वाला शरीर तो जड है। मैं जड हू नही, तो ये मेरे नही। इनका जो आत्मा है सो इनकी चेतनासे व्याप्त है, मेरी चेतनासे पृथक् है। इस तरह घरमे रहने वालो को भी उसी तरह से अपनेसे न्यारा समझे जैसे कि अन्य घरोमे रहने वालोको न्यारा समझा है। इनकी परिणति इनमे है, मेरी परिणति मुझमे है, इनसे मेरेमे कुछ नही आता, मेरेसे इनमे कुछ नही आता।

जैन शासनकी अपूर्व देन—जैन शासनकी सवसे वडी देन है तो इस तत्त्ववोधकी देन है, और वह आत्मासे सम्वन्ध रखता है। जिसे जैनधर्म कहो, वस्तुधर्म कहो, आत्मधर्म कहो। जो वस्तुमे वात पायी जाय उसे वताना यही वस्तुधर्म है, पर इसका नाम जैनधर्म क्यो पडा ? रागद्वेषको जीतने वाले जिन अर्थात् अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे यह सव ज्ञान मिला है इस कारण इसे जैनधर्म कहते है, पर इसका नाम वस्तुधर्म [illegible] तो वही वात है। वस्तुमे जो वात पायी जाती है उसे जैनधर्म कहते हैं। अव [illegible] इसमे किसी तरहका पक्ष नही है। जो वात वस्तुमे पायी जाती हो वह धर्म है। [illegible] मुझमें पायी जाती है वह मेरा धर्म है। आपका धर्म क्या है ? आपमे आपकी [illegible] हो सहज आपके ही सत्त्वके कारण किसी परके राग लपेटके विना जो आपका [illegible] है वह आपका धर्म है। उसका दर्शन कीजिए तो आप धर्मपालन कर रहे हैं। [illegible] अपने आपमे विराजमान उस सहज सिद्ध कारणपरमात्मतत्त्वको [illegible] सकता। धर्मके नामपर कितने ही उपाय कर लिए जायें वे सव उपाय [illegible] आत्माके लिए साधन वनाये गए है।

जैसे घरमे रहने तो इस आत्माकी सुध लेनेका अवसर नही [illegible] मिलता। वडे ज्ञानी हो वे ही सुध रख सकते है, क्योकि यह [illegible]

जरासी बातमे क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें जगती है, ऐसे गृहस्थी वातावरणमे धर्म की बातका आना कठिन है। फिर भी ज्ञानी जन कुछ समय प्रति दिन साधन अलग बनायें, आलम्बन कोई ऐसा बनायें कि जहाँ और कोई बात नही करनी है, केवल धर्मकी बात करनी है। वहाँ धर्मका वातावरण है, प्रभुका हम स्मरण बडी आसानीसे कर सकते हैं। आत्माकी सुधकी बात बडी आसानीसे रख सकते है इस कारणसे यह एक आलम्बन है। अगर यहाँ कहे कि यही धर्म है सो बात नही। जाप दे दिया, माला हाथमे ले लिया, मन्त्र जप रहे, ये सब तो आश्रय है, आलम्बन है, ये धर्मपालन नही है, क्योकि सब कुछ लोग गुस्सेमे आकर ऐसा भी कर सकते कि गुस्सा भी भीतरमे कर रहे और माला भी फेर रहे, अथवा मन्त्र भी जप रहे। तो यह कोई धर्मपालन तो नही हुआ। ये तो साधन है, सीधे धर्मपालन नही है। ये अच्छे आलम्बन है, इनमे रहकर अवसर मिलता है— कभी शान्ति होगी, इनसे धर्मकी ओर चित्त लगेगा। जाप किया, प्रभुका नाम लिया तो इससे बुद्धि ठिकाने लगेगी। अपने आपके आत्मामे बसे हुए सहज आत्मस्वरूपको दृष्टिमे लेंगे, जो कि प्रभुका स्वरूप है, तो देखिये धर्म बन गया। ये जो हमारे साधन है जाप जपना, मदिरमे आना, प्रभुकी उपासना करना आदि। ये जो आश्रय है वे धर्म है। कब धर्म है ? जब ये सब करने वालेके चित्तमे यह बैठा हो कि मुझे तो इस ज्ञानान्दस्वरूप प्रभुतत्त्वके दर्शन करने है, इसके लिए हम यह सामग्री लाये हैं। उसको ये सब व्यवहार धर्म बन जाते है।

सत्यशान्तिकी अभिलाषा होनेपर अपने भानकी आसानी—जिनके मोह है अपने आत्माकी सुध ही नही है, मैं आत्मा क्या हूँ, उसके लिए ये अभी धर्मका काम नही कर सक रहे। तब एक छोटीसी बात जो वे लोग भी आसानीसे कर सकते हैं, जिसके किए बिना धर्मके लिए इतना परिश्रम करने पर भी धर्मका फल नही मिल पाता, इसकी बात कह रहे है ध्यानपूर्वक सुनो। मैं आत्मा क्या हू ? हू तो मैं अवश्य। ऐसा तो नही है कि मैं नही हू। यदि कोई यह कहे कि मै नही हू तो उसीसे पूछो कि "मै नही हू" यह कौन कह रहा है ? तो वह कहता है कि 'मैं' कह रहा हू। मैं तो मान लिया, अस्तित्व ही तो मान लिया। मैं नही हूँ ऐसा जो कहता है वही तो मैं हू। अस्तित्वको कौन इन्कार कर सकता है ? तो मैं हू और मुझमे सुख दु ख आदिक नाना बाते बन रही हैं। मुझे दु खसे हटना है सुखमे आना है, यह काम चाहिए। तो सोचना होगा कि सुखके लिए इतने प्रयत्न हम आप करते है। फिर भी सुखी नही हो पाते तो इसमे कोई हमारी गल्ती होगी। क्या गल्ती है ? सुख, आनन्द, शान्ति, सन्तोष आदि जहाँ भरे हुए हैं, जहाँसे ये सब मिलते हैं, जिसमे ये सब निधिया स्वय ही बसी हुई हैं उसका पता नही किया। न हम उसकी ओर दृष्टि किए हुए हैं। ऐसी बेहोशी है कि हम उस शान्तिके खजानेको जानते नही। जब जानते ही नही

तो फिर शान्ति, सन्तोष आदि कहाँ से मिल पायेंगे ? तो हमें इस बेहोशीको हटाना है बस यही काम करना है। और, सब काम तो आसानीसे हो जायेंगे। पहिले अपने आत्माके स्वरूपको अपने उपयोगसे ग्रहण तो कीजिए, बाकी सब काम तो अपने आप फलीभूत हो जायेंगे। मै आत्मा स्वय शान्तिका भण्डार हू, ज्ञानानन्दसे भरपूर हू, रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक इस मुझ आत्मामे नही है। मै अपने आप ही स्वत सिद्ध हूँ, सिद्ध मायने निष्पन्न हू, मै हू, अपने आपमे हू। तो मुझमे यह स्वभाव पडा है कि मै प्रतिक्षण अपनी एक परिणति बनाऊँ, पहिली परिणति विलीन करूँ और इसी तरह अनन्तकाल तक रहूँ। यही मेरा रोजिगार है, इतनी ही सदा करता आया हू और इतना ही करता रहूँगा। मेरा सारा रोजिगार इतना ही है कि मै ज्ञानानन्द स्वरूप हू और ज्ञानानन्दका परिणमन मैं प्रतिक्षण करता रहता हू। कभी विकार रूप परिणमन करता हूँ तो कभी समय आयेगा कि विकार रहित परिणमनको करने लगेगे। तो मै अपने आपके अन्दर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक इन शक्तियोका कुछ परिणमन करता हूँ इसके सिवाय मै दुनियाके किसी पदार्थका कुछ नही करता। यह बात ध्रुव सत्य है। इसमे रच मात्र सदेह नही है। इसके निर्णयमे पहिले अपने अपने आपको लाना होगा।

सुखाभास व भ्रमोंसे हटकर स्वकी ओर आनेका संदेश—किन्हीको ऐसा लग सकता है कि मै धन नही कमाता तो फिर कौन कमाने आता है ? मै बच्चोका पालन पोषण नही करता तो फिर कौन इनका पालन पोषण करने आता है ? मै ही तो इन बच्चोका पालन पोषण करता हूँ। मै ही तो दुकानपर बैठता हूँ तब ये सब साधन बनते है। लेकिन बात ऐसी है नही। ये सब निमित्तनैमित्तिक भावसे काम बन रहे है। मै जो आत्मा हूँ अमूर्त, ज्ञानानन्दसे भरा हुआ जो किसीको छू भी नही सकता। जो किसी को पकड भी नही सकता। यह मै अमूर्त ज्ञानानन्दमय आत्मा दुकान करूँ, धन कमाऊँ, पालन पोषण करूँ या इन विषयोको भोगूं ये सब बाते मै नही कर पाता, किन्तु मै तो इसके सम्बन्ध मे उस समय विकल्प ही करता हू। मै ऐसा करूँ ऐसा विकल्प किया उसने। इच्छा की उसने, ज्ञान किया उसने। अब जैसा उदय है उसके अनुसार ये सर्व सामग्री मिलती हैं। उदयके विरुद्ध कोई चाहे कि मेरे को कोई सुख साधन मिले तो मिल नही सकते। ये सब पुण्यके अनुकूल ही मिलते हैं। पापके अनुसार ही ये दुःख मिलते है। मगर ज्ञानी पुरुष वही है जो सुख और दुःख दोनोको एक समान समझता है। सुख मिले तो क्या हुआ, वह तो एक कल्पित मौज है, सुखाभास है, वह तो छूट जायेगा। पराधीन सुख है। पुण्य हुआ तब ऐसे साधन जुटे, चीजे इकट्ठी हुई तब ऐसे साधन जुटे, ये पराधीन हैं। वास्तविक सुख तो आनन्द शब्दसे कहा गया। इस सुखको आनन्द शब्दसे कहने की पृथा बनाओ और इस झूठे

सुखको सुखाभास कहो। सुख शब्दका अर्थ है—सु मायने इन्द्रिय ख मायने सुहावना लगना, अर्थात् जो इन्द्रियोको सुहावना लगे उसे सुख कहते है। यहाँ का मौज तो झूठा है। जब आप भोजन करते हे तो यह बतइाये कि शान्तिपूर्वक करते है या क्षुब्ध होकर। खूब विचारपूर्वक देख लीजिए। आप शान्तिसे भोजन नही करते। यदि शान्ति होती तो भोजन करनेका श्रम ही क्यो करते ? वहाँ क्षोभ है, आकुलता है तभी तो भोजन करते हुए के बीच-बीच आप यह सोचते रहते हैं कि अब मै अमुक चीज खाऊँ अब अमुक। जब आप कौर चबाते है या निगलते है तब भी आप आकुलतापूर्वक ही निगलते हैं। मान लो एक स्पर्शनइन्द्रियका विषय है, विषयभोग कहो अथवा स्त्रीप्रसग कहो, यह भी आकुलताको लिए हुए है, क्योकि अगर शान्ति होती तो वह भोग करता ही क्यो ? आकुलता उठी है और आकुलतासे ही वह प्रवृत्ति हो रही है, लेकिन यह जीव बेहोश है तो कर रहा है आकुलता और मानता है मौज। यह सुख नही है, यह तो दु ख है। तो इन दु खोको इन ससारके सकटोको और इन सासारिक सुखाभासोको जो समान समझता है वही ज्ञानी जीव है। यहाँके सुख वस्तुत दु खरूप है, ये आनन्दरूप नही है। मै तो ज्ञानानन्द स्वभावसे परिपूर्ण हूँ, ऐसा ज्ञान किया, ऐसी श्रद्धा की और इस तरह जानने लगे तो समझिये कि अब यहाँ पर अपनी ओर आनेका प्रयास हुआ।

आत्मप्रगतिकी अनुभावना—कोई इस तरहका अनुभव करे कि मै ज्ञानानन्दमात्र हू इसे कहते है स्वानुभव। यह स्वानुभव अव्रती श्रावकोको भी हो सकता है, मुनियोको भी। स्वानुभवके होनेमे निषेध नही है। चित्तमे एक ऐसी लौ लावो कि मुझे तो स्वानुभव करना है। इस स्वानुभवके बिना तो जिन्दगी व्यर्थ है। इससे बिना धर्मके और-और काम भी केवल ऊपरी काम रह जाते है। कर्मनिर्जराका वास्तविक लाभ स्वानुभवके बिना नही मिल पाता। सम्वरभाव नही जगता। तो वह स्वानुभूति क्या है ? मै ऐसा ज्ञान बनाऊँ, मेरे ज्ञानमे केवल ज्ञानस्वरूप रहा करे, जाननमात्र, ऐसा प्रतिभासमात्र जो एक आत्माका स्वच्छ सहज भाव है वह मेरे ज्ञानमे रहे, इस तरहकी परिणति मेरे भीतरमे बने। इसके लिए उद्यम कीजिए। देखिए—गुरुसेवा, अथवा स्वाध्याय सयम आदिक इन सबका प्रयोजन यही है कि मेरेको भी स्वानुभूति हो। सेवा करते हुए—हे गुरुराज ! जैसे आप अपनी बेहोशीसे हटकर अपने ज्ञान-स्वरूपमे बहुत-बहुत रमण किया करते हैं और ऐसा अलौकिक आनन्द लूटते है, ऐसा ही अलौकिक वैभव स्वानुभव मेरेको भी प्राप्त हो, ऐसी भावना करे, ऐसी भीतरमे अभिलाषा होनी चाहिए।

स्वमें कार्यकारणपनेका निरीक्षण—मै ज्ञानानन्दसे भरपूर हू। मै अपने ही कार्यको कर पाता हूँ, मेरा मै ही कारण हू। मेरेमे मेरेसे ही बात प्रकट होती है। देखो कोई पत्थर

की मूर्ति बनवाये तो पहिले कारीगरको अपना सुझाव देता हैं कि ऐसी मूर्ति बननी चाहिए। सो वह कारीगर उस पत्थरको देखकर कहता है कि हाँ ऐसी मूर्ति बन जायगी। ऐसा कहते ही उस कारीगरके चित्तमे जैसी मूर्ति बनेगी वह उस पत्थरमे से दिख गई। उसको वह मूर्ति उस पत्थरमे अभी भी दिख रही है, अब वह क्या करता है कि उस पत्थरमे मोटी छेनी हथौडी चलाता है। वह छेनी हथौडी मारनेमे रंच भी गडबडी न करेगा। कहीं वैसा ऐसा न कर देगा कि छेनी हथौडी उस पत्थरके बीचमे मार दे क्योकि उसे तो वह मूर्ति स्पष्ट रूप से ज्ञानमे दिख रही है। वह करता क्या है ? उस मूर्तिका आवरण करने वाले जो पत्थर हैं उनको हटाता है। पहिले तो उसने बडी छेनी हथौडीसे बडे आवरणोको हटाना शुरू किया, उसके बाद कुछ बारीक छेनी हथौडीसे आवरण हटाया, फिर उसके बाद अत्यन्त बारीक छेनी हथौडीसे शेष रहे आवरणोको बडी सावधानीसे हटाता है। जब सभी आवरण हट गए तो जो मूर्ति अवयव उस पत्थर शिलाके अन्दर विराजमान थे वे ज्योके त्यो प्रकट प्रकट हो गये। तो उस कारीगरने वहाँ किया क्या ? परमार्थत उसने तो अपनेमे इच्छा की, कुछ प्रयत्न किया, पर व्यवहारका उत्तर यह है कि उसने उस मूर्तिका आवरण करने वाले पत्थरोको ही हटाया। जब पूरी तरहसे वे पत्थर हट गए तो मूर्ति ज्योकी त्यो प्रकट हो गयी। इसी तरह मान लो किसीको अपने अन्दर अरहंतदशा, परमात्मदशा प्रकट करना है तो उसे क्या करना होगा ? कही बाहरसे कोई सामग्री लाना नही है। सभी चीजे अपने आपके अन्दर ही बस रही हैं। वह परमात्मस्वरूप, वह अरहंतस्वरूप अपने आत्मामे स्वभावत निष्पन्न है, स्वय सिद्ध है। कोई नई चीज हमे आत्मामे भरना नही है जिससे कि हम वह अरहत अवस्था (परमात्म-अवस्था) प्रकट करे। तो हमे करना क्या होगा ? उस अर-अरहंतदशाको, उस परमात्मदशाको रोकने वाले जो आवरण पडे है उनको हटाना है। वे आवरण कौनसे है ? ये विषयकषायके भाव ही तो आवरण हे, इनको हमे हटाना है। इनके हटते ही वह प्रभुदशा वह परमात्मदशा तो अपने आप प्रकट हो जायगी। यह आत्मा स्वयं अपने अस्तित्वसे ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। ज्ञान और आनन्दसे भरपूर है, अब उसपर ये जो मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ५ प्रकारके विकारोका आवरण लगा है इसीको हटाना है। व्यवहारमे यह कह लो कि हमे इन अष्ट कर्मोको हटाना है क्योकि इन अष्ट कर्मोका निमित्त पाकर ही तो ये विकार भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए दोनो बातें हे, मगर हमारा जो साक्षात् उद्यम चल सकता है। हम ऐसा ज्ञान बनाये, ऐसा विवेक बनायें कि उन विषय कषायके भावोको हटाये। हममे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें न जगें। हममे बेहोशी न रहे और स्पष्ट ज्ञानका प्रकाश बना रहे। अगर यह बात बन सकती है तो यह कर्मोका आवरण हटेगा। जब कर्मोका यह आवरण हट जायगा तो वह ज्ञानानन्द शुद्ध प्रकट हो जायगा। उसे कहेंगे हम अरहंतदशा, परमात्मदशा।

शुद्धपरिणतिकी व्यक्तिके लिये साधन और सन्मार्गके प्रयोगकी आवश्यकता— अब परमात्म दशाको प्रकट करनेके लिए हमे साधन बनाना है। वह साधन बनाना है विषय कषायोके दूर करनेका। घर छोडना, दीक्षा ग्रहण करना, आदिक कार्य इसी लिए तो है कि इन बाहरी पदार्थोंसे हमारा सम्पर्क हटे, इनके प्रति होने वाले विकल्प हटें और हम अपने आत्मामे ही रमण कर सकें। बाहरी समस्त चीजें मेरेसे हट जायें, मैं केवल एक अकेला ही रहता हुआ अपनेमे भरे हुए इस ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मतत्त्वको ही देखूं, इसी लिए ये सब साधन जुटाये जाते है। तो अपने आपमे पडे हुए ये जो आवरण है वे हटेंगे कैसे ? हटेंगे ज्ञान द्वारा। अन्य किसी भी उपायसे नही। इसलिए हम तत्त्वज्ञान उत्पन्न करे। जो बात जैसी है, वस्तुका जो धर्म है उस धर्मको हम जानें, समझें, उसका विश्वास करे और उसकी स्वतन्त्रताको पहिचान ले और जान ले कि मेरा तो मात्र मैं ही हू। मैं अकेला ही यहाँ आया हू, अकेला ही यहाँसे जाऊँगा। मैं अकेला ही सुख दुख पाता हू, अकेला ही खोटे भाव करता हू, अकेला ही अच्छे भाव करता हूँ। मैं जो कुछ भी करता हूँ वह अकेले ही करता हू, दूसरा कोई मुझमे मिलकर कुछ कर रहा हो ऐसी बात नही है। जो अन्याय करेगा वही तो फल भोगेगा, दूसरा नही। हाँ अन्यायसे धन कमाया जाय, उसको घरके सभी लोग खाये तो और उस धनको यह जानकर भी कि अन्यायसे यह कमाया हुआ है—उसकी अनुमोदना करे, उसमे खुश होवे तो समझिये कि उन घर वालोने भी अन्याय किया। उस अन्यायका फल घरके लोग भी भोगेंगे। कोई ऐसा सोचे कि मैं धन पाप करके कमाता हू तो उस पापके फलको हमारे घरके लोग भी तो बाँट लेंगे, पर ऐसा नही है। आपने जो पाप कमाया उसका फल आप ही भोगेंगे और घर वालोने अपने परिणामोसे जो पाप कमाया उसका फल वे भोगेंगे। खुदके किए का फल खुदको ही भोगना पडता है। कोई किसी दूसरेके किएके फलको बाँट नही सकता। तो मेरी सब जिम्मेदारी मुझपर ही है, ऐसी समझ बनाकर अपने को अच्छा मार्ग अपनाना चाहिए। वह अच्छा मार्ग क्या है ? सो ऋषि संतोने सीधे शब्दोमे बता दिया है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यह रत्नत्रयरूप परिणाम ही हमारा सन्मार्ग है, अन्य कोई दूसरा हमारा सन्मार्ग नही।

रत्नत्रयकी प्राप्तिके उद्यमनका सदेश— कैसे यह रत्नत्रय प्राप्त हो इसके लिए हमे पहिले भेदविज्ञान प्राप्त करना होगा। यह दिखने वाला जो देह है यह मै नही हू, यह देह तो जड है, अचेतन है, मै आत्मा तो चेतन हू। मुझमे ये जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकार हो रहे हैं ये भी मेरे स्वरूप नही। ये तो औपाधिक चीजें हैं, ये मेरी चीज नही, मै तो एक ज्ञानानन्दभाव हूँ। केवल ज्ञान, दिव्य ज्योति ज्ञानप्रकाश प्रतिभास जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा स्वभाव है वह मै हू। पहिले तो सबसे हटकर अपने आपके श्रद्धानमे

आइये, श्रद्धान कीजिए, यह मैं क्या हू, मुझे क्या करना है ? आदि सब बाते फिर आसानी से समझमे आ जाती हैं। मुझे तो वह काम करना है जिसमे अपनी सुध बनी रहे। अपनी सुधसे हटकर बाहरमें अपने उपयोगको न दौडाये। मेरे करने योग्य कार्य यहाँ क्या है, क्या नही है, इस पर विचार करना है। मै अपने उपयोगको बाहर-बाहर ही न भटकाऊँ, अपने होश को न बिगाड़ू, एक अपने आपको ही जानूँ। अपने आपमे ही निरन्तर रमण करते रहनेका प्रयास करूँ और सन्तोष, वैभव, ऋद्धि, समृद्धि सब कुछ एक अपने आपके ज्ञान-दर्शन चारित्रको माने। यह तो है विवेककी बात और बाह्य पदार्थोंसे ही सुख मानना, उन्हींको अपना सर्वस्व समझना, उन्हींमे अपने उपयोगको फंसाये रहना यह तो बेहोशी है, पागलपन है। इस बेहोशीके होने पर तो राग रहता ही है और जिसके बेहोशी नही है उसके चारित्र मोहनीयके उदयसे राग तो है मगर अपना होश नही खोता है। विवेकी गृहस्थ लडकेको गोदमे लेकर उसे पटक देगा क्या ? ऐसा तो न करेगा। वह तो बच्चेको गोदमे लेकर उसे खुश ही रखनेका यत्न करेगा, मगर उसे यह होश है कि यह जीव मेरेसे अत्यन्त जुदा है, मै जुदा जीव हूँ, इस समय मेरा इस जीवसे सयोग मिला है और मुझे गृहस्थावस्थामे ऐसा करना चाहिए। मेरा इसमे कुछ वास्तवमे सम्बन्ध है नही। जैसे भरत चक्रवर्ती घरमे रहते हुए भी वैरागी थे। दीक्षा लेने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही उन्हे केवलज्ञान हुआ। देखिये भरत चक्रवर्ती अपनी समस्त सम्पदाको संभालते हुए भी वैरागी थे तो इसी तरह आप भी गृहस्थावस्थामे रहकर भी अपना होश रख सकते हैं। तो होश रखकर अपने सत्यस्वरूपको जाने, इसके लिए जो कुछ करना पडे, तन, मन, धन, वचन आदि सर्वस्व न्यौछावर करना पडे तो करे, पर अपने उस परमात्मस्वरूपको पा अवश्य ले।

परिणम्य परिणामिकत्व शक्तिका प्रकाश—आत्मामें एक अकार्य कारण शक्ति है, जिस शक्तिके कारण यह आत्मा किसी अन्यका कार्य नही है और यह आत्मा अन्यका कारण नही है। स्पष्ट भाव यह है कि आत्मा न किसी अन्य पदार्थका कर्ता है और न कोई पदार्थ इस आत्माका कर्ता है, ऐसी शक्ति सभी द्रव्योमे होती है, लेकिन यहा ज्ञानमात्र आत्माको लक्ष्यमें लेनेसे कैसे अनेकान्तमय आत्माकी प्रसिद्धि होती है, उस प्रसंगमे इन शक्तियोको बतलाया जा रहा है। आत्मामे एक अकार्य कारण शक्ति है। इसी भांति आत्मा मे एक परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति है। परिणम्य अर्थात् जो परिणमने वाला है। जो पर्याय परिणम रही है उसे कहते हैं परिणम्य और जो परिणमता है वह है परिणामक। आत्मामे परिणमन करते रहने की शक्ति है। ऐसा कहनेसे दोनो ही बातें आ जाती हैं। आत्मा प्रतिपर्यायरूपसे परिणम जाती है और आत्मा उन पर्यायोंको परिणमाता है अर्थात् पर्यायका परिणामक आत्मा है और आत्मामे परिणम्य वह पर्याय है, इस प्रकार परिणाम-करपना आन जो नल नही है उस शक्तिका नाम है परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति। इस प्रसंग

मे परिणमनकी बात अनेकरूपमे देखी जा सकती है, फिर भी आत्माका जो सहज स्वरूप है आत्माकी जो एक सहज सत्ता है उसका कारण स्वयं जो सहज है, उसको परिणमनरूपसे यहाँ प्रमुखतया कहा गया है, क्योकि उस सहज परिणमनमे ही इस जीवकी स्वतन्त्रता है। जो विकाररूप परिणमन होगा वह पर-उपाधिका निमित्त पाकर होगा, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पाकर होगा और वे विकार कई प्रकारके विषय आत्मामे सहजभावरूपमे नही है, इस कारण आत्मा उन रूप नही परिणमता है, यह बात यहाँ दिखाई जा रही है। यद्यपि क्रोधादिकभाव रूप आत्मा ही परिणमता है, कोई दूसरा पदार्थ नही, लेकिन सहज परिणमन नही। केवल आत्माके ही निमित्तसे उसका यह विभाव परिणमन नही। वहाँ पर उपाधि निमित्त है, स्वरूपसे विपरीत परिणति है। इन सब बातोको दृष्टिमे रखकर उसको यहाँ परिणम्य नही देखिये किन्तु ज्ञेयाकार और ज्ञानाकारके ग्रहण करनेकी बात परखियेगा।

परिणम्यपरिणामिकत्वशक्तिकी परात्मनिमित्तक ज्ञेयज्ञानाकारग्राहणग्रहणस्वभावरूपता—ज्ञेयाकार होता है किसी परवस्तुके विषयसे याने ज्ञानमे जो भी बाहरी पदार्थ विषयभूत हुए है उसकी जो यह समझ है, ज्ञान हुआ है, बस वही ज्ञेयाकार परिणमन कहलाता है तो ज्ञेयाकार परिणमन परवस्तु विषयभूत है, इस कारण कहेगे कि परनिमित्तक परिणमन हुआ, है स्वाधीन ही तो इसको ही यह आत्मा ग्रहण कर रहा है। इस तरहसे अनेक इन ज्ञानात्मक जाननरूप पर्यायोसे परिणमनेकी शक्ति आत्मामे है, वह ग्रहण कर रहा है। दूसरा जो ज्ञेयाकारके साथ ज्ञानाकार भी रहता है उस ज्ञानको भी यह आत्मा ग्रहण किए हुए है। जैसे स्वच्छ दर्पण है। स्वच्छ दर्पणमे बाहरी चीजका फोटो (प्रतिबिम्ब) आ गया तो क्या उस दर्पणने उन बाहरी वस्तुओके फोटोको (आकारको) ग्रहण कर लिया ? अरे दर्पणकी जो निजी स्वच्छता है, जिसके बलपर यह बाहरकी फोटो आ सकती है उस स्वच्छताको भी वह ग्रहण किए हुए है।

कदाचित् ऐसी सम्भावना कर लो कि जिस समय कोई बाहरी पदार्थ दर्पणमे प्रतिबिम्बित हुआ है उस समयमे दर्पण अपनी निजी स्वच्छताके आकारको हटा ले तो प्रतिबिम्ब न रहेगा। अगर दर्पणने अपनी निजी स्वच्छताको हटा लिया तो वह तो भीतकी तरह हो गया। जैसे भीतमे स्वच्छताका माद्दा नही है इसी प्रकार इस दर्पणने अपनी स्वच्छता दूर कर ली, प्रतिबिम्ब रहा आये सो नही रह सकता। सो जिस कालमे दर्पणमे बाहरी चीजका प्रतिबिम्ब पड रहा है उस कालमे वह दर्पण प्रतिबिम्ब आकारको ग्रहण कर रहा है और अपनी जो निजी स्वच्छता है वह भी ग्रहण कर रहा है, ऐसा आत्मतत्त्वके बारेमे जानना चाहिए। आत्मामे यह सारा विश्व प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसका आकार यहाँ आ रहा है। तो यह आत्मा उन ज्ञेयाकारोको ग्रहण किए है, मगर खुदमे जो ज्ञानभाव है, ज्ञाना-

कार है वह भी बराबर व्यवस्थित है आत्मामें। कहीं ज्ञेयाकार आ गया सर्वप्रदेशोंमें तो ज्ञानाकार मिट गया ऐसा होता ही नही है। जानन होता है सर्वप्रदेशोंमे। एक अणु भी ज्ञात होवे तो इसके सर्वप्रदेशोमे ज्ञात हुआ। तो अणु यद्यपि एकप्रदेशी है और उसका ज्ञान हुआ है मगर आत्मामे कही एक प्रदेशमे झलक होती है ऐसा नही है। याने कितना विलक्षण महत्त्व है कि एकप्रदेशी अणु भी जो ज्ञानमे आ रहा, अर्थ विकल्प हुआ वह असंख्यात प्रदेशोमे उपस्थित होकर हुआ या समझो कि आत्माके सर्वस्वसे हुआ। तो आत्मामे स्वच्छत्व शक्ति तो है ही, जिससे ज्ञान आकार रहेगा ही सदैव आत्मामे याने बाह्य वस्तु प्रतिबिम्बित न हो ऐसी सम्भावना करके फिर निरखा जाय कि यहाँ फिर अब क्या है ? यह वही ज्योति है, यह ज्योति इस विषयके कारण नही बनी हुई है। ये बाह्यपदार्थ विषयभूत हुए है, उनके बलपर यह ज्योति टिकी नही है। यह तो अपने सहज अस्तित्वके बलपर टिकी हुई है। जिस समय बाह्यपदार्थ ज्ञानमे आ रहे उस समय ही यह आत्मा ज्ञेयाकारको भी ग्रहण किए है और ज्ञानाकारको भी। यदि ज्ञानाकारको छोड दे, ज्ञानाकारको ग्रहण किए हुए न रहे तो फिर ज्ञेयाकार नही बन सकता। कहाँ ज्ञेय झलकेगा ? जब ज्ञान नही तो वह ज्ञेय पदार्थ आकर कहाँ झलकेगा ? इस तरहकी शक्ति परिणाम्य परिणामकत्व शक्ति कहलाती है।

आत्मामें ज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभाव—यह आत्मा ज्ञेयाकार ज्ञानाकारको ग्रहण कर रहा और इसको ग्रहण कराये ऐसा स्वभाव आत्मामे है, यह मर्म परिणाम्य परिणामकत्व शक्ति बतला रही है। यहाँ शुद्ध आत्मतत्त्वको लक्ष्यमे लेना है। तो हमे इन शक्तियो को भी शुद्ध दृष्टिसे निरखना है। निरखनेमे जो शुद्ध है उसके कारण कोई भी शक्ति विकार को उत्पन्न नही कर रही है। यद्यपि विकार हो गया, विकाररूप परिणमनकी योग्यता है उसका परिणमन है फिर भी चूंकि शक्ति आत्मामे आत्माके नातेसे है और इसके अस्तित्व को बनाये रखनेके लिए है तो आत्माकी ओरसे कोई आत्मशक्ति विकार रूप परिणमन करे यह बात नही होती। यद्यपि विकार आत्मशक्तिके ही विपरिणमन है और वे उपाधिका निमित्त पाकर होते हैं, जैसे कभी किसी घटनामे कहते है कि न इसका कसूर, न इसका कसूर, किन्तु समय था इसलिए बन गया। तो विकारमें किसीका कर्तृत्व न कहा जाएगा ? कर्म का कर्तृत्व, आत्माका कर्तृत्व किन्तु ऐसी दशा हुई कि वहाँ विकार आ गया है। अब यदि निमित्त दृष्टिसे निरखते है तो निमित्त कर्ता हुआ, उपादान दृष्टिसे निरखते हैं तो आत्मा कर्ता हुआ, लेकिन तथ्य यह है कि बात बन गई। विकारको न तो कर्म करते है और न आत्मा करता है। इसमे ज्ञेयाकार और ज्ञानाकारको ग्रहण करना यह परिणाम्य रूपमें शक्ति है और ज्ञेयाकार ज्ञानाकारको ग्रहण कराना यह परिणामकत्व शक्ति है। यद्यपि यहां ऐसी दो चीजे नही हैं कि एक ग्रहण करे और एक ग्रहण कराये, इतनेपर भी व्यवहार दृष्टिसे सद्भूत व्य-

वहारसे उनमे भेद कल्पना करके कहा है। आत्मा है और उसमे ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार बनता है तो ज्ञेयाकार ज्ञानाकारका तो ग्रहण हुआ। और ग्रहण कराया किसने ? कोई दूसरा पदार्थ इसको ग्रहण कराने न आयगा, न समर्थ है तो ग्रहण कराया किसने ? आत्मा ने। खुद ही परिणामक है, खुद ही परिणाम्य है, इस तरहकी परिणाम्य परिणामकत्वशक्ति आत्मामे शाश्वत विराजमान है। जो बात आत्मामे आत्माके सहज सत्त्वके कारण हो सकती है उसको परिणाम्यतामे लेकर यह निरखा जा रहा है। तो वहा विकारकी चर्चा नही है। जीव जाता है, उठता है अथवा क्रोध करता है, मान आदिक करता है। मनुष्य आदिक पर्यायोरूप होता है, ऐसे परिणमनोकी बात यहा शुद्ध शक्तिके प्रसगमे नही की जा रही है, किन्तु यह आत्मा स्वय अपने आपकी ओरसे किस तरह परिणाम सकता है और उनको परिणमाने वाला यह आत्मा है, यह दृष्टि की जा रही है और इस दृष्टिमे परिणाम देखा जा रहा है। तो ज्ञेयाकार ज्ञानाकारको ग्रहण करने रूप और ग्रहण कराने रूप शक्तिका नाम है परिणाम्य परिणामकत्व शक्ति। ऐसा जो आत्मा ज्ञेयाकार रूपसे परिणमा, उसको ग्रहण किया तो यह कार्य किसी परपदार्थने नही किया। जो विषयभूत हुए हैं लोकालोकके समस्त पदार्थ ऐसे परिणमन उन विषयभूत वाह्य ज्ञेय पदार्थोंने नही किया है, किन्तु प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभाव वाला होता है, सो यह आत्मा स्वय अपनेमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य करता है। तो यह स्वभाव है, इस स्वभावके कारण भी परिणाम्य परिणामकत्व आया है। तो किसी परपदार्थने आत्माका यह परिणमन नही किया। किसी विकारभावने आत्माका यह ज्ञेयाकार ज्ञानाकार ग्रहण करने रूप परिणमन नही किया है। ऐसा परिणमन इस आत्मामे शक्तिके प्रतापसे चल रहा है, यह बात इस शुद्ध शक्ति की कही जा रही है।

आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिका निरूपण—आत्मामे एक त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है। इसका अर्थ है कि आत्मा त्यागसे भी शून्य है और ग्रहणसे भी शून्य है। यह न त्याग करता है और न ग्रहण करता है। और जो भाव आत्मामे है, जो शक्ति है जो स्वरूप है वह शक्ति स्वरूप क्या इसका कभी छूट जाता ? क्या आत्मा उसको त्याग जायगा ? जो आत्मामे गुण हो, शक्ति हो उनको यहाँ कोई त्याग नही सकता और जो वाह्य पदार्थ हैं, जो इनके स्वरूपमे नही है ऐसे किन्ही भी वाह्य पदार्थोंको यह आत्मा ग्रहण नही कर सकता अर्थात् उस स्वरूप हो ही नही सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अस्तित्वरूप है और परचतुष्टयसे नास्तिरूप है। इसका भङ्ग कभी न होगा। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही है, परके स्वरूपसे न वन सकेगा अर्थात् अपने स्वरूपको त्याग दे यह वात न वन सकेगी। इसी प्रकार आत्मा परस्वरूपसे नही है, तो परस्वरुपसे नही है इसका कभी भङ्ग न होगा। कभी यह न हो सकेगा कि परस्वरूपका यह आत्मा उपादान करले, ग्रहण

करले । तो इस तरह आत्मामे त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है । अब इन शक्तियोको शुद्धदृष्टिमे पहिचान कर निरखियेगा । यहाँ यह देखा जा रहा है उस शुद्ध शक्तिको दृष्टिमे लेकर कि यो आत्मा अब विकारका भी ग्रहण नही कर रहा है, स्वीकार नही कर रहा है, स्वरूप नही बना रहा है । यह बात आप एक दृष्टान्तसे ले ले । जैसे दर्पणमे बाह्य पदार्थका प्रतिबिम्ब आया । प्रतिबिम्ब आया लेकिन वह बाह्य पदार्थ हटाया तो प्रतिबिम्ब भी हट गया । जब यह बात हम यहाँ दर्पणमे निरख रहे है कि निमित्त सामने आया तो दर्पण प्रतिबिम्बित हो गया और निमित्त सामने से हटा तो दर्पणमे प्रतिबिम्ब हट गया तो इसमे ऐसा मालूम पड़ता है कि दर्पणने उस प्रतिबिम्बको ग्रहण नही करना चाहा । उस प्रतिबिम्बरूप अपनेको नही स्वीकार करना चाहा, क्योकि अगर प्रतिबिम्बको ग्रहण करने की बात यह दर्पण स्वभावत करता तो प्रतिबिम्ब रहना चाहिए था । फिर प्रतिबिम्ब हटा क्यो ? इसी प्रतिबिम्ब पर हम यह कह सकते है कि वह प्रतिबिम्ब दर्पणके बाहर ही बाहर लोट रहा है, अर्थात् दर्पणके अन्त स्वरूपमे नही लीन हो रहा, स्वरूप नही बन रहा, इसी तरह यहाँ भी देखो—एक शुद्ध शक्तिकी दिशामे । आत्मामे ये विकार आये तो है मगर आत्माने इनको ग्रहण नही किया तो जैसे यह आत्मा ज्ञायकस्वभावको ग्रहण किए है, उसमे तन्मय है, शाश्वत उस रूप है, इस तरह उसे अगीकार नही कर सकता । निमित्त तो वह एक समय का हुआ । उस क्षणके गुजरनेपर वह पर्याय न रही । तो आत्मामे ये बाते गुजरी, मगर आत्माने इन्ही स्वीकार नही किया । अब इस दृष्टिमे यह भी नजर आयेगा कि तब तो ये विकार इस आत्मापर बाहर लोट रहे है, पर्यायमे आ रहे है, मगर उनको स्वरूप रूपसे अगीकार नही किया गया है । इस तरह यहाँ त्याग उपादान शून्यत्वशक्ति है ।

आत्मामें शून्यता व अतिरिक्तता न होनेसे शाश्वत नियतपना—शुद्ध दृष्टिमे शुद्ध शक्तिमे आत्माका विकारोसे सम्बन्ध नही, बाह्य वस्तुका सम्बन्ध नही, वहाँ त्याग उपादान की बात नही । अब रही बाह्य वस्तुवोके त्यागकी बात जैसा कि सयम मार्गमे चल रहा है । यहाँ वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे कहा जा रहा है । बाह्य वस्तुओका यह आत्मा न ग्रहण करता है और न त्याग करता है । बाह्य पदार्थोंके विषयमे विकल्प बनाता है और कभी उन विकल्पोको मेटता है । तो बाह्य पदार्थोंको अपनानेके विकल्पका ही नाम है बाह्य पदार्थ का ग्रहण करना और उन विकल्पोके छोडनेका नाम है बाह्य पदार्थोंको त्याग देना । तो ऐसा होने पर वहाँ इस तरह होता है, बाह्य पदार्थ त्याग दिए जाते है । बहुत दूर छोड़ दिए जाते है, यह बात एक फलितरूप है, मगर आत्मा त्याग किसका कर रहा है ? जो आत्मामे विकार आये उनका त्याग कर रहा है । ग्रहण किसका कर रहा ? आत्मामे जो विकल्प आये उनको ग्रहण कर रहा है । यह व्यवहारदृष्टिसे कहा जा रहा है । शुद्ध शक्ति

गुण भी अनेक पाये जाते है तो यह गुण भी अलग पदार्थ है, क्रिया, कर्म, परिणमन भी है वह भी पदार्थ है तो अलग-अलग जब पदार्थ हो गए गुण कर्म और द्रव्य तो इनका एक जगह मेल कैसे बताया जाय ? उसके लिए समवाय मानना होगा। यदि एक ही वस्तु मान लेते उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक तो इतना प्रलाप करनेकी आवश्यकता न होती। उत्पाद व्यय ध्रुवत्व शक्तिके कारण यह जीव अथवा पदार्थ प्रतिसमय उत्पन्न होता है, विलीन होता है और ध्रुव बना रहता है।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अविनाभाविता—उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य इनमेसे अगर कोई एक बात न हो तो शेषकी दोनो बाते भी नही हो सकती, याने वस्तु तो है और उसमे प्रतिसमय उत्पाद होता रहता है और फिर भी वस्तु बनी रहती है तो यदि पर्यायका व्यय न हो तो उत्पाद कहासे हो जायगा ? जैसे मिट्टीके पिण्डसे घडा बनता तो मृत्पिण्ड न मिटे तो घडा कैसे बन जायगा ? मृत्पिण्ड भी बना रहे, घडा भी बना रहे ऐसा नही होता, सो व्यय न माने तो उत्पाद और ध्रौव्य ये दोनो नही रह सकते। उत्पाद न माने तो व्यय और ध्रौव्य ये दोनो नही रह सकते। कोई ऐसा माने कि वस्तुपर्यायका विनाश होता है और वस्तु ध्रुव रहता है उत्पाद न माने तो विनाश हुआ, बस रहा क्या ? जब विनष्ट हो गया तो ध्रुवपना किसका रहा ? ध्रुवपना जब कायम है तब वस्तुके परिणमन होते रहनेको मानो। तो वस्तु मे उत्पाद हो तब व्ययध्रौव्य सिद्ध है। व्यय हो तो उत्पाद ध्रौव्य सिद्ध है। ध्रौव्य है तब उत्पाद व्यय सिद्ध हो। कोई एक वस्तु कायम हो तब कहा जा सकेगा कि इसमे नवीन पर्याय हुई, पुरानी पर्याय विलीन हुई। जब कोई वस्तु ध्रुव नही तो उत्पाद व्यय किस आधारमे आयेगे ?

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इस अमृतवाक्पानका प्रभाव—जैन सिद्धान्तका "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" यह प्रतिपादन ऐसा तथ्यभूत है कि जिसके आधारपर मोक्षमार्ग तक अवलम्बित है। ये उत्पादव्ययध्रौव्य जीवको बता देते है कि मेरा उत्पाद, मेरा व्यय और मेरा ध्रौव्य मेरे ही स्वरूपमे है, अन्यके स्वरूपमे नही। वस्तुस्वातन्त्र्य उत्पादव्ययध्रौव्यके जाननेसे प्रसिद्ध हो जाता है, ऐसा जिसको परिज्ञान हो गया, मेरा परिणमन मेरे ही द्रव्यमे से मेरी शक्तिसे हुआ करता है, और नवीन परिणमन होते ही पुराना परिणमन विलीन हो जाता है, फिर भी वस्तु वही शाश्वत त्रिकाल रहता है, ऐसा मेरा भी स्वरूप है। मैं एक असाधारण ज्ञानस्वरूप हू। तो असाधारण ज्ञानस्वरूप होनेके कारण मैं अपनेमे अपने ही स्वरूपसे परिणमता हू और इस ही पर्यायको व्यय करता रहता हू और सदा ध्रुव रहता हू। अब मेरेका अन्यमे सम्बध नही है। मोह किस बातका करना ? मोह होता है एक वस्तु का दूसरी वस्तुके साथ सम्बध है इस तरहकी बुद्धिमे। और इस तरहकी बुद्धि होनेपर जो

सर्वसे विविक्त अपने एकत्वमे रत चेतन ज्ञायक स्वभाव है उसका होश नही रहता। इसलिए मोह कहते है बेहोशीको। जहा अपना होश नही है, मैं क्या हू इसका परिचय प्रकाश नही है वहा ही मोह समझा जाता है। तो उत्पाद व्यय ध्रुवत्व शक्तिके और इस शक्तिके सही परिणमनको जाननेके फलमे इस जीवका मोह दूर होता है और मूलतत्त्व जिसमे कि यह उत्पादव्यय चलता रहता है वह दृष्टिमे आता है जिस मूल तत्त्वके सहारेसे, जिसके आलम्बनसे, जिसको लक्ष्यमे लेनेसे विकार दूर होते है, कर्मकलक दूर होते है।

सहज अन्तस्तत्त्वके दर्शनका लाभ लूटनेकी प्रेरणा—हम आपका कर्तव्य तो यह है कि जब इस अनादि अनन्त कालमे आज एक मनुष्यपर्याय पायी है तो हम अधिकाधिक ऐसा लाभ लूट ले कि जो लाभ हमारा अद्वितीय हो। हम जन्ममरणके संकट टाल सके। यह बात एक अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवसे सिद्ध होगी। मैं अपने ज्ञानमात्र स्वभाव पर दृष्टि दूं यह मैं अकेला केवल चैतन्यमात्र अमूर्त पदार्थ हू, यह बात दृष्टिमे आये तो इसके प्रतापसे हमारे जन्म मरणके सकट मिट सकेंगे। सबसे बडी बाधा तो पर्यायबुद्धि है। यह प्राणी थोडा बहुत समझकर भी क्रोधादिक कषायोके आवेगमे आकर अपने आपके होशको खो देता है। जो कि इसकी प्रत्यक्ष बरबादी है। यह समस्त शक्तियोका प्रकाश हमे निज स्वरूपमे प्रतिष्ठित होनेका एक अपूर्व सदेश देता है कि अपनी इन सहज शक्तियोकी पहिचान करे। इन सहज शक्तियोका आलम्बन ल, इन रूप अपने आपको परखे तो इस सहज शक्तिकी अपेक्षासे देखा जाय तो आत्मामे विकार न होना चाहिए। और हो गए तो चूंकि हममे ऐसी पात्रता थी, योग्यता थी, वह इस शक्तिके ही कारण समझ लीजिए कि ऐसी पात्रता थी कि उपाधि सन्निधान पाये और यह जीव उस विकारकी योग्यतामे चल रहा हो तो यह विकारी बनता रहता है, पर वे विकार केवल इन शक्तियोसे नही बने। जैसे स्पष्ट इन शब्दो मे अध्यात्मशास्त्रोमे बताया है कि विकार स्वनिमित्तक नही होते। स्वय ही उपादान हो और स्वय ही निमित्त हो तब तो विकारस्वरूप बन जायेगा और कभी विकार समाप्त नही हो सकेंगे। तो इन विकारोका उपादान यद्यपि स्व है, लेकिन निमित्त स्व नही है। यहाँ निमित्त पर उपाधि है तभी ये स्वभावमे प्रतिष्ठा नही पाते हैं और जब अपने स्वरूपका आलम्बन किया जा रहा है तो ये बाहर लोटे हुएसे थे तो यहाँ वे समाप्त हो सकते है।

शक्तियोंके परिचयका लक्ष्य अखण्ड वस्तुका परिचयन—ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी परिचायिकाये अनेक शक्तियाँ इस जीवमे है, ये सब सद्भूत व्यवहारसे बतायी जा रही है। उस द्रव्यमे कुछ ये शक्तियाँ पडी हो अर्थात् द्रव्य है उसीमे एक अमुक शक्ति यह है, ऐसा स्वतत्र कोई शक्ति पदार्थ पडा हो ऐसा नही है। वह वस्तु ही स्वय इस रूप है जिसको कि समझा, उसको समझानेमे इन शक्तियोका भेद व्यवहार किया और इन शक्तियोके भेद

अटपट नहीं किए गए है किन्तु यथावत् जैसा समझनेसे वस्तुका सही परिज्ञान होता है उस रूपसे शक्ति भेद किया है। ये सब सत् है ऐसा नहीं है। द्रव्य भी सत् हो, शक्तियाँ भी सत् हो, पर्याय भी सत् हो ऐसा नहीं है। सत् तो वहाँ एक द्रव्य है, वह अनन्तशक्त्यात्मक है और परिणमन करता रहता है। तो सत् तो एक वस्तु है और गुण पर्याय उसका अग है। समझनेके लिए एक भेदीकरण है। तो सत् तो एक ही है और वह है उत्पादव्यय ध्रौव्यस्वरूप है। यो उत्पादव्यय ध्रुवत्व शक्तिके कारण यह जीव अपने विशुद्ध उस स्वभाव परिणमनमे चलता है और पूर्व पूर्व परिणमनोको विलीन करता है और अपने द्रव्यरूपसे सदा रहता है। जब कभी जैसी भी विकार अवस्थामे यह जीव चल रहा है तो यह उत्पाद व्ययमे उस तरह हो तो रहा है, पर वहाँ इतनी विशेषता है कि परउपाधिका निमित्त पाकर हो रहा। उन शक्तियोपे इन सब विवेचनोमे एक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप आत्माको निरखा जा रहा है। यह आत्मा अनन्त गुण वाला है, ऐसा कहकर भी आत्माका परिचय मिला और वही परिचय आत्मा ज्ञानमात्र है ऐसा कहकर भी परिचय पाया गया।

शब्दसंकेत द्वारा अखण्ड वस्तुके परिचयका पौरुष—जिसने सर्व ओरसे सर्वधर्मोंका निर्णय कर लिया है वह किसी भी शब्द द्वारा उस समस्त वस्तुको ग्रहण कर लेता है। यदि ऐसा न हो तो कोई भी शब्द ऐसा नही है जो किसी वस्तुका भेद किए विना नाम हो जाय। किसी भी वस्तुका कोई नाम नही है कि जो उस अखण्ड वस्तुको बसा सके। जितने भी नाम है वे सब वस्तुमे भेद करके वस्तुको पुकारते हैं। जैसे कहा चौकी—तो यह चौकी इसका नाम नही है किन्तु इसका एक विशेषण है, इसकी एक तारीफ है कि जिसमे चार कोने हो उसे चौकी कहते है। जिसमे चार कोने हैं उसका नाम क्या ? नाम कुछ नही रखा जा सकता, और भी जो कुछ नाम रखेगे वे विशेषण बन जायेगे वे तारीफ करेंगे। जितने भी शब्द है वे सब शब्द तारीफ करने वाले है। जैसे कहा—मनुष्य, तो जिसको हमे मनुष्य कहकर समझना है उस द्रव्यका, उसका नाम मनुष्य नही है, लेकिन जिसके द्वारा हम उसे पूरा समझ जाये, किन्तु मनुष्यका अर्थ है कि जिसमे श्रेष्ठ मन पाया जाय। तो यह तारीफ ही तो हुई। यह मनुष्यपर्यायमे रहने वाला जीव एक ऐसा श्रेष्ठ आत्मा है कि इसमे श्रेष्ठ मन पाया जा रहा है। तो यह तारीफ हुई, उस चीजका नाम नही आ पाया। कौनसा शब्द ऐसा है कि जो विशेषताको न बताये किन्तु एक वस्तुको ही बताये ? यहाँ तक कि जब कोई कहे कि लो आत्मा मैं हू तो आत्मा शब्दसे वह पदार्थ पूरा परिचयमे आ गया। आत्मा नाम है एक चैतन्यपदार्थका। "सतत अतत जानाति इति आत्मा," याने जो निरन्तर जानता रहे उसको आत्मा कहते है। तो लो इसमे आत्माकी तारीफ हुई। तो जितने भी शब्द हैं वे सभी शब्द तारीफ करने वाले हैं और वे किसी धर्मका प्रतिपादन करने वाले है। तो जैसे उन

शब्दोको कहकर अर्थात् गुणोको बताकर, पर्यायकी बात कहकर, धर्मोकी बात बताकर किया क्या कि मैं अखण्ड ज्ञायकस्वरूपको जानूँ। ये सब संकेत है, विशिष्ट संकेत है कि जिनके द्वारा हम आत्माको पहिचान जाये। जैसे कोई वैद्य किसी पर्वतपर शिष्योको ले जाय जडी बूटियाँ बतानेके लिए तो वह एक डडेसे इशारा करता जाता है कि यह अमुक जडी है, यह अमुक जडी है। तो जो संकेत है वही तो जडी नही है। यदि कोई शिष्य संकेतको ही जडी समझे तो प्रयोजन न सिद्ध होगा। इसी तरह इस विवेचनसे अखण्ड वस्तुका परिचय कराया जाता है तो इस विवेचनके शब्दोने जो भी अपना अर्थ बताया वह ही तो पदार्थ नही है। वह तो एक संकेत है कि इस संकेतके द्वारा तुम उस अखण्ड द्रव्यको पहिचानमे ले लो। तो यह सुनाना यह सब संकेत है जिसके सहारे हम आत्माके अन्त मर्ममे पहुचते है और अनेक विकल्पोसे हटकर निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप आत्मानुभूतिमे आनेका मौका पा लेगे।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके स्वरूपका अविनाभाविता आदिका उपसंहार—आत्मामे उत्पाद व्यय ध्रौव्यत्व शक्ति है, जिसके कारण यह प्रतिक्षण बनता है, बिगडता है और बना रहता है। कोई पदार्थ बने बिना बिगडता और बना रहता नही है। बिगडे बिना बनता और बना रहता नही है, बना रहे बिना बनता और बिगडता नही है, इतने पर भी बनना, बिगडना और बना रहना तीनो एक ही समयमे है। ऐसा नही है कि जब घडा मिटा तब खपरियाँ बनी। अरे घडेका मिटना और खपरियोका बनना एक क्षणमे है। और मिट्टीका ज्योका त्यो बना रहना यह भी उसी समय है। कुछ दार्शनिकोने माना है कि खपरियाँ जो बनती है तो वहाँ दो बाते उत्पन्न होती है, घडेके जो परमाणु है वे सब बिखर जाते है और खपरियोको उत्पन्न करने वाले परमाणुओको फिर सजोया जाता है और उन परमाणुओसे फिर खपरियोका निर्माण होता है, किन्तु यह बात प्रमाणसे सिद्ध नही होती। अनुभव भी यह बताता है और देखते भी हैं कि जब खपरियाँ बनी तो खपरियाँ बननेके लिए कोई नया कार्य नही बना कि अब अनेक वर्गणाओको इकट्ठा किया जाय और वहाँ खपरियोका निर्माण किया जाय, किन्तु घटका विनाश ही खपरियोका उत्पाद है। तो यो उत्पाद विनाश और ध्रौव्य ये तीनो एक समयमे रहते है, इतने पर भी उत्पाद व्यय नही बन जाता, व्यय उत्पाद नही बन जाता। और कोई एक दो रूप नही बन जाता। अर्थात् जो उत्पादका स्वरूप है वह व्ययका स्वरूप नही बन जाता। फिर भी व्यय और उत्पाद समझमे आ गए। घडे की अपेक्षा विनाश है, खपरियोकी अपेक्षा उत्पाद है और मिट्टी की अपेक्षासे ध्रौव्य है। पदार्थ सब प्रयोगमे आते हैं, हमारे व्यवहारमे आते है और उनका प्राय लोग निर्णय कुछ नही कर पाते। जैसे किसी समय जब पहिले पहिले रेलगाडी चली तो देहाती लोगो ने यह निर्णय रखा कि इसके आगे जो काला काला कुछ है इसमे काली

देवी होती है वही इसको चलाती है अन्यथा कौन चलाये ? तो इसी तरह वस्तुके उत्पाद-व्ययध्रौव्यस्वरूपको न समझनेके कारण प्राय अनेक लोग यही जानने लगे कि यह वस्तुमे एक नया परिणमन हो कैसे गया ? जरूर कोई ऐसा देवता है जो वस्तुओके परिणमन कर रहा है और कोई देवता वस्तुओको मेटता रहता है, और फिर समझमे यह भी आ रहा कि वस्तु सदाकाल वस्तु सदाकाल रहती है तो ऐसा सदा बनाये रखने वाला भी कोई एक देवता है। देखिये—वस्तुके उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपका पता न होनेके कारण कितनी मनगढत कल्पनाये करनी पडी। और, फिर जब एक ऐसी कल्पना की तो उसका पूरा रूप रखनेके लिए उन तीनो देवताओका चरित्र भी बनाना होगा, क्योकि चरित्र बिना किसीका क्या परिचय हो सकेगा ? तो चरित्र बनाया गया है। चरित्रमे अनेक पुरुषोके चरित्र शामिल करने होते है, तब अनेक और पुरुषोके चरित्र बनाये गए। इस तरहसे कथा उपकथा अनेक गढनी पडी। केवल एक उत्पादव्ययध्रौव्य वस्तुका स्वभाव है इतना न स्वीकार किया, इससे यह विडम्बना बन गई। पदार्थमे जैसे अगुरुलघुत्वशक्ति बतायी गई स्वभावसे ऐसे ही यह उत्पाद-व्ययध्रौव्यस्वभाव भी समझना है।

जीवनमें धर्मपालनका एक मात्र कर्तव्य—धर्मका उद्देश्य आत्माके लिए हुआ करता है। धर्म कोई ऐसी कटु चीज नही है जो कि खराब हो, कठिन हो, आत्माको बुरा लगे, किन्तु धर्म एक ऐसा अमृत है कि उसके सेवनसे आत्माका सदाके लिए उद्धार हो जाता है। अत इस जीवनमे एक अपनी बडी जिम्मेदारी जानकर धर्मके लिए उमग बढावें। बाहरी पदार्थोंके जितने भी समागम मिले हैं धन वैभव आदिकके वे सब तो आपके पुण्य पापके उदयके आधीन है। आप उसमे कुछ नही कर सकते। ऐसी स्थितिमे हम आप सबका यह कर्तव्य हो जाता है कि इन बाहरी बातोको तो गौण करें और मुख्य बात यह रखें कि मुझे धर्म करना है। और, धर्मके प्रसादसे मुझे सकटोसे मुक्त होना है। तो धर्म क्या चीज है ? धर्म मूलमे यही है कि मोह न रहे, बेहोशी न रहे, परके साथ एकताकी बुद्धि न रहे, यह सबसे बडा धर्म सर्व प्रारम्भमे है। किसीको यदि धर्ममार्गमे बढना है तो प्रारम्भ उसका यही है कि मोहको तोडे। परके साथ एकताकी बुद्धि तोडे। देखो गृहस्थीमे रहकर भी राग करना पडता है यह बात तो अलग है मगर मोह करना पडे, परके साथ हमे आकुलता म ानी पडे यह तो जरूरी नही। राग किए बिना कोई घरमे नही रह सकता, न उसकी गृहस्थी सध सकती है। गृहस्थीमे तो राग करना ही पडेगा। राग बिना गृहस्थी चलेगी नही, लेकिन मोह बिना गृहस्थी चल सकती है। परके साथ एकता न मानें, अपनेको सावधान रखे, ऐसी स्थितिमे भी गृहस्थी चल सकती है किन्तु यह बात तो ज्ञान साध्य है। देखो—ज्ञानमे जो बात आ गई सो आ ही गई, वह दूसरी कैसे बने ? जैसे ज्ञानमे आ गया कि यह चौकी है तो फिर

चाहे कोई दूसरा कितना ही बहकाये कि नहीं, यह चोकी नही है, यह तो भीत है, पत्थर है आदि, तो उससे कहीं आप वहक तो न जायेगे, क्योकि आपके ज्ञानमे बराबर यह बात बनी है कि यह चौकी है। तो ऐसे ही वस्तुस्वरूपका बोध हो कि यह अमुक है, यह अपने स्वरूप से है, परके रूपसे नही है आदि तो फिर यह ज्ञान क्या गायब हो जायगा ? वह तो बना ही रहेगा। अब रही यह बात कि इस शरीरका सम्बध है तो भूख प्यास सर्दी गर्मी आदि की अनेक वेदनाये है उनका इलाज भी तो करना चाहिए, क्योकि महाव्रत धारण करनेकी शक्ति तो है नही, सो घरमे रहते है तो सुनो राग किए बिना घरमे गुजारा न चलेगा, किन्तु मोह रखे बिना तो गुजारा चल सकता है। यह सत्य बात ज्ञानमे आ गयी कि ये सब परिजन अपने स्वरूपसे हैं, मैं अपने स्वरूपसे हूँ, इनका चैतन्य इनमे है, मेरा चैतन्य मुझमे है, मैं अपने स्वरूपसे हू, परके स्वरूपसे नही हू, आदि ये सभी बाते जिसकी समझमे आयी हो उसके ज्ञान को कैसे मिटाया जा सकता है ? और, यही बात जिसके ज्ञानमे समा गयी बस समझो कि उसके मोह न रहेगा, क्योकि वास्तवमे यदि वस्तुकी स्वतत्रताका भान हो जाय तो फिर वहा मोह नही रहता। तो मोहका टूटना यह सबसे प्रधान कर्तव्य है और वह चलेगा तो वस्तुस्वरूपके अध्ययनसे चलेगा। तो इस प्रसगमे एक यहा वस्तुत्व शक्ति बतायी जा रही है।

आत्मामें वस्तुत्वशक्तिका प्रकाश—आत्मामे एक वस्तुत्व शक्ति है। वैसे वस्तुत्व शक्ति सभी पदार्थोंमे है। इसका फल यह है कि अपने स्वरूपसे अस्तित्व होना और परके स्वरूपसे अस्तित्त्व न होना। जैसे चौकी अपने स्वरूपसे है, कमण्डलके स्वरूपसे नही है। चौकी कमण्डल नही बन गया। कमण्डलकी गुणपर्याय आकार सब कुछ कमण्डलमे है, कमण्डलसे निकलकर चौकीमे नही गया। इसीके मायने है वस्तुत्व शक्ति। यहाँ आत्माका प्रकरण है तो आत्माकी वस्तुत्वशक्ति देखिये—यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे हू। अन्य आत्माके स्वरूपसे नही हू। अन्य पुद्गल जड पदार्थोंके स्वरूपसे नही हू, यह बात ज्ञानमे आ जाय तो यही तो शुद्ध प्रकाश है। मोहका विनाश है। तो यह बात इस वस्तुत्वशक्तिके ज्ञानसे मिल जाती है। वस्तुत्व शक्ति उसे कहते है जिस शक्तिके कारण आत्मा अपने चतुष्टयके तो ग्रहण रूप रहे और परचतुष्टयके त्यागरूप रहे। इसीका नाम वस्तुत्वशक्ति है। चतुष्टयका अर्थ है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। जैसे यह चश्माघर है तो इसमे चार चीजे पायी जाती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। द्रव्य तो है यह पिण्ड जिसे हाथमे लेकर देख रहे है। क्षेत्र क्या है कि जितनेमे यह चश्मा घर है, जिसे देखकर लोग बता देते है कि यह इतना लम्बा चौडा है। काल क्या हुआ ? जो इस चश्मेघरकी दशा है काला, नया, पुराना आदिक यह उसका काल है। और, भाव क्या हुआ ? जो इसमे शक्ति है, जो इसमे गुण है वह इसका भाव हुआ। इसमे रूप गुण है, रस गुण है, गध गुण है, स्पर्श गुण

है। इसमे अनेक शक्तियाँ है यह इसका भाव हुआ। तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, हर एक चीज़मे होते है। कोईसी भी वस्तु हो, कंकड है, तृण है, मिट्टी है, धूल है, भगवान है, ससारी जीव है, कोई भी है। है तो उसमे ये चारो चीजे (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) जरूर है। अब यह देखलो कि चश्माघरका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इस चश्माघरमे ही है, इन भीत, चौकी, दरी आदिकका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इनका इन ही मे है। मायने चौकीका पिण्ड, चौकीका विस्तार, चौकीकी वर्तमान हालत और चौकीमे रहने वाला गुण ये चौकी मे हैं, कही चश्माघरमे इस चौकीकी ये सारी बाते न आ जायेगी। एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरी वस्तुमे नही जाता। यही हालत सर्व वस्तुओमे देखलो, एकका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे पदार्थमे नही जाता, तो इससे यह ही तो सिद्ध हुआ। एक पदार्थका दूसरा पदार्थ कुछ नही करता। यह बात वस्तुत्व शक्ति सिखाती है। सबसे प्रधान कर्तव्य है मोह हटानेका और यह मोह दूर होगा भेदविज्ञानसे। भेदविज्ञान किस रीतिसे मिलता है कि हम एक पदार्थके चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) को समझ ले। तो आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके ग्रहणरूप रहा, परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके त्याग रूप रहा, ऐसी शक्तिका नाम है वस्तुत्व शक्ति। यहा यदि ऐसा सोचे कि जैसे वस्तु अपने स्वरूपसे है वैसे ही परस्वरूपसे भी रहे। यदि वस्तु परस्वरूपसे भी रहेगी तो वह वस्तु स्वय कुछ न रहेगी। तो वस्तु स्वरूपसे है, पररूपसे नही।

स्याद्वादमें वस्तुधर्मका निर्णय—स्याद्वादमे जो ७ भङ्ग बताये गए है उन ७ भङ्गो मे एव शब्द लगा है— प्रश्न—बताओ जीव नित्य है या अनित्य ? उत्तर—कोई लोग कहते हैं कि जीव नित्य है, कोई कहते है कि अनित्य है। दर्शन तो अनेक हैं। सर्वथा नित्य मानने वाले मीमासक आदिक अथवा ब्रह्माद्वैतवादी आदिक है। सर्वथा अनित्य मानने वाले बौद्ध जन है। एक दर्शनका यह कहना है कि आत्मामे कभी कोई परिणमन ही नही होता। और, एक दर्शन कहता है कि आत्मा एक समयमे रहता है, दूसरे समयमे दूसरा आत्मा आता है। तीसरे समयमे तीसरा आत्मा आता है। इस तरह क्षण-क्षणमे नया नया आत्मा बनता है। जब स्याद्वादसे इसका निर्णय करते है तो कहते है कि यह आत्मा द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है। देखिये—स्याद्वादमे दो खूबी हैं—एक तो निश्चयकी खूबी—जैसे कोई कहता है कि यह तो ऐसा ही है। इसमे पूर्ण निश्चय भरा हुआ है। जब जीवद्रव्यके विषयमे कहते हैं तो यही कहते है कि द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य ही है। याने इसकी पर्याय प्रतिक्षण नई नई बनती है। तो नई पर्यायके बननेसे जो साथ है उस पर्याय वाले जीवका बनना नही हुआ। अभी पर्यायदृष्टिमे देख रहे है। तो पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है। अब है क्या ? तो प्रमाण बताता है कि जो नित्य है वही अनित्य है, ऐसा जोड

मेरा अभाव है, ऐसा जो घरके साथ एकताकी बुद्धि की है यह बुद्धि सकट है, अगर यह घर के साथ अपने आत्माकी एकता करनेकी बुद्धि नही है तो कोई सकट नही है। अरे आयुके उदयसे जब हमारा जीवन है तो आयुके उदय तक मेरा जीवन मिट नही सकता। घर न रहेगा तो और स्थिति बनेगी। पता नही कि कहो ऐसी सुकृतकी स्थिति आये कि इससे भी अच्छी स्थिति बन जाय। तो बातोका सयोग वियोग होना यह कोई वास्तविक सकट नही, वास्तविक सकट है अपने आपमे मोहभाव बननेका। उस मोहको दूर करनेका उपाय बने बस इसीलिए हम आप मनुष्य हुए है यह निर्णय रखना है। हमारा सम्बध, परिवारकी स्त्री, पुत्र, मित्रादिककी एकतासे नही है। जो यह मान रखा है कि इन परिजनोपर तो मेरा इतना खर्च हो, बाकी लोग तो गैर हैं, उनके पीछे क्या खर्च करना , तो ये तो मोहसे भरी हुई बाते है। यह मोहभरी बुद्धि एक मिथ्याबुद्धि हैं। मेरा तो जैसे जगतके अन्य जीवोसे सम्बन्ध नही, उनसे मेरी एकता नही, इसी प्रकार परिवारमे आये हुए इन कुछ लोगोसे भी मेरी एकता नही, ऐसी आप अपनी बुद्धि बनाइये। मैं मैं हू, मैं अपने चतुष्टयसे हू, अपने ही रूपसे हू, पररूपसे नही हू, और यह बात तभी मोटे रूपसे प्रकट नजर आने लगती है। आपका ही लडका प्रतिकूल चलता है तब आप वहाँ समझते हैं कि बात सत्य है, यह मेरा कुछ नही है, समझमे आ गया। जब वह विरुद्ध चला, आपके भावोसे उल्टा चला तब तो जल्दी समझ बनने लगती है कि यह मेरा कुछ नही है और वास्तवमे तो तब भी समझमे नही आया, वह भी आप क्रोधमे आकर कह रहे कि यह मेरा कुछ नही। कुछ कुछ समझमे तो आया, पर वही सम्यक् समझ नही है। लेकिन हाँ, जिसके प्रति बडे जबरदस्त राग कर रहे थे कि यही मेरा सर्वस्व है, इसीसे मेरा जीवन है, यही सब कुछ कमाता है , उसके प्रति विपरीत चलनेपर भला यह समझमे कुछ तो आया कि यह मेरा कुछ नही है। तो जैसे विपरीत होनेपर आप उसे यह समझ रहे कि यह मेरा कुछ नही है ऐसे ही जब आप उसके अनुकूल चलनेपर भी समझ रहे हो कि यह मेरा कुछ नही है, यह एक दूसरा पदार्थ है, मैं इससे अत्यन्त भिन्न हूँ, यह मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, इसकी सत्ता इसमे है, मेरी सत्ता मेरेमे है, इसका भाग्य इसके साथ है, मेरा भाग्य मेरे साथ है, इसकी क्रिया इसके साथ है, मेरी क्रिया मेरे साथ है आदि, इस तरहका एक सही निर्णय हो तो वह सही ज्ञान है। ऐसा ही ज्ञान समस्त परिजनोके विषयमे, मित्रजनोके विषयमे अथवा यो कह लो कि समस्त बाह्य-पदार्थोंके विषयमे रखा जाय तो यह ज्ञान सच्चा ज्ञान है कि नही ? हाँ यह सच्चा ज्ञान है। लोग तो समझ भी लेते है कि हाँ बात यही सत्य है फिर भी मोहने आकर यह बात भूल जाते हैं, यही बात तो बता रहे है कि यह बात सत्य है, यह बात यदि सच्चाईसे चित्त मे उतर जाय तो वहाँ मोह रह नही सकता।

वस्तुत्वशक्तिके परिचयसे मोहसंकटको मिटा देनेका संदेश—हम आपको प्रयत्न यह करना है कि यह जो सत्य बात है, यथार्थ बात है, यही है, ऐसा ही है, यह बात हम सच्चाई के साथ जान ले। अगर हम कच्चे है इस बातको जाननेमे या हम इस समय पूरी तरहसे इस सच्चाईको नही जान सकते तो हमारा पहिला काम यह है कि सही जानकारी बनावे, अपने चित्तमे एक यह बात उतार लें कि जगतका प्रत्येक जीव, प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, मेरे स्वरूपसे नही। प्रत्येक जीवकी क्रिया उसकी उसमे है मेरेमे नही। ऐसी बात अगर कोई अपने चित्तमे सही रूपसे उतार ले तो उसके फिर किसी परपदार्थसे मोह रह ही नही सकता। मोह न रहे, इसका उपाय यही है कि अपने चित्तमे ऐसी सच्ची बात बैठा ले कि जगतका प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक जीव अपनी अपनी सत्तासे है, एकका दूसरेसे रच भी सम्बंध नही है, किसी भी जीवके साथ एकता नही है। पुत्र मेरा क्या सुधार करेगा, पुत्र मेरी क्या इज्जत बनायेगा, पुत्र मेरी क्या पोजीशन बनायेगा? वह तो अपनी फिकरमे है, अपनी चाह मे है, उसमे खुद कषाये भरी है, अपनी कषायके अनुसार वह अपनी क्रिया करेगा, मेरा किसीके साथ एकत्व नही है। ये सब बाते सच्चाईके साथ चित्तमे उतर जाये तो निश्चय है कि उसके फिर मोह न रहेगा। इतनी बातें जाननेके बावजूद भी अगर मोह रहता है तो आप यह विश्वास करिये कि मैं अभी उस बातको सच्चाईके साथ पूरा पूरा अपने चित्तमे उतार नही सका। तो अब उसी सच्चाईको उतारनेमे लग जाये।

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमे है, परके स्वरूपमे नही है। यह बात हमे वस्तुत्व शक्ति सिखाती है। इस वस्तुत्व शक्तिके कारण मै अपने स्वरूप चतुष्टयसे हू, किसी भी अन्य जीव या अन्य पुद्गल आदिककी सत्तासे मैं नही हू। मैं अपनेमे अपने ही स्वभावसे अपना ही नया परिणमन वनाता हू, पुराना परिणमन विलीन करता हूँ और सदाकाल मैं अपने आपमे ही बना रहता हू। तब मेरा किसीसे क्या लेनदेन है, क्या सम्बध है? मेरे जीवनकी जिम्मेदारी किसी अन्य पर क्या है? मेरे अनुभवकी जिम्मेदारी किसी दूसरेपर क्या है? ऐसा जब सच्चाईके साथ चित्तमे उतारा जाय तो उसको जो आनन्द है, उसे जो सुख है, वह आनन्द वह सुख अन्यत्र नही मिल सकता। तो वस्तुत्व शक्तिके कारण हमे यह बात विदित होती है कि मेरा अन्यसे सम्बध नही है। मैं एक आत्मवस्तु हूँ, अपने स्वरूपसे हू, पर के स्वरूपसे नही हूँ।

लौकिक जनों द्वारा मुझ आत्मतत्त्वकी अपरिचितताका महत्त्व—सभी पुरुष अपने आपके अन्दर इस तरहका चिन्तन करें कि मैं जो आत्मा हू वह किसीके द्वारा परिचित नही हू, मुझे कोई लोग जानते ही नही। लोग जिसे जानते हैं वह तो जड है, मूर्तिक है। लोग देहको, देहके आकारको, उसके हलन चलनको ही जानते हैं। मै जो एक अमूर्त ज्ञानमात्र

हू और मै निरन्तर परिणमता रहता हू। मैं हू तो मुझमे कोई न कोई विचार परिणाम आत्मतत्त्व हू, उसको कोई नही जानता और उस ज्ञानमात्र स्वरूपको दृष्टिमे लेकर कोई मुझ से व्यवहार नही करता। मैं अपने आपमे अन्दर गुप्त हू। अपने ही द्वारा सम्वेदनमे आता हू दूसरोके द्वारा मैं सवेदनमे नही आता हूँ। इससे यह बात सिद्ध हुई कि इस लोकमे मेरा जानने वाला कोई नही है। सबसे बडी परेशानी तो जीवोको यह है कि जो यह समझ रहे है कि ये हमारे परिचय वाले जो इतने लोग है उनमे हमारी इज्जत पोजीशन बनी रहे। लोग मुझे जान जाये कि यह भी कुछ है। लोगोमे एक बात यह समायी हुई है कि ये स्त्री पुत्रादिक परिजन, घर द्वार, धन वैभव आदिक ये सब मेरे है, और उनके प्रति सोचते हैं कि इन समस्त परवस्तुओका परिणमन मेरी इच्छाके आधीन हो, और ऐसा होता है नही, इस कारण दुखी होना पडता है। जिस कालमे यह चिंतन चले कि मैं तो सर्वसे अपरिचित हू, मेरेको तो कोई समझ ही नही रहा है, मैं एक परमार्थ ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, इस ओर अधिकाधिक लगाव रहे। यहाँ ही रहकर तृप्त होनेका अभ्यास बने तो उस जीवको फिर यहाँ लोकमे कोई सकट नही रह सकता।

शरीरसम्बन्धकी संकटरूपता--सकट तो है तब जब कि यह जीव अपने ज्ञानस्वरूप से हटकर बाह्यमे उपयोग करता है तब ही वहाँ इसको सकट है। और, सकटोमे भी जो एक दिखनेमे भी आ सकता है, सकट है तो मूल जन्म मरण का है। सब सकट इसीमे ही गर्भित है, मानो मेरा जन्म न हो तो मैं आत्मा तो रहूगा ही। देह न रहेगा तो देहके बिना यह आत्मा किस स्थितिमे होवेगा ? उसका उत्तर यह है कि जैसे सिद्ध भगवान, जिनका हम पूजन करते है, जिनकी उपासना करते हैं, ध्यान करते है, जो उनका स्वरूप है बस वही मेरा स्वरूप होगा। जन्म न होगा तो मैं तो बडे आनन्दकी स्थितिमे होऊँगा। इसी प्रकार जन्म नही है, शरीर नही है, इन्द्रियाँ नही है तो यह जो छुटपुट जानकारी बन रही है, जो क्लेशका कारण बन जाती है वह भी न रहेगी। तो क्रोध, मान, माया, लोभादिक कहाँ रहेगी ? कषायें सब छूट जायेंगी। यह कबकी बात कह रहे हैं ? जब मेरा जन्म न हो, मुझे शरीर न मिले। कोई नया शरीर मुझे न मिले तो यह तो मेरी भलाईके लिए है। इसी तरह यहाँ भी यह समझना चाहिए कि मैं जो शरीरके बन्धनमे हू सो मेरी बरबादीके लिए है। यह शरीर मेरी भलाईके लिए नही है। मैं आत्मा जिसकी भलाई क्या है कि अनाकुल रहे, शान्तिमे रहे। तो अनाकुल, शान्तिमय रहनेके लिए यह शरीर सहायक नही बन रहा। शरीर मैं नही हू, शरीर मेरा हितरूप नही है।

धर्ममार्गमें प्रवेश करनेके लिये प्रारम्भिक निश्चय--धर्ममार्गमे तब तक जीवका प्रवेश नहीं हो सकता जब तक पहिले यह निर्णय न कर ले कि जगतमे जितने भी समागम

हैं उनसे मेरा गुजारा नही चल सकता। वे सब समागम मेरे लिए अहितरूप है। इतना निर्णय तो सर्वप्रथम रखना ही पडेगा। न अधिक ज्ञान हो, न अधिक भेदविज्ञान और आत्मज्ञानकी ज्योति जगी हो, लेकिन जो भव्य जीव इतना ज्ञान करके कि जगतमे जो भी समागम है वे सब असार है, उनसे मेरा कुछ भला नही होनेका। मै इनसे क्यो अपना सम्बध रखूं, क्यो मैं इनमे उलझूं, ऐसा निश्चय तो सबसे पहिले होना ही चाहिए। इतना निश्चय करके यदि वह अपने ही सहारे आरामसे कही बैठ जाय, अपने भीतरी एकान्तको बना ले तो वहाँ यह अपना प्रयास कर सकेगा कि मै किसी भी दूसरेको अपने दिलमे न बसाऊँ, क्योकि उसने यह निर्णय कर रखा है कि समस्त समागम सारहीन है। मै किसी भी धन वैभव, कुटुम्बीजन, मित्रजन आदिकको अपने दिलमे न बसाऊँगा। ऐसा प्रयास करनेमे यदि वह सफल हो गया तो कोई क्षण उसे ऐसा मिलेगा कि जिस क्षण वह किसी भी दूसरेको अपने चित्तमे न बसायगा।

इसी झलकमे उसको आत्मानुभव प्रकट हो जायगा, आनन्द प्रकट हो जायेगा। इसमे किसी भी प्रकारका क्लेश और आकुलता नही जग सकती। अपने आपको जो ज्ञानमात्र अनुभवकर लेगा वह सर्व आकुलताओसे दूर हो जायगा। जो व्यक्ति अपने हितका काम बनाते है वे तभी बना पाते है जब कि पहिले उन्होने यह निर्णय कर लिया हो कि जगतके ये समस्त समागम मेरे हितरूप नही है। ऐसा ही व्यक्ति ज्ञानमार्गमे आगे बढ पायगा। न अधिक ज्ञान हो तब भी वह अपने सहारे आगे बढ सकता है, पर इतना निर्णय होना सबसे पहिले आवश्यक है। यहाँके समस्त समागमोसे मेरा गुजारा नही, ऐसा निर्णय करने वाले ज्ञानी संतके अब आश्रय दृढ न रहनेके कारण स्वाश्रित शाश्वत भावका आश्रय रहता है। विकल्पके आश्रय थे बाह्यपदार्थ, अब वे जाने गये सारहीन तो वे आश्रय न रहे, शिथिल हो गए और शिथिल होकर जब यह अपने विश्राममे आता है तो यह अपनी अनन्त शक्तियोका दर्शन सहज ही कर लेगा।

वस्तुत्वशक्तिमय जीवमें द्रव्यत्वशक्तिकी अनिवार्यता—यह मैं आत्मा हू और अपने स्वरूपसे हू, परके स्वरूपसे नही हू। याने मोटेरूपमे यह कह लीजिए कि मैं पुरुष हू, शेर आदिक नही हू यह बात तो यथार्थ है ना। अच्छा, अब पुरुप भी मै नही। मै हूँ एक जीव। मैं जीव हूँ और मैं कोई अजीव नही हू। अब आगे और भी चलो, मुझ जीवमे शाश्वत ज्ञानभाव है, ज्ञानज्योति है, मै सहज ज्ञानज्योतिस्वरूप हू, इससे अतिरिक्त अन्य रूप मैं नही हूँ। इससे अतिरिक्त अन्य रूप है क्रोधादिक कषाय, विकारभाव, इन रूप मैं नही हूं। यो इन सबसे निराले अपने आत्मतत्त्वके दर्शन कर नही पाये। अब इसी आत्माके सम्बधमे द्रव्यत्व शक्तिकी बात कही जा रही है। मैं आत्मा जैसा द्रव्य हू, अपने स्वरूपसे हू, पररूपसे नही

भाव ये अनादिसे होते आये हैं, हो रहे है और कोई न कोई परिणमन मुझमे होता ही रहेगा, ऐसा निरन्तर परिणमते रहनेकी शक्तिका नाम है द्रव्यत्वशक्ति। यह साधारणशक्ति है। अर्थात् सभी द्रव्योमे पायी जाने वाली शक्ति है। पर साधारण शक्ति तभी कार्यकारी है जव कि उसमे असाधारण धर्मका मेल हो। अर्थात् किसी वस्तुमे असाधारण रूप न माने तो केवल द्रव्यत्व शक्ति मानने से परिणाम न वन सकेगा, परिणमन न हो सकेगा। क्या परिणमेगा? किसरूप परिणमेगा? जव साधारण और असाधारण दोनोका जोडा हो, प्रत्येक पदार्थमे रहा करते हैं तव परिणाम होता, मैं निरन्तर परिणमता था। किस रूप परिणमता था? मै अपने भावोरूप परिणमता था। मैंने अज्ञानमे अनेक कल्पनायें की और मैं अनेक बाते सोचता रहा, मै अमुकको यो बना दूं, घर, दूकान, आदि बना दूं, पालन पोषण कर दूं, अमुककी वरवादी अथवा अमुककी वरवादी कर दूं, मै इसका यो कर दूंगा आदिक कितने ही प्रकारके परिणमनोका विकल्प इस जीवने किया तो विकल्प ही किया, परपदार्थोंको नही किया। पदार्थोंको, परको यह आत्मा त्रिकाल कर ही नही सकता। जहाँ इतना बडा काम दिख रहा है जव आप बोल रहे है तो कितनी जल्दी बोलते जाते है, कितनी जल्दी वर्णोका क्रम बनता जाता है और कितनी जल्दी भाव और वाच्य भी आते जाते है, इतने ढंगका यह जो बोलना है यह भी आत्माका काम नही है। यद्यपि आत्मा न हो शरीर मे, मृत शरीर हो तो उससे यह बात नही बनती, पर जो पदार्थ जैसा परिणमन करे, जो क्रिया जिस पदार्थकी है उसको तके कोई तव निर्णय करे कि मै क्या कर सकता हू, यह इसकी गुत्थी सुलझाना, जीवनकी सारी आकुलताओको सुलझ कर लेना है। मै सिवाय अपने विकल्पके अन्य कुछ भी करनेमे समर्थ नही हू। मैं किसीको विगाड दूं, सुधार दूं, किसीका कुछ कर दूं, ऐसा कुछ करनेमे मै समर्थ नही। मं तो विकल्प करता हू, जब मैं अपने भाव ही कर सकता हू तो हमे कोशिश यह करनी चाहिये कि हमारे अच्छे भाव बने, अच्छे परिणाम बनें। जब मै भाव ही कर सकता हू तो खोटे भाव क्यो करूं? यहाँ इस मानी हुई दुनियामे यथार्थ बातको ही मानूं। यहाँ एक दो जीवोको ही सब कुछ मान लिया, गैर अनन्त जीवोको गैर मान लिया ऐसी भीतरमे जो विपरीत श्रद्धा बसा ली है उससे तो इस जीवकी बरवादी ही है।

दुर्लभ मानवजीवनमें अपने संभालकी आवश्यकता—भैया! हम आपने यह दुर्लभ मानव-जीवन पाया है तो अब हम आपपर बडी जिम्मेदारी है। कितना अनन्त काल व्यतीत हो गया और कितना ही व्यतीत होगा, उस सारे कालके सामने यह १००–५० वर्षका जीवन क्या गिनती रखता है? इस थोडेसे कालमे यदि अपने चित्तमे मोह ममता ही बसाये रहे तो आगेका समस्त अगला काल खोटा ही व्यतीत होगा और अगर इस जीवनमे ज्ञान-

दृष्टि रखी, जैसा जो कुछ है वैसा जानते रहे, किसीसे मोह ममता न रखे, ऐसी निर्मलदृष्टिसे इस जीवनमे जीनेसे फिर आगेका सारा काम सभल जायेगा, अनाकुलता प्राप्त हो सकेगी और निर्वाण भी प्राप्त हो सकेगा। तो अपनी थोड़ी असावधानीका फल दुःखरूपमे अनन्त काल तक भोगना पड़ता है और थोड़ी ही असावधानीके फलमे इसको अनन्तकाल तक सुखी रहनेका मौका मिलेगा हम प्रति समय परिणमते रहते है। मैं अपने श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदिक गुणो द्वारे निरन्तर परिणमन करता रहता हूं। अन्य बाहरमे मैं कुछ नही करता, ऐसी श्रद्धा होना चाहिए तब हमने द्रव्यत्व शक्तिके परिचयका अपूर्व लाभ लिया ऐसा समझना चाहिये।

जीवमें प्रमेयत्व शक्तिकी प्रसिद्धि—आत्मामे एक प्रमेयत्व शक्ति है। प्रमेयत्व शक्ति का अर्थ है कि यह प्रमेय बन जाय, ज्ञानका विषय बन जाय। देखिये—आत्मा ज्ञानमें आता है और इतनी सरलतासे ज्ञानमे आयगा, इतनी स्पष्टतासे ज्ञानमे आयगा कि जितनी स्पष्टतासे अन्य कुछ पदार्थ ज्ञानमे न आ सकेगे। हम आप इतनी बाहरी चीजोको देखते है तो ऐसा लगता है कि हम इन चीजोंको स्पष्ट जान रहे है मगर हम स्पष्ट कुछ नही जान रहे। इसमे कितने परमाणु है। किस रूप रगका परिणमन है, कैसी अन्य भीतरी बातें हैं, उनको हम क्या जानें? केवल ऊपरी ऊपरी ढंगसे जरा कुछ स्पष्टसा समझ लिया है, मगर यह आत्मा जब ज्ञानस्वरूप आत्माको जानेगा तो जानेगा इसी ढंगसे ना कि मे अपने ज्ञानद्वारा ज्ञानस्वरूप अपने आत्माको ज्ञानमें लू, इस प्रकारसे जानेगा। तो जहाँ इस ज्ञानने इस ज्ञानस्वरूप आत्माको इस ज्ञान अभेद रूपसे जाना, वहा ज्ञानमे ज्ञान समा गया तो स्वयमे जो कुछ शान्ति है उन सबका दर्शन इस स्थितिमे हो जाता है, वहा अपने आत्माका स्पष्ट बोध रहता है। भला मैं ज्ञानस्वरूप हू और मुझमे ही ज्ञान है। जो कि जाना करता है तो उस ज्ञानके द्वारा इस ज्ञानमयको न जानूं ऐसा तो न होना चाहिए। यह तो आसान बात होना चाहिए कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्माको सहज स्पष्ट जान लू। यह तो बात सहज हो जाना चाहिए। और, सहज ही है यह स्वपरिचयकी बात। बस थोडा भीतरमे साहस बनानेकी जरूरत है। मै ज्ञानमय पदार्थ हू, मेरे द्वारा मै ही परिचित हू। मुझको दुनियाके अन्य लोग कुछ नही जानते। मेरा जो कुछ होगा वह मेरे द्वारा ही होगा। मेरा भवितव्य, मेरा सब कुछ आगेका सर्जन मेरे परिणामो द्वारा ही होगा, दूसरा कोई सहयोग देनेमे समर्थ नही है, ऐसी भीतरमे श्रद्धा हो तो देखिये—आत्माका कैसा स्पष्ट भान हो जाता है। आत्मामे प्रमेयत्व शक्ति सभी पदार्थोंमे है। देखिये—ज्ञानमे यह ताकत है कि वह पदार्थको जान जाय। तो क्या यह नही कह सकते कि इन पदार्थोंमें यह ताकत है कि वे ज्ञानमे आते जावें? अगर ज्ञानमे पदार्थोंको जाननेकी ताकत है तो पदार्थोंमे भी यह सामर्थ्य है कि वे ज्ञानमे आ जावें। जो सत् है,

जो है ही हो नही, यह सामर्थ्य कहा रखी है कि वह ज्ञानमे जाना जाय ? पर जो सत् है उस सब सत्मे यह सामर्थ्य है कि ज्ञानमे जाना जाय। इसीको कहते है प्रमेयत्व शक्ति। इस गुणके कारण आत्मा ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है।

ज्ञानका सौख्य—जब वज्रबाहु शादी करके आया स्त्रीसहित तो उस स्त्रीपर बहुत अधिक आसक्त था। इतना अधिक आसक्त था कि जब उस स्त्रीका भाई उदयसुन्दर उसे लिवाने आया तो वज्रबाहु भी उसके साथ-साथ चल दिए। इतना तीव्र मोह था उस स्त्री मे। लेकिन चलते चलते रास्तेमे जब किसी मुनिराजके दर्शन हुए तो उनकी शान्त मुद्राको निरखकर झट उसे विवेक जगा—ओह ! मै कैसी बेवकूफी कर रहा हू। एक व्यर्थकी चीज के प्रति व्यर्थका यह मोह ! धिक्कार ! देखा इन मुनिराजके शान्तस्वरूपको, व निरखकर बज्रबाहुकी दृष्टि गई अपने आपकी अधमतापर। ओह ! कैसा मैं सारहीन चीजके पीछे अपने आपको पागल बनाये फिर रहा था। कहाँ वहाँ शान्ति मिल सकती थी ? शान्ति तो यहाँ (मुनिराजकी मुद्रामे) बसी हुई है। मुनिराजकी मुद्राको निरख निरखकर वह अपने आपके स्वरूपकी ओर बढ रहा था। जब उसे भेदविज्ञान जगा तो झट उसका निर्णय हो गया कि यहाँके इन समागमोमे कुछ सार नही है, न इस शरीरमे सार है और न इन क्रोधादिक कषायोमे अथवा रागद्वेष मोहादिक विकारोमे सार नही है, न इस शरीरमे सार है और न क्रोधादिक कषायोमे अथवा रागद्वेष मोहादिक विकारोमे सार है। सार तो अपने आत्मदर्शन मे है। यो वज्रबाहुको उस समय ऐसा आत्मज्ञान जगा कि अपने आत्माका सहज ही ज्ञान हो गया। आत्माका ज्ञान कितना सहज है, कितना सरल है जिसके समान अन्य किसीका ज्ञान सहज सरल नही है क्योकि यही है, यही साधन है, यही जानने वाला है, यही जानना है। इसमे अन्य कोई पदार्थ ही नही है। ऐसा आत्माका ज्ञान एक बहुत सहज स्वरूप है उस आत्मा को जाने। मै आत्मामे रमू यह बात उसके लिए सरल हो जाती है जिसका कि मोह टूट गया हो। तो यहाँ प्रमेयत्व शक्ति की बात कह रहे है कि आत्मामे प्रमेयत्व शक्ति है जिसके प्रतापसे यह अपने आपको जान जाता है। तो उस समय जब कि बज्रबाहु मुनिराजकी शान्तमुद्राको निरखकर आत्मचिन्तनमे रत था, उसी समय वज्रबाहुका साला उदयसुन्दर उसकी हसी करने लगा। सोचा कि इतना मोही व्यक्ति है यह, पर मुनिराजकी मुद्राको निरख क्यो रहा है ? सो हसी हसीमे कहा—आप भी मुनि बनना चाहते हैं क्या ? तो बज्र बाहु बोले— हाँ अगर मै मुनि बन जाऊँ तो तुम भी बन जाओगे क्या ? उदयसुन्दरको कहाँ इतना विश्वास था कि ऐसा मोही व्यक्ति मुनि बन सकेगा सो हँसो हँसीमे ही बोल पडा— हाँ अगर तुम मुनि बन जाओगे तो मै भी बन जाऊँगा। बस वज्रबाहुके चित्तमे जो थोडी बहुत शल्य थी कि क्या कहकर इस सगसे कैसे निवृत्त होऊं सो भी निकल गई और मुनि दीक्षा ले ली। उस दृश्यको देखकर उदयसुन्दरका हृदय भी परिवर्तित हो गया और वह भी

मुनि हो गया। देखो अब इन लोगोको यह भी ध्यान न रहा कि जिस महिलाको सगमे लेकर आये है उसे पहिले घर तक पहुचा दें बादमे मुनि हो। वहाँ तो इस व्यामोहकी कठिन जजीर ही तडाकसे टूट गयी। अब उनके लिए कहाँ तो स्त्री या कहाँ की बहिन ? उनके चित्तमे समा गया कि बस सारभूत बात तो एक वही है, इसके अतिरिक्त और तो सब बेकार है। अब उन दोनोको (पतिको व भाईको) विरक्त होते देखकर उस स्त्रीका चित्त भी परिवर्तित हुआ। सोचा—ओह ! शान्तिका मार्ग तो एक यही है जिसको इन लोगोने अपनाया है। अत वह भी वही आर्यिका हो गयी। तो सारभूत बात तो आत्माकी लगन है, आत्माका दर्शन है, आत्मामे रमण है, और तो यहाँके जितने भी समागम है, सब असार है। ऐसा जानकर हम इन बाहरी समागमोसे अपने चित्तको हटाये और अपने को इस ओर लगाये कि आत्मतत्त्वकी ओर दृष्टि करें और अपना यह जीवन सफल करे।

जीवमें परिणामशक्तिका प्रभाव—अब आत्माकी परिणामशक्तिका वर्णन कर रहे है। प्रत्येक पदार्थमे यह देखा जाता है कि वह विसदृश भावमे रहता है और सदृशभावमे रहता है। जैसे यह जीव कभी मनुष्य होता, कभी तिर्यञ्च होता, कभी कुछ होता तो यह विसदृशभाव हुआ, एक नई बात उसमे उत्पन्न हुई, फिर भी रहा तो जीव ही। जब मनुष्य था तब भी जीव है, जब तिर्यञ्च है तब भी जीव है। तब जीवपनेकी दृष्टिसे सदृशभाव है। जैसे लकडी जल गई, राख बन गई तो यह उसमे विसदृश भाव है फिर भी पौद्गलिक स्कध ही तो है। पहिले भी पौद्गलिक स्कध था, अब भी है और आगे भी पुद्-गल रहेगा। तो यह सदृशभाव है, यहा यह बतला रहे है कि प्रत्येक पदार्थ सदृश और विस-दृश भावरूप रहता है और ऐसा होना परिणामशक्तिके कारण है। तो यहा विसदृशका अर्थ इतना लेना कि पूर्व अवस्थाको छोडकर नई अवस्थामे आना। परिणामशक्तिका लक्षण किया जा रहा है कि जिस शक्तिके कारण सदृश व विसदृश भाव हो उसे परिणामशक्ति कहते है। विसदृशका अर्थ केवल यहा इतना लें कि पहिले न था, अब हो गया, आकाशद्रव्य है, शुद्ध जीवमे, धर्म अधर्म द्रव्यमे भी प्रतिसमय परिणमन तो माना ही गया है। अब वहा यह भी बात है कि जो पहिले परिणमन था वही परिणमन अब नहीं है। भले ही पूर्ण सदृश हो और रच भी वहा फर्क नही है और विशुद्ध होनेके कारण सदृश सदृश ही परिणमन थे, मगर जो एक शाश्वत स्वभाव है उसकी दृष्टिमे वह विसदृश ही कहलाता है, किन्तु ऐसा है कि सभी पदार्थोंमे उत्पादव्ययध्रौव्य है तो ध्रौव्यके कारण जो भाव विदित हो रहा है वह सदृशभाव कहलाता है और उत्पादव्ययके कारण जो भाव किया होगा वह विसदृशभाव कह-लाता है। यहा विसदृशके मायने वैभाविक भावसे नही है, किन्तु पूर्वपर्याय तजकर नई पर्याय मे आना सो विसदृश भाव है। ऐसी पर्यायशक्तिके कारण इन सब आत्माओमे ये परिणाम

चल रहे है। इन परिणामोंको करने वाला कोई दूसरा नही है।

शुद्ध शक्तिमें विकारका अकर्तृत्व—क्रोधादिक कषायोके सम्बंधमे भले ही यह बात सत्य है कि ये उपाधिका सन्निधान पाकर हुए हैं, ऐसा नही है कि आत्मामे वे कषायभाव भरे हुए हे और जब जिनके उत्पन्न होनेका समय होता है तब वे उत्पन्न होते है। और उस कालमे जो भी पदार्थ सामने हो उन्हे निमित्त कह डालते हैं। अरे वहा निमित्त कहनेकी जरूरत क्या है ? वे तो हो रहे है, यह बात जरूर है कि निमित्त रूपसे वे परिणमते नही हैं। निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उस उपादानमे जाता नही है। वह आत्मा कषायरूप परिणमा तो अपनी परिणामशक्तिसे, अपनी ही साधनासे परिणमा, लेकिन इस तरहका जो वह परिणम रहा है तो बाह्य सन्निधान पाकर परिणम रहा है। जैसे दर्पणमे जो छाया प्रतिबिम्ब पडता है तो छायारूप जो परिणमन है वह दर्पणमे हुआ है, दर्पणका परिणमन है और दर्पणमे प्रकट हुआ है। पूर्व अवस्थाको त्यागकर यह अवस्था दर्पणमे आयी है, दर्पण से आयी है, दर्पणके लिए आयी है, ये सब बातें हैं, फिर भी दर्पणकी केवल शक्तिसे दर्पण ही उपादान हो, दर्पण ही उसका निमित्त हो, सर्वस्व हो, इस तरहसे निरपेक्षतया दर्पणसे ही हुआ हो सो नही। वहा परिणमा दर्पण ही प्रतिबिम्बरूप, और प्रतिबिम्बरूप परिणमनो मे दर्पणकी स्वतत्रता भी है। अर्थात् वह परिणमन दर्पणसे हुआ है, दर्पणके स्वके आधीन है, फिर भी ऐसा परिणमन बाह्यपदार्थका सन्निधान निमित्त पाकर होता है, ऐसी ही वस्तु मे परिणमनेकी योग्यता है विभावरूप परिणमनेकी, उस निमित्तको पाकर उपादान स्वय अपनेमे अपना वह परिणमन कर लेता है। तो यहा विमर्शसे प्रयोजन वैभाविक भावसे नही।

परिणामशक्तिके परिचयमें निर्मोहताका अभ्युदय—यहाँ शुद्ध परिणामशक्तिका वर्णन चल रहा है, यह आत्मा नवीन नवीन परिणमनोमे चल रहा है और यही शाश्वत बना रहता है बस यही इसका घर है, यही इसका व्यापार है, यही इसका सर्वस्व है, इससे बाहर धन वैभव आदिक कुछ भी इसका नही है। इस आत्मतत्त्वके बाहर इसका कोई व्यापार नही है, इसका कोई कार्य नही है। यह अपनेमे अपने परिणामको करता रहता है। सभी पदार्थ अपने आपमे अपने परिणामको करते रहते है। यही सब पदार्थोंकी व्यवस्था है। ऐसा जब ज्ञानमे आता है और दृढतासे समझमे आ जाय, यह बात सत्य ध्यानमे आ जाय कि यह जगत मेरे लिए सारभूत नही है। यहाँ कौन किसका शरण है ? यहाँ कौन मुझे सुखी शान्त कर देगा ? यहाँ कौन मेरा सकट मिटा देगा ? किसीमे ऐसी सामर्थ्य नही कि जो मेरे सकटको मिटा दे। यदि हो कोई ऐसा तो बताओ, हम उसकी मिन्नत करनेको, विनय करने को या जो भी काम करना पडे सब करनेको तैयार हैं। मेरा सकट है जन्म

मरणका । उसे मेटनेमे यहाँ कोई समर्थ नही है । मेरी विकल्पबाधाओको दूर कर सकने वाला बाहरमे कोई नही है । मैं ही स्वय चाहूँ, सावधान रहूं, विवेकमे चलू तो अपने जन्म मरणका संकट दूर करनेमे समर्थ हो सकता हू । यही मेरे करने योग्य कार्य है । अन्य जो बाहरी कार्य है—धन वैभवका सचय, कुटुम्बका पालन पोपण आदि या बाहरी मौजके प्रसंग ये सब कोई भी मेरा पूरा न पाड देगे । तब यह जानकर कि मुझमे परिणाम शक्ति है, मैं सदा अपने रूप ही रहता हूँ, एक रूप रहता हू और इस ही मे नाना परिणमन चल रहे है. मेरेमे ही मेरा सव कुछ हो रहा है, किसी भी वाह्यपदार्थसे मेरा कुछ सम्बंध नही है । इन वाह्यपदार्थोसे उपेक्षा जगे और अपने आपकी ओर दृष्टि आये । विकार योग्य पदार्थमे उपाधिका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणमन हो और निरुपाधिदशामे स्वभावरूप परिणमन हुआ करे, वस यही सभी द्रव्योका कार्य है । जव ऐसा ज्ञानमे आया तव वाह्यसे अरुचि होना और अपने आपमे दृष्टि होना, यही बात होने लगती है । और, यही करना इस जीवनका कर्तव्य है । भले ही अन्य सब कार्य भी करने पडे, मगर ऐसा निश्चय होना चाहिए, अपने आपका ऐसा दृढ श्रद्धान रहना चाहिए कि मेरे करने योग्य कार्य तो आत्माके शुद्ध स्वरूपका परिज्ञान करना और उसकी दृष्टि बनाये रहना, उसमे ही निरन्तर तृप्त होना है । इसीके लिए तो ये सारे धार्मिक कार्य है—जैसे तपश्चरण करना, संयमसे रहना, कष्टसहिष्णु बनना आदि ।

परिणामशक्तिका अन्तःपरिचय होनेपर मोहका अभाव—मेरे परिणामको कोई दूसरा करनेमे समर्थ नही है यह बात जव ज्ञानमे आयगी तव वहाँ मोह ठहर नही सकता । यदि मोह रहता है तो समझना यह चाहिये कि यह बात अभी विश्वासपूर्वक हमारे चित्तमे जमी नही है । यो तो कोई लोग किसी मुर्देको फूंकने लगते है तो वे भी कह उठते है कि अरे ससार असार है, यहाँ किसीको सदा रहना नही है, एक दिन हमे भी इसी तरहसे मरण करके जाना होगा आदि ··पर उनका यह कहना एक ऊपरी ऊपरी है । उन्हे अपने आत्मा के स्वरूपका भान हुआ हो और वास्तविक वैराग्य जागृत हो रहा हो ऐसी बात नही है । तो उनका वह ऊपरी ऊपरी वैराग्य कुछ कार्यकारी नही है । उनका यह वैराग्य तो तभी तक समझिये जव तक कि मरवटको फूंककर चले नही जाते और किसी कुवा या तालावमे नहा धो नही लेते । जहाँ नहा धो चुके कि बस उनका वह वैराग्य खतम और ज्योके त्यो फिर हो जाते हैं । वास्तवमे जव यह वात चित्तमे घर कर गई हो कि मेरा परिणाम मेरेमे है, दूसरोका परिणाम उनका उनमे है, मेरे आत्माका फल, आत्माका साधन मुझमें ही है । सभी पदार्थ अपनी जुदी-जुदी सत्ता रखते है । जैसे मेरे घरसे वाहरके सभी लोग मेरेसे जुदे है ऐसे ही ये मेरे घरके लोग भी मेरेसे अत्यन्त जुदे है । ये सभी जीव अपनेमे अपनी अपनी

सत्ता रखते है । वस्तुत ये कोई भी जीव मेरे नही है आदि । जब इस प्रकारका एक स्पष्ट भान हो जाता है तो फिर उस ज्ञानी पुरुषको मोह नही रहता । सम्यग्ज्ञानके बलसे उसका मोह दूर हो जाता है । मोह कहते है बेहोशीको । जहाँ बेहोशी न रही, एक सत्य ज्ञान चमक रहा—मै मै ही हू, ये ये ही है, इनका परिणाम इनमे है, मेरा परिणाम मुझमे है, मेरा किसीसे कोई सम्बध नही है· ·ऐसा सच्चा ज्ञान जग जानेपर मोह रह ही कहाँ सकता है ?

निर्मोह पुरुषकी रागदशामें हो सकने वाली वृत्तिका चित्रण——वह निर्मोह ज्ञानी पुरुष अभी शरीरके बन्धनमे है, शरीरके साथ भूख प्यास आदि की अनेक वेदनाये लगी हुई हैं, उसमे इतनी सामर्थ्य अभी प्रकट नही हुई है कि मुनिव्रत धारण कर सके, समाधिपुञ्ज होकर उनका देह लक्कडकी तरह पडा रहे, अपने आत्मस्वरूपमे रमकर ही निरन्तर तृप्त रहा करे, सो उसे किस स्थितिमे रहना चाहिये सो तो बताओ ? उसे गृहस्थीकी स्थितिमे रहना होगा । वहाँ अहिसा धर्म पूर्ण रूपेण पल नही सकता । आरम्भी, उद्यमी आदि हिंसाये भी करनी होगी । उसे स्थावरहिसासे बचत नही हो सकती, वह अपनी परिस्थितिसे मजबूर है। सो वह क्या करता है कि त्रस हिंसाका त्याग रखता है, कदाचित् स्थावरहिंसा करनी पडती है इस तरह वह अहिसाणुव्रत पालता है, झूठ नही बोलता, अत यही उसका सत्याणुव्रत है, चोरी नही करता अत. यही उसका अचौर्याणुव्रत है । परस्त्रीसेवन नही करता, स्वदारसतोष-वृत्तिसे रहता है, अपनी स्त्रीके सिवाय बाकी समस्त स्त्रियोको माँ बहिन बेटी आदिकी तरह समझता है, अत यही उसका ब्रह्मचर्याणुव्रत है । वह यद्यपि इन दिखने वाले शरीरोके प्रति अरुचिका परिणाम रखता है । उनमे रमना नही चाहता वह लेकिन चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उसे गृहस्थीमे रहकर सब कार्य करने होते है, सो वह अपनी स्त्रीमात्रमे ही तृप्त रहता है । परिग्रहका वह परिमाण कर लेता है, क्योकि वह जानता है कि इस परिग्रहसे रच भी शान्ति नही प्राप्त होती । बाह्यपदार्थोका समागम रच भी हितकारी नही है । वह तो त्यागने योग्य है, मगर जब गृहस्थीकी स्थितिमे वह रह रहा है तो परिग्रह बिना उसका काम न चलेगा । खाने पीने, पहिनने ओढने आदिके अनेक आवश्यक कार्य है जिनके लिए बिना परिग्रहके कार्य न चलेगा । वह परिग्रहको त्याज्य समझता है फिर भी परिस्थितिवश उसे परिग्रहके बीच रहना पडता है । तो वह क्या करता है कि जितना परिग्रह आवश्यक है, जितनेसे काम निकलता है उतने परिग्रहको वह रखता है याने उतने परिग्रहका वह परि-माण कर लेता है—जैसे मुझे इतने हजार ही रखने है, इससे अधिक मुझे नही रखना है । कदाचित पुण्योदयसे अधिक धन आता है तो वह अपनी जरूरतभर, परिमाणभर तो रख लेता है बाकी धनका दान कर देता है । उससे एक तो यह लाभ उसको मिलता है कि धन कमाने विषयक अधिक विकल्प उसे नही होते, और दूसरे अधिक धनिकोको देखकर उसको

तृष्णा नही जगती। बल्कि अधिक धनिकोको देखकर उसे उनपर दया उपजती है। वह सोचता है देखिये—ये बेचारे कितने परेशान है, कितने आडम्बरके बीच है, कितने परिग्रहके बीच फसे है; इन्हे तो जरा भी चैन नही, ये तो धन जोडनेके विकल्पमे ही सदा तत्पर रहा करते है, कैसी इनकी दयनीय स्थिति है। तो वह ज्ञानी पुरुष परिग्रहका परिमाण कर लेता है। यो बडे विवेकपूर्वक गृहस्थीमे वह अपना समय गुजारता है। वह ध्यान रखता है उस विशुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका।

परिणामशक्तिके परिचयमें मोह रागद्वेषके हटानेका उत्साह व प्रयास—भैया! यह आत्मतत्त्व प्रकट हो तो वही भली स्थिति है, तभी शान्ति है। परिणाम शक्तिके विवरणमे यह जानकर कि मेरा परिणाम मुझसे मेरेसे है, दूसरेका परिणाम उनमे उनसे है, ऐसी सही जानकारी होनेपर मोह नही रहता। मोह न रहे तो समझिये कि इस जीवनमे हमने सबसे बडा कार्य किया। यह मोह ऐसे ढगसे रहने वाला है कि कई स्थितियाँ ऐसी हो जाती हैं कि जहाँ हम समझ रहे हो कि मोह नही है किन्तु वहाँ मोह बना हुआ हो। और, कही तो हम स्पष्ट समझते है कि हम केवल बात कर रहे है। निर्मोह अवस्था वास्तवमे हुई नही। तो इस मोहको दूर करनेके लिए हमे एक ऐसा यत्न करना चाहिये कि जहाँ यह मोह पूर्ण रूपसे जब तक दूर न हो तब तक उसी उद्यममे लगे रहे। जैसे रुई धुनने वाला धुनिया रुईको पहिले मोटे मोटे रूपमे धुनता है फिर बारीकरूपमे धुनने लगता है और फिर उसे पूर्ण रूपेण छिन्न भिन्न करके तब तक धुनता रहता है जब तक कि वह अच्छी तरहसे धुन न जाय। इसी तरह हमे भी इस मोहको धुनने (खतम करने) के कार्यमे लगना चाहिये और तब तक इस कार्यमे लगे रहना चाहिए जब तक कि हमारा सम्पूर्ण मोह छिन्न भिन्न होकर खतम न हो जाय। जब मोह धुन जायगा तो फिर चित्तमे सम्मान अपमान आदिकके प्रति उठने वाले विकल्प भी न हो सकेंगे। ये सब उसके परीक्षण है। तो हमे सबसे पहिले अपने भीतर इस दोषको दृष्टिमे लेना चाहिये कि मुझमे अभी ऐसा कलक है, हममे अभी इतनी निर्बलता है, हमे इसे दूर करना है। अभी हमे करनेको यह एक बहुत बडा काम पडा हुआ है। मुझे तो अब इन कठिन विभाव स्थितियोसे हटना है, यही एक महान कार्य करनेको मेरे सामने पडा हुआ है। अन्य कार्य तो ऐसे है कि गृहस्थ पदमे रहकर करने पडते है सो करे, ठीक है, पर अपना प्रयत्न सदा यही रहे कि मुझे तो इन रागद्वेष मोहादिक विकार भावोको अपनेसे हटाना है। ये विकारभाव मेरेमे न रहे तो मेरेमे वह विशुद्धि प्रकट होगी जो कि प्रभुमे प्रकट हुई है। तो परिणामशक्तिसे हम अपने आपमे जब यह समझ लेते है कि ध्रौव्य होनेके कारण द्रव्यदृष्टिसे मेरा सदा सदृश्य भाव (एक भाव) रहता है और उत्पादव्ययकी अपेक्षासे मेरी नवीनता आती रहती है, वह नवीनता मेरेमे मेरेसे प्रकट

हुई है, इस प्रकार मैं जो कुछ कर रहा हू वह अपनेमे कर रहा हू। ऐसे परिणामशक्तिके परिचयसे हम मोह राग द्वेषको दूर करनेमे भी अपना प्रयास करें।

जीवकी अमूर्तत्वशक्ति व ज्ञानमयता—जीवमे एक अमूर्तत्व शक्ति है। यह अमूर्तत्व शक्ति प्रकट रूपसे तो जब कर्मबन्ध दूर होता है तो स्पष्टरूपमे व्यक्त हो जाती है, पर कर्म-बन्धके समयमे भी आत्मा मूर्त बन गया हो ऐसा नही है। वहाँ इसकी अमूर्तता इस रूपमे व्यक्त न हो सकी लेकिन यह अन्त अमूर्त है। इसी कारण उपचारसे इसे मूर्त कह देते है पर वस्तुत यह आत्मा मूर्त नही है, इसमे रूप, रस, गध, स्पर्श नही है। हो यदि इसमे वर्णादिक तो जो वर्णादिमान पदार्थ है उसमे जाननेका सामर्थ्य कहाँसे आ जायगा ? जानने की कला ही उसमे नही बन सकती। जैसे ये चौकी चटाई ढेला आदि पिण्ड है। इनमे कोई जानने का सामर्थ्य है क्या ? ये जड हैं, अचेतन हैं। इनमे जाननेका सामर्थ्य नही। अमूर्त मे ही जाननेका सामर्थ्य है। यद्यपि ऐसा नियम नही है कि जो अमूर्त पदार्थ हो वे सब जाने, पर यह नियम है कि जो जानेगा वह अमूर्त ही होगा। मूर्त पदार्थ हो तो वह जान नही सकता। अमूर्त तो धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये भी हैं, पर इनमे जाननेका सामर्थ्य नही है। आत्मामे जाननेका सामर्थ्य है और यह स्वानुभवसे भी सिद्ध बात है, आत्मा जाननहार है, अपने आपको जानता है। और, अपने आपको जानते हुएमे जाने गए इन सब बाह्यपदार्थोंका सम्बन्ध, इनका आकार, इनकी स्थिति इस दृष्टिसे कहते हैं व्यवहारसे कि हम परपदार्थोंको जानते हैं। यह व्यवहार असत्य नही है, हम परपदार्थको जानते हैं यह बात असत्य नही है, पर वहाँ व्यवहार इसलिए कहा कि यह आत्मा परपदार्थोंमे तन्मय होकर नही जानता, किन्तु अपने आपमे ही तन्मय होकर जानन परिणमन कर रहा है और वह जानन परिणमन इस ढगका है कि जिसे हम बतायेगे अगर तो बाह्य पदार्थोंका नाम लेकर बतायेगे। घट जाना, पट जाना, पर वहाँ क्या ज्ञान घटको निश्चयनयसे जान रहा है अर्थात् तन्मयतासे जान रहा है क्या ? इसे यो समझ लीजिए कि द्रव्यमे जितने गुण होते है उन गुणोका परिणमन उस द्रव्यमे ही होता है। उन गुणोके परिणमनका प्रभाव उस द्रव्य मे होता है अर्थात् वही कर्ता, वही कर्म, वही करण, वही सम्प्रदान, वही अपादान, वही अधिकरण। निश्चयसे पदार्थकी यह षट्कारक व्यवस्था उसी पदार्थमे है। यह भी व्यवहारसे कहा जा रहा, क्योकि वहाँ भेदका अनुसरण किया है, लेकिन निश्चयत यह कर्ता, कर्म, करणकी पद्धति उस ही द्रव्यमे है। तो जब द्रव्यका गुण उसी द्रव्यका बनता है, उसी द्रव्य मे परिणमता है तो वहा ही परिणमन होगा तो आत्माका जो ज्ञान गुण है वह आत्मप्रदेश मे होगा और ज्ञानगुणकी जो क्रिया होगी वह आत्मप्रदेशमे ही होगी उससे बाहर नही। तो इस आत्माके कर्म, करण आदि सब इसके प्रदेशोमे ही रहे, बाह्यमे नही रहे, ऐसी

निश्चयनयकी पद्धति है कि निश्चयमे आत्मा अपनेको जानता है। वहाँ ये सब पदार्थ, यह विश्व, ये चीजें सब प्रतिभासमे आ रही है, समझ बन रही है, यह आत्मा जान रहा है और यह सब विषयभूत हुआ है, इस कारण यह कहना होता है कि आत्मा इन परपदार्थों को जानता है। परपदार्थ जाने गए इस बातमे असत्यता नही है कि आत्माने केवल आत्मा के स्वरूपको जाना हो, वस्तुमे जो पदार्थ हैं वे नही जाने गए, किन्तु इसकी पद्धति क्या है यह बात यहाँ समझनेकी है।

अमूर्त सर्वपरविविक्त अन्तस्तत्त्वको लक्ष्यमें लेनेका अनुरोध—आत्मा अमूर्त है और इस अमूर्तत्व शक्तिके कारण यह ज्ञानमय आत्मा रूप, रस, गंध, स्पर्श वर्ण सहित सदा आत्मप्रदेशरूप रहता है, ऐसा अपने को दृष्टिमे ले। मैं सबसे निराला हूं, शरीरसे भी निराला हू, ज्ञानमात्र हू। हू यद्यपि अनन्त गुणात्मक किन्तु इस आत्माका स्पष्ट बोध ज्ञान-स्वरूपके बोधमे होता है, अतएव ज्ञानमात्र जहाँ जाना वहाँ पूरा अखण्ड आत्मा ही जाना गया और वहाँ सब कुछ जाना ही गया। यो मैं सबसे निराला हू, ज्ञानमात्र हू और यह मै अपने परिणामको ही करता रहता हूँ, बस यही मेरा सर्वस्व वैभव है। इस तरहकी हम अपनी दृष्टि बनायें, उस ओर रहे, ऐसी धुन बनाये कि आत्मकल्याणके लिए हमारा उत्साह जग जाय। साहस जग जाय। बाह्य पदार्थोमे लाखोका भी नुक्सान हो जाय तो भी घबडाहट न हो, क्या हुआ, बाहरी चीज थी, यहाँ न रही और कही चली गई। मैं तो पूराका पूरा यही हू। मेरेमे क्या बिगाड हुआ है? इतना साहस जग जाय तो इस जीवनमें भी शान्ति हो जाय और आगेके लिए भी वह अपना कल्याणमार्ग बना सके। ऐसा एक अपना भाव पौरुषरूप यत्न होना चाहिए।

अमूर्त ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी ज्योति—आत्माको मुख्यतया अमूर्त, ज्ञानमात्र इन दो विशेषणोसे पहिचान लिया जाता है। ज्ञानमात्र आत्मा है अर्थात् ज्ञानद्वारा ज्ञानमे ज्ञानरूपसे अनुभवमे आने वाला वह पूर्ण आत्मा है और जिस समय जो कि अखण्ड पूरा आत्मा अनु-भवमे आया, अतएव उसे ज्ञानमात्र कहते हैं, ज्ञानमात्र कहकर अनन्तशक्त्यात्मक अखण्ड पूर्ण आत्माका ग्रहण करना चाहिये। जो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है वह अमूर्त है, मैं ज्ञानमात्र हू, इसके साथ ही अविनाभावरूपसे यह भी बुद्धिमे आता है कि मैं अमूर्त हूं। केवल ज्ञानज्योति ज्ञानप्रकाश वह ही आत्मा है तो वह ज्ञानज्योति रूप, रस, गध, स्पर्श वाली हो नही सकती। अत अमूर्तपनेका, ज्ञानमात्रपनेका ऐसा साथ है कि अमूर्त न होता तो यह ज्ञानमात्र हो ही न सकता था। ऐसा यह मैं आत्मा सबसे निराला अमूर्त ज्ञानमात्र हू, अमूर्त ज्ञानमात्र हू ऐसा ही बारबार चिंतन किया जाय तो अपने आपमे एक शुद्ध प्रकाश अनुभवमे रह जायगा। ऐसा यह अमूर्त ज्ञानमात्र स्वय अपने आपकी ओरसे अपनेमे विकार करनेका सामर्थ्य नही

रखता अर्थात् अमूर्तता विकारका कारण नही है। ज्ञानमात्रपना विकारका कारण नही, ऐसा यह अविकार भावरूप अमूर्त ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व हू।

निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी आत्माका परमें अकर्तृत्व--यद्यपि वर्तमानमे मूर्त के साथ इसका निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध आत्माका और इस बद्धकर्मका कि परस्पर एकक्षेत्रावगाह होकर चल रहे है लेकिन जैसे कोई दो वस्त्रोमे गाँठ लगा दे, इस तरह आत्मा और कर्ममे गाँठ लगी हो, दोनोकी ओरसे ऐसा भिडावपना हो ऐसा नही है। विलक्षण ही निमित्तनैमित्तिक सम्बध है कि रागद्वेप भावका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणाये कर्मरूप बन गई, एकक्षेत्रावगाह तो पहिलेसे ही थी, विश्रसोपचय रूपसे भी थी वे सब, इतना सहज सम्बध चला आ रहा है। आत्मा तो वस्तुत अमूर्त है ऐसा यह मैं अमूर्त आत्मा क्या कर सकता है, जरा अमूर्तताके ढगसे भी सोचो। क्या यह दीवाल बना देगा ? क्या अन्य परका कोई काम कर देगा ? इसमे तो जो भाव है उन भावोका परिणमन हो इतना ही इनका आकार बन सकेगा। यो अमूर्त ज्ञानमात्र तत्त्वके दृष्टिमे लेकर जब आगे देखते हैं तो निरख होती है कि यह कर्ता नही है। इसमे अकर्तृत्व शक्ति है। जब स्वभावपर दृष्टि देते हैं तो अधिकसे अधिक यह कहा जा सकेगा कि यह है और परिणमता रहता है। जैसे जड पदार्थ सत् हैं उनमे भी परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बध है, लेकिन वहा करनेका व्यपदेश तो नही होता कि अमुक जडने इस जडको यो कर दिया। भले ही रूढि व्यवहारसे कह दे, लेकिन वहा यह बात जल्दी समझमे आती है कि अमुक पदार्थमे यह बात बन गयी। करनेकी बात जैसे दो जड पदार्थोंमे बनती ऐसी ही प्रकृति हो गयी हम आपके समझने की कि जो चेतन हो उसमे भी करनेकी बात लादी जाय, अचेतनमे करनेकी बात न लादी जाय, पर सत्त्वके नाते जैसे जड जडमे बात देखते हैं इस तरह चेतन और अचेतनमे भी सत्त्वके नाते से देखें कि यह चेतन आत्मा परिणमता है या अन्य कुछ करता है ? है और परिणमता है ऐसा वस्तुका स्वभाव है। इस ओरसे देखे तो यह कुछ करता नही है। परिणमयिताका नाम ही कर्ता रख दिया गया है। जैसे कि अमृतचन्द्र जी सूरिने भी कहा है कि जो परिणमे सो कर्ता, और जो परिणाम है सो कर्म है, जो परिणति है सो क्रिया है। यह सत्त्वके नाते बात चल रही है। सत् है तो उसमे निरन्तर उत्पाद है। होता है, करता क्या है ? जो परिणमन होता हैं उसीको ही हम "करता है" ऐसा व्यवहार करते हैं। उसको कह देते हैं, वाच्यमे अन्तर न आना चाहिए।

आत्मामें शक्ति स्वच्छताका शुद्ध प्रभाव--यह आत्मा है और परिणमता है। है वह ज्ञानस्वभावरूप। उस ज्ञानस्वभावमे क्या बसा हुआ है ? ज्ञानस्वभाव। जैसे स्वच्छ दर्पणमे स्वय क्या बसा हुआ है ? मात्र स्वच्छता, न कि प्रतिबिम्ब। अपने आपकी ओरसे प्रतिबिम्ब

रूप परिणमनेकी सामर्थ्य उस दर्पणमे नही है। उपाधिका सन्निधान पाकर उस दर्पण मे प्रतिविम्बरूप परिणमन होता है। उस दर्पणमे स्वच्छत्व शक्ति है तभी तो उसमे बाह्य पदार्थ प्रतिविम्बित हो जाते है अन्यथा इन भीत वगैरहमे क्यो नही प्रतिविम्बित हो जाते ? इन भीत वगैरहमे ऐसी स्वच्छत्व शक्ति नही है जिससे बाह्यपदार्थ उसमे प्रतिविम्बित हो सके। दर्पणमे ऐसी स्वच्छता है कि वहाँ प्रतिविम्ब आ सकता है, फिर भी दर्पण अपनी ओरसे ही उन पदार्थोरूप प्रतिविम्बित हो जाय यह बात उसमे नही पायी जाती। परपदार्थका सन्निधान हो तब वहा प्रतिविम्ब देखा जाता है। ऐसे ही आत्मामे जब आत्माके स्वभाव और शक्तिपर दृष्टि देते है तो यह अपनी ओरसे अपने स्वभावके कारण विकार करे ऐसी बात वहा नही है, मगर अनादिसे योग्यता उसमे ऐसी है कि पर-उपाधिका सन्निधान पाकर विकाररूप परिणम जाता है। अब इस दृष्टिसे देखे तो ये रागादिक भाव कर्मकृत हैं, आत्मकृत नही। कर्मकृत है अर्थात् कर्मोके द्वारा निष्पन्न है। यह बात जरा सावधानीसे समझना है। कर्मकृत है अर्थात् कर्मोके द्वारा निष्पन्न है, यह बात जरा सावधानीसे समझना है। कर्मकृत है ऐसा कहनेके साथ ही यह बात भी उसमे समायी हुई है कि आत्मा अपने स्वभाव से रागद्वेषको नही करता। आत्मामे शक्तिसे स्वभावत रागादिक विकारोके करनेकी बात नही है, उसमें अकर्तृत्व शक्ति है, ऐसा वहाँ बल आ गया। तब ये रागादिक कर्मकृत है। इस वचनके द्वारा जो समझा गया है, वह तथ्यभूत समझा गया है, और, आत्मामे रागादिक भाव निष्पन्न करनेकी स्वयं स्वभावमे बात नही पडी हुई है, यह यदि दृष्टिमे न हो और जो आत्मामे यथार्थ जगी है उन्हे कर्मने किया है ऐसी बात अगर माने तो उसमे तथ्य नही विदित हुआ और वह मिथ्या हो जाता है। यहा केवल यह दृष्टिमे आया कि रागादिकको कर्मने किया। और उसके साथ आत्मामे स्वभाव नही है उस रागका, यद्यपि उसमे यह प्रतिविम्ब हुआ, यह परिणमन तो हुआ तब भी आत्मस्वभाव विकारसे निवर्तमान ही है, यह नही जाना तो याथातथ्य तो न समझा गया।

ज्ञानभागमें दृष्टि मिलनेपर निर्मलताका अनुभव —यद्यपि पर्यायमें विकार है और स्वभाव निवर्तमान है, ये दोनो बातें है फिर भी मुख्यतया दृष्टिमे यह आता है कि आत्मा विशुद्ध है। ज्ञानमार्गके लिए इन प्रसंगोंमे यहा दृष्टि जाती है कि मैं आत्मा स्वभावत ज्ञानमात्र, ज्ञायकभाव, ज्ञानानन्द ज्ञानज्योति रूप हूँ। स्वभावत. इसका कार्य ज्ञानमात्र है और ज्ञानमात्र जैसी वृत्ति है वह ज्ञानधारा। ज्ञानधारामें रहता हुआ जीव सम्यक् निर्जरा करता हुआ निर्मलताको प्राप्त होता है, और जो रागादिक भाव हैं मैं इनको करता हू, ये रागादिक भाव मेरे है या और भी [illegible], [illegible] है, जो [illegible] है, [illegible] [illegible] है, तो [illegible] [illegible] [illegible] बात होती है उसके [illegible] [illegible]

भी अन्य परिरणमन है वे किसी न किसी प्रकार आत्मामे कर्मधारा है। सावधानी तो यह चाहिए कि हमारा ऐसा संकल्प हो कि कर्मधारा हममे लेशमात्र भी न रहे। केवल एक ज्ञानधारा वहा करे। आत्मामे स्वभावसे और जितनी शक्तियोका यहा वर्णन किया जा रहा है केवल उस शक्तिके स्वरूपसे आत्मामे कोई कलककी बात नही है। शक्ति स्वयं कलक के लिए नही हुआ करती है। पदार्थ स्वय अनन्तशक्त्यात्मक है। पदार्थका स्वरूप, पदार्थका गुरण उस पदार्थके कलकके लिए नही होता है, उसकी सत्ताके लिए होता है। आत्मामे जितनी भी शक्तिया है वे आत्माके कलकके लिए नही है, किन्तु आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है अखण्ड एक ज्ञायकभावमात्र है, वचनके अगोचर है उसकी प्रसिद्धिके लिये शक्तिका उद्घाटन है। वस्तुत. यदि वचनके अगोचर वन जाय तो एक धर्म हो जाय, क्योकि जितने भी वचन है उनका कोई अर्थ है, और जो अर्थ है वह एक धर्म है। वचनोका अर्थ किसी एक धर्मरूप होता है। पूरी वस्तुको वता दे ऐसा कोई वचन नही होता। जो वस्तुत वचनके अगोचर है किन्तु दृष्टिमे आने योग्य है सो अखण्ड ज्ञायकस्वभावमय अस्तित्व जो जाना गया है उसका भेद करके समझनेके लिए जो शक्तियोका प्रतिपादन हो रहा है उन सभी शक्तियोंके स्वरूपमे आत्मामे विकार करनेकी वात नही है।

पर्यायमें विकार होनेपर भी आत्मामें अविकारस्वभावत्वका दर्शन—अनन्त शक्ति वाले आत्मामे उपाधि सन्निधानका निमित्त पाकर विकार आते हैं, यह बात अवश्य है। जैसे कि दर्पणमे स्वय अपनी स्वच्छताके स्वभावसे प्रतिबिम्ब नही पडा हुआ है लेकिन उसी स्वच्छताके कारण उपाधिका सन्निधान पाकर विकार आ जाते हैं, और फिर इस दृष्टिसे देखिये—जैसे दर्पणके सामने जो उपाधि है हरा, पीला, नीला, लाल आदिक रगकी कोई चीज सामने कर दी गई है, उस चीजको जब तक दर्पणके सामने रखे हैं तब तक तो उसका प्रतिबिम्ब पडता है और जब उसको धीरे-धीरे हटाने लगते है तो वह प्रतिबिम्ब भी हटता जाता है। जब वह चीज दर्पणके सामनेसे बिल्कुल हट जाती है तो वह प्रतिबिम्ब भी हट जाता है। तो इससे यह बात निश्चित हो गयी कि दर्पणमे वह प्रतिबिम्ब उपाधिके सन्निधानसे है, उपाधिके आधीन है। ऐसा जानकर उस दर्पणको शुद्ध स्वच्छताका प्रकाश करना है। ऐसे ही आत्मामे ये रागादिक भाव कर्मोदयका सन्निधान पाकर हुए है, ऐसा समझकर हमे अपने आत्माका अविकार, अकर्तृत्व आदिक भावोका हो तो प्रकाश करना है। तो आत्मामे अकर्तृत्व शक्ति है।

निमित्तनैमित्तिक भाव होनेपर भी आत्माका परपदार्थोंके प्रति अकर्तृत्व—अब कुछ स्थूल दृष्टिसे देखने चलें। यह आत्मा बाहरमे क्या कर सकता है? क्या इस कारीगरकी आत्माने इस भीतको वनाया है? देखिये— निमित्तनैमित्तिक भावकी वात अभी दृष्टिमे न

लेकर यहाँ केवल यह निरखना है कि यह आत्मा क्या करता है ? निमित्तनैमित्तिक भाव को बीचमे लाये तो वहाँ पर भी यह ही ध्वनित होगा कि आत्माका इतना काम तो मूलमे निमित्त हुआ। उस निमित्तको पाकर इतना काम बाह्यपदार्थोमे हो रहा है, इस पर भी कर्तापनकी बात नही आयी। आत्मा अमूर्त है, ज्ञानमात्र है। यह यहाँ अपने गुणोका परिणमन करता है इसके आगे और कुछ नही करता। विकार अवस्थामे आत्माने विकल्प किया, इच्छा की, यहाँ तक तो आत्माका काम हुआ। अब विकल्प और इच्छाका निमित्त पाकर चूँकि इस देहके बन्धनमे है आत्मा, इसका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। तो ऐसे सम्बन्धकी स्थितिमे आत्माके विकल्प और इच्छाका निमित्त पाकर एक योग हुआ, प्रदेश परिस्पद हुआ, हलन चलन हुआ। लो यहाँ तक आत्माकी बात कह लीजिए। अब विकल्प, इच्छा और प्रदेशपरिस्पद इनका निमित्त पाकर यह एकक्षेत्रावगाही शरीर है ना। इसमे वायुका सचार होता है इतना जब आत्मामे प्रदेशपरिस्पद हुआ तो उसी एकक्षेत्रावगाहमे रहने वाला शरीर निश्चल कहाँ रहा ? वह भी चलित हुआ। वहाँ वायु चली। अब जिस तरहसे विकल्प हुआ उस तरह परिस्पद हुआ। उसके अनुरूप शरीरमे और उसके अनुरूप फिर ये अंग प्रकट रूपमे चलने लगे। अब निमित्तनैमिनिक भावपूर्वक ये सब कार्य हो रहे है, इसे दृष्टिमे लीजिए। अब उस निमित्त हुए हाथका निमित्त पाकर उसके बीच पडी हुई वस्तु भी उस स्थानसे स्थानान्तरित हुई। कितना निमित्तनैमित्तिक भाव है ? जैसे एक रेलगाडीका इजिन चलता है तो वहाँ रहने वाला जो ड्राइवर है—कही उसका आत्मा उस इंजिनको चलाता है क्या ? उसका निमित्त पाकर शरीरमे क्या हुआ ? तो शरीरके अगकी कहाँ तक क्रिया चली ? कह लीजिये कि किसी पेचको टेढा कर दिया, या ऊचा नीचा कर दिया, या उसे घुमा दिया, बस हाथ इतना चला अब वहाँ पेच इस तरह क्रियामे आया। अब उसका निमित्त पाकर उससे टसा हुआ जो दूसरा पुर्जा है वह चला, फिर उससे टसे हुये जो तीसरे, चौथे आदि पुर्जे है वे सब चले। इस तरह हर एक पुर्जेमे एक ऐसा परिस्पद हो होकर यह एक इजिनकी गति बन गई। हो गया निमित्तनैमित्तिक भाव और उसमे परख लिया जायगा कि प्रत्येक पदार्थका परिणमन उसमे अपने आपमे ही होता है अमुकका निमित्त पाकर। अब आगे और भी चले तो लोग कहते हैं कि इंजिनने ये २० डिब्बे खीच दिये। तो वहा भी हुआ क्या ? वह इजिन तो अपनी गतिसे चला, उसका पीछे सम्बध था दूसरे डिब्बेसे, तो उसका निमित्त पाकर वह दूसरा डिब्बा चला। यो वे सभी डिब्बे एक दूसरेसे जुडे हुए थे तो एक दूसरेका निमित्त पाकर वे चलने लगे। तो जैसे रेलगाड़ीका चलना निमित्तनैमित्तिक भावसे हो रहा है इसी प्रकार बाह्यपदार्थोमे हरकत है वह जीवभावका निमित्त पाकर है। इसी प्रकार आत्मामे ये जो कषायभाव या रागादिक विकार भाव हो रहे

है वे भी परपदार्थोंका सन्निधान पाकर हो रहे है। आत्माने तो केवल इच्छा की और हो गया आत्मामे प्रदेशपरिस्पद। इतना तो आत्माने काम किया, अब इसका निमित्त पाकर शरीरमे क्या बात बनी ? शरीरका निमित्त पाकर बाह्य वस्तुमे क्या बात बनी, यह सब परखते जायें, पर यह बात निर्णयमे हो कि आत्मा किसी भी परपदार्थका करने वाला नही है, किसीको कुछ परिणमाने वाला नही है। निमित्तनैमित्तिक भावमे स्वयं परपदार्थका निमित्त पाकर अपने आपमे अपने परिणमनरूप प्रभावको उत्पन्न किया करता है। यो आत्मामे अकर्तृत्व शक्ति है।

आत्माका कार्माणस्कन्धोंमें अकर्तृत्व—आत्मा परद्रव्यका कर्ता नही है, यह तो सरलतया विदित हो जाता है। अब उससे और परेमे भीतर चले। यह तो परपदार्थोंकी बात कही, अब निजमे देखिये—कर्मबन्धन होता है, जो कर्म अकर्मरूप हैं अभी कार्माणवर्गणायें जो कर्मरूप नही हैं, अभी विस्रसोपचयमात्र है, जीवके रागद्वेषादिक भावोका निमित्त पाकर रागद्वेषादिक भाव होना पाकर ये कार्माण स्कध कर्मरूप परिणम जाते हैं। परिणम रहे कुछ कार्माण स्कध कर्मरूप तो वहा हुआ क्या कि अकर्मत्व अवस्थाको तजकर कर्मत्व अवस्था धारणा की अर्थात् पहिले तो प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभागका कोई बन्धन न था, अब इन चारोका निर्माण हो गया, उन कार्माण स्कधोमे प्रकृति पड गयी, स्थिति बन गई, अनुभाग आ गया और प्रदेश भी है ही, उनका बधन हो गया, यह स्थिति आयी। इस हालत को भी जीवने अपने आपमे ही भाव किया। उसका निमित्त पाकर कार्माणस्कधमे स्वय यह बात बनी, पर जीवने कर्मकी परिणति नही की। निमित्तनैमित्तिक भाव नही मेटा जा सकता और, कर्ताकर्मभाव नही लादा जा सकता। दोनोके तथ्य विदित हो जानेपर एक ऐसी योग्य दशा बनती है कि निष्पक्ष होकर अपने उस ज्ञानमात्र स्वरूपमे प्रवेश करनेका सामर्थ्य पा लेता है। आत्मा यो कर्मोंका करने वाला नही होता।

आत्माके अकर्तृत्वस्वभावका अन्तर्दर्शन—अब इससे और भी सूक्ष्मदृष्टिमे चलें। विकारकी बात देखिये—आत्मा अपनी शक्तिसे अपने स्वभावसे अपने आप निरपेक्ष होकर यदि विकारको करता है तब तो कहा जा सकता था कि आत्मा विकार किया करता है। आत्मा तो ज्ञात किया करता है। आत्मामे जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सब शक्तियाँ अपने विशुद्ध परिणमनका सकेत करती है। हाँ है आत्मा एक ऐसा पदार्थ कि जहाँ कर्मबन्धन आ सकता है, तो उस अनादि सम्बन्धमे उस अनादि बन्धनमे ऐसी स्थितिमे कर्म आये, पर आत्माके स्वरूपको अगर देखें तो स्वरूपसे ही यह निर्णय बनता है कि आत्माने विकार नही किया। अर्थात् आत्मा स्वय विकार करने वाला नही होता। विकार हुए, परिस्थिति बन गई, उसका निर्णय बनाइये, फैसला कीजिए, किस तरह ये विकार हुए ? अगर ये

विकार आत्माके स्वभाव बन जायें तब तो फिर इन्हे कभी मेटा ही नही जा सकता। तब तो जब आत्माको स्वभावमात्ररूपमे निरखते है तो ऐसी स्थितिमे आत्माका अकर्तापन ज्ञात होता है। आत्मा विकारोंका कर्ता नही है। और सूक्ष्म दृष्टिसे चलो तो करनेकी बात ही क्या है ? आत्मा है और परिणमता है। प्रत्येक पदार्थ है और परिणमता है। परिणम रहा है, परिणमना ही पडेगा। परिणमन बिना कोई सत् रह नही सकता। है तो उसको निरन्तर कुछ न कुछ बनते रहना पडेगा। तो है और परिणम रहा है। यहाँ करनेकी बात क्या आयी ? इस तरह एक आत्माके उस स्वभावमे जब अपनी दृष्टि देते है तो यह सिद्ध होता है कि आत्मामे ऐसी अकर्तृत्व शक्ति है।

स्वकीयभावानुसार स्वस्थिति—अब व्यवहारत भी देखिये साधु महाराज उपदेश देते है, अनेक भव्य जीव उपदेश सुनते है, कोई जीव जिनका भवितव्य सुन्दर है और जिनका निर्वाण निकट है उनका ज्ञान बढता है, वैराग्य बढता है, वे अपने मे अपनी परिणति बनाते है, तो उसको उन्होने ही किया। तभी तो देखो–एक घरमे अनेक जीव बसे हुए है और सुयोग भी सबको मिलता है, इतने पर भी किसीका तो उद्धार होता है और किसी का नही। ये सब समस्याये यह बात बताती है कि कोई दूसरेका कुछ करने वाला नही है।

देखिये—रावणके घरके पुत्र मोक्ष गए, भाई मोक्ष गया, पर रावणकी क्या गति हुई ? और, तो जाने दीजिये--सीताका जीव जो प्रतीन्द्र हो गया, वह रामचन्द्र जी को तपश्चरण करते हुएमे डिगानेके लिए आया, इसलिये कि ये श्री राम अभी मोक्ष न जाये, अभी ये विचलित हो जाये ताकि हम और ये दोनो एक साथ मोक्ष जायेगे। सो उस प्रतीन्द्रने बडे हावभाव दिखाये, और ऐसा दृश्य दिखाया कि रावण केश पकडकर खीच रहा है, सीता चिल्ला रही है, बडा विलाप कर रही है, उस प्रतीन्द्रने सोचा था कि जब श्री राम इतना दुखद घटना अपने सामने देखेंगे तो यह अपने ध्यानको छोडकर कुछ करुणाके अश्रु बहायेगे। बस उनका ध्यान टूट जायगा और निर्वाण रुक जायगा। सो बडे प्रयत्न उस सीताके जीव प्रतीन्द्रने किए पर उनको रंच भी डिगा सकनेमे समर्थ न हुआ। तो यहा देखिये—सीताके जीवने श्री रामके प्रति कितना अनर्थ सोचा, पर क्या वह उनका अनर्थ कर सकनेमे समर्थ हो सका ? अरे यहां कोई किसीका कुछ भी सुधार बिगाड कर ही नहीं सकता। सबका अपने आपके उदयानुसार अपने आपमे काम हो रहा है। तो हम आपका यह कर्तव्य है कि यहाकी बाहरी बातोको तो अपने चित्तसे हटायें और आत्मज्ञानके मार्गमे अधिकाधिक कदम बढायें और उस ही आत्मस्वरूपमे मग्न रहकर स्वात्मकल्याण करे।

आत्माकी अकर्तृत्वशक्तिका संस्मरण—आत्मा किसी भी अन्य पदार्थको करनेका सामर्थ्य नही रखता है, यह बात तो बहुत स्पष्ट है, क्योकि अमूर्त ज्ञानानन्दघन आत्मा जो

कुछ भी परिणामन करता है वह अपनेमे करेगा या किसी अन्य पदार्थमे ? अपनी ही परिणतिसे करेगा, किसी अन्य पदार्थकी परिणतिसे नही। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, किसी एकको कोई दूसरा नही परिणमाता। तो आत्मा घर वैभव आदिक इन परपदार्थोंका कर्ता नही है। अब दृष्टि इस ओर लाइये कि आत्मा परका तो कर्ता नही है, पर अपने आपमे बँधे हुए इस शरीरका तो करने वाला होगा। तो यही बात यहाँ भी घटित होती है कि शरीर भी परद्रव्य है, आत्मा एक अमूर्त चैतन्यस्वभावी द्रव्य है, यहाँ भी याने देहकी परिणतियाँ न्यारी है, अतएव यहा भी कर्तृत्वकी बात नही आती। कर्मबन्धनके कर्तृत्वकी बात नही है, वह भी भिन्न पदार्थ है। निमित्तनैमित्तिक भावके निषेधकी बात यहा नही कही जा रही है, वह तो है, पर कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यकी परिणतिरूप हो जाय या अपनी परिणतिसे दूसरेको कर दे उसके निषेधकी बात है, कर्ममे भी यह आत्मा परिणति नही बनाता है, तब विकार भावकी बात कैसे कहे ? प्रश्न – आत्मामे जो रागद्वेषादिक भाव हैं उनको तो आत्मा करता है ? समाधान उसका यह है कि आत्माका वह परिणमन है और कर्मोदयका निमित्त पाकर ऐसी विविध दशाये हुई हैं। इस स्थलमे वहा विकारका कर्तापन आता है, पर वह कर्तापन क्या है ? अज्ञानीके तो श्रद्धा-पूर्वक है अतएव कर्तापन है किन्तु ज्ञानी जीवके कर्तापन यो नही कि होता है उसका परिणमन, पर उसमे श्रद्धा नही है, उसमे अपनी इच्छा चिपकाये नही है, बल्कि उसकी निवृत्तिकी भावना रहती है। तो होती है इस दृष्टिसे कर्तृत्व है, पर भाव नही है, श्रद्धा उससे विपरीत है, अतएव ज्ञानी उसका कर्ता नही है। अब जरा स्वभावकी दृष्टिका निर्णय करिये – आत्माके स्वभाव रागादिक करनेका नही है, बल्कि रागादिक विकारोसे हटे रहनेका आत्माका स्वभाव है। इस बातको सभी लोग स्वीकार करेंगे कि आत्माका स्वभाव विकारभावोसे हटनेका है। होते हैं विकार, परिणमन चलते हैं, किन्तु स्वभाव तो हटनेका है। तो स्वभाव जब विकारसे हटे रहनेका है तब स्वभावदृष्टिसे विकारोका यह जीव कर्ता नही है, अथवा आत्मामे करनेका स्वभाव है नही, करनेकी शक्ति है नही। शक्ति, स्वभाव, गुण, धर्म ये सब पदार्थोंमे शाश्वत पाये जाते हैं। तो यो आत्मामे अकर्तृत्व शक्ति है, आत्मा अब स्वभावसे सहजरूपसे अपने आपमे क्या करता है ? इस बातको देखनेसे यह विदित होगा कि आत्मा ज्ञाता रहे, जाननहार रहे और उस ही रूपसे चलता रहे, ऐसी स्थिरता हो, यह आत्मामे स्वभाव है।

मोहान्धापहारिणी अकर्तृत्वशक्तिका विनिश्चय— विकारसे हटा रहे आत्मा यह तो अविकार स्वभाव है आत्मामे, पर विकारोको करनेका आत्मामे स्वभाव नही है, ऐसी अकर्तृत्वशक्तिका जिनको परिचय है उनका मोहभाव दूर होता है। जगतमे जितना भी सकट

है वह मोहका है। यह मोह है तो किसी भी स्थितिमे कोई चला जाय, घरमे हो, घर छोड दे, जगलमे हो, किसकी भी स्थितिमे हो तो भी वहाँ यह अपना प्रभाव बना लेता है, क्योकि मोह होता है अज्ञानभावसे। आत्माकी शुद्ध शक्ति क्या है ? इसकी जिसको खबर नही है वह कही भी पहुच जाय, चाहे देवगतिमे हो या मनुष्यगतिमे हो, वह मोहके विषका अपनेमे प्रभाव बनाये ही रहता है। किन्तु जिसने ज्ञायकस्वभाव अन्तस्तत्त्वकी ज्योतिकी झलक पा ली वह सहज आनन्दामृतका पान करके तृप्त रहता है। आत्मा परका, कर्मका, विकारका अकर्ता है, ऐसी अकर्तृत्व शक्ति आत्मामे है, यो अकर्तृत्व शक्तिके परिचयसे जीवका मोह ध्वस्त होता है।

आत्मामें अभोक्तृत्वशक्तिकी निरख—अब आत्मामे अभोक्तृत्व शक्ति है उसका वर्णन करेंगे। अभोक्तृत्वशक्तिका अर्थ क्या है ? अभोक्तृत्वशक्ति उसे कहते है जिस शक्तिके कारण आत्मा कर्मकृत परिणामोके अनुभवसे निवृत्त रहे याने मात्र जाननपनका भोक्ता रहे, इससे आगे विकारोका भोक्तापन न हो ऐसा स्वभाव है। बन रहा है क्या ? स्वभाव है क्या ? इन दोनो बातोपर दृष्टिपात करना चाहिए। आत्माका स्वभाव है विकार भावोसे निवृत्त रहने का। जैसे कि कोई किवाड स्प्रिगदार इस ढगके होते है कि उनका सदा बन्द रहनेका ही स्वभाव रहता है। जब उन्हे बलपूर्वक खोला जाता है तो खुलते हैं, ऐसे ही समझिये कि जब उपाधि सन्निधान और और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते है, आत्मामे विकार हुए, लेकिन आत्मामे प्रकृति क्या है, सहज स्वभाव क्या है ? विकारोसे हटा रहना, अपने आपमे गुप्त रहना आदि। तो अभोक्तृत्वशक्तिका जब परिचय हो जाता है तब यह निर्णय हुआ कि आत्मा विकारभावोसे हटा रहे, विकारभाव भोगनेसे दूर रहे, अपने ज्ञातृत्व और दृष्टत्वका ही भोग करे, ऐसी स्थितिका नाम है अभोक्तृत्वशक्ति।

आत्मामें परपदार्थोंका अभोक्तृत्व——अब जरा बाहरी प्रसगोकी बात देखिये—जीव इन बाहरी पदार्थोका भोक्ता है अथवा नही। लोकमे रूढि तो बहुत है कि यह जीव दूकान, मकान, भोजन, धन दौलत तथा अनेक प्रकारके विषयोका भोक्ता है लेकिन विचार तो करो कि क्या वास्तवमे यह आत्मा मकान, वैभव, सोना, चाँदी आदिकको भोग सकता है ? अरे आत्मा तो अपने प्रदेशोमे ही नियत है। आत्माके ये अनेक विकल्प परिणमन तो उस ज्ञान और आनन्द आदि स्वभावके विकृत परिणमन है तो भी वे विकल्प उस आत्मप्रदेशमे ही होते है। तो अब आत्मा जो कुछ भी कर पाता है अपने प्रदेशोमे अपने गुणोका काम तो जो कुछ भोग पाता है अपने प्रदेशोमे अपने गुणोका अनुभवन, इसके आगे आत्माका न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व है। तब यह सिद्ध हुआ कि आत्मा मकान, सोना, चाँदी आदिकको नही भोग रहा है, किन्तु उस कालमे उनको विषयभूत करके उनका विकल्प रखता हुआ अपने आपके

सुख दु खादिक विकारोको भोग रहा है। ये सुख और दु ख तो आनन्द गुणके परिणमन हैं। तो इन सुख और दु खोको यह आत्मा भोग रहा है, यो अपनेमे ही भोगनेकी बात हुई, परमे भोगनेकी बात नही हुई। लोग तो यो कह देते कि मुझे यह बच्चा सुख देता है, यह मकान सुख देता है, यह बिस्तर सुख देता है, यह धन सुख देता है आदि, अगर ऐसा मान भी लिया जाय तो इसका अर्थ यह हो गया कि मुझमें सुख बिल्कुल नही है। किन्तु ये सोना चाँदी, मकान, पलग आदिक सुख दे रहे है, ऐसी जहाँ दृष्टि बनी हो वहाँ फिर शान्तिका मार्ग कहाँ से प्राप्त हो सकता है? मोक्षमार्गकी बात कहाँसे आ सकती है? बाह्यपदार्थोंसे सुख मानना, उनसे सुखकी आशा करना यह तो मिथ्यात्व है, बहुत बडा व्यामोह है। ये पदार्थ सुख नही देते। जैसे कहा कि आत्मा ज्ञानानन्दका पुञ्ज है तो इस अशुद्ध अवस्थामे, इस विकृत दशामे बाह्यपदार्थोका सन्निधान पाकर उनको विषयभूत करके आनन्द गुणका यह सुख दु ख विकार परिणमन हो रहा है। तो वे विकार परिणमन है सो वे भी आत्मामे प्रकट हुए, बाहरी पदार्थोंसे प्रकट नही हुये।

आकुलतामय, क्षोभव्याप्त सांसारिक सुखोंके भोक्तृत्वका आत्मामें अस्वभाव—अब रही सुखकी बात तो उसकी पोल सुनिये—सुख एक कल्पना है। सु का अर्थ सुहावना लगना और ख मायने इन्द्रिय—याने जो इन्द्रियोको सुहावना लगता है उसका नाम सुख है। यह सुख भी शान्तिकी परिणति नही है। जैसे दु खका भोग आकुलता बिना नही होता, ऐसे ही सुखका भोग भी आकुलता बिना नही होता। आप अनुभव कर लें, परीक्षण भी कर लें—जितने भी इन्द्रियसुख है उनका भोगना शान्तिके आधारपर नही है, किन्तु क्षोभके आधारपर है। आकुलता हो तब यह जीव इन्द्रियसुखके लिए प्रयास करता है, और इन्द्रियसुखके प्रयास मे भी आकुलता है, इन्द्रियसुख भोगनेके कालमे भी आकुलता है। यह बात समझानेके लिए कोई अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है। यह सभीके हृदयमे उतरी हुई बात है। यहाँ कौन सा इन्द्रियसुख ऐसा है जो शान्तिसे भोगा जाता हो? कोई भी नही है। सभी इन्द्रियसुखोमे क्षोभ भरा है, आकुलतायें भरी है। एक भोजनके ही सुखको ले लो, जब आप भोजन करते है तो देखिये—कितनी आकुलतायें आपको मचानी पडती हैं—कही कौर तोडा, मुखमे उसे डाला, चबाया, अब यह खाना है आदि अनेक क्षोभसे भरे हुए प्रसग चलते रहते है। मनके भोगोकी तो कहानी ही क्या कही जाये? वहाँ तो सभी प्रसगोमे आकुलतायें ही आकुलतायें भरी है। तो आप समझ लीजिए कि ये सभी इन्द्रियसुख आकुलताओसे भरे हुए हैं। इन इन्द्रियसुखोके भोगनेसे फायदा कुछ न मिलेगा। तो बाह्यपदार्थोंको यह जीव नही भोगता यह तो स्पष्ट ही है। बाह्य तो बाह्य ही हैं। उन बाह्यपदार्थोंके निमित्तसे जो हमने सुख माना है उन सुखोके भोगनेकी श्रद्धा वृत्ति भी अज्ञानियोके जगती है। वे उसमे बडा सुख मानते

हैं—जब कि ज्ञानी पुरुष उन सुखोके बीच यह चिंतन करता है कि यह तो झंझट है, विडम्बना है। कहाँ तो मेरा शान्तिका स्वरूप, ज्ञानानन्दका स्वभाव और कहाँ यह आकुलता भोगनेकी विडम्बना। यह कितना कठिन काम है? तो यो सुखोसे भी यह ज्ञानी पुरुष विरक्त रहता है, और अपने आत्माका जो शुद्ध ज्ञानानन्द स्वाद है उस स्वादका वह भोग करता है। ज्ञानी पुरुष बाह्यपदार्थोका सुख तो भोगेगा क्या, उनमे वह मौज मानेगा क्या, वह तो उनसे विरक्त चित्त रहता है और उनसे पूर्णरूपेण निवृत्त होनेका स्वभाव रखता है।

ज्ञानी गृहस्थके कर्मधारा व ज्ञानधारा दोनोंमें ज्ञानधाराकी रुचिसे मुख्यता—अब किसी ज्ञानी जीवमे यहाँ दो तरहकी धाराये बर्त रही है। वह तो इन इन्द्रियसुखोसे हटा हुआ है और उस शाश्वत् ज्ञायकस्वभावके ज्ञानमात्रके अनुभवके लिए ही उसकी रुचि जगी हुई है। और, पर्यायोमे बीत क्या रहा है कि इन सुखोको भोगता तो रहता है, भोजन तो करता ही है, कमाईका काम भी करता है, कुटुम्बके बीच बैठकर कुछ मौज भी मान रहा है आदि, यो पर्यायकी बात तो इस तरह चलती है, मगर उसके भीतरकी दृष्टि तो देखो—उसकी मुख्य बात क्या है और क्या बात उसकी गौण हो रही है? उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके इन बाह्यपदार्थोका सम्पर्क मुख्य बना हुआ है या अपने ज्ञानमात्रकी उपासनाका काम मुख्य बना हुआ है? ज्ञानभावकी उपासनाका ही उसका मुख्य काम है। एक जो भीतरमे शुद्ध स्वरूप है, जिस दिशाकी प्राप्तिकी भावना है वह उसका मुख्य काम है। मुख्य वह होता है जिससे कभी अलग होनेकी भावना न बने। ज्ञानी जीवको उस शुद्ध स्वरूपसे हटनेकी भावना नही बनती। हटा हो फिर भी स्वरूपसे हटनेकी भावना उसके नही है। और, इन इन्द्रियसुखोसे हटनेकी उसकी भावना है। तो इस पर्यायमे रहकर सुखसाधनोको भोगता नही है किन्तु जो बात उसकी मुख्य है उसकी रुचि उसे रहती है।

अन्तर्दृष्टिसे निरखनेपर आत्माकी अभोक्तृत्वशक्तिका विशद परिचय—अब जरा स्वभावदृष्टिसे इसही तत्त्वको निरखिये—आत्मामे क्या इन विकल्पोको भोगनेका स्वभाव है? बाहरी पदार्थोके भोगनेकी बात नही है, यह तो स्पष्ट नजर आया किन्तु जो विकल्प चल रहे हैं, सुख दुःखके परिणमन चल रहे है क्या उनको भोगनेका स्वभाव है इस जीवमे? नही है। उनमे तो हटे रहनेका स्वभाव है। आत्मामे उस सहज ज्ञानस्वरूपको निरखिये, वह सहजज्ञानस्वरूप, वह सहजस्वभाव क्या इन क्षणिक, अशुचि, पराधीन विकारोके अनुभवनेके लिए है? क्या इन विकारोके भोगनेका उसमे स्वभाव है? नही। उसका स्वभाव तो है कि शुद्ध जो ज्ञानरस है, शाश्वत जो सहज आनन्द है उसमे ही यह वर्तता रहे। इस प्रकारका उसमे स्वभाव है। तो ऐसे स्वभावको जब निरखते है तो निश्चय होता है कि इस आत्मामे अभोक्तृत्वशक्ति है, जिसके प्रतापसे विकारोके भोगनेका इसमे स्वभाव

नही है। जब ऐसे अकर्ता, अभोक्ता, ज्ञानमात्र, विशुद्धस्वभाव पर दृष्टि जाती है तब वहाँ अनुभव होता है कि यह ही मैं हू और ऐसा अकम्प जाननहार ज्ञातादृष्टा मात्र स्थिर रहना ऐसा इस आत्मामे स्वभाव पडा हुआ है। यद्यपि अनादि सम्बन्ध कर्म प्रयोग कर्मविपाक आदिक उपाधि सन्निधानकी वात उल्टी हो रही है, मगर उस समस्त उल्टी वातका यहाँ स्वभाव नही है, यह तो उससे हटा हुआ है। यो रागद्वेपादिक विकारोसे और उनके अनुभव से हटा हुआ यह आत्मा रहता है, इसमे ऐसा स्वभाव है, इसका परिचय जिसे है वह इन्द्रिय सुखोमे क्यो प्रीति करेगा ?

अपूर्वनिधिके लाभके अपूर्व अवसरसे लाभ लेनेका अनुरोध—भैया ! ऐसा निर्णय तो रखना ही होगा कि मैं आत्मा हू। अभी मैं मनुष्यपर्यायमे आया हूँ तो किसलिए ? क्या यहाँके सुख मौज लूटनेके लिए आया हू ? इन मौजोमे तो वर्तमानमे भी कोई शान्ति नही है, और इन सुख मौजोमे आगामी कालमे भी शान्ति नही हो सकती। ये तो विकार है, ये मिट जाने वाले हैं। ये तो मायारूप है औपाधिकभाव है, इनमे लगना यह तो व्यामोह है, अधकार है, अपने आपकी वरवादी है। इन सब परिणतियोंसे हटकर अपने आपके शुद्ध स्वरूपमे दृष्टि लगाना, यही हमारा कर्तव्य है। जैसे गरीवोके वीच रत्न विखेर दिए जाये अथवा भोजन, वस्त्र आदिक विखेर दिये जायें और कह दिया जाय कि लूट लो जितना लूट सको तो जैसे वे प्रसन्न हो जाते है और उन वस्त्रोको, भोजनको, रत्नोको लूटनेमे वे उद्यत हो जाते है, इसी तरह ऋषिसतोकी यह घोषणा है कि इस मनुष्यभवमे ज्ञानमार्ग, शान्तिमार्ग, सम्यग्ज्ञान, सयम, व्रत, तपश्चरण, मंद कषायके आनन्द आदि ये सब मिल रहे हैं, जितना लूटना हो लूट लो। तो इस परवस्तुकी आशाके भिखारीने इस दीन दरिद्र प्राणीने जो अपने आपमे सदा दुख, वेदना, क्षोभ, अनुभवता रहा है, ऐसे भिखारीके सामने यदि ये चीजें आती है तो उसका क्या कर्तव्य है ? बस लूट ले, खूब लूट ले ऐसी निधि। ऐसी अनुपम निधि जो कभी दुखका कारण नही हो सकती, सदा आनन्द का हेतु है ऐसे व्रत, तप, सयम, नियम मद कषाय, विषयवैराग्य, अपने स्वभावका दर्शन, ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, चारित्र आदि इन निधियोको लूट लो यह दृष्टि बना लो। वाहरी विकल्पो मे, बाहरी दृष्टियोमे समय गुजर जायेगा तो जीवन गुजर जायेगा, मृत्यु आ जाने वाली है, जीवन यो गुजर जायेगा। जैसे अनादिसे अब तक अनन्त जीवन गुजार डाले, उन जीवनोसे लाभ क्या पाया ? सोच लो उन जीवनोमे से आधे जीवन न होते तो तेरा कुछ बिगाड तो न था, वे जीवन कोई खास जीवन तो न रहे थे। इसी तरह यह जीवन भी कोई खास तो न रहा। यदि सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र विधिकी ओर हमारा आना नही बनता है, हम इस ओर उत्साहित नही होते है तो इस जीवनसे हमे लाभ क्या है ?

आकुलताके हेतुभूत बाह्य समागमोंकी उपेक्ष्यताका निर्णय—जीवनमे निर्णय ही यह बनाओ कि हमे तो आत्मनिधि प्राप्त करना है। इन बाहरी बातोसे उपेक्षा करें, ये तो हमारे लिए आकुलताके ही कारण है। बडे हो गए तो बडे होनेके बाद पोजीशन बनानेके लिए, बढानेके लिए और उसे कायम रखनेके लिए न जाने कितनी कितनी चिन्तायें करनी पड़ती है। वे सोचते है कि यदि मेरा पोजीशन घट गया तो फिर ये दुनियाके लोग मुझे क्या कहेंगे, फिर तो मेरा जीना ही बेकार है। यों उसे निरन्तर क्षोभ बना रहता है। आकुलतायें मचाता रहता है। अब देखिये—उस बडे व्यक्तिके ये सब महल, वह सब दौलत बेकार ही रही ना। अरे ज्ञान हुआ है तो ऐसा साहस बनाये कि ये बाह्यपदार्थ आये तो आये, जाये तो जायें, उनकी जैसी भी स्थिति बनती हो बने। उनसे मेरा कोई सम्बंध नही है।

गुप्त ही गुप्त आत्मनिधिकी निरखसे तृप्त होनेका भाव—अरे भैया! अपने आत्मा की निधि देखो—यह अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा अपने आपमे सहज शुद्ध आनन्दके स्वभावसे भरपूर है, इसमे कमी क्या? इसका यहाँ कोई जानने वाला नही है, अथवा हमे कुछ देखनेको पडा नही है, देखकर क्या करना? इतनी अनुपम निधि यदि दृष्टिमे आयी है तो गुप्त रहकर इस आनन्दका अनुभव करना है, इसका भोग करना है। जैसे किसी गरीबको कही कुछ निधि मिल जाय तो वह दूसरोसे छिपा करके रखता है क्योकि दूसरोके सामने प्रकट करे तो वह निधि छिन जायगी। सो वह दूसरोसे गुप्त रखता है और कही एकान्तमे जाकर उस निधिको निरखकर मौज मानता है, इसी तरह इस ससारी जीवको किसी भी प्रकार सुयोगसे आत्मदर्शन हुआ है, आत्मनिधि उसकी दृष्टिमे आयी है तो वह उसे दूसरोको दिखाना नही चाहता है, क्योकि दिखानेमे उपयोग बाहर जायगा, निधि बिखर जायगी, निधि नही रह सकती। जब निधि उसके पास है तो वह दिखाना नही चाहता, बताना नही चाहता, कुछ भी प्रकाश नही करना चाहता। जो मैंने पाया तो गुप्त ही रहकर एकान्त, कहाँका एकान्त? बाहरका एकान्त नहीं, हाँ साधनरूपसे बाहरका एकान्त भी एकान्त है, किन्तु अपने आपको अकेला निरखना, केवल ज्ञानमात्र निरखना, ऐसा जो अपने अनुभवमे केवल ज्ञानमात्र भाव आया है वह है अपना एकान्त। उस एकान्तमे, उस ज्ञानस्थितिमे वह अपनी समस्त निधियोको साक्षात् निरखता हुआ वहाँ मौज ले रहा है, तृप्त हो रहा है, आनन्द ले रहा है। और ज्ञानी पुरुष क्या भोग रहा है? अपने आपमे वर्तमान ऐसे ज्ञानानन्दको भोगता है। उसको भोगनेका स्वभाव है, पर विकारोको भोगनेका इसका स्वभाव नही है। उनसे हटा रहनेका स्वभाव है, ऐसा अविकार स्वभाव ज्ञानरससे भरा हो, यही इस जीवनमे एक मुख्य कर्तव्य है।

आत्मामें निष्क्रियत्वशक्तिका प्रकाशन—आत्माको ज्ञानमात्र अनुभव किए जानेकी

बात बतायी गई है ज्ञानी पुरुष जब आत्माको अनुभवमे लेता है तब 'ज्ञानमात्र हूँ' इस प्रकार से अनुभवमे लेता है, 'ज्ञानमात्र हूँ' ऐसा दर्शन करके जो लक्ष्यमे आया है वह केवल ज्ञानगुण लक्ष्यमे नही आया है, किन्तु वह अनन्तशक्त्यात्मक आत्मा लक्ष्यमे आया है। ज्ञानमात्र कहनेसे अनन्तशक्त्यात्मक वह सर्वस्व लक्ष्यमे आता है, इसका कारण यह है कि ज्ञानमात्र अनुभवनेमे आत्माकी अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। वह ज्ञानमात्र भाव अनन्त शक्तियोका अविनाभावी है अतएव ज्ञानमात्रके अनुभवमे वह समस्त अनेकान्तधर्मात्मक आत्मा अनुभव मे आता है। तो इस आत्मामे अनन्त शक्तिया है यह कह कर ज्ञानमात्र आत्माकी ही प्रसिद्धि की गई है और उन शक्तियोमे से निष्क्रियत्व शक्तिका वर्णन अब चल रहा है। आत्मामे एक निष्क्रियत्व शक्ति है जिसके कारण आत्माके प्रदेश अपरिस्पन्द अवस्थामे रह सकते है उसे निष्क्रियत्व शक्ति कहते है। आत्मामे सहज स्वभावकी दृष्टिसे निरखा जाय तो आत्मा स्थिर रहे ऐसा उसमे स्वभाव है। फिर भी आज वर्तमान परिस्थितिमे ऐसी अशुद्धता है, उपाधि सन्निधान है जिससे यह सक्रिय बन रहा। प्रदेशपरिस्पद हुआ है पर ऐसा होना आत्मामे शुद्ध शक्तिकी ओरसे स्वभाव नही है और होता है, ऐसा होते हुए भी आत्मामे जो परिस्पद होता है वह आत्मामे आत्मासे होता है। भले ही आज शरीरका सम्बन्ध है और शरीरके हलन चलनसे आत्मप्रदेशोमे हलन चलन होती है। सिद्धान्त शास्त्रोमे भी कहा गया है कि मन, वचन, कायके प्रदेश परिस्पदके कारण आत्मप्रदेशमे परिस्पद होता है, इतने पर भी वह परिस्पद आत्मामे ही है और मन, वचन, काय का सम्बन्ध उसी मन, वचन, कायमे है। परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी प्रत्येक द्रव्य का परिणमन उसका उसमे है। ऐसा हो रहा है। यहाँ यह बता रहे हैं कि ऐसा परिस्पद होना आत्मामे स्वभाव नही है, पर स्थितिवश हो रहा है। क्रिया नाम परिस्पदका भी है। क्रिया नाम किसी भी प्रकारकी परिणतिका भी है। जिस जिस वस्तुमे अर्थक्रिया हो वह वस्तु सत् मानी गई है। जहाँ अर्थ क्रिया नही वहाँ सत्त्व क्या? अर्थक्रिया याने अर्थ परिणमन। तो ऐसी अर्थक्रिया तो आत्मामे है और अर्थक्रियाका काम सतत चलता रहता है। उस अर्थक्रियाका निषेध नही है, किन्तु जो स्थानान्तर गमन है अथवा जो परिस्पद हैं उन स्थितियोके अभावकी बात इस शक्तिमे बतायी गई है। आत्मामे निस्क्रियत्व शक्ति है जिसके कारण यह आत्मा अपरिस्पद अवस्थामें रह सकता है।

प्रदेशपरिस्पन्दता व ज्ञानादि विकासका अपना अपना स्थान होनेसे दोनोंमें विरोधका अभाव—यद्यपि अपरिस्पदता तो सर्व कर्मोके क्षय होनेपर होती है अथवा अयोगकेवली अवस्थामे होती है। शरीर सहित परमात्मा अरहत १३ वें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली हैं, उनके भी योग चलते है। योगपरिस्पद होनेसे आत्मामे जो केवल ज्ञानादिक गुण है उनमे

फर्क नही आता। वहाँ केवलज्ञान अपना पूर्ण कार्य कर रहा है। गुणोका जो विकास हुआ है उसमे कोई अधूरापन नही होता, न आत्मामे रुकावट होती, वह तो पूर्ण है और यह अयोग हो रहा है। उसमे भी प्रदेशपरिस्पदका ज्ञानावरणसे सम्बंध नही है, लेकिन ऐसा परिस्पद भी आत्माका स्वभाव नही है, तभी कर्मोका क्षय होनेपर यह परिस्पद भी नही रहता। ऐसी निष्क्रियत्वशक्ति आत्मामे विद्यमान है।

आत्माकी नियतप्रदेशत्वशक्तिका प्रकाश—आत्मामे एक नियतप्रदेशत्वशक्ति है, जिस शक्तिके कारण आत्मा नियतप्रदेशरूप है। लोकके प्रदेश जितने है उस प्रमाण है और अपने नियत प्रदेशोमे ही वे रहते हैं। चरम शरीरसे कुछ कम प्रमाणकी स्थिति जहाँ आती है सिद्धदशामें वहां नियत अवस्थित रहता है। नियतप्रदेशत्वशक्तिके मायने यह है कि आत्माके प्रदेश नियत है, असंख्यात प्रदेश हैं, वह असख्यात प्रदेशमे रहेगा और पूर्ण शक्तिकी दृष्टिसे जहा फिर सकोच विस्तार नही होता है ऐसी शाश्वत नियत प्रदेशमे रहनेकी स्थिति सिद्ध अवस्थामे होती है, आत्मा अपने नियत प्रदेशमे ही है। सकोच हो तब भी वह नियत प्रदेश मे है, असख्यातप्रदेशी हो, विस्तारमे फैला हो तब भी वह अपने नियत प्रदेशोमे ही है। किसी एक समय उन प्रदेशोका पूर्ण विस्तार विकास होता है। एक समयके लिए लोकपूरण बनेगा केवली समुद्धातके समय। केवली गुणस्थानके अतिम क्षणोमे जब कि आयुका तो सत्त्व रह गया हो थोड़ा, शेष अघातिया कर्मोका सत्त्व अधिक हो, इस स्थितिमे वहा समुद्धात होता है। समुद्धातमे पहिले अरहंत भगवानके आत्मप्रदेश नीचेसे ऊपर तक दडाकार हो जाते है, अर्थात् जितने शरीर प्रमाण आत्मप्रदेश है गोलाईमे, मोटाईमे, चौडाईमे उतने प्रदेशप्रमाण नीचेसे ऊपर तक विस्तार हो जाता है। कभी पद्मासनसे अरहंत भगवान विराजे हो तो पद्मासनकी स्थिति होनेके कारण वहा तिगुने प्रदेशोमे उनका विस्तार होता है। तो उस दडसमुद्धातमे लोकके नीचे भागके बातबलयको छोडकर नीचेसे ऊपर तक बातबलयको छोडकर सर्वप्रदेशोमे फैल जाते है। इतना बडा फैलनेके बाद फिर अगल बगलके प्रदेश फैलते है। कपाट समुद्धातमे जैसे किवाड़ मोटे तो उतने ही है पर चौडाईमे काफी फैले हैं इसी प्रकार अरहत प्रभुके आत्मप्रदेश बातबलयको छोडकर लोकमे सर्वत्र फैल जाते है। इसके बाद प्रतर समुद्धातमे आगे पीछे प्रदेशोका विस्तार हो जाता है। कहा तक ? जहा तक कि बातबलय न आये। फिर लोकपूरण समुद्धातमे सर्वत्र फैल जाते है, वातवलयोमे भी फैल जाता है। यह एक समयका फैलाव है, तव लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर आत्माका एक प्रदेश स्थित हो जाता है, उसके बाद सकोचके समय प्रतर समुद्धात होता है। फिर फैलते हुए प्रतर समुद्धातमे जो स्थिति थी वह सकोच समयके प्रतर समुद्धातमे स्थिति होती है, इसके बाद कपाटसमुद्धा तजैसी स्थिति इस कपाटसमुद्धातकी स्थितिमे होती है। इसके बाद

दड समुद्धातमे दड समुद्धात जैसी स्थिति होती है। पश्चात् देहमे प्रवेश हो जाता है। इस तरह चाहे कितना ही सकोच हो और कितना ही विस्तार हो, आत्मा सर्वत्र असख्यातप्रदेशी है। आत्मा सकुचित हो तब भी नियतप्रदेशी है। विस्तृत हो रहा हो तब भी नियतप्रदेशी है, और कर्मक्षय होनेपर सदा नियतप्रदेशोमे रह सके ऐसी शक्ति आत्मामे है, इसे कहते हैं नियतप्रदेशत्वशक्ति।

आत्माके सर्व परिणमोंकी आत्माके सर्वप्रदेशोंमें उसी समय वृत्ति—यहाँ आत्मा और शरीरका एकक्षेत्रावगाह सम्बध है। जितने प्रमाणमे शरीरका फैलाव है उतनेमे आत्मा फैला है। और, जब सुख दु खकी वेदना होती है तब समग्र आत्मप्रदेशोमे वेदना होती है। कभी ऐसा लगता है—जैसे हाथमे फोडा हो गया तो ऐसी प्रतीति होती है कि मुझे तो इस जगह दर्द है पर दर्द तो आत्माके सर्व प्रदेशोमे है। निमित्त वहाँ हाथका फोडा है जिससे वहाँ शरीरमे एक प्रकारकी हरकत है और उसका निमित्त पाकर आत्मामे वेदना हुई है। तो जिस निमित्तसे यह वेदना चली है, इसकी दृष्टि निमित्त पर है, उपयोग वहाँ पहुचा हुआ है इसलिए सर्व जगह सर्वप्रदेशोमे वेदनाका उपयोग नही है। वह वहाँ ही वेदनाको निरखता है, लेकिन आत्माकी जो भी परिणतियाँ होती हैं वे सभी परिणतियाँ समग्र प्रदेशोमे है। कही ऐसा नही है कि कोई परिणति आत्माके कुछ प्रदेशोमे हो और शेष प्रदेशोमे न हो। यो आत्मा अपने समग्र प्रदेशोमे अपना परिणम्न करता है।

ज्ञानकी स्व आत्मामें व्याप्यता—यह आत्मा नियत प्रदेशोमे है। इस क्षेत्रावगाहकी स्थितिमे भी शरीर अपने प्रदेशमे है, अपने अवयवभूत परमाणुओमे है, उनमे आत्मा नही है। आत्मामे आत्मा है, अपने नियत प्रदेशमे है, उनमे शरीर परमाणु नही है। एकक्षेत्रा-वगाह हो गया। जिस ही प्रदेशमे शरीर अणु है उस ही प्रदेशपर आत्मप्रदेश भी हैं, ऐसा एक क्षेत्रावगाह है और विशिष्ट एक क्षेत्रावगाह है। शरीर चले तो आत्मा भी वहा चले, आत्मा चल रहा तो शरीर भी वहा चल रहा ऐसा विशिष्ट एक क्षेत्रावगाह है फिर भी स्व-रूपदृष्टि करके निरखा जाय तो आत्मामे आत्मा है, शरीरमे शरीर है आत्मा नही है। ऐसे अपने ही नियत प्रदेशमें आत्मा रहे ऐसी नियत प्रदेशत्वशक्ति जीवमे है। इतना जो कुछ भी है वह सब इस नियत प्रदेशमे है। हमारा कोई भी विभाव, गुण, परिणति, कुछ भी चीज हमारे इस नियत प्रदेशसे बाहर नही है। जैसे लोग बाहरमे सुख ढूँढते हैं, बाहर ज्ञान ढूढते है, ऐसी श्रद्धा बनाये हुए हैं कि मेरा ज्ञान यहा मिलेगा। इस पुस्तकमे मुझे ज्ञान मिलेगा। ज्ञान तो मिलेगा अपने आत्मप्रदेशोमे ही, पर इस क्षयोपशमकी स्थितिमे उन अक्षरोको पढ-कर, समझकर, जो ज्ञान विकास होता है, ऐसी साधन परम्पराको निरखकर लोग यो ही कह देते हैं कि मेरेमे ज्ञान कहा है, मुझे ज्ञान तो इस पुस्तकसे मिलेगा। यद्यपि वह पुस्तक

ज्ञान करानेमे साधन है, गुरुका उपदेश, गुरुकी मुद्रा, दर्शन, ये सब हमारे ज्ञानविकासके साधन है, उनके उपदेशको सुनकर अर्थ समझकर हम अपने आपमे ज्ञान विकसित करते हैं, तो ये ज्ञानविकसित करनेके साधन है, इतने पर भी ज्ञान तो मेरा मेरेमे ही प्रकट होता है, गुरुसे ज्ञान मेरेमे नही आता। यदि गुरुसे ज्ञान आता होता तो कुछ तो ज्ञान गुरुसे निकलकर मेरे पास आ गया। अब जितना ज्ञान गुरुसे हमने खीच लिया उतना ज्ञान तो गुरुमे कम हो गया। और ऐसे ही गुरुजी अगर सभीको अपना ज्ञान दान देते फिरे तब तो फिर कुछ समयमे गुरुको ज्ञानशून्य हो जाना चाहिए। पर ऐसा तो नही होता। वल्कि ज्ञानकी तो ऐसी महिमा है कि जितना अधिक ज्ञान दान दिया जायेगा उतना ही अधिक ज्ञानका विकास होता है। ज्ञानदान क्या ? निश्चयत ज्ञानका देना नही होता, व्यवहारत निमित्त की बात कह रहे हैं। ज्ञान तो जीवमे है। वह वहाँ है, अभी आवृत है। कुछ साधन पाकर कुछ अपनी दृष्टि विशुद्ध बनाये, उन विशुद्ध भावोके कारण वह ज्ञानशक्ति कुछ प्रकट होती है, ज्ञानविकसित होता है, ज्ञानका विकास होता है। सोचो तो सही, ज्ञानस्वरूप मेरा न हो, मुझमे ही ज्ञान न हो तो वह ज्ञान आयेगा कहाँसे ?

आनन्दकी स्व आत्मामें व्याप्यता—अब अपने आनन्दको देखिये। आनन्द भी मेरेमे न हो तो वह आनन्द आयेगा कहाँसे ? जैसे लोग कहते है कि मुझे तो अमुक पदार्थके खानेसे अथवा सेवनसे आनन्द मिला, तो उनकी दृष्टि ऐसी हो जाती है कि मेरेमे आनन्द नही है, आनन्द तो इन बाहरी चीजोसे मिलता है। लेकिन उनकी यह धारणा गलत है। आनन्द कही बाहरसे नही आता। स्वयमे यह आनन्दगुण विद्यमान है और उसही आनन्द गुणका योग्य साधन पाकर विकार हुआ है जो कि सुख अथवा दुखरूपमे परिणत हुआ है। जो आत्मामे नही है वह आत्मामे किसी प्रकार नही आ सकता। जो आत्मामे है वह आत्मासे किसी प्रकार बाहर नहीं हो सकता, भले ही विकाररूप परिणमन हो अथवा न हो, पर जितनी शक्तियाँ है उतनी शक्तियाँ आत्मामे है। जो नही है वे बाहरसे आ नही सकती। आत्मामे रूप शक्ति नही है तो त्रिकाल भी आत्मामे रूप शक्ति न आयगी। आत्मामे ज्ञानानन्दशक्ति है तो उसका कभी भी विछोह न होगा। ऐसी भी स्थिति आ जाय कि जहाँ ज्ञान कुछ भी नही मालूम पडता, आनन्द कुछ भी नही मालूम पड़ता, लेकिन वहाँ भी ज्ञानानन्द शक्ति है और उसका किसी न किसी अशमे विकास बना हुआ है तो आत्मामें जो कुछ है वह आत्मप्रदेशोमे है, आत्मप्रदेशसे बाहर नही है, तब निर्णय कर लीजिए कि मेरा किसी परसे सम्बन्ध नही है, अत ममत्वसे दूर होइये।

जीवके रागादि विकारोंका भी अन्यमें व्यापनेका (पहुंचनेका) अभाव—कोई कोई लोग ऐसा कहा करते हैं कि मेरा अमुकमे बहुत प्रेम है, पर ऐसा कभी हो सकता है क्या ?

किसीका प्रेम किसी दूसरेमे पहुच जाय यह कभी सम्भव नही। प्रेम है क्या चीज ? एक राग परिणति। रागपरिणति क्या है ? आत्माके चारित्र गुणकी एक विकृत दशा, वह शक्ति आत्माके इस नियत प्रदेशमें है। इससे बाहर कही अन्यत्र नही। आत्माकी यह चारित्र शक्ति, श्रद्धा शक्ति, ज्ञानशक्ति सर्व शक्तियाँ आत्मप्रदेशमे ही है, तव इनका परिणमन आत्मा मे ही होगा और राग जो बना, प्रीति जो बनी वह आत्मप्रदेशमें बनी या प्रीति की निष्पत्ति कही बाहर हुई ? तो बाहर कही प्रेम किया ही नही। प्रेम हुआ तो वह भी आत्मप्रदेशमे आया, द्वेष हुआ तो वह भी आत्मप्रदेशमे रहा। तभी तो जब कोई तीव्र द्वेष परिणमन होता है तो यहाँ ही तो वह जलता भुनता है कि बाहर भी कुछ कर सकता है ? इसी प्रकार जब कोई प्रेम रागका परिणाम होता है जीवमें तो यही रज्यमानता है बाहर नही तो उसका प्रेम किसी भी जीवमे नही हो सकता है। हाँ इतनी बात है कि वह प्रेमपर्याय जो मुझमे बनी वह अमुक जीवका विषयभून करके उस जीवको विपयमे लेकर उसका ख्याल करता है। वहाँ प्रीति पर्याय बनी है, पर प्रीतिपर्याय उस जीवमें पहुच गई हो ऐसा नही है। तो हमारा कुछ भी किसी दूसरे जीवमें नही जाता। तब समझ लीजिए कि हम किसीसे प्रेम नही करते, किसीसे द्वेष नही करते। सब कुछ मेरा मेरे ही अन्दर बन रहा है, और जैसा जो कुछ बन रहा है उसके अनुसार मुझे अब भी फल मिल रहा है और मुझमें जो कर्मबन्ध हुआ है उसके उदयकालमें जो फल मिलेगा वह भी यहाँ ही मिलेगा। मेरा कुछ भी मेरे प्रदेशसे बाहर नही है।

धर्मकी, धर्मदृष्टिकी व धर्मपालनकी स्व आत्मामें व्याप्यता—जब धर्मकी बात करते हैं—मुझे धर्म मिलेगा तो वह धर्म कहाँ मिलेगा ? जरा विवेक कीजिये। मेरा धर्म मेरे आत्मामें ही है। धर्म कहते हैं वस्तुके स्वभावको। स्वभाव एक शाश्वत तत्त्व होता है। लोगोने भले ही स्वभावके शाश्वतपनेको न जाना हो और रूढिमे कहने लगे हैं कि बिच्छू काटता है तो वह उसके काटनेका धर्म है। मगर काटना कोई शाश्वत चीज नही, बिच्छू भी सदा रहने वाली चीज नही। वहाँ धर्मकी बात नही है। धर्म कहते है आत्माके स्वभाव को। इस स्वभावमे लोगोने जितना भी स्वभाव समझा, जितने केन्द्रमें उस प्रकृतिको माना वहाँ धर्मकी रूढि करने लगे है, उससे भी यह सिद्ध है कि अर्थ यह था कि जिस वस्तुका जो स्वभाव है वह उसका धर्म है।

अब आत्माका स्वभाव देखिये—आत्माका स्वभाव क्या है ? जो आत्मामे सदा काल रहे। ऐसा स्वभाव है आत्मामे चैतन्य। ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव। तो आत्मामे एक चैतन्यस्वभाव है, उस चैतन्यस्वभावको आत्माका धर्म कहते हैं। सो यह धर्म तो किया नही जाता, यह तो स्वत सिद्ध है, उसका करना भी क्या है ? आत्मामे चैतन्यस्वभाव है, वह

आत्माका धर्म है। आत्मामे शाश्वत विद्यमान है, उसे किया नही गया। आत्मामे चैतन्यस्वभाव धर्म है, सो आत्मा धर्मरहित तो नही होता, चैतन्यरहित तो नही होता, मगर उपयोग मे आत्माका यह धर्म न आया हो, यह स्थिति तो बन रही है। आत्मा चैतन्यरहित न होगा, आत्मा धर्मरहित कभी भी नहीं होता, लेकिन आत्मा चैतन्य धर्ममय है, ऐसा इस जीवने जाना तो नही, ऐसा इसने उपयोग तो नही किया। इसकी दृष्टिमे यह बात तो नही हुई, तब आत्माके उस शाश्वत चैतन्यस्वभावको दृष्टिमे लेना यही है धर्म। इसे कहेगे धर्मपालन, अर्थात् अपने आपको यो निरखना कि मैं ज्ञानमात्र हू, केवल चैतन्यभावरूप ज्ञाता दृष्टा हू, ऐसा केवल वह सहज ज्ञान ज्योतिस्वरूप दृष्टिमे आये तो समझिये कि यह धर्मका पालन किया जा रहा है। देखिये जीव सब है। जितने भी मनुष्य हैं वे सब सजीव है, उनमे भी जीव है, और वह जीव सबका समान है, और, यहा ही क्या, पशु पक्षी आदिक जो भी जीव हैं वे सब समान है। पशुका देह और प्रकारका है, मनुष्यका देह और प्रकारका है और इस पर्यायमे पशुकी प्रवृत्ति और ढगकी होगी, मनुष्यकी प्रवृत्ति और ढगकी होगी, ऐसी विषमताये है, इतने पर भी जीवका जो स्वरूप है वह स्वरूप समान ही है। तो जब पशु, पक्षी, मनुष्य, कीडा, देव, नारकी आदिक सभीमे वह जीवत्व, वह जीवस्वरूप समान है तब यहा जो नाना प्रकारके मनुष्य है, जातिभेदसे, कुलभेदसे, देशभेदसे जो नाना मनुष्य हैं। जैसे अमेरिकन, रसियन, चीनी, हिन्दुस्तानी आदि अनेक प्रकारके मनुष्य है अथवा जातिभेदसे और सम्प्रदाय भेदसे नाना प्रकारके जो मनुष्य उन सबमे जो जीव है वह समान स्वरूप वाला है और तब जीवका धर्म भी एक है।

सबके लिये धर्मकी एकरूपता व उपादेयता—उक्त विवेचनसे यह समझना चाहिए कि जितने भी मनुष्य है वे सब यह निर्णय करे कि मैं जीव हूँ और मेरा धर्म एक ही प्रकारका है। कही ऐसा नही हैं कि अमेरिकन जीवका धर्म और प्रकारका हो, रसियन जीवका धर्म और प्रकारका हो या यहाँ ही ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य आदिकका धर्म कोई अलग अलग प्रकारका हो। जो जीव है उस जीवका जो स्वरूप है, चैतन्य है वह धर्म है और उस धर्मकी दृष्टि आये तो यही धर्मका पालन है। लोग तो अपनी किसी कुलपद्धतिसे चली आयी हुई परम्परामे ही बँधकर यो अनुभव करते है कि मैं अमुक धर्म वाला हू, मेरा तो यही धर्म है, यह एक पर्यायबुद्धिमे, मोह बुद्धिमे बात बन जाती है। किन्तु तथ्य यह है कि मै एक आत्मा हू। सभीको यही सोचना चाहिए कि मैं एक जीव हू और मै अधर्ममे चल रहा हू तभी तो इस जन्ममरणकी परम्परामे पडा हुआ हू। मेरा जो धर्म है चैतन्यस्वरूप, जाननहार रहना, रागद्वेष न करना, किन्तु केवल जान लिया बस इतने तक रहना यही तो धर्मका पालन है। रागद्वेष न करना यही तो धर्मका पालन है। तो मेरा धर्म एक है राग-

द्वेष न करना। अपने आत्माके सहज सत्त्व शुद्ध स्वरूपको जानकर मैं अपने आत्मामे स्थिर रहू, यही धर्म सबको करना होगा। कोई किसी भी देशमे, जातिमे, कुलमे पैदा हो, सभी जीव एक समान है, उनका धर्म एक है, और उनकी मुक्ति भी एक ही प्रकारसे हो सकेगी। जैसे लोग कहते है कि किसी भी धर्मसे चलो, किसी भी मजहबसे चलो आखिर मुक्तिका द्वार तो सबको मिल जायगा। सो बात नही है। आत्माका धर्म है ज्ञाताद्रष्टा रहना, रागद्वेष न करना, चैतन्यस्वरूप निज आत्मतत्त्वमे रत रहना यही काम करना होगा। यही मुक्तिका उपाय बनेगा। अब यह जैसे बने वैसा व्यवहारमे साधन बनाते है, वे साधन विभिन्न हो जाते है। अगर अनुकूल साधन हो इस शुद्ध रत्नत्रयके तब वह व्यवहार धर्म कहलाता है। यो धर्म अथवा कुछ भी बात हो वह आत्माके इन नियत प्रदेशोमे है, मेरा कुछ भी मेरेसे बाहर नही है। तब मुझे किसी अन्यमे ममता न करना चाहिए। ऐसा समझकर नियत प्रदेशत्व शक्तिके परिचयसे मोहको ध्वस्त करनेका हमे उपाय कर लेना चाहिए।

जीवकी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति—ज्ञानमात्र आत्माकी प्रसिद्धि करनेके लिए ज्ञानमात्र भावमे उछली हुई अनन्त शक्तियोका वर्णन किया जा रहा है। उनमे एक स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति है। स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति उसे कहते हैं जिस शक्तिके कारण नाना शरीरोमे रहकर भी आत्मा अपने ही धर्ममे व्यापक रहे। उसका नाम स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति है। इस शक्ति के प्रतापसे आत्मा अपने धर्ममे व्यापक है। किसी अन्यके धर्ममे व्यापक नही है। प्रत्येक पदार्थकी ऐसी ही प्रकृति है कि वह उसके धर्ममे ही व्यापे, अन्यमे नही। इस ही वजहसे आज सर्व लोक मौजूद है। यदि कुछ स्वधर्मव्यापकपनेसे विपरीत होता, अर्थात् कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थके धर्ममे चला जाता, जैसे कल्पना करो कि जीव पुद्गलमे व्याप गया, जीव कुछ न रहा, अटपट कुछ भी पदार्थ किसी भी अन्य पदार्थमे प्रवेश कर जाय, उनके धर्मोमे व्याप जाय तब न यह रहता और न अन्य कुछ ही रहता। सब लोकशून्य हो जाता। यह सब लोक है, अनन्तानन्त जीव हैं, उनसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल हैं। एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, इन सबकी सत्ता यह घोषित कर रही है कि प्रत्येक पदार्थमे यह स्वभाव है कि वह अपने ही धर्ममे व्यापक रहे। तो यह जीव अनादि कालसे अब तक नाना शरीरोमे चला आया है। आयुके उदयसे कोई शरीर मिला, आयुके क्षय होनेपर वह शरीर मिटा, किन्तु आयुका क्षय हुआ, उस ही समयमे नवीन आयुका उदय आया, ऐसा कभी नही होता कि आयुका क्षय हो गया हो और नवीन आयुका उदय कुछ समय बाद मिल रहा हो। भले ही औदारिक वैक्रियक शरीरकी दृष्टिसे यह जीव विग्रहगतिमे एक शरीरको छोडकर अधिकसे अधिक तीन समय तक नवीन शरीरमे नही आता। पहिला शरीर है, न दूसरा शरीर है ऐसी विग्रहगतिमे स्थिति होती है परन्तु वह थोडे समयकी बात

है और सूक्ष्म शरीर तैजस कार्माण तब भी चल रहे हैं, तो यहाँ यह बात बतायी जा रही है कि यह जीव नाना शरीरोमे गया, उन शरीरोमे रहा, फिर भी उन शरीरोके धर्ममे व्यापक न रह सका।

शरीर और जीवकी अपने अपने धर्ममें व्यापकताका विवरण—शरीरका धर्म है रूप रस, गंध, स्पर्शमय होना, शरीरमे जो शरीरस्कंध जैसी परिणतियाँ होती है वे सब शरीर की है। सडे गले, नया हो, जवान हो, पुष्ट हो आदिक, ये सब शरीरकी बाते है। इनमे आत्मा व्यापक नही हो गया। शरीर मोटा होने से कही आत्मा मोटा नही हो गया, शरीरके धर्म शरीरमे हैं, आत्माका धर्म आत्मामे है। शरीरमे रहता हुआ भी, वर्तमानमे भी यह आत्मा शरीरसे निराला है। आत्मा तो ज्ञान दर्शन आनन्द आदिक अनन्त धर्मात्मक है और शरीर शरीरमे रहने वाले धर्मोस्वरूप है। शरीरसे निराला रहता हुआ यह आत्मा अपने धर्ममे ही व्यापक है। आत्मा अपने ही चैतन्यस्वरूपमे व्यापक है, इस निर्णयमे सभी समस्याओंका समाधान हो जाता है। जीव अपना ही परिणमन कर सकता है अन्यका परिणमन नही कर सकता क्योकि जीव अपने ही धर्ममे व्यापक है—अन्यके धर्ममें व्यापक नही। जीव अपने ही भावोको भोग सकता है अन्यके भावोको नही भोग सकता। क्योकि जीव अपने ही धर्ममे व्यापक है, अन्य पदार्थके धर्ममे व्यापक नही है। यो अकर्तृत्व अभोक्तृत्व आदिक समस्त तत्त्वोकी सिद्धि इस स्वधर्मव्यापकत्वके परिचयसे हो जाती है, आत्मा शरीरमे नही रम रहा है, शरीरमे श्रद्धा नही कर रहा है, शरीरमे ज्ञान नही बना रहा है। हाँ अज्ञान अवस्थामे शरीरको विषयभूत बनाकर उल्टी श्रद्धा बना रहा है। शरीर को विषयभूत करके अपने आत्मामे विकल्प बना रहा है और शरीरका विषय करके आत्मामे जो रागद्वेषादिक अज्ञानभाव हो रहे हैं उन भावोमे रम रहा है।

परमें जीवके गुण पर्यायके प्रवेशकी असंभवता—उपदेशमे कहते हैं कि अज्ञानी जीव जड धन वैभव मकान आदिकमे लीन हो रहा है, किन्तु निश्चयत अज्ञान अवस्थामे भी जीव मकान धन वैभव आदिकसे लीन नही हो सकता, क्योकि आत्मा अन्य किसी धर्ममे व्यापक नही हो सकता, किन्तु बात यह गुजर रही है कि धन वैभव आदिकको विषयभूत करके जो भीतरमे राग मोहका परिणाम निष्पन्न हुआ है उस अज्ञानभावमे रम रहा है यह अज्ञानी जीव, न कि परपदार्थोमे रम रहा है। विषयका विषयीमे उपचार करके ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार ज्ञानकी भी बात है। ज्ञानसे भी यह आत्मा परमे नहीं ज्ञान कर रहा, किन्तु परको विषयभूत करके मिथ्यारूपसे करे, चाहे सम्यक्रूपसे करे, करता है वह अपनेमे ही ज्ञान, क्योकि आत्मा अपने ही धर्ममे व्यापक है। कहते है कि अज्ञान अवस्थामे जीव कर्ता होता है। जीव अज्ञान अवस्थामे भी जड़, वैभव, मकान आदिका कर्ता नही

हो सकता, क्योंकि वस्तुका स्वरूप कहाँ टाल दे आत्मा ? वह तो अपने ही धर्ममे, अपने ही प्रदेशमे व्यापक है। वह मकान आदिकका कर्ता कैसे बन जायेगा ? लेकिन अज्ञान अवस्था मे भेदविज्ञान न होनेके कारण वस्तुस्वरूपका परिचय न होनेसे वह मैं अमुकका कर्ता हूँ, मैं अमुक वैभवका करने वाला हू इस प्रकारसे विकल्प बना रहा है। तो निश्चयत वह इस अज्ञान विकल्पको कर रहा है और व्यवहारसे यह मकान आदिकका करने वाला है, ऐसा कह दिया जाता है। आत्मा अपने ही धर्ममे व्यापक रहता है, इस कारण इस आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व सब कुछ अन्य पदार्थमे नही होता। सब कुछ उसका अपने आपमे ही होगा। अज्ञानी जीव विकल्पोमे आनन्द मानता है और जब विकल्पभाव नही रहता है तब न कर्तृत्व भाव है, न भोक्तृत्व भाव है। वहाँ एक ज्ञानरूपका विशुद्ध भाव चल रहा है। तो आत्मा अपने धर्ममे व्यापक है, किसी अन्य पदार्थके धर्ममे व्यापक नही है। इससे यह सिद्ध हुआ।

स्वधर्मव्यापकत्व होनेसे जीवका शरीरक्रियामें अकर्तृत्व--- और की तो बात जाने दो, जीव शरीरकी भी परिणतिको नही करता। शरीरकी परिणतिको जो शरीरमे व्यापक है वह करेगा। आत्मा तो अपने स्वरूपमे व्यापक है, अपने प्रदेशमे व्यापक है, अपनी गुण पर्यायोमे रहने वाला है, अत आत्मा शरीरकी क्रियाका भी करने वाला नही है, इतना बोल-चाल हो रहा है और जहाँ जल्दी जल्दी भी बोलचाल हो रहा, क्रमसे हो रहा, शब्दविन्यास-पूर्वक हो रहा, वाक्य बडी जल्दी-जल्दी निकल रहे है, जिनका कि अर्थ है। अटपट शब्द नही निकल रहे, इतना सब कुछ होनेपर भी जीव इन वचनोका कर्ता नही है। हाँ परम्परा मे निमित्त अवश्य है अन्यथा यह क्रम नही बनता। जीवने ज्ञान किया, इच्छा किया, जीवमे योग हुआ, यहाँ तक तो जीवमे काम हुआ, इस निमित्तको पाकर शरीरमे वायु चली, उससे शरीरका यन्त्र चला और जैसा यन्त्र चला वैसा स्वर हो गया। यो तो हारमोनियम या सितार आदिकसे कितने तारतम्यसे कितने सुन्दर विचित्र स्वर निकला करते हैं, ऐसी आवाज वहाँ हो रही है तो वहाँ भी तो सही निमित्तनैमित्तिक भाव दिख रहा है। जहा अँगुली लगाया जिस तारपर, वैसा जैसा शब्द होना चाहिए वैसा ही शब्द निकला, हारमोनियमके जिस स्वर पर अगुली पटका, जैसा वहा स्वर निकलना चाहिए वैसा स्वर निकला, इसी प्रकार इस मुखयत्रमें जैसे जीभ, ओठ, तालू आदिकका सम्पर्क हुआ वैसे वहा शब्द निकले। यह तो केवल निमित्तनैमित्तिक जैसी बात हैं, पर इस तरहसे शरीरयत्र क्यो चला ? जिससे कि ऐसी क्रमिक योजना बनी तो शरीरयत्र चला, शरीरमे रहने वाले बातकी प्रेरणासे ऐसी बात क्यो चली ? उसका निमित्त है आत्मप्रदेश परिस्पद उस ढगका होना। इस ढगका निमित्त क्यो हुआ ? उस प्रकारका ज्ञान और उस प्रकारकी इच्छा चल रही है, यो परम्परया निमित्त

है, मगर इन वचनोका करने वाला यह आत्मा नही बनता। क्योकि ये वचन वचनवर्गणाओ मे है, शरीर शरीरमे है, आत्मा अपने धर्ममे व्यापक है।

जीवकी विशुद्ध सहज स्वधर्ममें व्यापकता—अब और सूक्ष्मदृष्टिसे चलकर निहारो आत्माका धर्म। पहिले धर्मके स्वरूपका ही निर्णय बनाना चाहिए कि धर्म कहलाता क्या है? धर्मका विशुद्ध स्वरूप क्या है? यो तो साधन अपेक्षा आदिकसे तो अनेक रूप हो जाते हैं, पर धर्मका साक्षात् रूप क्या है, किसे धर्म कहते है, धर्म अनेकको न कहेगे। धर्म एक रूप ही होता है। वह धर्म क्या है, उस धर्मका विषय क्या है? उस धर्मको बताया है आचार्योंने कि वह रत्नत्रयरूप धर्म है। यह साक्षात्की बात चल रही है। आत्माका सम्यक्त्व भाव, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनकी जो वृत्ति है वह धर्म है। सम्यग्दर्शन क्या? विपरीत अभिप्रायरहित जिस प्रकार आत्माका सहजस्वरूप है उस स्वरूपकी प्रतीति हो जाना। यह मैं हू, इसको कहते है सम्यक्त्व और जैसा कि इसे भान हुआ उस ही प्रकार अपना परिज्ञान करना सम्यग्ज्ञान है और जैसा भान किया उस ही रूप वृत्ति वनायी गई, उस ही रूप रह गए अर्थात् रागद्वेष रहित होकर ज्ञातादृष्टा रहना यह चारित्रका रूप है। तो यह धर्म इस आत्मासे ही तो प्रकट होता है। आत्माकी ही तो कला है, आत्माका ही तो विशुद्ध भाव है। यह धर्म आत्मासे प्रकट हुआ, शरीरने प्रकट नही किया। आत्मामे आत्माके द्वारा, आत्माके लिए आत्मासे यह भाव वना, तो धर्म भी आत्माको अपने आत्मा मे मिला। शान्ति वह धर्म ही तो है। शान्ति कहते उसे है जहां पर आकुलता नही है। आकुलता वहा होती है जहां रागद्वेष चलते हैं। जहा रागद्वेष न रहे आकुलता कहा विराजेगी? तो रागद्वेष न रहनेकी स्थितिमे जो एक साम्यभाव है, आकुलताओका अभाव है वह शान्ति है। वह शान्ति कहा मिलेगी?

शान्तिके लिये सहज अन्तःपौरुषका कर्तव्य—हम आप शान्तिके लिए वहुत-वहुत प्रयास करते हैं। वाहरी पदार्थोमे व्यवस्था वनाते है और व्यवस्था वने, न बने उस रूपसे कषायभाव लाया करते है, यह सव क्या है? इस भगवान आत्मापर अनर्थ ढाया जा रहा है। अपने आपपर अनर्थ किया जा रहा है। यह भगवान आत्मा ऐसा पावन जो अरहत सिद्ध प्रभुकी तरह शुद्ध शाश्वत आनन्दमे विराजमान हो, जिसका ऐसा स्वभाव पडा है, ऐसा स्वभाववान आनन्दमय शक्तिकी सामर्थ्य रखने वाला ऐसा यह पावन आत्मा यह किस प्रकार के इन अपवित्र विकल्पोमे चल रहा है? अरे परपदार्थ जैसा परिणमते हैं परिणमें, यहां तक कहा गया है कि चाहे शरीर, परपदार्थ छिद जाय, भिद जाय, विलयको प्राप्त हो जाय, कहीं भी चला जाय तो भी वह मेरा कुछ नही है। मुझे शान्ति आती है इस शान्तस्वरूप निज भगवान आत्माके दर्शन करने से। हम अधिकाधिक इस निज भगवत्स्वरूपके निकट

रहे। करना यही है। अगर यह काम न करेंगे तो इस संसारमे ही रुलना बना रहेगा। जब इस कामको करेंगे तभी इस ससारसे पार हो जायेंगे। करनेका काम एक यही है। अगर यह सोचकर प्रमाद करें कि आगे यह आत्मरमणका काम कर लिया जायेगा और इस ज्ञानस्वभावी आत्मा की उपासनासे हटे रहे तो यह कोई विवेक नही है। अरे आगेका भरोसा क्या है ? जब आज ही हम उल्टे उल्टे चल रहे है, आज ही हमारे कर्मबन्ध चल रहे हैं, आज ही हम विकट बाहरी स्थितियोमे हैं तो आगेका भरोसा क्या किया जा सकता है ? हम आपका कर्तव्य है कि अभीसे अपना ऐसा प्रयत्न बनायें कि निजकी ओर चलें। हमारा पौरुष इसके लिए चले कि मैं आत्मा अपने ही विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको निहारकर उसमे ही तृप्त रहा करूँ, बस अपना एक यही निर्णय होना चाहिए। सारभूत बात एक यही है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी बातें हैं वे सब बेकार है, विनाशके हेतुभूत है। ऐसा जानकर अन्त यह साहस बनाये कि मेरा काम तो केवल यही है, अपने उस अमूर्त ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वको परखूं और उस ही मे रहूँ, यही मात्र एक मेरा काम है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कर्तव्य नही है।

आत्मशक्तियोंका आत्मरक्षामें प्रयोजकत्व—यह आत्मा अपने धर्मोमे व्यापक है, इसकी शक्तियो पर दृष्टि दीजिए, यह अपनी उन विशुद्ध शक्तियोमे है। शक्तियाँ विशुद्ध होती है अर्थात् शक्तिका स्वरूप शक्तिमानकी बरबादीके लिए नही हुआ करता है। भले ही बरबादी हो रही है लेकिन यह मेरी ही शक्ति, मेरा ही स्वभाव मेरी बरबादीके लिए हो जाय तब तो कभी भी बरबादीका विनाश नही हो सकता, क्योकि मेरा स्वभाव भी अब बरबादीपर तुल गया है। अब किसकी शरण गहे, किससे प्रार्थना करें ? अभी तो हम इस जन्म मरणके सकटको मेटनेके लिए इस कारणपरमात्मतत्त्व, इस भगवतस्वरूपकी शरण मे जा रहे है और वहाँ शान्ति पाते है, लेकिन जब यह ही निर्दय बन जायेगा तब फिर अब किसकी शरण ढूंढी जाय ? फिर तो उद्धारका कोई उपाय नही मिलता। सो ऐसा है ही नही, आत्मस्वभाव आत्माकी आबादीके लिये है, यो आत्मा अपने विशुद्ध शक्तियोंमे व्यापक है।

आत्मस्वभावकी विकारमें अव्यापकता—अब यहाँ इसी स्थलमे ऐसी ही दृष्टिमे यह बात भी निरखिये—आत्मा विकारमे व्यापक नही है। मैं आत्मा क्या हू, उस स्वरूपका निर्णय रखते हुए यह बात सोचना है। मैं आत्मा विशुद्ध अनन्त शक्त्यात्मक हू, ज्ञानमात्र हूँ। मैं अपनेको स्वभावमे देख रहा हू ऐसे स्वभावरूपमे, आत्मामे विकार व्यापक नही है। ऐसे स्वभावरूप आत्मामे अपने धर्ममे अपने स्वभावमे शाश्वत् व्यापक हूँ। विकार तो किसी क्षणका परिणमन है, अशुचि है, सापेक्ष है, औपाधिक है, वह मेरा धर्म नही है, मेरा धर्म

शाश्वत् है, विशुद्ध है, अपने सत्त्वके लिए है। ऐसे उन धर्मोंमे शाश्वत् रहने वाला यह निजस्वभावी मै आत्मा इन विकारोमय नही हूं, विकार मुझमे आते है, पर विकार स्वभाव से आये हो ऐसी बात नही है। वहाँ कारणकूट है, वहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव है। वहाँ का निर्णय वहाँ का है पर अपने आपको जहां शुद्ध स्वभावमे परखा जा रहा वहां का तो यही निर्णय है, यही प्रकाश है कि मैं अपने स्वभावमें व्यापक हूँ। यो स्वधर्म व्यापकत्व शक्तिके विशुद्ध परिचयसे आत्माका मोह ध्वस्त हो जाता है।

आत्मदर्शनके साहसका अनुरोध—देखिये—हिम्मत एक बार करना है फिर तो सब काम सरल हो जायेगे। जैसे जाडेके दिनोमे तालाबके किनारे किसी टोर पर बैठे हुए बालक जाडेकी वजहसे तालाबमे कूदनेकी हिम्मत नही करते, वह कुछ डरते हुएसे बाहर बैठे रहते है। कदाचित् कुछ हिम्मत करके वे तालाबमे कूद जावे तो उनका जाड़ेका भय भाग जाता है, और कुछ वहा प्रकृति है कि जैसी वे पहिले ठंड मान रहे थे वैसी ठड भी नही लग रही है। इसी प्रकारसे यह आत्मा भी मोहसे हटनेका साहस नही बनाता। भीतर मे जो एक मोहकी गाँठ लग गयी है, मोहकी शल्य पड गई है उसको तोडना नही चाहता, इसके भय लग रहा है, शल्य लग रही है, साहस नही बन पा रहा है। अरे यह आत्मा एक बार साहस करके मोहको छोड दे, जो तत्त्व है उस स्वरूपके ज्ञान करनेका साहस बनाये तो बना लें, फिर इसके लिए सही बात जो हितकी है वह आसान है, सरल है। मोह के ध्वस्त करनेमे हिम्मत भी क्या करना है, उसमे क्या कठिनाई है ? अरे अब भी तो यही सभी चाहते है कि मेरेको सच्चा ज्ञान मिले। यदि घरका कोई बडा बूढा बाजारसे वापिस लौटता है तो उसके हाथमे थैला देखकर सभीको यह जाननेकी इच्छा होती है कि देखें तो सही इसके अन्दर क्या है ? चाहे उनके मतलबकी कोई चीज उसके अन्दर न मिले, पर जाननेके लिए कुछ बेचैनी सी हो जाती है, तो जाननेका इसका स्वभाव है। यह तो सच्चा ज्ञान करनेकी आदत ही रखता है, सच्चा ज्ञान करना चाहता है, किसी भी स्थितिमे हो वह चाहता है कि मैं सब कुछ सच सच जान लूं। चलो, अब सच्चा ज्ञान करनेके लिए विवेक कीजिए, वस्तुस्वरूपका निर्णय, परीक्षण कीजिए—जो सत्य मालूम हो उसे जान लीजिए, अन्य रूपसे मत जानिये, कुछ भी उपदेश करनेकी जरूरत नही है। जब सत्य ज्ञान जग जाये, वह वह ही समझे, विपरीत न समझे, बस यही तो मोहका मेटना है। मोहमे और होता ही क्या था ? उल्टा जान रहे थे, परमे एकत्व बुद्धि कर रहे थे। शरीर मैं हू, यह मेरा है, मै सुखी हू आदि ये सब उल्टी बातें समझ रहे थे, जहाँ सत्य बातका ज्ञान हो गया, प्रत्येक पदार्थ अपने ही धर्ममें व्यापक है, किसी अन्यके धर्ममे व्यापक नही है यह बात भली भांति एक स्वमे उतर गयी, स्वका अनुभव बन गया, एक सही निर्णय बन गया, ऐसा

स्पष्ट बोध अगर वन गया तो शाश्वत आनन्दका लाभ पा लिया जायगा, यह सुनिश्चित है।

सत्यताके परिचयसे मोहका विनाश—सत्य तो यही है आत्मा। जितना सत् है वह अपने गुण पर्यायोमे ही है, अपनेसे बाहर नही है, फिर यह भेद क्यो लाद रहे कि इस जगत के अनन्त जीवोमें से ये दो चार जीव, ये मेरे कुटुम्बी है, ये मेरे है, ये मेरे खास है ? अरे यह खोटी बुद्धि क्यो की जा रही है ? सत्य ज्ञान होनेके वाद यह मोह दूर हो जायगा। स्वधर्म व्यापकत्व शक्तिमे, इस शक्तिके परिचयमे जो जो कुछ ज्ञात हो रहा है वह सब मोहके नाशके लिए लोग अनेक प्रकारका उपदेश देते हैं। जैसे—अरे इस शरीरको ईश्वरने वनाया, इससे तेरा क्या ताल्लुक, तू शरीरसे मोह छोड, देख ईश्वर ही सब कुछ करेगा, ईश्वरका ही यह सारा वाग है, इसमे तू क्यो मोह कर रहा है ? तेरा यह कुछ नही है, यो वहुत-वहुत कोई समझाये मोह विनष्ट करनेके लिए, पर इन वातोसे मोह विनष्ट नही होता। मोहका अर्थ क्या है ? वह ही यह निर्णय वना देगा कि मोहका विनाश कैसे होगा ? मोहका अर्थ है बेहोशी। बेहोशीका अर्थ है अपना होश न रहना, मैं क्या हू इसका भान न रहना, जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न मानना। जहाँ यही होश नही है कि कौन पदार्थ किस स्वरूपमे रह रहा है ? वही मोह है वही बेहोशी है। मोह नही करना है तो जो पदार्थ जिस स्वरूपमे है, जिस पदार्थका जो धर्म है उसको उस ही रूपमे देखे, उससे वाहर नही देखना है। कोई भी पदार्थ अपने प्रदेशसे बाहर निकलता नही है। मैं हूँ और अपने उस चैतन्य ज्ञानदर्शन आनन्द आदिक धर्मोमे ही व्याप रहा हू और मैं इन धर्मोकी पर्यायोमे ही व्यापता हू। जो परिणतियाँ हुईं ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, आनन्द आदिक उन परिणतियोमे ही मैं रहता हू, मैं किसी बाहरी पदार्थमे नही हू, मेरा शरीर वैभव आदिक किसी भी अन्य पदार्थसे कोई सम्बध नही है। मैं सबसे निराला हू, ऐसे अपने धर्ममे व्यापक हू। यो स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिके परिचयसे मोह ध्वस्त होता है और मोह ध्वस्त हुआ कि वहाँ आत्माको अपना सर्व धर्म, अपना वैभव, अपनी ऋद्धि, अपना आनन्द, अपना प्रकाश, ये सब दृष्टिमे आ जाते है। बस अब उस ही स्वभावरूप अपने आत्माको दृष्टिमे लेना है, यही रात दिन काम करनेको रह गया है। शेष सब कार्य छोडें, एक इस ही कार्यके करनेमे हमारे जीवनके अधिकाधिक क्षण व्यतीत होवें, ऐसा सकल्प अपना होना चाहिये।

जीवमें प्रकाशमान समासमभिन्नधर्मत्वशक्तिका निर्देशन—यहाँ आत्माकी अनन्त शक्तियोमय एक अभेद आत्माको लक्ष्यमे लेनेका पौरुष किया जा रहा है। उस ही सम्बधमे अनेक शक्तियोका वर्णन किया जा रहा है। एक शक्ति आत्मामे समासमभिन्नधर्मत्वशक्ति है, जिस शक्तिके प्रतापसे आत्मा ऐसे तीन प्रकारके भावोको धारण करता है जो कि कुछ तो स्व और समस्त परद्रव्योमे समान है और कुछ स्वमे है अन्यमे नही है। स्वमे समान, परमे

असमान है। और, कुछ धर्म ऐसे है जो स्वमे और कुछ परमें समान है और कुछ परमे असमान है। जैसे आत्मामे अस्तित्व गुण है, यह अस्तित्व धर्म सर्व परद्रव्योमे है, आत्मामे भी है, तो यह समान धर्म हुआ, जिसे साधारण धर्म कहते है। आत्मामे ज्ञान है यह असमान धर्म है अर्थात् आत्मामे ही पाया जाता है, अन्य किसी भी द्रव्यमे नही है। इसे असाधारण धर्म कहते है, और कुछ धर्म ऐसे है कि परके साथ समान है और नही भी है। जैसे आत्मामे एक अमूर्तपना है तो अमूर्तत्व धर्म पुद्गलमे नही है, पर धर्म अधर्म आदिक द्रव्योमे है। तो यह साधारणासाधारण है अर्थात् अन्य द्रव्योमें भी पाया जाता है और कुछ अन्य द्रव्योमे नही भी पाया जाता है, ऐसे ३ प्रकारके धर्मोका धारण करनेकी इस आत्मामे शक्ति है अर्थात् आत्मा ऐसे तीन प्रकारके धर्मोंको धारण करता है।

मात्र साधारण धर्मके माननेपर वस्तुस्वरूपकी असिद्धि—अब यहा यह विचार करना चाहिए कि साधारण धर्म ही माने तो क्या स्वरूप बन जायेगा ? क्या काम चल जायेगा ? केवल साधारण धर्म माननेपर स्वरूप नही बनता। यो तो सर्वथा अद्वैतवादियोने यह पद्धति अपनाई है कि सर्वसाधारणस्वरूप मान लिया, किन्तु केवल साधारण स्वरूप मानकर वस्तु व्यवस्था नही बन पाती, अर्थक्रिया नही हो पाती। वस्तु किस रूप परिणमा ? क्या बना ? उसका क्या रूप हुआ, यह बात असाधारण धर्मसे ही सिद्ध होती है। जैसे आत्मामे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व ये ६ साधारण गुण है अथवा कह लीजिए कि सभी धर्मोंको प्रतिनिधिरूप एक अस्तित्व धर्म है, अस्तित्व धर्म है, इसके आगे और कुछ नही है, जैसे सर्वथाऽद्वैतवादियोने सत् ब्रह्म माना। केवल सत् है अथवा सर्वको ज्ञानमय माना तो उसे भी साधारण धर्म बना दिया। सर्वको आनन्दमय मानना वह भी साधारण धर्म बन गया। अब देखिये, जगतमे पदार्थ तो विभिन्न हैं, मगर केवल एक साधारण धर्म माननेसे तो परिणतियाँ न विदित होगी कि क्या परिणमन हो रहा है ? केवल अस्तित्वकी बात कह रहे हैं, आत्मामें अस्तित्व धर्म है। अब आत्मामे परिणमन क्या हुआ, वात क्या गुजरी, अनुभव किसका हुआ, स्वरूप क्या है, कुछ भी बात नही आयी और इस तरह स्व परका विभाग भी नही बन सकता है। कुछ स्व है कुछ पर है आदिक। जब एक अस्तित्व ही है सबमे, अन्य कुछ नही है तो अब विभाग किस आधार पर करोगे ? आत्मामे भी केवल एक ही बात है क्या ? यदि अस्तित्वमात्र है तो नाम भी कैसे दूसरा दूसरा बताओगे ? जब केवल अस्तित्व ही है, अन्य कुछ नही है तो इसमे पुद्गल शब्द भी नही कहा जा सकता है। जब कोई विशेष धर्म नही है / असाधारण धर्म नही है तो नाम भेद भी कहाँसे हो पडेगा ? केवल साधारण धर्म माना जाय आत्मामे तो उससे न अर्थ क्रिया है, न परिणति है, न संसार है, न मुक्ति है, न हित अहितकी बात

आती है ।

वस्तुमें असमान और समानासमान धर्मकी भी संगतता—अब मात्र असाधारण धर्मकी बात देखे–केवल असाधारण धर्म ही माना जाय, साधारण धर्म है ही नही, तो जब अस्तित्व मात्र ही नही है तो असाधारणकी बात कौन कहे ? असाधारण धर्म केवल कहा जाय और साधारण धर्म न हो तो भी बात नही बनती है, इसी तरह जब असाधारण धर्म वाले पदार्थ है और सभीमे साधारण धर्म भी है तो ऐसी विचित्रता आना प्राकृतिक बात है कि किन्हीमे कोई धर्म मिल भी जाय और किन्हीमे कोई धर्म न भी मिले । यो समान, असमान और समानासमान ये तीन प्रकारके धर्म वस्तुमे हुआ करते है । ऐसी शक्तिका नाम है समभिश्रधर्मत्वशक्ति ।

समानधर्मकी समानताका मर्म—अब यहाँ समान कैसे है ? अस्तित्व धर्म जीवमे भी है, पुद्गलमे भी, जीव भी है, पुद्गल भी है, है पनेका अस्तित्व है, सत्ता है, लेकिन सबमे एक सत्ता नही है, अस्तित्व नही है कि वह व्यापक हो और प्रत्येक पदार्थमे समाया हुआ हो, और उस एकके समाये रहनेके कारण वस्तुका अस्तित्व हुआ हो, ऐसा अस्तित्व गुण एक साधारण व्यापक नही है, किन्तु अस्तित्व समान है, एक नही है । अस्तित्व जीवमे भी है, अस्तित्व पुद्गलमे भी है, अन्य द्रव्यमे भी है, लेकिन जीवका अस्तित्व जीवमे ही व्यापक है, जीवसे बाहर नही । पुद्गलका अस्तित्व पुद्गलमे ही है, पुद्गलसे बाहर नही है, प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व उस ही मे व्यापक है । पदार्थमे जितने भी धर्म हैं वे पदार्थ उन धर्मोमे व्यापक है, वे धर्म उस ही पदार्थमे व्यापक है उससे बाहर नही है, यह तो समानताके कारण बात कही जाती है कि एक सत्ता है, सामान्य सत्ता है । अरे सामान्य सत्ता क्या ? जैसे सामान्य मनुष्य क्या ? कोई सामान्य मनुष्य एक हो और वह सामान्य मनुष्यपना प्रत्येक मनुष्यमे घुसकर उन्हे मनुष्य बनाया करता हो ऐसा नही है, जो पदार्थ है, है, मनुष्य है, सब है, सभी मनुष्य है, सभी मनुष्योमे मनुष्यपना एक समान है । इस कारण मनुष्यत्वको "एक" शब्दसे कह देते हैं । कोषमे "एक" को समान अर्थमे भी कहा गया है । समान और एक ये एकार्थवाची शब्द है । सर्वथा नही । कही एकको एक ही कहते हैं पर कही समानको भी एक कहते हैं । गेहूँका बडा ढेर लगा है, सभी गेहू एक समान हैं, इतने बडे ढेरको लोग "एक" कहते हैं, और एक वचनसे प्रयोग भी करते है—"यह गेहू किस भावका है" कोई ऐसा नही कहता– "यह अनेक गेहू किस भावके है," तो समानमे भी एकका प्रयोग होता है । तो अस्तित्व समान है । जीव पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल इन सभी द्रव्यो काअस्तित्व है, पर सबका अस्तित्व अपना अपना है, और जीवद्रव्यमे अनन्तानन्त जीव है । उन अनन्तानन्त जीवोमे प्रत्येकका अस्तित्व अपना-अपना है, किसीका अस्तित्व धर्म किसी अन्यमे नही

पहुंच गया । यदि ऐसा मान लिया जाय कि एकका अस्तित्व दूसरेमे है अथवा अस्तित्व एक ही है वह सर्वमे है तो इसका अर्थ होगा कि पदार्थ जैसे स्वरूपसे सत् है उसी प्रकार पररूप से भी सत् बन जायेगा । यदि यह बात हो कि पदार्थ स्वरूपसे भी सत् है, पररूपसे भी सत् है तो वस्तु शून्य हो जायेगा । रहा ही क्या ? जीव जीवत्वसे भी सत् है और पुद्गलत्वसे भी सत् है तो अब जीवको क्या कहेगे ? वह जीव या पुद्गल, क्योकि सत्त्व तो दोनोका वहा पाया गया है । अस्तित्त्व यदि एक माना जाय तो व्यवस्था नही बनती । अस्तित्व सब का अपना-अपना जुदा जुदा है । तो एक समान धर्म इसका यथार्थ परिचय हो तो यही भेद-विज्ञानका कारण बन जाता है । जीवमे पुद्गलमे अस्तित्व समान है, एक नही हुआ है, जीवका अस्तित्व जीवमे है, पुद्गलका अस्तित्व पुद्गलमे है, पर वह अस्तित्व एक समान है, सत्तामात्र है । है पनेमे अन्तर क्या डालना ? यों समान धर्म इस जीवमे पाये गए ।

छह समान धर्मों में से अस्तित्व व वस्तुत्वधर्मका विवेचन—समानधर्म ६ माने गए है—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व और प्रमेयत्व । ये छहो सर्व द्रव्योमे पाये जाते है । जो भी सत् है उसमे ये ६ धर्म पाये जाते है । आकाशमे, धर्ममे, अधर्ममे, प्रत्येक कालाणुमे, प्रत्येक अणुमे प्रत्येक जीवमे, सबमे ये ६ साधारण धर्म है—अस्तित्वधर्म जिसके कारण पदार्थ अस्ति रहता है उसकी सत्ता रहती है वह अस्तित्वधर्म है । सत् तो है ही सब । सभीमे अस्तित्व है, पर उन उनका अस्तित्व उनमे ही व्याप्त है, उनसे बाहर उनका अस्तित्व नही है । वस्तुत्व धर्म जिसके कारण अर्थक्रिया हो, परिणमन हो अथवा स्वरूपसे सत् हो, पर रूपसे असत् हो तभी तो वस्तुत्व रहेगा । कोई चीज है, कोई वस्तु है, तब वह स्वरूपसे सत् हो और पररूपसे असत् हो तो ऐसी बात प्रत्येक द्रव्यमे पायी जाती है कि वह अपने स्वरूप, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे सत् है और परसे असत् है । जैसे कही समझ लीजिए कि मैं मनुष्य हूँ और अमुक मक्खी है, तो मैं अपने ही रूपसे सत् हूँ या मक्खी रूपसे भी सत् हो गया । यदि मैं मक्खीके रूपसे सत् हूँ तो मैं मक्खी कहलाया और मनुष्यरूपसे सत् हूँ तो मनुष्य कहलाया । तो क्या मैं दोनो बन गया ? यह तो एक विलक्षण बात है । इसमे तो विवाद बन जायेगा । फल उसका यह है कि मैं कुछ भी न रहा । तो प्रत्येक पदार्थ स्वरूपसे सत् है । पररूपसे असत् है । यह बात पायी जाती है, मगर पररूप भी अपने स्वरूपसे सत् है, मैं अपने स्वरूपसे सत् हूँ, प्रत्येक पदार्थमे अस्तित्व पाया जाता है, पर वहाँ वस्तुत्व भी है ।

छह समान धर्मोंसे द्रव्यत्व व अगुरुलघुत्व धर्मका विवेचन—अस्तित्व वस्तुत्व ये दो गुण माने जानेपर भी अभी वस्तुका स्वरूप पूरा व्यवस्थित समझमे नही आ सकता । है इतने मात्रसे वस्तुकी परख क्या बने ? उसका कोई रूप हो, कोई व्यक्ति हो, कोई बात बने,

परिणमन हो तब तो समझा जाय। तो द्रव्यत्व शक्ति भी एक साधारण शक्ति है जो कि सभी द्रव्योमे पायी जाती है, समान है। अर्थात् इस शक्तिके प्रतापसे पदार्थ प्रतिसमय परिणमता रहता है। देखिये—अस्तित्व केवल माननेसे एक सर्वथा अद्वैतवादका जन्म होता है—द्रव्यत्व वहाँ नही माना गया, अपरिणामी है, परिणमन माना जानेपर फिर वहाँ विलक्षणता भी समझमे आयगी। अनेक ऐसी विशेषताये भी समझमे आयेंगी, तब वहाँ अद्वैतवाद न रह सकेगा। उस लाभसे द्रव्यत्वशक्ति नही मानी गई, अपरिणामी सर्वथा माना गया है लेकिन द्रव्यत्वशक्तिके बिना पदार्थका स्वरूप नही बन पाता है। द्रव्यत्वशक्ति भी सबमे है। प्रत्येक जीव, प्रत्येक परमाणु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, प्रत्येक कालाणु ये प्रति समय परिणमते रहते है, लेकिन अब परिणमनमे भी यदि सक्रान्ति हो गयी, सकरता आ गयी, परिणमते है, परिणमते रहे, इतना तक ही तो निर्णय हो पाया। अब कोई पदार्थ कुछ भी हठ बना ले कि मैं किसी भी रूपमे परिणमूं, मुझे तो परिणमनेका अधिकार मिला है तो क्या कोई किसी रूप परिणम जाय-तो व्यवस्था बनेगी ? अगुरुलघुत्व गुण भी एक साधारण धर्म है जो यह व्यवस्था बनाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने रूपसे परिणमेगा, दूसरेके रूपसे नही। देखो—साधारण धर्मोंका स्वरूप बताया जा रहा है मगर असाधारण धर्म है, इस प्रकारका यदि बोध नही है, उस ज्ञानका संस्कार नही है तो साधारण धर्मका स्वरूप भी बोला नही जा सकता, अगुरुलघुत्व एक साधारण धर्म है जो कि सब द्रव्योमे पाया जा रहा है, मगर व्याख्या यह की गयी कि अगुरुलघुत्व गुण वह कहलाता है जिसके कारण पदार्थ अपने रूप ही परिणमे, पररूपमे नही। तो स्व और पररूपका बोध तो असाधारण धर्म ही बतावेगा। उसका ज्ञान जिसे हो वह साधारण धर्मकी भी व्याख्या बना सकता है। तो साधारण असाधारण दोनो रूपसे पदार्थ व्याप्त है।

छह समान धर्मोंमें से प्रदेशवत्व व प्रमेयत्व धर्मका विवेचन—यहाँ साधारण धर्म की बात कही जा रही है। पदार्थमे अगुरुलगुत्व शक्ति है। इतना सब कुछ जाननेपर भी अभी पदार्थ समझमे नही आया। उसका प्रदेश, आकार, रूप, विस्तार, कुछ पिण्ड जैसी बात, इन सबका पिण्डरूप ही सही, गुण पर्याय वाला भी कुछ दृष्टिमे न आये तो समझमे नही आता। तो उसीको समझनेके लिए एक आधार है प्रदेश और प्रदेश सब पदार्थोमे हैं, चाहे किसीमे एक प्रदेश हो अथवा असख्यात हो, चाहे अनन्त हो, पर प्रदेश बिना कोई नही होता। तो प्रदेशित्व धर्म भी साधारण है। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान है, कालाणु एकप्रदेशी है, पुद्गल परमाणु एकप्रदेशी है, धर्म अधर्म, असख्यातप्रदेशी हैं, आकाश अनन्त प्रदेशी है, प्रदेशवत्व प्रत्येक पदार्थमे है। अत यह भी एक साधारण धर्म है। और प्रमेयत्व धर्म भी साधारण धर्म है। प्रमेयत्व धर्म उसे कहते हैं जिसके कारण वस्तु प्रमेय बने। देखिये—

इतना तो निर्णय है कि जो सत् है वही प्रमेय होता है, असत् नही । इसीका ही एक विवरण है कि सत्मे प्रदेशत्व धर्म है । सत् ही प्रमेय है, असत् प्रमेय नही होता, आकाशपुष्प कैसे ज्ञानमे आया ? कौन जान लेगा कि यह है आकाशपुष्प ? आकाश भी सत् है, पुष्प भी सत् है, इस कारण ये नाम बन गए । नाम तो सत्का बनता है, आकाश और फूल ये सत् है । ऐसा कोई नाम नही जो सत् न हो । मगर आकाशपुष्प सत् नही है । असत् प्रमेय नही होता । तो ये ६ साधारण धर्म सर्व द्रव्योमें पाये जाते है । आत्मामे भी पाये जा रहे हैं ।

असाधारण धर्म और उसके परिचयका प्रभाव--आत्माके धर्मकी बात कही जा रही है । आत्मामे अनन्त धर्म हैं, उन अनन्त धर्मोमे कुछ साधारण धर्म है, कुछ असाधारण धर्म है । अब असाधारण धर्मकी बात देखिये—जीवमे ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक ये असाधारण धर्म हैं । जीवको छोडकर अन्य द्रव्यमे ये नही पाये जाते । पुद्गल, धर्म, अधर्म आदिक किसी भी द्रव्यमे ये ज्ञान, आनन्द आदिक गुण नही है । तो ये जीवके असाधारण गुण है । असाधारण गुण तो है, पर यहाँ यह न मान लेना कि ज्ञान एक असाधारण गुण है और वह एक ज्ञान सर्व जीवोमे व्यापक है । प्रत्येक जीवका ज्ञानगुण उसमे ही व्यापक है । ये ज्ञानगुण भी अनन्त हो गए क्योकि अनन्त जीव है । प्रत्येक जीवका ज्ञानगुण उसीमे पाया जा रहा है । असाधारण इस प्रकार भी है कि जीवके सिवाय अन्य द्रव्यमे ज्ञानानन्दादिक गुण नही है और असाधारणकी ओर भी तीव्र असाधारणता निरखें तो यो निरख लीजिये कि प्रत्येक जीवका ज्ञान गुण उसका उसमे है । इसमे भी भेदविज्ञानकी प्रवृत्ति हुई । मैं जीव हू, एक सामान्यतया असाधारण ज्ञानगुणसे यह भेद बनाया कि मैं पुद्गल नही हू । धर्म, अधर्म, आकाश, काल नही हू, क्योकि मैं ज्ञानमय हू । उनमे ज्ञान नही पाया जा रहा । मुझमे ज्ञान है । अब और विशेष रूपमे भेदविज्ञानमे बढे तो जितने अनन्त जीव हैं मुझ स्व को छोडकर बाकी सब, वे मुझसे पर है, क्योकि मेरा ज्ञानगुण मुझमे है, उनका ज्ञानगुण उनमे है । लो यहाँ भी एक भेदविज्ञानकी बात इस असाधारण धर्मसे भी जानी गई है ।

आत्मस्वरूपचिन्तनमें त्रिविध धर्मका प्रयोग—उक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्यमे साधारण भी धर्म होते और असाधारण धर्म भी होते है । जब दोनो प्रकारके धर्म है तो उन असाधारण धर्मोमे अनेक ऐसे असाधारण भी मिलेंगे कि जो कुछ द्रव्योमे समान हो सकते है और कुछ द्रव्योमे नही हो सकते हैं, जैसे आत्माका अमूर्तपना पुद्गलपे नही है । धर्म, अधर्म, आकाश और कालमे है । तो आत्माका अमूर्तत्व धर्ममिश्र हो गया, साधारण असाधारण हो गया । औरोमे भी पाया गया और नही भी पाया गया । देखिये—अपने आत्माको जब जानना चाहें, अनुभवमे लाये तो प्राय इस रीतिसे लाते है कि

मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हू। जब अपने आपको अपने ज्ञानमे लेते है तो इस विधिसे लेते हैं। इस विधिमे देखिये—तीन धर्म आ गए। मैं हू, हू, ऐसा कहनेमे समान धर्म आया। है पना मुझमे भी है। मैं अमूर्त हूँ, ऐसा कहनेमे मिश्रधर्म आ गया। ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हू, अन्य किसी रूप मैं नही हू, ज्ञान मुझमे है, अन्य पदार्थमे नही है, यह असाधारण धर्म हो गया।

स्वको अनुभवमें पानेकी दिशा—देखिये अपने आपको अनुभवमे, ज्ञानमे लानेकी जो विधि है, एक साधारण रीति है, वह यही है—मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हू, और इसका बार बार चितन करिये—इसमे अमृततत्त्वका पान होगा। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हू, मैं आत्मा हू। "मैं" इस शब्दने नास्तिकताका परिहार कर दिया। मैं हू, इसमे आस्तिक्य गुण आ गया। आस्तिक्य उसे कहते है कि पदार्थका जैसा अस्तित्व है उस प्रकार मानना। यह व्याख्या नही है कि जो वेदकी निन्दा करे सो नास्तिक। यो तो सभी लोग कहते हैं कि जो मेरे धर्मको (मजहबको) छोडकर अन्यको माने, मेरे मजहबकी निन्दा करे वह नास्तिक। नास्तिकमे दो शब्द है न और आस्तिक, याने जो अस्तिको, है को न माने, या जो पदार्थ जिस प्रकार है वैसा न माने वह नास्तिक है। तो मैं हूँ इसमे आस्तिक्य आ गया, अमूर्त हू, रूप, रस गध, स्पर्शसे रहित हूँ, देखिये - सर्वप्रथम अपना वह अमूर्तत्व धर्म दृष्टिमे आयगा, तो उसमे ज्ञान-मात्रका थापना सरल हो जायगा, इसलिए ज्ञानमात्र हू ऐसा अनुभव करनेके लिए ज्ञानीने अमूर्तका भी स्मरण किया है। अमूर्त हू ना, हाँ हू, रूप, रस, गध, स्पर्श रहित हू। तो ऐसा अरूपी, रूपादिकसे रहित मैं हू। उसमे ज्ञानकी थापना, ज्ञानधर्मका निरखना, ज्ञानरूप अंगीकार कर लेना, स्वीकार कर लेना, स्वको स्वरूप करना यह बात आसान बन जाती है। अपनेको इस रूपमे निरखना कि मैं ज्ञानमात्र हू यह एक असाधारण धर्मकी बात है। ज्ञानमात्र अनुभवनेमे ज्ञानकी अनुभूति होती है और ज्ञानकी अनुभूति स्वकी अनुभूति है, क्योकि ज्ञानमात्र अनुभवनेमे वह समग्र आत्मा अनुभवमे आता है। अत ज्ञानी जन अपने आपको अनुभवनकी दिशामे चिन्तन करते है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। इस चिन्तनमे ये तीन प्रकारके धर्म आ गए हैं। मैं हू यह समान धर्म है। अमूर्त हू यह मिश्र धर्म है। ज्ञानमात्र हू, यह असाधारण धर्म है। ऐसे तीन प्रकारके धर्मोंका रहना जिस शक्तिमे कारण हो उसको कहते है समासममिश्रधर्मत्वशक्ति। इस शक्तिके परिचयसे भेदविज्ञान होता है और मोहका भी विध्वस होता है। मोहका विध्वस होनेसे रागद्वेष नष्ट होगे, वीतरागता बनेगी, केवलज्ञान प्रकट होगा, प्रभुपदकी प्राप्ति होगी। तो जिस विधिसे हमारा मोह ध्वस्त हो वह काम कर लेना इस जीवनमे हमारा एक लक्ष्य होना चाहिये।

आत्मामें अनन्तधर्मत्वशक्तिका प्रकाश—आत्मामे अनन्तधर्मत्वशक्ति है, इसका

वर्णन अब चल रहा है। अनन्तधर्मत्वशक्तिके प्रतापसे यह आत्मा अनन्तधर्मी होकर भी एक स्वभावरूप है। आत्मामे अनन्त धर्म भेदव्यवहारसे बताये जाते है। वस्तुत आत्मा एक स्वभावरूप है, अखण्ड स्वभावमय है। अखण्ड स्वभावात्मक आत्माको जैसा कि निश्चयनयने जाना उसके ही जब प्रतिपादनका अवसर होता है तो भेद-व्यवहार किए बिना बताया नही जा सकता। यहाँ तक कि भेदव्यवहार बिना जैसे विधि नही बनती ऐसे ही भेदव्यवहार बिना प्रतिषेध भी नही बनता। हाँ प्रतिषेधसे जो गम्य है वह तो अभेदरूप होता है, पर विधि और प्रतिपेध इन दोनोका जनक भेद है। विधिका जनक भी भेद है और विधिका गम्य भी भेद है, किन्तु प्रतिषेधका जनक तो भेद है, मगर प्रतिषेधका गम्य अभेद है। आत्मामे अनन्त शक्तियाँ है। जब भेददृष्टिसे देखते है तो ये सब प्रतीत होती है। आत्मामे ज्ञानशक्ति भी है जिसके द्वारा यह जानता है, आत्मामे दर्शनशक्ति भी है जिसके द्वारा सामान्यावलोकन करता है, आत्मामे आनन्दशक्ति भी है जिससे यहाँ आल्हादरूप परिणाम होता है, आत्मामे श्रद्धाशक्ति है जिसके कारण आत्मा कही विश्वास बनाये रहता है। चारित्रशक्ति है जिसके द्वारा आत्मा कही रमता अवश्य है। आत्मामे ऐसा अखण्ड प्रताप है वह इसकी ही प्रभुता है। आत्माका एक गुणका प्रकाश सर्व गुणोपर पड रहा है यह विभुत्वशक्ति है। ऐसी आत्मामे अनन्त शक्तियाँ है लेकिन वे अनन्त शक्तियाँ कोई जुदी नही है। अनन्त शक्तियोका पिण्ड आत्मा है ऐसा भी व्यवहारसे कहा जाता है। जैसे अनन्त परमाणुओका पिण्ड यह स्कध है, क्या इस प्रकार अनन्त शक्तियोका पिण्ड आत्मा है ? अनन्त शक्तियोका पिण्ड नहीं है आत्मा, किन्तु अनन्तशक्त्यात्मक है आत्मा। अनन्तशक्ति ही जिसका स्वरूप है ऐसा आत्मा है, न कि अनन्त शक्तियोका समूह आत्मा है। तो यो आत्मामे अनन्त गुण विदित होते है, फिर भी वे एक ही भाव वाले है। उस ही एक अखण्ड स्वभावको भेददृष्टि करके यथानुरूप आर्षके अनुकुल ये सब भेदव्यवहार चल रहे है।

पृथक् पृथक् स्वरूप वाली शक्तियोंकी शक्तिमानसे अविष्वग्भावरूपता—जितनी भी शक्तियाँ है वे अनन्त है, पर अनन्तका तो नाम कौन कहे, असख्यातका भी कोई नाम नही कह सकता, सख्यातोका भी नाम नही कहा जा सकता, इसलिए कुछ ही प्रसिद्ध शक्तियोंके नाम होते हैं। उन शक्तियोके स्वरूपको देखो तो एक शक्तिका स्वरूप दूसरी शक्तिसे जुदा है। ज्ञानशक्तिका काम जानना है तो यह ज्ञानशक्ति अन्यका काम न करेगी, आनन्दशक्ति का काम आल्हाद है तो यह अन्य गुणका काम न करेगी, श्रद्धा गुणका काम विश्वास करना है तो यह अन्यका काम न करेगी। देखिये—आत्मा अखण्ड है, एक स्वभावरूप है, फिर भी जब हम उसमे भेद करके उसका प्रतिपादन करते है, परिचय पाते हैं तो ये सब साम्राज्य वैभव वहाँ दृष्टिगत हो रहे है। कितने गुण है, प्रत्येक गुणका अपना-अपना स्वरूप है, फिर

भी गुणके स्वरूप तो नही परस्परमे मिल रहे, किन्तु उन सब गुणात्मक यह आत्मा हो रहा है। आत्मा अनन्तधर्मात्मक है, अनन्त धर्म ही जिसका स्वरूप है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वरूप उसका एक है और वह एक स्वरूप अनन्त धर्मरूपमे विदित हो रहा है। ऐसा अनन्त धर्मोको धारण करनेका सामर्थ्य इस आत्मामे है, ऐसा इस शक्तिके द्वारा बताया गया है।

नाना रूपोंमें पदार्थ ज्ञेयताका तथ्य—वास्तविकता यह है कि जब जो कुछ हमे ज्ञानमे आता है तो पदार्थ ज्ञानमे आता है, क्योकि सत्मे ही प्रमेयत्वशक्ति है ? जो सत् हो वही प्रमेय होता है। असत् प्रमेय नही हो सकता। सत् कहलाता कौन है ? सत् द्रव्य है। गुण पर्यायवान् है। जो गुण पर्यायवान् है अर्थात् अनन्तगुण, अनन्त पर्यायमय हो, ऐसा जो है वह सत् कहलाता है। तो सत्की इस व्याख्यामे सत् की श्रेणीमे गुण नही आया, पर्याय नही आया कि गुण भी सत् हो, पर्याय भी सत् हो, किन्तु सत् तो गुण पर्यायात्मक उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप एक द्रव्य आता है। इस दृष्टिसे यह निर्णय रख लेना चाहिए कि ज्ञेय होगा तो सत् होगा। ज्ञानमे आयेगा तो प्रमेय आयेगा, कोई पर्यायवान् गुणवान् पदार्थ आयेगा, इस तरहसे जो तत्त्वार्थसूत्रमे "अर्थस्य" सूत्र कहा है उसका सही परिचय हो जाता है। ज्ञान होता है तो पदार्थका हुआ करता है, न कि पर्यायका, न कि गुणका। जब कभी हम पर्यायका ज्ञान कर रहे है तो वहाँ तथ्य क्या है कि पर्यायमुखेन हम पदार्थका ज्ञान कर रहे है। जब हम गुणका ज्ञान करते हैं, गुणकी चर्चा करते है, गुण का स्वरूप बताते है तो वहाँ बात क्या बन रही है ? गुणमुखेन पदार्थका ज्ञान कर रहे हैं। केवल गुण जब सत् ही कुछ नही, केवल पर्याय जब सत् ही कुछ नही तो वह ज्ञानमे आ कैसे सकेगा ? आकाशपुष्प, बध्यासुत आदि जो असत् है वे ज्ञानमे कहाँ आया करते हैं ? तो जब भी हमे गुण समझमे आते हे तो गुणमुखेन पदार्थ ज्ञानमे आ रहा है, उसका यह अर्थ है। जैसे इन्द्रियके द्वारा हमे कोई एक-एक बात ज्ञानमे आती है। जैसे आँखोंसे हमने रूप देखा, काला, पीला, नीला आदिक रग देखा तो वहाँ यह अर्थ न लगाना कि आँखोके द्वारा केवल रग जाना गया। केवल रग तो पदार्थ नही। वह तो एक असत् चीज है। वह तो कोई वस्तु ही नही है। वह असत् चीज जानी कैसे जायगी ? कालाके रूपसे वह पदार्थ जाना गया। तो इन्द्रियके द्वारा भी जो एक एक विषय जाना जाता है रूप, रस, गध, स्पर्शादिक वह मात्र नही जाना जा रहा है किन्तु ज्ञान हुआ करता है "अर्थस्य"। ज्ञान पदार्थका हुआ करता है। तो रूप, रस आदिक रूप पदार्थ जाना गया है, जो केवल रूप, रसादिक सत् न हो, असत् हो वे ज्ञानमे कैसे आयेगे ? जब कभी कोई यह कहे कि गुण भी सत् है, पर्याय भी सत् है तो वहाँ भी उपचारसे कथन समझना चाहिए। गुण

सत् नही है वस्तुत , किन्तु गुणवान अर्थ सत् है, और गुणमुखेन भी पदार्थ जाना गया है और वर्तमान दृष्टिमे पदार्थकी मुख्यता नही है, उस आधारको दृष्टिमे नही लिया जा रहा, केवल गुणको जाना जा रहा। तो भले ही गुणकी दृष्टि करके जाना जा रहा हो लेकिन जाना जा रहा है गुणमुखेन पदार्थ ही। तो यो जितनी भी शक्तियाँ बतायी गई है वे शक्तिया स्वय सत् नही है अर्थात् वे सब स्वतत्र वस्तु हो इस तरह नहीं है, अगर स्वतत्र वस्तुवे होती तो यो कह सकते थे कि इन अनन्त शक्तियोका पिण्ड आत्मा है।

उपचारका कारण और उपचारकथनका मर्म—पदार्थका ही ज्ञान होता है। तथ्य तो यह है फिर भी ऐसा शब्द आता है ग्रन्थोमे कि आत्मा अनन्त शक्तियोका पिण्ड है। यह कथन उपचारसे है, इसमे मर्म क्या है यह समझ लेना चाहिए। कितनी ही बाते कहने मे सीधी आती है, परन्तु उनमे मर्म है, उनका उपचार है और उपचारसे वे बाते कही जाती है। यदि कोई मर्म तक न पहुचे और जैसा कहा गया है वैसा ही सीधा उसका पूरा अर्थ समझ लिया तो वह सम्पक नही हो सकता है। जैसे अनेक कहावतें ऐसी होती है और अनेक घटनाये भी ऐसी होती है कि जिनमे मर्मका पता न होने से विडम्बना बन जाती है। एक दृष्टान्त है कि किसी सेठने एक बिल्ली पाल रखी थी। तो चूँकि लडका लडकी आदिकी शादियोके समयपर बिल्लीका इधर उधर घरमे आना जाना असगुन माना जाता है इसलिए वह सेठ लडकियोकी शादीके अवसर पर उस बिल्ली को टिपारेके अन्दर बन्द कर दिया करता था। सेठने जितनी भी शादियाँ की सबमे यह काम कर देता था। अब सेठ तो मर गया। काफी समय गुजर जाने तक उसके यहाँ कोई कामकाज न पडा। अब उस सेठके लडकोमे से जब किसी लडके लडकीकी शादी हुई तो सारे दस्तूर हो चुकनेके बाद जब भावर पडनेका अवसर आया तो एक लडका बोला—ठहरो, अभी एक दस्तूर बाकी रह गया है। क्या ? अभी एक बिल्ली पिटारेके अन्दर बद करना है। तो जब बिल्ली कहीसे बडी मुश्किलसे पकड कर लायी गई, पिटारेमे बंद की गई। तो यद्यपि भाँवर पडनेका मुहूर्त निकल गया था फिर भी वह दस्तूर किया गया। अरे बिल्लीको पिटारे के अन्दर बद करनेका मर्म न जाननेसे ही तो यह विडम्बना बनी। तो ऐसे ही किसी भी कथनको सुनकर उसके शब्दोमे न अटक जाना चाहिए, किन्तु उसके मर्मको पहिचानना चाहिए। मर्मको न जाननेसे तो एक बहुत बडी विडम्बना ही बन जाती है।

गुणमुखेन अथवा पर्यायमुखेन पदार्थका ही ज्ञान होनेका प्रतिपादन—गुण है इस तरह भी बोलते है, पर्याय है इस तरह भी बोलते है, सो ठीक है, पर जब पर्याय है इस तरहका कोई अस्तित्व देखा जा रहा है तो मात्र पर्यायका अस्तित्व ज्ञानमे नही आया किन्तु पर्यायमुखेन पदार्थ ज्ञानमे आता है। जिस पर उपयोग है, जिस पर दृष्टि है उसकी

बात कही जाती है। इसी तरह आत्मामे ज्ञान गुण है, श्रद्धा गुण है, चारित्रगुण है, आनन्द गुण है आदिक अनेक शक्तियोकी बात कही जाती है। वह सब व्यवहारका उपदेश है। निश्चयसे आत्मामे न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है, न अन्य शक्तियाँ है, न अन्य बात है, यह बात अध्यात्म शास्त्रोमे भलीभाँति बतायी गई है। सदेह होने लगता है--कैसे कहा जा रहा कि आत्मामे ज्ञान नही है ? अरे यो कहा जा रहा। कैसे कहा जा रहा कि आत्मामे श्रद्धा, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व आदिक धर्म नही है ? अरे यो कहा जा रहा कि यह धर्म स्वयं सत् नही है, स्वयं वस्तु नही है। अगर है तो जो है वह गुणपर्यायवान होता है, ऐसा नियम है। "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, सद्द्रव्यलक्षणम्" क्या है सत् ? सत द्रव्य है, और द्रव्य क्या है ? गुणपर्यायवान तो उसका अर्थ हुआ कि जिसके लिए आप "है" कहते उसके लिए मानना होगा कि वह गुणपर्याय वाला है। तो गुणमे बताइये कि वह गुणपर्याय वाला है क्या ? पर्याय है तो बताओ कि वह गुणपर्याय वाला है क्या ? इसमे अमुक गुण है, अमुक गुण है, तो प्रत्येक गुणकी बात बताइये कि वह गुणपर्याय वाला है क्या ? नही है, अर्थात् यह है नही। अर्थात् यह स्वतत्र सत् नही है, किन्तु सत्मे ये सब देखे जा रहे है। यह भी व्यवहारसे निरखा जा रहा है। निश्चयदृष्टिसे तो निरखनेकी बात यो होती है जैसे समझ लीजिए कि जैसा केवलज्ञानमे निरखा गया हो। "है" के निरखनेका प्रयास निश्चयनयमे होता है। अखण्ड एक स्वभावरूप, फिर भी श्रुतज्ञान प्रमाणमे जहाँ प्रमाणपनेकी व्यवस्था करायी गई है वहाँ निरपेक्ष निश्चयनयका समर्थन नही दिया गया है। जैसे निरपेक्ष व्यवहारनयका समर्थन नही दिया गया है, परन्तु वस्तु स्वय स्वत अपने आप कैसे अखण्ड है, ऐसा ज्ञान करनेके लिए यह बात कही जा रही है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। पदार्थमे अनन्त शक्तियाँ होती है पर वे सारी शक्तियाँ इस अभेद आत्माके आश्रय मे हैं। शक्तियाँ स्वतत्र सत् नही है। तो एक आत्मपदार्थ है, वही पदार्थ ऐसे अनन्त धर्मोंरूप है।

त्रिविध शक्तियोंमें गर्भित अनन्तशक्तियोंमय एकभावस्वरूप ज्ञानमात्र आत्माका लक्ष्य--इससे पहिले समासममिश्रधर्मत्वशक्ति बताथी गई थी। उसमे अनन्त धर्मोको सक्षेप मे बताया गया था, क्योकि कोई भी धर्म हो या तो समान होगा या असमान होगा, अथवा मिश्र होगा। इन तीनको छोडकर और कुछ नही हो सकता। आत्मामे जितने गुण हैं अस्तित्व वस्तुत्वसे लेकर ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द आदिक जो भी धर्म हैं वे या तो समान हैं अर्थात् अन्य पदार्थोमे भी है, या असमान हैं, अर्थात् आत्मामे ही हैं, अन्य किसी पदार्थमे नही है, या मिश्र है—आत्मामे भी हैं, कुछ अन्य द्रव्योमे भी हैं, कुछ अन्य द्रव्योमे नही भी है, यो तीन प्रकारोमे सब धर्मोकी बात कही गई थी। अनन्तधर्मत्व शक्ति मे उन अनन्त धर्मों

को कहा जा रहा है। एक साफ तौरसे आत्मामे अनन्त शक्तिया है और वे शक्तियाँ अनन्त है, फिर भी उनसे भावित एक ही भाव है। उन अनन्त शक्तियोसे परिचयमे आया क्या ? केवल एक यह ज्ञानमात्र आत्मा। देखिये—ज्ञानगुण वाला आत्मा और ज्ञानमात्र आत्मा इन दो का वाच्यमे भी अन्तर है। ज्ञानगुण वाला आत्मा कहो, वहा अर्थ यह निकला कि आत्मामे अनन्त शक्तियाँ है, उन अनन्त शक्तियोमेसे एक ज्ञानगुणकी बात कही जा रही है। ऐसा एक ज्ञानगुण वाला आत्मा है, अर्थात् आत्मामे भेद करके एक ज्ञानगुणकी बात कही गई है। ऐसे ऐसे अनन्त गुण आत्मामे है। यहाँ ज्ञानगुण वाला कहा जा रहा है यह बात इस कथनमे आती है और आत्मा ज्ञानमात्र है इस कथनमे वह पूर्ण अभेद अखण्ड आत्मा आ गया है। सभी अनन्त धर्म किसी एक भाव द्वारा पहिचानमे आ सकते है तो वह है ज्ञानमात्र भाव। इसका कारण यह है कि जानने वाला यह ज्ञान है, आत्मामे जो ज्ञानगुण है वह जाननेका कार्य करता है। आत्मामे ज्ञानगुणके माध्यमकी आवश्यकता तो नियमत है आत्मा को समझनेके लिए। अब आत्मा भी ज्ञानमय है। जिस ज्ञानके द्वारा आत्माको जाना जा रहा है वह ज्ञान ज्ञान है, जिसे जाना जा रहा वह आत्मा भी ज्ञान है और जिस साधनसे जाना जा रहा वह साधन भी ज्ञान है, और यहाँ तक कि जिस प्रयोजनके लिए जाना जा रहा है वह प्रयोजन भी ज्ञान है। तो जहाँ ज्ञानमात्र आत्मा जाना जा रहा है वहाँ वह आत्मसर्वस्व जाना जा रहा है।

ज्ञप्तिक्रियाका सम्प्रदान ज्ञानमात्र हो जानेपर सकल उलझनोंकी समाप्ति—यहाँ यह बात ध्यानमे लाना चाहिए कि हम ज्ञानका ही काम सर्वस्थानोमे करते है। कैसा ही जाना, किस ही ढगसे जाना, पर सर्व स्थितियोमे हम ज्ञानका ही काम कर रहे है। लड रहे है तो वहाँ पर भी हम ज्ञानका ही कुछ काम कर रहे है। किस ढगसे कर रहे वह बात जुदी है। जहाँ प्रेम कर रहे हैं वहाँ भी हम किसी ढगमे ज्ञानका ही काम कर रहे है। ज्ञान खाली रह जाय, परिणमन न करे, ज्ञानमे ज्ञानकी बात न रहे, ऐसा न कभी हुआ, न हो सकेगा। तो ज्ञान ज्ञानका कार्य करता ही रहता है इसी कारण तो ज्ञान सब स्थितियोमे है। कोई पुरुष क्रोध कर रहा हो तो वहाँ भी ज्ञानका काम बन्द नही है। कोई पुरुष अभी तो क्रोध कर रहा था, अब मान कर रहा है तो यद्यपि यहाँ क्रोधका काम बद हो गया है, पर ज्ञान का काम बन्द नही है। यो हर स्थितियोमे ज्ञानका काम निरन्तर चलता रहता है। इसी कारण आत्माका काम निरन्तर जानते रहनेका है—अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा। आत्मा उसे कहते है जो निरन्तर जानता रहे।

आत्मा सर्व स्थितियोमे जाननेका काम कर रहा है। अब हम जाननेका प्रयोजन जब ज्ञानको ही बना रहे हो तब तो आत्मा बडी शान्तिमे रहता है, शुद्ध प्रकाशमे

रहता है, वह ज्ञानमे है, मोक्षमार्गमे बढ रहा है और यही काम सिद्ध भगवान कर रहे है पूर्णरूपसे । वे जान रहे, किसके लिए जान रहे है ? ज्ञानके लिए ज्ञान कर रहे हैं । उसका सम्प्रदान, उसका प्रयोजन, उसका फल मात्र जानते रहना है, और प्रयोजन कुछ नही रहता, लेकिन यहा सामान्यजन ज्ञानका सम्प्रदान, ज्ञानका प्रयोजन अन्य-अन्य कुछ बनाये रहते हैं । हमे परिवारको यो उच्च उठाना है, हमे इस कामको यो बढाना है, यह कारखाना इस रूप मे करना है आदिक । तो ज्ञानका प्रयोजन जब ज्ञान नही रहता तब तो उलझन रहती है और जब ज्ञानका प्रयोजन ज्ञान रहता है तो उलझन खतम हो जाती है । उसका परिणमन हो रहा है किसलिए ? इसकी सत्ताके लिए, क्योकि परिणमन न होता तो सत्त्व न रहता, और सत् हू मैं इसलिए परिणमन हो रहा है । परिणमनेका प्रयोजन सत् बना रहना इतना ही मात्र है, अन्य कुछ परिणमनका मेरेको प्रयोजन नही है । परिणमन भी यहा ज्ञानरूपसे कहा जा रहा है । ज्ञानका परिणमन हो रहा है, जान रहा है । किसलिए कि जानता रहे । जान रहे है, जानना हो रहा बस इसीलिए ज्ञान हो रहा है, और कुछ प्रयोजन नही है । तो तब ज्ञानके साधनसे ही जाना जा रहा है, ज्ञानसे ही जाना जा रहा है और ज्ञानके प्रयोजनसे ही जाना जा रहा है ।

अनन्तधर्मत्वशक्तिमय अखण्ड आत्माकी प्रतीतिबलसे मोह ध्वस्त कर लेनेका अनुरोध—जब ज्ञानानुभूति हो उस समय जो स्थिति बनती है उस स्थितिमे यह समग्र अखण्ड आत्मा ज्ञानमे आ रहा है । वहाँ अनुभव क्या हो रहा है ? ज्ञानमात्र अनुभव हो रहा है, लेकिन उस ज्ञानमात्र अनुभवमे अनन्त शक्तियाँ विकसित है, उस ज्ञानमात्रमे ही वे अनन्त शक्तियाँ अन्तर्निहित है । जहाँ ज्ञानमात्रका विकास है वहाँ विकसित ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मामे है । वह भेदव्यवहारसे कथन है, किन्तु अनन्तशक्त्यात्मक ही आत्मा है, अनन्त धर्मात्मा आत्मा है, अर्थात् वह एक अखण्ड स्वभावमे भावित है । अनन्त धर्मरूपमे होकर भी एक अखण्ड स्वभावसे ही रहता, ऐसे रहनेकी शक्ति इसे कहते है अनन्तधर्मत्व शक्ति । ऐसी अनन्त धर्मत्वशक्ति इस आत्मामे है, जिसके परिचयसे भेदविज्ञान भी हो रहा है, अभेदस्पर्श भी हो रहा है । सर्वगुण अपना जुदा-जुदा स्वरूप रख रहे हैं । जब यह स्थिति है तो यह मैं आत्मा किसी परपदार्थसे मिला-जुला हो जाऊ यह तो नितान्त असम्भव है । अनन्त शक्तियाँ भिन्न-भिन्न स्वरूप रख रही है फिर भी ये सब एक अभेदरूप है, तब मैं कहाँ भिन्न-भिन्नमे दृष्टि दूँ ? मैं अभेदरूप हू, ऐसे अभेदरूप ज्ञानमात्रका स्पर्श होता है तो अनन्तधर्मत्वशक्तिके परिचयसे भेदविज्ञान होकर अभेदस्वभावरूप निज आत्मामे प्रवेश होता है । इसके परिचयसे मोह ध्वस्त करे और अपने आपमे मग्न हो ।

आत्मामें विरुद्ध धर्मत्वशक्तिका प्रकाश—आत्माकी अनन्त शक्तियोमे अब विरुद्ध-

धर्मत्वशक्तिका वर्णन किया जा रहा है। तद्रूपमय होना, अतद्रूपमय होना जिसका लक्षण है जिस शक्तिके कारण, यह आत्मा तद्रूप और अतद्रूप दोनो रूपमे वर्त रहा है, उसे विरुद्ध धर्मत्वशक्ति कहते है। विरुद्धधर्मत्वशक्तिका अर्थ है कि जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध है वे सर्व शक्तियाँ आत्मामे अविरुद्ध रूपसे रह रही हैं। यह अर्थ न करना कि जो आत्माके विरुद्ध बात है वह भी आत्मामे रहती हो और उसका स्वभाव हो, ऐसी बात नही है। जैसे आत्मा के विपरीत परिणमन है रागद्वेष भाव तो रागद्वेष भावको बसाये रहनेका स्वभाव हुआ, ऐसा विरुद्धधर्मत्वशक्तिका अर्थ नही है, किन्तु जो अनन्त शक्तियाँ पायी जा रही है उनमे परस्पर विरोध हो ऐसी शक्तियाँ भी आत्मामे अविरुद्ध रूपसे रहती है। जैसे आत्मा सत् है, स्वरूप से सत् है, आत्मा असत् है, पररूपसे असत् है, तो आत्मामे सत्त्व है और असत्त्व है। तो सत्त्व और असत्त्व इन शब्दो और इनके वाच्योकी दृष्टिसे यहाँ विरोध नजर आ रहा है। जो सत्त्व है वह असत्त्व कैसे ? जो असत्त्व है वह सत्त्व कैसे ? किन्तु जब इसकी अपेक्षा पर दृष्टि दी जाती है तो विरोध खतम हो जाता है। स्वरूपसे सत्त्व है, पररूपसे असत्त्व है यह बात सत्य है। जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् है। यदि यह जीव जैसे स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् है तो सत् सत् ही रहे, ऐसा आग्रह किया जाय, याने परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे भी सत् हो जाय तब आत्माका स्वरूप क्या रहा ? आत्मा अनात्मा सब रूप एक पदार्थ हो गया, फिर रहा क्या है ? अथवा जैसे आत्मा परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे असत् है तो असत्की ही हठ ठान लीजिए कि यह तो असत् ही है, पररूपसे असत् है, स्व-रूपसे असत् है, तब फिर इसमे रहा क्या ? तो यह बात माननी होगी कि आत्मा स्वरूपसे तो सत् है, पररूपसे असत् है। तो सत् और असत् ये दो धर्म परस्पर विरुद्ध है, लेकिन अपेक्षासे, स्याद्वादसे इसका विरोध हट जाता है और अविरोध रूपसे दोनो ही बातें आत्मामें रह रही है और एक साथ रह रही है। जिस ही कालमे सत्त्व है उस ही कालमे असत्त्व है, अर्थात् प्रतिसमय आत्मा स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है।

पृथक् पृथक् स्वरूप वाली अनन्त शक्तियोंका आत्मामें अविरोध--और भी गहरी दृष्टिसे देखे तो आत्मामे जितनी भी अनन्त शक्तियाँ है उन सब शक्तियोंका स्वरूप न्यारा न्यारा है, जैसे ज्ञानशक्ति—इसका अर्थ है कि जाननेकी शक्ति। जिसका जानन परिणमन हो, दर्शनशक्ति, देखनेकी शक्ति, सामान्य प्रतिभास परिणमन जिसका हो, आनन्दशक्ति—जिसमें आल्हाद परिणमन हो सके। और भी अनेक शक्तियाँ है। तो सब शक्तियोंका स्व-रूप न्यारा न्यारा है। जब स्वरूप न्यारा न्यारा है तो इसे भी कह लीजिए कि ये भी जुदे-जुदे स्वरूप रख रहे हैं. विरुद्ध स्वरूप रख रहे है। ज्ञानका स्वरूप जानन है तो आनन्दका

स्वरूप आल्हाद है, लेकिन विरोध ही है। इन समस्त शक्तियोका एक आत्मामे रहनेका विरोधका नही है। परस्पर विरुद्ध धर्मोंका अविरोध रूपसे एक द्रव्यमे रहना है, यह विरुद्ध धर्मत्वशक्तिका मर्म है।

अन्तस्तत्त्वकी स्वभावसे तद्रूपता व विकारसे अतद्रूपता—अब और भी अन्तर्दृष्टिमे चले, आत्माका स्वभाव विकार करनेका नही है। शास्त्रोमे भी वर्णन है। अनुभूति भी कह देगी कि आत्माका स्वभाव विकार करनेका नही है। इसका अर्थ क्या हुआ? आत्माका स्वभाव विकारोसे हटे रहनेका है। यद्यपि आत्मामे विकार आते है। विकारोका करना भी, विकारोका अनुभवना भी विकारोसे हटा हुआ रहता है। अर्थात् स्वभाव ऐसा पडा है कि वह विकाररूप न रहे, अविकार रूप रहे, इस तरहका स्वभाव पडा है। यद्यपि यह स्वभाव आवृत्त है और अन्यथा परिणमन चल रहा है लेकिन स्वभावकी इस स्वभावताका निराकरण नही किया जा सकता है। स्वभाव तो स्वभावरूप रहनेके लिए ही तैयार है। भले ही कुछ कारणकलापोमे ये विपरीत परिणमन चलते हैं।

तो आत्माका स्वभाव विकार करनेका नही है। अविकार रूप से रहने का आत्मामे स्वभाव पडा है और आत्मामे जितनी भी शक्तियाँ बतायी गई है वे सर्व शक्तिया भी आत्माको शुद्ध बनाये रखनेके लिए है। उनका भी स्वभाव शुद्धतामे ढालनेका है, अशुद्धता या विकार करनेका स्वभाव आत्माकी शक्तियोमे नही है। अब इस दृष्टिसे देखो तो आत्मा किसमे तद्रूत बन रहा है? आत्माकी तद्रूपता किसके साथ है? स्वभावदृष्टिसे देखो तो आत्माकी तद्रूपता आत्माके अविकार स्वभावके साथ है, शुद्ध सहज वृत्तिके साथ है। भले ही अशुद्ध अवस्थामे कारणकूट मिलनेपर रागादिक विकार चल रहे है, पर आत्मा अनन्त शक्तियोमय है, और अनन्त शक्तियोका तद्रूप है। तो उस स्वभावमे तद्रूप है इसे ध्यानमे रखते हुए निर्णय किया जा रहा है कि आत्मा विकारके तद्रूप नही है। यद्यपि विकारके साथ आत्मा विकारमय है, तद्रूप है, पर आत्मा तो त्रिकाल वही है, शाश्वत है, उस शाश्वत् आत्माका ताद्रूप्य शाश्वतके साथ है और आत्माका वह अताद्रूप्य क्षणिक विकारके साथ है, शाश्वतके साथ नही, यहाँ यह बात अन्तर्दृष्टिसे और सावधानी रखकर जाननेकी है।

भगवान आत्माका विकारसे ताद्रूप्य न होनेका कारण--परिणमन जो होते हैं चाहे विभाव परिणमन हो, आत्मा या द्रव्य उस समयमे तन्मय हो जाता है। क्रोधके समय आत्मा क्रोधमय है, मानके समय आत्मा मानमय है, यह बात देखी जाती है, क्योकि आत्मा आत्मप्रदेशसे बाहर है। आत्मप्रदेशमे है और उस समय जिस गुणका परिणमन है उस गुणमे वही ज्ञप्ति पडी हुई है, इस कारण उस कालमे तद्रूप है, लेकिन जहाँ आत्माकी प्रसिद्धि की

जा रही हो और जहाँ आत्माका स्वरूप जाना जा रहा हो, आत्मा जिन उपायोसे समझा जा सकता हो उन उपायोसे आत्माकी बात कही जा रही है। आत्मा अनन्त शक्तियोमे तन्मय है, क्योंकि आत्मा अनादि अनन्त है और ये सब शक्तियाँ भी अनादि अनन्त है, तो आत्मा उन अनन्तशक्तियोमे तद्रूप है। तो जब इस दृष्टिमे आत्मा निज अनन्त शक्तियोमें तद्रूप है तो उसके साथ यह बात अपने आप आयी कि आत्मामे जो विकारभाव हो रहे हैं, क्षणिक है, औपाधिक है, आत्माके सहजभाव नही है उन भावोमे आत्मा तद्रूप नही है।

विरुद्धधर्मत्वशक्तिके मर्मके परिचयसे प्राप्त शिक्षा—विरुद्धधर्मत्वशक्तिके इस मर्मके परिचयसे हम आपको क्या हितकी प्रेरणा मिलती है? जब यह परखा गया कि आत्मा अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नही है, आत्मा अपने ही स्वरूपसे है, गुणपर्यायोसे है, भींत, चौकी, घर; मकान आदिक अन्य पर्यायोरूपसे नही है। आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप है, समझमे झट आ जाता है कि हाँ आत्मा अपने चैतन्यरूप है। घर मकान आदिक रूप नही है। घर, मकान आदिक नही है इस निश्चयका कारण तो बताओ। इस निश्चयका कारण यही तो है कि आत्मा अपने चैतन्यसे तद्रूप है, घर मकान आदिकसे तद्रूप नही है? इसका और विशेष अर्थ क्या हुआ? आत्मा अपने चैतन्यगुणमे तन्मय है और अपने आपके गुणोके ही परिणमनको करता है। आत्मामें अपने आपकी शक्तियोका परिणमन होता है। तो करनेकी बात जब रूढिमे है तो बताओ आत्मा क्या करता है? अपने गुणोका परिणमन करता है। आत्मा मकान आदिकसे अतद्रूप है। इसका अर्थ हुआ कि आत्मा मकान आदिकका कर्ता भोक्ता नही, मकानादिकसे आत्माका सम्बंध नही, वे तो परपदार्थ है उनका परिणमन उनमे है। तो तद्रूपता और अतद्रूपताकी बात समझमे पर-पदार्थोंसे सम्बंध बुद्धि हट जाती है। मैं समस्त परपदार्थोसे अतद्रूप हू। जब मैं उन पर-पदार्थोसे अतद्रूप हू उन परपदार्थोरूप हो नहीं हू तब अन्य पदार्थोंका विकल्प बनाकर उनमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके, उनमे हर्ष विषादकी परिणति बनाकर अपने आपको बरबाद क्यों किया जा रहा है?

निज यथार्थ महत्ताके आदरमें कल्याण—हे आत्मन्! तेरेमे तो ऐसी अगर शक्ति है, स्वभाव है कि अगर तू अपने आपको सम्हाल ले, परका विकल्प छोड दे तो तेरा विकास अरहंत और सिद्ध जैसा हो सकता है। तू बडा बन। बडा बननेके लिए चल। तू महान बन, पर जो यथार्थ महत्ता है, यथार्थ बड़प्पन है उसको ही दृष्टिमे ले, झूठे बड़प्पनको दृष्टिमें न ले, यह झूठा बड़प्पन तो तेरे लिए धोखा है, संसारमे रुलाने वाली बात है? यह दुनियावी झूठा बड़प्पन तो संसारमे जन्ममरणकी परम्पराको बढाने वाला है। अरे तू तो अपने स्वभावको देख। तू अपने स्वभावमें ही तद्रूप है, किसी भी परपदार्थसे तद्रूप नही है। जैन

शासनमे वैसा वस्तुका स्वरूप वताया है ? अनेकान्तमय वस्तुका यह मर्म जिसके वोधमे आ जायगा उसका भला हो जा गा। जगतमे वैभववान कौन है ? वही वैभववान है जिसने अपने स्वभावका दर्शन किया है। अपने वैभवसे जो वैभववान मान रहा है, अपने वैभवमे ही जो तृप्त हो रहा है, जो दूसरेके वैभवमे इच्छा नहीं लगा रहा है, वही तो महान है। लोकमे भी यदि कोई पुरुष दूसरेके वैभवमे दृष्टि लगाये, उसे अपनाना चाहे तो यह उसकी तुच्छता हुई। उसका कोई बडप्पन न मानेगा। अपने मिले हुए इस वाहरी लौकिक वैभवमे जो तृप्त रहता है, दूसरेके वैभवकी तृष्णा नही करता है, लोकमे उसे वडा कहते हैं, और, कहावत भी है ऐसी कि घर सूखी रोटी भली है और परकी चुपरी भली नही है। परकी जो तृष्णा करता है, परकी ओर जो दृष्टि वनाता है, उसे हडपनेकी, गिराने आदिककी जो वृत्ति रखता है उसे वडा नही कहते, तुच्छ वृत्ति कहते है। जो अपनी ही वातमे तृप्त है, दूसरोका अन्यायका पैसा नही चाहता है उसे यहाँ भी लोग अच्छा कहते हैं, यह तो लौकिक बात है। जरा अपनी पारमार्थिक बातको तो देखो, हमारा अनन्त वैभव, अलौकिक वैभव, सहज शुद्ध आनन्दमे परिणमा लें, ऐसे वैभवको ही तो शुद्ध वैभव कहेगे, इससे बढकर वैभव कहा है मेरा किसी दूसरी जगहमे ?

बाह्यपदार्थसे ऋद्धिमान माननेकी कुटेवका संवर---ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, आनन्द, चारित्र आदिक सभी शक्तिया आत्माको सुखमय, कल्याणमय बनानेके लिए है। ऐसा अनन्त वैभव, अनुपम वैभव उससे हटकर इन चादी, सोना, मकान आदिक बाहरी बातोमे इन इन्द्रियके विषयोमे, भोजनादिकमे तृष्णा की बात, आशाकी बात, लगावकी बात, हठकी बात और इसपर भी मूढता क्या कि इसपर अपने बडप्पनकी बात समझना, यह सब मूढता है। बचपनमे घरमे होता ही ऐसा है कि कोई चीज आये तो सब बच्चोको बाट दी जाय। तो हम यह कुटेव रखते थे कि हमको सबसे दूनी अधिक चीज मिलनी चाहिए। और अधिक चीज न मिले तो न लेते थे। तो हमारी ऐसी प्रकृति जानकर और कुछ अनुरागवश भी हमको घरमे दूनी तिगुनी अधिक चीज दी जाती थी, पर साथमे एक यह भी आदत थी कि उसको ले लेनेके बाद खाते सबसे कम थे, और बाकी सारी चीज सभी भाई बहिनोको बाट देते थे। तो वह भी हमारी एक कुटेव थी। हमने अपनेको अधिक चीजे मिल जानेपर अपना बडप्पन समझा था, तो ऐसे ही विषयोमे यह लोगोका कुटेव ही तो है कि हमको सबसे अधिक धन मिलना चाहिए। भला यह तो बताओ कि अगर साराका सारा धन आपके ही पास आ जाय तो फिर और लोग क्या करेगे ? तो शायद उनका यही उत्तर होगा कि और लोग तो भाडमे जायें, साराका सारा धन मुझे ही मिलना चाहिए। तो यह कुटेव नही है तो और क्या है ? कितनी कुटेव है इस व्यामोही आत्मामे। अरे चाहिए तो यह कि सारे

परपदार्थोंसे निवृत्तसा रहे, अन्दरमे उनसे हटा हुआ रहे। इनसे क्या होगा ?

उपयोगका आधारसे बाहर हो जानेका महान संकट--आज तक इतने पुद्गल भोगे कि आज जिन पुद्गलोको हम भोगते है वे जूठे मालूम होते है। भोग तो भोगा हो, उन्हे फिर भोग रहे हो तो जूठेकी तरह ये पुद्गल भोगनेमे आ रहे है और इस उपयोगमे अपने स्वरूपसे बाहर दृष्टि बन गयी, इस तरहसे यहा उपयोग बन गया, यह तो बडा सकट हो रहा है। जैसे मछली जलसे बाहर हो जाय तो वह कितना आकुलित होती है ? उसके लिए तो सब संकट है, ऐसे ही समझिये कि मेरी यह उपयोगरूपी मछली ज्ञानसागरसे बाहर निकल गयी है, इससे यह छटपटाहट हो रही है, रागद्वेष, विषय कषाय, इष्ट अनिष्ट बुद्धि आदि ये सब छटपटाहट ही तो है, यह आकुलित ही तो हो रहा है। तो यह तो इस जीवपर एक महान सकट है। अब इस जीवकी महत्ता, इस जीवका बडप्पन इसमे है कि यह उपयोग इन बाहरी उपद्रवोसे बचकर अपने आपके अनन्त वैभवमे लगे। इसमे किसी प्रकारकी विकल्प तरगे न उठे, लेकिन जिन्हे तद्रूपता, अतद्रूपताके मर्मका ही पता नही है उनकी दृष्टि तो ऐसी सकटमय स्थिति बन रही है कि वे अतद्रूपमे तद्रूप बननेका प्रयास कर रहे है।

तद्रूपता व अतद्रूपताके बोधमें सत्य आराम---जहा यह बोध हुआ कि मैं अपने स्वरूपमे तद्रूप हू, परस्वरूपसे तद्रूप नही हूँ उनको एक राहत मिलती है, कुछ आराम मिलता है। रागद्वेपकी वृत्तियाँ न रहे, यह है जीवका विश्राम, समस्त रागद्वेष मोहादिक विकारभाव शिथिल हो जाये और यह आत्मा ज्ञाताद्दष्टा रह सके, सहज जो ज्ञानमे हो रहा है, हो रहा है, यहासे कोई तरग न उठाये, रागद्वेषकी वृत्ति न जगाये तो वह आराममे है। दुख क्या है ? मोहियोने आराम इसे माना है कि इस शरीरको खूब पुष्ट किया जाय, अनेक प्रकारके आरामके साधनोमे इस शरीरको रखा जाय, मेरे आराममे बाधा न हो, मेरेको कष्ट न हो। और, किसीको कुछ भी हो, पर मेरा यह शरीर कष्टमे न हो, कही श्रममे न पड जाय आदि। लेकिन आराम यहा नही है, आराम है अतद्रूपसे हटकर तद्रूपमे आनेमे। मेरा जो स्वरूप है उस स्वरूपमे आना और सहज जो ज्ञानवर्तन हुआ वह ज्ञान रहे, इष्ट अनिष्ट बुद्धि न रहे, ऐसी स्थितिया आये, आराम तो वहा है। 'आराम' शब्द ही यह बताता है कि राम आ, तो आराम है अन्यथा आराम नही। राम क्या ? यही आत्मा, रमन्ते योगिन अस्मिन्निति राम अर्थात् जहां योगीजन रमण करे उसे राम कहते है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप यह सहज चित्शवित, इसमे ही तो योगीजन रमण करते है। वडे-वडे ठाठ, राज्य, साम्राज्य तजकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर वडे वडे महापुरुष जो कि निर्जन एकान्त वनमे प्रसन्नतासे रह रहे है वह किस बलपर ? वहा नौकर नही, न रुपया पैसा है, न कोई पूछने वाला है, न कोई प्रकारके साधन है ऐसे एकाकी रहते हुए निर्जन वनमे हजारो वर्षका समय व्यतीत कर देते

थे, (उनकी आयु भी बहुत लम्बी हुआ करती थी)। तो वह किस बलपर ? कौनसी जडी बूटी उन्होने पा ली थी जिसके बलसे उन्हे रच भी क्षोभ न होता था। और, जिसे अज्ञानी-जन कष्ट मान रहे है, अरे निर्जन वनमे अकेले रहना तो बडे कष्टकी वात है। कोई साथ नही है, और जहा शेर, चीता, सर्प आदिक बहुतसे भयोत्पादक जीव भी बने रहा करते है, अरे इतने सकट हैं। ये संकट अज्ञानी जन मानते है, किन्तु वे योगी पुरुष अपने आपके उस विशुद्ध ज्ञानस्वरूपको निरखकर उसमे मग्न होकर ऐसा तृप्त हुए कि उन्हे यह खबर ही न रही कि यह बन है। उन्हे तो यही भान नही है कि यह हमारा देह है। वे तो अपनी अनन्त शक्तियोके दृष्टिबलसे वहाँ भी आनन्दमग्न रहा करते है। तो आराम तो वास्तवमे वहाँ है।

दुर्लभ मानव जीवनमें अपूर्व आत्मलाभ लेनेका अनुरोध---बडी कठिनाईसे यह मानवजीवन मिला है। अन्य ससारी जीवोपर दृष्टिपात करके देख लो--कितनी दयनीय उनकी स्थितियाँ हैं ? हम आप उन सब स्थितियोको पार करके आज मनुष्य पर्यायमे आये हुए हैं, यहाँ हम आपने मनकी शक्ति पाया है, अपने हिताहितका विवेक कर सकते हैं, यहाँ ही यदि विवेक न किया तो फिर कब विवेक करनेका अवसर मिलेगा। अरे इन बाह्यपदार्थोसे निवृत्त होकर अपने आपकी ओर दृष्टि लगाना, यही तो विवेक है। यदि इस मानवजीवनमे ऐसा नही कर सकते तो फिर इस जीवनके पानेसे लाभ क्या उठाया ? तब तो फिर पशु पक्षियो की ही पर्याय भली थी। आज सुयोग मिला है, जैनशासनकी शरण मिली है, धार्मिकताके समागम मिले है, आज यदि हम आप नही चेतते तो ये सब दुर्लभ समागम पानेसे लाभ क्या उठाया ? मंदकषायसे रहना, सर्वजीवोमे समताकी दृष्टि रखना, अपने आपके वैभवका दर्शन करके तृप्त रहनेकी प्रकृति बने, मुझे तो मुक्त होना है, कभी भी होऊँ, मेरा तो बस यही एक प्रोग्राम है, और कोई मेरा प्रोगाम ही नही है। ससारके इन मायामयी समागमोसे मेरा कोई प्रयोजन नही, इसके लिए ही मेरी भीतरमे गति हो, ऐसा ही अन्त पुरुषार्थ हो और उसीके अनुसार चलना हो, अन्य सर्व नि सार बातोसे मेरा कोई प्रयोजन नही, ऐसा एक निर्णय करके अपने आपके तद्रूप स्वभावमे तृप्त रहना और अतद्रूप समस्त परपदार्थोसे हटे रहना ऐसी वृत्ति बनायें, इससे हमारा लाभ है। तो विरुद्धधर्मत्वशक्तिसे जो निर्णय होता है वह निर्णय हमको निर्मोह बनाने और आत्मस्वभावकी दृष्टि रखनेमे, प्रगति करानेमे सहायक है। इस शक्तिके निर्णयसे हम अपना मोह ध्वस्त करें और अपने स्वरूपसे उपयोग रहने की प्रकृति बनायें।

आत्मामें तत्त्वशक्तिका प्रकाश—आत्मा ज्ञानमात्र भावके दर्शनमे प्रसिद्ध होता है। ज्ञानी जीवको ज्ञानमात्रके अनुभवमे वह सम्पूर्ण आत्मा प्रसिद्ध हो जाता है, इसी कारण ज्ञानमात्र भावके ध्यानमे एकाग्र उपयोगमे जो विकास हुआ है उस विकासके साथ आत्माकी

समस्त अनन्त शक्तियोका भी योग्य विकास हो जाता है। तो उस ज्ञानमात्र भावकी सिद्धि के लिए अनेक शक्तियोका यहाँ वर्णन चल रहा है। ये अनन्त शक्तियाँ एक ज्ञानमात्र भावके अन्दर ही निहित है, उन अनन्त शक्तियोमे से अब तत्त्वशक्तिका वर्णन चल रहा है। तत्त्व शक्तिका अर्थ है कि तद्रूपसे होना ऐसी सामर्थ्य जिसमे है उसको कहते है तत्त्वशक्ति। तत्त्वशक्तिका वर्णन प्रतिलोम प्रक्रियासे होनेसे विशद होता है इसलिए इसका प्रतिपक्षी धर्म अतत्त्वशक्ति है। सो तो तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति दोनोका तुलनात्मक अध्ययन करते जाइये। अतत्त्वशक्तिका अर्थ है कि पदार्थका अतत्रूपसे न होना अर्थात् अन्य पदार्थके रूपसे न होना। जैसे अस्ति नास्तिके भङ्गसे जान लिया जाता। अपने रूपसे होना सो तो है तत्त्वशक्ति और अन्य रूपसे न होना ऐसी शक्तिको कहते है अतत्त्वशक्ति। जिसका भाव यह है कि आत्मा अपने ही गुण पर्यायोके रूपसे होगा, अन्यके गुण पर्यायोरूपसे नही होता। यदि एक तत्त्वशक्तिका ही हठ हो कि बस रूपसे होगा, स्वरूपसे भी होगा, पररूपसे भी होगा, यो तत्त्वशक्ति न हो तो न तत्त्वशक्ति रहेगी और न आधारभून आत्मा रहेगा, इसी प्रकार कोई अतत्त्वशक्तिका ही हठ करे यही मात्र शक्ति है तो न अतत्त्वशक्ति रहेगी, न आधारभूत आत्मा रहेगा। नही है। अपने रूपसे भी नही हो रहा है और पररूपसे भी नही हो रहा है। तब कुछ रहा ही नही इस कारण आत्माकी व्यवस्था इन दो शक्तियोसे चल रही है। इनमे से एकका भी अपलाप नही किया जा सकता।

प्रारम्भिक ज्ञानामृत—पदार्थ अपनेमे अपने स्वरूपसे होता है और अतत् रूपसे नही होता है, इसका भाव हुआ कि मैं जो कुछ हो रहा हूँ, मुझमे जो अवस्थायें होती है वे मेरे गुणोके अनुरूप होती हैं, मेरे सत्त्वस्वभावके अनुरूप होती है, किसी परद्रव्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुरूप नही होती है। यह एक प्रारम्भिक ज्ञानामृत है। वस्तुस्वरूपका सही निर्णय होनेपर यह वस्तु इतना मात्र है, इससे बाहर यह नही है। इसका सारा काम इसही मे है, अन्यमे नही है। इसका फल इसका करण सब कुछ इसीमे है, अन्यमे नही है। ऐसा अपने आपमे घटित कीजिए। मैं यह अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा जिसको दूसरा कोई जानता भी नही है और जाने तो वह एक साधारण बन गया। विशिष्ट आकार व्यक्ति उसके ज्ञानमे न रहा, तो वह तो अपने ही स्वरूपका ज्ञाता हो गया, इस ढगकी स्थितिमे आ गया। तो कोई दूसरा मुझे जानता नही है। और, यो भी मान लीजिए कि यदि मैं इस पर्यायमे न होता, इस मनुष्यभवमे न होता या इस भारतदेशमे न होता, अन्यत्र कही जन्म ले लिया होता, अन्य किसी भवमे होता तो मेरे लिए फिर यहाँका सब कुछ क्या था? और, आज अगर इस छोटेसे देशमे जन्म ले लिया है, तो इतनासा यह भाग इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमे कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नही

रखता। तो इतनेसे हिस्सेमे (न कुछ जैसे हिस्सेमे) अपना कुछ महत्व समझना, यहाँ अहकार रखना, विकल्प मचाना यह कितना बडा व्यामोह है ? यह तो इस जीवकी जन्म मरणकी परम्परा बढाये रहनेमे ही कारण होगा। इसी व्यामोहबुद्धिके कारण इस जीवको कही भी विश्राम नही मिल पा रहा है। इतनी लम्बी यात्रा करते हुएमे इसे कुछ विश्राम, भी तो मिलना चाहिए, लेकिन इसकी कुबुद्धिसे इसे विश्राम नही मिल पाता। जहाँ भी यह जीव जन्म लेता है बस वही इसके व्यामोहबुद्धि बनानेकी प्रक्रिया चलती है, ऐसी इसकी एक आदत सी बन गई है। यही कारण है कि इस जीवकी जन्म मरणकी परम्परा चलती रहती है, यह घोर दुख सहता रहता है, इसे कही विश्राम नही मिल पाता है।

सर्व जीवोंको समान निरखकर शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें प्रवेशका पौरुष—हे आत्मन् ! यदि तुझे राग करनेकी आदत पड गई है तो खूब राग ही करले, और बहुत बडे रूपमे राग करले। थोडा राग क्यो करता है ? अपने घरमे जाये हुए उन दो चार जीवोमे ही राग क्यो कर रहा है ? सारे विश्वके प्राणियोमे अपने रागको फैला दे। और, फिर राग कर तो अच्छी तरह राग कर। किसीको इष्ट मानना, किसीको अनिष्ट मानना, किसीको अपना मानना, किसीको पराया मानना, किसीसे प्रीति करना, किसीसे द्वेष करना, यह तो तेरी बेवकूफी है। सब पर राग कर और वह भी कहाँ ? अपने ही आत्मक्षेत्रमे। जो कुछ गडबडी आ रही है, जो भी विकल्प मच रहे है वे अपने ही आत्मप्रदेशमे है। बाहर कही नही। तो यहा ही कर रहा, जरा सी बात कर रहा, इतनेके पीछे जन्म मरणका कठिन सकट छा रहा। अरे अपने स्वरूपको तो देख। तू किस रूप हो सकता है ? तुझमे क्या सामर्थ्य है ? जैसे जलमे ठडा रहनेका सामर्थ्य है या गर्म रहनेका ? स्वभावकी बात बतलाओ। जल गर्म हो जाता है उसकी बात नही कहते है। गर्मरूपसे परिणत हो जाता है जल, मगर स्वभावत यह बतलाओ एक स्थूल दृष्टिमे कह रहे हैं कि जलमे ठडा होनेका सामर्थ्य है, स्वभाव है, शक्ति है या उसमे गर्म रहनेका सामर्थ्य है ? स्वभावत पूछ रहे है। तो जब स्वभावत कहेगे तो यह कहेगे कि उसमे ठडा रहनेका सामर्थ्य है। कोई विरुद्ध चीज सामने आयी हो तो वह गर्म हो गया। विरुद्ध चीज हटी तो वह अपने ठडे रूपमे फिर आ गया। तो हममे अपना निजी सहज सामर्थ्य क्या है ? जरा आत्मामे भी तो देखिये—मेरे इस आत्मामे अपनी ओरसे सहज सामर्थ्य क्या है ? उस सामर्थ्यकी बात कह रहे है कि जहा निरपेक्ष काम हो, दूसरी उपाधिके सयोगकी बात या उसकी अपेक्षा न हो। अपने आप मेरेमे क्या स्वभाव है, क्या सामर्थ्य है ? अरे मैं शुद्ध शक्तियोमय हूँ। शुद्ध शक्तियोका अर्थ है कि जो मुझमे शक्तिया हैं मेरे सत्वसे मेरे सहजस्वरूपसे वे सब शुद्ध शक्तिया हैं, वही मेरा स्वरूप है। उस दृष्टिसे देखें तो मैं ज्ञाता द्रष्टा रूप रह जाऊँ

ऐसी मेरेमे शक्ति है । उस शक्तिका भान तो करे । अपने उस स्वभावको तो देखें—और इस अँधेरेसे हटकर ज्ञानप्रकाशमे तो आये ।

स्वरूपच्युतिमें विकट अन्धकार—यह बडा गहन अंधेरा है कि अपने स्वरूपके उपयोगसे डिगकर बाहरमे कुछ निरखने चलें तो उस समयमे इसकी क्या स्थिति होती है ? उसकी स्थिति एक दयनीय स्थिति हो गई । विकल्पोमे आ गया, संकटोमे फंस गया । यह तो बतलाओ कि एक कोई पुरुष दूसरेके घर वालेपर जब कोई विपत्ति आती है, किसीके घर कोई झंझट है, या कोई जटिल बीमार है तो उस विपत्तिके समय यह दूसरे घरका पुरुष उस तरह क्यो नही घबडा जाता जिस तरह अपने घरमे कोई घटना घटनेपर घबडा जाता है ? अरे कदाचित वे ही जीव इसके घरमे आये होते तो घबडाता कि नही ? उसमे राग करता । वस्तुत यहाँ है कौन अपना ? क्या है अपना ? जिसको वस्तुकी तद्रूपता की सुध है उसे बेचैनी क्यो होगी ? अगर कभी किसीको बेचैनी होती है तो समझना चाहिए कि अभी वह वस्तुत अपनी तद्रूपताके भानमे नही है, इसीलिए वह बेचैन होता है, क्षुब्ध होता है, दुखी होता है । उसने अपना उपयोग परमे जोडा है, उसका उपयोग, उसका यह ज्ञान, उसकी यह परिणति अपने ज्ञानसागरसे हटकर दूसरी ओर चल बैठी है । इसलिए छलबलाहट अथवा आकुलता तो होगी ही ।

एक बार भी रागविकल्पका समूल परिहार कर देनेके साहसका अनुपम शाश्वत लाभ—देखिये—हम आपको एक बडा साहस करना है, यदि एक बार भी साहस बन जाय तो अनन्त कालके लिए वह आनन्दका कार्य बन जायगा । साहस क्या करना ? जब हम किसी चीजके रागपर टिक नही पाते, रागी हो रहे है तब भी हम किसी एक चीजके राग पर नही टिक पाते । अरे आत्मन् ! यदि तू किसीपर राग करता है तो उसपर खूब राग कर, उससे फिर राग हटाकर अन्यत्र मत लगा अपने उस रागको हल्का मत बना, तू अनादिकालसे राग करनेका आदी बन रहा है इसलिए तेरे मनके अनुकूल ही तो बात कही जा रही है । तू जिस पर भी राग लगाता है तो खूब राग कर, फिर उससे राग हटाकर किसी दूसरेपर राग न ले जा, लेकिन इस व्यामोही जीवसे यह करते नही बन रहा है । अभी किसी पर घनिष्ट राग है, कोई घटना घटनेपर उसका राग कम हो जाता है । अरे तू रागपर भी नही टिक पा रहा, अरे एक बार ऐसा साहस तो बना ले कि किसी पर भी राग न कर, जब यह राग किसी एक जगह टिकता नही है तो एक बार इतना भी तो साहस ला कि मुझे किसीपर भी राग नही करना है । यह बात यद्यपि कुछ कठिन होगी फिर भी उपाय द्वारा सरल बन जायगी । वह उपाय है वस्तुका सही स्वरूप समझ लेना, तद्रूपताकी बात चित्तमे सही-सही बना लेना । मैं अपने ही गुणोमे तद्रूप हू अन्यमे नही, मैं अपने ही गुणो

मे अपना भवन किया करता हूँ। जो कुछ हो रहा वह मेरा मेरेमे हो रहा है अन्यमे नही। जब परिपूर्ण सत् मेरा सबसे निराला मेरे अपने आपमे स्वयमे है, इसके बाहर मेरा कही कुछ नही है, न परिणति है, न गुण है, न प्रदेश है, न गुण पर्याय है तब फिर वह वजह तो बतलाओ कि जिससे यह कहा जा सके कि मेरा मकान है, मेरा बन्धु है, मेरा अमुक है। वजह कुछ न मिलेगा। तब क्या कह सकते हैं वजह ? अज्ञान, मूर्खता, व्यामोह, जिसके कारण ऐसा कहा जा रहा है। तो एक बार भी यदि अपनेको तद्रूप भवनके रूपमे निरख कर यह साहस बना ले कि तद्रूपता ही मेरी दृष्टिमे रहे, मैं अपने ही गुणोमे वर्तूं, किसी अन्यमे नही, ऐसा साहस एक बार भी बना लिया जाय तो सदाके लिए शाश्वत शुद्ध सहज आनन्दका अनुभव किया जा सकेगा।

मुक्तिका प्रोग्राम हमारा—हमे कहाँ लक्ष्य रखना है, कहाँसे लक्ष्य हटाना है ? हमे अपना क्या प्रोग्राम समझना है ?—"मुझे न है परका पतियारा, मुक्तीका प्रोग्राम हमारा ॥" बस इसी प्रोग्रामको बनाकर आगे बढे चलो, अगर कोई बीचमे छेडे तो उससे कह दो कि—"मुझे न है परका पतियारा, मुक्तीका प्रोग्राम हमारा।" मुझे मत छेडो, मेरेमे रागभाव मत लावो, तुम्हारी इस प्रकारकी चेष्टाये करना व्यर्थ हैं। "मुझे न है परका पतियारा" याने मुझे किसी दूसरेका कुछ विश्वास नही है कि वह मेरा सुधार कर देगा, मुझे शान्ति दिलायेगा या मुझे आराम पहुंचायेगा। बस जान लिया। जब तक न जाना था तब तक अज्ञानकी भ्रमणा थी। अज्ञानमे सब विपरीत बातें चल रही थी। अब मैं जान गया। मेरा किसी भी परमे मोह नही है। किसीके स्वरूपमे मैं मिला होऊँ, उससे मुझे कुछ मिले ऐसी प्रतीति मुझे अब नही रही। अब मैने तद्रूपताका रहस्य जान लिया। मैं अपने गुणोमे ही तन्मय हू, किसी अन्यमे नही। तो तद्रूपभवनरूप यह तत्त्वशक्ति है जिस शक्तिकी शुद्ध समझ से भेदविज्ञान जागृत होता है और अपने अभेदस्वरूपका स्पर्श होता है। करना यही है।

धर्मपालनका प्रथम कार्यक्रम—धर्म करनेके लिए प्रोग्राम सुन लीजिए—पहिला प्रोग्राम है अध्ययन स्वाध्याय, जहाँ वस्तुस्वरूपका विवेचन हो। खूब स्वाध्याय करके, अध्ययन करके, तत्त्वचर्चा करके वस्तुका स्वरूप समझ लीजिए— मैं क्या हू, ये समस्त परपदार्थ क्या है, इनसे मेरा क्या सम्बध है, वस्तु कितना होता है, आदिक बाते खूब समझ लीजिए। एक पदार्थ उतना होता है जितनेमे कि जो एक कुछ भी परिणमन हो तो उस पूरेमे परिणमे। कोई परिणमन मुझमे नही हुआ करता। जीवकी कोई दशा—क्रोध, मान, माया, विकारस्वभावादिक किसी भी प्रकारकी परिणति आधे आत्मामे हो और आधा आत्मा साफ पडा हो ऐसा नही होता। आत्मा एक अखण्ड वस्तु है। यहाँ एक परिणमन एक समग्र इस आत्मामे होता है और इसके बाहर रचमात्रमे भी नही होता है। इससे एक वस्तुकी पहि-

चान होती है। यहा भी तो हम इसी तरह जानते है। मान लो ५० आदमी बैठे हुए है, तो यह बताओ कि हमने कैसे समझा कि ५० आदमी बैठे है ? पहिले हमको यह समझ होती है कि यह एक इतना है, जितनेमे ये अङ्गोकी क्रियाये हो रही उतना यह एक है, जब इतनी समझ है तभी तो १, २, ४, १०, २०, ५० आदिकी गिनती कर लेते है। १ की समझ होनेके आधार पर ही तो ये सारी गिनतियां समझ लेते है। इसी तरह परमार्थ वस्तु यदि समझते है कि वस्तुत पदार्थ कितना है तो उसका भी आधार यही समझ लीजिये। एक परिणमन जितने पूरेमे हो और जितनेसे बाहर न हो उसे कहते है एक वस्तु, इस तरह से परख लीजिए। मैं यह इतना हू, मेरा ज्ञान, दर्शन, आनन्द सब परिणमन अविकार विकार इतनेमे ही हो पाते है, इससे बाहर नही। यह मैं एक हू, जैसा यह मै एक हूँ वैसा ही एक-एक करके जगतके ये अनेक जीव एक-एक है। ऐसी इस तद्रूपतारूपसे अपने आपको समझनेपर फिर मोह नही रहता, व्यामोह मिट जाता है।

संगतिका आधार—गृहस्थावस्थामे वैसे हिल मिलकर रह रहे थे, क्यो रह रहे थे ? वहाँ यह अज्ञान लगा हुआ था कि ये मुझे सुख देते है, इनसे मेरे सारे काम चलते है, इनके बिना मेरा गुजारा न चलेगा आदि। इसी कारण उन परिजनोको ही अपना सब कुछ समझ रहे थे। ज्ञान अवस्था जगनेपर फिर जो धर्मात्माओके साथ मेल बनता है वह भी क्यो बनता है ? वहाँ अब यह कुछ परिवर्तन हुआ है, बात उस ढगकी यहाँ भी मिलेगी, धर्मात्मा साधर्मी जनोमे रहता है तो प्रेरणा मिलती है, सत्संग मिलता है। दूसरोकी शुद्ध वृत्ति निरखकर अपनेको भी उस शुद्ध वृत्तिमे चलनेका उत्साह जगता है। दूसरेका ज्ञान देखकर, समझकर हमे भी ज्ञानमे विकास मिलता है। धर्मात्माओका सग यदि छोड दिया इस हालतमे कि ' जहाँ हम अपने आत्माको पूर्ण सयत बना सके, अकेले ही रहकर उन अनन्त धर्मोको स्वकीय अनन्त धर्मोको निरखकर तृप्त बने रहे" ऐसे साधन जब न बने तो इन अनेक धर्मात्माओके बीच रहकर हम अपने आपको सुरक्षित बनायें, विषय कषायोसे दूर हटा लें, क्योकि इस स्थितिमे ऐसी योग्यता है कि मोहियोका संग मिले तो वहाँ उस तरह की बात उठ सकेगी, ऐसी जहाँ योग्यता बनी हुई है वहाँ यह आवश्यक बन रहा है कि हम ४-६ धर्मात्माओमे एक निश्छल शुद्ध वात्सल्य रूपसे रहे, क्योकि सभी का प्रयोजन एक है मुक्तिका प्रोग्राम। जब सभी धर्मात्माओका एक ही प्रोग्राम है तब उस बीचमें छलकी क्या जरूरत ? मायाचारकी क्या जरूरत ? और यदि ये बाते हो रही है तो वहाँ धर्म नही, धर्म से बहुत परे है। तो धर्मात्माजनोमे मेल क्यो बन रहा है ? जब तद्रूपतासे हमारा भवन है तो जैसे सब जीवोका राग छूटा वैसे ही यहाँ का भी छोड दिया जाय, बात ठीक है। धर्मात्माओका साथ तो चाहे छोड दे, पर इतना तो न करे कि धर्मात्माओका संग छोड कर

मोही जीवोके सगमे घुलमिल जावे । वहाँ फिर रक्षा नही हो सकती । तो यहा एक दूसरे की प्रवृत्ति निरखकर ऐसी सावधानी जगती है, प्रभुभक्ति जगती है, आत्मस्वभावकी दृष्टि जगती है, कल्याणकी प्रेरणा मिलती है तो यहां भी एक सत् कुटुम्बसा हो गया है, पर यहा उद्देश्य दूसरा है, ढग दूसरा है और निश्छलता है । अज्ञान अवस्थामे, गृहस्थीमे जो मोहियोका सग है वहाँ छलपूर्ण व्यवहार है । कितनी ही दोस्ती हो मगर भीतरसे छल नही निकल पाता । तो यह सब अभ्युदय, प्रकाश इस तत्त्वशक्तिके यथार्थ परिचयसे होता है । तद्रूप भवनरूप शक्तिमे अपने ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, आनन्द, चारित्र आदिक शक्तियोरूप होनेका सामर्थ्य है, किसी पररूप होनेका सामर्थ्य नही है अथवा यो कह लीजिए कि पररूप न होने रूप सामर्थ्य रखता हो वह है अतत्त्वशक्ति व अपनेरूप होनेरूप सामर्थ्य रखता हो यही हुआ तत्त्वशक्ति ।

तत्त्वशक्तिके वर्णनका उपसंसहार—इस शक्तिके वर्णनसे पहिले विरुद्धधर्मत्वशक्ति की याद दिलायी गई थी इस रूपसे कि परस्पर विरुद्ध होनेपर भी वे अनन्त शक्तियां आत्मा में अविरुद्ध रूपसे रहती है, विरुद्धधर्मत्वशक्तिमे इतना ही आशय बतानेका प्रयोजन था कि परस्पर विरुद्ध है इस कारण वह सब लड झगडकर यहांसे खतम हो जाय या मिट जाय, ऐसी नौबत न आयगी, क्योकि ये समस्त शक्तिया परस्पर विरुद्ध स्वरूप रखकर भी आत्मा मे अविरुद्ध रूपसे रहती है । और इसके लिए प्रधान उदाहरण बताया गया था तद्रूप और अतद्रूप । ये दो बातें है परस्पर विरुद्ध, लेकिन अपेक्षा लगाकर समझ लीजिए । परस्पर शब्दोसे विरोध होकर भी आत्मामे अविरोध रूपसे रहते हैं । तो ऐसे ही तत्त्वशक्ति अतत्त्व-शक्ति आत्मामे अविरुद्ध रूपसे रहती है । यह तो विरुद्ध धर्मत्वशक्तिका आशय था । अब यहा बतला रहे है कि उन शक्तियोका कार्य क्या है ? तत्त्वशक्तिका कार्य क्या है ? अतत्त्व-शक्तिका कार्य क्या है ? तो अपने गुणरूपसे रहनेका सामर्थ्य होना सो है तत्त्वशक्ति और पररूपसे न रहनेका सामर्थ्य होना यह है अतत्त्वशक्ति । इस आत्मामे यह भी सामर्थ्य पडी हुई है कि किसी भी पररूपसे न हो सकेगा । ऐसी तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्तिका जिन्हे शुद्ध यथार्थ परिचय हुआ है उनके मोह नही रहता है, न रहेगा और वे शुद्ध आत्मत्वका दर्शन कर सकेंगे । यही मोक्षमार्ग है । यही विकास हो होकर कभी परिपूर्ण विकासरूप स्थिति बन जाती है ।

अतत्त्वशक्तिका प्रकाश—आत्मामे एक अतत्त्वशक्ति है, अर्थात् अतद्रूपसे न होनेकी शक्ति होना अतत्त्वशक्ति है । यह आत्मा किसी भी पुद्गलाणुरूप नही है । ऐसी इसमे सामर्थ्य है तब तो पुद्गलाणुओका आत्मस्वरूपमे अभाव है । आत्मामे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य, और असख्यात कालद्रव्यादि नही हैं. इस कारण आत्मामे अतत्त्वशक्ति सिद्ध

होती है, किसी भी पररूपसे न होनेका सामर्थ्य आत्मामे है। यह आत्मा अन्य किसी जीव रूप भी नही हो रहा है। पुद्गलाणु और अन्य भावरूप तो है ही नही, किन्तु यह अपने ही चैतन्यस्वरूपमे तद्रूप है, दूसरे जीवके चैतन्यस्वरूपसे तद्रूप नही है। उनका चैतन्यस्वरूप उनमे ही व्याप्त है, मेरा चैतन्यस्वरूप मुझमे ही व्याप्त है, इस तरह यह मैं अपने सिवाय अन्य समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदिक रूप मैं नही हूँ, ऐसी सामर्थ्य का नाम है अतत्त्वशक्ति। अब कुछ आत्माके और अन्तःस्वरूपमे प्रवेश करे तो आत्माका जो सहज भाव हैं, आत्माकी जो सहज सत्ता है, आत्मामे जो सहज ही है वह इसके सत्त्वके बिगाडके लिए न होगा। इसका सहजभाव आत्माकी बरबादीके लिए नही होता जब कि सहज स्वभावकी दृष्टिसे निरखा जाय तो आत्मा अपने आपके सहज स्वभावमे तद्रूप है और यहा उपाधिका सन्निधान पाकर जो विकार विकारपरिणमन होते है उससे अतद्रूप है। आत्मा क्या? कोई पुरुष हो, अपने आपको ऐसा चाहता है कि मैं तो वह रहू जिसका कभी नाश न हो और स्थितिके बारेमे भी यह सोचता है कि मैं तो वह स्थिति चाहता हू जिससे फिर घटकर स्थिति न बने। तो इसी तरह अपने आपका जैसा स्वरूप हो उसी ढगसे सोचनेमे आये। मैं वह हू जिसका कभी नाश नही होता। मेरा काम वह है, बात मेरी वह रहे जिससे कभी कोई घटती बात न हो सके। बस वही मेरा कार्य है, वही मेरा स्वरूप है, वही मेरा चमत्कार है। मैं अपने स्वभावसे कैसा हो सकता हू इस ओर दृष्टि देकर अपने आत्मस्वरूप को निरखियेगा। मैं आत्मतत्त्व सर्व विशुद्ध हू, स्वय ही शुद्ध हू ना, इसलिए मुझमे किसी प्रकारका विकार मेरे स्वरूपमे नही है। मैं स्वभावत अविकार हू, तो मैं स्वभावमे तद्रूप हू, विकार मे नही, क्योकि मैं तो शाश्वत् अविनाशी तत्त्व हू और ये विकार औपाधिक पराधीन क्षणिक तत्त्व है, मेरी उनके साथ एकता नही हो सकती। मेरी शुद्ध परिणतिके साथ तो आत्मस्वरूपकी एकता हो जायगी, पर विकारके साथ नही हो सकती। मुझमे विकार आते है, विकारोका परिणमन होता है यह बात तो मान ली जायगी, मेरेमे विकार परिणमन होता है, पर विकार मेरी शक्तिका कार्य नही है। उपाधि-सन्निधानमे शक्तिका विपरिणमन होता है।

शक्तियोंका स्वभाव व कार्य—अब इस स्थलमे कार्य और परिणमनका भी अन्तर समझ लीजियेगा। जो स्वय स्वतत्र होकर निरपेक्षतया अपना कार्य कर सके, जिसका जो भवन हो सके उसे उसका कार्य समझना चाहिए। और जो विवशतामे उपाधि सन्निधानमे परिणमन होता है वह शक्तिका कार्य नही है, किन्तु स्थिति इस ढगकी है कि उनका ऐसा विपरिणमन होता है। हम यहा लोकमे निरखते है कि कोई पुरुष यदि मनसे कार्य नही कर रहा है तो कहते है कि वह कार्य नही कर रहा है। हा हो तो रहा है परिणमन, बात

तो बन रही है मगर वह कार्य नही कर रहा है। तो निरपेक्षतया स्वके ढगसे यदि वात बने तो उसें उसका कार्य कहना, अन्यथा वह तो एक विवशताका परिणमन हो रहा है। तो इस तरहसे अपनी सर्वशक्तियोके स्वरूपको निहारे तो उन शक्तियोका कार्य विकार नही है। शक्तिया तो अपने आधारभूत द्रव्यकी स्वच्छताके लिए हैं। स्वभाव विकासके लिए हुआ करता है। तो मैं आत्मा उन अविकार क्षणिक भावोसे अतद्रूप हूँ। यद्यपि पर्यायदृष्टिसे यहा बात यह है कि जिस समयमे क्रोधादिक विकार होते हैं, उनका उपयोग होता है उस समयमे वह आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ आदिकके समय उनके ताद्रूप्यमे है लेकिन यहा अन्त स्वरूपमे जिस आत्माको निरखा जा रहा है वह आत्मा क्या होता, इसका जहा यह निर्णय किया जा रहा है कि सर्व विशुद्ध आत्मा है, आत्मा अपने सहजस्वभावरूप है। जो शाश्वत रहे सो मैं हूँ। इस ढगसे जव आत्मत्वका निर्णय किया है तो उग आत्माके विकार के साथ तद्रूपता न जोडी जायगी। वह विकार आत्मासे भिन्न ध्यानमे आ रहे है। यही तो एक भेदविज्ञान है। मैं विकारोंसे पृथक हूँ, यह किस ज्ञानमे समझा जायेगा? और, ऐसा समझे विना विकारोसे निराला वह हो नही सकता। जिसे मुक्ति चाहिए, कर्मोंसे छुटकारा चाहिए उसकी दृष्टिमे यह वात तो आनी चाहिए कि कर्म परपदार्थ हैं, मैं उनसे निराला हूँ, उनसे मेरा तादात्म्य नही है, तभी तो यह उत्साह जगेगा कि जिसके बलसे यह कर्मोंसे छुटकारा पा ले। तो कर्मोंसे निराला होता है तो यह श्रद्धा आना बहुत आवश्यक है कि मैं कर्मोंसे न्यारा स्वरूप रखता हूँ। अब विकारोसे भी छुटकारा पाना है, तो यहा भी यह विश्वास करना आवश्यक होगा कि मैं विकारोसे निराले स्वरूप वाला हूँ। तभी तो उस निराले स्वरूपका वल वढाकर विकारका विनाश हो सकेगा। तो वह मैं जो विकारोसे निराला स्वरूप रख रहा हूँ वह मैं विकारोसे तद्रूप नही हू, ऐसी श्रद्धा हो वही विकार परिणमनको छोडकर आत्मा विकार परिणमनमे आ सकेगा। तो यह मैं इस तरह समस्त परद्रव्योसे अतद्रूप हू, ऐसा भान इस ज्ञानीने अतत्त्वशक्तिमे किया है।

तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्तिकी यथार्थ श्रद्धाकी महिमा—ये शक्तियाँ अनन्त हैं और समस्त शक्तियोका परस्पर विरुद्ध स्वरूप है। यही देख लीजिए शब्दोमे। तत्त्वशक्ति कहती है कि तद्रूप है, अतत्त्वशक्ति कहती है कि अतद्रूप है, पर अपेक्षा देख लीजिए—मैं अपने स्वरूपसे तद्रूप हू, परस्वरूपसे अतद्रूप हू। तद्रूपका अर्थ है अत्यन्त तन्मय एक स्वरूप हो जाना। तो मै अपने स्वरूपसे तद्रूप हू और परपदार्थसे अतद्रूप हू। किसी भी परपदार्थके रूपसे नही मै हो रहा हू। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो रही कि मै जो कुछ हो रहा हू, मेरेमे जो परिणमन चल रहा है। वह मेरेमे अपने आप चल रहा है, किसी परपदार्थके परिणमनसे परिणमन नही चला करता है। ऐसा यह मै अपने स्वरूपसे तद्रूप और परस्वरूपसे अतद्रूप

हू, यो तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्तिकी श्रद्धासे इस ज्ञानी जीवका मोह ध्वस्त हो गया है। ससारमे जो भी संकट है वह केवल मोहका है। मान लीजिए कि यह मैं शरीरमे रहता हुआ भी शरीरसे निराला ही तो हूँ, ऐसा शरीरसे निराला यह मै आत्मा अकेला ही तो हू। यहाँ अकेला हू। इस भवसे पहिले जहाँ मैं था वहाँ अकेला था, इस भवके बाद जहाँ मैं जाऊंगा वहाँ भी मैं अकेला ही रहूगा। इस अकेले आत्माका किसी भी बाहरी समागमसे क्या मतलब ? यह निराला है। मै सर्वसे विशुद्ध केवल अपने स्वरूपमे प्रकाशमान हू। हमे क्या पडी है किसी बातमे कुछ लगाव रखनेकी ? यह गाँठ, यह परके सम्बधका लगाव, यह सब ही तो इसकी बरबादीका कारण बन रहा है। मालूम होता है कि तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्तिका इसने दृढ निर्णय किया नही है।

अपने अपराधसे अपना बन्धन---अहो ! मै मै हू, अपनेमे हूँ, अपनेसे हू, अपनेमे अपना ही काम चल रहा है, ऐसा यह मै सबसे निराला हू, ऐसी बुद्धि, ऐसी श्रद्धा यदि इस जीवने की होती तो संसारमे भटकनेका कोई कारण न था। अपने अपराधको अपराध मान तो लीजिए। मैं स्वरूपसे चिगकर किसी भी बाह्यपदार्थमे विकल्प कर रहा हू और इस विकल्पमे यो बन रहा हू कि मैं ऐसी पोजीशनका हू, मेरा इतने लोगोसे परिचय है। ये लोग मुझे क्या समझेंगे ? अरे यह सब इज्जत, ये सब परिचयके लगाव सब ध्वस्त करने होगे। यदि आत्मकल्याण चाहिए तो इस दुनियाकी दृष्टिमे पागलसा होना होगा। दुनिया तो उसे विवेकी कहती है जो खूब मोह करे, राग करे और दुनियामे अपनी इज्जत फैलाये। मगर वह तो एक पागलपन है, मोहकी उन्मत्त अवस्था है। जहाँ कही मोहका सम्पर्क लगा दिया और उस दृष्टिमे विकल्प बनाये जा रहे है यह तो आत्माकी हीन दशा है, पतित अवस्था है, इसे अपराध स्वीकार करना होगा। मैं अपराधी हू और अपने अपराधके कारण ही पराधीन बन रहा हू। जैसे लोग तुरन्त ब्यायी हुई गायको कही ले जाना चाहते है तो वे क्या करते है ? उस गायको रस्सीमे बाँधकर अथवा डडेसे पीटकर नही ले जाते है। उसके बच्चेको अपनी गोदीमे लेकर आगे-आगे चलते जाते है, वह गाय पीछे पीछे भागती जाती है। तो उस गायको किसीने बाँधा नही है, वह अपने ममत्वके अपराधसे बँधी है। यो ही समझिये कि हम जो परसे कुछ लगाव बनाते है, भीतरकी श्रद्धाको खो देते है, अपने आपके सहज स्वरूपका लगाव दूर कर देते है, बाह्य वस्तुके साथ लगाव कर लेते है उसका फल यह है कि हम अपराधी है और सारी वस्तुओके आधीन बन रहे है। अमुक वस्तु इस प्रकार न हो तो मेरा जीवन कैसे चलेगा ? अमुक वस्तु इस तरह न मिले तो मेरा काम कैसे चलेगा ? यो न जाने कितनी ही कुमतियाँ इस जीवने बना ली हैं, उसीका फल यह यहाँ भोग रहा है।

मेरे दो ही मात्र प्रधान कर्तव्य---अरे प्रियतम आत्मन् ! तेरेको दो ही तो काम करने है, उस सर्व विशुद्ध सिद्ध भगवानका ध्यान कर या अपने आपका जो सहज स्वरूप है, जो सिद्ध प्रभुकी तरह सहज विशुद्ध है, अन्त प्रकाशमान है उसका ध्यान कर। इन दो के सिवाय तीसरा काम तुझे जरूरी क्या पड गया है ? जैसे लोग कह बैठते है कि इस कामके बिना तो मेरा गुजारा ही न चलेगा, ऐसे ही कौनसा ऐसा तीसरा काम जरूरी करनेको पडा है ? अगर कोई जरूरी प्रवृत्तियाँ बन रही है तो उनका इन दो से सम्बध हो तब तो खैर है और इन दो बातोका सम्बध नही है तो उसकी कोई खैर नही है। वहा तो यह मैं कितना बाहर वहा चला जा रहा हूं, इतना ही मेरे लिए काम पडा है। और, मेरेको क्या काम पडा है जगतमें ? मान लो धन कमाया, लाखोका धन जोड लिया, तो वह धन तो जड है, अपनी जगह है, अपने परिणमनमे है। वह मेरेमे क्या सुधार कर देगा ? कहाँ शान्ति पहुचा देगा ? मुझे तो शान्त रहना है कि दुखी रहना है ? सासारिक सुख और कल्पनायें, सासारिक मौज ये दुख ही है। जैसा कि अनिष्ट विषयका प्रसग मिला और वहाँ यह जीव आकुलित होता है उसी प्रकार इष्ट विषयका प्रसग मिले और उसे निरखकर अपनेको मौजमे लाये तो वहाँ भी वह आकुलित हो रहा है, शान्ति नही है। अरे तुझे शान्ति चाहिए या आकुलता ? शाति चाहिए तो सासारिक सुख और दुख दोनोको समान समझना पडेगा, कि दोनो मेरे लिए समान है। न दुखमे मेरा कल्याण है, न सासारिक सुख मे मेरा कल्याण है। इस सुख दुखसे परे जो आत्माकी स्वभावदृष्टि शाश्वत आनन्ददशा बर्तती हो वह है मेरे कल्याणकी वस्तु। मुझे सुख दुख दोनोको समान समझना पडेगा और इस समझमे यह बात बसी हुई है कि मैं सुख दुख दोनोमे अतद्रूप हूं। मैं तो चैतन्य स्वभावमे तद्रूप हू, जिसमे मैं तन्मय हूँ उसको देखूं। जिसमे मैं तन्मय नही हू, जो मेरा स्वरूप नही है उसकी ओर दृष्टि रखनेसे लाभ न मिलेगा। जहाँ मैं बस रहा हू वह वातावरण बने, उसकी ही दृष्टिमे मै तृप्त रहा करू तो मेरा कल्याण होगा।

सहज स्वाधीन कार्यमें प्रमाद न करनेका अनुरोध---हे आत्मन् जहाँ तू तद्रूप नही है, परतत्त्व हैं, औपाधिक भाव है, परपदार्थ है, पर घटना है उसमे यदि तू अपना लगाव लगायेगा तो अपने आपको पतित कर देगा, बरबाद कर देगा। हे आत्मन् ! तू अपने आप पर करुणा करके एक बार भी तो साहस कर कि इन समस्त परद्रव्योका लगाव छोडकर, समस्त परभावोका, विकल्पोका, तरगोका लगाव छोडकर, अपने एक शुद्ध सहज ज्ञानज्योतिस्वरूप अन्तस्तत्त्वको निरखूंगा। ऐसा साहस बनेगा तो कर सकेगा यह काम। यह कोई कठिन काम नही है, क्योकि यह काम तो ज्ञान द्वारा ही करना है। ज्ञानमे ही तो करना है। बाधा कौनसी आ रही है ? बाधा तो है यह बीचका विकार लगाव। यह बीचका

विकार लगावरूप बाधा न रहे तो यह काम तो सहज ही पडा हुआ है। बल्कि संसारके ये काम पराधीन है, दुर्घट है। मेरा क्या सामर्थ्य है कि मै लाख रूपया कमा कर धर दूं ? मेरा क्या बश है कि मैं किसी परपदार्थमे कुछ कर दूँ, किसीको अपने अनुकूल बना लूँ, अथवा किसीका अपनी कषायके अनुसार परिणमन कर दूँ, यह मेरे हाथकी बात नही है। मेरी परिणति मेरे आधीन है, परकी परिणति परके आधीन है, किसी अन्यकी परिणति पर मेरा कुछ अधिकार तो नही है। तो फिर मैं लाख रुपया कमा ही लूँगा, ऐसी मेरे हाथकी बात है क्या ? इसमे तो बडी कठिनाईकी बात है, बडी-बडी पराधीनताओकी बात है। और, यह मैं ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानद्वारा ज्ञानके ही जानने का काम है, उसमे कोई दूसरा बाधक नही, किसीकी पराधीनता नही। ज्ञानद्वारा ही समझना है, ज्ञानमय अपने आपको समझना है। इसमे पराधीनता कहाँसे आयी ? यह तो स्वाधीन काम है, पर विषयकषायके लगावकी जो बाधा है और बाधा क्या, पूरा आवरण है, उसके कारण यह मेरा सहज काम, कल्याणमय परिणमन हो नही पा रहा है। जिस कालमे विकार हो रहा है उस कालमे यह दृष्टि कहासे मिले ?

स्वकी दृष्टि व अनुभूतिमें विकारबाधाका अभाव—जब विकारसे दृष्टि हटी हो, भले ही विकार चल रहा हो, पर विकारोसे हमारी दृष्टि मुड जाय, विकारोमे हमारी दृष्टि न फसे तो मेरेमे विकार कहाँ नजर आ रहे हैं ? अरे, कोई काम घरसे बाहर करनेको पडा हो, मान लो आपकी धोती बाहर फैली हुई सूख रही है, आप कमरेके भीतर बैठे हुए है, आपको मालूम पडा कि पानी जोरसे बरषने लगा, तो आप यह सोच कर उस धोतीको उठाने बडी तेजीके साथ दौडने है कि हमारी धोती अगर भीग गई तो हम क्या पहिनेंगे ? हमको अभी पूजनमे जाना है। और कुछ पहिननेको है नही। तो उस तेज दौडनेमे कोई सिरमे, या हाथ पैरमे किवाड या चौखट लग जाय तो आपको उस समय पता ही नही पडता कि हमारे कुछ लग गया है। १०–५ मिनट बादमे आप जान पाते है कि हमारे कुछ लग गया है। तो तुरन्त क्यो न जान पाये थे ? इस लिए कि दृष्टि उस समय धोती पर थी। इसी प्रकार आपको यदि अपने आपके सहजस्वभावकी दृष्टि करनेकी धुन लगी हुई है तो चाहे बीचमे अनेक विकार भाव भी आते है पर उस स्वानुभूतिके समय वे विकार रंच भी बाधा नही पहुचा पाते। यो तो स्वानुभूतिके समय चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव जब स्वानुभूतिमे लग रहा है तो क्या उसके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, तथा सज्वलन आदि कषायोका उदय नही चल रहा है ? उदय तो चल रहा है और इनके उदयमे जो कुछ बात होना चाहिए क्या वह नही हो रही है ? वह भी कुछ हो रहा है लेकिन उपयोगको उसने बिगाडा नही। उपयोगको वह ग्रहण किए हुए है अपने सहज-स्वभावमे, उस शुद्ध स्वतत्त्वमे अंतस्तत्त्वमे, तो देखिये—स्वानुभूतिके समय उसे स्वाद कहाँ

का मिल रहा है सो आप निरख लीजिए। हो रहे है विचार, पर उनकी तो सुध ही नही कर रहा, उनका लगाव ही नही कर रहा। कितनी सहूलियत है, कितने मौके है ? कैसा अवसर है और कैसा अपना मार्ग साफ है कि हम अगर बढें इस मार्गमे, मोक्षमार्गमे, आत्मकल्याणके मार्गमे तो चल सकते हैं। और, जिनकी कथा हम आप बडे आश्चर्यके साथ सुनते है कि अहो ! उस सुकुमालने कैसी दीक्षा ले ली, कैसा आत्मोन्मुख हो गये कि उनका वह सुकुमाल शरीर गीदडियोके द्वारा खाया जाता है, लेकिन कैसा वे अपने अतस्तत्त्वमे अविचल होते हैं कि रच भी परवाह नही करते। यो हम आप लोग उन महापुरुषो की बाते सुनकर आश्चर्य मानते है पर आश्चर्यकी इसमे क्या बात ? अरे जब ज्ञानने, उपयोगने एक निज अतस्तत्त्वका ही ग्रहण किया है तो वहाँ बात क्या बर्तेगी, वहाँ स्वाद किसका आयेगा, सो तो आप समझ लीजिए। इस उपयोगकी ओरको दृष्टि मुडे याने इन समस्त परपदार्थोसे दृष्टि हटे तो ऐसी स्थितिमे आत्मामे प्रकट होता है अपना शाश्वत आनन्द। तो ऐसे अन्तस्तत्त्वका ग्रहण होना यह तत्त्वशक्ति सिखाती है।

तत्त्वशक्ति व अतत्त्वशक्तिके तथ्यके निर्णयका अनुपम फल—तू अपने स्वभावसे तद्रूप है, विभावसे तद्रूप नही। परिणमनके समयमे हो रहा है तद्रूप उसकी बात नही कही जा रही। यह तो सारी बात इस दृष्टिसे सुनना है, अभी तो जहाँ यह निर्णय पडा हो कि मैं अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानमात्र आत्मा हूँ। इस निर्णयके साथ यह प्रकरण सुनना है। तो ऐसी स्थितिमे मैं आत्मा न विकारोसे तद्रूप होता हू, न परपदार्थोसे तद्रूप होता हू। मैं तो अपने स्वभावमे ही वर्तमान अन्त प्रकाशमान हू। तभी तो कहा है अध्यात्मशास्त्रमे कि जो अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभावरूप है ऐसा यह आत्मतत्त्व जो स्वत सिद्ध है, ज्ञानरूप है वह यद्यपि इस ससार अवस्थामे, इस अविकार अवस्थामे दूध पानीकी तरह एकमेक हो रहा, एक क्षेत्रावगाह हो रहा। हम इतना भार लादे हुए है तिसपर भी जरा द्रव्यके स्वभावको तो निरखिये—ओह ! सारा पल्टा खा जायगा। जब द्रव्यस्वभावकी निरूपणा करते हैं तो वहाँ प्रतीत हो रहा है—ओह ! ये नाना प्रकारके शुभ अशुभ भाव, ये मेरे स्वभावसे परिणत नही हो रहे है। मैं अपने स्वभावसे अपने सहजभावमय हू। उस द्रव्यदृष्टिसे निरखना है, उस स्वभावदृष्टिसे परखा जा रहा है। मैं आत्मा क्या हू ऐसा निर्णय किए बिना हम धर्मपालनकी दिशामे एक कदम भी नही बढ सकते। धर्मपालन करना है। मुझे शान्ति चाहिए। कर्मोसे मुक्त होना है, ससारसकटोसे छुटकारा पाना है, ये सब बातें यदि चाहिए तो यह निर्णय कर लेना पहिले आवश्यक है कि मैं वास्तवमे हू क्या ? क्या मैं मनुष्य हू ? अरे यह तो मर जाता है। क्या मैं मर जाने वाला हू ? मैं तो सत् हू, अविनाशी हूँ। क्या मैं क्रोधादिक कषाय हू ? ये तो मिट जाने वाले है। ये तो विकारभाव हैं। उपाधिके कारण

से होते है, इन रूप मैं नही हूँ, मै कषायसे निराला सहज ज्ञानस्वभावमात्र हू । ऐसा यह मैं किसीके द्वारा (ब्रह्मा आदिकके द्वारा) किया गया हू ऐसा नही है । किसीने मुझे उत्पन्न किया हो ऐसा नही है । मैं स्वत सिद्ध सहज ज्ञानस्वभावरूप हूँ, ऐसा यह मै अपने आपको अनादि अनन्त अहेतुक स्वीकार कर लूं, मैं ऐसा शुद्ध ज्ञानज्योतिमात्र हू ऐसा अपने आपको मान ले फिर आप धर्मपालनकी दिशामे बढे, आपको धर्मकी सब बातोका विशुद्ध बोध होता जायेगा और उसका सही परिणमन होता जायगा । तो यहाँ यह निर्णय करना है कि मैं अपने स्वभावसे तद्रूप हू, परसे या किसी परभावसे तद्रूप नही हूँ । इस निर्णयके बलसे विकट व्यामोह अधकार दूर होता है और फलमे ज्ञानप्रकाश मिलता है ।

ज्ञानमात्र भगवान आत्मामें एकत्वशक्तिका प्रकाश—मै सबसे निराला, अमूर्त, ज्ञानमात्र हू, इन तीन विशेषणोमे इस अखण्ड आत्मतत्त्वका स्पष्ट अनुभव होनेकी पद्धति है, मै सबसे निराला हू, जगतमे जितने भी पदार्थ है—अनन्तानन्त जीव, मेरेको छोडकर अन्य सब जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असख्यात कालाणु इन सबसे निराला अमूर्त हू । मैं अपने आपमे जब रस गध आदिक रहित अपने स्वरूपको निरखूंगा तो उसमे ज्ञानज्योतिकी प्रतिष्ठा की जा सकेगी । जो ज्ञानमय पदार्थ है वह तो ज्योतिस्वरूप है, अमूर्त है । चैतन्यप्रतिभासरूप जो तत्त्व है वह वर्णादिमान नही हो सकता है । यो ज्ञानमात्र अपने को अनुभव करनेमे उस अखण्ड आत्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है । उसीकी प्रसिद्धिके लिए यहाँ अनन्त शक्तियोका वर्णन चल रहा है । मै अनन्त शक्तिमय हू । वे सब अनन्त शक्तियाँ मानो इस ज्ञानमात्र भावका साम्राज्य और इसकी प्रतिष्ठा बनानेके लिए है । परमार्थत आत्मा एकस्वभावरूप है । जिस प्रकार यह अनुभवमे आ सके वह पद्धति बनाना है । अनुभवमे आयेगा यह एक और स्वरूपसे, पर उस ही स्वरूपकी प्रसिद्धिके लिए अनन्त शक्तियोका वर्णन किया जाता है । उन अनन्त शक्तियोमे एक शक्ति है एकत्वशक्ति । एकत्वशक्ति उसे कहते है जो अनेक पर्यायोमे व्यापक हो, एक द्रव्यमय स्वरूपसे हो । आत्मा अनेक पर्यायोमे रहा और वर्तमानमे भी पर्यायमे रह रहा है, आगे भी पर्यायोमे रहेगा और समस्त पर्यायोमे व्यापक यह आत्मा एक द्रव्यरूप है । यह अनेक नही बन सका है और यह भी सूचना यह दे रहा है एकत्व शक्तिका वर्णन कि यह आत्मा अपनी पर्यायोमे ही व्यापक है, अन्यपर्यायमे व्यापक नही हो सकता ।

एकत्वशक्तिके एकान्ततः दुरुपयोगमें सर्वाद्वैतवादैकान्तकी निष्पत्ति—जो लोग एकत्व शक्तिका एकान्तत उपयोग करते है, एक है सब जगत, वह एक ही व्यापक है ऐसा कुछ भी एक मानते है, वह एकत्वशक्तिका एकान्त है, दुरुपयोग है और इस दुरुपयोगमे सर्वाद्वैतवादका जन्म हुआ है । सर्व एक ही है । यद्यपि कुछ दृष्टियाँ ऐसी है कि सर्वको हम

एक बता सकते है लेकिन जहाँ एक सत् बतानेका लक्ष्य कर लिया हो, एक वस्तु एक द्रव्य रूपमे एक माना जा रहा हो वहाँ वह सर्वका अद्वैत मानना, एक मानना मिथ्या हो जाता है। जगतमे जो कुछ भी है वह सत् है, सत्त्व तो सबमे है। सत्त्व सबमे समान है, लेकिन सत्त्व समान होते हुए भी सब एक है, इसका अर्थ है—एक समान है न कि एक हो गया। एक उसे कहते है जिसमे अर्थक्रिया हो, जिसका परिणमन हो और वह परिणमन जिस एकमे सर्वत्र हो। जो भी एक परिणमन हो वह उसमे सर्वप्रदेशोमे हो अन्यमे न हो उसे एक कहते है। इस एककी परिभाषाके अनुसार अब घटाइये सर्वाद्वैतमे कि कोई भी एक परिणमन क्या उन सबमे होता है जिससे कि सबको एक वस्तु कहा जा सके ? नही होता है। अन्तर भी दिखाई देता है। जीवका परिणमन उस ही जीवमे है, इन पुद्गल आदिकमे नही है, तब फिर कैसे सबको एक कह दिया जायेगा ? समानतासे जातिसे एक कहा जा सकता। जाति कोई तात्त्विक वस्तु नही है कि जिसमे वस्तुत द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व आदिक गुण पाये जायें। वस्तु तो उसे कहेगें जिसमे साधारण असाधारण गुण पाये जाते है। क्या जातिमे कोई गुण पाये जाते है ? क्या उसकी अर्थक्रिया होती है ? परिणमन होता है ? जैसे कह दिया कि वैश्यजाति, तो वैश्यजाति कोई वस्तु है क्या ? जितने भी वैश्य है उन सबको वैश्यत्व दृष्टिसे निरखे तो ऐसे एक धर्मको वैश्य जाति कहते है। जाति एक कोई स्वतत्र पदार्थ नही है कि जिसमे अर्थक्रिया होती हो। कोई काम करेगा तो व्यक्ति करेगा, जाति काम नही करती। हाँ अनेक व्यक्ति काम कर रहे हो तो उन अनेक व्यक्तियोका पर्यायवाची शब्द जाति रख लिया गया—देखो अमुक जाति काम कर रही है। तो जाति काम करेगी अथवा व्यक्ति ? व्यक्तिमे अर्थक्रिया होती है। तो सारे पदार्थों को एक अद्वैत ब्रह्म आदिक किसी भी शब्दसे कह देना और ऐसा मान लेना कि सब एक है, दूसरा कुछ नही है, यह एकत्वशक्तिके दुरुपयोगका फल है। एकत्वशक्ति सबको एक नही बताती है, किन्तु अपनी-अपनी पर्यायमे व्यापक होकर वह एक द्रव्यरूप है, इस बातको बताती है। विशिष्टाद्वैत और सर्वाद्वैत, इनमे अन्तर है। विशिष्टाद्वैतमे तो तथ्य है। जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने आपमे अद्वैतस्वरूप है। यह मै जीव हू, अपने आपमे अद्वैतस्वरूप हू तभी मेरी रक्षा है, मै कभी नष्ट नही हो सकता।

परमार्थदृष्टिसे आत्मतत्त्वको स्वीकार करनेपर कष्टका अभाव—भैया ! परमार्थ तत्त्व को देखिये मुझमे कोई कष्ट नही, कोई विपत्ति नही। अपने आपके उस एकत्वको सम्हाल लिया जाय, उसकी सम्हालके बाद भी फिर जीवपर कोई सकट रहता है क्या ? देखिये—पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकर पर कमठचर ज्योतिषी द्वारा उपसर्ग हुआ, उन्होने अपने एकत्वको सम्हाल लिया, तो क्या उन्हे कोई दुखका अनुभव हुआ ? कोई पूछे कि उनपर सकट क्यो

आया ? तो कहा जायगा कि उन्होने पूर्वजन्मोमे जो असावधानी बर्ती थी उससे परम्परासे चले आये हुए कर्मोदयसे वह सकट आया। लेकिन जब उन्होने अपने एकत्वकी सम्हाल बना ली तब फिर वह सकट उनके लिए कोई संकट न रहा। यहाँ अज्ञानी जनोने देखा कि हाय ! सुकौशल महाराजपर उनकी ही पूर्वभवकी माता शेरनी बनकर टूट पडी—भक्षण करने लगी, पजे मारने लगी। ओह ! कितना बड़ा सकट है इन सुकौशल महाराजपर । लेकिन उस सुकौशलकी आत्माको कोई देखे तो क्या उनके उपयोगमे कोई कष्ट हैं ? यह बात बहुत सरलतया समझमे आ सकती है। जैसे मानो आप किसी बच्चेसे बहुत प्रेम करते है, तो उस बच्चे पर अगर कोई कष्ट आ पडा तो आप उसके पीछे कितना विह्वल रहते है, दुखी रहते है, उसके कष्टमे आप अपनेपर कष्ट मानते हैं, लेकिन उसी बच्चेसे यदि किसी कारण आप दृष्टि फेर ले, आप उसके विरुद्ध हो जाये, आपको वह बच्चा न सुहाये, तो फिर उसके ऊपर कष्ट आनेपर आप स्वय कष्टका अनुभव नही करते है। इसी प्रकार समझिये ज्ञानी जीवको सर्व परवस्तुसे, विभावसे उपेक्षा हो गई है, अब बाह्यकी परिणतिसे वह क्या कष्ट मानेगा ?

अज्ञानमें संकटका अनुभव तथा अज्ञानके विलयमें संकटोंका विलय—अज्ञानियोको तो इस देहमे आत्मबुद्धि है। यह देह ही मैं हू, इससे ही मेरेको सुख है, इसके बिना मेरा जीवन क्या ? इससे ही मेरी जिन्दगी है। देखा ना लोग अब भी इस जीवनसे कितनी ममता लगाये हैं ? बहुतसे पुरुष धर्मकी बात करते है और यथाशक्ति धर्मका पालन करते है, पर भीतरसे यह तो विचारे वे कि मानो इसी समय आयुका क्षय हो रहा है, हमारा जीवन जा रहा है तो यह बात आपको अनिष्ट तो नही लगती। अनिष्ट तब तक लगेगी जब तक इस जीवनको ही अपना सर्वस्व प्राण समझा हो। यदि यह बात आ जाय कि मेरा आत्मा यह सर्वस्व मेरेमे ही है, मेरेसे बाहर नही जाता। मेरी इसमे अरक्षा क्या है ? यहाँसे चल दिया तो चल दिया, आयुका क्षय हो गया तो हो गया। जहाँ जाऊँगा वहाँ यह ही तो मैं रहूँगा। जो मैं नही हू वह न रहेगा। वह अब भी मेरा नही है। रही थोडी इतनी शल्य जैसी बात कि कुछ लोगोंमे परिचय है, इस ढगसे रहते है, अरे इसको क्या तरसना ? जहाँ जायेंगे, इससे भी अलौकिक अपूर्व समागम हो सकते है। इससे भी अधिक ऊँची इज्जत हो सकती है और फिर यह तो अँधेरा है। इस इज्जतमे उपयोग देना, इस समागममे उपयोग देना यह कितना अधिक व्यामोह है कि इतना बडा तो लोक पडा है, इतने तो पौद्गलिक पिण्ड पडे है, उनमे से जरासी जगहमे, जरासी चीजोमे मोह बसा लिया है। यह कितना बडा व्यामोह है ? अरे कितना छूट गया है ? और कितने पिण्ड, कितना क्षेत्र अभी बाकी रह गया है ? उसके सामने तो यह नगण्य है। हम सोचते है कि हम इन बाबू साहबको

बहुत जानते है, इन साहबसे मेरा बडा स्नेह है, ये हमसे हिलमिलकर रहते है। अरे ये सब स्नेह, ये सब मिलन, ये सभी समागम छूट जायेगे। और, छूटे हुए तो अब भी है। यहाँ कुछ तत्त्व नही है। हा यहा धर्मात्माजनोसे कुछ स्नेह रखना पड रहा है, उसका कारण है कि धर्मात्माजनोके बीच रहनेसे हमारा भाव शुद्ध रहेगा, विभावोकी ओर हमारी दृष्टि न जायगी, स्वभावकी ओर उन्मुख होनेकी वृत्ति रहेगी, इसलिए हम अपने वास्तविक स्वार्थसे कुछ परिचय बनाये हुए है लेकिन यह हमारा मूल आग्रह नही है। परिचय रहे तो, न रहे तो। उस आग्रहसे भी बनता क्या है ? बिछुडना तो पडता है। तो जहामे बिछुडना है, जो चीजें मेरेसे विघटेगी उनमे क्यो व्यामोह बनाना ? अपने स्वरूपको देखो—यदि स्वरूपकी धुन बनी है और उसे ही मै आपा निरख रहा हू तो ज्ञानके उपयोगमे रच भी क्लेश नही हो सकता। हू मै यह। मै जा रहा हू, मेरा कुछ था ही नही, मैं कुछ छोड ही नही रहा, ग्रहण किए होऊँ तब तो छोडूं।। रही परिचयकी बात, तो यह तो अधकार है, अज्ञान है, विकल्प है, झझट है। किसीसे मेरा कोई सम्बध नही। यह मै आत्मा अपनी दृष्टिमे बना रहू, यह तो मेरी मूल आकाक्षा है। चाहे कही रहू, इतनी बात मेरेमे बर्तती रहे, इसके आगे मेरी मूल आकाक्षा नही है। ऐसा भाव जिनका बना हो वे ही प्रसन्नता रख सकते है मरणके समयमे। ठीक है, जो मै हू, जो मेरा सर्वस्व है, जो मेरा स्वभाव है वह मेरा रच भी यहाँ नही छूट रहा। मै पूरे वैभवके साथ जा रहा हू। जिसने अपने आपके स्वरूपमे एकत्वका भान किया है, उस एकत्वसे लगाव लगाया है, उस शुद्ध द्रव्यमे आपाबुद्धि की है, उसे जगतमे सकट कहाँ है ?

विकल्परूप अपराधके अभावसे क्लेशोंका अभाव—यदि है सकट, यदि हो रहा है कोई क्लेश तो दूसरोपर अपराध मत मढो। अमुक यो चलता है इससे मुझे बडा क्लेश है। अरे अपराध देखिये अपने आपपर। मै स्वरूपसे चिगकर विकल्पोमे आ रहा हू इसलिए मुझे क्लेश है। इन क्लेशोको दूर करना है तो इन अपराधोको मेटनेका पौरुष करना है। मै न अपनाऊँ उन विकल्पोको। क्या है ? बाह्यपदार्थ है, जो जैसा चलता है, जिसका जो परिणमन है वह उसमे है। मै व्यर्थ ही परपदार्थोके प्रति अनेक प्रकारके विकल्प बनाकर अपने जीवनके दुर्लभ क्षणोको व्यर्थ ही खो रहा हू। हम आपको इतना श्रेष्ठ मन मिला है, पवित्र जैन शासन मिला है, सही ज्ञान जागृत हो जाय ऐसा क्षयोपशम भी प्राप्त हुआ है, इतने विशिष्ट ज्ञानानन्दको तजकर मै यहाँके कषायरूपी विषके रसमे पगू तो यह मेरे लिए कितने धिक्कारकी बात है। इन विकल्पोको छोडें, अपने आपके उस शुद्ध द्रव्यस्वरूपमे अपनेको लगायें। करनेका काम सर्वत्र यही है, सर्व कालोमे करनेका काम यही है। ऐसा नही है कि इस महीनेमे, इन दिनोमे तो अमुक काम कर लेने लायक है सो भी बात नही

है। करना पड़े वह बात और है, पर करने लायक अन्य काम नहीं है। इससे तो कैदीकी दृष्टि भली, जो सिपाहियोसे पिट रहा, चक्की भी पीस रहा, पर उसके चित्तमे यह बात बसी हुई है कि इसे मैं नही करना चाहता, ये मेरे करनेके काम नही है, करने पड रहे है, फिर भी उनसे हटा हुआ है। कैदी कोई ज्ञानी नही है किन्तु एक दृष्टिका अंशका दृष्टान्त दे रहे है कि वह इन कामोको करता हुआ भी उनसे हटा हुआ रहता है। और यहाँ यह कैदी क्या कर रहा है ? वहाँ तो प्रकल्पित कैदी है और यहाँ यह कर्मबन्धनका कैदी है। इस पर्यायबुद्धिका कैदी अज्ञान अपराधसे जो इस बडे संसारकी जेलमें आया है, यह कैदी इन सासारिक सुखोको जो कि बडे कष्टसे भोगे जा रहे है, जिनके भोगनेमे आकुलताये, क्षोभ भरे हुए है, पर उन सुखोको भोगनेमे यह प्राणी मौज मान रहा है। और ऐसा विश्वास किए बैठा है कि यह तो मेरे करनेका काम है, इससे ही मेरा बडप्पन है। अरे आत्मन् ! तूने अपने सत्य एकत्वको नही समझा है। अनेक पर्यायोमे व्यापक होकर भी यह कैसे एक द्रव्यस्वरूप है उस तथ्यको नही जाना, इसीसे कष्ट है। निर्विकल्प ज्ञानमात्र स्वको देखो, यहाँ कोई कष्ट नही है।

एकत्वदृष्टिमें दृश्य तत्त्व—आप बतलाओ—अभी यही एक अगुली है, अभी सीधी है, अब जरा टेढी कर दिया, अब जरा गोल कर दिया। तो इन सभी अवस्थाओमे होने वाली वह अगुली एक है कि अनेक ? ··एक है। जरा उस एक अगुलीको दिखा तो दीजिए। जो इन सब पर्यायोमे रहने वाली एक अगुली है उसे आप नही दिखा सकते। आप सीधी करके दिखा देगे तो हम कहेगे कि यह तो सीधी पर्यायमे व्यापक अंगुली दिखाया, हमे तो तो वह अगुली दिखाओ जो सीधी, टेढी, गोल आदि सभी पर्यायोमे एक व्यापक हो। तो आप नही दिखा सकते। पर उसे हम ज्ञानद्वारा जान सकते है, आप अब भी जान रहे हैं कि कोई एक वह विशुद्ध अंगुली है जो इन सब पर्यायोमे व्यापक है। अब चलो अपने आत्मा की बातमे। आत्मामे अनेक पर्यायें हो रही है, अनेक अवस्थायें बन रही है। उन सब अवस्थाओमे व्यापक जो एक शुद्ध आत्मद्रव्य है उस आत्मद्रव्यको बताइये—क्या है ? जिसे पर्यायरूपसे आप बतायेगे तो हम कहेगे कि यह नही है, जो अनेक पर्यायोमे व्यापक होकर भी एक द्रव्यमय है उसकी बात करो। आप किसी भी अवस्थाके रूपमे उसे नही बता सकते। ज्ञानमे आ रहा होगा, समझ रहे होगे तो यो अनेक द्रव्योमे व्यापक एक द्रव्यमय रूप होने की शक्तिको एकत्वशक्ति कहते है। इसमे यह बात समायी हुई है कि यह आत्मा अपनी ही अनेक पर्यायोमे व्यापक है। यह अलगसे समझानेकी बात नही है, इतनी प्रतिभासम्पन्न तो है ही पढने वाले, सुनने वाले, समझने वाले तो यहाँ बारबार बहुत खुलासा करनेकी आवश्यकता नही है। इस कारण इस शक्तिके लक्षणमे स्वकीय अनेक पर्यायोरूप ऐसा शब्द नही

बोला, अनेक पर्यायोमे व्यापक जो एक द्रव्यमयता रूप है वह है एकत्वशक्ति।

सर्वैकत्वके एकान्तमें आत्मत्वके निःसरणका प्रसङ्ग—जिसने इस एकत्वशक्तिका ऐसा आग्रह किया कि सबमे व्यापक अपनी अनेक पर्यायोमे, परकी अनेक पर्यायोमे सबमे व्यापक है ऐसा मानने वालेने स्व और पर उडा दिया। सबमे व्यापक है, सर्व एक है, यही हुआ सर्वाद्वैतवाद। जहाँ न कोई काम बन सकेगा, न अज्ञान अवस्थासे हटकर ज्ञान अवस्था मे आ सकेगे। कुछ भी प्रगति नही बन सकती। कभी कोई एक ऐसा विलक्षण कथन कहकर जो आश्चर्यमे डाले उसे यहाँ बताया जाय कि बडी सूक्ष्म बात है, जहाँ कुछ बात पकड मे ही न आये, समझमे ही न आये ऐसे अटपट बेढगे ढगमे किसीको आपतित कर दिया और उससे फिर अपनी दार्शनिकताको बताये, ऐसी पद्धति पहिले भी थी व आजकल चल रही है। केवल शब्दजाल है, और ऐसे ऐसे अनोखे विषयोकी ओर लोगोका ध्यान ले जाते जिससे लोगोको यह मालूम पडे कि यह तो कोई अपूर्व बात कही जा रही है, यह बात ऐसी है जो मानो ग्रन्थोमे कही आयी न हो, एक अनोखी बात है, जो आज तक न समझी हो, जो तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिमे न आयी हो, जिसको ऋषिसतोने कही कहा न हो। तो कभी ऐसा विषय बन जाता है कि मै इस ढगसे कहू कि जिससे लोग समझें कि यह कोई अलौकिक बात है। इसे तो अब तक कहा ही नही गया है। तो ऐसी एक मोहधारा चलती है। सर्वाद्वैतमे यह बात समायी हुई है। सर्व एक है और वह कूटस्थ अपरिणामी है। कभी दूसरोकी जीभको बद कर देनेका प्रयास किया जाता है। हो रहा है यहा जो वह तो एक स्वप्न जैसा देख रहे हो। जैसे—स्वप्नमे बडी-बडी क्रियाये नजर आती हो तो क्या वह सत्य है ? सत्य तो नही है। इसी तरह ज्ञानमे बसे हुए ऐसा नजर आ रहा है कि यह भी एक जीव है। यह परमाणु है, इसकी क्रिया है, इसका परिणमन है। लो यो बता करके उसका अज्ञान बता दिया जायगा, बोल बद कर दिया जायगा। तो यह तो एक शब्दोकी और बोलने कहनेकी एक ऐसी हठीली कला हुई, पर तत्त्व क्या है ? उसे तो यहा अनुभव बता देगा ? किसी झूठी बातका समर्थन करनेसे कोई मान न जायगा। और, कही बात हो रही है सर्वाद्वैतकी तो इसका प्रतिपादन होकर भी प्रतिपादन करने वालेका आत्मा मान नही पाता, उसकी अनुभूतिमे ही नही आता। नही अनुभूतिमे आता फिर भी रगडे ही चले जा रहे हैं उस ही एक बातको। तो यह तो एक पर्यायका स्वभाव हो गया, इस एकत्वशक्तिका जहा ऐसा स्वच्छन्द आग्रह किया जाय वहा आत्मतत्त्व ही निकल जाता है।

एकत्वशक्तिके विरोधैकान्तमें भी आत्मद्रव्यकी असिद्धिका प्रसङ्ग—अब अन्य विपरीत दिशाकी परख करें जो इस एकत्वशक्तिको माने ही नहीं, उसके विरुद्ध चले, अनेक पर्यायोमे व्यापक एक द्रव्य है—इसके विरुद्ध कोई यह कहे कि नही जी, जो अनेक है, जिसको तुमने

अभी समझा है, जिनमे तुम किसी एकको व्यापक करना चाहते हो वे सब अलग-अलग है, उनका स्वरूप अलग है। ज्ञानगुण—इसका स्वरूप और कुछ है, चारित्रशक्ति और कुछ है, संयोग—इसका स्वरूप और कुछ है। और सम्बध—जितनी जो बात समझमे आयी वह सब एक-एक चीज है। क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेप, सुख दुःख ये सब न्यारी न्यारी चीजें है, एक कहा है ? कोई एकत्वशक्तिका ऐसा विपरीत भाव ले कि ज्ञान, दर्शन, आनन्द सुख दुःख, रागद्वेप आदिक ये सारे अलग-अलग वस्तु है; स्वतत्र सत् है, अपना अपना अस्तित्व रखते हैं, आत्मा भी एक अलग पदार्थ है और ज्ञानका भी स्वरूप न्यारा है। यो एकत्वशक्तिके ऐसे विपरीत चले, इसी हठमे विशेपवादकी उत्पत्ति हुई। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष ये सब अलग-अलग पदार्थ हैं, ऐसे मिथ्या विशेषवादमे भी हित न ढूंढ सका जायगा और ऐसे एकत्वके आग्रहसे सर्वाद्वैतमे भी कोई हित न पाया जा सकेगा।

स्वकीय अनेक पर्यायोंमें व्यापक एकद्रव्यमयरूपमें अपनेको निहारनेमें सर्व विसंवादों का समाधान—मैं हूँ, अपनेमे अद्वैत हूँ। मेरेमे प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है, उन सब पर्यायोमे रहने वाला यह मैं एक द्रव्य हूँ। तभी तो मुझे जरूरी है कि अज्ञान पर्याय हटे, रागद्वेष मोह पर्याय दूर हो, वीतरागता आये, ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी अवस्था बने, क्योंकि मैं ही इस अज्ञानपर्यायमे रहता हुआ दुःखी हो रहा हूँ, संसारी बन रहा हूँ। इससे हटकर मुझे मुक्त होना है। मोक्षमार्ग इसी बुनियाद पर चलेगा, तव यह श्रद्धा बनेगी कि अनेक पर्यायोमें व्यापक मैं एक द्रव्य हू। मै अनेक नही हो गया। मेरी वे अवस्थायें है, अश हैं, क्रम-क्रमसे होने वाली अवस्थाये हैं। उनमे व्यापक यह मै एक द्रव्य हूँ। जिसको ऐसी एकत्व शक्तिकी श्रद्धा है उसे मोक्षमार्ग मिलता है और जो इसके विरुद्ध कुछ भी विशेष-वाद या सर्वाद्वैतवाद जैसी स्थितिमे आता है तो उसने अपने आपको खो दिया है। कहाँ ढूंढेगा अपनेको ? कही नही ढूँढ पायेगा। विशेपवादमे तो ढूंढनेका काम ही नही। सर्वाद्वैत-वादमे तो यह ढूँढ ही नही रहा अपनेको। अपनेको खो दिया, कोई सत्ता ही न रही। तो यो अपने आपमे निर्णय बनाना है कि अनेक पर्यायोमे व्यापक मै एक द्रव्य हूँ। वह एक क्या है ? विशुद्ध जो सत् है उसकी दृष्टि करना है। ऐसे ही ज्ञान द्वारा चलनेका अभ्यास बनायेंगे तो हमे उस एकत्वका भान होगा, जिसके प्रतापसे हम सर्वसंकटोसे मुक्त हो जायेंगे।

अनेकत्वशक्तिका विरूपण और निरूपण—आत्माकी अनन्त शक्तियोमे एक अनेकत्व शक्ति है, उसका स्वरूप है कि एक द्रव्यमे व्याप्य अनेकपर्यायमय रूपसे होना। आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है और उसमे प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। प्रतिसमयका परिणमन भी अखण्ड और परिपूर्ण है। उन समस्त पर्यायोमे यह आत्मा व्यापक है, तो इस आत्मामे वे

अनेक पर्यायें व्याप्य हैं। यहाँ उस अखण्ड एक द्रव्यकी सुध नही भूलती। एक उस द्रव्यकी सुध भूलकर कुछ दार्शनिकोंने यहाँ कोई त्रुटि की है। जो एक एक करके अनेक पर्याये है अथवा गुणदृष्टिसे अनन्त गुण हैं उनको ही वस्तु सर्वस्व मानकर द्रव्यस्वरूपसे विचलित हुए हैं। क्षणिकवाद विशेषवाद आदि अनेक वादोकी उत्पत्ति इस अनेकताके आग्रहमे हुई है। जीवद्रव्य एक है, शाश्वत है, उसमे प्रतिक्षण पर्यायें होती है। यहाँ उस एक एक पर्यायको ही सर्वस्व मान लिया गया तब वहाँ एक जीवद्रव्य न रहा। बल्कि क्षणिकवादका तो यह सिद्धान्त है कि जब तक आत्माके अस्तित्व की बात समझेंगे तब तक ससार है और जिस समय आत्माका अस्तित्व नही है यह ध्यानमे आयेगा तो निर्वाण हो जायेगा। 'यह बात उन्होने किस बलपर निकाला है कि जो प्रतिक्षण पर्यायें होती है बस द्रव्य तो वही एक है। जिसे कहते हैं चित्तक्षण। जिस समयका जो भाव है वह पूरा द्रव्य है। वह पहिले न था, आगे न रहेगा और इस दिशामे उनका सिद्धान्त बना कि जो लोग ऐसा समझते हैं कि आत्मा पहिले था, आगे है, शाश्वत है तो उनकी दृष्टि इतने विकल्पोमे पड गई। आगे पीछे का लगाव रखना पडा और उनका मोक्ष न होगा और जो ऐसा मानेंगे कि आत्मा कुछ नही है। जो चित्तक्षण है, समय समय की जो बात है वही सब है, जब इस पर दृष्टि दी जायेगी तो बस मैं तो वह था, अब नही हू तो उस मैं का लगाव सस्कार लम्बा न चलेगा। जब एक क्षणकी ही वस्तु मान ली गई तो उसका लगाव, सस्कार विस्तारको प्राप्त न होगा, उसका मोह दूर हो जायेगा, निर्वाण हो जायेगा। ऐसा एक हितका रास्ता भी दिखाया लेकिन जैसा जो वस्तुस्वरूप है उसके अनुकूल बुद्धि बनायी जाय, रास्ता बनाया जाय तो उसमे सफलता होती है। हाँ यह बात जरूर ठीक है कि आगे पीछेका जो अशुद्धपर्यायवान जीव है उसका लगाव रखनेसे हित न होगा और उसका ही लगाव क्या ? वर्तमानमे भी जो अशुद्ध है उसका लगाव रखनेसे कल्याण न होगा। तभी निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनामे यह बताया है कि जो जीव विभावसे निराला अपने आपको शुद्ध ज्ञानमात्र निरखता है उसके परमार्थत प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है और आलोचना है। पर जो अनेक पर्यायोमे व्यापकर रहने वाला एक जीवद्रव्य है उस जीवद्रव्यको कोई अशुद्ध अवस्थामे देखे तो उससे हितकी सिद्धि नही है।

केवल आत्मद्रव्यकी दृष्टिका प्रसाद—वह द्रव्य स्वय क्या है ? यहाँ शुद्ध अशुद्ध अवस्थाको निरखनेके लिए नही कहा जा रहा किन्तु वह एक द्रव्य जो इन पर्यायोमे रहने वाला है उस एक द्रव्य सामान्यको निरखा जाय तो वहा मोह बढनेकी क्या गुन्जाइश हैं ? जिस पर कि क्षणिकवादियोने यह बता दिया था कि आगे पीछे द्रव्यको माननेमे मोहको गुन्जाइश है। और जो एक सहज शुद्ध अपने द्रव्यमात्र केवल अपने एकत्वमे गत जो

आत्मद्रव्य है उसकी दृष्टिमे मोहका अवकाश नही है। तो यो अनेकता केवल कालकृत ही नही किन्तु भावकृत भी अनेकता क्षणिकवादमे मानी है।, जैसे रूप स्वय एक पदार्थ है रूपक्षण, रसक्षण, गंधक्षण, ये स्वयं एक-एक पदार्थ है। कोई मूर्तिवान एक द्रव्य हो उसमे ये गुण रहते हो ऐसा वहाँ सिद्धान्त नहीं है। इसको निरशवाद भी कहते है याने ऐसा अश तकना जिसका दूसरा अश न हो सके तो जब उस एक द्रव्यमे व्याप्य है ये अनेक पर्यायें, यह दृष्टि नही रहती है तो उन अनेकको एक एक स्वतत्र सत् माननेकी बुद्धि बन जाती है। तो यहाँ यह दृष्टि दिलाई जा रही है कि निरखे अपने आपमे कि मैं एक द्रव्यमे व्याप्य अनेक पर्यायमय हो रहा हूँ। यहाँ दृष्टिकी प्रधानता नही देनी है, किन्तु ये अनेक पर्याय उस एक द्रव्यमे व्याप्य है उसपर दृष्टि देना है। वह मै एक द्रव्य हू जिसमे ये अनेक पर्यायें व्याप जाती है। आत्मामे ज्ञानदर्शन आदिक अनेक गुण हैं। वे भी इस आत्मामे व्याप्य है और जो उनकी पर्यायें है वे भी इस आत्मामे व्याप्य है।

व्याप्य ज्ञानपर्यायकी अपने आधारकी जानकारीकी वृत्ति न होनेसे परोन्मुख हुई ज्ञानपर्यायसे हुए संकटका कथन—अब यहाँ देखिये जैसे ज्ञानपर्याय ज्ञानगुण आत्मामे व्याप्य है, जानते हैं हम, तो यह जो जानना चल रहा है, यह जो ज्ञानकी परिणति चल रही है यह ज्ञानकी परिणति कहा व्याप्य है? एक-आत्मद्रव्यमे व्याप्य है। यह ज्ञान पर्याय किस घरमे रह करके अपना जीवन रख रही है? सुरक्षित है, यह परिणति चल रही है वह घर कौनसा है? एक आत्मद्रव्य जिसमे व्याप रहा हो वही इसका निज गृह है, जहा इसका रक्षण है वह है कौन? ज्ञायकस्वभाव आत्मा। और यह ज्ञानपर्याय इस आत्मद्रव्यमे ही व्याप्य है। वहांसे ही यह वृत्ति चल रही है। तो यह ज्ञानपर्याय जहा अपना अस्तित्व रखता, रक्षण रखता, जहा वृत्ति चलती उस स्रोतका, उस निज घरका ज्ञान नही कर रहा है। और उस घरको छोडकर, उस स्रोतको न जानकर बाहरसे जहां कि इसका कोई आधार नहीं है उसमे यह लिपट रहा है। यह जीवपर सकट नहीं है क्या? संकट मान रखा है जीवने इन बाहरी पदार्थोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलताको निरखकर, लेकिन ये क्या सकट है? ये तो बाहरी पदार्थ है, ये कैसे ही परिणमे, वैसे ही रहें, मै तो इनसे निराला हू। सकट तो यह है कि मेरा उपयोग, मेरा यह ज्ञानपरिणमन जहां है, जिस घर मे बसता है, जो स्रोत है, जो आधार है उसको तो लखता नही, उसकी तो सुध लेता नही और जो घर नही है, ये परद्रव्य है, इनमे मेरा ज्ञानगुण है क्या? इनमे मेरी ज्ञानपरिणति है क्या? जो घर नही है, जो स्रोत नहीं है, जो आधार नहीं है, जिसके बलपर इस ज्ञान का जीवन नहीं है ऐसे इन बाहरी पदार्थोंमे यह उपयोग लगता है और मोहके संसर्गसे इस तरह जुट जाता है कि उनमे इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि होती है यह संकट है, इस लक्षण

से यह वोध हो जाय अगर कि यह ज्ञानपर्याय इस आत्मद्रव्यमे व्याप्त है, यह मुझ आत्म-द्रव्यमे व्याप्त है, इसका यह एक निजस्वरूप है, ज्ञानगुण ज्ञानशक्ति और इसका यह परिणमन है, बात मेरी सब कुछ यहा ही हो रही है। मै सारा सर्वस्व इतना मात्र हू। यही मै सर्व व हू, ऐसी जहा बुद्धि हो रही है, जहा इसका निवास हो रहा है इसका दर्शन, उसका लगाव, उसकी धुन, उसका चिन्तन यह हितके लिए है। और उस आधारको तज कर बाहरी पदार्थोंका लगाव यही तो ससारका कारण बन रहा है। जन्म मरणके संकट चल रहे है। अपने आपपर यदि वास्तविक करुणा उत्पन्न होती है, मुझ आत्माको तो अपनी विशुद्ध परिणतिमे रखना है और कृतकृत्य बनना है, सब रागद्वेपादिकके व्यर्थके श्रम दूर करना है। ऐसी यदि अपने आपमे करुणा जगी है तो यह काम करना होगा कि ज्ञानपरिणमनका जो आधार है, जहा यह रहता है, परिणमता है उस आत्मद्रव्यसे लगाव करता है, वहा सम्बन्ध जोडता है, उसकी उपासना करता है। यद्यपि यह ज्ञान ऐसा ही इस आत्मामे बस रहा है। ज्ञानमय आत्मा हो रहा है लेकिन उपासना नही की जा रही है, बस यह एक कमी है। हम पूर्ण है, सही है, सर्वशक्तिमय हैं, सब बात है लेकिन उपयोगने ऐसा परखा तो नही।

वर्तमान स्थितिमें अपनी जिम्मेदारी—अपनी बडी जिम्मेदारी है। यहा जितने भी पदार्थ है उन पदार्थोंमे यह जीव राजाकी तरह है। मगर इसपर जिम्मेदारी बहुत है। देखिये पुद्गलका परिणमन होता है। हो रहा है होने दो। उससे मेरा बिगाड क्या? उनके परिणमनसे हमारा कुछ नुकसान तो नही होता। पर यह जीवद्रव्य चूँकि सर्वद्रव्यो एक प्रधान राजा बना हुआ है, इसपर बडी जिम्मेदारी है, यह दुखी हो रहा है। कोई सर्वपर राज्यकी बात चाहे तो उसको दुखी होना पडता है। यह चाहता है कि मै इन पदार्थोंको यो परिणमाऊ, सो अनेक प्रकारके विकल्प मच रहे हैं, उसका फल क्या होता है कि कीडा पतिंगा, पेड पौधे आदिक अनेक खोटी योनियोमे जन्ममरण करना पडता है। बहुत जिम्मेदारीकी बात है। आज इस मनुष्यपर्यायमे है। बहुत कुछ करनेमे हम समर्थ हैं। अपना हित यहा बहुत कुछ कर सकते है, इतना श्रेष्ठ मन मिला है, वस्तुस्वरूपकी जानकारी की ओर चलें तो हम अपना हित भी कर सकते है और अहित भी बहुत कर सकते है यदि हम इन विषयकषायोमे अपने उपयोगको बनाये रहे तो। हमे अपने ऊपर बडी जिम्मेदारी अनुभव करना है और हर स्थितियोमे बराबर यही प्रेरणा लेना है कि इस जीवनमे मुझे केवल उस शुद्ध अतस्तत्त्वकी उपासनाका काम पडा हुआ है। वह अरहत सिद्ध प्रभुके ध्यान द्वारा करलें, अपने आपके सहजस्वभावके चिंतन, उपासना द्वारा करले। काम करने योग्य केवल यही एक शुद्ध ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वकी उपासना करना है। कौन

करेगा ? यही ज्ञान पर्याय। किसकी करना है ? इस ज्ञानमात्र अतस्तत्त्वकी। इसके अतिरिक्त कोई काम मेरे करने योग्य नहीं। हर स्थितियोमे अपने आपको ऐसा सम्बोधना है।

पदार्थके उत्पादव्यय ध्रौव्यस्वभावकी अनैमित्तिकता—एक द्रव्यमे अनेक पर्यायमय रूपसे हुई शक्तिका नाम अनेकत्वशक्ति है। अब यहा एक बातका और विचार कीजिए। पदार्थ होते हैं सत् तो सत् होनेके कारण उनमे यह स्वभाव है कि वह प्रतिक्षण नवीन स्थितिमे आये, पुरानी स्थिति विलीन करे और वह तत्त्व वह द्रव्य सदाकाल बना रहे, ऐसा उसमे स्वभाव है प्रत्येक पदार्थका। मै जीव हू तो मेरेमें भी यह स्वभाव है कि मैं प्रतिक्षण परिणमूं, नवीन परिणतिमे आऊँ, पुरानी परिणति विलीन करूँ और मै सदाकाल रहा करूँ। यह स्वभाव है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ स्वभावसे ही परिणमन करता है। यह मैं आत्मा भी सत् हू तो मै भी स्वभावत सत्त्वके कारण प्रतिक्षण परिणमता हू, नवीन अवस्थामे आता हू, पुरानी अवस्था विलीन करता हू और बना रहता हू। यह सत्का स्वभाव है, इस दृष्टिसे यह कहा जायेगा कि उत्पाद नैमित्तिक नही, व्यय नैमित्तिक नही, ध्रौव्य नैमित्तिक नही। इस प्रसगमे सोचा जा सकेगा कि कालद्रव्यका निमित्त पाकर सब द्रव्य परिणमते है। यहाँ तक कि एक आकाशद्रव्य जो अनन्तप्रदेशी है वह भी कालद्रव्यके निमित्तसे परिणम रहा है। कैसे ? शका हो सकती है कि कालद्रव्यके निमित्तसे लोकाकाश परिणम जाय तो परिणम जाय, क्योकि वहाँ कालद्रव्य है, किन्तु अलोकाकाशमे तो नही है। वहाँ क्या परिणमन हो जायेगा ? उत्तर—अलोकाकाश या लोकाकाश ऐसे कोई दो आकाश नही है कि ऐसी शका की जा सके। आकाश एक है, सत् है। जब सत् है तो निरन्तर परिणमता है। अब परिणमनमे निमित्त कालद्रव्य है, इसे मना न किया जायेगा। किन्तु लोकाकाशके प्रदेशपर स्थित कालद्रव्यके निमित्तसे उस आकाशका परिणमन हो रहा है, अखण्ड है इसलिए उसका सर्वप्रदेशोमे एक परिणमन हो रहा है। तो यो प्रत्येक पदार्थकी परिणतिमे कालद्रव्य निमित्त है, पर वह एक साधारण निमित्त है। उसमें व्यतिरेक की बात नही बनती। काल सदा है, परिणमन सदा चलता है। वहाँ कही हो, कही न हो ऐसी बात नही होती। कालद्रव्यके निमित्तसे पर्यायमे विशिष्टता नही बनती। वह तो परिणमन मात्रका साधक हो रहा है। अतः कालको इस चर्चामे नही रखे।

पर्यायकी अनैमित्तिकता तथा पर्यायमें हुई विशिष्टताकी नैमित्तिकताका मर्म—अब देखिये—प्रत्येक पदार्थमें स्वभावसे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप चल रहा है। अब कुछ विकार अवस्थाकी बात देखिये—विकार अवस्थामे भी जो जीव है वह सत्त्वके कारण निरन्तर उत्पादव्ययध्रौव्यमे तो रहेगा ही। अब होता क्या ? इस उत्पादव्ययमे विशिष्टता की बात

स्वभावत नही है। विशिष्टताका कारण तो उपाधि है। स्वभावसे तो उत्पाद व्ययका सम्बन्ध निर्मल पर्यायोसे है, जिनकी स्वभावसे एकता हुआ करती है। यह प्रत्येक पदार्थकी बात है, किन्तु जिन दो द्रव्योमे जीव और पुद्गलमे जो विभाव आते है समझिये विशिष्टता विभाव कहो, और इस जगह कहो विशिष्टता, विशिष्ट परिणमन है, उसकी स्वभावके साथ एकता नही है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, द्रव्य, सिद्ध भगवान आदिक जहाँ स्वभाव परिणमन है वहाँ तो अविशिष्ट परिणमन है। पूर्व पर्यायसे उत्तर पर्यायमे ऐसा परिवर्तन नही बताया जिससे विषमका ज्ञान हो। यद्यपि प्रति क्षण परिणतियाँ है, वे स्वभाव परिणतिया है, उन उनमे विषमताका बोध नही कराया जा सकता। तो अब सत्त्वके नाते पदार्थमे उत्पाद व्यय ध्रौव्य चल रहा है। स्वभावसे चल रहा है। अब जो विभाव बन रहा है, कर्म उपाधिके सन्निधानमे बन रहा है तो पर्यायमे विशिष्टता आये तब विश्लेषण करके यह कहा जा सकता कि पर्याय नैमित्तिक नही, किन्तु पर्यायमे हुई विशिष्टता नैमित्तिक है। यद्यपि यह पर्याय और विशिष्टता ये दो अलग अलग नही है। जब जीव रागद्वेषादिक विकारमय हो रहा है तो उसकी वह पर्याय उस प्रकार है किन्तु यहा सत्त्वके नाते उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर है ही। यहा यह भी बात समझना है। और, जो विषमता आयी है, रागादिक विकार आये है वे क्यो आये है ? उसका कारण भी समझना है। कारण तो यह है कि जो जीवकी अशुद्धता है और कर्म उपाधिका सन्निधान है और उसके सन्निधानमे इस प्रकार विकार बन रहा है तो चूँकि परिणमना तो था ही जीवको, क्योकि सत् है, परिणमे बिना रहता नही है, यह तो उसका अनादि अनन्त अकाट्य नियम है। जो सत् है वह परिणमता ही है। तो सत्त्वके नाते इसको परिणमना था, परिणमता है। षट्गुण हानिवृद्धि रूप परिणति निरन्तर चलती है लेकिन चूँकि यह विभाव योग्य जीव बँध जाता है, ऐसी विशिष्टता है तो उपाधिके सन्निधानमे उस सत्त्वके नाते परिणमते हुएके बीच यह विशिष्टता आती जाती है। ये विकार आना नैमित्तिक है, पर परिणमन मात्र तो सत्त्वके नाते पदार्थ मे चलता ही है, वह चल ही रहा है।

आत्मस्वभावकी विकारके साथ एकताका अभाव—तो यहा हमे यह जानना है कि जब एक द्रव्यमे व्याप्य अनेक पर्यायोको निरख रहे है तो उस एक द्रव्यको जिसे हमने देख पाया, समझ पाया, जो अनेक पर्यायोमे व्यापकर रहे, ऐसी समझे हुए एक परविविक्त शुद्ध द्रव्यमे पर्याय व्याप्य है। तो वह पर्याय है, अविशिष्ट ढगसे व्याप्य है। जो विकार चलता है वह भी चलता है, पर इन विकारोमे आत्मा व्याप नही रहा है। यहा जाना जा रहा है स्वभावदृष्टिसे और सत्त्वकी दृष्टिसे एक सामान्य आत्मा वह आत्मा त्रैकालिक है, शाश्वत् है। ये विकार क्षणिक हैं, हो रहे है। होते हुए भी चूँकि आत्माकी प्रसिद्धि किए जानेका

यह सम्बन्ध चल रहा है उसे किसी तरहसे निरखना है, ऐसे उस एक आत्मद्रव्यमे व्याप्त अनेक पर्यायें है। एक समयमे भी अनेक पर्यायें हैं और क्रमश भी अनेक पर्यायें है। जब जीवमे ये अनन्त शक्तियां समझी गयी है तो शक्तियां कोई परिणमनशून्य नही हुआ करती हैं। उनका परिणमन होगा, चाहे कभी विकार परिणमनमे आये, चाहे स्वभाव परिणमन मे। न विकार हो रहे हो, और विकार जैसी बातको ध्वनित करने वाले नामकी शक्तियाँ हों, नही विकार हो रहा तो स्वभावमे निष्क्रियता उस स्वभाव परिणतिमे है, शुद्ध आत्मामें है। तो शक्तियाँ सब परिणमती हैं। जब एक साथ एक जीवमे अनन्त शक्तियाँ समझी गयी तो उनका परिणमन भी है। तो अनन्त परिणमन एक साथ हो रहे है यह भी विदित हो रहा है, और वे पर्यायें क्रमसे होती है, सो अनन्त पर्यायें भी प्रतिक्षण हो हो कर अनन्त हुईं, अब दूसरी अनन्त हुई, अब तीसरी अनन्तपर्याय हुई, ऐसी भेददृष्टिमे अनन्तान्त पर्यायें है, अभेददृष्टिमे प्रतिक्षण अनन्त पर्यायें है, ऐसी अनन्तपर्यायोमे यह एक द्रव्य व्यापक है, और उस एक द्रव्यमे ये अनन्त पर्यायें व्याप्य है।

अनेक पर्यायोंमें व्यापक शुद्ध आत्मद्रव्यके अवलम्बनका प्रताप—यहाँ यह बात निरखना है कि ये सब पर्याय इस एक द्रव्यमे व्याप्य हैं। ये पर्यायें किसमे व्याप्य है? किसमे बन रही है, किसका व्यक्त रूप है? किसमे से इनका अभ्युदय हो रहा है? जो एक द्रव्य मे व्याप्य है उन पर्यायोको इसके सम्मुख किया जा रहा है। जहाँ दो का सम्बन्ध बताया जाता है, यह इसमे है, यह इसका है वहाँ दो की बात आती है ना, अनेक पर्यायें एक द्रव्य मे व्याप्य हैं। ये सब पर्यायें, ये सब शक्तियाँ जिस एकमे व्याप्य हैं उस एककी ओर दृष्टि गई। पर्यायें किसमे व्याप्य है उसकी ओर दृष्टि हो उस एक आत्मद्रव्यमे, जो अनादि अनन्त शाश्वत, सदाकाल रहता है। ऐसा ही तो द्रव्य देखा जाता कि जिसमे ये अनेक पर्यायें व्याप्त हो रही है। तो जब ऐसे उस एक शाश्वत द्रव्यको निरखा गया, ऐसी निरखमे सोचिये—कैसी परिणति बनेगी? निर्मल परिणाम होगा। शुद्ध परिणतियोकी उद्भूति होगी और उस सम्बन्धमे, योगमे ये कर्मकलक भी कटेंगे, इनकी भी निर्जरा होगी। सर्व कुछ जो हितके लिए हितकी बात है वह सब एक इस शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टिमें होने लगती है। शुद्ध आत्मद्रव्यका अर्थ यहा पर्यायशुद्ध नही किया जा रहा है, किन्तु जो केवल द्रव्य है जिसमे पर्यायें अनेक आती हैं और कोई पर्याय जमकर नही रहती हैं, तो जमकर नही रहती है तो इस संसारमे उन पर्यायोके रूपसे न निरखकर जिस एकमे ये सब पर्यायें चलती है उस एककी बात देखना है। जैसे कल कहा था कि एक अगुली, शुद्ध अंगुली इसे आप ज्ञानमे ले सकते हैं, पर उसे व्यक्त रूपमे क्या वतायेंगे, जो सीधी टेढी गोल आदिक सभी

अवस्थाओमे रहे। यह तो एक मोटी बात कह रहे है। वह एक द्रव्य जो सर्व अवस्थाओंमे रहे उस आत्मद्रव्यको ज्ञान द्वारा समझ लिया जायेगा। तो वहाँ जो कुछ समझा गया है आत्मद्रव्य ऐसा विशुद्ध केवल अपने स्वरूपमात्र, स्वभावमात्र हो, उसकी यहाँ ज्ञानमात्र भाव के रूपसे उपासना की गई है। यह मैं ज्ञानमात्र हू। ऐसे इस ज्ञानमात्र आत्मद्रव्यकी उपासना मे जो पर्याय व्याप्त होगी वे निर्मल पर्यायें व्याप्त होगी। हितके लिए हमे स्व और सहज स्व, परमार्थस्व उसकी बात निर्णयमे लानी होगी, जिसकी दृष्टिमे, जिसके आश्रयमे रहकर हम प्रसाद पायेगे और निराकुल रह सकेंगे।

भावशक्ति व अभावशक्तिसे वस्तुकी व्यवस्था—अपने उपयोगमे आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धिके लिए यह सब प्रयास चल रहा है। मैं अपने इस अखण्ड आत्मतत्त्वको जान लू और वैसा ही जानकर उसमे ही रमकर तृप्त रहू, ऐसा पुरुषार्थ ही ससारके संकटोंसे छूटने का उपाय है। तो मेरा ही सर्वस्व भगवान आत्मा मेरी दृष्टिमे कैसे प्रसिद्ध हो, मैं उसे कैसे परख सकूं, इसके लिए अनन्त शक्तियोका यहाँ वर्णन चल रहा है, जिससे यह परिचय मिलेगा कि यह मैं आत्मा ऐसी ऐसी शक्तियो वाला हूँ। इन शक्तियोके परिचयसे हमे जानना है उस एक विशुद्ध आत्माको। जिसका आलम्बन करके, जिसकी दृष्टिके बलसे हम कर्मसकटोसे छुटकारा पा लें। विशुद्ध आत्मतत्त्वके मायने केवल वह आत्मा, सहज-स्वरूप वाला आत्मा। विभिन्न विभिन्न स्थितियो की मुख्यतासे यहाँ नही परखना है, किन्तु सर्व अवस्थाओमे रहने वाला शाश्वत जो आत्मा है उसकी प्रसिद्धि करना है। इन अनन्त शक्तियोमे एक भावशक्ति है, भावशक्तिका अर्थ है कि आत्मामे जो परिणाम होते हैं उन ही रूप हो सकना, उस होने वाले परिणमनकी अवस्थारूप होना, यह है भावशक्ति। इससे यह विदित होगा कि आत्मामे जो वर्तमानमे है उस रूप होना है भूत भावी पर्यायें नही हैं। हो सकता है वही होता है, जो नही हो सकता वह नही होता है, जगतके अन्य अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य, समस्त परपदार्थोका जो कुछ हो रहा है, उनका जो परिणमन है। उन पदार्थोंके जो गुण आदिक हैं उन किसी रूप यह मैं नही हो सकता हू। मैं अपनेमे जो कुछ हूँ उस ही रूप रहूगा, अन्य रूप नही हो सकता। देखिये—इसी कारण तो पदार्थ आज तक सत् है ज्योके त्यो। जितने भी पदार्थ है अनन्तानन्त वे सब अनादिकालसे सत् है, अनन्तकाल तक ये रहेगे। इनमे से न कोई टूटेगा, न मिटेगा और न कोई असत् आ जायेगा। तो यह बात क्यो बनी हुई है ? इसी आधार पर कि जिसमे जो बात है वह उसके चतुष्टयसे ही है। कितना ही साकर्य आ जाय, कितने ही निमित्तनैमित्तिक भाव हो जायें, कैसे ही कारण कूट कलाप मिल जाये, कितने ही सम्बन्ध, सन्निकर्ष हो जायें, फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने ही

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपसे हो सकेगा, अन्यके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूपसे नही हो सकता। इसी बलपर ये समस्त पदार्थ अब तक सत् है। तो जो मुझमे हो सकता है उसही रूप होना ऐसी जिस सामर्थ्यमे बात पडी है उसे कहते है भावशक्ति।

भावशक्ति व अभावशक्तिके प्रतापका विश्लेषण—अब इसीको विशेषरूपसे निरखे तो मुझमे जो विद्यमान है उसही रूपमे हो रहा हू, जो मुझमे विद्यमान नही है उन रूप नही हो रहा हू। भावशक्ति आत्मामे है तो उसही के साथ अभावशक्ति भी है, जो नही हो रहा है या जो अन्य पदार्थ की अवस्था है वह यहाँ शून्य है। शून्य अवस्था रूप होनेका नाम है अभावशक्ति। मैं हू और मैं नही हू, मै भरपूर हू और पूरा शून्य हू। मैं अपने गुणोसे ही तो भरपूर हू, अन्यके गुणोसे खाली हू। यदि शून्यता न हो तो मेरा सत्त्व नही रह सकता है और भाव न हो तो भी मेरा सत्त्व नही रह सकता है। कही मैं सर्व परपदार्थोसे शून्य न रहा, किसी परपदार्थरूप हो गया तो मैं क्या रहा ? तो मैं परपदार्थोके गुणपर्यायो से शून्य हूँ और वर्तमानमे मेरेमे जो पर्यायें नही है, उत्पन्न हो गई है या भविष्यमे होगी उनसे भी इस कालमे शून्य हू। ऐसा यह मैं अपने आपके भवनसे हू और परके भवनसे नही हूँ। ऐसी अभावशक्ति सापेक्ष भाव शक्तिका काम हो रहा है। मैं हू, अपनी पर्यायमे हू, अन्यकी पर्यायसे नही हूँ। मेरेमे जो वर्तमान परिणमन है उस रूपसे हू, अन्यरूपसे नही हू। इस तरह यहाँ अपने आपके स्वरूपका निरखना भावशक्ति है। आत्मा ही क्या, सभी पदार्थोमे यह साधारण शक्ति है। सभी पदार्थोमे यह बात है, पर आत्माका यह प्रसग है इसलिए इसको आत्मामे लखा जा रहा है। यह मैं हू, सद्भावरूप हू, अभावरूप नही हूँ।

शून्यताके एकान्तका निषेध—आप यो चिन्तन लीजिए कि मानो कही निर्जन स्थान मे बहुतसे साधुजन बैठे हो, अनेक प्रकारके भाव वाले साधु बैठे हैं, उनमे किसी प्रमुख साधुका व्याख्यान चल रहा है अनेकान्त पद्धतिसे, स्याद्वादपद्धतिसे वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन चल रहा है तो अनेक धर्म बताये जा रहे है, आत्मा है, आत्मा नही है, आत्मा एक है, आत्मा अनेक है, नित्य है, अनित्य है। और और भी अनेक बाते व्याख्यानमें आ रही हैं, सुनने वाले सब सुन रहे है, कुछ ऐसे भी गहन विषय वहाँ भाषणमे चल रहे हों कि आत्मा के उस शुद्धस्वभावमे, सहज स्वभावमे अनेक धर्म है इस आत्मामे, पर ऐसी दृष्टिमे वह वर्णन हो रहा है कि जहाँ यह विदित हो कि अनेकान्तका जो यह अर्थ है कि जहाँ एकका अन्त नही है, एक भी धर्म नही है, ऐसी भी तो प्ररूपणाये चलती है। ऐसा भी तो सहज स्वाभाविक स्थितिका वर्णन चलता है तो यों अनेक वर्णन सुननेके बाद जब बहुत सी बाते सुना तो किसीके चित्तमे यह भी आ सकता है कि यहाँ तो ऐसा लगता है कि कुछ नही है। शून्यकी भी बात तो तथ्यभूत है, आत्मामे आत्माका वह सहजस्वभाव निरख

कर भी तो सुना—उस आत्मामे कर्म नही, शरीर नही, विकार नही, कोई भेद भी नही। शक्तिया जो बतायी जा रही है वे शक्तिया भी नही हैं ऐसा भी तो किसी दृष्टिमे प्रपरूण होता है। शक्तिया नही तो गुण भी नही, भेद नही। इसे कहते है प्रतिषेधगम्य तत्त्व। इस पद्धतिका वर्णन चल रहा हो तो उसको सुनकर किसीके चित्तमे यह भी आ सकता है कि तत्त्व तो यही है कि कुछ नही है, शून्य है। देखिये—ये किसी बात पर टिक भी तो न सके, अभी एक कह रहे, अब अनेक कह रहे, नित्य कह रहे, अनित्य कह रहे, भरपूर कह रहे, शून्य कह रहे। इन शक्तियोमे भी तो यही बताया जा रहा है कि आत्मा अपनेमे भरपूर है। यह है भावशक्ति। आत्मा शून्य अवस्थामे है यह है अभावशक्ति। है ना शून्य। इसमे कोई पर नही है, स्वभावमे कोई विकार नही है, कैसा सूना निरखा जा रहा है? जैसे भरपूरता, परिपूर्णताकी दृष्टि रखकर आत्माको निरखनेमे जो आनन्द और तृप्ति आ सकती है ऐसे ही शून्यताको निरखकर भी आत्मामे आनन्द और तृप्ति आ सकती है। शून्य हो, ऐसी शून्यतामे अपनेको वह निर्भार अनुभव कर सकता है। वह भी तो एक तथ्य है। किसीने यहा आग्रह किया कि हा ठीक है, शून्य है, कुछ नही है। कुछ मिलता तो नही। जो रागादिक की बात चलती है वह भी बात स्वरूपमे नही टिकती। वह भी नही है। अगर कोई शक्तियो की बात निरखता तो वह भी नही जमती है। वह समझानेके लिए बता रहे है कि यह तो सब समझाने के लिए बात है। यो निरखकर कोई शून्यताका भी एकान्त कर सकता है, सो नही। भावशक्ति, अभावक्ति, इनका परस्परमे विरुद्धस्वरूप है, फिर भी ये दोनो ही एक साथ आत्मामे रह रहे है। आत्मा अपने गुणपर्यायसे भावरूप है तो परके गुण पर्यायरूपसे या अविद्यमान पर्यायरूपसे यह शून्यरूप है। इस तरह परिपूर्ण होना, शून्य होना दोनोमे यह आत्मतत्त्व एक साथ रहता है।

आत्मतत्त्वकी परिपूर्णता व शून्यता—यह आत्मा है भरपूर यो है कि जैसे कुछ दार्शनिक कहते है—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है— एक ब्रह्मके विषयमे, आत्माके विषयमे इसको लगाओ—जैसा कि और दार्शनिकोने कहा है योग्य दृष्टि लगाकर अपने आपमे घटाया जा सकता है। यह पूर्ण है, जिसकी चर्चा हो रही है वह जब सामने आ रहा है। ब्रह्मकी, आत्मतत्त्वकी चर्चाके विषयमे आये हुए पदार्थ प्रत्यक्षगत कहलाते है और उसके सम्बधमे "यह" का प्रयोग चलता है और फिर उसी वस्तुका जब उसके स्थानपर निरखकर बोलते हैं तो उसमे "वह" का प्रयोग चलता है। "यह" पूर्ण है, "वह" पूर्ण है, और पूर्णसे पूर्ण ही निकलता है। यह सिद्धान्त है यद्यपि अन्य दार्शनिकोका, लेकिन दृष्टिसे अपने आपमे इस बात को ला सकते है। यह आत्मा पूर्ण है, और पूर्णसे क्या निकलता है? पूर्ण ही निकलता है। देखिये भेद करके बात समझी जाती है। तो वह भी पूरी बात निकल रही है। गर्भग

की बात समझायी जा रही है कि इस आत्मासे पर्याय निकलती है तो कोई पर्याय अधूरी नही निकलती है। जिस कालमे जो परिणमन है वह पूर्ण है। तो इस पूर्ण ब्रह्मसे, पूर्ण आत्मासे वह परिपूर्ण ही निकली। जो व्यक्ति हुई, जो अवस्था हुई वह इस तरह नही बन रही है कि आधी पहिले बनी, आधी पीछे। आधा कुछ नही होता। आधा तो कल्पनाकी बात है। जैसे आधा रुपया, यह तो एक कल्पित बात है। जो मुद्रा अपने एकत्वको लिए हुए हो, जिससे छोटा कोई सिक्का न होता हो, जैसे आजकलका नया पैसा या पहिले जमानेकी दमडी, रुपया आदि मुद्रायें भी कोई एक एक मुद्रा नही है। क्या उनका आधा नही किया जा सकता ? तो जो एक होगा उसका कभी आधा नही किया जा सकता। जैसे एक है पुद्गल अणु, उसका आधा हो सकता है क्या ? यह चौकी जो एक दिख रही है वह कोई एक द्रव्य है क्या ? वह तो अनन्त परमाणुओका पुञ्ज है। उसमे अनेक हिस्से हो सकते है। जब उसके टुकड़े हो जायें तो उससे जानना चाहिए कि वह अनेक चीजोका समूह था अब बिखर गया है, पर एकका कभी टुकडा नही हुआ करता। जो एक अणु है उसका टुकडा क्या ? जो एक जीव है उसका टुकडा क्या ? जो एक सत् है उसका अंश कुछ नही होता। उसका जो अश किया जाता है वह सद्रूप अश नही बनता, किन्तु वह सदश कहलाता है। एक आत्मामे गुणोके परिचय किए जा रहे है, तो वे कोई गुण सत् नही हैं कि वे स्वय गुण सत् हों और उनमे सद्द्रव्य लक्षण पाया जाय, उत्पादव्ययध्रौव्य सत् पाया जाय, गुणपर्ययवद् द्रव्य पाया जाय, ऐसी स्वतन्त्रतासे बात पायी जाय, ऐसी बात वहाँ नही है। तो जो एक सत् है उसके अंश न होगे। तो यह सत्की बात है, मगर सत्में जो पर्याय बन रही है, और जिस समय जो पर्याय बन रही है वह पर्याय अपनेमें परिपूर्ण है। जिस क्षणमे राग है, उसीको तो क्षणिकवादी जन क्षणिक पदार्थ कहते है। एक क्षण मे जो बात हुई वह सम्पूर्ण पदार्थ है, वह पदार्थ उतना ही है उससे पहिले वाला नही है। उससे आगे वाला नही है। वह परिपूर्ण है। तो क्षणिकवादियोने भी तो क्षणमे माना, मगर उसे परिपूर्ण माना, अधूरा नहो। तो पर्याय भी जिस क्षणमे जो होती वह अधूरी नही, तब क्या कि इस पूर्ण आत्मा से वह पूर्ण निकला है तिस पर भी वह पूर्ण है ? पूर्ण से पूर्ण निकल गया, पूर्ण निकल रहा है, निकलता रहेगा पूर्ण, अर्थात् पर्यायें होती रहेगी, फिर भी यह पूर्णका पूर्ण ही रहता है। भला पूरेमे से पूरा निकाल दो तो शून्य बचना चाहिए। एकमे से एक निकाल दिया तो शून्य हो गया। यह शून्य नही होता है, यह दृष्टि है उनकी। अपने आत्मतत्त्वमे भी यही दृष्टि लगाइये। यह आत्मा परिपूर्ण है, भरपूर है, भावशक्तिमय है। और इस भावशक्तिमय आत्मतत्त्वसे यह ही उत्पन्न होता रहता है जो इसमे होना रहता है। जो इसमे होता है, जो नही होता है, वह इसमे नही होता। उसके

रूपसे यह शून्य है। जैसे वर्ण, रस, गध, स्पर्शरूप ये नही हो सकते है। तो उस ओर से यह शून्यावस्थ है अर्थात् शून्यमे ही अवस्थित है। परकी गुणपर्यायोसे सूना, वर्तमानमें हो रही बात, उससे भी भरपूर है आगे पीछेकी बातसे सूना। ऐसा शून्य भी हो और भरपूर भी हो यह परिचय मिला इन शक्तियोसे।

भावशक्ति व अभावशक्तिके परिचयका भेदविज्ञानमें अपूर्व सहयोग—इन शक्तियोके यथार्थ परिचयसे अपने आपमे प्रभाव क्या पडता है, क्या पडना चाहिए ? वह प्रभाव है मोहका ध्वस्त होना। देखो भैया ! अज्ञानमे कितने सकट लगा रखे हैं। लेन देन नही, सम्बन्ध नही, अत्यन्त अभाव है, मैं मैं ही हू, मैं अन्य कुछ तो नही हो सकता। मै सत् हू और इसी कारण सत् हू कि मै अपने सिवाय समस्त परमे शून्य हू। मैं सूना हू। सूना व्यवहारमे इसीको कहते हैं। घरमे अकेले रह रहे हैं। मानलो घरके कई लोग तीर्थयात्रा मे चले आयें तो लोग कहते हैं कि मेरा घर सूना हो गया, पर कहाँ सूना हो गया ? घरका मुखिया तो अभी घरमे बैठा है। तो शून्य हैं, इसका अर्थ है कि उसके सिवाय और कोई नही। मानो सभी लोग तो घरमे हो, पर जो घरमे सबसे अधिक इष्ट हो उसका मरण हो जाय तो लोग कहते हैं कि मेरा तो घर सूना हो गया, पर कहाँ सूना हो गया ? असली ढगसे सूनापन यदि अपनेको विदित हो जाय तो उद्धार हो जाय। इन इष्ट अनिष्ट बुद्धि वाले पदार्थोंका हम हिसाब लगाकर अपनेको सूना समझते है। अरे यथार्थ सूना समझ लीजिए कि कैसा सूना ? मैं मेरे सिवाय अन्य सर्व पदार्थोंसे सूना हूं। मुझमें अन्य कुछ नही है। वर्तमानमे अनेक एक क्षेत्रावगाही है, कर्म भी है, शरीर भी है। अनेक परमाणु है, और जहाँ बिराजे है वहा धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदिक हैं। कभी भी ऐसा नही किया जा सकता कि मैं ऐसी जगह पहुच जाऊ जहाँ केवल मैं ही रहू और कोई चीज न हो ? अष्टकर्मोसे रहित हो गए, सिद्धभगवान हो गए वे भी क्या ऐसी जगह पहुच सके जहा और कुछ न हो। केवल वे ही हो। वे भी नही पहुच सके। जहा लोकमे सिद्धप्रभु बिराज रहे हैं वहा पर भी अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, धर्म, अधर्म और असख्यात कालद्रव्य वहा पर भी पडे हुए है। कहा जायें ? कहा भागे ? ऐसी कौन सी जगह हमे मिल सकेगी जहा केवल मैं ही होऊ ? एक अलोकाकाश बचता है, सो अलोकाकाशमे इसकी गति नही है। और, कल्पना करो अलोकाकाशमे भी पहुच गया, असम्भव बात है, लेकिन वहा भी आकाश तो है ही। मैं अकेला रह सकू ऐसी कोई जगह है दुनियामे ? नही है। मगर दृष्टिका एक ऐसा प्रताप है कि उसके दृष्टिबलसे अपनेको ऐसी जगह अनुभव कर लूंगा, ऐसा निरख लूंगा कि जहा मैं ही हूँ, अन्य कोई नही। बाहरी दृष्टिमे सब है, उससे मैं अलग कही रह नही सकता हूँ, लेकिन देखिये तो स्वरूपको। मेरेमे मैं ही हूँ या मेरेमे अन्य कुछ

भी नही है। स्वरूपको तो निरखिये—जैसे एक एक पाव दूध पानी परस्परमे मिला दिए जाये तो वहाँ वे ऐसा घनिष्ट मिल जाते है कि वहाँ इस तरहसे नही मालूम हो पाता कि आधे गिलासमे तो दूध भरा है और आधेमे पानी। वे मिलकर एकमेक हो जाते है, इतनेपर भी उनके सूक्ष्म स्कधोपर नजर डाले तो पता पडेगा कि ओह! दूध अलग है और पानी अलग है। दूधमे पानी नही, पानीमे दूध नही। और, इसकी परीक्षा भी यत्रद्वारा या प्रयोग विधिसे कर लेते है। उसको अग्निमें गर्म कर दिया जाय तो जल तो भाप बनकर उड जाता है और केवल दूध रह जाता है। तो वहाँ पता पड जाता है कि देखो दूधमे दूध है और पानीमे पानी था। तो यही सर्व द्रव्योकी बात है। यहा संकर हो रहा है। हम अकेले कही नही रह पाते हैं, इतने पर भी हम अकेले ही है, अकेलेमे ही है। मेरेमे ही मैं हू, मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश नही है, अन्यथा जगत शून्य हो जायेगा, कुछ भी न रहेगा। मेरेमे मैं ही हू, मेरेमे अन्य कुछ नही। शून्य निरखिये तो ऐसा उत्कृष्ट शून्य निरखिये कि मेरेमे अन्य कुछ नही है। जब इस दृष्टिसे अपने आपको निहारा तो सोच लो यह भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दके स्वभाव वाला है।

अज्ञानमें जीवकी दुर्दशा—जिसके अन्त अनुपम अनन्त निधि पडी हुई है ऐसा यह भगवान आत्मा अपनी इस शून्यताको न जाननेके कारण, कि मैं यो सर्वपरसे शून्य हू, इसका परिचय न होनेके कारण यह अपनी भरपूरताकी दृष्टिसे तो निराला अलग हो गया। तब जैसे मछली अपने घर जलको छोडकर किसी तरह बाहर पहुच जाय, कोई दूसरा फेंक दे तो वह तफडती है इसी तरह यह जीव अपने स्रोतको छोडकर, अपने उस ज्ञानदर्शन परिपूर्ण स्वभावको छोडकर, न निरखकर बाहरमे जब यह अपना उपयोग बनाये तो न जाने क्या क्या विडम्बनाये बनती हैं? किन्ही जीवोको मान लिया कि ये मेरे पिता, भाई, स्त्री, पुत्रादिक है, यह मानना लग तो रहा है बडा सस्ता, इसमे जोर क्या पडता है? और, उन्हे अपना कुछ मान मानकर उनके बीजमे मौज भी मान रहे है। बडा अच्छा भी लग रहा है, लेकिन यह मौज मानना लग तो रहा है बडा सस्ता मगर यह महगा कितना है? यह तो इस जीवकी जन्ममरणकी परम्परा बढाते रहनेमे ही कारण बनेगा। जब पूछा जाय कि आपको ये कीडा मकौडा पतिगा, लट, केचुवा आदि बनना इष्ट है क्या? तो आपका उत्तर शायद यही होगा कि हमे तो ऐसा बनना इष्ट नही है। अरे नही पसद है तो हुआ क्या, करोगे क्या? अगर यही स्वच्छंदताकी वृत्ति रही, अपने आपकी सावधानी न बर्ती तो फिर होगा क्या? इन्ही योनियोमें तो जन्म लेना पडेगा जो आजकी सामर्थ्यमे बड़ा सस्ता लग रहा है, मान रहे है कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरी अमुक है—यो उनमे घुलमिल भी रहे है, उन्हीको अपना सर्वस्व समझ रहे है, तो ऐसा सोचनेमे, समझनेमे यद्यपि एकभाव भर

बनाया है, लेकिन यह सस्ता भाव इतना महगा पडता है कि कीडा मकोडा, गधा, कुत्ता, सूकर, मुर्गा मुर्गी आदिक योनियोमे जन्म मरण करके घोर कष्ट सहने पडते हैं। यहा तक कि नरक निगोद आदिक महा खोटी गतियोमे जन्म लेकर घोर दुःख सहन करने पडते हैं। यह एक कितना बडा बन्धन है ?

प्राप्त अवसरसे लाभ उठानेका संदेश—आज हम आप मनुष्य हुए हैं, सोचने समझनेकी शक्ति मिली है, विवेक बल है, सर्व ऋद्धि समृद्धियोमे सम्पन्नता विदित हो रही है। तो सामर्थ्य है ना ? इस सामर्थ्यका हमे सदुपयोग करना चाहिए, न कि दुरुपयोग। आज हम आपको पर्याप्त वैभव भी मिला है, इन्द्रियोकी परिपूर्णता है, पवित्र जैन शासन भी मिला हुआ है, तो इस पायी हुई सामर्थ्यका हमे सदुपयोग करना है, दुरुपयोग नही। दुरुपयोग क्या है ? राग, द्वेष, मोहके कचडेमे लगा देना यह है अपनी सामर्थ्यका दुरुपयोग। और मैं इन सबमे शून्य हू। ऐसी शून्यताकी दृष्टि रखना और उसही के साथ जो अविनाभावी बात है। मैं जिसरूप हू, सत् हू, उस गुणसे, उस शक्तिसे अपनेको भरपूर समझना, ऐसी बात ज्ञानमे हो, उपयोगमे हो और उसके ही अनुसार हमारी वृत्ति बने तो समझिये कि हमने यह अपनी सामर्थ्यका सदुपयोग किया है, कर रहे हैं। तो कर्तव्य तो यह है। धन तो यही पडा रह जायेगा, कुटुम्ब सारा यही पडा रह जायेगा। बन्दा तो यहाँसे मरण करके अन्यत्र कही जन्म ले लेगा। इससे इन धन वैभव परिजन आदिकके ममत्वसे कुछ भी पूरा न पडेगा। पर अन्त अपने आपके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि विकसित हो गयी तो उससे मेरा पूरा पडेगा। तो इन शक्तियोके यथार्थ परिचयसे हम मोहको ध्वस्त करें और अपने आपमे अपनी धुन बनायें।

भावशक्तिके यथार्थ परिचयका प्रताप--ज्ञानमात्र आत्मामे हो रही अवस्थापनेकी शक्तिको भावशक्ति कहते हैं। आत्मा शाश्वत है उसमे प्रतिक्षण कोई न कोई अवस्था रहती है। यह आत्माका स्वभाव है, सत्ताका हेतुभूत है। इस शक्तिके प्रतापसे आत्मामे सहज ही प्रतिक्षण पर्यायका अभ्युदय होता है, उस पर्यायको हम किसी अन्यकी तो पर्याय कह ही नहीं सकते और यह भी नही कह सकते कि इस आत्मभावको किसी अन्य पदार्थने किया है। यहा तो यह भी बात नही है कि आत्मामे भावशक्तिके प्रतापसे होते रहने वाला भाव किसी अन्य कारणसे हुआ है। यहाँ ज्ञानमात्र आत्माकी प्रसिद्धि करनेके लिये ज्ञानमात्रभाव मे अन्त उछलती हुई अनन्त शक्तियोका परिचय कराया जा रहा है। शुद्ध आत्मद्रव्यके परिचयके लिये बताई हुई शक्तियोकी शुद्धता, केवलता और उसकी स्वनिमित्तिक परिणति निरखनी होगी। आत्मशक्तियाँ कोई भी आत्मवस्तुके बिगाडके लिये विकारके लिये नही हैं। शक्तियोका स्वभाव विकार हो तो फिर कल्याणमार्ग ही समाप्त हो जावेगा। आत्मामे

भावशक्तिके प्रतापसे पर्याय होगा आत्मस्वभावके अनुरूप। अब बाहरकी बातका समाधान करना है तो देखिये विकाररूप विशिष्टता आती है तो इस विशिष्टताका कारण आत्मा नही, शक्ति नही, वह तो आधारभूमि है, कारण तो विशिष्ट कर्म उपाधि है। औपाधिक भाव मुझ आत्माका स्वभाव नही, मेरे केवल आत्मोसे (परउपाधिसन्निधान बिना) हुआ भाव नही, मेरा भाव नही। भावशक्तिके प्रतापसे प्रतिक्षण भाव होता रहता है ऐसे भावको जहाँ से भाव हुआ है उस आत्मद्रव्यके सन्मुख करके जो भव्य जीव भाव व भाववानका अभेद उपयोग करता है उसका भाव निर्मल भाव होता है और ऐसे निर्मल भावोकी परम्परा पूर्ण निर्मल भावकी साधक हो जाती है।

भावशक्ति व अभावशक्तिकी स्वीकारतामें विकल्पविपदाओंके विलयका अवसर-- भावशक्ति न मानी जावे आत्मामे तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्मामे कोई पर्याय नही है। तो पर्यायकी शून्यता क्या हुई आत्मद्रव्यका ही अभाव हो गया। तथा अभावशक्ति न मानी जावे आत्मामे तो इसका अर्थ हुआ कि भूत भविष्यकी पर्यायोका वर्तमानमे, एक ही क्षणमे सद्भाव हो गया तो बताओ आत्मा क्या सत्त्व रहा, क्या अनुभव रहा, कोई व्यवस्था ही नही रह सकती है। आत्मामे प्रतिक्षण एक वर्तमान पर्याय होती है और तब भूत व भविष्यकी सर्व पर्यायोका अभाव है। इस प्रकार प्रतिक्षण व्यवस्था बनी हुई है। ऐसी जब वस्तुस्थिति है तब हमे इस वस्तुपरिचय व हितलाभके प्रसङ्गमे बुद्धिको प्रवास नही कराना है। यही हम निरखें हममे वर्तमान पर्यायमात्र है भूत भावी पर्याय यहाँ नही हैं सो पूर्वकी व भविष्यकी अनन्त पर्यायोमे बुद्धिको सफर करानेकी आवश्यकता नही है। यहां ही इस भावको देखे परखे, वर्तमान पर्यायको उसके आधारभूत अपादानभूत आत्मद्रव्यकी सुध लें और यह वर्तमान पर्याय इस चैतन्यस्वरूप अखण्ड आत्मद्रव्यसे प्रकट हुई है, यो इस पर्यायको द्रव्यसे मुक्त करके द्रव्यस्वभावके उपयोगके बलसे सहज विश्राम पाये और निर्मलता व निराकुलताका अनुभव करे। भावशक्ति और अभावशक्तिको जिसने स्व कर लिया है उसके भाव स्वके भाव होगे जिनके होनेपर विकल्प विपदाये दूर होती है व कर्मक्षय होता है।

भावशक्ति व अभावशक्तिके परिचयसे सत्कार्यवादके प्रतिषेधकी सुगम्यता— भूतावस्थत्वरूप अर्थात् हुई अवस्थारूप शक्तिको भावशक्ति कहते है। इस भावशक्तिके प्रतापसे आत्मा प्रतिक्षण वर्तमान पर्यायरूप है। उसमे भूत व भविष्यकी पर्याय अविद्यमान है। इस बातकी और दृढ पुष्टि अभावशक्तिका परिचय करा देता है। अभावशक्तिका अर्थ है शून्यावस्थत्वरूप होनेकी शक्ति। भूत व भविष्यकी अवस्थाओसे शून्य रहना इस शक्तिका प्रताप है। जो दार्शनिक भावशक्ति व अभावशक्तिको स्वीकार न करके द्रव्यमे भूत भावि

मान समस्त पर्यायोका सदाकाल रहना मानते हैं वे यद्यपि अभी बताये जाने वाले प्रश्नका समाधान करनेकी कोशिश तो करते है किन्तु उस समाधानको निभा नही सकते हैं। प्रश्न यह होता है कि जब जब सभी पर्यायें एक साथ द्रव्यमे हैं तो उसमे प्रतिनियत क्राम कैसे हो सकता है ? समाधान उनका यह होता है कि वे सभी पर्यायें तिरोभूत हैं और कारणकूट मिलनेपर उनमे से एक एक पर्याय आविर्भूत होती रहती है। लेकिन यह आवृत अनावृत वाला समाधान प्रमाणकी कसौटीपर टिकता नही है। जैसे घडा, चौकी, बक्स वगैरह बहुत से पदार्थोंपर पर्दा डाल दिया जावे और पर्दा उघाडें तो एक ही चीज क्यो दिखें अनेको दिख जावें, यो एक पर्याय क्यो प्रकट हो अनेको पर्यायें प्रगट हो जावें। दूसरा प्रसङ्ग यह आता है कि पर्याय चाहे क्रमसे प्रकट हो, किन्तु विद्यमान तो द्रव्यमे सभी पर्यायें एक साथ मानी तो द्रव्य रहा क्या ? और इस तरह कार्यकारणविधान सब समाप्त हो जावेगा, तथा व्यवहार प्रक्रिया भी समाप्त हो जावेगी। इस सत्कार्यवादके निरसनकी वात दार्शनिक ग्रन्थो मे विस्तारपूर्वक बताई है यहाँ अधिक कहनेका अवसर नही। साराश यह है कि कार्य माने बिना व्यवस्थ नही देखा जाता है कि कुम्हार दण्ड चक्र आदिके प्रयोगका निमित्त पाकर मिट्टीमे योग्य मिट्टीमे घडा पर्यायका उत्पाद होता है। यो ही आत्मामे कारणकूटका निमित्त पाकर पर्यायका उत्पाद होता है। इस प्रसङ्गमे यह वात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यहाँ ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धिके लिये शक्तियोका वर्णन चल रहा है। शक्तियाँ आत्मरूप हैं। आत्मा स्वभावमात्र है उसमे भावशक्तिके प्रतापसे स्वका भवन होता है और उस परिणमनमे वहाँ कालद्रव्य निमित्तमात्र है। भावशक्तिकी विकारावस्थत्वकी मर्जी न होनेपर भी अर्थात् स्वभाव न होनेपर भी अशुद्ध अवस्थामे जो कारणकूटके सन्निधानमे विकारभाव होता है उसका आत्मामे स्वभाव नही, और उस विकारकी दृष्टिसे आत्माकी प्रसिद्धि नही, अत विकार पर्याय यहा चर्चरणीय नही है। यहा यह निर्णय करना कि आत्मा प्रतिक्षण वर्तमान एक एक पर्यायसे वर्तता रहता है। उसमे उस समय भूत व भविष्यकी पर्याय नही है। ऐसा होनेमे वस्तुत कालद्रव्य या अन्य द्रव्य उसके उत्पादक नही, कारण नही, यह भी परमार्थ दृष्टिसे निर्णय कर लेना चाहिये।

आत्माकी पर्यायवर्तमानतामें अन्य पदार्थका अनधिकार—आत्मामे विद्यमान अवस्थाका भवन है ऐसी आत्मामे भावशक्ति है। इस अवस्थाके होनेमे आत्मा ही व्यापता है अन्य किसी भी पदार्थका प्रवेश नही, वह किसी अन्यके कारणसे नही, किन्तु आत्मामे एक भावशक्ति है उसके प्रतापसे स्वरसत अवस्था हुई है, अन्य द्रव्य निमित्तमात्र है, उसके द्रव्य क्षेत्र काल भावका यहा अधिकार नही है। अन्य द्रव्यमे निमित्तत्वका सहज योग है। निमित्त को पाकर उपादान स्वय अपने प्रभाव वाला होता है, परिणममान द्रव्यका ऐसा ही स्वभाव

है। आत्मामे जो पर्याय विद्यमान है वह निमित्तके कारणसे नही, किन्तु अपनी भावशक्तिके प्रतापसे है। आत्मवस्तुकी ऐसी स्वतन्त्रताका परिचय विद्यमान पर्यायको आत्मद्रव्यसन्मुख कर देता है। और, जो पर्याय पर्यायव्यापक शुद्ध आत्मद्रव्यको निरख रहा है उसमे निर्मलताकी परिणति उछलने लगती है। भावशक्तिका परिचय ऐसी स्वतन्त्रताको दर्शाता हुआ अपने शक्तिमान आत्मद्रव्यको संकटोसे छुटकारा दिला देता है। आत्माके वर्तमान भावका निष्पादक अन्य द्रव्य नही है। अन्य द्रव्यका आत्मभावमे अधिकार ही नही है, केवल निमित्त होने का अर्थ यह है कि जिसका जीवविभावके साथ अन्वयव्यतिरेक तो हो, पर साथ ही यह वात भी है कि उसका आत्मपदार्थमे अत्यन्ताभाव ही है। आत्मामे वर्तमान भवन भावशक्ति के प्रतापसे निरन्तर चलता रहता है। उसमे न निमित्तका प्रवेश है और न भूत व भावी पर्यायका प्रवेश है।

सत्य भावोंकी वर्तमानताकी धारायें परमकल्याणका लाभ——ज्ञानमय आत्मामे वर्तमान अवस्थामयरूप होनेकी शक्ति है और अवर्तमान अवस्थामय न होनेकी शक्ति है। यदि आत्मामे वर्तमान अवस्थामयता न मानी जावे तो इसका अर्थ है आत्मा पर्यायशून्य हो गया। जो पर्यायशून्य हो वह सत् नही हो सकता है, यो आत्माका अभाव ही हो गया तथा आत्मा को अवर्तमान याने भूत व भावी अवस्थामय मान लिया जावे तो वडी विडम्बना होगी—कोई आत्मा सिद्ध हो गया वहा भी सारी भूत पर्याये रह गईं तो वह सिद्ध कैसा ? अथवा वह रहा क्या ? अपनी भी वात सोचिये——मिथ्यात्व पर्यायसे हटकर सम्यक्त्वपर्यायमे आ गये और वहा भी भूत मिथ्यात्व पर्याय रहे तो सम्यक्त्व कैसा व उद्धार कैसा ? अथवा रहा क्या सम्यक्त्व या मिथ्यात्व ?

हे आत्मन् ! तू अपने उद्धारमे शका मत कर। तू जव जैसे वर्तमान पर्यायमे आता है तव उस वर्तमान अवस्थामय है वहा भूत व भावी पर्याय अवर्तमान है। वस्तुस्वातन्त्र्य निरखकर पर व परभावसे उपेक्षा करके स्वात्मसन्मुख उपयोगके वलसे मोहका विध्वस कर सम्यक्त्वमय होगा तो वहा मिथ्यात्व रह ही नही सकता और सम्यक्चारित्र पर्याय निर्मल निर्मल रूपसे वर्तमान हो होकर जव अनन्तज्ञानात्मक परमात्मत्व प्रकट होगा वहां कोई भी भूत पर्याय, संसरणपर्याय, विकार रह ही नही सकता। वर्तमान पर्यायका रहनेरूप भाव और अवर्तमान पर्यायके न रहनेरूप अभाव हो, ऐसी दोनो शक्तिया याने भावशक्ति व अभावशक्ति एक ही साथ आत्मामे है। यो जो शुद्ध भावशक्ति व अभावशक्तिकी प्रतीति करता है, परशून्य व भावशक्तिसे होने वाले भवनके अतिरिक्त अन्य भवनोंसे शून्य वर्तमान पर्यायके शरण्य आत्मद्रव्यकी प्रतीति करता है उसे अखण्ड आत्मज्योतिका अनुभव होता है। हम अपनी साधनामे आयें, पर व भूत भावी दशाका विकल्प छोड़कर, मात्र क्षणमात्र वर्तमान पर्याय

का सहज सयत परिचय पाकर, उसके फलमे पर्यायमात्रके विकल्पसे हटकर आत्मद्रव्यका आश्रय पायें। इस ही सहज अन्तस्तत्त्वकी अभेदोपासनासे सहज ज्ञानानन्दमय निर्मल पावन वर्तमान होता रहेगा। यही परिपूर्ण, कृतकृत्य, निराकुल, परमकल्याणमय ऐश्वर्य है।

आत्मामें भावाभावशक्तिका निरूपण—आत्मद्रव्यमे भावाभावशक्ति है इसका वर्णन आज किया जा रहा है। भावाभाव शक्तिका अर्थ है होती हुई पर्यायका व्यय होना, ऐसी शक्तिका नाम है भावाभावशक्ति अर्थात् भावका अभाव कर देनेकी शक्तिका नाम है भावाभावशक्ति। पहिले उत्पादव्ययध्रुवत्व शक्ति आयी, जिसका अर्थ था कि पदार्थमे उत्पाद व्यय और ध्रुवता होना यह उसमे स्वभाव है, तो इस शक्तिका भी अर्थ व्ययमे तो आ गया लेकिन उस शक्तिको त्रिभावात्मकरूपमे वर्णित किया गया था। यहाँ भावमे अभावरूप अर्थात् व्ययरूप शक्तिका वर्णन किया जा रहा है। पदार्थमे यदि भावका अभाव न हो तो तो विडम्बना ही तो बनेगी। पदार्थका सत्त्व जब है तब पदार्थमे जो वर्तमान पर्याय होती है उसका अगले क्षणोमे अभाव हो जायगा तभी परिणमन बनेगा और तभी सत्त्वस्वरूप बन सकेगा और वैसी विडम्बना भी देख लो—ऐसी भी कोई हठ करे कोई कि भावाभाव शक्ति नही है जीवमे अर्थात् जो वर्तमान परिणमन है उसका अभाव हो ऐसी बात नही है तो फिर इसके आगे वह कहता जाय कि इसमे नवीन पर्यायें होती है, उनका निषेध तो कर नही रहे और निषेध करते इस ही बातका कि भावका अभाव नही होता। जो वर्तमानमे हालत है वह नही मिटती तो इसकी विडम्बना क्या होगी? आज अशुद्ध अवस्थामे जीव है और उसके सम्यक्त्व, शुक्ल ध्यान हो जाये व केवलज्ञान भी हो जाय, पर अशुद्ध अवस्थाका अभाव न होगा तो फिर क्या स्थिति होगी? क्या ये अनेक पर्यायें एक साथ रह जावेंगी? नही। नवीन पर्यायका सद्भाव भावके अभावपूर्वक ही होता है। इस कारण से भावाभावशक्ति अपना काम करती है और अभावभावशक्ति अपना काम करती है। इस ही मे इस ही के साथ अभावभावशक्ति भी जुडी हुई है। जो पर्याय वर्तमानमे नही है उस पर्यायका भाव होना, देखिये—नही है वर्तमानमे ऐसा तो भूतकी भी पर्याय है, भविष्यकी भी पर्याय है, मगर भूतकी पर्याय तो भावरूप हो चुकी, वह तो नही आनेकी। केवल एक भविष्यकी पर्याय जो अभी अभावरूप है वही भावरूप होगी। इस कारण अभावभावशक्तिमे भविष्यकी पर्यायका भाव भाव होनेकी बात है। प्रत्येक पदार्थमे ये दोनो बाते होती रहती हैं। मिट्टीके पिण्डसे घडा होना, घडेका फूटकर खपरियाँ बना तो अब घडेकी स्थितिमे खपरियोका अभाव है। और, जब खपरियाँ बन जाती है तो होता क्या है, वहाँ दो बातें देख लीजिए—भावका तो अभाव हो गया, घडेरूप पर्यायका तो अभाव हो गया और अभावका भाव हो गया, खपरियाँ न थी उसका सद्भाव हो गया तो यो दोनो बातें एक साथ होती हैं और

शक्तिया भी एक ही साथ है। तो पूर्व पर्यायका व्यय होना, उत्तर पर्यायका उत्पाद होना, यह बात भावके अभावकी बात और अभावमे भावकी बातको स्पष्ट कर रही है।

स्याद्वादके द्वेषमें वस्तुव्यवस्थाकी अशक्यता—जो लोग किसी एक हठमे आ गए है मान लो—भावका अभाव नही होता, ऐसा जिसने मान लिया है ऐसे दार्शनिक व्यक्ति पर्याय की बातको न कह सकेंगे, क्योकि वह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। प्रत्यक्ष ज्ञात है यह बात कि जो वर्तमान व्यक्त अवस्था है उसका अभाव हो गया। तब वह उस भावको किसी ऐसे आशयमे ले जाता है कि जहा उसकी परिणति भी न बतायी जा सके और फिर भी कुछ है उसके अन्दर ऐसा संकेत किया जा रहा हो, जो अपरिणामीकी तरह है उसका अभाव नही होता। ठीक है पर उसके साथ जो यह बात भी बतायी जाती है कि वहा ज्ञान और आनन्द ये बातें मौजूद हैं तो ज्ञान और आनन्द ये ब्रह्ममे मौजूद है और उनका कोई व्यक्तरूप न हो वह स्पष्ट कैसे होगा? और यदि व्यक्त रूप है तो उसमे उसका विरोधीरूप नही हो सकता, फिर सर्वाद्वैत कैसे रहा? मानो ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तो यह कहना चाहिए कि अज्ञानस्वरूप नही है और अज्ञानस्वरूप भी कई चीजें पायी जा रही है तब कैसे वह सर्वाद्वैत रहा? ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है पर अज्ञानस्वरूप नही है, जो अज्ञानस्वरूप है वह ब्रह्म नही है। लो स्याद्वाद की नीतिसे तत्त्व आ गया। स्याद्वाद नीतिका तो कोई अपलाप कर ही नही सकता है। उसके साथ ही प्रतिपक्षी बात बसी हुई है। मैं सच बोलता हू इसके साथ यह बात बसी हुई है कि मैं असत्य नही बोलता हू। जीव नित्य है इसके साथ यह भी बात बसी हुई है कि जीव अनित्य नही है। अब दृष्टि लगा लीजिए अथवा नित्य नही हैं यह दृष्टि लगा लीजिए। द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, पर्यायदृष्टिसे नित्य नही है, द्रव्यदृष्टिसे अनित्य नही है, पर्यायदृष्टि से नित्य नही है ऐसी दृष्टिसे इन सब धर्मोको लगाना चाहिए। कोई भी बात बोली जाय तो उसके साथ ही वहां ७ भङ्ग हो जाते है। स्याद्वादकी सप्तभङ्गिता ऐसी अनिवार्य है। आप कुछ भी जबान हिलायेंगे वह आपका प्रस्तावित धर्म है और उसके विरुद्ध याने जो बात नही है वह भी उसके साथ जुडी हुई है। जैसे जीव नित्य है यह एक प्रस्तावित धर्म हुआ। उसके साथ यह भी जुडा हुआ है कि जैसे कहा कि द्रव्यदृष्टिसे नित्य है तो उसके साथ यह भी जुडा हुआ है कि पर्यायदृष्टिसे नित्य नही है। अथवा यो कह लीजिए कि द्रव्यदृष्टिसे अनित्य नही है। कुछ भी कहो उसमे प्रतिपक्षता है ही। जब दो बाते सामने आती है तो दोनो बातोको एक साथ नही कहा जा सकता। इसलिए ज्ञानमे तो आ रहा और वचनके अगोचर है ऐसा वह तत्त्व भी सामने है तब तीनो बातें अपने आप आयेगी। जहाँ तीन स्वतत्र बाते आ गई तो उनका जब मेल करेंगे तो चार बाते और हो ही जाती है, ऐसा नियम है। तीन बातें जैसे मान लो—खानेकी कोई तीन चीजें रखी हो

नमक, मिर्च, खटाई तो उन तीनो चीजोका अलग-अलग भी स्वाद लिया जा सकता है। और अगर मेल करके स्वाद लिया जायगा तो चार स्वाद और उसके बनते है। जैसे नमक मिर्च मिलाकर स्वाद लिया, नमक खटाई मिलाकर स्वाद लिया, मिर्च खटाई मिलाकर स्वाद लिया और नमक, मिर्च, खटाई तीनो मिलाकर स्वाद लिया। तो अब ये ७ बातें हो गयी तीनके होने पर। यहाँ इस प्रकरणमे तीन बाते यो बन जायेंगी कि एक प्रस्तावित धर्म, दूसरा प्रतिपक्ष धर्म और तीसरा अवक्तव्य धर्म और इनके मेलसे ४ संयोगी धर्म। साराश यह है स्याद्वादसे द्वेष करके वस्तु व्यवस्था न हो सकेगी।

आत्मामें भावाभावशक्ति व अभावभावशक्तिका प्रकाश—जीवमे ये अनन्त शक्तियाँ हैं, उन अनन्त शक्तियोकी दृष्टिसे ये अनेक भङ्गात्मक पदार्थ नजर आते हैं। यहाँ दो शक्तिया बता रहे हैं—भावका अभाव करना और अभावका भाव करना। भावका अभाव होता है। यदि कोई ऐसा भाव माने कि जिसका अभाव नही होता तो उसका स्वरूप नही सिद्ध होता। ब्रह्मका भाव ज्ञान माना, आनन्द माना, भाव आनन्द मानने पर जो समय-समयपर ज्ञानकी बात बन रही है तो बनना तब ही तो बनेगा कि जो बन रहा है उसका अभाव हुआ और नया बनना वहाँ आया। जो स्वभाव परिणमन होता है, जिसमे विषमता नही है वहा पर भी भावका अभाव और अभावका भाव निरन्तर चलता रहता है। जैसे सिद्ध भगवानका केवलज्ञान। केवलज्ञानका अर्थ है ऐसा ज्ञान जो त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोको जान रहा है। भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ जान गये। और, देखिये सर्व कुछ जितना पहिले समयमे जाना वह सर्व कुछ उतना ही दूसरे समयमे जाना जा रहा है। यहा कोई ऐसा सोच सकता है कि बात ठीक तो है। वही जाना, दूसरे समयमे काम वही किया, कोई नया काम नही किया। लेकिन यह बात नही है, समान कार्य हुआ, पर नया कार्य हुआ। पहिले समयमे उतना ही जाना था, मगर वह पहिले समयकी शक्तिके प्रतापसे जाना था। दूसरे समयमे वही जाना, मगर दूसरे समयकी शक्तिवलके प्रतापसे दूसरे समयमे जाना।

निर्मल पर्यायकी संततियोंमें भावाभाव व अभावभाव होते रहनेका दृष्टान्तपूर्वक कथन—इस बातको कुछ मोटे दृष्टान्तसे लेना चाहो तो यो ले लीजिए—एक पुरुष ५ सेर वजनका कोई बोझ हाथ पर रखे हुए अपने हाथको ऊँचे उठाये हुए है। हाथपर रखे हुए है और इस तरहका वह काम ५ मिनटसे कर रहा है तो वहा क्या यह कहा जा सकेगा कि यह पुरुष ५ मिनटसे वही एक काम कर रहा है? मोटेरूपमे तो कह देगे, पर प्रतिसमयमे वह अपनी शक्तिका प्रयोग कर रहा है। पहिले सेकेण्डमे अपनी शक्तिके प्रयोगसे उसको सभाले हुए है, दूसरे सेकेण्डमे पहिले ही प्रयोगसे नही संभाले हुए है किन्तु वहा नवीन शक्ति प्रयोग

होता है और उसके आधार पर संभाले हुए है। तो ५ मिनटके जितने सेकेण्ड है उन सब सेकेण्डोमे नवीन नवीन शक्तिके प्रयोगसे वह नवीन-नवीन काम कर रहा है। यह मोटे रूप मे कहा जाता है कि वही काम तो कर रहा है। और भी देख लीजिए, विद्युत् प्रयोग होता है, बिजली जल रही है, एक सी जल रही है। लोग सोचते है कि यह बल्ब आध घटेसे जैसाका तैसा ही जल रहा है, पर ऐसी बात नही है, वह प्रतिसमय अपना नया-नया काम कर रहा है। यह बात समझमे आ जाती है अन्यथा वहां यंत्रमे मीटर न बढे। नवीन शक्ति प्रयोग चल रहा है। तो शुद्ध अवस्थामे केवलज्ञान द्वारा प्रतिसमय जानता रहता है, वही सर्व जानता, और कुछ कहासे आयेगा ? जो जाना वही अब जाना जा रहा है लेकिन प्रति समय नवीन ज्ञानपरिणतिसे जाना जा रहा है और उन निर्मल पर्यायोंकी संततियोमें यह बात बराबर प्रतिसमय बन रही कि भावका अभाव हो रहा और अभावका भाव हो रहा। और, अर्थपर्यायको भी निरखे तो वहा भी यही बात प्रतिसमय हो रही है भावका अभाव और अभावका भाव। अर्थपर्याय कहते है उसे कि वस्तुमे अगुरुलघुत्व गुणके ही कारण जो षट्गुण हानि वृद्धि रूप परिणमन है वह अर्थपर्याय है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदिक सभीमे यह अर्थपर्याय है। अर्थपर्याय न हो तो अस्तित्व ही क्या है ? वह अर्थपर्याय सूक्ष्म है, वचनो द्वारा नही कही जा सकती। सिद्धान्तमे भी स्पष्ट बताया है, वह केवलज्ञान गम्य है, पर युक्तियाँ बताती है कि एक पर्यायके बाद जो दूसरी पर्याय आती है वह एक बडा काम है, नवीन काम है। इस नवीन काम होनेके समय वहा एक उथल पुथल है और वह उथल पुथल जो स्थूल हो तो हमारे ध्यानमे आ जाती है और स्थूल नही है तो हमारे ध्यानमे नही आती। तो कितनी ही सूक्ष्म उथल पुथल है वह एक पर्यायके बाद दूसरी पर्याय आना, उथल पुथल कितनी ही सूक्ष्म हो फिर भी वह अनन्त गुण वृद्धि, असख्यात गुणवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, ऐसे ही संख्यात भागवृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, अनन्तभागवृद्धि तथा छहों ही हानि, यो कितने ही उथलपुथलरूप है, जिसे हम सूक्ष्म कहते हैं। तो ऐसी पर्यायमे भी काम वही हो रहा है—भावका अभाव, अभाव का भाव।

शुद्ध अशुद्ध सभी जीवोंमें प्रतिक्षण भावाभाव व अभावभावका दिग्दर्शन—जीवमे भावका अभाव और अभावका भाव प्रतिसमय चलता है। इससे हम एक प्रेरणा ले सकते—जैसे कोई सोचता हो कि मैं बडा पापी हूँ, अज्ञानी हूं, मेरेमे कुछ समझ ही नही है, मेरी प्रकृति बुरी हो गयी है, कहाँ मेरा उद्धार हो सकता है ? उद्धार तो वड़े पुरुषोका होता है। अरे ये शक्तियाँ समझा रही हैं कि रे आत्मन् ! तेरा इस समय जो परिणमन है उसका व्यय हो जायगा, और देख—यदि इस ढगसे समझा जाय कि जो वर्तमान पर्याय है उसका अभाव

हुआ, अभाव कहाँ हुआ ? और जो इस समय नही है, भविष्यमें कुछ होनेका है उसका भाव हुआ। वह भाव कहाँ हुआ ? यदि कुछ अन्तर्दृष्टिसे उसके उस स्रोत और आधारको जाने तब यह विदित होगा कि मेरेमे जो पर्याय नही है उस पर्यायका जो सद्भाव होगा वह मेरे इस पदार्थमे होगा, इस द्रव्यमे होगा, जब इस तरह अभावके भावकी बात ध्यानमे आती है तो वहाँ यह निर्णय तो हो ही गया कि मेरे किसी भी पर्यायका भाव सद्-भाव परिणमन किसी अन्य पदार्थमे न होगा। मेरी पर्यायका भाव-अभावका किसी अन्य पदार्थसे निकल कर न होगा, क्योकि वह जो भाव हुआ है वह मेरा परिणमन है, मेरी दशा है, वह मेरेसे प्रकट हुई है, मेरेमे प्रकट हुई है। और, ऐसा है ही। आत्मामे भावका अभाव हो रहा, अभावका भाव हो रहा, इन दोनो बातोका आधार दूसरा पदार्थ नही है। यह स्वय है। यह बात इसमे हो रही है। जब एक वस्तुको निरखा जा रहा है दृष्टिकी बात है। जिस समय जिस दृष्टिसे वस्तुके निरखनेकी बात चल रही हो उस समय उस दृष्टिमे जब निरखा जा रहा तो क्या विषय होता ? उस पद्धतिसे यहाँ भी देखियेगा। भावशक्ति मुझ आत्मामे है, भावाभावशक्ति मुझ आत्मामे है, जो वर्तमानका परिणमन है उसका अभाव हो जाना, यह स्वभाव है उसका। वह दूसरे क्षण न ठहरेगा। पदार्थमे ऐसा स्वभाव ही है, उसमे तर्क नही उठाया जा सकता और अनुभवगम्य है, प्रत्यक्षगोचर है, उसको मना नही किया जा सकता। जो होता है उसका व्यय हो जाता है। जहाँ यह बात न भी मालूम पडे तो न मालूम पडे मोटेरूपसे, मगर वस्तु वहाँ प्रतिक्षणके भावका अगले क्षणमे अभाव होता जा रहा है।

वस्तुतः सर्वपदार्थोंमें प्रतिक्षण भावाभाव व अभावभावका वर्तन—यो तो सभी चीजें हमे दिख रही हैं और ऐसा लग रहा है कि देखो यह मदिर तो कई वर्षोंसे बना हुआ है और वैसाका ही वैसा है। जैसा बना था वैसाका वैसा ही खडा है, यहाँ तो भावका अभाव कुछ समझमे न आया, लेकिन आप यह तो बतलाओ कि यही भवन जब १०-२०-५० वर्ष बाद पुराना हो जायगा, रग आदि सबका परिवर्तन हो जायगा, कुछ कमजोर भी हो जायगा, एक नवीन परिणति आयगी तो क्या वह परिणति उस ५० वें वर्षके अन्तिम दिन ही आ गई ? क्या ४९ वर्ष ११ महीने और २९ दिन तक उसमे कुछ भी परिणति नही हुई ? अरे वह तो प्रति वर्ष अपना परिणमन कर रहा था, अपना रग बदल रहा था। अच्छा उतने वर्षोंकी बात तो जाने दो——एक वर्षके अन्दर ही क्या ११ महीने और २९ दिन उसका कुछ भी परिणमन हुआ था, अतिम दिन ही वह सारा परिणमन उस रूप हो गया ? अरे उसका वह परिणमन प्रतिदिन हो रहा था। दिनकी तो बात जाने दो, प्रति घटे, प्रति मिनट, प्रति सेकेण्ड और प्रति समय उसका परिणमन हो रहा था, यदि प्रति समय

उसका परिणमन न होता तो वह उस रूपमे कभी परिणम ही न सकता था। तो कुछ ध्यानमें आया ना ? मोटेरूपसे वह सूक्ष्म बात ध्यानमे नही आ रही। और भी देखिये, जब कोई एक बालक ८-९ वर्षका हो जाता है तो उसमे वृद्धि भी होती है, पुष्टता भी होती है, चतुराई भी आती है। सभी बातें वहा बदली हुई नजर आती है। तो जितनी भी बाते उसमे बदली हुई नजर आयी वे क्या एक मिनटमे ही बदल गईं ? अरे वह तो जीवन के प्रतिसमयमे अपना परिणमन कर रहा था। यो समझिये कि पदार्थमे प्रतिक्षण भावका अभाव है और अभावका भाव है। देखिये—जो भाव आज है, मानो कषायरूप, अज्ञानरूप भाव है, अगले क्षण ज्ञानरूप भाव आया, मद कषायका भाव आया, जो भी भाव आया तो पहिला भाव तो रहा नही। और, विशिष्ट विकार भावोमे भी यह बात घटित कर लीजिये कि जो कषायभाव इस समय है वह कषायभाव अगले क्षण नही है। तो अगले क्षणमे पूर्व कषायभावका अभाव है लेकिन जो ऐसा जच रहा है कि यह पुरुष तो उसी कषायको लिए हुए दो महीनेसे बैठा है, एक वर्षसे बैठा है, यह कथन सस्कार का है, धारणाका है, पर यही सत्य बात नही हो गयी कि एक कषाय वह महीनोसे लिए हुए बैठा है। ऐसा वह कर ही नही सकता। जो कोई परिणमन है जब है तब है, अगले समयमे नही है, पर एक ऐसी योग्यतामे जहा उसका कषायभाव उसके अनुरूप, उसके अनुकूल, उसके सदृश, उसी ढगसे नये-नये बनाते चले, इस स्थितिमे वहा उसका सस्कार है, उस सस्कारको बताया गया है, परपदार्थमे परिणमन तो जो है वह अगले क्षणमे नही रहता, ऐसे भावका अभाव बताना इसका नाम है भावाभाव।

स्वपर्यायके अभाव और भावका आधारभूत शुद्ध आत्मद्रव्यके सन्मुख उपयोगकी निर्मलपरिणतिहेतुता—देखिये भावाभाव शक्ति इस जीवमे है, अभाव और भाव हो रहे है ये, ज्ञानार्जनमे लगे है, तत्त्वचिन्तनमे लगे है, वस्तुस्वरूपपर दृष्टि रख रहे है, उस ज्ञानमात्र तत्त्वपर दृष्टि है, उपासना है, उसे चित्तमे लेते है, जितना हो पाता है उतना निकट पहुचते हैं, यही तो एक साधना है, अभ्यास है। यदि उस एक शुद्ध द्रव्यकी उपासना है, उस अन्तस्तत्त्व की पूजा हो रही है तो उसके प्रतापसे होगा क्या ? कुछ अच्छी ही बात होगी। परिणति शुद्ध होनेकी ही बात चलेगी तो शुद्ध होकर और ऐसी शुद्ध परिणति होती जा रही, शुद्ध आशय बनता जा रहा है तो यो पर्याय शुद्ध होकर पर्याय कभी पूर्ण विकसित होती है। अब बाहरी बात जो बाह्य साधन है वे बाह्य साधन भी आयेंगे और उन साधनोमे रहकर उस प्रकारकी परमज्योतिकी प्रगति करेंगे। स्वद्रव्यमे क्या हो रहा ? केवल आत्मद्रव्यमे क्या बात बन रही, इतने मात्रको निरखनेका यह प्रसग चल रहा है। तो आज हमारी मतिज्ञान श्रुतज्ञान जैसे अल्पज्ञानो वाली स्थिति है, इस अवस्थाका अभाव होकर

अभावका भावरूप होकर, यो निर्मल पर्यायोका अभाव भाव हो होकर किसी समय केवलज्ञान रूप अवस्था प्रकट हो सकती है, ऐसी अवस्था भी किसीको प्रकट हो सकती है, उसका यदि आज निर्णय है तो समीचीन आशय इसे न कहेंगे क्या ? वह मेरा शुद्ध विकास, वह मेरा परमात्मत्व, वह मेरा केवलज्ञानादिक परिणमन कहाँ होगा ? कहांसे होगा ? वह इस मेरे द्रव्यसे होगा। वह द्रव्य क्या है ? इस द्रव्यको अब किसी पर्यायगत रूपमे न निरखिये। सर्व पर्यायोमे रहने वाला जो एक वह द्रव्य है, जो किसी एक पर्यायरूप बनकर ही न रहे उस द्रव्यको निरखनेकी बात है, उस ओर दृष्टि जहाँ प्रकट हुई है वहाँ शुद्ध प्रकाश है। यह मैं हू, उसके आश्रयसे भला ही होगा। पतनकी आशका नही है।

अनन्तशक्त्यात्मक अखण्ड आत्मद्रव्यको ज्ञानमात्रभावरूपमें उपासित करके आकुलतासे मुक्ति पानेका कर्तव्य——यह आत्मा अज्ञानसे अनादिसे व्याकुल होता चला आया है, इस जीवने जो आकुलताका साधन बनाया था उनसे इसका कुछ सम्बध न था और सम्बध माना इसी कारण यह व्याकुल होता आया है। आज हम आपको विचार करनेकी शक्ति मिली है, हमारा मन श्रेष्ठ है, शासन भी उत्तम मिला है, ऐसी स्थितिमे हम आपका मुख्य काम है कि सारा बल लगाकर पूरे प्रयत्नके साथ इस समस्याका हल कर लें कि क्यो विकार हुए और ये विकार अनर्थके ही रूप हैं, इन्हे अब न चाहे, जिस प्रकार मैं अपनेको अविकार अनुभव कर सकूं उस तरहका प्रयत्न करना चाहिए। अन्य लाखो प्रयत्न किसी बाह्यपदार्थ की ओर उपयोग, दृष्टि, लक्ष्य दे देकर यह न उनका पाड कर पा सकेगा और न अपना पूरा पाड सकेगा। क्या परपदार्थोमे कोई सुधार विगाडका भाव बनाकर या उनके लक्ष्यसे अपने आपका कुछ प्रयास बनाकर किसका फायदा उठा लिया जायगा ? क्या बाह्यपदार्थ का ? उनका क्या लाभ होगा, क्या अपना ? अपना भी कोई लाभ नही, तो सारा बल लगाकर एक इस भावको समझना है, इस समस्याका समाधान करना है कि यह मैं भगवान आत्मा ज्ञानमात्र हूँ जिसमे रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक कुछ नही है। एक ज्योतिस्वरूप जिसका जानन काम है ऐसा ही ज्ञानमात्र भगवान आत्मा सकटोमे उलझ गया वह क्या कारण है ? कौन सी बात है ? उस गुत्थीको सुलझा देनेका यदि प्रयत्न न किया तो फिर इसके लिए और कुछ समयकी प्रतीक्षा कीजिए। आत्मा ज्ञानमात्र है, इतना लक्ष्यमे लेनेसे वह मेरा समस्त अखण्ड आत्मा अनुभवके रास्तेसे पूरा प्रतीतिमे आ जाता है फिर चाहे उसकी विकल्पात्मक रूपसे खबर न रखें, कठिन अनुभवमे वह पूर्ण आ जाता है। जैसे नदी के किनारे जो रेत पडी हुई है उसमे एक-एक दाने है छोटे-छोटे दाने। वे अन्य जगहके मिट्टी जैसे नही है, किन्तु बिखरे हुए एक-एक कण हैं। आँखोसे देखनेपर वे सारे कण प्रत्यक्ष ज्ञानमे आ जाते हैं। मगर उनकी गिनती यहाँ नही हो पाती। गिनती अशक्य है

लेकिन ऐसे अनगिनते कण भी, वे असंख्यात रज कण भी आँखो द्वारा सब दिखनेमे आ रहे हैं, ऐसे ही इस अखण्ड ज्ञानमात्र आत्माके लक्ष्य और अनुभवमे आनेपर उन अनन्त शक्तियो की गिनतीका होश न रहेगा, लेकिन वे समस्त उस अनन्त शक्त्यात्मक अखण्ड आत्माके अनुभवमे आ ही जाते है। ऐसी अपने आपके अतस्तत्त्वकी बात विचारे। यह मै आत्मा ज्ञानमात्र हू, ऋषि सतोने ज्ञानमात्र भावके रूपमे अपनी उपासना करनेका आदेश दिया है, पर उनका शुद्ध आदेश अमोघ आदेश है। जो इसका पालन करेगा वह स्वानुभूतिसे अपरिचित नही रह सकता। मै आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, यहाँ यह जानने वाला ज्ञान है और ज्ञानमात्र रूपसे इसे लक्ष्यमे लिया है और इस तरह ज्ञेय ज्ञाता जब यह एक बन जाता है तो उस समयमे यह पूर्ण अखण्ड समग्र जैसा कि इसकी योग्यतामे है वह अनुभवमे आ जाता है। ऐसा यह आत्मतत्त्व अनन्त शक्त्यात्मक है।

भावभावशक्ति व अभावाभावशक्तिसे आत्माके वस्तुत्वकी व्यवस्था—ये अनन्त शक्तियाँ जिनका वर्णन चल रहा है इस ज्ञानमात्र भावकी प्रतिष्ठाके लिए चल रहा है। ज्ञानमात्र अतस्तत्त्व मेरे ध्यानमे कैसे आये, उसके लिए कुछ इसके स्वभाव शक्तियो आदिक का भी तो विचार करना है। यह मैं आत्मा अनन्तशक्त्यात्मक हूँ। उन अनन्त शक्तियोमे से आज भावभावशक्तिका वर्णन चलेगा। भावभावशक्तिसे आत्मामे जो बात हो सकती है उसीके होनेका सामर्थ्य है। आत्मामे जो शाश्वत भाव है, आत्माके प्राणरूप है ऐसे शाश्वत् भावका होता रहना, इसका भवन होना, वर्तमान बनता चला जाना यह है भाव भावशक्तिका प्रताप। भावभाव शक्ति यह घोषित करती है कि हे आत्मन्। तेरेमे वही भाव बनेगा जो तेरेमे शाश्वत भाव है उस ही का भवन बनेगा। इस भावशक्तिके साथ अभावअभाव शक्तिका भी बोध करते जाइये जो तेरेमे नही है, जो तेरे स्वरूपमे नही है, तेरा स्वभाव नही है, जो तेरा गुण नही है, तेरा ध्रुवभाव नही है उसके भवनकी होने की बात तेरेमे न कभी हुई, न है और न हो सकेगी। इन दोनो शक्तियोका सीधा भाव यह है कि मैं अपने स्वरूपमे ही परिणमन कर सकूँगा। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे ही परिणमता रहूँगा। ऐसी मेरेमे शक्ति है। अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे कभी भी नही परिणम सकता। भावभावशक्ति व अभावाभावशक्तिके परिचयसे भेदविज्ञानकी बात बहुत सरलतासे ज्ञात हो जाती है, मैं अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक अनन्त शक्तियोके रूपसे होता रहता हू, पर किसी अन्य पदार्थके किसी भी गुणके भवन रूपसे नही होता। जब मैं किसी अन्य पदार्थ की गुणपर्यायरूपसे नही होता और यही बात अनादिसे अनन्त काल तक चलने वाली बात है कि किसी अन्य पदार्थके भावरूपमे बन ही नही सकता। अन्य पदार्थ उसका परिणमन् उसमे है, उसका क्षेत्र, उसका स्वरूप, उसका गुण, उसकी पर्याय, उसकी

परिणति, उसकी शक्ति उस ही में है, मुझमे नही है। हमारा तो यह आत्मा परसे विभक्त और अपने आपके एकत्वमे गत है।

अज्ञानीके पराश्रयबुद्धिका संकट—अहो, इस एकत्व विभक्त निजकी सुध न होनेसे यह उपयोग बाहर रहा। इस उपयोगने अपने इस स्वद्रव्यका आश्रय नही लिया। और, आश्रय लेता रहा दूसरेका। दूसरेका आश्रय आधार इसको अहितकारी होगा। जैसे कोई मनुष्य भ्रमसे किसीको अपना हितू जानकर उसका आश्रय लेता है तो आश्रय लेना ही तो कहलाया। अब वहाँसे धक्के मिले, विपत्ति मिले यह उसकी बात है, वह अलग बात है लेकिन इसने आश्रय तो लिया बुद्धिमे परपदार्थका। यहाँ परपदार्थका जो आश्रय लेता है वह उपयोग अपेक्षा है, भिन्न आधारकी अपेक्षा नही है। अज्ञानी भी परपदार्थका आश्रय नही लेता, अर्थात् परपदार्थमे अभेदरूप नही होता। उसके परिणमनसे यह परिणत नही होता। यह तो वस्तुस्वरूपकी बात है। वस्तुस्वरूप सदा अपने वस्तुस्वरूप रहेगा, किन्तु विकल्पसे अभिप्रायसे उसने परका आश्रय लिया है। यह मुझे सुखदायी है, इसमे मेरा हित होगा, इस प्रकारका जो अपना अन्त परिणमन बनाया है यही परका आश्रय लेना है। और, परका आश्रय इस मिथ्यात्वके बिना भी होता है, पर वह एक विषयभूतरूपसे होता है तो इस जीवने आज तक अपनी इन अनन्तपर्यायोमे व्यापक एक शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय नही लिया। जो इसमे है बात उसको नही समझा, तब आश्रय कहाँ से लें ?

अखण्ड आत्मतत्त्वके लक्ष्यका प्रयास—मैं स्वय ज्ञानानन्द स्वरूप हू, इसी कारण मुझमे ज्ञान और आनन्दका परिणमन हो सकता है। यही भावभावशक्तिका अर्थ है। मेरा ज्ञानगुण ध्रुव रहता हुआ प्रतिक्षण अपनी वर्तमान पर्यायरूपसे रहता चला जा रहा है। यही तो बात है, यही तो मेरा लोक है, यही मेरा सर्वस्व है, मेरा स्वभाव, मेरी यह शक्ति ये अनन्त गुण ध्रुव रहकर और फिर इनमे प्रतिक्षण वर्तमान भवन होता रहता है, इतना ही तो घर है मेरा, इतना ही तो ताल्लुक है मेरा, इतना ही तो व्यापार है मेरा। मैं फैलूं, मैं अपने को बडे विस्तारमे लाऊँ तो यह मैं यहा ही हो सकूगा, यही मेरा विस्तार है, यही मेरा घर है, यही मैं रहता हू, इससे बाहर मेरा कुछ नही है। अभाव अभाव शक्ति इस निश्चयको और दृढ बना देती है, जो मेरेमे भाव नही, स्वभाव नही, गुण नहीं, इस मुझमे सदा अभाव है, मैं मेरेमे ही हूँ, मैं अपने भावोके भवनरूप रहता हू। और की तो बात क्या ? भेददृष्टिमे आकर जब अपने उन गुणोके स्वरूप विचार करते है तो वहां भी यह विदित हो रहा है कि प्रत्येक गुण अपने भवन स्वरूपमे है, किसी अन्य गुणके भवन स्वरूप मे नही है, यह बात कही जा रही है भेददृष्टिमे निरखे हुए गुणोकी। ज्ञानका स्वरूप जानन है। तो यह जानन स्वरूप, यह जानन भवन इस ज्ञानगुणमे होता है, ज्ञानगुण ध्रुव रहता

है। जो ध्रुव ज्ञानगुणका प्रतिक्षण भवन है उसका ज्ञानगुणमे जानन भवन होता रहता है, पर इस ज्ञानगुणमे श्रद्धाका या अन्य गुणका भवन हो ऐसा यहाँ नही है, क्योकि इस तरह अगर बन जाय तो वहाँ अनन्त गुण न रह जायेगे, सकट हो जायगा, अथवा वस्तुमे तो अखण्डता है, गुण भेद नही पडा है, पर भेददृष्टिमे विश्लेषण करके यह बात कही जा रही है। इन समस्त अनन्त शक्तियोके वर्णनसे हमे परिचय तो करना है इस अखण्ड आत्मतत्त्व का। तो किसी भी शक्तिका एक यथार्थ पद्धतिसे, शक्ति कहाँ है, शक्ति किसकी है, शक्ति कहाँसे आयी है, इसका क्या आधार है ? सर्व यथार्थ ज्ञान करते हुए किसी भी शक्तिका परिचय पाया जाय सही पद्धतिसे तो उस पद्धतिमे यह अपना अखण्ड आत्मद्रव्य लक्ष्यमे आ जाता है।

भावभावशक्तिके विरुद्ध प्रयासमें अपनी बरबादी—भावभावशक्तिका परिचय बता रहा है—जो आत्मामे ध्रुव भाव है, गुण है, शाश्वत शक्ति है वह ध्रुव गुण आत्मामे शाश्वत है और वहाँ भवन चल रहा है, होना हो रहा है, परिणाम हो रहा है, तो वह परिणाम उस गुणस्वरूपसे ही तो हुआ है। गुणमे ही तो हुआ है। अन्य पदार्थके गुणमे नही हुआ है या अन्य पदार्थके गुणसे नही निकला है। भवन, परिणमन जहाँसे उद्भूत है, व्यक्त है, उसका जो आधार है उसको निरखिये—और उसको उसमे जोडिये, परमे मत जोडिये—सकट यही तो है कि मेरा भवन मेरे गुणोमे है, मेरे गुणोसे है, मेरे द्रव्यसे है, क्योकि परिणमनको हम परके साथ जोडते है। और, इस तरह हमारी बुद्धि परमे सचरित होती रहती है। जैसे आनन्द परिणमन हुआ, मुझसे आनन्दका भवन हुआ। मुझे आनन्दका भवन, आनन्दका होना यह आनन्दगुणसे व्यक्त हुआ है, मेरे आत्मद्रव्यसे व्यक्त हुआ है, इसके आधारमे हुआ आनन्द स्वरूप है, लेकिन इस तरह इस आनन्दभवनको अपने इस आत्मद्रव्यमे न जोडकर जोडते है कि हमे भोजनसे आनन्द आया, मुझको अमुक पदार्थसे आनन्द आया, इसका सकट है। इस बुद्धिमे इसका उपयोग बाहरमे रम गया, फंस गया और चूँकि वह बाहरी तत्त्व मेरेसे अलग है, उनका परिणमन उनमे है, उनके अनुसार है, और यहाँ इच्छा बन रही है कि मेरी इच्छा -माफिक परिणमन हो, पर ऐसा नियम नही है कि हो ही जाय। कितनी व्याकुलताये आयी है, और, यह व्याकुलता है सो तो जान ही रहे है किन्तु इसके फलमे इतना बडा झंझट लादा है कि इनको कुत्ता, बिल्ली आदिक जैसी योनियोमे, अनेक देहोमे जन्म मरण करना पडता है, बँधा रहना पडता है, फंसा रहना पडता है।

भगवान आत्माका सत्य सन्मान—भैया ! अब अपने आपकी याने आत्माकी वास्तविक इज्जतको सही ढंगसे संभाल लीजिए। अपनी वास्तविक इज्जत है सदा आनन्दरूप

रहनेमे। उसे सभाले। मैं सदा ज्ञाता दृष्टा रहू। मेरेमे रागादिक विकार अकुरित न हो, मेरा परके आश्रय वाला उपयोग न बने। मैं अपने स्वरूपसे चिगकर वाह्य पदार्थोकी ओर उन्मुख न रहू, ऐसी अपने आपमे वृत्ति बनायें तो वह है अपनी वास्तविक इज्जतकी संभाल, जिसका फल पवित्र है। ऐसा किए बिना हम इस जगतमे अशरण है। मेरा कोई शरण नही। कौन साथी है ? कौन सहयोगी है ? कौन मददगार है ? अपनी इस अन्त वृत्तिसे चिगकर जो मेरी वाह्यमे वृत्ति जग रही है बस यही संकट है। और, इस मोही जीवको यह सकट आसान हो गया है और सकटरहित स्थितिका ध्यान भी न करनेकी इसकी आदत हो गयी है। इन परद्रव्योंके प्रसगमे रहकर यह उनका अनुरागी हो गया है। कदाचित किसी परद्रव्यका इससे बिलगाव हो जाय तो यह उसके पीछे छटपटाता है, दु खी होता है— हाय ? क्या करूँ अब मेरा गुजारा कैसे चलेगा ? अरे आत्मन् ! अपना स्वरूप तो देख ! तू तो परिपूर्ण है, सत् है, तेरा कभी विनाश नही होता। भावभाव शक्तिकी दृष्टिसे यह आत्मा सही सही स्पष्ट नजरमे आ जाता है। मैं चैतन्यस्वरूप, ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र आदिक सभी गुण मुझमे सदा रहते हैं और सदा इनका होना होता रहता है। इस दृष्टिमे विकारोकी बात लक्ष्यमे नही है। आत्मामे जो गुण हैं वे गुण काम करेगे सभी। इसका अर्थ यह नही है कि जो विकाररूप परिणमन है वह भी देखना है। अरे विकारोका तो आत्माके स्वभावमे अभाव है। आत्मा स्वभावसे विकार नही करता किन्तु इसमे ऐसी अशुद्धताकी योग्यता है तो वह पर-उपाधि सन्निधान होने पर विकाररूप परिणमने लगता है, यह हुई पर्यायगत योग्यताकी बात। आते हैं विकार, मगर इनके करनेका काम शक्ति का नही है। होते हैं इसही तरहके शक्तिमान पदार्थमे ही, इस कारण एक वजह यह कहा जा सकता है, मगर शक्ति अपनी ओरसे ही अपना निमित्त करके अपने ही सत्त्वसे विकार करने लगे ऐसी शक्तिमे शक्ति नही बतायी गई है। तो भावभावशक्तिसे जब हम अपने आत्मतत्त्वको निरखने जा रहे है तो यह नजर आता है कि मैं चैतन्य हू, ज्ञानदर्शनात्मक हूँ, मुझमे यह ही है। इसके रूपसे होना चलता रहता है, और जहाँ आत्मद्रव्यकी इस शुद्ध शक्तिका ध्यान किया जा रहा है वहाँ विकारोकी यह शंका नही कर रहा, विकारोकी खबर तक नही, यह तो आत्माके उन शुद्ध गुणोमे आत्मद्रव्यको जोडना है और ऐसी स्थिति मे उन गुणोका भी परिणमन पवित्र हो रहा। जिस पर्यायमे रहता हुआ जो कुछ भी हो रहा है वहाँ आत्मशक्तियोका यह निरीक्षण कर रहा है। जो मुझमे ध्रुव भाव हैं वे मेरेमे ही हैं उनका भवन मुझमे है। वे मुझमे ही निकलते हैं, अन्य पदार्थोके हुए भाव मुझमे नही है। मैं समस्त पुद्गलद्रव्योके रूपसे नही बन रहा। धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदिक द्रव्यके रूपसे नही परिणम रहा हूँ। उनका मुझमे शाश्वत अभाव है। मेरे स्वरूपमे उनका

प्रवेश नही है, और निज चैतन्यस्वरूपसे व्याप्त जो यह स्व आत्मा है, इसमे पर चैतन्य स्वरूपसे व्याप्त पर जीव नही पडे हुए है। उनके रूपसे भी मेरेमे होनेका सामर्थ्य नही है। मै अपने चैतन्यस्वरूपसे अपने ही ज्ञान दर्शन आदिक रूपसे होऊ और इसकी ही पर्यायमे चलूं यह तो सामर्थ्य है, मगर अन्य किसी भी जीवके गुणसे, पर्यायसे, भावसे मै रहू, उन रूपसे मैं वर्तूं, यह मुझमे सामर्थ्य नही है, क्योकि वे सब अपने असाधारण अपने ही चैतन्य स्वरूपसे व्याप्त है और मैं स्वकीय चैतन्यस्वरूपसे व्याप्त हू। चेतना एक शब्द साधारण है और चेतनाका जो अर्थ है उस चैतन्यस्वरूपके सामान्य अर्थको लेकर यह कहा जाता है कि सबमे वही चैतन्य है। जितने भी जीव है सबमे वही एक चैतन्य है। यहाँ वहीका भी अर्थ सदृश है, और एकका भी अर्थ सदृश है। जैसे चैतन्यस्वरूपसे मै व्याप्त हू उसी प्रकारके चैतन्यस्वरूपसे पर चेतन व्याप्त है। तो यो मै अपने ही ज्ञानादिक गुणोके भवनमे रहता हू, अन्य पदार्थके गुणोके भवनरूपसे मै नही हूँ। ऐसा यह बोध भावभावशक्ति और अभावाभाव शक्तिके परिचयसे प्राप्त होता है।

भावभावशक्ति व अभावाभावशक्तिके परिचयसे प्राप्त प्रेरणा--भावभावशक्ति व अभावाभावशक्तिके परिचयसे हमे हितके लिए प्रेरणा मिलती है। जब समस्त परवस्तुका मेरेमे सदाकाल अभाव है, किसी भी परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरेमे है ही नही, तब मै किसी परका ऐसा आश्रय क्यो करूँ जहाँ अपनी सुध नही हो और पर ही साररूपसे सत् रूपसे सही रूपसे ज्ञानमे आता हो और उसीमे ही बुद्धि द्वारा मै तन्मय होता जा रहा होऊँ। अज्ञानी भी परमे तन्मय नही हो सकता, क्योकि स्वरूप ही न्यारा है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ कैसे तन्मय होगा ? पर वह अपने उपयोग द्वारा तन्मय है, अर्थात् तन्मयताके रूपसे उसने अपनी समझ बना ली है। अज्ञानी जीव इस तरह नही समझता कि यह शरीर है सो मै हू, क्योकि इसमे तो अब भी भेद पडा हुआ है। यह शरीर है सो मै हू, यहाँ तो शकाकी बात उसने कह डाली—शरीर है और मै हू। जो यह शरीर है सो मै हू ऐसा अज्ञानी नही समझता। यह तो ज्ञानीकी परिभाषा है समझानेकी कि अज्ञानी जीव इस शरीरको ही समझता है कि यह मै हू, अज्ञानीको ऐसी सुध नही है कि यह शरीर है सो मैं हू किन्तु वह तो इस शरीरमे ही तन्मयताका अनुभव कर रहा है। उसके लिए "यह" और "मैं" ऐसे ये दो शब्द ही नही पडे हुए हैं। इस तरहकी तन्मयता अज्ञानी जीवोके होती है, वह तन्मयता द्रव्य द्रव्यके नातेसे नही है, किन्तु उपयोगके नातेसे है। द्रव्य द्रव्यके नातेसे तो अब भी अज्ञानी जीव भी शरीरमे तन्मय नही। शरीरमे शरीर तन्मय है, जीवमे जीव तन्मय है। शरीरके गुण पर्यायमे शरीर है, जीवके गुण पर्यायमे जीव है। अज्ञानी भी शरीरमे तन्मय नही, किन्तु अज्ञानी उपयोगसे शरीरमे तन्मय बन रहा है। अर्थात् शरीरको

निरखकर उसकी समझ यह बनी हुई है कि बस मै यही हूँ। उसे इतनी गुंजाइश नही है कि देखो जो यह शरीर है सो ही मै हू। और, रुढिमे, व्यवहारमे ये शब्द आये तो आयें पर इन शब्दोसे भेद की बात ही ध्वनित हो सकती है। वह बात इसके अन्दर नही पडी हुई है तो यो मै जीव अपने आपमे जो ध्रुवभाव, चैतन्यस्वरूप, ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, आनन्द आदिक भाव है उनके भवनरूपसे हू, वे ही यहाँ होते रहते है, उनका ही यहा होना चलता है, इसका नाम है भावभावशक्ति। और, जो मेरेमे नही है वर्ण, रस, गध, स्पर्श या और और भी अन्य धर्म, वे मेरेमे कभी न थे, कभी न होगे और उन रूपसे होना मेरा कभी न होगा। ऐसी मुझमे अभावअभाव शक्ति है। इन दोनो शक्तियोमे यही बात बताया है कि यह आत्मा एकत्व विभक्त है। अन्य समस्त परपदार्थोसे जुदा और अपने आपके स्वभावस्वरूप मे ध्रुवभावमे तन्मय, उस ही रूप ऐसा यह आत्मा है जिससे यह स्पष्ट बोध होता है कि निज यह है और बाकी अनन्त जीव समस्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, सर्व कालद्रव्य ये समस्त मुझसे निराले है। इस तरह सबसे निराला ज्ञानमात्र मै आत्मा हू। इसकी उपासना से समझिये कि हमारे जीवनके क्षण सफल हैं, जीवन सफल है, सर्वस्व सफल है और जो बुद्धि पायी वह भी सफल है।

आत्मामें भवनशक्तिका प्रताप—आज भवनशक्तिका वर्णन चल रहा है। भवनशक्ति का अर्थ है—कारकोके अनुसार चलने वाली क्रिया जहाँ न हो, इस क्रियासे उत्तीर्ण केवल एक भवनमात्र ही जहाँ हो, ऐसी शक्तिको भवनशक्ति कहते हैं। इसे यो समझिये कि लोक मे सत् पदार्थ है, वे है और निरन्तर परिणमते रहते हैं, ये दो बातें किसी भी प्रकार मना नही की जा सकती और पदार्थोमे जो उनका भवन हुआ है, उनकी अवस्था प्रकट हुई है वह उन पदार्थोसे प्रकट हुई है, और प्रकट होना उनका अनिवार्य है, वे विवश होकर परिणमते रहते हैं। सत् है ना, ऐसा भी नही कर सकते कि चलो अनादिसे परिणति चली आयी, निरन्तर परिणति करती चली आयी चलो अब विराम कर लें, बादमे परिणमेंगे, ऐसा भी नही है। तो जो सत् है उनमे सत्त्वके नातेसे परिणमन निरन्तर होता रहता है। इससे द्रव्य भी चाहे कदाचित् कि हम थोडा विश्राम कर लें सो भी बात नही है। तब यहाँ बन क्या रहा है? पदार्थ है और परिणम रहा है, प्रतिक्षण उसमे अवस्था होती ही है। उसका भवन चल रहा है। तो आत्मा भी है, सत् पदार्थ है, उसमे भी अवस्था चल रही है, भवन चल रहा है। अब इस प्रसगमे यह पूछा जाय कि आत्मामे जो यह पर्याय व्यक्त हुई है, बनी हुई है इस पर्यायका रचने वाला कौन है? वैसे तो लौकिक जनोका उत्तर है यह कि इसके रचने वाला कोई एक ईश्वर है, और कुछ विवेकीजन यहाँ भी कार्य कारण भाव देखकर, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध निरखकर कह देते है कि अमुक पदार्थ इस कामका

करने वाला है, लेकिन वस्तुत: तो सोचिये कि जब पदार्थ सत् है और सत् होनेके कारण उसमे यह विशेषता है कि वह निरन्तर परिणमता रहे, इस विशेषताको हटानेके लिए कोई समर्थ नही है। वह स्वय भी द्रव्य इसके लिये विवश है कि मै अगले समय परिणमन न करूँ ऐसा विश्राम कार्य करने मे भी विवश है। निरन्तर होता ही रहता है। तो जब पदार्थ है और उसमे होता रहना चल रहा है तो इसमे यह तो होता ही नही है कि कोई परपदार्थ इसका भवन बना दे, इसका होना बना दे, परिणमन बना दे, ऐसी तो किसी परपदार्थमे सामर्थ्य है नही। अब रही खुदकी बात तो खुदका भी करने वाला क्या? याने जो अवस्था हुई है आत्मामे उस अवस्थाको करने वाला यह स्वय आत्मा है, इसका अर्थ है क्या? पदार्थ है और उसमे होना चलता है, अवस्था बनती है, इसमे करनेकी क्या बात आयी है।

निरन्तर स्वभावत: परिणमन होते रहनेमें कार्यसंज्ञाका अनवकाश—और भी सोचिये—प्राय् काम तो उसे कहेगे कि जहा कुछ न किया जा रहा हो, लो अब किया जा रहा तो ऐसा पदार्थमे है नही कि परिणमन नही हो रहा, लो अब परिणमन हुआ है। तो उसका एक काम नाम रख लीजिए कि कोई काम हुआ है। जब पदार्थ है और पदार्थमे ऐसा होना प्रतिक्षण चलता रहता है तो इस सम्बन्धमे फिर कामका क्या मतलब? करने वाला यह खुद है, इसका भी क्या अर्थ है? है और निरन्तर परिणमन होता है। इसमे करनेकी बात क्या आयी है? क्या कुछ बुद्धिपूर्वकताके कारणसे किया है कि मैं अपना अब परिणमन बनाऊ? क्या ऐसा भाव करता है जीव जिससे कि इसको अपनी अवस्थाका कर्ता कहा जाय? अथबा काम न हो, अभी विराममे है, अब काम किया है, काम शुरू हुआ है। क्या इस तरहकी बात है जिससे कि कर्म कहा जाय? यहाँ इस दृष्टिसे देखा जा रहा है कि पदार्थ है और परिणमता है। इसमे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधि-करणकी बात ही क्या है? जो होता है इसका क्या आधार है? यह किसके लिए करता है? यह किसको करता है? यह कल्पनागत भेदवाला परिणमन उस आत्माके अखण्ड स्वभावके आलोकनसे चिगा देगा।

अनुभवनकी सर्ववस्तुओंमें अनिवार्यता—भवनशक्तिमे यह निरखा जा रहा है कि यह आत्मा तो समस्त कारकसमूहकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण है और इस ही कारण यह निर्मल अपने परिणमन की अनुभूतिमात्र है। पदार्थ है और वह प्रतिक्षण अपनी वर्तमान पर्यायरूप है। बस अनुभवन वर्तमान भावका हो रहा है। अनुभवन का भी अर्थ क्या है? पदार्थके अनुकूल भवन अर्थात् होना। यहाँ अनुका अर्थ है अनुसार और भवनका अर्थ है होना। ऐसा अनुभवन तो प्रत्येक पदार्थमे चलता है, पर आत्मा चूँकि चेतन है, उसमे प्रतिभासने

की शक्ति है, इस कारण उसका अनुभवन अन्य पदार्थोंके अनुभवनसे विलक्षण है। अन्य पदार्थोंमे तो पर्याये होती रहती है और वे सब पर्यायें वस्तुसीमाका उल्लंघन करके नही होती, किन्तु वस्तुसीमाके अनुसार होती है। तो यह अनुभवन प्रत्येक पदार्थमे है। धर्म, अधर्म आदिक सभी द्रव्योमे है, लेकिन वे सब ज्ञानरहित है, चेतनारहित हैं इसलिए उन्हें कुछ विदित नही है। और, यहाँ आत्मामे चूँकि ज्ञानमय ही तो आत्मा है, आत्मामे जो कुछ भवन हो रहा है उसका चैतन्यात्मक पद्धतिसे अनुभवन होता है। अत अनुभवनका अर्थ जो प्रसिद्ध है वह आत्माके लिए प्रसिद्ध है। तो यो आत्मा है और उसमे उसके अनुसार भवन हो रहा है। इतनी ही तो बात है। किसको किया ? किसने किया ? परने तो किया नही, और खुद करता क्या है ? खुद है तो उसमे परिणमन होता है। हो रहा है, करनेका अर्थ क्या है ? पर कर्ता नही है और खुदके जीवादिकके भवनमे कार्यत्वका कोई अर्थ नही है।

ग्रन्थरचनामें भी "है" और "होना" इनके प्रयोगकी अनिवार्यता—एक दृष्टि से और देखे कि करनेकी बात एक फालतू है। शब्द प्रयोगमे, व्यवहार प्रयोगमे जो बडी-बडी रचनायें चलती है, निबध रचे जाते है, ग्रन्थ रचे जाते हैं—मान लो कोई लेखक ऐसा सकल्प करके बैठ जाय कि मुझे करने वाली क्रियाका कही प्रयोग नही करना है तो वह निबध बना लेगा। और वह उस रचनामे करनेकी कोई क्रिया न लायेगा। हाँ ऐसा संकल्प न करे तब तो करनेकी क्रिया आती रहती है। और, ऐसा ही किए बिना एक भू धातुसे ही सब-वाक्य बन सकते है, अन्य धातुओके क्रियात्मक प्रयोग की भी आवश्यकता नही है। जैसे वह मदिर जाता है तो तो यो कह सकते कि उसका मदिरके लिए गमन होता है। यो किसी भी क्रियाका प्रयोग न किया जाय, मगर ऐसा कभी न हो सकेगा कि आप "है" और "होता है" इन शब्दोको उडा दें और कोई रचना बना दें। "है" और "होता है" इनको छोडकर आप चल नही सकते। हाँ अन्य धातुवोको छोडकर तो आप चल सकते हैं। तो ये "है" और "होना" पदार्थके अनिवार्य धर्म हैं। जिसके प्रतापसे पदार्थ है और उसका भवन होता है।

"है" और "होना" इन दोनोंका परस्पर अनिवार्य आदान प्रदान—एक और दृष्टि दीजिए दो धातुवे है—भू और अस्। भू का अर्थ तो दुनियामे "होना" प्रसिद्ध है, लेकिन वैयाकरणोसे पूछो कि भू का अर्थ क्या है तो वे बतायेगे कि भू का अर्थ है सत्ता (भू सत्ताया) और सत्ताका अर्थ क्या है ? तो सत्ताका अर्थ बताते हैं लोग सदा बना रहना। वैयाकरण विद्वान् अस् धातुसे बतायेंगे तो अस् का अर्थ होना बतावेंगे—अस् भुवि। तो "है" का अर्थ "होना" हुआ और होनेका अर्थ "है" हुआ। कितना परस्परका आदान प्रदान है,

और कैसी एक रसके साथ मित्रता है, इन दोनोकी तब कितनी इनकी घनिष्ठ बात बन गई। अर्थ क्या निकला कि "होना है" के बिना नही और "है" होनाके बिना नही। तो ऐसा जो "है" पदार्थ है तो वह नियमसे होता है। "है" और होना" इन दो का निषेध नही किया जा सकता। ये दो पदार्थमे बराबर चल ही रहे है, पदार्थ है और होता है, इसमे अब करनेकी बात क्या आयी ?

आत्मतत्त्वकी परमार्थतः सकलकारक चक्रप्रक्रियोत्तीर्णता—देखिये करना कुछ स्पष्ट रूपसे विदित भी नही हो पाता आत्मामे। आत्मा है और उसका जानन परिणमन चल रहा है। कुछ क्रियात्मक शब्दोके प्रयोगकी चूंकि लोगोको आदत है तो इस कारणसे इसका परमार्थभाषामे भी प्रवेश हो गया है, लेकिन है क्या यहाँ ? है और हो रहा है। यहाँ भवन शक्तिमे यह बता रहे है कि ये समस्त पदार्थ कारकसमूहकी प्रक्रियासे उत्तीर्ण है। जैसे कि व्यवहारसे प्रयोग करते है कि "कुम्हारने घरमे मिट्टीसे दंड चक्र प्रयोग द्वारा अपने लाभके लिए या दूसरेके लाभके लिए घडेको बनाया" तो अब इसमे छहो कारक आ गए, और ये भिन्न-भिन्न आये, कुम्हारने बनाया, घडेको बनाया, घरमे बनाया, दूसरोको पानी भरनेके लिए बनाया, दंड चक्र आदिक साधनके द्वारा बनाया, मिट्टीसे बनाया। तो ये सब न्यारी-न्यारी बातें है और इन कारकोका प्रयोग अभिन्न रूपसे भी किया जाता है। जैसे कोई साँप जा रहा था। जाते जाते अब वह अपनेको गोल करके बैठ गया, जिसे कहते हैं कुंडली बन जाना। तो अब यहाँ देखो उस सापने अपनेको कुंडली बना लिया, अपनेमे बना लिया, अपनेसे बनाया। साप जो इस प्रकारसे गोलाकाररूप बन गया है वह किसने बनाया ? ··सापने ही, किसको बनाया ? अपनेको ही। किसके द्वारा बनाया ? अपने ही श्रमसे परिणमनसे, अपने ही साधनसे बनाया। किसके लिए बनाया ?·· अपने लिए बनाया। उसने इसमें आराम समझा होगा। और, अपनेसे ही बनाया। जो उसकी पहली परिणति थी, चलनेकी, सीधीकी, जरासी टेढ लिए हुए, उससे हटकर अब इस अवस्थामे आ गया, लो अभिन्न षट्कारक हो गया। किन्तु, इस भवनशक्तिमे यह बता रहे है कि भिन्न षट्कारक की बात तो परमार्थत सत्य है ही नही, और अभिन्नषट्कारकका भी भेद शुद्धनयमे नही है। आत्मा परको जानता है, इस घरमे बैठा हुआ जानता है और दूसरेको समझानेके लिए जानता है। यो इस जाननमे भी अनेक कारक भिन्न-भिन्न वना लिए जायेगे। पुस्तकके साधनके द्वारा जानता है और अमुक तत्त्वको जानता है। सवका भेद ही भेद करता जा रहा है और इसके अज्ञानसे हटकर अब उसको जानने लगा है। अथवा अन्य जगह उपयोगको दूसरी जगहसे हटा करके अब इस तत्त्वके जाननेमे लगा है। लो सारे भेद कारक जाननके साथ भी झलक कर यहा परमार्थतत्त्व तो न रहा, अब और अन्तरङ्गमे चलो। आत्माने जाना, अपनेको

जाना, अपने ही मे जाना, अभिन्न साधनसे जाना और जानकर किया क्या ? अपने लिए जाना। उसका फल दूसरेमे कहा साक्षात् है, और, अपनेमे ही रहता हुआ जाना, लो अभेद षट्कारक भी वन गया, लेकिन अभेद षट्कारकमे भी क्या व्यवस्था है ? आत्मा है और ऐसा वह विवश है सत्त्वके कारण कि वह जानता ही है, जानता ही रहता है। जाननका विराम ले ही नही सकता है। यह पदार्थका स्वभाव है। है और हो रहा है। इसमे भी कर्ता कर्म की, सम्प्रदान, अधिकरणकी क्या वात रही।

अखण्ड ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धिके यत्नमें कारकोत्तीर्णस्वभावदर्शनकी क्षमता— अब यहाँ इस दृष्टिसे भी देखें कि हम आत्मप्रसिद्धिके लिए यत्न कर रहे हैं। मेरा वह अखण्ड आत्मद्रव्य जो शाश्वत है, अनादि अनन्त है, अहेतुक है वह मेरे ज्ञानमे आ जाय, ऐसी अपनी भावना होना चाहिए। परिचय यो होना चाहिए आत्मतत्त्वका कि जगतमे सारतत्त्व यही है, हित यही है। हमने अपने आपके उस सहजस्वरूपको नही जान पाया, इसी कारण अन्य जगह उपयोग भ्रमा भ्रमाकर व्याकुल होते रहने है। अत: आवश्यक है कि हम अपने आपके उस सहजस्वरूपको जाने, जहाँ कोई क्रिया नही तरग नही, जहाँ कोई कारकभेद नही। विह्वलता तो इस कारक बुद्धिमे वन जाती है। मुझे करना है, मेरे द्वारा किया जाना है, मैंने किया आदिक इन क्रियाओमे जव उपयोगको उलझाते है तो वहाँ विह्वलता होती है, क्षोभ होता है। अरे आत्मप्रसिद्धि करने चले हो तो जरा एक वार इस मार्गसे भी चलकर जरा आत्माके निकट चलो यह है और होता है, हो रहा है, परिणम रहा है। यहाँ ही अगर कारकोमे बुद्धि लगा दी, भेद वना दिया तो उस भेदपरक उपयोग के होने से हम अखण्ड आत्मतत्त्वके साथ अपने उपयोगकी एकता वनानेमे साक्षात् समर्थ हो रहे हैं।

अभेदषट्कारकप्रक्रियाप्रयोगसे भी वढ़कर कारक प्रक्रियोत्तीर्णतामें साक्षात् स्वसंवेदन का अवसर— यद्यपि अभेदषट्कारकी क्रिया भी उपयोगी है। वह कहाँ उपयोगी है ? जो पुरुष भिन्न षट्कारकोके प्रयोगमे ही उलझ रहा है और वही इसे तथ्य दिख रहा है तो भिन्न षट्कारककी बात-जैसे मैंने मकान बनाया, मैंने रुपयोसे मकान बनवाया, अमुकके रहनेके लिए बनवाया, ऐसी जो भेदकी बात लोग लादे हुए है और उस कर्तृत्वमे अहंकार बनता है-मैंने किया। और, उस अहकारके फलमे इसे क्षोभ होता है। सो इस महान दुख को मिटा देनेके लिए समझाया है अभेद षट्कारकके द्वारा। अभेद षट्कारकके द्वारा उसकी विधि समझनेके द्वारा दो काम तो बनते है—एक तो भिन्न षट्कारकपनेका निषेध हो जाता है। कौन कहता है कि मैंने मकानको किया ? मैंने तो मकान सम्बन्धी विकल्पको ही किया। यहाँ ही अपना जाननपरिणमन बनाया। ऐसा ही मैं कर रहा, इससे आगे मैंने कुछ

नही किया। तो वह भिन्न कारकताका, भिन्न क्रियापने का जो एक संस्कार लगा है जिससे कर्तृत्वबुद्धि बन रही है उसका प्रतिषेध करनेके लिए, वह किस प्रकार मिटे इसके लिए अभेद षट्कारकका उपदेश दिया है कि हे आत्मन् ! तू केवल अपने आपको करता है, अपनेसे करता है, अपनेमे करता है आदि, इस प्रकार अभेद षट्कारकके द्वारा एक तो यह काम किया कि भिन्न षट्कारकका भ्रम दूर कर दिया गया और एक ऐसी पात्रता ला दी गई कि वह इस विकल्पसे भी हटकर उस अभेद अखण्ड आत्मद्रव्यको लक्ष्यमे ले ले। इसके दोनो ही काम हुए। जैसे बताते है कि तीन प्रकारके आत्मा होते है–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, जिनमे अन्तरात्मा होना दो कामोके लिए है—बहिरात्मापनको छोड दे और परमात्मापनमे आये। तो बहिरात्मापनके त्यागका साधन बना और परमात्मा होनेका साधन बना। इसी प्रकार अभेद षट्कारककी प्रक्रियाका प्रयोग भेद षट्कारकके उलझन और क्षोभ मिटानेका साधन बना और अभेद आत्मद्रव्यमे पहुंचनेका भी साधन बना। यो अभेदषट्कारकका प्रयोग भी उपयोगी है तथापि जो साधन है सो साध्य नही है, यह साधन है और पूर्ववर्ती पर्याय है। लक्ष्यमे क्या लेना है ? जब इस ओर आगे और बढते है तो वहाँ अभेद षट्कारक प्रक्रियाका भी निषेध होता है। ओह ! यह द्रव्य तो समस्त कारक प्रक्रियाओसे उत्तीर्ण है। यद्यपि उस समझनेके मार्गमे अभेद षट्कारक प्रक्रियाकी बात आयी थी। उससे गुजर करके अब आगे चले तो उससे उत्तीर्ण हो गए। उत्तीर्ण बोलते है पार होनेको। जैसे सिद्ध भगवान गुणस्थानसे उत्तीर्ण है, कभी ये गुणस्थान उनके थे। उनसे चलते आये लेकिन अब वे उत्तीर्ण है अर्थात् अब उन गुणस्थानोको पार करके यहा आये है, ज्ञानी जन अब यहाँ बता रहे है कि षट्कारककी क्रियासे अब वे उत्तीर्ण हो गए। अब यह आत्मद्रव्य अपने उपयोगमे जमा रहता है। यह मै ऐसा शुद्ध हू। समयसार ग्रन्थमे बताया है जहां एक यह प्रेरणा ली परिज्ञानी जीवने कि मैं इन सब आस्रवोका, कर्मोका क्षय करता हू। तो कैसी भावनासे उसने प्रेरणा ली है। उसकी भावना होती है कि मैं एक हू। सर्व अवस्थाओंमे गुजर कर भी मै किसी अवस्थारूप नही हू। अगर किसी अवस्थारूप हो जाता तब तो बड़ी बिडम्बना थी। वह मात्र रह जाता तो मै किसी अवस्थारूप न होता। सर्व अवस्थाओसे परे एक सामान्यस्वरूप वाला यह मै आत्मद्रव्य हू। जैसे कहा सहजज्ञानात्मा। और, यह मै शुद्ध हूँ। समस्त कारक समूह की प्रक्रियाओसे उत्तीर्ण होनेके कारण निर्मल अनुभवमात्र हू। मै हूँ और होता आ रहा है जानन। जितने भी गुण है उन सब गुणोका भवन हो रहा है। हो रहा है उनका आविर्भाव, उनका उत्पाद, उनका परिणमन, पर्याय भाव किन्ही भी शब्दोंसे कहो—जिस तरह समझिये कि हो रहा है और होता है। ऐसे सभी पदार्थ है। है और होते है।

किसी पदार्थके परिणमनमें अन्य पदार्थके अकर्तृत्वकी स्वयं सिद्धता——देखिये पदार्थ है और निरन्तन उसका भवन होता रहता है, इस दृष्टिमे यह वात तो वहुत भली भाति समायी हुई है कि इस होनेमे निमित्त ने कुछ नही किया। अन्य पदार्थने कुछ नही किया। जव पदार्थ है और उसका स्वभाव है तो वह होता है और स्वभाव न हो फिर कोई पदार्थ करे तो कहे कि हा हमने किया। वात वन ही नही सकती थी और किसी पदार्थने वात वना दी तो कहा कि उस पदार्थ ने किया। मगर ऐसा कभी हुआ है अव तक जिसमे जिस रूप परिणमनका सामर्थ्य नही है वह किसी भी प्रकार कितने ही निमित्त योग मे उस प्रकार परिणम ही नही सकता, और जो परिणम रहा है तो वह अपने ही भवनसे, अपने ही परिणमनसे परिणम रहा है। मेरे उस परिणमनमे दूसरा क्या कर रहा है ? वह तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे रहते हुए अपना परिणमन करे या दूसरेका करे, दूसरेका तो स्वयके परिणमनसे रहित हो गए, असत् वन गए। दोनोका करे तो ऐसा होता नही। एक पदार्थ अपना भी परिणमन करे, दूसरेका भी करे यह वात सम्भव नही है, और खुद-खुदका करने वाला क्या ? वहाँ करनेकी वात कुछ समझमे नही आती। क्या किया ? है और हो रहा, तो इस प्रकार समस्त कारक समूहके भेदभावसे हटकर उत्तीर्ण होकर एक भवन पर्यायमात्रसे देखना। एक भवनरूपसे ही होना, इसका नाम है भवनशक्ति। सत् है और भवनशक्तिके प्रतापसे वह निरन्तर होता रहता है। उसमे होते रहनेका कभी व्यय नही है, इसीको सूत्र जी मे वताया है तद्भावाव्यय नित्य, नित्य कहते किसे है ? पदार्थके भावका व्यय न होना, पदार्थके होते रहनेका कभी व्यय न होना, इसके मायने नित्यता है, न कि पदार्थ एक कूटस्थ अपरिणामी रूपसे रहे यह अर्थ है। इन सब वातोसे यह भली भाँति सिद्ध है कि आत्मा है और उसमे पर्याये होती रहती है, भवन होता रहता है तो वह भवन सहज होता है, किसी अन्य पदार्थके द्वारा नही होता है, और ये स्वय पदार्थ भी कुछ अपनी गड-बडी लेकर अपनी बुद्धि झोककर अपनी इच्छासे नही करते हैं, किन्तु पदार्थका स्वभाव है कि वह है और होता है।

आत्मामें क्रियाशक्तिका प्रकाश——ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी अनुभूतिके लिए ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धि हो जाना आवश्यक है। प्रसिद्ध अपने आपमे उपयोग द्वारा प्रकृष्ट रूप से उपलब्धि होनेका नाम है। उस आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धिके लिए अनन्त शक्तियोका वर्णन चल रहा है, क्योकि किसी भी पदार्थका स्वरूप तभी समझमे आ सकता है जब कि विश्लेषण करके उसकी अनेक बातें बतायी जायें। तो इस ही पद्धतिसे यहाँ आत्माकी शक्तियोका वर्णन चल रहा है। उनमे आज क्रियाशक्तिका वर्णन चलेगा। क्रियाशक्तिका अर्थ है कारको के अनुसार होनेरूप शक्तिको क्रियाशक्ति कहते हैं। क्रियाशक्तिकी दृष्टिमे यह निरखा जा रहा

है कि प्रत्येक द्रव्य अपने आपमे अपने ही साधनसे अपने ही के लिए अपने ही आधारमे अपने कर्मको करता चला जा रहा है, यह बात आत्मद्रव्यमे निरखना है। आत्मा ज्ञानमात्र है, ज्ञानस्वरूप है, हम आत्माकी बात ज्ञानमुखेन ही समझ पायेगे। मैं जाननहार हू, मै जानता हू, अपनेमे जानता हू, अपने लिए जानता हू, अपनेसे जानता हू और अपनी ही पर्यायसे जानता हू। इस तरह मैं अपने आपमे अपने ही अभेद षट्कारकतासे होता रहता हू, इस प्रकारके निरखनेको क्रियाशक्ति कहते है। वास्तवमे कोई भी पदार्थ जब है तो वह निरन्तर परिणमता रहता है। इससे पहिले भवनशक्तिका वर्णन हुआ था जिसमे यह बात निरखी गई थी कि पदार्थ है और होता है ऐसा उसका स्वभाव है। हो रहा है, अब इस बीचमे कर्ता कर्म आदिककी बात ही क्या है? किन्तु जब बाहरी अनेक निर्णय कर्ता कर्म आदिकके आधारसे हो रहे हैं तो परिणमने वाली बात भी कुछ समझमे आये इसके लिए कारकोका प्रयोग होता है। तो परमार्थत कारक क्या किसीके अन्य पदार्थ होते है? नही होते है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे ही अपनी ही षट्कारकता रूपसे चलता रहता है और उसका परिणमन इसी प्रकार अनादिसे हुआ है और अनन्तकाल तक चलेगा। तभी वस्तुकी सत्ता कायम है। यदि किसी पदार्थका दूसरा कर्ता बन जाता तो सत्ता न रहती, कर्म करण आदिक बन जाते तो सत्ता न रहती। ये पदार्थ अब तक है, यही एक पुष्ट प्रमाण है कि अपने आपमे ही अभेद षट्कारक रूपसे परिणति होती आ रही है। आत्माका स्वरूप है ज्ञानमात्र। इसका काम है जानना। तो आत्मा अपने स्वरूपसे क्या करता है? जानता है। बडी अन्तर्दृष्टिसे और बडी सावधानीके उपयोगसे इस बातको सुनना है।

वृद्धावस्थामें भी जीवकी भावकर्मके साथ ही अभिन्नषट्कारकताका वर्णन—जीवने अब तक बाहरकी बातें ही सुनी है, वही परिचयमे आयी हैं, उन्हीका अनुभवन बना है। जब भी जीवने कुछ जाना, समझा, अनुभवा तो इस रूपमे कि मैं अमुक पदार्थको भोग रहा हू, मैं अमुक पदार्थका नाम जानता हू, सारी बाते विषयोके सम्बधकी सुनी है, परन्तु वहाँ भी यह क्या कर रहा था इसकी खबर नही है, और अपने आपका जो सहज परिणमन है वहाँ क्या बात बनती है इसकी भी खबर नही, आत्मा तब विकारी बन रहा है जब कि यह बन्धनमे है, अशुद्धतामे है। उस समयसे भी यह जीव अन्य पदार्थके साधनसे, अन्य पदार्थके कर्ता कर्मके आधारसे नही परिणमा है। पहिले विकारकी ही बात देख लीजिए फिर शुद्ध परिणमनकी चर्चा करेंगे। विकाररूप परिणमनमे भी यह जीव किसी अन्य द्रव्यके आधारसे अन्य द्रव्यके प्रयोजनसे यह नही परिणमा है, वहाँ पर भी अपने आपमे अभेद षट्कारकतारूपसे इसकी परिणति हुई। आत्मा कुछ बने तो जो भी बने, कुछ भी बना, वह आत्माका परिणाम ही तो हुआ। तो आत्माका जो परिणाम है वह उस कालमे आत्मासे

भिन्न नही है। एक परिणमनमे ही तो बात घटाया है कि कौन इसका कर्ता है ? कौन इसका कर्म है ? इसका कारण क्या है ? अपादान, सम्प्रदान क्या है, आधार क्या है ? यह ही बात यहा बतायेंगे, यही जीव उन भावोका षट्कारकरूप है।

जीवभावकी जीवके साथ अभिन्नषट्कारकता—अब देखिये—उस विकार अवस्थामें जो भी आत्माका परिणाम हुआ, परिणामविषयक जिसमे जो समझ हुई, जैसे वेदान्ती जन यह समझते है कि आत्माका परिणाम कुछ होता नही, और होता है तो एक चेतनेका होता है और जो कि अशुद्धता जँच रही है उसमे होता क्या है कि प्रकृति तो सब कुछ करती है और वह सब विकार प्रकृतिका है और प्रकृतिकी बुद्धि है। बुद्धि भी आत्माकी चीज नही है। वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार प्रकृतिकी ही चीज बुद्धि है। प्रकृतिसे पहिले बुद्धि बनती है, बुद्धिसे फिर अहकार बनता है और अहकारमे फिर इन्द्रिय आदिक रचनायें होती है। तो जो कुछ करने वाली है वह बुद्धि है। बुद्धि इस कामको कर रही है, और बुद्धिके किए गए कामको इस आत्माने चेत लिया, बस यो ही चलो सही। चेत लिया यही आत्माका परिणाम हुआ। उनकी निगाहमे यही सही। इसी पर विचार करें और आगे आत्माका परिणाम क्या हुआ ? सुखरूप, दुखरूप, ज्ञानरूप, विकल्परूप । तो इस दृष्टिसे ही सोच लो—जो भी आत्माका परिणाम है वह आत्ममयी क्रिया है, अन्य पदार्थ नही हो गया। तो इसके मायने यह हैं कि आत्माका वह परिणाम विभाव, विकार इसको इस प्रसगमे बता रहे हैं इसलिए इसीकी चर्चा ले लीजिए—वह जीवकी क्रिया है, जीवका परिणमन है, जीवमयी क्रिया है क्योकि सभी द्रव्योका परिणमन आत्मस्वरूप होता है, जीवस्वरूप नही। उनके अपने आपके स्वरूपमय होता है। तो अब यह देखिये कि आत्मामे जो क्रिया आयी वह आत्माके स्वसे आयी। वह जो परिणाम उत्पन्न हुआ जीवमे वह जीवपरिणाम आत्माधीन हुआ, आत्मासे हुआ। यहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव है उसकी बात नही निरखी जा रही है, वह है, उसकी चर्चाके प्रकरणमे वह भी कहा जायगा, पर यहाँ यह देखिये कि जिस समय जीव रागादिक रूप परिणम रहा है तो वह परिणाम आत्मपरिणाम है, जीव परिणाम है, जीवमयी क्रिया है, वह भावकर्म स्वतंत्रतासे जीवमे प्राप्त हुआ है। वह किसी दूसरेका परिणमन नही।

उदाहरणपूर्वक भावकर्मकी जीवके साथ अभिन्नषट्कारकताका आख्यान—जो लोग ऐसा भी मानते हो कि रागद्वेष सुख दुखादिक ये सब कर्मकी ही दशाये हैं, कर्मके ही खेल है। पर उन्हे इस आत्माने मान लिया, अपने रूप अगीकार कर लिया। अरे तो अपनेरूप मान लिया यह तो जीवका विकार हुआ ना। यह भी विकार सही। यह जीवके द्वारा स्वतत्रतासे प्राप्त है, न कि वह दूसरेका परिणमन है। तब उस भावकर्मका उस विकारका

करने वाला कौन है ? यह जीव। उस ही विकारमे घटा रहे है कि स्वय कर्ता, स्वयं कर्म, स्वय करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण है, उस भावकी बात कह रहे है। थोडी देरको ऐसी दृष्टि बना लीजिए कि हम दर्पण हाथमे लिए हुए है और उस पर पीठ पीछे खडे हुए बालकोके व वृक्ष वगैरहके प्रतिबिम्ब आ रहे है। उस समय आपकी दृष्टि निमित्त पर नही है। आप तो मात्र दर्पणकी ओर देख रहे है। जब तक वे चीजे दर्पणके सामने है तब तक प्रतिबिम्ब दिखता है और जब वे चीजे सामनेसे हटने लगती है तो वह प्रतिबिम्ब भी हटने लगता है। और जब वे चीजे दर्पणके सामनेसे बिल्कुल हट जाती है तो वह प्रतिबिम्ब भी हट जाता हैं। तो क्या दर्पणके आधारमे यह बात निरखी नही जा रही है ? यो ही समझिये--आत्मामे जो रागादिक परिणाम हुए है वे उस समय आत्माकी उस प्रकारकी परिणतिसे हुए है। चाहे वेदान्ती जन नही मानते कि रागपरिणाम आत्मामे होता है, राग भी प्रकृतिका विकार है लेकिन उस प्रकृतिके विकारको आत्माने जो चेता है यह अन्त राग से भी बढकर अपराध है। इसे मोह कहेगे। तो मोह जैसे बडे अपराधको बडे विकारको तो यह जीवका है, आत्माका है, ब्रह्मका है, यह स्वीकार करनेको किसी तरह तैयार हो जायें, पर राग सुख दुखादिक ये भी जीवमे विकार है, इनको माननेको तैयार न हो। झलका दिया उसने कि यह मेरा है। मान लिया उन्होने इसे। तो यह अपराध रागसे भी बढकर है। राग होना उतना अधिक अपराध नही जितना कि रागको अपना लेना, रागको स्वीकार कर लेना। राग मैं हू इस प्रकार अनुभव कर लेना यह अधिक अपराध है। इसका नाम है मोह। किसी भी दृष्टिसे लो यहाँ यह निरखना है कि आत्मामे जो परिणाम हुए, जो भाव हुए, जो कर्म हुए वे आत्माके हैं। आत्माके द्वारा प्राप्य है। और उनका करने वाला यह जीव है। परिणामा तो वही ना, एक द्रव्यकी दृष्टिसे लेकर अभिन्नषट्कारकता बनती है। जहाँ एक द्रव्यको ही निरखा जा रहा है नीचे ऊपर अगल बगल, सब निरख उस द्रव्यमे ही है। भवनशक्तिके प्रकरणमे एक द्रव्यको निरखा जा रहा था, मगर ऊचे नीचे अगल बगल नही निरखा जा रहा था तब कारकशून्यता दृष्टिमे आयी थी, लेकिन यहाँ उस एक द्रव्यको सर्व ओरसे निरखनेकी बात चल रही है। हुआ वह भावकर्म तो उस कर्मका कर्ता अशुद्ध निश्चयसे यह जीव है।

अशुद्धनिश्चयनय व शुद्धनिश्चयनयमें अभिन्नषट्कारकताका योग--इस प्रकरणमे नयोकी बात और सुन लीजिये। नयोके भेद समझने लायक सक्षेपमे चार है--परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय। परमशुद्ध निश्चयनय--जहाँ एक द्रव्य स्वभाव दृष्टिमे आ रहा है, यहाँ इससे सम्बध है भवनशक्तिका अथवा यह तो भवनशक्तिसे भी ऊपर वाला नय है, यह तो निरख भवनमे नही दिखती, किन्तु ध्रुवस्वभाव

निरख रहा है। शुद्ध निश्चयनयमे शुद्ध परिणमन निरखे जा रहे है और वे परिणमन एक उस निजकी अभिन्न षट्कारिकतामे निरखे जा रहे है। यह शुद्ध निश्चयकी पद्धति है। जैसे जीवमे ज्ञान हुआ, केवलज्ञान हुआ तो उसका करने वाला कौन है ? यह जीव स्वय है। यही जीवमयी क्रिया है, कर्म है और इसी साधनसे हुआ है, इसी आधारमे हुआ है, यह सब निरखा जा रहा है। यह शुद्ध निश्चयकी पद्धति है, अशुद्ध निश्चयनयमे जीवका अशुद्ध परिणाम देखा जा रहा है, पर देखा जा रहा है अभेदषट्कारक रूपसे। इस भावकर्मको, इस रागविभावको, इस विकारको करने वाला अन्य नही है। जिसमे विकार है वही कर्ता है, जिसका विकार है उसीके लिए हुआ है, उस ही के परिणमनसे हुआ है, उसकी परिणतिसे हुआ है। इस तरह अभेदषट्कारकताकी पद्धतिसे जीवमे अशुद्ध विभावोका परिणमन जाना यह अशुद्ध निश्चयनयका विषय है। व्यवहारनयका विषय फैला हुआ है और यह दो द्रव्योमें अथवा दूसरे द्रव्यके निमित्तसे होने वाली बातोका इन सबका वह सम्बध बनाता है। जैसे कर्मके निमित्तसे जीव रागी हुआ, कर्मका निमित्त पाकर जीव रागी हुआ और सूक्ष्मतासे इसका विवेचन करे कर्मका उदय कर्ममे हुआ, उस कालमे जीवमे राग हुआ। किन्ही भी शब्दोमे कहो, जहाँ दो पर दृष्टि है वह व्यवहारनय बन जाता है। तो भेदषट्कारकता व्यवहारनयमे बनी है। तो अब अभेदषट्कारक रूपसे विभावकी बात परखी जा रही है। यह विकार जीवका कर्म है, विकारोका करने वाला जीव है। विकार स्वय जीवमय हैं, क्योकि वे जीवके परिणाम हैं। जो जीवके परिणाम हैं उसके कालमे वह जीवमय है। जैसे अगुली मुड गई तो मुडी हुई अगुली अगुलीमय ही तो है कि अन्य पदार्थमय है ? इसी प्रकार जगत में कुछ भी विकार हो, विकार बिना तो रहा न जायगा अशुद्ध दशामे, चाहे प्रकृतिमे किए हुए कामको अपना मान रहा हो, लेकिन ऐसा कहकर यह रोग आसानीसे छूट नो न जायगा। उनका यह विकार तो रागद्वेषके विकारसे भी बढकर है, इसका नाम है मोह। किसी भी प्रकार मानो, जीवमे जो भी बात बनी है वह जीवसे प्राप्य है, जीवका परिणाम है, और उस भावको करने वाला अशुद्ध निश्चयसे यह जीव है। भावकर्मके कालमे यद्यपि होता रहता है यह कि द्रव्यकर्मोमे आस्रव हो रहा, बध हो रहा, पर यह जीव उन कर्मोका कर्ता नही, द्रव्यकर्म बध, आस्रव आदिकका कर्ता नही है, क्योकि यहाँ दृष्टि द्रव्यकी ही की जा रही है। उनमे जो कुछ बनता रहता है रूपान्तर, रसान्तर प्रकृति अनुभव आदिक वे उनके उनमे चलते रहते है। उनका करने वाला जीव नही। तो जीव अपने परिणामात्मक भावकर्मका कर्ता है। तो इस विकार अवस्थामे हुआ क्या ? इनका जीव कर्ता है, जीवका यह कम है। और, जीवकी परिणति द्वारा हुआ है और उसका फल जो कुछ है सुख दुख, अशान्ति, वेदन आदिक वे भी जीवके लिये हैं और ये सब हुए हैं इस जीवके प्रदेशमे, इसका अधिकरण जीव

है और ये हुए है अपने पूर्वपर्यायसे आ आकर, ऐसे ऐसे उत्तर पर्यायमे हुए है। यो अभेद षट्कारकता जीवकी जीवपरिणामोके साथ है और इस कारक रूपसे अनुगत हुई जो क्रिया है यह ऐसी हुई क्यो. इसीको यह क्रियाशक्ति सूचित करती है। आत्मामे इस प्रकारकी क्रियाशक्ति है।

केवलमें व्यवहारपद्धतिसे निरीक्षणका फल अभिन्न षट्कारकताका परिचय—यहा एक शुद्ध की दृष्टिसे सब निरखना है। केवलको देखना है, उस केवलमे क्या बात गुजर रही है और इस बातको समझना है एक व्यावहारिक ढगसे। केवलमे गुजर क्या रहा है इसी बातको समझ रहे है हम व्यवहारपद्धतिसे तो इस मेलमे कि समझा तो जाता है एक केवल द्रव्य और समझ रहे है हम व्यवहारपद्धतिसे, तो यहाँ अभेद षट्कारकताकी जानकारी उत्पन्न होती है। अपने को किया, अपने लिए किया, अपने से किया, अपने मे किया, अपने द्वारा किया, अपने आपने किया, यह बात इन दो बातोके मेलसे समझमे आयेगी कि देखते है केवलको और देख रहे है हम व्यवहारपद्धतिसे। निश्चयपद्धतिमे तो षट्कारकता नही चलती है। वहाँ तो एक वस्तुस्वभाव निरखा जा रहा है और जिसको कि परमार्थत प्रतिषेधगम्य भी कहते है। तो अब केवलमे व्यवहारपद्धतिसे देखा जा रहा है तो इस अवस्थामे भी जीव अपने अपने ही कारकोके अनुसार अपनी परिणमी हुई रूपपरिणतिको करता जा रहा है। यह तो बात एक अशुद्धताकी कही, लेकिन यह विकार, अशुद्धता यह आत्माका स्वभाव नही। आत्माकी शक्तियोके स्वभावसे इस प्रकारकी बात होना संगत नही है। हो गया आत्मापर, गुजर गया आत्मापर, पर ऐसा भी तो कहते है ना लोग कि बात तो आ पडी, मगर इसका यह स्वभाव न था। यह अब भी ऐसा नही कर रहा है, ऐसी कोई विशेषताये हुआ करती है। तो इसी तरह अनादि परम्परासे अशुद्ध हुए आत्मामे ये विषमताये चल रही है, परन्तु आत्मामे आत्मस्वरूपका निर्माण करने वाली शक्तियोमे यह स्वभाव नही पडा है कि वह विकार करे। अशुद्धनिश्चयसे जीवकी भावकर्मके साथ अभिन्नषट्कारकता निरखनेसे पर्यायको निमित्त सन्मुख न देखा और द्रव्य सन्मुख देखा और द्रव्य सन्मुख देखनेसे यह अशुद्ध पर्याय मिटे, ऐसा अवसर पा लिया जायेगा।

पर्यायशुद्ध आत्माकी शुद्ध पूर्णविकसित भावके साथ अभिन्नषट्कारकता—अब जरा आत्माकी उस शुद्ध पद्धतिमे निरखियेगा, आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूप है, जानन मेरा काम है, वह जानता रहता है। तो आत्माका यह जानन बना रहता, इस काममे कोई मददगार हो रहा है क्या ? नही हो रहा। आत्माका स्वभाव ही जाननरूप है और वह स्वभावत जान रहा है, अमर्यादित अपना विलास कर रहा है, ऐसा आत्मामे स्वभाव पडा हुआ है। तो आत्मा स्वभावसे जान रहा हे। जान रहा है, कितना जान रहा है ? स्वभावदृष्टिसे आत्माको तकेगे कि यह जान रहा है तो कितना जान रहा है ? अमर्यादित। बडी जल्दी

समझनेके लिए आप एक शुद्ध परमात्मत्व की स्थिति अपने उपयोगमे लाइये। वे प्रभु जो शुद्धोपयोगकी निरन्तर भावना करनेके प्रतापसे सर्वकर्ममलसे दूर हो गए, जिनके शुद्ध अनन्त चैतन्यस्वभाव प्रकट हुआ है, ज्ञानका स्वभाव पूर्ण प्रकट हुआ है। देखिये—ज्ञानमे तो ऐसा स्वभाव पडा है कि जो भी सत् है, जगतमे जो भी पदार्थ हैं वे सब प्रतिभासमे आ जायें, मगर अब तक एक आवरण था, एक रुकावट थी, वह भी जहाँ न रही। कैसे व कहाँ नही रही ? अपने आत्माके उस अखण्ड स्वभावकी दृष्टि अभीष्ण हो, निरन्तर हो, प्रबलतासे हो तो इस पौरुषमे यह सामर्थ्य है कि ये कर्मादिक आवरण दूर हो जाते हैं। ऐसा एक सहज निमित्तनैमित्तिक योग है आत्मामे या वहाँ भी आत्माने अपनेमे शुद्धोपयोग किया, हो गया वहा अनन्त ज्ञानका परिणमन तो उस समयमे यह आत्मा कर क्या रहा है ? शुद्ध अनन्त शक्तिमान ज्ञायकस्वभावरूपसे परिणम रहा है। वहा भी आत्मा जाननक्रियामे स्वतंत्र है। ज्ञानमय है और ज्ञानमय होनेसे जो ज्ञानका अब प्रकाश हुआ है उस स्थितिमे जहा आत्मा केवल है वहा जो शुद्धताका, ज्ञानका विकास है वह अमर्याद है और उनका वह स्वतंत्रतया कर्ता है। उस ज्ञानपरिणमनका, उस सर्वज्ञताके परिणमनका करने वाला कोई दूसरा नही है, दूसरा प्रभु भी नही है। वही प्रभु केवल अपने ज्ञानपरिणमनमे समर्थ है, अपने उस केवलज्ञानपरिणमनको कर रहा है, अन्य पदार्थको तो करेगा ही क्या ? जब यहा भी यह बात निरखी जाती है इस क्षायोपशमिकताकी हालतमे कि भले ही इन्द्रिय आदिक साधन बन जायें, उस समयमे भी जो ज्ञप्तिपरिणाम होता है वह ज्ञप्तिपरिणाम स्वतत्रतासे आत्मा द्वारा हो रहा है। तो उस शुद्ध दशाकी बात तो अपूर्व ही है। वहा कोई आवरण नही। अपने आपके ज्ञानादिक गुणोसे पूर्ण विकसित है। तो वह ज्ञानका स्वतत्र परिणमाता है। अतएव यह मैं आत्मा ज्ञान परिणामका कर्ता हूँ और उस शुद्ध अनन्त शक्त्यात्मक ज्ञानका जो परिणमन हुआ है परिणमन स्वभावसे वही-वही पाया गया। जीव कर्ता है तो उसमे पाया क्या गया ? बात क्या बनी ? वह ज्ञान जो कि जीवसे अभिन्न है, जीवका उस समयका परिणमन है, तो वह जो ज्ञानपरिणमन हुआ है उसका कर्म कहा है ? उस आत्मामे ही है और इस तरह जो परिणम गया है उस ज्ञानपरिणमन स्वभाव से, उसका साधकतम कौन है ? वह साधक कोई बाहरी है क्या ? किसी दूसरे प्रभुने किया है क्या ? वह सर्वज्ञता परिणमन या अन्य पुद्गल आदिक ने किया है ? उसका साधकतम वही है, करण वही हुआ करता है। और, भी देखिये—ज्ञान परिणमन हुआ है तो वह किसलिए हुआ ? जानते रहनेके लिए। ऐसे ही रहनेके लिए होता है। उसका प्रयोजन कोई दूसरा पदार्थ नही है और अपना ही पहिले जो विकल ज्ञान था उस ज्ञानसे हटकर इस ज्ञानमे आया है तो ध्रुवता इस आत्मामे रही, जहाँसे यह केवलज्ञान परिणमन प्रकट

हुआ है। वही तो अपादान हुआ और आधार यही है, यह तो प्रकट सिद्ध बात है। तो जीव का जो शुद्ध परिणाम है, सर्वज्ञता है वह भी जीवके कर्ता कर्मादिक अभेदषट्कारकसे हुआ है, यों अभेदकारकरूपतासे भवन होनेका नाम है क्रियाशक्ति।

अभेदषट्कारकतासे अनुप्राणिता क्रियाशक्ति—क्रियाशक्तिमे यह बताया जा रहा है कि पदार्थ अपने ही कारणसे अपने ही लिए अपनेको अपने आपको अपनी ही पर्यायरूपसे रचता रहता है। यहाँ अभेदषट्कारकताकी बात कही जा रही है। इस सम्बधमे मुख्यतया तो स्वभावपरिणमनकी बात लेना है, क्योकि पदार्थ आत्मद्रव्य, अपनी शक्तियोके बलसे स्वभावत जो कार्य कर सके वही वस्तुत कार्य कहा जा सकेगा और जो विकार आते हैं वह शक्तियोका कार्य नही, किन्तु शक्तियोकी दुर्दशा है। लोकमे भी तो कहते है कि जो स्वभावत करे सो कार्य है और जो परकी उपाधिसे कुछ विपरिणमन हो, उसके प्रतिकूल हो जाय वह उसका कार्य क्या है ? वह तो एक दुर्दशारूप बात हो जाती है। ऐसी ही कुछ दृष्टि लगाकर शक्तियोका स्वरूप देखना है। शक्तिया अपने आप अपने स्वभावसे विकार करनेका स्वभाव नही रखती। ऐसी योग्यता है आत्मद्रव्यमे कि अशुद्ध आत्मद्रव्य उपाधिका सन्निधान पाकर विकृत हो जाता है, किन्तु शक्तियोमे ऐसा स्वभाव नही पडा हुआ है कि वह विकार किया करे। स्वभाव न होकर भी विपरिणमन होता है, ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जैसे जलका दृष्टान्त ले लीजिए—उसका स्वभाव ठडा है, लेकिन अग्निके सम्बधसे उसका उष्णतारूप परिणमन हो जाता है। तो यह एक मोटा दृष्टान्त है, अनेक दृष्टान्त ले लीजिए। दर्पणका स्वभाव स्वच्छतारूपमे स्वयं व्यक्त रहनेका है। लेकिन उपाधिका सन्निधान पाकर उसमे प्रतिबिम्बरूप विपरिणमन होता है। इसी प्रकार आत्माकी शक्तियोका कार्य, स्वभाव तो विकारका नही है, पर होता है, वह एक पर्यायगत योग्यताकी बात है। वह प्रकरण दूसरा है। यहा तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी प्रसिद्धिके लिए शक्तियोका वर्णन चल रहा है। यहा अभेदषट्कारक रूपमे होनेकी शक्तिका नाम है क्रियाशक्ति। सहज आत्मशक्तिका कार्य है स्वभावपरिणमन।

स्वभावपरिणमनक्रियामें अभेदषट्कारकता—यहा स्वभावपरिणमनकी ही बात देख लीजिए। अनन्तज्ञान मिला, अनन्त आनन्द हुआ, वह पूर्ण स्वभाव प्रकट हुआ तो वह कैसे प्रकट हुआ ? क्या विधि बनी ? वस्तुत उसको एक शब्दसे बता दिया। वह तो स्वयभू है, स्वय हुआ, स्वयमे हुआ, स्वयंसे हुआ, स्वयके लिए हुआ और वह जो हुआ वह स्वयं ही है, कर्म और स्वयके साधनसे हुआ वह अनन्तशक्ति, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द रूप परिणमन जो हुआ वह ऐसा ही भरा हुआ था, स्वभाव वही प्रकट हुआ है, उसे परख लीजिए। शुद्धस्वभावके दर्शन, आलम्बन, आश्रयसे जो हो रहा है साधक दशामे भी वह

अभेदषट्कारक रूपमे हो रहा है और जहा परमात्मदशा प्रकट हुई है वहा पर वह जो अनन्तज्ञान स्वभावरूपसे व्यक्त हुआ है उस व्यक्त होनेमे कोई दूसरा मददगार हो रहा क्या ? कि दो मिलकर एक कामको कर रहा हो ? वह स्वतन्त्ररूपसे अपने आपमे विकसित है। अत स्वरूपत कर्ता और उस स्थितिमे प्राप्य क्या हुआ ? पाया क्या गया ? उस परमात्मा को मिला क्या ? मिलनेकी बात कोई पृथक नही हुआ करती है। मिलना प्राप्य वह अपने आपका ही परिणमन होता है। उसमे प्राप्य हुआ वही स्वभाव। वह है अनन्त ज्ञानात्मक प्रकट स्वभाव वह परमात्मासे भिन्न चीज नही है किन्तु तद्रूप है। वही प्राप्य है, वही कर्म हुआ। और, इसमे साधकतम क्या है ? शुद्ध अनन्त शक्तियोका जो परिणमन है उस ही स्वभावसे तो वह हुआ। किसी दूसरे साधनके द्वारा हुआ क्या ? केवलज्ञान किसी अन्य पदार्थके साधनसे बना है क्या ? वह अपने ही स्वभावसे हुआ ? वही करण है। और, केवलज्ञान होनेका फल किसे मिला ? उसी भगवानको मिला या अन्य और प्रभुओको मिला ? जो वहाँ शुद्ध परिणमन है उनका फल अनुपम शाश्वत् आनन्दमे लीन रहना, यह उनको ही तो मिला है। अथवा फल क्या है ? उसका सहज उत्पादव्ययध्रौव्यमयी सत्तासे अनुस्यूत रहना यही फल है। तो सम्प्रदान भी यह आत्मा स्वय अपने आपका है। अपादान—एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमे आना, ऐसा होनेमे जहांसे आया, जिस द्रव्यसे आया वह द्रव्य तो ध्रुव है, उसीको अपादान कहते है। अपादान कौन है ? वही आत्मद्रव्य। यह पर्याय कहाँसे निकली है ? इस आत्मद्रव्यसे। जैसे वृक्षसे पत्ता गिरता है----वृक्षमे पचमी विभक्ति लगाते हैं, क्योकि पत्ता गिर रहा है, वह निकल रहा है। जहांसे निकल रहा है ? वह ध्रुव है। जिस वाक्य रचनामे पचमी अध्रुव पदार्थमे भी लगी हो तब भी भावना ध्रुव जैसी है तब अपादानार्थमे पञ्चमी है और वहाँ अपादानपना बन जाता है। यहा ध्रुव आत्मा ही तो है, उस आत्मामे ही यह अपादानकारकता प्रकट हुई है। तो अपादान भी दूसरा नही है और अधिकरण तो स्पष्ट ही अभिन्न है। वह केवलज्ञान कहा विराज रहा है ? वह शुद्ध अनन्त ज्ञानशक्तिका जो परिणमन है उसका आधारभूत यह स्वय आत्मा है। जब स्वय अभेद षट्कारक रूपसे उत्पन्न हुआ है तो स्वय आविर्भूत हो गया, इसीलिए उसका नाम स्वयभू है।

प्रतीक्ष्य सर्वोत्कृष्ट स्थिति—–देखिये--सर्वोत्कृष्ट अवस्था हम आपकी यही होनी है। परमात्मदशा प्रकट हो बस यही एक उत्कृष्ट अवस्था है, यही लक्ष्यमे आये। ऐसी उत्कृष्ट अवस्था यदि हमारे लक्ष्यमे रहेगी तो यहाके अनुकूल प्रतिकूल साधनोमे सहनशीलता रह सकेगी। क्या है ? क्या करना है ? कोई किसी तरह करता है कर दे, कोई किसी तरह चलता है चल दे, उसका काम उलझनेका नही है। इस उपयोगको, इस भगवान आत्माके इस व्यक्त हुए धनको मैं बाह्य जगह लगाकर बरबाद करूँ, दुरुपयोग करूँ, इसमे तो मेरे

क्षण ही व्यर्थ जायेगे। मुझे तो वह वीतरागदशा वह ज्ञानदशा प्राप्त करनी है। उससे हल्का कुछ भी मुझे अभीष्ट नही है। वही परम कल्याणमय अवस्था है। तो उस स्थितिको पानेके लिए क्या यहाँ वहाँके साधन जुटानेकी आवश्यकता है? इस साधनके जुटानेकी, व्यग्र होनेकी जरूरत है क्या? ज्ञानकी अतुल महिमा है। ज्ञान जब अपने बलमे नही रहता तब वहाँ व्यवहार साधनके आलम्बनकी जरूरत पडती है विवेकीको, किसलिए कि यह आत्मा कुमार्गमे न चला जाय और उस सन्मार्गकी, उस शुद्धस्वभावके ध्यानकी पात्रता बनी रहे। होता है अनेक कुछ, पर यहाँ जो बात प्रकट हुई है उसकी बात कही जा रही है कि उसको प्रकट करने वाला कोई दूसरा साधन है क्या? यो तो किसीकी हुचकी आती हो तो एक तत्र बना दिया गया है—क्या कि उसे जरा कोई अपराधकी बात कह दिया जाय—देखो तुमने ऐसा गलत काम किया है, यो उसे कुछ डरासा दिया जाय तो भय आ जानेसे उसे हुचकीका ध्यान भूल जायगा और हुचकियाँ आना बन्द हो जायगा। यो तंत्र बहुत है, पर साक्षात् बात बताओ—क्या उस दूसरे पुरुषके वचनने उसकी हिचकियाँ वन्द किया है? जो भी उसके शरीरमें हुआ है वह उसीसे हुआ है। तो यहाँ साक्षात् धर्मकी बात कही जा रही है कि वह वीतराग परमात्मदशा साक्षात् धर्म है। उस धर्मका आविर्भाव किसी दूसरे पदार्थके द्वारा होता है क्या? यहाँ सुनिये—यदि यह दृष्टि है कि इस केवलज्ञानदशाका, इस धर्मभावका, इस स्वभावका आविर्भाव दूसरेके द्वारा होता है तो इस दृष्टिमे दूसरेकी तरफ उपयोग है, वहां यह निर्मल दशा होने की ही नही। तो यो अपने आपके परम उत्कृष्ट कल्याणकी स्थितिमे यह जीव स्वतत्र है, स्वयंभू है, फिर क्यो अपने शुद्ध आत्मस्वभावकी प्राप्तिके लिए नाना सामग्रियोकी खोजकी व्यग्रता करके परतत्र बना जा रहा है।

सहज अन्तस्तत्त्वकी उपासनाकी आदेयता—अरे प्रियतम! उपासना करो इस परमात्मतत्त्वकी, पूजा करो, चर्चा करो इस परमात्मतत्त्वकी। उसको अभेदभावसे ध्यानमे लावो। यहा ही उपासना करना है अपनी शान्तिके लिए, अपने आनन्दके लिए, अपने कल्याणके लिए। अपने आपमे ही अपना काम करना है। जो ऐसे लक्ष्य वाले १०-५ महापुरष जिस सगमे विराजते हैं उस संगको ही यह विवेकी आनन्दविभोर होकर कह उठता है कि ऐसे साधर्मी जनोके मिलनकी घडी धन्य है! धन्य है!! तो इस तरहका जो अपना धर्मस्वभाव है, परमात्मात्मतत्त्व है, जहां कि वास्तविक आनन्द है, सदाके लिए सकटोसे छुटकारा है वह कहांसे प्रकट हुआ है? ये सब निर्णय तो स्वयकी षट्कारिकासे हो जाते हैं। यही देखो ना, कि यह आत्मा क्रियाशक्तिके प्रतापसे अपने आपमें अपने ही द्वारा अपने लिए अपनेमे अपना परिणमन करता है। ऐसा निरखनेमे कितना लाभ है? परकी दृष्टि हट गई, केवल एक स्वद्रव्य रहा। और इस स्वद्रव्यमे भी जब इस कैवल्यकी दृष्टि निरखी जा रही है तो उन

शक्तियोका परिणमन शक्तियोकी ओर देखा गया है, स्वभावकी ओर सम्मुख किया गया है अपने उस उपयोगको, उन शक्तियोको, तो ऐसी स्थितिमे तो यहा कोई विषयकषायके भाव होगे क्या ? वहा तो एक निर्मल परिणामकी धारा चलती है, और वही हम आप लोगोको चाहिए। अन्य सब बातें तो असार है। तो इस तरह स्वयं ही षट्कारक रूपसे यह अपनी पर्यायोसे उत्पन्न होता रहता है, यह बात क्रियाशक्तिमे बतायी गई है।

आत्मीय ज्ञानानन्दस्वभावकी अश्रद्धाका परिणाम—आत्माकी सहज शक्तियोकी समझसे यह विश्वास दृढ हो जाता है कि आत्माका तो ज्ञान और आनन्द स्वभाव है। जानता रहे और निराकुल रहे। केवल जाननेमे आकुलता कहा बसी हुई है ? जानता है, जान लिया, प्रतिभासमे आ गया, इतना ही मात्र ज्ञानका काम है। वहा आकुलताओका प्रवेश है कहा ? जाननसे आगे बढे तो वहाँ आकुलताय आ जाती हैं। देखो– प्रभु तो अपने एक लकीरमे चल रहे है, जानन स्वभाव है। जाननमे रहते हैं, जाननसे आगे बढते नही है, लेकिन यह ससारी सुभट प्रभुसे आगे अपनी दौड लगाना चाह रहा है। यह जाननसे आगे बढ रहा है। अरे जानना था, जो पदार्थ जैसा है वैसा जान लिया, यह तो लकीरको मिटानेके लिए बडा योद्धा बनकर तैयार हो रहा है। जो नही है उसे भी जाने, जो नही है उसे भी उपयोगमे ला दे। मकान मकान है, यह यह है, मकान इसका तो नही है, पर अज्ञानी जीव सोचता है कि यह मकान मेरा है। ऐसा तो भगवान तक भी नही जानते कि यह मकान इसका है। अगर भगवान इस बातको जान जायें कि यह मकान तो इस अमुक व्यक्तिका है तब तो फिर यह नगरपालिकाकी रजिष्ट्रीसे भी तेज रजिष्ट्री हो जायगी। फिर उसका मकान कभी न छूटेगा। तो प्रभुसे भी आगे ये संसारी जीव बढ चढ करके चल रहे हैं। यह क्या है ? यह तो इसका व्यर्थका ऊधम है, इसकी उद्दण्डता है। इस उद्दण्डता के फलमे इसको फल यह मिलता है कि शरीरके बन्धनमे पडा हुआ जन्ममरणकी घोर यातनायें सह रहा है। अरे आत्मन् ! कुछ अपने आपपर करुणा करके सोच तो सही कि क्या ये जन्म मरणके घोर सकटोमे ही पड़े रहनेमे तेरी भलाई है ? अरे उसमे क्या रखा है ? कीडा मकोडा, सूकर, गधा, मुर्गा, मुर्गी आदिक योनियोमे जन्म लेकर तत्त्वकी कौनसी बात पा ली जायगी ? इन खोटी योनियोमें कोई तत्त्वकी बात तो नही है लेकिन जरा उस गधेके दिलसे पूछो कि रे गधे तुझे इस गधेकी पर्यायमे आकर क्या तत्त्व मिल रहा है ? तो मानो उसका यह उत्तर होगा कि मुझे तो यहा विषयोका बडा मौज मिल रहा है, यहा तो बडा तत्त्व मिल रहा है। तो यहा इन मोही जीवोकी ऐसी दशा है कि जहा कुछ भी सार नही है, तत्त्व नही हैं वहा ऐसे लगे भिडे पडे हैं। ये सब अनर्थ क्यो हो रहे हैं ? इस जीव को अपने ज्ञानानन्द स्वभावकी खबर नही है। खबर भी सच्ची तब कहलाये जब यथार्थ

बोध हो कि मैं ज्ञानस्वरूप हू। ज्ञानपरिणमन इस ज्ञानस्वभावसे ही प्रकट हो रहा है। दूसरा कोई साधन नही है। इस ज्ञानपरिणमनका कर्ता दूसरा कोई नही है। यह ज्ञान स्वभावात्मक है और उसकी पर्याय, उसका परिणमन होता ही इसी तरह है। इसमे दूसरा क्या करेगा ? निमित्तनैमित्तिक भाव भी जहा है वहा विशिष्टता तो है, पर्यायमात्र काम नही है। और विशिष्टता भी वहांकी योग्यतासे चलती है, पर करने वाला कोई दूसरा किसी दूसरे को नही है। मेरे ज्ञानस्वभावसे मेरा ज्ञान प्रकट होता है। मेरे आनन्द स्वभावसे मेरा आनन्द प्रकट होता है। ये जीव इस ज्ञानानन्द स्वभावको भूलकर इन बाहरी पदार्थोमे सुधार बिगाड करने की इ छा करके, कोशिश करके आकुलित हो रहे है, पर उन परपदार्थोंके पीछे हैरान होनेसे लाभ क्या मिलता है ? बाह्यमे सिर मारने से इस जीवको मिलता क्या है ?

प्रभुके नुसरित मार्गका वात्सल्य—भगवान प्रभु जिनेन्द्र देवने, सिद्ध भगवंतने क्या किया था ? अपने उपयोगको अपने सहज स्वभावमे संयत किया था। उनकी दुनिया वही है वहा ही उनका सर्वस्व व्यापार, उपयोग है। इस स्वभावोपयोगमे वह आनन्द बसा है कि तीनो लोकोका राज्य वैभव भी सामने रखा हो तो वह कुछ नही है। अगर इन लौकिक वैभवोमे सुख होता तो तीर्थंकर देव उन्हे छोडकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर क्यो होते ? बनवास क्यो धारण करते ? वे अपने आपके स्वभावोपयोगमे तृप्त रहे। उस वैभवसे बढ कर यदि यहाका लौकिक वैभव होता तो फिर वनवासको त्यागकर पुन अपने घर वापिस हो जाते। सारा नगर तो उनका स्वागत करता इसलिए कि मेरे बिछुड़े हुए तीर्थंकर महाराज पुन वापिस आ गए। सारी नगरीके लोग तो बडी खुशिया मनाते। देखिये- एक तीर्थंकरके पास चक्रवर्तीसे भी अधिक वैभव होता है। उसके चरणोमे इन्द्र सदा सेवक रहता है। इससे बढकर वैभव और क्या कहा जाय ? ऐसे वैभवको भी त्यागकर वे तीर्थंकर देव एकान्तमे रहे, तो उन्हे अपने आपके अन्दर विराजमान सहज वैभवकी प्राप्ति हुई थी जिसके कारण उन्हे यहांके सारे लौकिक वैभव असार दीखे। तो उसी अनुपम वैभवके प्राप्त करनेकी कोशिश हम आप करें। हम आपने आज मनुष्य पर्याय पाया है तो इस धर्म का आदर करे। हम अपने आपके भगवान आत्मदेवका, कारणपरमात्मतत्त्वका, इस शुद्ध जीवस्वभावका आदर करते नही, उसकी शरण गहते नही, बाह्य पदार्थोको ही अपना आश्रय बनाये हुए है तो फिर कैसे अपने उस अनुपम वैभवकी प्राप्ति हो सकती है ? यदि इन बाह्य पदार्थोके ही दास बने रहे, तब तो दीन हीन भिखारी की जैसी हालत बनी रहेगी जन्म मरण की जो परम्परा अभी तक चल रही है वह चलती रहेगी। जो चीज चाहिए है उसके लिए तो सारे बल लगाकर उसको पानेकी कोशिश की जाती है। और करते भी है लोग ऐसा। जिन्होने जो चीज अच्छी माना है उसकी प्राप्तिके लिए वे सब कुछ त्याग

कर, बडे बडे श्रम करके भी उसको पानेका उद्यम करते है। अब निर्णय तो कर लो कि इस जगतमे श्रेष्ठ तत्त्व क्या है ? यही परमात्मतत्त्व श्रेष्ठ तत्त्व है। यह श्रेष्ठ है तभी तो बडे बडे पुरुष उनके नामपर प्रतिमा बनाकर पूजते है। प्रतिमामे परमात्मत्व नही है, प्रतिमामे चेतना नही है, प्रतिमा वीतराग विज्ञान नही है, लेकिन जिसे वीतराग विज्ञानकी तीव्र भक्ति है उसकी यह वृत्ति बन जाती है कि उसके नामकी मूर्ति, प्रतिमा बनाकर लोग आदरसे पूजते है। तो सोचिये जिसके नामकी प्रतिमा बनाकर पूजी जाती है उसमे कितना महत्त्व है ? वह वीतराग विज्ञान वह परमात्मतत्त्व सकल कल्याणमय है, परम पावन है, कृतकृत्य है, उसकी उपमा किसी भी प्रकार नही दी जा सकती।

ज्ञानानन्दस्वभावश्रद्धालु द्वारा शुद्धज्ञानानन्दपरिणतिक्रियामें अभेदषट्कारकताका दर्शन—जिसने ज्ञानानन्द स्वभावकी श्रद्धा की है यह मै स्वय ज्ञान और आनन्दसे भरा हुआ हूँ, किसीसे क्या आशा करना, किसीको क्या सोचना ? अरे जिसका जो परिणमन होता हो, हो, जहा जो होता हो, हो, वह उसके अपने आपकी जिम्मेदारी है। मेरी वहा क्या जिम्मेदारी है ? मेरा उत्तरदायित्व है मेरे अपने आपके स्वरूपको सुधारनेके लिए। यहा सभाल बनानेके लिए उनका परम उपकार मानें जिनके पूजनसे, जिनके दर्शनसे, जिनके ध्यानसे आत्माको स्वभावकी सुध होती है। हमारे परम उपकारी तो ये देव, शास्त्र, गुरु है, इसी कारण इनको प्रभु कहा गया है। तो ज्ञानानन्द स्वभाव है आत्माका। ऐसा वह ही सही समझ सकता है जो इस स्वभावको अपने उपयोगमे लिए हो। सर्वत्र अपने ही स्वभावसे, अपनी ही प्रकृतिसे, अपनी ही परिणतिसे यह ज्ञान प्रकट होता है। इन्द्रियके बिना अपने ही परिणमनसे यह ज्ञान प्रकट होता है। जरा एक दृष्टान्त ले लीलिए। तबला बजाने वाले ने तबले पर हाथ ठोका और आप जानते है कि तबला बजाने वाला कितनी चचलतासे तबले पर हाथ घुमाता है। उसकी एक एक अगुली कितनी जल्दी चलती है ? लोग इसको देखकर हैरान हो जाते हैं। अगुलिया चल रही है, तबलेपर ठोकर लग रही है, वह मनुष्य अपनेमे अपना काम कर रहा है। पर उनके सयोग कालमे जो आवाज निकल रही है, उस शब्दपरिणतिमे वे अगुली कुछ कर पाती है क्या ? वह शब्द परिणति वहा भी स्वतत्रतासे हो रही है। इसकी अपेक्षामे जहा यह कह सकते कि जैसे अगुली उठती जितनी जल्दी उठती, काम होना रहता है, लेकिन उस शब्द परिणतिमे वे शब्द वर्गणायें स्वतत्रतया परिणम रही है। अगुलियोका कुछ ग्रहण नही करती। जरा और मोटा दृष्टान्त लो— हारमोनियममे कितने स्वर होते है ? और जिस स्वरपर अगुली धरो वैसी आवाज निकलती है। देखिये—बजाने वाला कितनी तेजीसे बदल-बदलकर किस तरह हाथ फेरता है, सबके द्वारा यह आसान बात नही हो पाती। उस स्थितिमे जो शब्दपरिणति हो रही

है उस शब्दपरिणतिमें न काठका सहयोग है, न अंगुलियोंका। वहाँ तो शब्दवर्गणामें स्वतन्त्रतया शब्दपरिणति हो रही है। ये इन्द्रियाँ साधन हैं, उन इन्द्रियोंके माध्यमसे यहाँ ज्ञान चल रहा है, हो रहा है, ठीक है, जान लिया, लेकिन यहाँ जब भी जाननपरिणति होती है उस जाननपरिणतिमें ये खून चाम आदिक भरी आँखें सहयोग कर रही हैं क्या ? ये जड पदार्थ उस ज्ञप्ति परिणतिमें कुछ अपना सौंप रहे हैं क्या ? वहाँ तो ज्ञप्तिरूप परिणमन इस आत्माके स्वभावमें स्वके तन होता हुआ ही हो रहा है। जब यहाँके ज्ञानकी ही यह बात है तब परमात्मप्रभुके ज्ञानकी तो बात सोचो। उनका वह सकलविमल केवल ज्ञानपरिणमन उनके ही स्वभावसे उनके तेज प्रतापसे उनकी ही स्वतंत्रतासे उन्हींमें उनके ही लिये हो रहा है। ऐसे अभेदषट्कारक रूपसे यह प्रकाश देखा जा रहा है इस क्रियाशक्तिके निरूपणमें।

ज्ञानपरिणाममें अभेदषट्कारकता—क्रियाशक्तिमें यह बतलाया जा रहा है कि अपने ही कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदिक रूप रहता हुआ पदार्थ अपने में अपनी अवस्था करता है, क्रियाशक्तिका सही शुद्धरूप है अपने आपका शुद्ध परिणत होना। भगवान परमात्मा जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दसे सम्पन्न हैं और निरन्तर ज्ञानानन्दरूप परिणत हो रहे हैं, उनका यह परिणमन दूसरे कर्ताको न लेकर स्वयं कर्ता होते हुए उनमें हो रहा है। उनके इस शुद्ध ज्ञानानन्द परिणमनका दूसरा कोई कर्ता नहीं, दूसरा कोई सहायक नहीं, केवल वह ही निर्मल अपने आपमें अपना

अपने आपकी बात वहाँ मिल रही है, इस कारण वे प्रभु पूज्य है। तो जो ज्ञानानन्दरूपसे परिणत हो रहे है वह उनका परिणमन है, और जिस साधनके द्वारा परिणत हो रहे वह साधन दूसरा नही। दूसरेको साधकतम बनाकर प्रभु ज्ञानानन्द रूपसे परिणत नही हो रहे है। स्वय ही अपने साधन द्वारा अपनी ही शक्तिसे इस तरह ज्ञानानन्दका परिणमन करते है और इस परिणमनका प्रयोजन किसी दूसरेसे न मिलेगा। एक प्रभुके केवल ज्ञानानन्दके द्वारा कोई दूसरा प्रभु ज्ञानी, आनन्दमय न बनेगा और कोई भी दूसरा जीव न बनेगा। तथा वे स्वय इस ज्ञान परिणामका फल भोग रहे हैं। और, ये सब हुए उन्ही आधारोमे, उसका आधार कोई दूसरा नही है। ऐसी अभिन्नकारकताकी दृष्टिसे अपने आपमे परखिये और व्यग्रताको छोडिये।

आत्माका अपृथग्भूत ज्ञानस्वभावका परिणाम—मेरा कार्य शुद्ध परिणमन है। इस शक्तिका काम निर्मल परिणमन है। जाने देखे, जिस शक्तिमे जो भाव है वह बात बने, यह ही मेरी शक्तिका काम है। शक्ति कोई विकारके लिए नही है, विकार होते है अशुद्ध पर्याय मे, ऐसी ही योग्यता है उस अशुद्ध पर्यायमे, किन्तु विकारमय होना आत्माकी शक्तिका स्वभाव नही है। तब जब हम अपने आपकी अत शक्तिको उसके स्वभावके रूपसे परख रहे हैं तो हमारा ही वर्तमान परिणमन उस शक्तिकी ओर होना चाहिए। उसकी ओर उपयोग होवे और वह उपयोग यदि उस स्वभावकी ओर जुडा हुआ है तो निश्चय है कि कल्याण होगा। वहाँ अकल्याणका सन्देह नही है। आत्मामे ज्ञानका स्वभाव है और उस ज्ञानका इसी कारण जो कुछ भी परिणमन है उसका कर्ता यही कर्म है। उसका करण यही है। जैसे कि अग्निका स्वभाव गर्मी है तो अग्निकी गर्मीका साधन क्या है ? किसके द्वारा अग्नि गर्म बन रही है ? अरे वही साधन है, उसका स्वभाव है और ऐसी गर्मी कर कौन रहा है ? वही अग्नि। तो वही अग्नि उष्णताका कर्ता है, उष्णताका कारण है, वही गर्मी उस अग्नि का काम है। यो ही अन्त निरखिये मैं ज्ञानस्वरूप हूँ तो मेरा जो ज्ञानका व्यक्त परिणमन है, व्यञ्जनपर्याय है वह प्रकट पर्याय है, उसका करने वाला कोई पृथक् नही, वही ज्ञानमय द्रव्य है। उसका करण पृथक् नही, ज्ञानमय पदार्थ है। ज्ञान आत्मासे कही अलग नही पडा हुआ है। यही हैं ज्ञानस्वरूप और यही परिणाम रहा है। जैसे सरोवर क्या चीज है ? जल-पुञ्ज। अब वह जल ऊँचा हुआ तो किसमे ? उसी जलपुञ्जमे। और, नीचा हुआ तो किसमे ? उसी जलपुञ्जमे। और शीतपना हुआ तो किसमे ?-उसी जलपुञ्जमे। यो ही इस आत्माका स्वभाव है। उसमे ऐसा ही परम ऐश्वर्यपना है कि अभिन्न कर्ता, कर्म, करण आदिक शक्तियोका काम हो रहा है। यदि ऐसा मान लिया जाय कि दूसरे करणके द्वारा ज्ञान बन रहा, दूसरा कोई ज्ञान कर रहा, दूसरेके लिए ज्ञान हो रहा, यो ज्ञान आत्मासे एक

ऐसी पृथक चीज मान ली जाय तो फिर आत्माकी क्या हालत होगी ? आत्माके बिना ज्ञान अचेतन है, ज्ञानके बिना आत्मा अचेतन है। तो दोनो जब अचेतन हो गए तो उन अचेतनो का कितना भी सम्बध बनाओ, वहाँ ज्ञान न आयगा। चेतना नही आ सकती। ज्ञान ज्ञानमय आत्मासे पृथक्भूत नही है। ज्ञानस्वरूप आत्मा है और वह निरन्तर होता रहता है। तो इस बातको व्यवहार पद्धतिसे एक द्रव्यको निरखकर समझाया जा रहा है कि उसका कर्ता, कर्म, करण आदिक सब कुछ वही है। अन्य कोई नही है।

ज्ञाता ज्ञानके विभागके कल्पनाक्लेशकी व्यर्थता—अब देख लीजिए— ज्ञान क्या है ? जानन परिणमन क्या चीज हुई ? यही ज्ञानमे जो एक परिच्छेदाकार परिणमन हुआ, प्रतिभास हुआ, जानकारी हुई। सामने भीत खडी है। भीतका ज्ञान हो गया तो क्या भीत इस मेरे आत्मामे आ गयी, ज्ञानमे आ गयी ? मेरा गुण पर्याय अश कोई कुछ ज्ञानमे आयगा क्या ? अरे ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि यह इस तरहका परिच्छेद कर ले, जानन कर ले। तो वह ज्ञान आत्मासे पृथक तो नही है। ज्ञेयाकार परिणत यह ज्ञान है तो इस ज्ञानने क्या किया ? स्वय यह परिणमा। भीतकी मदद लेकर यह ज्ञान नही बनता। भीत विषय अवश्य हुई, पर उसका सहयोग लेकर ज्ञान नही बना।

इस आत्माका यही कार्य है कि जानता रहे। यही ज्ञेयाकार है, यही जाननदशा है इस जाननदशाका विषयभूत हुआ इतनी भर बात है। पर ज्ञानको किसी दूसरी चीजने पैदा नही कर दिया। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय सब कुछ यही (आत्मामे) चल रहा है। तब इतना भी विभाग करनेका क्लेश क्यो करते हो कि हमने ज्ञान किया, उसके द्वारा ज्ञान किया, अमुकका ज्ञान किया ? अरे अपनी उस आत्माकी प्रभुताको तो देखो—उसमे कितनी बडी सामर्थ्य भरी हुई है। जिसको ऐसी श्रद्धा है और उस ही ज्ञानस्वभावका आश्रय लेकर अपने उपयोगको परिणमा रहा है वह अनेक शास्त्रोको न जान रहा हो, अधिक पढा लिखा भी न हो, फिर भी उस श्रमणको द्वादशाङ्गका ज्ञान प्रकट हो जाता है। ज्ञान कही बाहरी परिश्रम करनेसे नही मिलता, मगर योग्यता है, यहाँ क्षयोपशम है तो उस साधनमे प्राप्त हो जाता है। यह निधि ही न हो, योग्यता ही न हो तो कितना ही श्रम कर डाला जाय, उससे क्या होगा ? तो ज्ञाता ज्ञानके विभाग तक की कल्पनाका क्लेश मत करो। भेद षट्कारक की बात तो दूर ही रहो।

यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि मेरा जो कुछ हो रहा है, मेरी शक्तिके कारण जो कुछ हो सकता है उसका करने वाला मैं, उसका साधन मैं और उसका जो फल मिलेगा सो भी मै। ऐसा क्यो है ? स्वभाव है और स्वरूप है। आत्मा क्या है ? जो परिणाम स्वरूप है वही तो आत्मा है। ज्ञान, दर्शन, आदिक किसी भी परिणामरूप जो हो वही तो

आत्मा है। वह परिणाम उस आत्मासे अलग नही है। उस आत्माका परिणाम है ज्ञान। ये सब परिणाम इस ही ज्ञानमे अन्तर्लीन है, अन्य गुणोके जो परिणमन हैं उन परिणमनो का, उन गुणोका प्रतिनिधि बनकर यह ज्ञान आया हुआ है। जैसे १० सदस्योकी ओरसे एक प्रतिनिधि होता है तो सभी लोग उस एक प्रतिनिधिकी बात सुनते है १० सम्मति जितना फोर्स समझकर। ऐसे ही समझ लो इन समस्त शक्तियोका प्रतिनिधि यह ज्ञानशक्ति है। अर्थात् आत्माका प्रतिनिधि है ज्ञान और उसका फल है सुख, आनन्द, निराकुलता। केवल जानन ही रहे किसीको तो फिर वहाँ आकुलताका क्या काम है ? वही है निराकुल दशा। और, विकार अवस्थामे भी इन बातोको देखो तो यहाँ कर्ता कर्म, करण, कर्मफल ये कोई भिन्न जगह नही है।

ज्ञानपरिणमनसम्बन्धित कर्ता, कर्म, करण, कर्मफलकी अभिन्नता—जब यह मुमुक्षु पहिले बन्धनबद्ध था, मोही था उस समय भी गुजर क्या रहा था ? जो कुछ मोह हो रहा था वह उपाधि सम्बधसे हो रहा था। जो कुछ भी हो रहा था रागद्वेष मोह परिणाम, उससे जो उपरजितता आयी थी, उससे जो यह चित्रित बन गया, जो कुछ भी बना वह वृत्ति, वह विकार वह क्या था। यही आत्मा ही तो था। यही जीव ही तो था। मुमुक्षु सोचता है जब उसको ज्ञान हुआ—ओह ! पहिले जो आरोपित विकार था वह भी मैं ही तो था, कोई दूसरा उन विकारोका परिणमाता नही था और उस समय कोई दूसरा कर्ता न था। वहाँ भी मै उस पर्यायरूपसे स्वतत्रतया परिणमता हुआ मैं ही खुद था, और उस समय करण क्या बना था ? ऐसा रजित हो जानेका स्वभाव था उस स्वभाव साधनके द्वारा मैं ऐसा बना। उस समयकी योग्यता थी, मैं ही करण था और मैं ही उस समय प्राप्य हो रहा था। विकारभावमे आया तो उस प्रकारके उपरक्त ज्ञानपरिणमनमे जो था, मैं ही तो पाया गया। कोई दूसरा तो नही पाया गया। और, उस वक्त जो कुछ भी गुजरे सुख अथवा दुःख, अथवा आकुलतायें, ये सब मैं ही तो था। और, जब वस्तुस्वरूपका परिचय पाकर भेदविज्ञानका उदय हुआ और वस्तुका तथ्य जान लिया उस समय जो एक सहज ज्ञानस्वभावकी ओर उपयोग गया, लगन हुई, आत्मप्रदेश जगे उस समयमे भी क्या हुआ ? जो आरोपित विकार हुए वे शान्त हो गए और यह मैं एक स्वच्छ दिखने लगा तो उस समय भी यह मैं ही तो था। कोई दूसरा नही। जैसे स्फटिकमणि उपाधिके सम्बधसे लाल हो गई तो वह वह लाल क्यो हुई ? उपाधिके सम्बन्धसे। वस्तुत तो वह मणि अत्यन्त स्वच्छ है। जब वह उपाधि हटी तो उसकी वह स्वच्छता ज्योकी त्यो प्रकट हो गयी। तो उस स्वच्छता के समयमे साधकतम कौन था ? वही स्फटिकमणि ही तो था।

ऐसे ही मेरा साधकतम यह मैं ही हू और कर्म भी यह मैं ही हू। मिला क्या

मुझे ? अब यह आत्मज्योति प्रकट हुई है । और, जैसा विशुद्ध उपयोग चल रहा है, भगवान आत्मप्रभुसे लगन लगी हुई है वह परिणति मैंने ही तो पाया और इसका फल है अनुपम आल्हाद वि-त्र, जो अब तक नही मिला, ऐसी विलक्षण आनन्ददशा वह कर्मफलमे ही तो हुई । तो सर्वत्र यही मै कर्ता, यही मैं कर्म, करण आदिक हू । इस तरह जब एक द्रव्य पर ही दृष्टि रहती है तो परद्रव्यका उपयोग हटनेसे इस पर्यायमे भी निर्मलता जगती है । देखो—सिद्ध प्रभु अपने शुद्ध ज्ञानानन्द रूपसे परिणम रहे हैं, उसका कर्ता कौन ? वे ही । और कर्म कौन ? उनका वही परिणाम और करण भी वे ही है और कर्मफल भी वे ही हैं । और, उनमे विशुद्ध ज्ञानानन्द परिणाम हुआ उसका फल कोई दूसरा लेगा क्या ? वे ही लेंगे । तो कर्ता, कर्म, करण, कर्मफल आदि यह सब अभिन्नषट्कारकता रूपसे मुझमे ही चला करता है । ऐसी जब केवल एक द्रव्यकी ओर उन्मुखी दृष्टि होती है परद्रव्यका, सम्पर्क न रहनेसे यह विशुद्ध परिणमनसे परिणमता है, और, जब अपने आपका ही कर्ता, कर्म, कर्मफल आदिक ये सब देख रहा है तो उस समय मलिन पर्यायसे संकीर्ण नही है ।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके आश्रयणमें धर्म—भैया ! धर्म करना है तो धर्मका मार्ग यही है । अपने उस शुद्ध सत्त्वको निरखना जैसा कि सहज स्वरूप है । अपने आपको सही जानना क्या बुरा है ? सही जाननेकी सब इच्छा करते है । कोई यह नही चाहता कि मै उल्टा जानूं । उल्टा जानते हुए भी उसकी अभिलाषा यह नही है कि मै उल्टा जानूं । जब सही जाननेकी अभिलाषा सबकी है तो क्यो न सही जाने ? जब सही जानने चले तो पूर्ण सही बात यह मिली कि यह मैं शुद्ध सहज ज्ञानमात्र हू । अगर यह बात आपको जच गई हो तो बस ऐसा ही जानो, उस ही मे उपयोग लगाओ, इस ही की धुन लगाओ । भला होगा । ससारके जन्ममरण छूटेंगे, सदाके लिए बन्धनका छुटकारा होगा । धन वैभव मकान स्त्री पुत्रादिकमें अपने उपयोगको फसाना, उनके पीछे अपने उपयोगको मलिन करना यह तो मूढता है । इसमे कोई विवेक है क्या ? अपने आपकी करुणा नही है । यह तो अपने आपपर निर्दय हो रहा है, ऐसा अपने शुद्ध स्वभावका और विशुद्ध कार्यका निर्णय करके अब प्राकृतिक रूपमे अपने आपको इस मोक्षमार्गमे बढाये ।

ज्ञानीकी ऐसी अन्तः प्रेरणा है, ऐसी भावना है कि यह मैं सबसे निराला स्वयंका कर्ता, स्वयं कर्म, स्वय ही षट्कारकरूप परिणमता हुआ एक स्वतंत्र सत् हू, मेरे साथ लगा है तन, मन, वचन, आदिकका सम्पर्क, लेकिन ये तो सब परद्रव्य हैं, उनमे मेरा पक्षपात क्यों होना चाहिए ? इस शरीरको आराममे रखना, इसको अच्छा स्वादिष्ट भोजन देना, इसको बहुत-बहुत सजाना, इसकी ही सेवामे लगे रहना आदि ये सब शरीरके पक्षपातमे क्यों पड़े हो ? इसी तरह मन, वचन आदिकका भी पक्ष न करो । इन तन, मन, वचन आदिक

का आधार तो यह अचेतन द्रव्य है। यह मैं नही हू। वे सब तन, मन, वचन मेरे स्वरूपका आधार लिए बिना ही अपना परिणमन कर रहे है। ये मन, वचन, काय क्या मेरे इस चैतन्य-स्वरूपका आधार लेकर, आश्रय लेकर, तन्मय होकर रह रहे हैं, परिणमन कर रहे हैं ? अरे मेरे स्वरूपके आधारके बिना ही ये बने हुए हैं। इनसे तो मैं अत्यन्त निराला हू। कोई यह सोचे कि मेरे स्वरूपका आधार तो इन्होने नही पकडा लेकिन तन, मन, वचनका कारण तो मैं होऊँगा ? अरे कहाँ है मुझमे कारणपना ? उनका कारण तो उनका ही अचेतन द्रव्य है। वे मन, वचन, काय तो मुझ कारणके बिना ही अपने कारणसे परिणम रहे हैं, तब उनमे पक्षपात क्यो करू ? कोई यह सोचे कि मै तन मन वचनका करने वाला तो हू। तो मै करने वाला कैसे हू ? यह तन, मन, वचनका परिणमन किसका है ? कहांसे निकला है, कौन परिणमा ? आदिक बातोपर जब विचार करते है तो मै कर्ता नही हू। मन, वचन, काय मुझसे निराले है। जैसे ये बाहर दिखने वाले काठ, चौकी, आदिक स्वतन्त्र द्रव्य है इसी तरह मेरे स्वरूपसे बाहर अपना स्वयका स्वरूप रखने वाले ये मन, वचन, काय, मुझसे भिन्न है। और, इतना भी तो नही है कि उनका मै कुछ प्रयोजक होऊँ या वे मेरे कुछ प्रयोजक होवें ? उनके लिए मै होऊँ और मेरे लिए वे होवें ऐसा तो नही है। वे हैं अपने लिए, मेरे प्रयोजनपनेको छोडकर अपनी प्रयोजकतासे रह रहे हैं, फिर उनमे मेरा क्या सम्बध है ? उनसे विविक्त अपने आपके स्वभावको निरखते हुए मैं उनमे अत्यन्त माध्यस्थ रहूगा।

एक द्रव्यमें उसीके वैभवके निरीक्षणकी शिक्षा—उक्त सब विवेचनोसे हमको क्या तत्त्वनिर्णय करना है ? एक ही बात। शुद्धनयकी दृष्टि रखें, एक द्रव्यका निरखना रखें एक द्रव्यकी बातमे दूसरे द्रव्यकी बात न निरखे, क्योकि सभी द्रव्य परिपूर्ण सत् है। बात क्या हो रही है ? जो हो रही है उसके लिए जब कहनेको तैयार होगे तो उसकी भी चर्चा की जायेगी। पर यहाँ तो एक द्रव्यस्वरूप निरखा जा रहा है। इसीको कहते हैं शुद्धनय। शुद्धनयका आलम्बन हो तो शुद्ध आत्माका लाभ हो। भीतकी तरफ उपयोग हो तो भीतका लाभ है, कषायकी तरफ उपयोग हो तो कषायका लाभ है, और एक शुद्ध द्रव्यकी तरफ उपयोग हो तो किसका लाभ है ? कौन उपयोगमे वर्त रहा है ? वह शुद्धोपयोग। तो वहाँ शुद्धद्रव्यकी प्राप्ति होगी जहाँ उपयोगमे शुद्धद्रव्य केवल वही एक मात्र रहेगा। तो परद्रव्य का सम्पर्क न होनेसे ये विषय कषाय वैरी स्वय ही ध्वस्त हो जायेंगे। मैं विकारोको दूर करू, मैं कषायोको मिटाऊँ ऐसा लक्ष्य रखकर क्या कोई कषाय मिटा सकता है ? परका तो आश्रय लिए हुए है, कषायोमे तो अपने उपयोगको लगाये हुए हैं, तो फिर ये कषाय यो मिटेंगी कैसे ? जैसे किसीको समझा दिया जाय कि भैया तुम रातको स्टेशन जा रहे हो, रास्तेमे जो अमुक जगह एक पीपलका पेड मिलता है ना, तो लोग कहते हैं कि उस पर भूत

रहता है तो वहाँ भूत ऊत कुछ नही है, तुम डरना मत, निर्भय होकर चले जाना। अरे भाई भय आ जानेकी बात तो तुमने पहिले ही कह दी, अगर भूतका ख्याल न दिलाते तब तो वह निर्भय होकर चला ही जाता। अब तो उसके उपयोगमे भूत आ ही गया। जब वह उस जगह पहुंचेगा तो भूतका ख्याल करके भूतको अपने उपयोगमे लेकर वह भय कर ही बैठेगा। अगर उसके उपयोगमे भूतकी बात न आने पाती तो उसको भयभीत होनेका प्रसग न आता। इसी प्रकार अपना विकाररहित शुद्ध द्रव्य अपने उपयोगमे रहे तब तो विकार दूर होते है और कर्म भी कटते है और अगर इन विकारोको इन कषायभावोको अपने उपयोगमे लिए रहे तो न ये विकार ही दूर हो सकते है और न कर्म ही कट सकते है। तो तात्पर्य यह है कि इस शुद्धनयको अपने उपयोगमे लेनेसे इस शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है, यह परिचय हमे क्रियाशक्तिके स्वरूप निरीक्षणमे मिला।

आत्मामें कर्मशक्तिका प्रकाश—क्रियाशक्तिमे यह बताया है कि आत्मामे जो क्रिया है, परिणति है वह आत्माका ही कर्तृत्व पाकर आत्माको ही कर्म कर्मरूप करती हुई आत्माके ही करण द्वारा, आत्माके ही सम्प्रदानके लिये, आत्माके ही अपादानसे, आत्मअधिकरणमे प्रकट हुआ करती है। ऐसी ६ कारकोके रूपमे क्रियाशक्तिका वर्णन किया गया है। अब उस ही प्रक्रियामे जो कर्मकारक है उसके सम्बन्धमे कहा जायेगा कि कर्म क्या है और कर्मशक्ति आत्मामे किस प्रकारकी बतायी गई है। सो आज कर्मशक्तिका वर्णन है। कर्मशक्तिका अर्थ है कि पाया जा रहा जो सिद्धरूप भाव है उस मय होनेकी शक्ति। आत्मामे पाया जा रहा हुआ जो निष्पन्न भाव है तद्रूप होनेकी शक्तिको कर्मशक्ति कहते है। आत्मामे क्या भाव पाया जा रहा है ? जो पाया जा रहा है वह सिद्ध भाव कहलाता है। आत्मामे निष्पन्न हुआ है ऐसा भाव क्या है ? आत्मामे आत्माके स्वभावसे, आत्माके ही आधारसे, आत्माके आश्रयसे जो भाव प्रकट होता है वह भाव आत्मामे ही पाया जा रहा है और स्वयमे सिद्ध भाव है वास्तवमे वही आत्माका कर्म है। आत्मा ज्ञानमय है, तो ज्ञानस्वरूप आत्माका काम क्या होगा ? परिणमन क्या होगा ? वह जानन परिणमन होगा। तो एक जानन परिणमनकी मुख्यतासे यहा निरखा गया जाननभाव सिद्धभाव है अपने आपमे। जानन हो रहा है, जान रहा है यह आत्मा ज्ञान करता है, जानता है, यह है आत्मा का कर्म। और, जो आत्माका वास्तविक कर्म है वही है आत्माका धर्म।

आत्माका वास्तविक कर्म और उसकी भवन पद्धति—कर्म शब्दसे यहा भाग्य, अष्टकर्म, ज्ञानावरण आदिक कर्म ये ग्रहण न करना। इस प्रकरणमे जितने बार भी कर्म शब्द का प्रयोग होगा उससे भाव लेना—आत्माका कर्म, आत्माका परिणमन, आत्माका कार्य। कर्मका अर्थ है कार्य। आत्मामे आत्माका जो कुछ हुआ है वह है आत्माका कर्म। आत्मा

जानता है, पर जाननेकी पद्धति देखो—जो कुछ भी यह आत्मा जानता है तो वह अपने आधारमे रहकर और किसी रूपमे भी स्वसन्मुख होकर, परसे विमुख रहकर जाना करता है। यह है आत्माके जाननेकी पद्धति। स्थूल उदाहरण भी ले लीजिए—भीतको जाना तो ज्ञान भीतके सम्मुख होकर जानता या भीतसे विमुख होकर ? यहा भी वात यह है कि यह ज्ञान भीतको जान रहा है और भीतसे पृथक रहकर जान रहा है।

भीतमे तन्मय होकर ज्ञान नही जान रहा। भीतके सन्मुख होकर, तन्मय होकर, उस रूप परिणत होकर ज्ञान जाने तो वह ज्ञान न रहा, वह तो जड बन गया। जाननेका काम अव कहासे प्रकट हो ? बाहरी वातोको छोडो। भीतरके रागभावको ही देख लीजिए। रागको जानता है आत्मा तो उसके जाननेकी पद्धति यह है कि अपने आधारमे रहकर, सम्मुख होकर रागके विमुख रहकर, रागसे तन्मय होकर रागको जान पाता है। यदि राग मे तन्मय हो गया हो तो वह ज्ञान रागको जान भी नही पाता है। वह तो अज्ञानी है, और रागको ही आत्मसर्वस्व समझ रहा है। रागका ज्ञान कैसे कर पायगा ? रागका ज्ञान उस ही पद्धतिमे होता कि यह ज्ञान अपने आधारमे रहे, अपने सम्मुख रहे और रागसे ज्ञान विमुख रहे। रागमे तन्मय न होकर रागविभक्त रहे इसके उपयोग मे, तव ही यह बात आयगी कि यह राग है। जैसे भीतको हम कव जान पा रहे ? जव हम भीतसे न्यारे रहकर निर्णय बना रहे है, तब हम समझते हैं कि यह भीत है। इसी तरह रागको हम कव जान सकेंगे ? जब रागसे अलग रहकर रागका निर्णय बन रहा हो तब समझ बनेगी कि यह राग है। तो रागमे तन्मय होकर ज्ञान रागको भी नही जान पाता है और वाहरकी तो वात ही क्या कहे ? लोग कहते है कि मैंने मकान किया, मैंने अमुक काम किया। बाहरी पदार्थोमे अपने कर्मका अभिमान करते है। मैने यह काम कर डाला। मेरे विना यह काम हो नही सकता था। अहो ! यह कितना अज्ञान अधकार है ? अरे मै तो परपदार्थोसे अत्यन्त निराला हू, विविक्त हू, मेरा कर्तृत्व परपदार्थमे रच भी नही है। परमे मेरा कोई प्रभाव नही, मेरा कोई धर्म नही, कोई अश नही, पर पर है, मैं मै हू। निजको निज परको जान, फिर कोई दुख रह सके, दुखका कोई कारण रह सके तो आप कहो। कोई कारण दुखका न रहेगा। जहाँ स्पष्टरूपसे यह बोध हुआ कि यह है निज, यह है पर। तो ज्ञान आत्माका काम है और आत्माका काम भी वह ज्ञान है जो आत्माके स्वभावसे आत्मामे निरपेक्षतया जो आत्मापर होता है वह आत्माका काम है।

आत्माका कार्य और आत्माका धर्म—कोई जबरदस्ती हाथ पकडकर घसीटकर किसीको कोई कार्य कराये तो क्या उसे कोई उस कार्यका कर्ता कहेगा ? नही कहा जायगा। अरे वह तो विवश होकर करना पडा। विवशता थी, इसी तरह आत्माके रागादिक भाव विकार जम जाये, खडे हो जायें, इनका ऊधम मचे तो क्या यह कहा जायगा कि ये राग-

दिक विकार आत्माके कार्य है ? अरे यह तो आत्माकी दुर्दशा हुई, विवशता हुई। यद्यपि उस विवशतामें आत्माने ही श्रम किया फिर भी आत्माके वे कार्य नही है। आत्माके आश्रय से, आधारसे, जो भी आत्माका कार्य हुआ, जिसमे परकी अपेक्षा नही, परका सम्बंध नही, परकी प्रतीक्षा नही, और फिर आत्मामे अपनी ओरसे जो परिणाम हुआ वह है आत्माका कार्य। वही है धर्म। इस धर्मको बहुतसे लोग न जानकर और कुछ बुद्धि जगी कि हमको धर्म करना चाहिए तो अन्य अन्य क्रियाओंमे धर्मकी मान्यता करते है, पर अन्य क्रिया तो उस अन्यकी परिणतिया हैं, वे मेरा धर्म कैसे हो सकती है ? मेरा धर्म है ज्ञाताद्रष्टा रहना। इस ही मे यह बात आ गयी कि रागद्वेषरहित रहना यह है आत्माका धर्म। लोग तो मजहब के व्यामोहमे आकर अपने अपने प्रतिनियत शब्दोमे अपने प्रतिनियत भावोको धर्म बताते है, किन्तु धर्म किसी विशेष जाति, कुल, मजहब आदिसे केन्द्रित रहने वाली चीज नही है, धर्म तो जिसका है उस ही मे केन्द्रित है, अन्यसे केन्द्रित नही। ऐसी धर्मकी निष्पक्ष परिभाषा है। अहो ! वीतराग भगवान जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनिसे निकले हुए उपदेशकी सही परम्परा से चले हुए भाववाची ये वचन है, फिर भी लोग आज इन शब्दोका अनादर कर रहे है। लोगोको उस वास्तविक धर्मके प्रति आस्था नही है। तो क्या करे ? अरे यह तो ससार है। यही तो ससारमे भटकते रहनेकी परिणतियाँ है। यह पवित्र जैन शासनका मर्म सभीको कैसे प्राप्त हो जायगा ? यह तो बडी कठिन चीज है। जिनको भी यह जैन शासन प्राप्त हुआ वे ही सम्हाल कर लें यह ही बहुत है। अन्यथा जैन शासनको पाकर भी अनेक विपरीत धारणाये, अनेक विपरीत दृष्टियाँ, परके आश्रय, अनेक प्रकारकी उलझने, इन ही मे अटक गए तो जैन शासनके पानेका कोई लाभ भी न उठा पाया। जैन शासनमे धर्मका स्वरूप बडे विस्तारके साथ बताया गया है। आत्माका वह धर्म जो निरपेक्ष होकर स्वय आत्मा मे परिणमे, वही है आत्माका वास्तविक धर्म।

ज्ञानकी विशुद्धता—आत्मा एक ज्ञानमात्र भावरूपमे लक्षित किया जा रहा है। मैं ज्ञानमात्र हू। इस भावमे आत्मा एक ज्ञानस्वरूप आया। उसका कर्म क्या रहा ? ज्ञान, जानना। तो जाननेकी पद्धतिमे जाननेमे बिगाड क्या हुआ ? विकृत होती हुई, अशुद्ध होती हुई पद्धतिमे वहाँ भी सही रहता जो कि ज्ञानमे होना चाहिए। क्या ? कि अपने आधारमे रहकर, परसे विमुख रहकर जानना, यह एक जाननेकी सामान्य पद्धति है। अज्ञानी भी जान रहा है। कुछ तो कल्पनामे आया, कुछ आशय उसने बनाया, बनाया मिथ्या आशय, लेकिन जानने वाला ज्ञान अपनी आदतको वहाँ भी नही छोड रहा। वहाँ पर भी यह अपने आधार मे रहकर, परसे विमुख रहकर, परमे तन्मय न होकर अपना जानन परिणमन करता रहता है, परतु ऐसी सुध नही है उस जानने वालेको इसलिए उसका आशय मिथ्या है। और, उस

मिथ्या आशयके हो जानेसे उस ज्ञानको भी मिथ्या कहना पडा, अन्यथा यह भी तो वर्णन है कि ज्ञान न सम्यक् होता, न मिथ्या, सम्यक्त्वके सम्बंधसे ज्ञानको सम्यक् कहा जाता, मिथ्यात्वके सम्बंधसे ज्ञानको मिथ्या कहा जाता। मेरा आत्मा, मेरा असाधारण धर्म, मेरा यह ज्ञानस्वरूप कैसी अपनी प्रकृतिको लिए हुए है। यह प्रकृति इसकी कही भी नही बदली, और तब ज्ञान बंधका कारण भी नही कहा गया है। बंधका कारण है श्रद्धा और चारित्रका विपरीत परिणमन। ज्ञानने जो कार्य किया है सिर्फ ज्ञानका जो कार्य है उतनेको निरखिये, वहाँ बन्धन नही है। जैसे प्रकाश क्या चीज है? प्रकाश हरा, पीला, नीला आदिक रूप भी होता है क्या? इन रूप तो नही होता। वह तो स्वच्छ (सफेद) रूप होता है, जैसे कोई बिजलीका बल्ब जल रहा है तो उसके ऊपर हरा, नीला, पीला, आदिक रंगका कोई कागज या काँचका ढक्कन होता है तो वह उन विभिन्न रंगोरूप प्रकाश दिखता है। वस्तुत प्रकाश इन विभिन्न रंगोरूप नही है। आप यह बताइये कि उस हरे, पीले, नीले आदिक रंगोके कारण कोई चीज नजरमे आ जायेगी या प्रकाशके कारण? चीज तो प्रकाशके कारण ही नजर आयेगी, न कि उन विभिन्न रंगोके कारण। यो समझिये कि जहाँ पर अंधेरा है वहाँ पर भी हरी, पीली, नीली आदिक रंगोंकी अनेक चीजे पडी हैं पर मूल चीज जो प्रकाश है उसके बिना वे चीजे दिख तो न सकेंगी। अब उस ही चीजमे एक विश्लेषण करके निरखिये—इसी प्रकार प्रकाशके माफिक तो ज्ञान रहता है और हरा, पीला, नीला आदिक यहाके आश्रय, परिणाम, विकार ये सब चला करते है। उनमे विश्लेषण कर लीजिए, यह तो है ज्ञान और यह है दुराशय, यह है इष्ट अनिष्ट बुद्धि, वहासे हटिये, ज्ञानको ज्ञानमय रूपमे ही बना लीजिए। बस आत्माका जो वास्तविक कर्म है, यही आत्माका धर्म है।

आत्माकी अक्षय सहज निधिसे अक्षय ऋद्धिकी सम्पन्नता——देखिये अपने आपको वास्तवमे करनेका काम क्या है? लोग कुछ अपना कल्याण चाहते है, थोडी सी बात मनमे आयी कि हम कल्याण करें तो उसके लिए दर दर भटकते है। यहाँ जावें, वहाँ जावें, अमुक संगमे रहे, अमुक जगहमे रहे, अमुक तीर्थमे जावे, हमारा कल्याण मिल जायेगा। यो अपना कल्याण पानेके लिए लोग दर-दर भटकते है, किन्तु उन्हे यह सुध नही है कि यह मेरा स्वरूप ही कल्याणमय है। उसकी सुध ली जायगी तो कल्याण मिलेगा अन्यथा नही। जब यह जीव इस कल्याणस्वरूप अपने आत्माकी सुध लेता है तो उसको यह भान होता है कि मेरा काम, मेरी बात, मेरा परिणाम, मेरा परिणमन मुझसे अभिन्न है, ऐसे अभिन्न कर्मका जिसने रहस्य जान लिया वह आकुलताओंसे दूर हो गया। मैं इस ज्ञानका ही कर्ता हूँ, ज्ञानका ही भोक्ता हूँ, यह ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानमात्र यह ही अनन्त ऋद्धि सम्पन्न मेरा स्वरूप है। सोचिये तीनो लोकका वैभव भी आ जाय घरमे तो उसमें

से कही शान्तिका अंश मुझे मिल जायेगा क्या ? यह ही तो वैभव है। अगर तीन लोकके वैभवसे शान्ति मिलती होती तो भीत वगैरह जो सामने दिख रहे है इनसे भी कुछ शान्तिके कण निकल कर मेरे अन्दर आ जाना चाहिए थे, क्योकि ये भी तो उस वैभवके एक अंश है, पर ऐसा तो नही होता। बल्कि उल्टा यह देखा जाता है कि ज्यों-ज्यों ये दीवाले बढती जाती है (यहाँ दीवालोका अर्थ, मकानोंसे है) त्यों त्यों अशान्ति बढती जाती है, परेशानियाँ बढती जाती है। यह वैभव ज्यो-ज्यो बढता जाता है त्यो-त्यो अशान्ति, परेशानियाँ और भी बढती जाती हैं। आपने बहुतसे धनिकोंको देखा होगा, पर वे शान्तिपूर्वक रहते है क्या ? अरे वे तो बडी परेशानीका अनुभव किया करते है। तो वस्तुत इस लौकिक वैभव से हम आपका कोई बडप्पन नही है। वह तो निरन्तर आकुलताये ही उत्पन्न करनेमे कारण बनता है। आत्माकी अक्षय सहज निधि तो सहजज्ञान है जिसमे सहज आनंदकी ऋद्धि भरी है ये योगीश्वर, तीर्थंकर, मुनीश्वर वे अरहत सिद्ध प्रभु बड़े है, वे इसी अक्षय निधि व ऋद्धिसे सम्पन्न है। इनका मार्ग जो कुछ था उस पर दृष्टि दीजिए और फिर श्रद्धा के साथ उस मार्ग पर डट जाइये, कल्याण होगा। प्रभुका मार्ग क्या रहा ? प्रभुका मार्ग यह ही रहा। एक इस ज्ञानस्वभावका आलम्बन लेना।

अपने आश्रयसे हटकर दर दर ठोकरें खाने वाले उपयोगके भ्रमणशमनका साधन स्वाश्रयावलम्बन--यह उपयोग जगह जगह भटका, हर एक जगह शरण माना, किन्तु जहाँ शरण लेने गया वहींसे इसको ठोकर लगी। जहाँ जहाँ इसने अपना विश्वास जमाया वहीसे ठोकर मिली। तब क्या हाल हुआ ? फुटबालकी तरह यह उपयोग सब जगहसे ठोकर खाता हुआ अब भी डोलता रहता है। यह उपयोग जहाँ गया, जिसकी शरण लेने गया वहीसे ठोकर मिली। उस पदार्थने ठोकर नही मारा। यह भी बात यहाँ समझनेकी है। इसको उस परपदार्थके प्रति राग था, उससे इसने कुछ आशा बना रखी थी किन्तु वह तो परपदार्थ पर ही है, उसकी परिणति उसमें है, उसकी परिणति किसी दूसरेकी इच्छानुसार हो नही सकती। तो जब किसी भी परपदार्थकी परिणति अपनी इच्छाके माफिक होते यह नही देखता है तो यह वहांसे हटकर किसी अन्य पदार्थकी शरणमे पहुचता है। यही है ठोकर लगना। यो ही दर-दर ठोकर खाता हुआ यह अज्ञानी जीवका उपयोग फुटबालकी तरह यत्र तत्र भटकता रहता है। फुटबालकी यही तो हालत होती है वह जिस बालकके पास पहुंचता है वहीसे ठोकर लगती है, यों ही ठोकर खाता हुआ यह उपयोग अभी तक फुटबालकी नांई दरदर भटक रहा है, कही स्थिर नही हो पा रहा। इस उपयोगकी जो ऐसी दशा हो रही है है उसका कारण क्या है ? कारण यही है कि इस उपयोगका जो आश्रय है, जहांसे यह उपयोग प्रकट हुआ है उस आत्मप्रभुको इसने अभी तक कभी मुडकर नही देखा। इस ही

महान त्रुटिके कारण यह अब तक जगह-जगह डोल रहा है। कही ठिकाना नहीं पाया। तो जिस पुरुषने इस अभिन्न कर्मताका रहस्य नही जाना उसकी ही तो यह दुर्दशा है। जो पुरुष यह जान जायगा कि मेरा कर्म यह ज्ञानभाव है, जानना, इतना ही मेरा काम है और यह मुझसे अभिन्न है, और इसके आगे कोई मेरा काम नही। ऐसा जो निर्णय करता है उसको शान्ति मिलती है।

निर्विकल्प ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके उपयोगमें अनन्तसंसारपरिग्रहका सहज त्याग— अशान्ति हुई परिग्रहके सम्बन्धसे, किन्तु इस अन्तस्तत्त्वकी श्रद्धामे इस आत्माके सम्यग्ज्ञानमे इस अनन्त ससारके, अनन्तवस्तुओके सर्वविकल्प छूट गए। देखिये— परपदार्थोके त्याग करनेकी, परपदार्थोसे न्यारे होनेकी, सकल सन्यास करनेकी, समग्र परसे रहित निर्ग्रन्थ होने की पद्धति क्या है? वह इस कर्मशक्तिके कार्यके परिचयसे विदित हो जाता है। मैं कर सकता हूँ अपने आत्माका ही परिणमन, अन्य कुछ नही कर सकता। और, उन परिणमनो मे जो निरपेक्ष होकर आत्माकी शक्तियोसे उद्भूत है वह तो है उसका कार्य और जो उपाधि के सन्निधानमे पर्याय योग्यताके कारण बात गुजरती है वह है उपराग, उपाधि। तो यह अधिकसे अधिक कह लीजिए कि जो मेरे परिणमन है उनके करनेमे ही मैं समर्थ हूँ। चाहे शुद्ध भावरूप परिणमे, चाहे विकाररूप परिणमे, चाहे विकल्परूप परिणमे। वस्तुत्व दृष्टि से स्वभावत जब निर्णय करते है तो ये विकार भी मेरे कार्य नही, लेकिन चलो विकल्प तक भी चलें तो आत्माका विकल्प क्या? कि परपदार्थके विषयमे इष्टबुद्धि करना। इसमे विकल्प ही तो आया, परपदार्थका तो ग्रहण तो न कर पाया गया। और जब परपदार्थको न पकडा, न रखा तो वहा त्याग भी क्या? विकल्पोका ग्रहण करना यही तो परिग्रहका ग्रहण है और विकल्पोका त्याग करना यही परिग्रहका त्याग करना है।

विकल्प वासना संस्कारके अभाव व सद्भावसे निष्परिग्रहता व सपरिग्रहताका निर्णय— कोई राजा ज्ञान वैराग्यके बलसे अपने आत्मामे अभ्युदय कर रहा है, निर्ग्रन्थ हो गया। आत्मसाधनाके लिए रुचिमान हो गया, उस ही मे उसका उपयोग लग रहा, ऐसा ही श्रवण कदाचित एषणासमिति करता हुआ उस ही महलमे पडगाह लिया जाय जो महल उसका था जब कि वह राजा था, वही रानियाँ पडगाह लें, उसी ठाठ बाटके बीचमे आहार लेने के लिए वह योगी गया हो, तो क्या उसे हम परिग्रही कह सकेंगे? अरे उसके चित्तमे अब तो रच भी ऐसी बात नही समायी हुई है कि यह कुछ मेरा है। तब फिर उसके साथ परिग्रह क्या? देखिये— उसी खुदके महलके बीच है। उसी सारे साम्राज्यके बीच है, फिर भी वह योगी उस परिग्रहसे अति दूर है। उसके चित्तमे उस परिग्रह सम्बन्धी अब कोई विकल्प ही नही है। उसको तो अपने आत्म वैभवका परिग्रह ही रुच रहा है। यहाँका

लौकिक परिग्रह उसके लिए अब कोई परिग्रह नही रहा। और, यहाँ कोई ऐसा भिखारी हो जो कि अत्यन्त गरीब हो, जो किसी गाँवके किनारे मामूली सी सीकोकी झोपडी बना कर रहता हो, मात्र एक दो दिनका खाने पीनेका सामान हो, पासमे कुछ न हो तो क्या उसे यह कहा जा सकता है कि यह अल्पपरिग्रही है ? अरे ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि उसके चित्तमे तो ऐसा संस्कार बसा हुआ है कि कितना ही धन मुझे मिल जावे फिर भी वह कम है। मान लो उस भिखारीसे कोई कहे कि ऐ भैया ! तुम जितना धन चाहते हो उतना माँग लो तो चूँकि उसके पास अधिक बुद्धि नही है इसलिए वह ऐसा कह देगा कि भैया हमे एक दो महीने खाने को भोजन दे दो। (उसके लिए उतना ही बहुत है) वह तो उतनेमे ही अपनेको सुखी समझता है। वह कदाचित लाखो करोडोका वैभव माँग ले तो उसकी वह व्यवस्था ही न कर पायगा। अभी ये जो भील लोग होते है, जो कि जगलोके बीच बडी गरीबीके दिन काटते है उनसे कोई पूछे कि भाई बताओ राजाको कैसा सुख होता होगा ? तो वह कह देगा कि अरे राजा तो रोज-रोज गुड खाता होगा। अब देखिये—उन भीलोके सुखकी सीमा गुड तक ही सीमित है। तो यद्यपि उन भिखारियोकी बुद्धि इतनी विकसित नही है कि वे बडे ठाठबाटकी बात सोच सके लेकिन उनके संस्कारमे तो जगतके सर्व पदार्थोके सग्रह परिग्रहकी वासना बसी हुई है। तो परिग्रह छूटा किससे ? जिसने सर्व-परसे, विकारोसे भिन्न ज्ञानमय आत्मस्वरूपमे आत्मत्वका निर्णय किया है। यहाँ ही धुन किया है, जो परिग्रहोसे रहित है। श्रद्धा और ज्ञानकी ओर ही जिनकी वृत्ति है वे ही सही सम्यक्चारित्र पाल सकेगे।

आत्माका परनिरपेक्ष प्राप्यमाण सिद्धरूप भाव—आत्मामे जो सिद्धरूप प्राप्यमाण है अर्थात् अपने वर्तमान समयमे जो पर्याय प्राप्त हुई है ऐसी पर्यायोरूप होनेके कारणकी शक्तिको कर्मशक्ति कहते है। कर्मशक्तिमे यह बात प्रसिद्ध की गई है कि आत्माका कर्म आत्मा से अभिन्न है। आत्मा है शाश्वत ज्ञानस्वरूप। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका जो परिणमन है वह है ज्ञानरूप, ऐसा ज्ञानभाव आत्माका कर्म है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि पुरुषकी भी कुछ नीचली भूमिकामे रागभाव बर्तता है लेकिन यह ज्ञानी उस रागको जानता है और रागको जानते हुएमे उसकी यह प्रतीति है, ऐसा बोध है कि रागका जानना यह तो उसका काम है, पर यह राग मेरा काम नही है। यह तो औपाधिक भाव है। इस तरहका भेद-विज्ञान उछल रहा है और ज्ञानस्वरूप आत्माकी ओर उपयोग उसके सम्मुख होता जाता है। यह मैं ज्ञानमात्र हूं और जानना यही मेरा काम है। कर्मशक्तिमे विकारोमे उलझनेकी बात नही है। विकार आते हैं जीवपर, लेकिन वे विकार औपाधिक है, परिणमे जीवमे, लेकिन जीव उनका स्वामी नही है। जीव ही स्वय निमित्त हो, जीव ही उपादान हो और विभाव

आये तो उनका स्वामी कहा जाय जीवको, किन्तु जब विभाव स्वनिमित्तिक नही तो जीव उनका स्वामी कैसे हो ? ऐसा जो भी भाव है कि जो किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा नही रखता, निरपेक्ष होकर आत्माकी शक्तिके कारण जो भाव हुआ करते है वे हैं आत्माके काम। यद्यपि कालद्रव्य सब जगह अनिवार्य निमित्त है, लेकिन वह तो सब जगह है ही। उसका कही व्यतिरेक तो नही देखा गया इसलिए उसमे निमित्तपनेकी मुख्यता नही है। निमित्त होकर भी जब निमित्तकी चर्चा चल रही हो, तब ऐसा निमित्त न लिया जायगा चर्चामे, किन्तु जो कभी उपस्थित हो, कभी उपस्थित न हो, उपस्थित होनेपर कार्य हो रहा हो, न रहनेपर कार्य न हो रहा हो, ऐसी जहाँ अन्वयव्यतिरेक आदिक बहुतसी चर्चायें बसी हो उनमे निमित्तका व्यवहार करके चर्चाको बढाना चाहिए। तो आत्माका वह कर्म जो आत्मा की शक्तिसे प्रकट हुआ है, किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा नही रखी है, किसी अन्यका निमित्त पाकर नही होता है, किन्तु स्वयकी शक्तिमे स्वयके स्वभावके कारण जो हुआ है, वास्तवमे कर्म तो वह है और धर्म भी वही है। तब आत्माका कर्म क्या हुआ और धर्म क्या हुआ ? शुद्ध ज्ञान परिणमन, ज्ञाताद्दष्टा रहना, जानन देखनहार होना, ऐसा जो परिणमन है सो है आत्माका वास्तविक कर्म। जिसमे किसी भी प्रकारके विघ्नकी बात नही रह सकती है। और, यही है आत्माका धर्म।

ज्ञानानन्दस्वभाव निज द्रव्यसे ही ज्ञान और आनन्दकी प्राप्यमाणता—अब जरा निरखिये कि ऐसा ज्ञान परिणमनरूप धर्म, ऐसा शुद्ध जाननदेखनहाररूप कर्म, ये किसके आश्रयसे हुए है ? क्या परद्रव्यके आश्रयसे हुए है ? अरे परद्रव्य पर तो जब तक कोई उपयोग लगाये तब तक उसे वह शुद्ध ज्ञातृत्व प्रकट नही होता, परद्रव्यके आश्रयसे यह आत्मा का धर्म नही प्रकट होता है, किन्तु अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव इसको ही कारणरूपसे उपादान करके स्वय ही यह ज्ञप्तिरूप परिणमन हुआ है। यही है आत्माका कर्म और यही है आत्माका धर्म। ऐसा कर्म हो, ऐसा परिणाम हो तो समझिये कि हम अच्छी स्थितिमें है, कल्याणमय है, आनन्दस्वरूप है, पवित्र है और इस स्थितिसे चिगे, बाहर मे उपयोग रहा तो वहाँ तो वेदनाओका ही अनुभव होता है। यहाँ इतना तो एक साधारण रूपसे ख्याल किया जाना चाहिये कि ऐसा सभी जानते हैं कि जो बात जहाँ होगी वहीसे तो मिलेगी। पानी जहाँ भरा है वहीसे तो मिलेगा। तैल जहाँ भरा है वहीसे तो प्राप्त होगा। बालूसे तैल तो न निकल आयगा। जहाँ जो बात है वह बात वहाँसे ही निकल सकेगी। हम चाहते हैं ज्ञान और आनन्द। यही कर्म अच्छा है। ऐसा ही अपनेको निरखना अच्छा है, जो प्राप्त हो वही तो कर्म है और जो कर्ताको प्राप्त हो वही तो कर्म है। इसका इष्ट भी परम आनन्द है और प्राप्त भी इसीको करना है तो ज्ञान और आनन्द ये हमको कहा

से मिलेगे, इसका निर्णय तो करियेगा ।

ये बाहरी पदार्थ धन वैभव, मकान चादी सोना आदिक क्या इनमे मेरा ज्ञान बसा है ? जो मेरा ज्ञान यहासे प्रकट हो जाय अथवा मेरा आनन्द या शान्ति इन बाहरी पदार्थोंमे पडा है जो यहासे प्रकट हो जाय ? नही पडा है और यहाकी तो बात क्या है ? जो परिवार मे गोष्ठीमे रहने वाले बन्धु मित्र है, जीव है उनमे ज्ञान आनन्द बसा है उनका स्वरूप है लेकिन मेरा ज्ञानानन्द उनमे नही बसा है, उनका ही ज्ञानानन्द उनमे बसा हुआ है । तो मेरे को ज्ञानानन्द तो इस ज्ञानानन्द वाले जीवोसे भी नही मिल सकता, फिर जो जीव नही है, ज्ञानानन्दसे शून्य है ऐसे पदार्थोंसे ज्ञानानन्दके प्राप्त करनेकी आशा ही क्या है ? क्योकि यह आत्मा बाहरसे तो निराला है । और, कभी कभी तो ऐसा अनुभव होता—देखो अमुक पदार्थके खानेसे आनन्द आया, अमुक पदार्थके प्रसगसे आनन्द जगा । वहा भी बाह्यपदार्थो से आनन्द नही आया, किन्तु इस आनन्दशक्तिमे, इस गुणमे इतना महान चमत्कार बसा है कि सहज शाश्वत् अनुपम अनन्त आनन्द प्राप्त हो, लेकिन बाह्यपदार्थोंसे सुख होता है ऐसी बुद्धि करके हमने उस आनन्दके चमत्कारको घटा दिया है, और फिर जैसे कोई पुरुष बिगड जाय जो कि सज्जन हो तो बिगडकर भी सज्जनताके कुछ न कुछ काम करेगा । दयालु पुरुष किसी पर क्रोध करे तो क्रोध करके भी उसके निमित्तसे उसका भला ही होगा । तो यह ज्ञानानन्दस्वरूप यह आत्मा कितना महत्त्वशाली पदार्थ है जो बिगड भी रहा है तो विकृत अवस्थामे भी देखो आनन्द बिगड गया, फिर भी सुखरूप परिणमन हो रहा तो वह भी आनन्दगुणका ही विपरिणमन है, न कि भोजन आदिक अन्य पदार्थोका वह परिणमन है । ऐसा ज्ञानानन्द स्वभावमात्र अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय हो उपयोगमे यही बसा हो, यही आश्रय करना कहलाता है । ऐसे आत्मद्रव्यके आलम्बनसे यह ज्ञानानन्दरूप धर्म प्रकट होता है ।

परमार्थधर्म व व्यवहारधर्मकी उपयोगिता—यह ज्ञानानन्द धर्म न तो किसी बाहरी पदार्थसे मिलेगा और न रागद्वेषादिक विकारोसे प्राप्त होगा । यह तो एक निज शुद्ध आत्मद्रव्यके आलम्बनसे प्रकट होगा । शुद्ध आत्मद्रव्यका अर्थ केवल स्वरूपसे सहज सत्त्व जैसा है वह है । उस रूपमे अपने आत्मद्रव्यका उपयोग किया जाय तो यह धर्मरूप अवस्था प्रकट होगी । इसका विश्लेषण अगर किया जाय तो व्यवहारधर्म और वास्तविक धर्म, इन दोनो का अन्तर स्पष्ट समझमे आयेगा । दया, दान, पूजा, भक्ति, तपश्चरण आदिक अन्य-अन्य भाव ये व्यवहारधर्म कहे जाते है । इसका अर्थ है कि ये उस साक्षात् धर्मकी प्राप्तिके लिए परम्परया कारण है याने पूर्ववर्ती भाव है । इन भावोमे रहते हुए कोई मनुष्य अपनी ऐसी योग्यता बनाये रख सकता है कि उसमे रागके दूर करनेकी वृत्ति अश शुद्धता बढ

वढकर कभी उस रागभावसे छूटकर वीतराग भावमे आयेगा। तव यह जाने कि ये शुभ राग, ये व्यवहारधर्म, ये भक्ति, वन्दन, पूजन, दान, वात्सल्य आदिक वृत्तियाँ इनके कालमे ही वह साक्षात् वीतरागता धर्म तो नही है लेकिन ऐसे कार्योमे प्रवर्तते हुए महापुरुष किसी प्रकार अपनी आत्मशुद्धिको वढाकर वह कभी वीतराग हो सकेगा। तो जो वीतरागताका क्षण है, जिस कालमे रागका अभाव है उस समय होने वाली जो शुद्धता है वह है साक्षात् धर्म और यही है हमारा एक पूर्ववर्ती परम्परारूप भाव कारण। तो इससे यह भी हल हो जाता है कि इन व्यवहार धर्मोमे हम रहे, इनकी वृत्ति करें, पर वृत्ति करते हुए भी यथार्थ ज्ञानको न भुला दें। साक्षात् धर्म क्या है ? वह स्वच्छ ज्ञान। रागद्वेपसे रहित वृत्ति, वह धर्म है। उसकी प्राप्तिमे हमारा कल्याण है। इस प्रतीतिको न भूल वैठें। तो यहाँ एक साक्षात् कर्म—धर्मकी वात कह रहे है। कर्मके मायने कार्य। ज्ञानावरण आदिक कर्म नही, अथवा रागादिक विकाररूप भावकर्म नही। उन्हे आत्माका कर्म नही कहा जा रहा है। कर्मशक्तिके प्रतापसे निरपेक्ष होकर अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावसे, अपनी ही भवनशक्ति के प्रतापसे जो आत्मामे परिणमन हुआ वह है आत्माका वास्तविक कर्म और ऐसा होना वस यही धर्मपालन है।

धर्मपालन और धर्मफल—कोई धर्मका पालन करे और उसे शान्ति न आये यह कभी हो ही नही सकता। जो लोग शका करते है कि धर्म करते करते १० वर्ष हो गए, किन्तु शान्ति नही मिली तो उनकी यह शका व्यर्थ है। जिसे शान्ति नही मिली उसने धर्म कहाँ किया ? जिस चाहे क्रियामे, रागमे धर्म मान लिया तो कही इस तरहसे रागमे, क्रियामे, मन, वचनकायकी चेष्टामे, वाहरी वातोमे धर्म माने तो क्या धर्म हो जायगा ? माननेसे तो कही धर्म नही हो जाता। तो धर्म तो किया नही, किन्तु उस धर्मकी ओटमे अर्थात् धर्मका नाम ले लेकर किया है यहाँ वाहरी वाते। शुभ अशुभ भाव किए, जो कि साक्षात् धर्मरूप नही है। तो उसे शान्ति नही मिली, यह बात उसकी ठीक ही है। पर जो धर्मरूप परिणमन करेगा उसे शान्ति अवश्य मिलेगी। ऐसा भी क्यो कहो ? उसको तो तत्काल शान्ति है जो रागद्वेषरहित ज्ञाता दृष्टारूप स्थिति बनाया हो उसको तो उसी समय शान्ति है, आगे के लिए शान्ति मिलेगी ऐसा नही। पुण्यमे तो यह बात कही जा सकती कि पुण्य करे कोई तो इसका फल आगे मिलेगा। यहाँ भी दो वाते है, पुण्य किया याने शुभभाव किया तो ऐसा भाव करते समय जो कुछ आत्मापर बीतना चाहिए सो उसी समय बीत जाता है, उस पुण्य भावका फल भी उसने तुरन्त पाया, लेकिन उसका निमित्त पाकर जो द्रव्यकर्मका वन्ध हुआ है, स्थिति पडी है, उसका विपाककाल आनेपर भविष्यमे और नई सम्पदा, नये सुखसाधन मिलेंगे, सुख मौज मानेगा। इससे यह कहा जा सकता है कि पुण्यका फल आगे पायगा।

लेकिन धर्ममे तो यह बात है कि जिस कालमे धर्म हो उसी कालमे उसका फल पायगा, शान्ति पायगा। और ऐसा धर्म पाने वालेके परिणाम निरन्तर धर्मरूप रहते जाते है। सो प्रतिक्षण वह प्रतिसमयके धर्मका फल प्रति समय शान्ति प्राप्त कर रहा है। धर्मपालन, इसकी अगर रूपरेखा बनायें तो धर्मपालन चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सिद्ध पर्यन्त हो रहा है, अब धर्मपालनकी वे डिग्री अलग अलग है। यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि जीवका भी जितना धर्म-पालन हो रहा है वह भी इस अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावको कारण रूप से उपादान करके जो कुछ भी ज्ञान प्रविष्ट हो रहा है, जितने अशमे उसका ज्ञातृत्व चल रहा है वह उसका धर्मपालन है। और, ऊपर साधक दशामे यह बात बढाते जाओ, और सिद्ध भगवान भी क्या कर रहे ? उपयोग तो नही लगा रहे, मगर निरन्तर इसी काममे तो बर्त रहे है, अनादि अनन्त अहेतुक एक चैतन्यस्वभावके कारणरूपसे उपादान करके उपादान हो ही रहा है इसलिए भावात्मक वचनोमे कहे, उपादान करके जो केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान रूपसे वृत्तिका प्रवेश होता रहता है, निरन्तर उस रूप परिणाम रहे है, धर्ममे है, यही उनका धर्म है। और इस धर्मका फल अनन्त आनन्द भी शाश्वत वर्तमान है। स्वभावशून्य पदार्थ कभी नही होता। तो धर्मरहित भी आत्मा कभी नही होता। तो आत्माके कर्मकी बात कही जा रही है कि आत्माका वास्तविक कर्म क्या है ? यही शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहना, यही धर्म है।

कर्मशक्तिकी अनन्त शक्तियोंमें अथवा परिपूर्णद्रव्यमें विभुता——अब यहाँ यह देखिये वर्णन हो रहा है कर्मशक्तिका, जिसमे कहा जा रहा है कि कर्मशक्तिके प्रतापसे आत्मामे यह अभिन्न विशुद्ध पावन कर्म चल रहा है। तो यह जो कुछ भी कर्म है, परिणमन है वह परिणमन एक इस निज अखण्ड आत्मद्रव्यके आश्रयसे मिला। देखिये—जो भी परिणाम होता है इस अखण्ड द्रव्यको उपादान करके हो रहा है। जो वर्णन होता है कि देखो—ज्ञानगुणका काम जानना है, आनन्द गुणका काम आनन्द करना है, अमुक गुणका काम यह है। यह भेददृष्टिमे प्रतिपादित बात है। कोई पुरुष एक किसी भिन्न गुणका आश्रय करके उस भिन्न गुणका ही काम बना ले यह भी न होगा। चूंकि कर्मशक्ति परिपूर्ण द्रव्यमे पड़ी हुई है, और इस आत्मद्रव्यमे पडी हुई है, इस कारण जो भी आत्मपर्याय होती है वह एक उस परिपूर्ण आत्मद्रव्यसे होती है, न कि भिन्न-भिन्न किसी एक-एक शक्तिसे होती है। यह तो प्रतिपादनकी शैली है कि व्यवहार मार्गसे किसी भी प्रकार यह जिज्ञासु उस भूतार्थ तत्त्व को जान जाय। आत्मामे एक विभुत्वशक्ति भी है जिसका वर्णन पहले आ चुका है उस विभु-त्वशक्तिके प्रतापसे एक गुणका प्रकाश समस्त गुणोमे व्यापक है। तो लो कर्मशक्तिका भी प्रकाश समस्त गुणोमे व्यापक है। यो कह लीजिए कि प्रत्येक गुणका कार्य अपना जुदा-जुदा है और यह समझनेके लिए है, जुदे-जुदे कोई काम नही। द्रव्य एक है उसका परिणाम प्रति-

क्षण एक है। पर्िणाममे भे. नही है। लेकिन प्रतिपादन या समझना भेदपूर्वक होता है, इसीको कहते है व्यवहारनय।

व्यवहारकी अनेक श्रेणियां—अब देखिये-व्यवहारनयके जुदे-जुदे प्रसगोंमे जुदे-जुदे प्रसगोमे जुदे-जुदे अर्थ लगा करते है। व्यवहारनय यह भी है, कोई कहे कि भाई मेरा है, बच्चा मेरा है, तो यह तो व्यवहारकी बात है, वस्तुत नही है। और, भी आगे चलो-व्यवहार यह भी है कि यह शरीर मेरा है और मेरा कुछ नही है। तो उससे और भीतर घुसे लेकिन यह भी व्यवहार है। शरीर जुदा है, मैं आत्मा जुदा हूँ, और आगे चले तो कहते है कि पुण्य पाप ये मेरे है, उसके अनुसार ही सुख दु ख होता है, और किसीसे क्या सम्बन्ध है ? जैसा पुण्य पापकर्म है वैसी ही हमारी बात चलेगी। पुण्य पापकर्म तो मेरे साथी है और दूसरा कोई साथी नही। लो यह भी व्यवहार है, क्योकि पुण्यकर्म पापकर्म जो भी कार्माणवर्गणायें हैं वे भी मेरेसे भिन्न है, मैं भिन्न चीज हूँ। तब फिर कोई कहता है कि मेरे अच्छे भाव रहे, बस यह ही मेरा मददगार है। मेरे अच्छे भाव न रहेगे तो मुझे ससारमे दु ख भोगना पडेगा। इस कारण अच्छे परिणाम होना बस यह ही मेरी चीज है। दया, दान, पूजा आदिक पुण्यभाव होना यह ही मेरा सहाय है, अन्य कुछ मेरा सहाय नही है। लेकिन यह भी व्यवहार है, क्योकि जीव शाश्वत पुण्य भावमे कहाँ रहता है। इसका तो अलग ही लोक है, यह भी निराला है। तब कोई कहता है कि देखिये—जो हमारा एक ऐसा निर्मल परिणाम होगा कि आत्मस्वरूपमे हमारी दृष्टि होगी, हम उस शुद्ध द्रव्यकी चर्चा करेंगे, उसका हम आलम्बन लेंगे तो ऐसे जो हमारी वृत्ति है वही मददगार है। दूसरा कोई हमारा मददगार नही। बात यद्यपि सब जगह सबकी तथ्यभूत है और यह बात तो विशेष तथ्यभूत है, जाननेकी है कि मैं आत्मद्रव्यका आलम्बन लूं तो मेरा भला होगा, लेकिन यह भी व्यवहार है। क्यो व्यवहार है ? यह भी एक तरग है, यह भी एक परिणाम है, जो परिणाम शाश्वत नही है। चाहे किसी तरहके परिणाम होते जाये, सदृश भी होते जायें तो भी ठीक शाश्वत नही है, और फिर सदृश भी यहाँ नही है। यह तो साधन श्रद्धान के परिणामकी बात है। यह भी व्यवहारसे बात कही गई है। फिर कोई कहता-चलो साधक दशामे ऊपर की बात मिली—अरहत भगवान, सिद्ध भगवान, इनका जो काम है, जो विशुद्ध ज्ञानपरिणमन है वह वह ही एक तत्त्व है, वह ही परमात्मत्व है, वही सारभूत चीज है। जो कहा केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तज्ञान ये सब जो भी परिणमन हो रहे हैं बस यही सारभूत चीज है। यह ही निश्चयकी बात है, यह ही शुद्ध बात है, बाकी तो सब अशुद्ध बातें हैं, लेकिन यह भी व्यवहार है। क्योकि वहाँ जो उस आत्मद्रव्यका जो परिणमन हुआ, निरन्तर विशुद्ध विशुद्ध परिणमन हुआ वह परिणमन आत्माका प्रतिक्षण का परिणमन है, पर्याय है ऐसा भाव होना और साथ ही पर्यायदृष्टि भी हुई तो शुद्ध पर्याय

दृष्टि हुई। शुद्ध निश्चयनयका उसने आश्रय लिया, पर जाना तो एक क्षणिक भाव क्षण-क्षणमें चढ़ने वाला परिणमन, यह भी व्यवहार हो गया।

व्यवहारकी उत्कृष्ट शुद्ध श्रेणि और शुद्धनयकी सन्धि—कोई कहता है कि चलो इस तरह निरखें अब कि आत्मा है उसमें सहज ज्ञान, सहज आनन्द, सहज दर्शन है, अब सहजकी बात कर रहे हैं, अब परिणमनकी बात नहीं करते, ऐसी सहज अनन्त शक्तियाँ हैं। आत्मामें ऐसे सहज ज्ञानदर्शन आदिक हैं, लो अब तो हमारी चर्चा शुद्धनयकी हो जायगी। तो कहते हैं कि यह भी व्यवहार है, क्योंकि आत्मा तो वह अखण्ड द्रव्य है, जिस द्रव्यको वचनों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। वचन बोल करके तो इस अखण्ड द्रव्यको तोड़ दिया गया है। अंश कर करके कहा गया है, यह भी व्यवहार है। तो चलो यह भी व्यवहार बन गया। तो यों बोल लो कि आत्मा अखण्ड है, चैतन्यस्वरूप है, शाश्वत है। लो, देखो, कोई दृष्टि आकर यह भी बतायेगी कि यह भी व्यवहार है। कहा है ना तुमने। क्या है यह ? यह आत्मा ? यह आत्मा ? इतना तक कह दिया तब तो व्यवहार हो जायगा। जो व्यवहारसे ९ पदार्थ कहे हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष आदिक इनमें जीव तकको व्यवहार कह दिया गया। वह क्यों कहा गया जो तुमने कल्पनामें तोड़ दिया—यह जीव, लो ऐसा कहकर कल्पनामें तोड़ दिया ना। व्यवहारमें आ गया। तो जहाँ इस तरहकी शब्दविलासे कुछ भी कहा जाये यह व्यवहारकी पद्धति हो गई है, तो इस तरह व्यवहारकी पद्धतिको सुनकर आपने यह निर्णय किया होगा कि एक सारे व्यवहारको कह दिया कि सब झूठे। कुछ लग रहा झूठ, कुछ कम झूठ और कुछ बात सत्य लगी है, और कोई बात बिल्कुल सत्य है। आत्मा अखण्ड चैतन्यस्वरूप है। आत्मा सहज ज्ञान, सहज दर्शन आदिक अनन्त शक्तियोसे-तन्मय है, क्या ये बाते अयथार्थ है ? इनका जो लक्ष्य है, इनका जो विषय है, वह अयथार्थ नहीं किन्तु इन वचनों द्वारा जो कहा जा रहा है सो सुनने वालों उस अखण्ड स्वभावके अनुभवमें नहीं आ पा रहा, जिसको कि साक्षात् ज्ञान हुआ कि यह है, इतना विकल्प भी न करके ज्ञान हुआ, वह स्थिति नहीं पायी जा रही, इसलिए कहा जाता है कि यह भी अयथार्थ है। किन्तु, उत्कृष्ट विशुद्ध श्रेणिके इस व्यवहारकी शुद्धनयसे सन्धि मिल जाती है। इस प्रसंगसे यह निर्णय होता है कि व्यवहार सर्वथा अभूतार्थ नहीं है, किन्तु भूतार्थ निर्विकल्प वस्तुस्वरूपकी दृष्टिके सामने अभूतार्थ है।

आत्मकर्मकी आत्माश्रितता—आत्माकी कर्मशक्तिका वर्णन चल रहा है। आत्मामें कर्म होनेकी शक्ति है, अर्थात् आत्माका जो परिणाम है, समय-समयपर होने वाला जो आत्माका परिणमन है वह आत्माका कर्म है। वह प्राप्यमाण सिद्धरूप भाव है उस रूप होने की शक्ति है। अब यहाँ इस दृष्टिसे निरखियेगा कि आत्माको निरपेक्षरूपसे अपने आपके ही

बलसे जो काम हो उसे कहते हैं आत्माका कर्म। ऐसा कर्म क्या होगा ? आत्माके स्वभाव के अनुरूप जो आत्माका विकास है वह होगा, अर्थात् निर्मल परिणमन। जीव संसारमे दुःखी हो रहे है इस निर्मल परिणमनके बिना। और, निर्मल परिणामसे परिणत हो जाना यह है आत्माकी एक स्वाभाविक कर्मकी स्थिति। ऐसा आत्माका वह निर्मल परिणाम आत्मा की शान्तिके लिए है, सुख समृद्धिके लिए है, कल्याणके लिए है सत्य तो यही बात है कि आत्मा ऐसी ही स्थितिमे सुन्दर है, सुभग है, सहज है, अनोखा है और यह ही एक भलाई है। यह निर्मल परिणाम किस तरह उत्पन्न होगा ? उसकी क्या विधि है ? विधि क्या देखना, आत्माको केवल अपने स्वरूपमे जाननेपर अपने आप विधि समझमे आ जाती है। आत्माके इस निर्मल परिणामके निष्पादनमे किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा नही होती। यह तो आत्मद्रव्यके आश्रयसे ही प्रकट होता है।

औपाधिक भावकी पराश्रयजता—जो भी विभाव है सो वह ही किसी परका आश्रय पाकर प्रकट होगा, परउपाधिके सम्बन्धसे प्रकट होगा। परउपाधिसे रागादिक भाव प्रकट हो रहे थे, अब परउपाधि न रहे तो एक यह ही उपाधि मान ली गई, इसीको ही एक प्रकारका उपराग मान लिया गया, यह तो एक दृष्टिकी बात है, पर सद्भावात्मक सन्निधान स्वरूप कोई परउपाधि नही हुआ करती आत्माके शुद्ध निर्मल परिणमनमे। उदाहरण ले लीजिए—आत्माके शुभभाव, भक्ति, वन्दना, दया दान आदिकके भाव ये किसी परके आश्रयको पाकर प्रकट होते है। इनमे निमित्त कारण तो है उस प्रकारकी प्रकृतिका उदय व उपादान कारण है आत्माकी उस प्रकारकी वहाँ योग्यता और आश्रयभूत कारण हैं वे अन्य जीव, जिनका ख्याल करके उसने दया दान आदिकका भाव बनाया है। तो ये विभाव हैं, इसमे परका आश्रय पडा है।

आत्मभावोंकी निरपेक्षता—अब निर्मल पर्यायकी बात देखियेगा। किसी भी निर्मल पर्यायको ले लीजिए—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, ये निर्मल परिणमन नही है। ये कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं। तो निर्मल परिणमन कौन होगा ? सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान ये निर्मल परिणमन कहलायेंगे और इसके सम्बन्धमे सोच लीजिए—सम्यग्दर्शन होता है तो इसमे जो क्षयोपशम सम्यक्त्व है और उसमे जो कुछ क्षायोपशमिकता है, मलिनता है वह भी निर्मल परिणाम नही कहा गया। वहाँ चल मलिन विभाव है। अब रही औपशमिक व क्षायिक सम्यक्त्वकी बात, उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व ये निर्मल परिणाम हैं। सो उपशम सम्यक्त्व तो होता है कर्मकी उपाधिसे। वहाँ उपशम है लेकिन उस कालमे सन्निधान रूपसे कोई उपाधिविपाक हो तब सम्यक्त्व होता है ऐसा नही है। हाँ उपशम है इसलिए उसका विश्वास न रहा, उखड जायेगा और कुछ अन्य स्थिति बन जायगी। क्षायिक सम्यक्त्व होता है ७ प्रकृतियोके क्षयसे।

तो यह अभावरूप कारण हुआ। सन्निधानरूप कारण कुछ नही हुआ कि जिसका सन्निधान पाकर क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अभी हम निचली भूमिका की बात कह रहे हैं। केवलज्ञानकी बात नही कह रहे। उसकी बात आगे कहेगे। आत्माका कर्म है यह निर्मल परिणाम और वह कर्म परनिरपेक्ष होता है। अब चर्चा आती है कि केवली, श्रुतकेवलीके निकट क्षायिक सम्यक्त्व होता है सो ध्यानसे इसका परिचय कर लेनेकी बात है। तथ्य क्या है कि क्षायिक सम्यक्त्व जिस समय उत्पन्न होता है उस समयमे इस सम्यक्त्व उत्पन्न करने वालेके चित्तमे उपयोगमे न बाहरका केवली है, न श्रुतकेवली है, न परपदार्थ है। उस समय तो उसका निर्विकल्प आत्मद्रव्यका ही आश्रय है और हुआ क्या कि जिस शुभभाव धारामे रहकर ऐसा फल पाया गया कि क्षायिक सम्यक्त्व हो जाय उस शुभ भावका आश्रय है वह केवली श्रुतकेवली। केवली श्रुतकेवलीका जो उपयोग हुआ है वह क्या है सो देखिये—क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होनेसे पहिले जो शुभ भाव है जिस शुभभावधारा मे चलकर आत्मा शुभभावकी वृत्ति तज कर शुद्ध अन्तस्तत्त्वका आश्रय करता है तो ऐसे शुभभावोका आश्रयभूत कारण है केवली, श्रुतकेवली, और उस शुभभावकी धारामे रहकर ऐसी बात बनती है कि उसको क्षायिक सम्यक्त्व हुआ और उस क्षायिक सम्यक्त्व होनेका निमित्त कारण है ७ प्रकृतियोका क्षय। वह क्षय है असन्निधान अभावरूप कारण। तो परखना है कि जो निर्मल परिणाम है वह निरपेक्ष होकर किस तरह प्रकट है?

सत्य सहज शान्तिकी उपलब्धिकी सहज विधि—हमे चाहिए आत्मशान्ति, आत्मा का शुद्ध आनन्द, यदि यह स्थिति चाहिए तो बडी सुविधासे, बड़े आरामसे यह स्थिति हमे मिल सकती है, क्योकि उस परिणामके उत्पन्न होनेके लिए किसी परकी अपेक्षा नही करनी पड़ती। परकी प्रतीक्षा अपेक्षा करके अपने उपयोगमे परको आश्रयभूत कारण बनाकर जो भाव प्रकट होगा वह विभाव प्रकट होगा, शुद्धभाव प्रकट न होगा। परम्परा कारण और पूर्ववर्ती कारण आदिक अनेक दृष्टियोसे कारण बताया जाता है निर्मल परिणामका, पर वह निर्मल परिणाम तो इस अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभावमय आत्म-द्रव्यको कारणरूपसे उपादान करके स्वयं ही प्रकट होता है। यही है आत्माका कर्म, यही है आत्माका धर्म। तो निर्मल पर्यायसे परिणत होनेकी शक्ति इस आत्मामे है। यह कर्म शक्ति घोषणा कर रही है। तब इस शुद्ध केवल अखण्ड निज तत्त्वका आश्रय करनेसे केवली होगा, जिसमे कोई सन्देहकी बात नही है। देव, शास्त्र, गुरुका आश्रय, आलम्बन, भक्ति करके हम धर्ममार्गमे चल रहे है यह बात विपरीत नही कर रहे है, पर तथ्य जानियेगा कि देव, शास्त्र, गुरुका विकल्प करके, उसका आश्रय करके जो हमारा भाव बनता है वह भाव एक तैयारीका भाव है, उस भावकी धारामे रहकर यह विकल्प 'छूटकर

निर्विकल्प स्थिति पायी जा सकती है, तो ऐसा निर्मल परिणाम होनेकी शक्ति इस आत्मद्रव्य मे है, निमित्तमे नही है। निमित्तभूत जो है उनमे यह शक्ति नही पायी जाती।

आश्रयभूत कारण और निमित्त कारणमें अन्तर—यहाँ यह विशेष समझ लेनेकी बात है कि लोग हर एक बातको निमित्त कारण कह देते हैं, पर स्थिति यह है कि कारण दो प्रकारके हैं—उपादान कारण, निमित्त कारण। किन्तु जीव विभाव उत्पन्न होनेमें एक नोकर्म भी कारण होता है। जिसे आश्रयभूत कारण कहते हैं। जैसे हम रागविभाव करें तो रागप्रकृतिका उदय निमित्त कारण है और आत्मामे उस समयकी अशुद्धता उपादान कारण है। और जिस पुरुषपर राग किया है वह पुरुष उपयोगमे उसके आया सो वह आश्रयभूत कारण है। आश्रयभूत कारण जीवके विभावके प्रसंगमें ही होगा, पुद्गलके कार्यमे नही। वहाँ तो निमित्त कारणकी बात है। योग्य निमित्त हो, योग्य उपादान हो तब कार्य होता है, किन्तु जीवके विभावमे एक बीचके आधारसे एक आश्रयभूत कारण भी बन गया है। आश्रयभूत कारण और निमित्त कारणमें बहुत अन्तर है। इस अन्तरको तो सामने रखते नही लेकिन सभीको निमित्त कारण कह कहकर यह बात प्रकट की जाती है कि देखो—यह जीव समवशरणमें अनेक बार गया, पर सम्यक्त्व नही हुआ, इस कारणसे निमित्त कुछ चीज नही है। इस जीवको इतना उपदेश पानेपर सम्यक्त्व नही हुआ इसलिए निमित्त अकिञ्चित्कर है, कुछ नही है।

देखिये—निमित्त अकिञ्चित्कर है अर्थात् निमित्तका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्रभाव कुछ भी उपादानमें नहीं पहुचता है, लेकिन विभाव होनेकी पद्धति ही यह है कि वह किसी परका आश्रय बनाकर और निमित्तभूत कर्मका उदय सान्निधान पाकर यह अशुद्ध आत्मा अपने ही परिणमनसे, अपने ही प्रभावसे उस तरह परिणम जाता है, यों कहो कि विवश होकर परिणम जाता है। जैसे दर्पण जिस वस्तुके सामने कर दिया गया उस रूप प्रतिबिम्ब उसमे आ जाता है। तो वह उस दर्पणके लिए सन्निधान हुआ। दर्पणमे निजकी ओरसे यह कार्य नही हुआ। पर हुआ अवश्य। तो आश्रयभूत और निमित्तमें यह अन्तर है कि आश्रयभूत कारणके होनेपर कार्य हो अथवा न हो, पर निमित्त कारण होनेपर कार्य होता है। जैसे किसी मुनिके गाली देने वालेपर क्रोध नही आता तो गाली देने वाला आश्रयभूत कारण तो हो सकता है मगर किसका हो सके? जिसके उस प्रकारकी क्रोध प्रकृतिका उदय आ रहा हो ऐसे अशुद्ध जीवको ही आश्रयभूत कारण बन सकेगा। पर मुनि महाराजके उस प्रकारके क्रोध प्रकृतिका उदय ही नही चल रहा, उनके तो १२ कषाये उदयमें नही आ रही, उदय ही नहीं चल रहा उन कषायोका तो फिर कैसे उनमे उसरूप परिणमन हो सकेगा।

निर्मलआत्मकर्मकी अन्यभावसे अनुद्भूति—बात यहाँ यह कही जा रही है कि

आत्माका जो निर्मल परिणाम है वह न आश्रयभूत कारणसे आया, न निमित्तभूत कारण से आया, किन्तु वह आत्मद्रव्यसे, आत्मशक्तिसे ही प्रकट होता है, इस कारण अब यह यत्न करना है अपने आपकी शान्ति पानेके लिए कि समस्त परको उपयोगसे निकाल दे। उन्हे आश्रयभूत न करे। देखिये--एक ही निर्णय होना है यह, यदि वीतरागरूप निर्मल परिणाम चाहिए, धर्म चाहिए तो एक ही प्रयास करना है यह कि उपयोगसे समस्त परको निकाल दे। आश्रयभूत किसी परपदार्थको मत बनाइये, क्योंकि परको आश्रयभूत बनाओगे तो विभाव ही बनेंगे, वहाँ निर्मल परिणाम नही बन सकते। अब देखिये—उतावली करके यह काम तो नही किया जा सकता है। मनको समझा लीजिए हमे किसी परका आश्रय नही करना है। मै हूँ सकटमे। वह संकट लगा है जन्म मरणका। वह सकट पडा है व्यर्थ का विकल्प उत्पन्न करके अपने आपको दु खी बनाये रहनेका। इस संकटको मेट लीजिए दुनियाकी और बातोमे न पडे। किसी वस्तुके परिणमनके प्रसगसे कुछ न मिलेगा। और, एक अपने आपकी संभालसे जो कि यह स्वयं अनन्त निधि वाला है, आपको सर्व कुछ प्रकट हो जायेगा। जरा भी इस तरहकी दृष्टि न रखे कि अमुक व्यक्ति मेरे साथ इस तरहका व्यवहार करता है। अरे ये सब व्यर्थकी बाहरी बाते छोड दीजिए–मेरे लिए वे सब अकिञ्चित् कर हैं, उनसे मेरा क्या सम्बन्ध है। सभी जीव स्वतत्र है। वे अपनी परिणतिसे परिणमते है। वे जो करते हो करे, जैसा परिणमते हो, परिणमे। उनकी ओर विकल्प बनाकर, उन्हे आश्रयभूत बनाकर हम अपने आपको क्यो विभावमे रगडे। चेतें, संभलें, अपने आपकी सुध ले। कर्म तो किये से होगा। यहाँ कर्मका अर्थ ज्ञानावरणादिक कर्म नही, किन्तु मेरा कर्म है मेरे स्वरूपका शुद्ध परिणमन। वह तो अपने आपमे हुआनेसे होगा, अपने आपके स्वरूपसे होगा, प्रमादसे न होगा, कषायसे न होगा। तब उसके लिए साहस बनाना होगा।

अपने आपके स्वाधीन आरामवाले कर्ममें असुविधा कल्पनकी पामरता—भला क्या यह अपने मनको समझा लेनेकी बात कोई ऊँचे साहसकी बात कही जा रही है, जो की न जा सके। अरे तुम तुम ही हो। यहाँ कहा जा रहा कि तुम अपनेको दृष्टिमे रखो, दूसरेमे ऐसी दृष्टि मत लगाओ कि यह क्या कर रहा है, यह किस तरह चल रहा है, मेरे प्रति इसका क्या रुख चल रहा है···आदि, ये विकल्प न करो। बाहरकी बात बाहरमे है, हममे नही है, ऐसा अपने मनको समझा लेनेकी बात और ऐसी अपने आपमे प्रकाश पा लेनेकी बात क्या कोई ऊचे साहसकी बात कही जा रही है जो की न जा सके ? अरे यह तो है अपनी एक सहज साहसकी बात। इस ओर लगो। कठिन तो इस कारण लग जाता है कि अब तक सस्कार ऐसे खोटे ही रहे जिससे परकी ओर ही चित्त बना रहता है, लेकिन अब

तो इस चालको पलटिये—अभी तक खूब बेढगी चाल चले, खूब मिथ्यात्वमे पगे, अब तो तुम अपने परिणाम सम्यग्दर्शनरूप निर्मल बनाओ। ये परिणाम बनेंगे कैसे ? अरे अनादि कालसे जो तेरे साथ कुटेव लगी आयी है उस कुटेवको साहस करके छोड देना होगा। तेरी वह परम आत्मशान्ति तेरे आत्मासे ही प्राप्त हो जायेगी। किसी अन्य पदार्थसे तेरेको शान्ति प्राप्त न होगी। ऐसी अचिन्त्य शक्ति तुममे स्वय है। वह शक्ति न किसी रागद्वेषादिक भावमें है और न किसी अन्य पदार्थमे है। तो ऐसी स्थितिमे हमे इस ओर साहस बनाना है, अपनेको समझाना है। देखो एक क्षणका यह पवित्र काम अनन्तकालके लिए शुद्ध आनन्द प्रदान करेगा। इस बातको करनेमे प्रमाद क्यो किया जा रहा है ? एक क्षण भी यदि इस निर्विकल्प पद्धतिसे आत्माके ज्ञानमात्र स्वरूपका अनुभव होता है, इस ही रूप अनुभव बर्तता है तो उसका यह फल है कि अनन्त काल तकके लिए यह शाश्वत आनन्दमय रहेगा। इसमे चाहे थोडा विलम्ब लग जाय, पर बहुत ही जल्दी कभी शाश्वत आनन्दका लाभ होगा। और अनन्त काल तकके लिए वह आनन्दका लाभ बना रहेगा। ऐसा काम है यह। इसके लिए साहस बने और बाहरी पदार्थोंके आश्रयको छोडे।

कषायोंके शमनका प्राथमिक कर्तव्य—देखिये शाश्वत आनन्दकी विधि बनानेकी बात कषायोको कम किए बिना नही बन सकती। अपने आपमे खोजना चाहिये कि हममे क्रोध कितना है ? इस क्रोधसे क्या मैं किसी दूसरेका बिगाड कर रहा हूँ ? मैं तो अपने आपका ही बिगाड कर रहा हूँ। क्रोध कषाय करके मैं अपने गुणोके विकासको ही जला रहा हू। यह क्रोध कषाय मेरे लिए हितरूप नही है। एक साहस करके इस क्रोधको दूर करूँ और शान्त हो जाऊँ। बहुतसे लोग ऐसे देखे जाते हैं जो पहिले बडा क्रोध करते रहे पर कुछ समय बाद बिल्कुल शान्त नजर आते है। तो यह बात बन सकती है। अपनेमे आज कषायोका निरीक्षण करें। देखिये मानकषायके उदयमें लोग कितना दूसरोको तुच्छ समझते हैं। इस बातका स्वयको विचार करना चाहिए कि यह मानकषाय मेरे स्वयके अन्दर कितना प्रवर्त रहा है ? इस बातका निरीक्षण कीजिए, अभ्यास कीजिए अपने स्वरूप दर्शनका। स्वरूप तो इन जीवोका शुद्ध चैतन्यात्मक है। शुद्ध चित्स्वरूप अपने ही सत्त्वके कारण अपने आपमे जो उनका भाव है सहज उस रूप है। उसमे तुच्छता कहाँ ? यह जीव स्वय कोई तुच्छ नही है। यह तो कर्मोंका नाट्य है तुच्छता और महत्ता, पर जो मूल पदार्थ है उसमे तुच्छता कहाँ पडी है ? ये कषायें कम कीजिए, अपने अन्दर छलकपट भी न रहने दीजिए। माया कषायको शल्य बताया है। चारो कषायोमे बडी प्रबल कषाय माया कषाय है। जिसको शल्यका रूप दिया है। मायाचारी पुरुषको अपने आपके अन्दर स्वय अपनी हीनताका अनुभव होता रहता है। अगर नही समझ पाना तो क्या हीनतारूपमे वह अपना

आचरण नही कर रहा ? कही दूसरोमे मेरी यह बात प्रकट न हो जाय, इसलिए उसकी सम्हाल किए है । पर मायाचारमे यह उपयोग ऐसा भ्रम जाता है कि जिस उपयोगमे फिर यह पात्रता नही रहती है कि उसमे धर्मके दो शब्द जम सके । जैसे किसी टेढे छिद्र वाले मालाके दानेमे सूतका प्रवेश नहीं हो सकता ऐसे ही जो पुरुष वक्रहृदयका है, जिसके अन्दर छल, कपट, मायाचारकी वासना भरी है उस व्यक्तिके अन्दर धर्म धारण करनेकी पात्रता नही बन सकती । तो अपने आपके अन्दर इस माया कषायका निरीक्षण करे और मूलसे इसे ध्वस्त करे । ऐसी ही बात लोभकषायके सम्बधमे है । यह लोभ लालच भी इस जीव को पतनकी ओर ले जाने वाला है । भाग्यसे सम्पदा तो मिली हुई है फिर भी ऐसी लालसा बनी रहे कि मुझे तो और सम्पदा मिले, उसका सचय करनेकी बात मनमे अधिकाधिक रहा करती । उसका कुछ भी अंश परोपकारमे, दानमे लगानेका भाव नही वनता, बस उस सम्पदाको देख-देखकर खुश रहा करते है, ऐसे लोभी. लालची व्यक्तियोके हृदयमे स्वानुभव करनेकी पात्रता आ नही सकती । ऋषि संतोका ऐसा उपदेश है कि ऐसे लुब्ध चित्तमे स्वानुभवके, धर्मके अकुर स्फुटित हो नही सकते । कोई पुरष अगर सोचे कि मेरे पास जो भी धन है उसको मैं स्वयं न खर्च करूँ, यह धन मेरे लडको, नाती पोतोके लिए होगा व अन्य परिजनोके लिए होगा, उस धनको मुझे अपने स्वयके लिए भी नही खर्च करना है, तो देखिये—यह कितने तीव्र लोभकी बात है । अरे कुछ जीवोको तो अपने समझ लिया और बाकी जगतके अनन्त जीवोको गैर समझ लिया तो यह तो एक घोर अज्ञानता भरी बात है, देखिये—इस भावके अन्दर कितना लोभ कषायका प्रवर्तन चल रहा है । तो आप समझिये कि जहाँ ऐसा तीव्र लोभकषाय चल रही हो वहाँ आत्माके अनुभव करनेकी बात, निर्मल परिणाम बनानेकी बात कहाँसे आ सकेगी ? हम आपका यह कर्तव्य है कि अपने अन्दर उठने वाली इन कषायोको दूर करे, अपने अन्दर शान्ति लाये, सभी जीवोके प्रति समानताका चिन्तन करें, तभी यह पात्रता वनेगी कि परपदार्थोंका विकल्प छोडकर, परका आश्रय तजकर अपने अखण्ड आत्मतत्त्वके आलम्बनसे हम अपने आपको निर्मल परिणामोरूप परिणत कर सके ।

सहज महत्त्व पानेका सहज महान् कर्तव्य—भैया ! करना है हम आपको यही काम कि शुद्ध अन्तस्तत्त्वका आलंबन हो, सो कैसे यह कर्तव्य मिल जाता है उस सबका इस कर्मशक्तिके परिचयमे वर्णन किया है । अन्य कार्य यहाँके कोई महत्त्वपूर्ण नही है । यहाँ तो लोग रागद्वेषादिके कार्य करके भी अपनी बडी महत्ता समझते हैं । कुछ लोगोने अगर झूठी प्रशसा भी कर दी तो लोग सोचते है कि यह हमारा तो बडा बडप्पन है । अरे आत्मन् ! इन बातोमे बडप्पनकी कुछ भी बात नही है । ये तो सब मिथ्या बाते है । अरे

यदि तुझे अपना बडप्पन ही इष्ट है तो वास्तविक बडप्पनकी चाह कर। यदि तेरे चरणोमे सदा इन्द्रादिक देव सेवा किया करे ऐसा बडप्पन चाहता है तो इसका यत्न तेरे लिए ऊँचे बडप्पनकी बात होगी। ऐसी स्थिति है भगवान अरहंतदेवकी। यदि बडप्पन ही तू चाहता है तो इतने ऊँचे बडप्पनकी चाह कर और उसके पानेका प्रयत्न कर। यह बडप्पन तुझे तेरे ही आत्माके आश्रयसे प्राप्त होगा। ऐसा जानकर तू परका आश्रय तज और अपने आपका वास्तविक आलम्बन कर। यहाँ किसीसे माँगनेसे या किसीकी आशासे कुछ न मिलेगा। माँगनेका व आशा का विकल्प छोडकर परकी उपेक्षा करके निज शुद्ध आत्मतत्त्वके आलम्बनसे महान् परमात्मत्व स्वय प्रकट हो जाता है।

आत्माका कर्म ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व—कर्मशक्तिके प्रसगमे यह वर्णन चल रहा है कि आत्माका कर्म क्या है ? आत्मा क्या करता है और किस विधिसे करता है ? आत्माका कर्म उसे कहना चाहिये कि जिसको आत्मा स्वय परकी सहायता लिए बिना अपनी सामर्थ्य से करता है, पर सन्निधानकी अपेक्षा बिना जो स्वय सिद्धभाव है वही आत्माका कर्म है ऐसा वह कर्म क्या है ? आत्मा स्वय निरपेक्ष होकर अपने आपमे किस रूपसे होता रहता है ? यह थोडा भी चिन्तन करने पर स्पष्ट हो जाता है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, मेरा निरपेक्ष स्वभाव कार्य ज्ञाता दृष्टा रहना है। ऐसी परिणमनकी शक्ति मुझ आत्मामे है। लोग धर्मको बाहर ढूँढते फिरते है—मुझे अमुक जगह धर्म मिलेगा, शान्ति मिलेगी, आनन्द मिलेगा। अरे आचार्यजन बतलाते है कि तेरा धर्म तो तेरे ही अन्दर विराजमान है। तू कहाँ उस धर्मको बाहरमे ढूँढता फिरता है ? उस धर्ममय स्वरूपकी पहिचान तेरे ही आश्रयमे (अपने आपके आश्रयमे) रहेगी सो तेरेमे ही वह धर्म प्रकट होगा। उस धर्म मे किसी प्रकारका विकार नही है। जीवको सर्व क्लेशोका कारण मूलमे भ्रमका होना है। भ्रम न रहे तो क्लेश काहे का ? सभी मनुष्योमे अन्य कोई क्लेशकी बात ही नही है। यह भ्रम अपनेमे न रखें, उद्दण्डता, ऊधम जो व्यर्थका मचा रखा है उसे न करे फिर कष्ट नहीं। जो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, जिनसे कोई सम्बन्ध नही उनसे अपना सम्बन्ध बनाना इसे कितनी बडी बेवकूफी कही जाय ? यह जीव अपने भ्रान्त भावोके द्वारा अन्य जीवसे पुद्गलसे सम्बन्ध बना लेता है इसीको तो बन्ध कहते हैं। बन्ध और है किस बातका ? एक जीवका दूसरे जीवसे वस्तुत कोई बन्ध नही, कोई सम्बन्ध नही। जो अत्यन्त भिन्न परपदार्थ है उनमे यह भ्रम लग गया कि ये मेरे है, मैं इनका हूँ, यही मेरे सर्वस्व है, इनके बिना मेरे प्राण टिक नही सकते यही तो बन्धन है। अरे यह कितना बडा अज्ञान अधेरा छाया है। ज्ञानी पुरुष ही इस अनुचित काम पर पछतावा कर सकते हैं अज्ञानी जन नही। अज्ञानी जनोको तो ये विकारयुक्त काम अनुचित विदित ही नही होते है। अहो, हम आपने

आज कितना श्रेष्ठ मानवजीवन पाया है ? इस श्रेष्ठ जीवनका सदुपयोग यही है कि इस मनको, चिन्तनको, अपनी भावनाको अपने इस चित्स्वभावके आश्रयमे लाये, इसी लिए भक्ति वंदना, परमेष्ठी वन्दना और जितनी भी धार्मिक क्रियायें है वे सब इसके लिए ही तो है। प्रभुने भी यही पंथ अपनाया था जिससे उनके वीतरागता प्रकट हुई, सो सहज अन्तस्तत्त्वका अवलम्बनरूप पथ पर अपनेको चलना है।

विकार दूर करनेका उपाय अविकार आत्मस्वभावका आश्रयण—ये विकार कैसे दूर हो, इसके लिए विकारोको निरखना और उनको दूर करनेकी भावना बनाना या बहुत गुस्सा होकर इन विकारोको भगानेकी कोशिश करना, ये यत्न क्या विकार दूर करने के है ? अरे किसी दुष्टसे अगर फस गए है तो उससे सीधा मुकाबला करके पेश न पायेगे। वहा तो कोई शान्ति और नीति अपनानी होगी। ऐसे ही जिन विकारोसे मैं बरबाद हो रहा हूँ उन विकारोको गुस्सा आदिकके द्वारा दूर नही किया जा सकता, वहाँ तो कोई नीति अपनानी होगी। वह नीति यही है कि अविकार ज्ञानस्वभावका आलम्बन हो तो ये विकार दूर हो जायेगे। तो विकार दूर करनेका यत्न यही है कि अपने कर्मोकी संभाल की जाय। अपने कर्म यही हैं कि यह आत्मा स्वतत्रतया जिनको प्राप्त कर सकता है वही है आत्माका वास्तविक कर्म। परके आश्रय बिना अपने आपके स्वभावकी ओरसे जो पाया जा सकेगा वही है मेरा कर्म, वही है मेरा धर्म, उसका साहस किया जाय तो ये विकार दूर हो जायेगे, अन्यथा जो परेशानी बनी आयी है वह बनी रहेगी। और, परेशानी भी क्या है ? लोग तो कहते है कि मैं बडा परेशान हूँ, मैं बहुत फस गया हूँ। अरे क्या परेशानी है ? वे तो कोई बाहरी परेशानी पेश करेंगे। अरे परके ईशान बन गए याने किसी परपदार्थके स्वामी अपनेको मान लिया या परको ईशान मान लिया अर्थात् किसी परपदार्थको अपना स्वामी मान लिया या परका अपने को ईशान मान लिया, परका अपनेको मालिक मान लिया बस यही तो परेशानीकी बात बन गई। यद्यपि यह परेशानी शब्द उर्दूका है, हिन्दी का भी बन जाता है, लेकिन संस्कृतमे यो कहे—परेशानत्व अर्थात् परकी मालिकाई या अपेक्षा रहना। तो जहां परकी अपेक्षा रहेगी वहा तो परेशानी बनी बनाई है।

अपने महत्त्वका मूल्याङ्कन—अब अपने आपमे ऐसा विचारिये कि मैं आत्मा कितना बढा चढा हो पाया हूँ, कितना मैं मोक्षमार्गमे बढ सका हूँ ? इसका मूल्यांकन होगा परकी उपेक्षासे। अपनेमे खोजें कि मेरेमे परके प्रति उपेक्षाका कितना भाव है, बस उसके अनुकूल अपने आपका मूल्यांकन करे कि हम अभी इतना बढ़ चढकर हो पाये है, अभी हम इतनी सिद्धि कर पाये है। और, यदि इस बातकी अपनेमे कमी विदित होती है तो इसे सम्हाले, उसके अनुकूल अपनी ज्ञानभावना बनाये, अपने ज्ञानको मनको प्रोत्साहित करे और

एतदर्थ अरहतके उस स्वरूपका विचार करें। किस तरह ये परमात्मा हुए है ? इतने जोड तोडसे जिसे कहते है हाथ फैंककर सर्व प्रकारसे, इस सर्व परसे उपेक्षा की और अपने इस अविकार ज्ञानस्वभावके उपयोगमे रहे उसका प्रताप है कि ये सदाके लिए महान हो गए। तो अपने कर्मकी सम्हाल करनेमे, अपने स्वभावकी दृष्टि करनेमे सर्व कल्याणमय अवस्थाये आसान हो जाती हैं।

स्वयं तन्मय होकर प्राप्यमाणभावकी आत्मकर्मता---यहा कई दिनोसे यह प्रकरण चल रहा है, उसमे यह निर्णय किया होगा कि आत्माका सच्चा कर्म क्या है ? सच्चा कर्म क्या है। आत्मा स्वभावत स्वय तन्मय होकर जैसा परिणाम कर सके वही आत्माका सही कर्म है। आत्माका काम जड कर्मोका करना नही है। पुण्य करे, पाप करे, कौन सा पुण्य पाप करे ? अरे द्रव्य पुण्य, द्रव्य पाप ये कार्माणवर्गणायें, ये दशायें, ये तो मेरेसे विविक्त पदार्थ हैं, इन परिणतियोको मैं क्या करूँगा ? देखिये---निमित्तनैमित्तिक भावमे क्या हो रहा है ? यह इस समयकी बात नही है। जब यह प्रसंग आयगा तब उसका ध्यान किया जायगा। अभी इस समय वे सब ध्यान छोड दीजिए। यहा तो एक द्रव्यको निरख करके उस द्रव्यमे स्वतन्त्रतया, निरपेक्षतया क्या परिणाम होता है उसकी चर्चा चल रही है। तो यह आत्मा उन जड कर्मोको नही करता। और, तो बात जाने दो, जिस आशय मे यह बात चल रही है उस आशयमे तो यह भी बात बन रही है, यह आत्मा रागद्वेषादिक विकारोको नही करता अर्थात् आत्मामे अपने आपकी ओरसे अपनी शक्तिके कारण केवल स्वसे विकारोके करने की शक्ति नही है। होते है, विकार वह योग्यता है अशुद्ध पर्यायकी। वे विकार निमित्त सन्निधान पाकर हो जाते है इसी कारण तो निश्चयनयकी एक दृष्टिमे जयसेनाचार्यने, अमृतचन्द्रसूरिने तथा कुन्दकुन्दाचार्यदेवने भी स्पष्ट कह दिया है कि ये सब पौद्गलिक है। आखिर वह भी तो एक दृष्टि है और उस दृष्टिमे आत्माका शुद्ध चैतन्यस्वरूप सुरक्षित रखा गया है, ऐसा यह आत्मा अपने स्वभावसे विकारोको नही करता किन्तु जानन देखनहार ज्ञाताद्रष्टारूप परिणमन करे, यह आत्माका स्वभाव है।

आत्माकी आत्मपरिणामात्मकता—आत्माका स्वभाव परिणमनात्मक परिणाम बनाना ही है। कोई भी पदार्थ परिणमे बिना नही रह सकता। क्योकि परिणमन न हो तो वस्तु सत्त्वको भी प्राप्त नही हो सकता। तो इससे यह ज्ञात हुआ कि आत्मा अपने परिणामसे पृथक् नही पाया जाता और ऐसा काम जिन कामोसे आत्मा पृथक् कभी निरखा ही न जाय याने सदृश सदृश परिणमन हो, जिसका कही व्यवधान भी न आये ऐसा वह कर्म है आत्मा का विशुद्ध काम। ऐसे आत्माके इस विशुद्ध कामको जिसने दृष्टिमे नही लिया है—मैं क्या कर सकता हू, मैं किस बातसे मना हू, मै किसमे सुरक्षित हू, मेरा वास्तविक काम क्या है ?

स्वतंत्रतया मैं क्या कर सकनेमे समर्थ हू, ऐसा जिसने भान नही किया तो वे बाहरमे अपने कर्म टटोलेंगे और बाहरमे किसी कर्मको टटोलनेके साधन होगे ही नही। तो इस इन्द्रियके साधनसे जो कुछ बात बनती है उसही मे आत्माके कामका विश्वास बनाकर यह जीव विह्वल हो जाता है।

इन्द्रियविषयोंसे हटकर निर्विषय अन्तस्तत्त्वमें लगनेका अनुरोध—देख ही रहे है कि एक-एक इन्द्रियके विषयमे वशीभूत होकर जीव अपने प्राण गवा देते है। हाथी इतना बहादुर जानवर है, यदि शेर अगर उसकी पकडमे आ जाय तो उसके टुकडे-टुकडे बना दे लेकिन वह भी अज्ञानवश इन्द्रिय विषयवश शिकारियो द्वारा मारा जाता है। यह झूठी हथिनीके रागका फल है। एक मछली माँसके लोभसे उसके वश होकर अपने कंठको काँटेमे छिदा देती है और मरणको प्राप्त हो जाती है। ये भवरे जिनमे इतनी सामर्थ्य है कि काठको भी छेद-कर एक ओरसे दूसरी ओर निकल जाय, लेकिन फूले हुए कमलमे शामको गधका लोभी भवरा बैठ जाता है और सूर्यास्त होते ही उस कमलके फूलके अन्दर बन्द होकर अपने प्राण खो बैठता है। यद्यपि उसमे इतनी शक्ति है कि उस फूलको वेधकर बाहर निकल जाये लेकिन गधकी आसक्तिके कारण इतनी बुद्धि उसकी बन नही पाती कि अब मैं क्या करूँ? ये पतिगे दीपकको देखकर उसी पर गिरते है और अपने प्राण गवा देते हैं। ये हिरण, सर्प आदिक राग रागनीमे मस्त होकर शिकारियोके चंगुलमे फसकर अपने प्राण गवा देते हे। यह तो एक-एक इन्द्रियके वशीभूत होने वाले जीवोकी बात है। हम आप तो सभी इन्द्रियोसे परिपूर्ण होते हुए, उनके वश हो रहे है तो हम आपकी क्या दशा होगी, इसपर तो कुछ विचार करें। लोग इन इन्द्रिय सुखोको मनमाना भोग कर रहे है, इन इन्द्रियोको पूर्ण स्वच्छन्द बनाये हुए है, न जाने इनकी क्या गति होगी? अरे आत्मन! इन इन्द्रियोके वशीभूत होकर अपने मा व जीवनको व्यर्थ न खोइये—अपने इस चैतन्य कुलकी सम्हाल कीजिए। इस चैतन्यकुलका जिनको भान हुआ हे उन पुरुषोंने क्या पौरुष किया था, जरा इस पर भी तो कुछ विचार कीजिए। यहा तो लोग मोहमे आकर इस शरीरके जनकको अपना कुल मानते, उनको ही अपने पुरखा समझते। अरे तुम तो चैतन्यस्वरूप हो, उस चैतन्यकुलमे जो विराजे हुए है, जिन्होंने उस चैतन्यका भान किया है उन अपने कुल वाले पुरुषोको तो निरखिये कि उन्होंने क्या किया था? जो पौरुष उन्होने किया था वह पौरुष हम आप भी करें। जो कार्य उन्होंने किया था वही कार्य हम आप भी करे। उन्होने अपने किये जाने योग्य कामको किया था। हम आप भी अपने किए जाने योग्य कामको करें। हम आप इन बाह्यपदार्थोंकी उपेक्षा करे और अपने आत्माके स्वरूपका आलम्बन ले। वह अपना आत्मस्वरूप ही अपने लिए कल्पवृक्ष है, उसीका आलम्बन लें और अपना सहज शाश्वत अमर्यादित आनन्द प्राप्त करें तो अपना

यह आनन्द अपने ही कामसे प्राप्त होगा दूसरेके कामसे नही, दूसरेके कामके विकल्पसे न प्राप्त होगा।

पारमार्थिक कर्तृत्वका निर्णय—यहाँ यह निर्णय करें कि मैं क्या कर सकता हूँ ? क्या मैं मकान, दुकान आदिक बना सकता हू ? क्या मै किसी को सुखी दुखी कर सकता हू ? अरे ये बाते तो निमित्तनैमित्तिक विधिसे प्राप्त होती हैं । ये बातें जैसी होती हो होने दो । मैं उनको नही करता । तो क्या मैं अपने कर्मोंकी, पुण्य पाप कर्मोंको करता हू ? नही । मेरेमे जो परिणाम होते हैं वे स्वय मेरे ही आत्मामें है । जो मेरी बात मेरेमे से जगती है वह मैं ही हू, दूसरा नहीं है । तो मेरेमे जो बात जगी वह मेरे स्वरूप रूप है दूसरेके स्वरूप रूप नही । यह मैं आत्मा परिणामी अपने स्वरूपको करता हू और ये परिणाम मेरेमे ही होते है । देखिये—ये भाव विकार भी हैं अविकार भी हैं लेकिन स्वरूपतया निरपेक्ष होकर जब मैं अपनी ही शक्ति सभाल रहा हू, जब मैं अपने आपको ही निरख रहा हू तो देखिये इस दृष्टिसे कि मेरा क्या परिणाम है ? वह ज्ञाताद्रष्टारूप जानन । जानन ही तो हो रहा है सर्वत्र, तो ऐसा जो भी परिणाम है वही मेरा आत्मवैभव है, स्वतत्रतया वह मेरे द्वारा प्राप्त किया जाता है । ऐसा निष्पन्न भाव, वह कहलाता है कर्म । तो परमार्थसे मेरा कर्म यह मैं हू—जानन देखन शुद्ध परिणाम, इस परिणामको मैं करनेकी सामर्थ्य रख रहा हूँ, पर द्रव्य कर्मको करनेकी सामर्थ्य नही रखता । यो जब अपने आपके कर्मका निर्णय किया कि मेरा तो यह काम है तो उस कामकी धुनमे चलो ना । उसके ही उपयोगसे हम शान्त रह सकेगे । बाहरी बातोमे शान्त नही रह सकते । सब जीवोपर एक समताका भाव जगे, और उस समताभावके जगनेका जो कारण है सबमे उस भूर्त चैतन्य स्वरूपको निरखें, उस शुद्ध तत्त्वको निरखें । लो सभी जीव एक समानकी दृष्टिमे आ गए । अब सम्बन्ध बनाते है, बोलते है । दूसरोसे व्यवहार भी होता है, करना पडता है, एक ऐसी आत्माकी निर्मलता है, लेकिन वहाँ भी प्रतीति यही है ज्ञानी पुरुषकी कि मेरेसे सर्व अत्यन्त विविक्त है और मेरा जो कुछ होगा वह मेरेसे ही होगा, दूसरेसे न होगा । तब मै अपने कामका करने वाला, मेरा काम मेरेमे आने वाला और उस कामका जो फल है उस को मै भोगने वाला हू ।

ज्ञान, ज्ञानकर्म व ज्ञानकर्मफलकी आत्मपरिणामात्मकता—मैं हू चैतन्यस्वरूप, चेतनेका काम है और वह चेतना होती है तीन प्रकारसे—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफल चेतना । ज्ञानावरण कर्मकी बात नही कह रहे अथवा कर्मोंके उदयसे होने वाले जो रागादिक भाव हैं उनकी बात नही कह रहे किन्तु आत्माका कर्म है जानना और वह है ज्ञानस्वरूप मेरा कर्म है जानना, वह है मेरा कर्म और जाननेका जो फल है निराकुलता वह

है उसका कर्मफल। इन तीनमे चेत रहे है सिद्ध भगवंत प्रभु तो कैसी शुद्ध ज्ञानचेतना और कर्म चेतना, कर्मफल चेतनामे रह रहे है। यहाँ कर्मचेतना, कर्मफलचेतनाका अर्थ विकार नही, दु ख नही, कर्मकी बात नही किन्तु आत्माने जो किया सो आत्माका कर्म और उसका फल जो सहज शाश्वत शुद्ध आनन्द मिला उन-रूप मैं हू। वे सब मेरेमे अभिन्न पडे हुए है। मेरा काम क्या है ? जानना देखना, इस कारण आत्माके ज्ञानसे अतिरिक्त अन्य कार्य बुद्धिमे धारण न करे। आ गये काम तो उन्हे झट निमटाएँ और फिर अपने आपको सभाल लें। मैं यह ज्ञानमात्र हू, जानन यह मेरा काम है। एक बार साहस बनाकर इस ज्ञानमय भावमे उपयुक्त होकर इसके अनुभवनमें तो आये, वह निर्विकल्प अनुभूति तो प्राप्त करे तो सदाके लिए मेरे संकट मिट जायेगे। मेरा कर्म यह जानना देखना है और अधिकसे अधिक बढे तो विकल्प मेरा काम है। बाहरी पदार्थोमे तो मैं कुछ कर नही पाता।

त्याग व उपादानके सम्बन्धमें तीन स्थितियां—मैं न बाह्यपदार्थोको ग्रहण करता हूँ और न छोडता हूँ। वे तो मेरेसे अत्यन्त दूर है, उनसे दूर रहनेके स्वभावरूप तो मैं अनादि से ही बना हुआ हू, किसी परके स्वरूपमे मिला हुआ मै नहीं हूँ। अज्ञानी जन तो उन पर पदार्थोंसे अपनेको मिलाजुला मानते है। मोही जन ऐसा समझते है कि मै बाह्यपदार्थोको त्याग रहा हू अथवा ग्रहण कर रहा हूँ। देखिये—यह बात वाह्य बुद्धिमे रहती है और आत्माकी भीतरी बात समझमे नही आती है। तो बडे-बडे त्याग करके, तपश्चरण करके इतने श्रम किए जाते है फिर भी उन्हे धर्मका लेश नही मिलता। जिन्होने अपने अन्त कर्म का निर्णय नही कर पाया वे मोही जन तो बाहर ही त्याग ग्रहणकी बात करते है। और, जो ज्ञानी जीव है, दो प्रकारके हैं, उनमे पहिली भूमिकाके ज्ञानी जीव अपने अध्यात्म विकल्प को त्याग करनेकी, विकल्पको ग्रहण करनेकी बात मानते है, यही मैं कर पाता हू और कुछ नही, लेकिन जो पुरुष निष्ठित हो गए है, जो अपने आपके स्वरूपकी भावनामे परिपुष्ट हो गए है उनके लिए न तो कुछ त्याग ही है और न कुछ ग्रहण ही है, पर कर्म छूटा किसीका नही। कर्मके मायने आत्माका परिणाम बनना। परिणाम सब पदार्थोमे बना हुआ है, आत्मा मे भी बना हुआ है। तो ऐसा निर्मल भावरूप परिणमन हो ऐसी मेरेमे शक्ति है। इसीको कर्मशक्तिके प्रसगमे बताया जा रहा है।

विद्यामय स्वरूपके आश्रयणका कर्तव्य—इस सब निर्णयके बाद सोचिये अपनेको व्यवहारमे क्या करना है ? सो निश्चय कीजिये व अधिकसे अधिक जरा तैयार हो जाये इस बातके लिए, वैसा प्रयोग करने लगिए, बड़ा आराम मिलेगा। क्या करे आप ? आप उस ही बातको वोले जिससे अज्ञानरूपको छोडकर ज्ञानरूपमे आ जाये। और, बाहरी बाते

बोलनेसे मेरेको प्रयोजन नही। किसी समय बोलनेमे आ गया तो झट उससे निपटिये, उससे अलग हो जाइये। बोलते समयमे भी तत्पर न होइये, अपनी भीतरी संभाल बनाइये। किसीसे कुछ पूछना हो तो उस ही बातको पूछिये जिससे तेरा अज्ञान दूर हो और वह ज्ञानमय अवस्था हो। यही चाहिए। अपनी अज्ञान परिणति दूर हो और यह ज्ञानज्योति प्रकट हो। एक वाक्य है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् इसमे यह प्रार्थना किया है कि अधकारसे हटाकर ज्ञान ज्योतिमे ले जाओ। करो प्रार्थना। किसकी ? क्या इस भीतकी, या किसी अन्य जीवकी, या इस शरीरकी ? अरे इन बाहरी चीजोंसे प्रार्थना करने पर ज्ञानकी सिद्धि न होगी। अपने आपके उस अविकार ज्ञानस्वभावसे प्रार्थना करो। ओह, मेरा शरण, मेरा सहाय अनादिकालसे यह मेरा ज्ञानस्वभाव ही था। परन्तु अभी तक इसे न जाना था, अभी तक मेरी दृष्टिमे न आया था, अब दृष्टिमे आया है तो अब मेरी दृष्टि से ओझल मत होवो। और, ऐसे हे कारण समयसार, हे अविकार स्वभाव, अब तुम प्रसन्न होओ, मुझे अन्धकारसे दूर करके पूर्ण ज्ञानज्योतिमें लाइये। प्रार्थना करें कि हम उसका अभेद भावरूपसे आलम्बन करें। इस विधिसे हम अपने निर्मल ज्ञानानन्दमे परिणत रहकर सदा आनन्दमय रह सकते है।

ज्ञानमात्र अनुभवनमें कृतकृत्यताका दिग्दर्शन—अनन्त शक्तिमान भगवान आत्माको ज्ञानमात्र रूपमे अनुभव करनेसे श्रेयोमार्गकी प्राप्ति होती है और श्रेयोमार्गमे अबाधगमन होता है, यह मैं ज्ञानमात्र हू, इस अनुभवमे वह सहज आनन्द आता है जिस आनन्दके लिए जो कुछ करना था। वह सब कुछ करनेके बाद यह आनन्द प्राप्त हुआ। जैसे भोजन बनानेके लिए कितनी कोशिशें करनी होती है ? द्रव्य कमाया, चीजे इकट्ठी की, अगीठी आदिक तैयार की अथवा चूल्हा जलाया, कडाही चढाई, घी डाला, आटा सेका, मिष्टान्न बनाया, अनेक चीजे बनायी, उनको सजाया आदिक, अनेक सब कार्य कर लेते है, सब कुछ करनेके बाद तब कही भोजन करने वाले भोजन करते हैं। और, उस भोजनको एक चित्त होकर सारे अन्य ख्याल छोडकर लोग करते हैं व उस भोजनके स्वादमे आनन्द मानते हुए अपनेको बहुत सुखी समझते है। जरा वह पद्धति यहाँ देखिये—पहिले वस्तुस्वरूपका अभ्यास करके, पढ लिख करके, अनेक ग्रन्थोका अध्ययन करके, गुरु सत्सगसे उसके मर्मको समझ करके और अनेक चर्चाओ द्वारा उन अनन्त शक्तियोका परिचय करें, सब शक्तियाँ जान जायें, क्या-क्या हममे वैभव है ? ये सारी कोशिशें करनेके बाद जब एक परिपूर्ण आत्मद्रव्यको इसने उपयोगमे निष्पन्न कर लिया कि वह है यह, तब अब क्या करना चाहिए कि उसहीको ज्ञानमात्र रूपसे अनुभव करते हुए एक रस होकर, विकल्प न करते हुए, उसका अनुभव करना चाहिये। इस ही मे वास्तविक कृतकृत्यता है। ऐसी अनन्तशक्त्यात्मक आत्माके वर्णनके प्रसगमे अब कर्तृत्वशक्ति

का वर्णन आ रहा है ।

कर्तृत्वशक्तिका प्रकाश—कर्तृत्वशक्तिका अर्थ है– सिद्धरूप भाव है अर्थात् कर्मशक्ति मे जिस प्राप्यप्राण भावको बताया गया था ऐसा वह प्राप्यमाण शुद्ध निष्पन्न भाव है उस भावको हुआने रूप जो शक्ति है उसे कर्तृत्वशक्ति कहते हैं । हुआना क्या ? जैसे भू धातु अकर्मक धातु है, उसका कर्म क्या ? और, उसका णिजन्त बनाकर कर्म किया जा रहा है लेकिन इस णिजन्तमे भी तो वह स्वयं ही हुआ, इस ही प्रकार जो भाव निष्पन्न हुआ वह ही तो हुआ । उस होनेका कर्म क्या और कर्ता क्या ? लेकिन जब होनेको कर्म स्थापित किया तब तो कर्ता बताया ही जायगा । कौन होगा कर्ता ? जो भावक हो सो कर्ता है । ऐसे होनेरूप सिद्ध निष्पन्न प्राप्यमाण भावको जो हुआवे, ऐसी जहाँ शक्ति हो उसको कर्तृशक्ति कहते है । यहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि आत्मा कर्ता हो सकता है तो केवल आत्मपरिणामका कर्ता हो सकता है, किसी परपदार्थका, परभावका यह आत्मा कर्ता नही हो सकता । चाहे कैसी ही स्थिति उपाधि अनुपाधि सद्भाव अभाव कैसा ही हो, पर बाहरकी स्थितियाँ हो, सर्व स्थितियोमे आत्मा अपने परिणामको ही करता है ।

जैसे बडा भारी समुद्र है, वह समुद्र किसका करने वाला है ? वह तो अपने आपका ही करने वाला है । कोई किनारे आदमी खडा हो और उसकी तरगमे चपेटमे वह आ जाय, बह जाय, तो लोग भले ही कहे कि देखो समुद्रने इस आदमीको बहा दिया किन्तु वहाँ समुद्रने तो अपनेमे अपना ही काम किया । अब उस समयमे यदि हवाका सचरण है, परउपाधिका सम्बध है तो उसमे लहर उठ गयी । लहर उठ जानेपर पर भी उस समुद्रने किया किसको ? अपने ही परिणामको, अपनी ही तरगमालाको । फिर भी समुद्रमे परउपाधि बिना स्वतन्त्रतया यह स्वभाव नही है कि तरग उठाये, वह तो परउपाधि के सम्बधसे यह बात वहाँ आयी । समुद्र अपनी ओरसे परनिरपेक्ष होकर वायुके संग बिना अपने आपमे बसे हुए जल रूपादिक गुणोके ही बलपर तरग उठा दे, ऐसा तो नही होता । इसी प्रकार आत्मामे जो भी परिणाम बनते है, यह आत्मा उनका कर्ता है लेकिन जब अनादि से अशुद्ध अवस्था है और पर-उपाधियाँ इसके साथ चली आ रही है ऐसी अशुद्धताकी स्थिति मे इस जीवमे विकारतरग भी आये, पर उन विकारतरगोके करनेका स्वभाव आत्माका नही है । इसे यो भी कह लीजिए कि परनिरपेक्ष होकर स्वतंत्रतया अपने आपके ही सर्वस्व द्वारा आत्मा विकार करे ऐसी शक्ति भी आत्मामे नही है । तो आत्मा फिर अपनी कर्तृत्व-शक्ति द्वारा किसे करेगा, इस बातपर ध्यान देना है । उत्तर यो कह लीजिए कि आत्मा ज्ञान-मय है तो वह ज्ञानपरिणामको करेगा, जाननपरिणमनको करेगा, अपनी शुद्ध पर्यायको करेगा ।

आत्मभावको स्वतन्त्रतया करनेकी शक्तिका उद्भावन--देखिये--आत्मामे जो निर्मल परिणमन होता है, आत्मामें जो स्वभाव विकास होता है उनमे कारण परपदार्थ न होगे, वह अनैमित्तिक परिणति है। उनमे शुरू-शुरूका जो निर्मल परिणाम है चूँकि उसमे पहिले समल परिणाम था और उसका कोई कारण था पर-उपाधि, वह उपाधि न रहे, समलता का विनाश हो तो वह पूर्ण निर्मलता प्रकट हो जायगी। उस निर्मलताका यो मूल कारण पर-उपाधिका अभाव है, ऐसा कह लो, लेकिन आगे जो निर्मल परिणामकी धारा बह रही है वहाँ बताओ क्या परनिमित्त बन रहा ? अथवा उस प्रारम्भिक समयकी निर्मल पर्यायमे भी सद्भावरूप परनिमित्त नही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र जो वास्तव मे निश्चयदृष्टिसे मेरा स्वरूप है उस स्वरूपकी बात देखिये—उसमे कौन पर-निमित्त है ? ऐसा जानकर शिक्षा हमे यह लेना है कि मेरा काम है, मेरा प्रयोजन है कि शाश्वत सहज शुद्ध आनन्द पाना। वह है हमारा निर्मल परिणाम। वैभाविक नही, औपाधिक नही, पराश्रित नही, ऐसे परिणामको पानेके लिए हमे बाहरमे किसी स्थानके खोजनेकी व्यग्रता क्यो करना है ? वह तो है हमारा सहज निर्मल परिणाम। उस ओर जब हम चलते हैं, उस ओर जब हम अपनी दृष्टि लगाते है तो वहाँ एक द्रव्यके आश्रयकी ओर कदम बढता है और वहाँ परउपाधि न रहनेसे होता क्या ? वे विभावभाव दूर हो जाते हैं और शुद्धता तो यहाँ ही स्वभावमे थी, वही रह गई, वही बन गई। जैसे कि दर्पणके सामने कोई वस्तु आ जाय और उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमे पड गया, दर्पण छायायुक्त बन गया तो अब उस दर्पणको निर्मल होनेके लिए किसी परउपाधिकी आवश्यकता है क्या ? वह तो अपने स्वरूपमे स्वच्छ निर्मल है ही। हाँ उपाधि हट जाय, तो उस उपाधिके हटते ही प्रतिबिम्ब स्वय ही मिट गया। बताइये—उस स्वच्छताके प्रकट होनेमे किसी परवस्तुके सन्निधानकी आवश्यकता हुई क्या ? नही हुई, लेकिन देखते तो है यहाँ। इतना तो निमित्त हुआ कि वे बाहरी वस्तु वहाँ से हट गए। बाहरी पदार्थके वियोगका निमित्त पाकर, बाहरी वस्तुके क्षयका निमित्त पाकर वह निर्मलता प्रकट हुई। इस बातको कहना ही है तो कह लो पहिले समयकी निर्मलताके लिए। अब दर्पण वहाँ रखा हुआ जो बहुत काल तक स्वच्छ ही रह रहा है तो बताओ उसकी स्वच्छताके लिए कौनसा बाहरी पदार्थ निमित्त हो रहा है ? और, तथ्य परखिये तो उस द्रव्य स्वच्छतामे भी कोई परउपाधिका आश्रय नही है। वहाँ तो खुदके ही निजी अगका आश्रय है परका आश्रय नही है वहाँ जिससे कि यह स्वच्छता व्यक्त हुई हो। हाँ परके आश्रयसे विभाव था, प्रतिबिम्ब था, न रहा, तो वह प्रतिबिम्ब चला गया, पर दर्पणमे जो स्वच्छता आयी वह तो स्वयभू है।

आत्माका अभिन्न कर्म कर्तृत्व—अब समझ लीजिए कि हम करने वाले किसके

है ? करने वालेका अर्थ है परिणमने वाला। किस रूप हम परिणमने वाले है ? जो परिणमता हो सो कर्ता है। परिणमनका नाम कर्म है। परिणाम रहा, होते हुए को हुआ रहा। अरे होते हुएको हुआना यह कोई अलग काम है क्या ? कोई अलग काम नही नजर आता, पर हो रहा है तो वह किसके आश्रयसे हो रहा ? इतना तो वहाँ समझा ही जा सकता है कि आत्मामे जो विशुद्ध परिणाम हो रहा है वह किसी के आश्रय ही तो हो रहा है, असत् तो नही है। वह जिसके आश्रय हो रहा है, उसे कहते है यह हुआने वाला है। आत्माका वह निर्मल परिणाम किसके आश्रय हो रहा है ? उस अखण्ड निर्विकल्प आत्मद्रव्यके आश्रय हो रहा है। बस वही हुआने वाला कहलाता है। तो होने वाले प्राप्य-प्राण सिद्ध भावके रूप हुआनेरूप जो शक्ति है उसका नाम है कर्तृशक्ति। तो यहाँ परखा होगा कि आत्मा इस कर्तृशक्तिके ही प्रतापसे अपने आपमे जो अनुरूप भाव प्राप्यमाण होता है उसका यह कर्ता है, न कि परपदार्थका।

यहाँ स्वभाव भक्तिमे स्वभावशक्तिका निरीक्षण तो करें, इसमे तो विकार भी करनेका स्वभाव नही है। इन शब्दोमे तो बहुतसे लोग कह देंगे कि आत्मामे विकार करने का स्वभाव नही है। और स्वभावका दूसरा नाम शक्ति है कि नही ? शक्ति, स्वभाव पर्यायवाची शब्द बताये गए हैं। तो जब हम इन शब्दोमे कह सकते है कि आत्मामे विकार करनेका स्वभाव नही है तो यो क्यो नही कह देते कि आत्मामे विकार करनेकी शक्ति नही है। वहा भी वही अर्थ है। यहाँ भी वही अर्थ है। आत्माका स्वभाव विकाररूप परिणमने का नही है। मगर परिणाम तो रहे है, कैसे परिणाम रहे है ? हा वह अशुद्धता है उस अशुद्ध पर्यायमे ऐसी ही योग्यता है कि पर-उपाधि सन्निधान पाकर ये विकार हो जाये। यही उत्तर शक्तिमे लगाओ। विकारकी शक्ति नही है आत्मामे और हो तो रहा है। हाँ हो रहा है। इस आत्मामे अशुद्धदशामे ऐसी ही योग्यता है कि पर-उपाधिका सन्निधान पाकर ये विकार परिणमन हुआ करे, मगर शक्ति नही है। इसका तथ्य भी समझ लीजिए कि आत्मा अपने आपकी ओरसे अपने ही सहज स्वरूपसे उस शक्तिसे विकारको नही करता। यदि यो करता होता विकार तो फिर ये विकार कभी भी हटाये न जा सकते थे।

आत्मामें परकर्तृत्वका अभाव— अब स्थूलदृष्टिसे बात परखिये—आत्मा परका कर्ता नही है। इस बातको कहनेके लिये पहिले अकर्तृत्वशक्ति आयी थी, उसमे भलीभाँति सिद्ध किया गया था, मगर प्रकरणवश थोडा यहाँ भी सुनो—आत्मा आत्मपरिणामका कर्ता है किसी परपदार्थकी पर्यायका, गुणका, प्रभावका करने वाला नही है। यदि आत्मा परभाव-का, परपर्यायका, परपदार्थका करने वाला मान लिया जाय तो क्या इस स्थितिमे यह न मानोगे कि आत्मा अपना कुछ नही करता। सिर्फ परका कर्ता है, यदि इस स्थितिमे मानोगे कि

आत्मा अपना कुछ नही करता, सिर्फ परपदार्थोके पर्याय, गुण, प्रभाव, परिणाम इनका कर्ता है तब आत्मा पर्यायशून्य स्वभावशून्य हो गया। अथवा इसने परको किया, परने आत्माको किया, किसीको करे, पर तो है अनन्त। उनमे यह प्रतिनियम तो नही बन सकता। यही पर हमने किया। किसीको कोई करे किसीको कोई, क्या विडम्बना होगी ? क्या व्यवस्था बनेगी ? सारा जगत शून्य हो जायगा। वस्तुका परिणाम नही सिद्ध होता। उत्पादव्यय कैसे होता, उसका निषेध नहीं किया जा सकता। अत यह तो निषिद्ध नही हो सकता कि आत्मा अपने परिणामको करता है। अब ले रहे है दूसरी बात कि आत्मा परद्रव्यको भी करता है, तो इसका अर्थ यह हो गया कि आत्माने दो क्रिया कर डाली, अपना काम भी कर डाला अपनेमे और परका काम भी कर डाला। अर्थात् जो यो निरखेगा कि पदार्थ दो क्रियाओको करता है वह उसका मिथ्या आशय है, वस्तुस्वरूपके विरुद्ध आशय है। त्रिकाल भी यह नही हो सकता कि पदार्थ किसी अन्यपदार्थके परिणमनको भी कर दे। तो परका तो कर्ता आत्मा होता नही, अपना ही कर्ता हुआ। अब शक्तिका निरीक्षण कीजिए। शक्तिका निरीक्षण स्वभावरूपमे हो सकेगा, स्वभाव, शक्ति इसकी बात देखिये---अरे उस ही अखण्ड स्वभावमे भेद करके ये अनेक स्वभाव बताये जा रहे हैं, कर्तृस्वभाव, कर्मस्वभाव। शक्ति शब्द न लगाये, हर एकके साथ स्वभाव लगायें तो भी यह बात बनती है कि उस अखण्ड स्वभावके समझानेके लिए भेद करके ये नाना स्वभाव समझाये जा रहे है। तो आत्मा परका कर्ता नही हैं व सहज शक्तिके ही सर्वस्व द्वारा विकारका भी करने वाला नही। यह तो अपने आपमे अपने ही विशुद्ध परिणामोका करने वाला होता और उस भावका हुआने वाला होता, ऐसी शक्ति इस आत्मामे है।

स्वभावनियन्त्रित न रहनेमें विडम्बना---कोई पुरुष अपनी शक्तिके खिलाफ किसी कामको कर बैठे यद्यपि वह भी इस शक्तिकी कोई मर्यादा है लेकिन जिस आशयमे कहा जा रहा उस आशयमे सुनो---कोई मनुष्य अगर शक्तिसे बाहर किसी कामको कर डालता है तो उसका तो हार्ट फेल हो सकता है, उसका विनाश भी हो सकता है, उसका फिर कोई रक्षक नही रह सकता। तो यहाँ मोही जन क्या कर रहे है ? आत्माकी शक्तिसे बाहरका काम कर रहे हैं। अब परखा ना, विकार तो शक्तिसे बाहरका काम है। यद्यपि वह भी एक शक्तिकी किसी मर्यादामे आयगा। अशुद्ध पर्यायमे ऐसी योग्यता रहती है, मूलमे उस प्रकारकी लगार न हो तो जीवमे ही राग क्यो हो ? अन्यमे क्यो न हो ? ये भी अनेक प्रश्न हो सकते है, पर जिस आशयको लेकर बात चल रही है उस आशयमे आकर सुनो। इस आत्माने अपनी शक्तिसे बाहर काम कर डाला। प्रभु तो अपनी शक्तिके अन्दर ही काम कर

रहे है इसलिए वे आनन्दमे है, वे निराकुल है, उनको कोई सकट नही है। लेकिन ये ससारी मोही जीव शक्तिसे बाहरके काम कर रहे और उनमे रुचि रख रहे तब तो उनकी विड्-रूपता, विडम्बना, बरबादी तो होगी ही। यह जो कीडा मकोडा, पशु, पक्षी, मनुष्य, तिर्यञ्च आदिककी योनियोमे जन्ममरणका चक्र लग रहा है, नाना प्रकारके विड्रूपोमें यह आत्मा फसा फंसा फिर रहा है, दु खका अनुभव कर रहा है, यह क्या इस आत्माके लिए कोई शोभा की बात है ? आप अपनी ही बात सोच लीजिए—यह मैं अनन्त शक्तिमान ज्ञानवान आत्मा जो आज इतनी प्रकारकी देहोमे फँसा हुआ हूं, भूख प्यास आदि नाना प्रकारकी वेदनाये सह रहा हू, यह क्या कोई आत्माके लिए भली बात है ? अरे यह तो इस आत्माकी बरबादी है, तुच्छता है। यह तो अकर्तव्य है जिसमे रुचि की जा रही है। तो शक्तिसे बाहर काम करनेका फल है विडम्बना होना, बरबादी होना। अपनी शक्तिको परखिये—शक्तिके शुद्ध स्वरूपको देखिये और उसके अन्दर ही नियंत्रित रहिये तो अपने आपके उस अखण्ड आत्म-द्रव्यका उस शुद्ध आत्मतत्त्वका आलम्बन बनेगा और फिर हम किसके कर्ता होगे ? उस ही विशुद्ध आत्मप्रभुताके।

किसी भी वस्तुका अन्य द्रव्यगुणमें संक्रान्त होनेकी अशक्यता—यह वस्तुका स्वभाव है। किसी भी पदार्थके द्वारा किसी भी परभावको किसी प्रकार किया ही नही जा सकता। चाहे चेतन पदार्थ हो अथवा अचेतन पदार्थ हो। उनमे अनादिसे ही स्वरसत यह सीमा पडी हुई है कि वह अपने आपके ही गुण पर्यायमे रहेगा। कोई पदार्थ किसी अन्य गुण पर्यायमे त्रिकाल रह ही नही सकता। वस्तुका यह स्वभाव ही नही है, वस्तु ही नही है ऐसा। फिर कोई किसीके गुण और पर्यायमे कैसे पहुच जायेगा ? और, अपने आपकी गुण पर्यायमे नियंत्रित रहना इस सीमाको कोई भेद कैसे सकेगा ? लोग कहते है कि अज्ञानी जीव परपदार्थका कर्ता हो रहा है, यह भी बात असत्य है। अज्ञानी भी परपदार्थका कर्ता हो ही नही सकता। वस्तुकी स्थिति सीमाको कौन भेद सकता है ? वह अनभिज्ञ जीव है, अपने आपके आत्मप्रदेशमे है, अपनी ही गुणपर्यायोमे बस रहा है, यही उसका स्वरूप है। वहाँ ही कुछ करले, विकल्प मचा ले, भ्रमरूप उपयोग बना ले, अपनेको अज्ञानमय बना ले, उपयोग भ्रान्त हो जाय, अपनी सुध भूल जाय, अपनेमे जो बने सो बन जाय, कर लेवे, उपाधि सन्निधानमे जितनी विडम्बना हो सकती है अधिकसे अधिक पूरी विडम्बना हो ले, तब भी यह जीव परका कर्ता नही है। किसी भी अणुका, किसी भी परपदार्थका कर्ता नही है, लेकिन इस ज्ञानीने अपने आशयमे सारे विश्वका जिस किसीका मनमाने जैसा चाहे अपने को कर्ता मान रखा है, तो यो आशयमे अपनेको कर्ता मान रखा है तो इसलिए इसे परका -कर्ता कह दीजिए पर वस्तुमे निरखिये तो वह अपने ही परिणामोका करने वाला है। किसी

भी परका करने वाला नही है। कहते है कि अज्ञानी अष्टकर्मोंका बन्ध कर डालता है, कितना ही तीव्र अज्ञानी बन गया हो, पर उसमे यह सामर्थ्य नही है कि ज्ञानावरण आदिक पौद्गलिक उन कार्माणवर्गणाओमे कर्मत्व परिणतिको ला देवे। निमित्तनैमित्तिक सम्बध है ऐसा कि आत्माका इस प्रकारका अज्ञान परिणाम हो तो उन कार्माणवर्गणाओमे ऐसी कर्मत्व परिणति हो ही जाती है। हो गया सब कुछ, बात निर्णयकी सब समझ लीजिये, लेकिन यह भी निरखिये कि अज्ञानी जीव अपने आपके प्रदेशमे रहता हुआ अपने ही विभावोका स्रष्टा बन रहा है, किन्तु कर्मका पौद्गलिक पदार्थोका स्रष्टा नही बन सकता। जहाँ इतनी विशुद्ध वस्तुस्थिति सीमा है और उसे न जानें और उस सीमाको भेद भेदकर बाहर जाया करें तो क्या हालत होगी ? जैसे सीप, कौडी आदिमे रहने वाला कीडा यदि अपनी स्थिति की सीमासे उठकर जोर लगाकर बाहर ही निकल पडे तो उसका क्या हाल होगा ? वह तो मर जायगा, घर छूट जायगा, ऐसे ही कोई भी पदार्थ अपने आपकी सीमामे जिस स्वभावको रख रहा है उस सीमाको छोड दे अर्थात् बह निजस्वरूपको छोडकर पररूप हो जाय तो क्या उसका सत्त्व कहा जा सकता है ? नही कहा जा सकता। अज्ञानी जीव भी यदि पुद्गल पदार्थका कर्ता बनता है तो उसका वह मिथ्या अभिमान है। प्रत्येक वस्तुका सब कुछ खुदका खुदमे ही होता है। उसकी सीमासे बाहर नही होता। ऐसी वस्तुस्थितिकी सीमा है, फिर वहाँ परके कर्तृत्वकी बात कैसे लादी जा सकती है ?

परनिरपेक्षतया सहज भावके कर्तृत्वकी शक्तिका उद्घाटन—कर्तृत्वशक्तिसे यह जाना गया है कि आत्मा अपनी शक्तिसे स्वभावसे चूकि उत्पादव्यय स्वभाव वाला है। अत शक्तियोके प्रतापसे इनमे शक्तियोके अनुरूप निर्मल पर्याय बने उसका यह कर्ता है, ऐसा करनेकी इस आत्मामे शक्ति है, यहाँ इस ओर दृष्टि नही देना है कि जीवमे रागादिक विकार हो रहे हैं तो उनके करनेकी भी शक्ति होगी। यद्यपि इस आत्मामे ही अशुद्ध पर्यायमे योग्यता है ऐसी कि उपाधिसन्निधान पाकर रागादिक परिणाम होते है, किन्तु परउपाधि न मिले फिर यह आत्मा जो करे, कार्य तो उसे कहेगे। जो परकी अपेक्षासे, परकी विवशतासे, परके आश्रयसे जो बात हुई है वह कार्य नही है। कार्य तो आत्माका वह है जिसमे वह स्वतन्त्रतया वर्ते, इसी कारण कहते है कि भवनरूपसे परिणत जो भाव है उस भावके हुआने रूप शक्तिको कर्तृशक्ति कहते है। इस शक्तिके शुद्ध स्वरूपका भान न होनेसे और "यह मैं आत्मा क्या करनेमे समर्थ हू" इसका परिज्ञान न होनेसे बाहरमे कर्तृत्वका आशय जीवो ने लगाया और वहाँ परपदार्थको आत्मा बना रहा, अपनेको पर बना रहा, कोई सुध नही है, ऐसी स्थितिमे यह जीव इन कर्मोका कर्ता बन रहा है। किन कर्मोका ? रागद्वेषमोहादिक भावोका। जब यह भेदज्ञान नही रहता मै हू शुद्ध चैतन्यस्वरूप और इस शुद्ध चैतन्य-

स्वरूपके स्वभावके नाते उसकी अनुभूति है, शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी अनुभूति। जब इसका परिचय नही होता है तब वह विकारमे स्व अनुभव करने लगता है। यह जीव स्वय पराश्रय बिना, उपाधि बिना अपने आप किस रूप वर्तता रहेगा, यह शिक्षा धर्मादिक द्रव्योसे मिल जायगी। और भी अनेक पदार्थ है, वे पदार्थ अपने आपमे किस रूप परिणमते रहते है ? अपने ही स्वभावके अनुरूप शुद्ध परिणतिसे। वही बात तो मुझमे है। मुझमे भी ऐसी शक्ति है। मैं हू तो कुछ और विकल्पमे, हो गया कुछ। अपनेको परपदार्थोरूप मान डाला। अरे इन समस्त परपदार्थोकी तो उपेक्षा करनी होगी, इनसे हटना होगा और हटना तब ही बनेगा जब कि यह श्रद्धा होगी कि ये मेरे स्वभाव नही है, इनके करनेका मेरा स्वभाव नही है।

भेदविज्ञानके अभावमें पराश्रितविडम्बनाक्लेश—देखो—जैसे कोई पुरुष किसी ठडी चीजका सेवन कर रहा है गर्मीके दिनोमे, तो ठंडी पर्याय तो उस पदार्थमे है लेकिन उस ठडी पर्यायका ज्ञान कर रहा है और ज्ञानके साथ अज्ञानवश रागद्वेषादिकके कारण उनरूप अपनेको मान रहा है। और इस तरह अनुभव कर लेता है कि मैं ठडा हो गया हू। बरफ हाथमे लाये या खाये तो वह यह अनुभव करता कि मै ठडा हो गया हू। तो कितनी बडी गल्ती है कि ठडा तो है वह बरफ, वह पुद्गल और आत्मा है स्पर्शसे शून्य, लेकिन उस ठडेमे राग होनेसे, उसकी ओर अभ्यास बनाये रहनेसे उसको अपनानेसे यह यहाँ तक भी सोच बैठा कि ओह ! मै ठडा हो गया हू। इसी तरह अज्ञानियोके आशय है। आत्माका कार्य तो जानन है और वह भी विशुद्ध जानन। शुद्ध आत्माकी अनुभूति और मूलमे उसी की यह प्रेरणा चलती है जो किसी भी रूपमे यह बाहरमे अनुभव कर लेता है। तो राग द्वेषादिक भाव और पुद्गलकर्मकी अवस्था अथवा उदयसे उत्पन्न हुए उन रागादिविकारोसे तो मेरे आत्माका स्वरूप भिन्न है। रागादिक विकार परिणमनोसे मेरे आत्माकी करतूत तो भिन्न है। मेरी करतूत है जानन। मेरेमे मेरी ओरसे परिणति आये वही तो मेरी करतूत होगी। तो मेरी करतूत है उस शुद्ध जीवत्वकी अनुभूति, लेकिन उसका परिचय नही है। और यहाँ राग द्वेष मोह इन भावोका परिचय है तो उसमे ऐसा तन्मय हो गया यह ज्ञान कि अब भेद नही कर पाता और उसके अभ्यासके कारण मैं ही तो राग करता हू, मै ही तो द्वेष करता हूँ, मैं ही तो ऐसा बोलता हूँ, और कर रहा है अहकार कि मै ही तो करता हूँ, मुझमे यह बुद्धिमानी है, ये सब अज्ञान अंधेरेके नृत्य चल रहे है। यो यह अज्ञानी जीव रागद्वेषमोहादिक कर्मोका कर्ता बन जाता है।

भेदविज्ञानके अभ्युदयमें संकटोंकी निवृत्ति—जिस पुरुषने यह भेदविज्ञान किया कि मेरी करतूत, मेरा कार्य तो जानन है, उसके स्वभावमे जो बात हुई वही तो मेरी करतूत है और ये रागद्वेषादिक विकारभाव ये पुद्गल कर्मके विपाकसे आये हुए है। ये आये है,

स्वभावमे नही उठे है। स्वभाव इनका नही है, किन्तु ये ऊपरसे आ गए है, विपरिणमन हो गये है, पराश्रयसे आ गए है। देखिये दृष्टिकी बडी महिमा होती है। यद्यपि वह परिणमन जीवका है तथापि उनके आनेको, प्रकट होनेकी पद्धतिको तो देखिये—जैसे दर्पणके सामने कोई उपाधि आयी हो, हाथ आया, हाथ हिलाया तो उस दर्पणमे उसका प्रतिविम्ब आ गया। वहाँ लगता तो है ऐसा कि यह प्रतिविम्ब, यह मलिनरूप दर्पण दर्पणकी स्वच्छताके कारण उसकी ही ओरसे नही उठा, हाथ आया तो छाया हुई, हाथ हटाया तो छाया हटी। तो लगता है कि यह छाया पराश्रयसे आयी। इस दर्पणकी भीतरी स्वच्छतामे इसका प्रवेश नही है अन्यथा छाया छाया ही बनी रहा करे। ऐसे ही ये रागादिक परिणाम होते हैं, पर ये रागादिक परिणाम छायारूप मालूम हो रहे है, इन्होने मेरे स्वभावमे कहाँ प्रवेश किया, यहाँ ये हुए है? इस ज्ञानी पुरुषको उस शुद्ध करतूतका ध्यान है। शुद्ध आत्मस्वरूप उसके अनुभवमे है, वह इन रागादिक विकारोको भिन्न मानता है। ऐसा मानने वाले ज्ञानी पुरुषका झुकाव अपने शुद्ध आत्माकी ओर रहता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष उन रागादिक का करने वाला नही कहलाता। वह उन कर्मोंका करने वाला नही है। उसकी दृष्टि तो शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर रहती है। तो किसको करनेकी मेरेमे शक्ति है यह बात देखिये—जो किन्ही दूसरे मित्रोको लगाकर कोई काम कर ले तो उसे यो ही कहते कि इसके करने की मेरेमे शक्ति न थी। वे तो दो चार मित्र जुड गए और यह काम बन गया। अरे यहाँ भी तो देखो जैसे वहा भी उस काममे शामिल तो रहे थे, हमारी शक्ति लग तो रही थी, परन्तु परउपाधि लिए बिना बात न बन सकी थी। वहा तो कह देते है कि इस कामको करनेकी मेरी शक्ति न थी, पर चार लोग मिल गए, काम हो गया। यो ही यहा तकें उस कर्तृत्वशक्तिकी, शुद्ध स्वरूपकी भक्तिमे आकर कि इन विकारोरूप करनेकी मेरी शक्ति न थी। मेरा तो मेरेमे एक ज्ञातादृष्टा रूप बने रहनेकी ताकत थी, उसीको ही मै कर पाता था, कर सकता था, लेकिन दो चार नही अनन्त कार्माण आ गए, अनादि परम्परासे चले हुए थे सो ये हम पर हावी हो गए है विकार, पर विकार करनेकी शक्ति मुझमे न थी, मुझ मे तो आनन्दमय रहने की शक्ति है, विकार हो गए, इस रूपसे, क्या इनको नही निरखा जा सकता है? ये सब बाते तब ही हृदयमे घर करेगी जब कि स्वभावमे भक्ति उमडी हो। आत्मामे विज्ञानधन चैतन्यस्वभावके प्रति जिसकी रुचि जगी है, जिसने उस स्वभावका स्वरूप जाना है उसके हृदयमे यह बात घर कर सकती है।

नयोंके मर्मज्ञानसे शुद्ध अन्तस्तत्त्वका दर्शन—नयोके विवरणमे यो बताया गया है कि अध्यात्म मर्मको जाननेके प्रसगमे नयोके चार विभाग होते हैं—१–परम शुद्ध निश्चयनय, २–शुद्ध निश्चयनय, ३–अशुद्ध निश्चयनय और ४–व्यवहारनय। इनमे व्यवहारनय तो

दो के सम्बधकी बात कहता है, दूसरेके सम्बन्धसे जो प्रभाव बने उसकी बात कहता है और अशुद्धनिश्चयनयमे देखा जाता है एक ही पदार्थ, किन्तु अशुद्ध पर्यायपरिणत देखा जाता है, और वहाँ षट्कारककी व्यवस्था उस ही एक द्रव्यमे चलती है।

अभेदषट्कारक पद्धतिसे अशुद्ध पर्यायकी बात निरखनेको अशुद्ध निश्चयनय कहते है और शुद्धनिश्चयनयमे एक द्रव्य निरखा जा रहा है, शुद्ध पर्यायको देखा जा रहा है। तो अभेदषट्कारक पद्धतिसे शुद्ध पर्यायमे रहते हुए द्रव्यको निरखनेकी पद्धति है शुद्ध निश्चय नय। और, परम शुद्ध निश्चयनय अनादि अनन्त अहेतुक अन्तस्तत्त्वको निरखता, परमपारिणामिक भावमय निरखता, यह परम शुद्ध निश्चयनयकी पद्धति है। तो यहाँ यह निरखिये कि इन सब नयोसे जानकर हमे करना क्या है ? करना है एक शुद्ध एकत्वका भान, जिस किसी भी प्रकार हो हमे तो उस शुद्ध जीवस्वरूप, चित्स्वरूप, चैतन्यस्वभाव शुद्ध जीवत्व, उसको दृष्टिमे लेना है। इसके लिए यह सब नयोका विस्तार है। तो किस नयसे किस ढंगसे शुद्ध जीवत्व दृष्टिमे आता है जरा पद्धतियोको तो देखिये—यही तो हमे करना है, और, इस ही के करनेका मेरेमे स्वभाव है, इस कारण इससे सम्बधित प्रसग है कि हम यह समझ जाये कि इन नयोके तरीकोसे हम ज्ञानमार्गमे बढकर किस तरह उस शुद्ध जीवत्वका भान कर लेते हैं। परम शुद्ध निश्चयनय तो साक्षात् पद्धति है। वहाँ कोई परम्पराकी बात नही है, कुछ मार्ग चलनेकी बात नही है। वह तो एक धाम है। उस स्थानपर पहुचनेके लिए उस शुद्ध जीवत्वको देखिये—वह तो है साक्षात् पद्धति। अब शुद्ध निश्चयनयमे देखिये यह कि जीवका यह शुद्ध परिणमन केवलज्ञान अनन्त आनन्द, यह अनन्त चतुष्टय, यह ज्ञातादृष्टा रहनेरूप परिणमन यह इस प्रभुमे, इस भगवान आत्मद्रव्यमे यहाँसे ही प्रकट हुआ है, इसका करना यही है, इसी आधारमे हुआ है, इसके लिए ही हुआ है, यो अभेदषट्कारकसे उन केवलज्ञानादिक स्वभावपरिणमनोको किसलिए निरखा जा रहा है कि स्वभाव विकासका स्वभावके साथ एकत्व बना हुआ है, वहाँ अनुरूपता है तो उस स्वभावविकासके दर्शनके मार्गसे हम उसके आधारभूत उस एकत्वपर दृष्टि सुगमतासे ला सकते है, इसके लिए शुद्ध निश्चयनयकी विधिका प्रयोग है। अशुद्धनिश्चयनयसे देखो कि यह जीव रागी द्वेषी हो रहा है, अपनेसे हो रहा है, अपनेको कर रहा है। इसमे यद्यपि थोडा विघ्न आया है। आत्माकी शुद्ध करतूतकी चिन्तनासे कुछ हटा हुआ है लेकिन घबडानेकी बात यहाँ यो नही है कि इतना नियत्रण है कि हम उस एक द्रव्यको देखे, दूसरेको न देखे तो ऐसा ही कोई नियंत्रित होकर उस एक जीव द्रव्यको देखे। तो उसने देखा पर्यायको, इससे जोड करके उस ही एक द्रव्यसे जोड करके, उस पर्यायको द्रव्यकी ओर जोड करके जहाँ उपयोगको उसके अभिमुख करके निरखा गया, वहाँ परपदार्थ उपयोगमे न होनेसे, निमित्त उपयोगमे न होनेसे ऐसी अवस्था बहुत जल्दी आ सकती है कि पर्यायकी दृष्टि छूट करके शुद्ध जीवत्वका भान

हो जाय। पद्धति एक है शुद्धनिश्चयनयमे और अशुद्ध निश्चयनयमे, पर शुद्ध निश्चयनयमे तो अपने लक्ष्यप्राप्तिकी सुगमता है और अशुद्ध निश्चयनयकी पद्धतिमे शुद्ध एकत्वकी प्राप्तिके लिये कुछ कठिनाई है, लेकिन अभ्यस्त पुरुषको कुछ कठिनाई नही होती।

शुद्ध जीवत्व स्वभावके निरीक्षणके प्रसङ्गमें व्यवहारनयकी उपयोगिता—अब देखिये—व्यवहारनयके विषयमे बात, व्यवहारनयके प्रयोग द्वारा हम उस शुद्ध जीवत्व तक किस तरह पहुचते है, लोग तो निमित्तनैमित्तिक भावका अनादर करके उसके परिज्ञानके लिए भी मना करते। क्या सोचना, क्या देखना, अशुद्ध अर्थ है, अभूत है, झूठ है, पर है ? क्या है ? क्या प्रयोजन है ? किन्तु नय जितने होते हैं वे सब रक्षक होते है। बरबादीका किसी का भी ध्येय नही है। हाँ कुनय हो तो उसकी बरबादीका ध्येय रहता है, पर नयोका ध्येय बरबादी करनेका नही रहता। व्यवहारनयने क्या समझाया ? देखो ये जो रागादिक परिणाम हुए हैं सो वे कर्म उपाधि सन्निधानके कारण हुए है। लो, इस व्यवहारनयने कितनी शुद्ध दृष्टि दिला दी। देख विकार तेरे जीवत्व स्वभावसे नही हुआ है। तू इन रागादिक पर कामोका कर्ता नही है। ये तेरी शक्तिसे नही उखडे हैं। मात्र तेरे स्वभावसे नही आये है, ये रागादिक भाव उपाधिका सन्निधान पाकर आये है, और, देखिये जैसे स्फटिक मणिपर जपापुष्प लगा दिया जाय तो उसमे लालिमा आ गई। जपापुष्प एक लालरगकी कोई चीज है, उसके लगा देने पर स्फटिक मणि लालरगकी हो जाती है। तो वह लालिमा उस स्फटिकमणिके भीतर केवल उसके कारणसे प्रकट नही हुई है, यह उपाधि सन्निधानमे आयी है तब यह प्रकट हुई है। तो इस लालिमाका सम्बन्ध तो उपाधिने जोडा। तू उस स्फटिकमणिके शुद्ध स्वरूपको निरख। इसी प्रकार कर्म उपाधिके सन्निधानसे उसका निमित्त पाकर जो रागादिक विकार हुए हैं, वे आत्माके उस ज्ञातृत्व ज्ञानस्वभाव, ज्ञायकस्वभावकी ओरसे ही उठकर नही आये है, इस प्रकारके कर्मोदयके निमित्तसे ये उत्पन्न हुए है। तू इन रागादिक विकारोको निमित्तके साथ जोड, ले अब इनका अधिकारी निमित्त बन गया। देखिये—जो दृष्टि है उस दृष्टिको निरखकर सुनिये—तो इस व्यवहारने इस शुद्ध जीवत्व की ऐसी सुरक्षा की कि इसपर आँच नही आने दी। लो निमित्त पाकर होते हैं, ये पौद्गलिक है और इस ही व्यवहारनयके विषयको कि विकार पौद्गलिक है, अध्यात्माचार्योंने तो शुद्ध उपादानकी दृष्टिसे निश्चयसे पौद्गलिक है यह भी कह दिया है। व्यवहारनयका विषय यह है कि रागादिक भाव पौद्गलिक है, पुद्गलके है, पुद्गलके निमित्तसे आये है, ठीक यही भाषा कि ये पौद्गलिक है। यहाँ विवक्षित शुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिमे भी यही भाषा रखी कि ये रागादिक पौद्गलिक है, मेरे नही है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, तब देखो इस व्यवहारने दुनियाके लोगोकी गाली सुनकर भी इस शुद्धचैतन्य स्वरूपकी सुरक्षा की।

कर्तृशक्तिके स्वभावके परिचयसे शिवमार्ग गमन--यह कर्तृत्वशक्ति इस ही तत्त्व को तो बताती है—मैं क्या कर सकता हू, मेरेमे क्या करनेकी शक्ति है। अरे दो चार मित्रोके सहयोग बिना जो कुछ कर सकते हो उस सामर्थ्यकी बात बताओ यहाँ और उसकी सामर्थ्यके अनुरूप चलो, जिससे कभी व्यग्रता न हो। इसी तरह इस कर्मउपाधिके आश्रय बिना, सन्निधान बिना, सम्बध बिना जो कुछ कर सकते हो जरा उस करनेका स्मरण करो और उस ही मे अपनी रुचि बनाओ तो व्यग्रता खतम हो जायगी। यो यह जीव शुद्ध स्वभावके कारण परिणमनस्वभावी तो है ही, इसको तो मना नही कर सकते, मगर स्वयंका स्वरूप किस तरह निमित है, स्वयंका स्वभाव किस प्रकार है उसके ही कारण यह रागादिक का निमित्त नही बनता। यह आत्मा क्या विकारोका निमित्त हो जाता है ? नही। यह तो अपनी शक्तिमे शुद्ध अविकारस्वभावरूप है, तब जब यह स्वय रागादिकका निमित्त नही बनता तो कहना चाहिए कि यह आत्मा रागादिक रूप नही परिणमता है, उस शुद्ध स्वभाव का सम्बध निगाहमे रखियेगा, किन्तु परद्रव्य कर्मउपाधि उनका सन्निधान होनेसे ये हुए तो उनके ही द्वारा चूंकि वे भी रागादिक भाव सहित है। जैसे जपापुष्प जब लाल है तो उसके सम्बधसे स्फटिकमे लालिमा आयी है, इसी प्रकार रागद्वेषादिक प्रक्रियामे उनमे यह बात पडी है। रागद्वेष क्रोध मान आदिक ये सब कर्मके नाम है, ऐसे उन रागादिक भावोको प्राप्त होनेसे रागके निमित्तभूत कर्मके द्वारा यह जीव स्वभावसे चूका कि रागादिक रूपसे परिणाम गया। इसका स्वय अपनी शक्तिकी ओरसे (पर उपाधि बिना) रागादिक रूप परिणमनेका स्वभाव नही है तब मैं रागादिकका कर्ता नही हू, हो गए, किसी विधिसे बन गए, पर आत्मा स्वय ज्ञायकस्वभावरूप उन विकारोके करनेकी अपने आपमे स्वतन्त्रतया शक्ति नही करता है। पात्रता है, अशुद्ध पर्यायमे योग्यता है, यही एक पदार्थ ऐसा है पुद्गलकी भाति कि उपाधिका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणम जाय, पर कब ? जब यह स्वय अशुद्ध अवस्थामे है, तब ही उपाधिका सम्बध है। इस तरह अपने आत्माकी उस शुद्ध करतूतको निरखकर निर्णय करे कि मेरेमे ऐसी कर्तृत्वशक्ति है।

कर्तृशक्तिके सुपरिचयसे व तदनुरूप भवनसे सकल संकट परिहार--कर्ताका अर्थ है जो परिणमे। परिणमनका अर्थ है जो उस भावरूप बने। भावरूप बननेका अर्थ है भाव होना और यह भावक बन गया। हुआ, क्या हुआ ? किसका हुआ और होनेमे स्वतंत्र कौन रहा ? द्रव्य क्या रहा ? स्वामी कौन रहा ? इन सब बातोके निरीक्षणसे यह विदित होगा कि ऐसे परिणामोका यह मैं कर्ता हू। यो यह जीव, 'यह आत्मा, यह चैतन्यस्वरूप परमात्मतत्त्व यह परका तो कर्ता ही क्या बने ? परका अकर्ता है और स्वयंका कर्ता है'। यह अनेकान्त विधि है। यह मै आत्मा परका अकर्ता और स्वका कर्ता हू और वह किस तरह

से । इसके लिए एक ऐसा दृष्टान्त लीजिए--रोज-रोज हम आँखोसे देख रहे है अनेक पदार्थ, पर इन आँखोने किसी पदार्थका कुछ किया है क्या ? आँखोने किसी पदार्थको भोगा है क्या ? आँख आँखकी जगह है, यही अपने स्वरूपको करता है, अपनेको अनुभवता है । इसी तरह इस ज्ञानको भी देखिये---यह ज्ञान क्षायिक ज्ञान शुद्ध ज्ञान ज्ञानमात्र जाननहार ज्ञान यह ज्ञान जान रहा है सारे विश्वको, अथवा पदार्थोंको किन्तु यह ज्ञान किसीका कुछ करता है अथवा भोगता है क्या ? यह तो अपना ही कर्ता है और अपने आपके ही परिणामोका भोक्ता है । तो यह मैं किसे कर सकता हूँ ? इस ज्ञानपरिणामको ही कर सकता हू ? ऐसी शक्ति जान करके हम पूरे बलपूर्वक इसी शक्तिके कार्यमे लगें और इसकी ओर ही उपयोग रखें यो हमारा आत्मा आनन्दमय होगा । हम वह मार्ग पायेगे कि निकट कालमे ही सर्वसकटोने छुटकारा प्राप्त हो जायगा ।

कर्तृत्वशक्तिके परिचयमें सहज आत्मभावके विकास सामर्थ्यका अभिज्ञान---आत्माकी कर्तृत्वशक्तिमे यह बताया जा रहा है कि आत्मामे करनेका सामर्थ्य है अर्थात् होते हुए भाव को हुआनेका सामर्थ्य है । यदि हुआनेकी सामर्थ्य न हो तो होता हुआ भाव हो कहाँसे ? तो कर्तृत्वशक्तिमे भी क्या काम हो सकता है, वैसे यह हुवाता है अर्थात् अपने आपके बलपर किस परिणामको यह हुवाया करता है, उसकी बात यहाँ चल रही है । आत्मामे स्वतन्त्रतया निरपेक्षरूपसे किसी परका सहयोग लिए बिना, किसी परके सन्निधानकी अपेक्षा लिए बिना अपने आप स्वयमे क्या होता है ? वह है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणाम । तो यो यह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका कर्ता है, ऐसी शक्ति इस आत्मामे स्वभावत पडी है । अब ज्ञानमात्रके रूपसे अभेदमे भेद दृष्टि करके यदि कर्तृत्वका भेद विवरण करते है तो कह लीजिए कि आत्मा जानता है, देखता है । आत्माका कार्य जानना देखना है, केवल जानना । इसमे श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनोकी बात समा जाती है । आत्मा जानता है, इसके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है कि जैसे ये आँखे बाहरी पदार्थोंको देखती भर है, परपदार्थोको न करती है, न भोगती है । यदि बाहरी पदार्थोंको आँखें करने भोगने लगें तो जिस कामको करना है-उसको आँखे ही कर देवे, ऐसा होता कहाँ है ? यदि चूल्हे की लकडी गीली है, उनमे आग सुलगाना है रोटियाँ पकानेके लिए, तो अलगसे आग लाकर जलानेकी क्या जरूरत ? आगकी ज्वाला निकालनेके लिये फूकनेकी क्या जरूरत ? यो ही आँखें खूब तेज फैला दो और आग लकडियोमे लग जाय, अथवा तेज जल जाय क्यो बेकार मे पखा झेलना आदिकके श्रम करते । पर ऐसा होता कहाँ है ? अरे आँखें केवल बाहरी पदार्थोको देखती हैं, वे किसी बाह्यपदार्थको करती नही हैं । इसी प्रकार आँखें भोगती भी नही है । यदि आँख परको भोगने लगे तो आगको देखने भोगनेसे आख ही भस्म हो जायेगी।

यो आखोने जब दूसरेको देखा तो उस दूसरे पदार्थका भोगना भी हो जायगा। तो जैसे यहां दृष्टि (आखें) परपदार्थको न करती है, न भोगती है, इसी प्रकार यह आत्मा परपदार्थको न करता है, न भोगता है, किन्तु दृष्टि जैसे अपने आपमे अपना कार्य करती है और अपने आपमे अपनेको भोगती है इसी प्रकार यह ज्ञान अपने आपमे जाननक्रिया करता है और उस ही जाननक्रियाको भोगता है। तब मुझमे ज्ञातादृष्टा रहनेकी शक्ति है। अपने आपके निर्मल पर्यायरूपसे परिणमनेकी शक्ति है। यह अपूर्व अवसर पाया है अनन्त शक्तिमान निज आत्मद्रव्यको भजो और सुखी होवो।

परोपेक्षा करके निज सहज परमात्मतत्त्वमें उपयुक्त होनेका उत्साहन—आत्मशान्तिके नाम पर बहुत-बहुत विकल्प कर डाले, वहाँ पर भी परका कुछ नही कर पाया था, किन्तु अपने आपमे ही विकल्प मचाकर अपने आपको व्यथित कर डाला था। अब करना तो होगा खुदका ही काम खुदको ही। यदि शान्ति चाहिए तो खुदके किएसे वह काम बनेगा, मुक्ति चाहिए तो खुदके उस प्रकारके परिणमनसे वह काम बनेगा। तो फिर जो उत्कृष्ट काम है उस कामके करनेमें विलम्ब क्यो किया जा रहा है ? ये बीचकी बाहरी बाते, ये बीचके नाना सयोग, बाहरी पदार्थोके परिणमन, अनेक प्रकारके व्यर्थके विकल्प, विकार, इनमे फसना कोई बुद्धिमानी नही है। इनसे कोई सार न निकला और न निकल सकेगा। तो कर्तव्य यह है कि ऐसा मनोवल बढाये, ऐसा ज्ञानबल बढाये कि जिसमे परके प्रति उपेक्षा का भाव बढता ही रहे और परमे लगनेका परिणाम न बने। अपनेको देखे, अपनेको सभाले, अपनेमे तृप्त रहे, अपने आपमे तो ऐसी अनन्त निधि है कि वह यहाँ ही है, कही जा नही सकती। ये समस्त बाहरी पदार्थ पर है, भिन्न है और ये सब जीव, ये सब भी पर है, भिन्न है और इनका परिचय हमे नही, हमारा परिचय इन्हे नही। अपने आपके विकल्पमे लगकर और विकल्पका आश्रय दूसरोको बना बनाकर व्यथित हो रहे है। सभी पदार्थ अपने मे अपना काम कर रहे है। कोई किसीका काम नही कर रहा, किन्तु सभी लोग अपने आपके विकल्पमे रगडे जाकर अपने आपको व्यथित किये जा रहे है। यह हो रहा है यहाँका रोजिगार। अब संभालना होगा अपने आपको कि मै क्या कर पाता हूँ, क्या करनेकी मुझमे शक्ति है। और, जिसको करनेकी मेरेमे स्वतंत्रतया शक्ति है, जिस निर्मल ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप परिणमनेके लिए मुझमे स्वतंत्रतया शक्ति है उसके लिए किसी दूसरेकी क्या अपेक्षा करना ? परपदार्थोकी उपेक्षा करके हम अपने आपमे अपने ही ज्ञानभावका काम करते चले जाये, इस ही मे हमारा कल्याण है।

मोहके नष्ट होते ही अनन्तसंसार बन्धनका प्रलय—जीवोको सबसे बडा भारी

बरबाद करने वाला विकार है मोह मिथ्यात्व । यहाँ मिथ्यात्वका इतना बडा प्रभाव है
मिथ्यात्वके कारण इतना विकट बन्धन है कि मिथ्यात्व यदि दूर हो गया तो समझ लीजि
कि हमारे सकट बहुत दूर हो गए । जैसे किसीके ऊपर एक लाख रुपयेका कर्जा था । उस
९९,९,९९) चुका दिए, सिर्फ १) कर्ज देना शेष रहा । तो जितना हीन बोझ अभी उ
व्यक्तिपर है उससे थोडा बोझ यहा सम्यग्दृष्टि पुरुष पर समझिये । यो समझिये कि अनन्त
काल तक परिभ्रमण करने का मूल बना था मिथ्यात्व और अब मिथ्यात्वके नष्ट होने प
तो यह समझिये कि सम्यक्त्व रहे जाने पर साधिका ६६ सागर तक या सम्यक्त्व छूट भ
जाय तो भी कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल तक चलेगा ससार । इससे पहिले ही
सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र होकर मोक्ष हो जावेगा । अब यह सोचो कि उस अनन्त ससारके आगे
यह काल कितना है ? यह तो एक उत्कृष्ट कालकी वात कही जा रही है । तो इतनी
परम्पराका सदाके लिए जो बन्धन चल सकता था उसे तोड दिया तो अब क्या बन्धन
रहा ? यह तो बाहरी बन्धन और अबन्धनकी तरतमताकी बात कही, अब भीतरी भावके
बन्धन अबन्धन की वात देख लीजिये । यह जीव मिथ्यात्वके वश होकर अपने आपकी सुध
भूलकर इन समस्त परपदार्थोको सर्वस्व मानकर अपना जीवन दु खमय बिता रहा था,
यह कितना घोर अधेरा था । और, अब समझिये कि वह मिथ्यात्वभाव दूर हुआ, अपने
आपके स्वभावकी परख हुई, धुन भी हो गई । अपनेसे प्रयोजन है अपना, अपनेसे काम है
अपना । अपनेमे ही अपने सर्व स्वका बोध हो गया, शान्तिका मूल आधार यह मैं स्वय हूँ,
ऐसा परिचय हो गया । इस परिचय और अनुभवके बाद अब किसी प्रकार घरमे भी रहना
पड रहा हो, कर्मविपाक भी इस प्रकारके चल रहे हो तो अब इस उजेलेमे रहकर जो कुछ
भी और भोगना पड रहा है तो उस भावमे और मिथ्यात्वके भावके भोगनेमे अन्तर भी
समझ लीजिए । मिथ्यात्व तो घोर अन्धकार है व यह प्रबोध सुबह समयका उजेला है ।
देखता है सव कुछ । तो इस तरह अपने आपमे अपने स्वभावके निरख लेने पर समझिये
कि यह जीव अब कृतकृत्य हो गया और कितना कृतकृत्य बन गया ? श्रद्धामे तो यह पूरा
कृतकृत्य बन ही गया है । मेरे करनेका वाह्यपदार्थमे कुछ भी काम नही है । बस काम यही
पडा है, यही करने जा रहा था, अब उसकी मोड बदल गयी है । अब अपने आपके स्वभाव
मे रमनेका, उसकी विधि बनाये रहनेका बस यह एक काम पडा हुआ है ।

परको व विकारको करनेका अस्वभाव परिचित होनेपर शुद्धद्रव्यकी अभिमुखताकी सुगमता--आत्मा किसी भी परपदार्थका कर्ता नही है, इतना तो निर्णय सर्वप्रथम करना
ही पडेगा सबको । जो सत्य बात है उस सत्य बातसे उस मार्गमे चलने वालेको सवसे पहिले
सच्चाईकी भूमिका यह है कि वह निजको निज परको पर जाने, इतना तो बोध करलें कि

यह मैं अपने प्रदेशोमे सर्वस्वरूप रहने वाला यह मैं हूँ और मेरे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे पृथक् ये पर पर ही है, इनसे बाहर मेरेमे कोई परिणति नही आती, मैं इन परपदार्थोमे किसी भी परिणतिको नही करता। ऐसी स्पष्ट विवक्तताका बोध होना प्राथमिक कर्तव्य है। यह तो बात एक स्थूल है, इसके समझनेमे क्या कठिनाई है ? बाहर देखते ही हैं कि अनेक घटनाये गुजरती है लेकिन कोई किसीका कुछ बनता नही है। इस समय देखो वृक्ष की छाया, किवाड तथा जंगलेकी छाया यहा होलके अन्दर फर्सपर पड रही है। तो आप यहा यह बतलाओ कि वह छाया उन जगला आदिकमे पड रही है या जमीनमे ? यह तो सभी लोग जान रहे है कि इस जमीनपर इनकी छाया पड रही है। तब यह छाया परिणमन किसका हो रहा है ? उन जगला आदिकका या जमीनका ? परिणमन तो जमीनका हो रहा लेकिन वे जगला आदिक निमित्त है, उनका सन्निधान पाकर इस स्थितिमे यह सब छाया चल रही है। तब देखो ना कि परिणमन पृथ्वीका होकर भी कैसा ऊपरी-ऊपरी सा परिणमन है यह बात खूब समझमे आ रही है, यो ही समझिये कि कर्म उपाधिका सन्निधान पाकर जो रागद्वेष विकार परिणमन हो रहा है तो वह रागद्वेष विकार परिणमन क्या कर्ममे हो रहा है ? नही। जीवमे हो रहा है, लेकिन इन विकारोका वह उपाधि ऐसा निमित्त है कि जिससे यह विदित हो रहा कि इस कर्मोदयके होने पर ही ये विकार हुए लेकिन यह ऊपरी-ऊपरी सा परिणमन है। देखो—उसके साथ इसका अन्वयव्यतिरेक है, हो रहा है परिणमन इस प्रकार पर यह सब ऊपरी बन रहा है। मै तो अपने भीतर अपनेमें अनादि अनन्त ज्ञानस्वभावको लिए हुए हू। वह सब विकृत बन गया है, लेकिन ये सब नैमित्तिक भाव है। तब जैसे जगलाने (छडोने) जमीनकी छायाका परिणमन नही किया, निमित्त रहा, इसी तरह जीवके रागादिक विकारोका परिणमन कर्म उपाधिने नही किया लेकिन निमित्त रहे, पर वह निमित्त ऐसा निमित्त है और आत्माका स्वभाव ऐसा अहेतुक स्वभाव है कि दोनो पर जब विचार करते है तो यो लगता कि इन विकारोका स्वामित्व कर्मके साथ है इस प्रकारके परिचयमे जीवत्वकी शुद्धता नजर आ जाती है।

भूतार्थपद्धतिसे ज्ञानदिशा बनानेकी आवश्यकता—यहा यह बात निरखना है कि एक दूसरेका परिणमन नही कर पाता, इतना निरखने पर भी अभीष्ट न मिलेगा। यो तो अशुद्ध निश्चयनयकी कुछ पद्धति बिगाड दी गई समझें, पद्धति तो यह थी कि एक द्रव्यकी अभिमुखता आये, लेकिन पद्धति यदि यह बना ली जाय कि कर्मने तो नही किया कुछ, यह तो जीवने राग किया है, जीवका राग है, जीवका परिणाम है, बस यो ही निरखते जावो-- ऐसी पद्धतिसे अशुद्ध निश्चयनय भी गर्तमे ढकेल देगा। जिनकी पद्धति भूतार्थ पद्धतिकी ओर देखनेकी नही है उनके लिए यह व्यवहार और यह भेदनिश्चयनय कोई उपकारी नही हो

सकते । और, जिनकी पद्धति भूतार्थनयको अपनानेकी, उसके आश्रयकी बनी है, उसके लिए यह व्यवहार भी बडा सहयोग दे रहा है, समझा रहा है—अरे ये कर्मके विकार है, ये रागद्वेषादिक पौद्गलिक है, जिनका मुझमे स्वभाव नही है । तो सम्हलकर चलनेकी बात है । एक पदार्थ दूसरेका कर्ता नही है । यह भी समझना आवश्यक है और साथ ही विकार परिणाम उस ही पदार्थमे हुए, उस ही का सर्वस्व हे, इस प्रकारके अज्ञानसे हटकर उस विकार और स्वभानमे भी भेद समझनेकी आवश्यकता है ।

किसीके द्वारा परकी अक्रियमाणतामें एक आसन्नगत दृष्टान्त—अभी यहा स्थूल बात पद्धतिमे कही जा रही है कि देखो कितनी ही जगह लग रहा है ऐसा कि यह तो इस दूसरे ने ही किया, लेकिन सूक्ष्मता देखो तो किसीका परिणमन किसी दूसरेके द्वारा नही किया गया । इससे बढकर और क्या उदाहरण दोगे ? देख रहे है आप कि यह प्रकाश फैला है, इस होलमे इतना प्रकाश है, लोग यही तो कहेगे कि यह सारा सूरजका प्रकाश है, और, किसीको समझाने लगे कि यह प्रकाश सूरजका नही है, किन्तु जो वस्तुत्रे प्रकाशरूपमे आयी हुई है वह प्रकाश उन वस्तुओका है, सहसा कोई माननेको तैयार न होगा, लेकिन जरा स्वरूपके ढगसे विचार करो—बतलाओ सूरज कितना बडा है ? कोई कितना ही बतायेगा । आगममें बताया है कि करीब कुछ कम दो हजार कोशका है, तो सूरज जो कुछ है, सूरजका रूप, रस, गध, स्पर्श, प्रभाव सब कुछ सूरजमे रहेगा या सूरजका कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वहासे हटकर यहा आयगा ? उसका चतुष्टय उसीमे रहेगा, सूरजसे निकलकर यहा कुछ भी नही आता, लेकिन सूरजमे जो प्रकाशस्वभाव है वह बडे प्रभाव वाला है, स्वय है । स्वयं ही वह अपने आप ही स्वय ही बन रहा है प्रकाशस्वभावी । सूर्य तो पुद्गल है । उसमे इतने वेगपूर्वक प्रकाश स्वभावता बनी है तो पुद्गल ही तो है । ये भी पुद्गल ही है । यहाके फर्स भीत वगैरह पुद्गल ही तो है । इनमे इतनी भी प्रकाशस्वभावता मान लेवें कि यदि प्रकाश-स्वभावी कोई पदार्थ सामने सन्निधानमे आये तो यह भी अपनी अधकार अवस्थाको तजकर प्रकाशरूपमे आ जायगा । विशिष्ट निमित्त होनेके कारण यह कहा जाता है कि यह प्रकाश सूर्यसे निकलकर यहा आया है । अरे उस घामको सूर्यप्रकाश कहना तो दूर रहो, इस होल के भीतर सूर्यकी किरणे नही विदित हो रही है, फिर भी प्रकाश है तो यह प्रकाश किसका है ? जहा सूर्यकी किरणोका ठीक सामना पड रहा है ये चमकने वाले वार्निस लगे जगले, उस प्रकाशके कारण चमक उठे है । उन जगला, भीत आदिकका सन्निधान पाकर इस कमरेके भीतरकी जमीन प्रकाशित हुई है । इसके लिए सूर्य भी निमित्त नही है । ये चमके हुए भीत किवाड आदि निमित्त हैं । तो जब वस्तुके स्वरूपकी दृष्टि की जाती है तो विदित होता है कि कोई किसीका करने वाला नही है ।

सुबोधकी संभाल—उक्त पद्धतिसे यह भी जान लीजिए कि आत्माका मोहभाव होना उसकाभी कर्ता कर्म नही है। रागद्वेष हुए तो उनका भी कर्ता कर्म नही है। वह निमित्त है, उस उपाधिका सन्निधान पाकर आत्मा रागादिकरूप परिणमा है। इतना जानना पहिली वात है, फिर दूसरी संभाल भी देखिये ये विकार हुए है यही मैं सर्वस्व हू ऐसी बुद्धि अगर हो रही है तो उसमे कुछ नही आया। यहाँ भी भेद डालना होगा। ये विकार मेरे स्वरूप नही है, स्वभाव नही है और इस भेदमें सहयोग दे रहा है यह व्यवहारनय। जो निमित्तनैमित्तिक भावकी वात कह रहा है। तो यो स्वभाव और विकार इनमे भेद समझकर स्वभावका ग्रहण करना, विकार और परपदार्थोंकी उपेक्षा करना यह हमारा कर्तव्य हो जाता है। इतनी सव वाते समझनेके बाद समझे कि मेरेमे कर्तृशक्ति है और अपने सम्यक्त्व चारित्ररूप भावके लिए वह पूरी क्षमता रखता है। यह सव समझनेके वाद व्यवहारमे हम इसे जीवनमे कुछ तो उतारे। परसे मेरा कुछ सम्वन्ध नही, यह बात यदि कहने तक ही है और भीतरमे प्रतीतिमे नही है तो इसमे वह स्वाद तो न आयेगा जो एक परसे अलग करनेका और अपने आपको सर्वसे विविक्त निरखकर अपनेमे अपनेको निहारनेका स्वाद आता है।

अपना परीक्षण और उद्यमन—इस परीक्षणको अपने व्यवहारप्रयोगमे घटित करना है। पहिला सग्राम तो हमारा एक वचनालापकी घटनाका है। लोग बोलते है—कोई निन्दा की वात करते है, कोई स्तुतिकी, कोई कषायके आवेशमे कुछ भी वक देते है, यो वाहरमे लोग अपनी-अपनी कषायके अनुकूल अपना वच व्यवहार करते है, पर उन्हे जाने कि वे परद्रव्य है। उनको सुनकर हममे रागद्वेषके परिणाम न जगे। उनसे उपेक्षा हो जाना चाहिए। उन्हे हँसकर हमे टाल देना चाहिए। क्या हो रहा ? वेचारे अज्ञानी जीव हैं, उनका कैसा ही परिणमन है। व्यवहार करते हैं, इस तरह किसी भी प्रकार एक भेदविज्ञान को दृढ रखते हुए अपने आपके ऊपर विकारोका प्रभाव न आने देना यह है पौरुष। तो इसी प्रकार वचनोकी ही वात क्या ? देखनेमे रूप आता है मगर ये सव कुछ भी देख करके तुष्ट और रुष्ट न होना चाहिए। देखिये—एक आधार है रागका रुष्ट और तुष्ट होनेके लिए। यदि चित्तमे रागविकार है—जैसे मानो कामी पुरुषोके कामभाव हे तो उन्हे वाहरमे ये खून, चमड़ी, हड्डी, पीप आदिकसे भरी हुई यह पुतली वडी सुन्दर प्रतीत होती है। और, कामभाव चित्तसे निकल जाय, वैराग्यभाव जग जाय तो इस तरहकी घृणित प्रतीति होती है कि उसको स्पर्श करनेका भी भाव नही हो सकता। तो यह सव वात कहाँसे प्रेरित होकर चली ? यहीसे। तभी तो इस कामविकारका नाम मनोज रखा गया है। यह क्या है ? कोई भूख प्यास जैसी वेदना हे क्या ? अरे यह तो एक व्यर्थका ऊधम है, मनकी कल्पना है, और तभी यह दुःखी होता है। ऐसी ही वात क्रोध, मान, माया, लोभ आदिककी है।

वाह्यके प्रति क्रोध जगता है। तो यहा ही कोई अयोग्यता है, अपात्रता है जिससे क्रोध जगता है, अन्यथा क्रोधकी घटनाका प्रसग बना देने वाला वह व्यक्ति तो बडा उपकारी है। ऐसा उपकारी व्यक्ति तो सैकडो रुपया खर्च करके भी न मिलेगा। कोई किसीसे कहे कि भैया तुम कोई ऐसी चेष्टा करो, प्रवृत्तियाँ करो जिससे हम अपनी परीक्षा करे कि हममे क्रोध जगता है या नही। तो भला बतलाओ ऐसा जान बूझकर कोई क्रोधकी परीक्षा करना चाहे तो कहासे क्रोध जग सकेगा? और स्वपरीक्षण हो सकेगा तो क्रोध करने वाला व्यक्ति तो विना पैसोका इतना ऊँचा नौकर है कि हम आपको ठीक उन्नतिके पथमे ले जानेके लिए मददगारसा वन रहा है। कुछ भी विचार लो, पर प्रसग आने पर न आयें ये क्रोध, मान, माया, लोभादिक, इन कषायोसे पृथक् अपने आपको बना लिया जाय तब तो अपनी रक्षा है अन्यथा अपनी आत्माकी बरबादी है। तो रूप है, रस है, गध है, स्पर्श है और जाने दीजिए, तत्त्वचर्चा यह भी उन रूप, रस, गधादिक की तरह एक विषय वन गया है। चर्चा कर रहे हैं, मैं समझा रहा हूँ आप उसे नही मानते, गुस्सा आ रहा है, और आ भी जाती है गुस्सा तो यह क्या चर्चा है? यह चर्चा, यह परिचय, यह ज्ञान, वह समझ, यह गुण, द्रव्य, पर्यायका ज्ञान यह विषय बन गया है कषाय वढानेके लिए। तो यहा भीतरकी सभाल करना है कि मेरा भी यह विकास, यह ज्ञान, यह परिचय मेरे ज्ञान का उद्भावक न बन सका। हमे अपने आपकी सभाल करने की जरूरत है। यह सब सभाल एक की सभालमे बन जाती है और एक है शुद्धज्ञानमात्र अपने अन्तस्तत्वकी सभाल, उसकी सभालसे ये सब सभाल बन जाती हैं, और एक ही सभाल न हो तो ये कोई सभाल नही बन सकती।

सहज आत्मभावमें वर्तनेका कर्तव्य—आत्माके कर्तृत्वके सम्बधमे बहुत विवेचन होनेके पश्चात् अब यह निरखना है कि हमारा कर्तव्य क्या है? अपनेको वह काम करना चाहिये जो सदाके लिए सकटोसे छुटकारा कराये और अपनी आनन्दमय स्थिति बनाये। यही जीवनमे एक अपना प्रोगाम होना चाहिए। आध्यात्मिक महर्षियोने बताया है कि जब तेरा स्वतत्रतया हो सकनेका काम सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही है तब इसी मार्गमे रहो। जो बात तुम स्वतत्रतया कर सकते हो, परके आश्रय बिना, परसे निरपेक्ष होकर जो कार्य कर सकते हो उसमे लगो। पराधीन काममे मत लगो। पराधीन काममे लगने वालेको इस लोकव्यवहारमें भी अडचनें होती हैं। तब जो पराधीन काम है, पराश्रित भाव है उसमें कोई लगो तो वहाँ आकुलता होना, जन्ममरण होना ये सब सकट प्राकृतिक ही हैं। तुम उस कार्यमे लगो जिस कार्यको स्वतत्रतया करनेकी शक्ति है। वह है सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यकचारित्र। सो यद्यपि आजकी स्थिति ऐसी है कि रागद्वेष विकार चल रहे हैं और

इसके कारण अनादि संस्कार मोहके नष्ट हो जानेपर मोहके बलपर चलने वाले रागद्वेष तुरन्त मिट जाने चाहियें, लेकिन नही मिटते, उसका कारण है कि जो वह संस्कार बनाया गया था उस सस्कारकी गंध चल रही है, मोह जरा भी नही है, किन्तु अभी यह गध ही पूर्व मोहकी चल रही है। रागद्वेष होते है और रागद्वेष परिणमनमे चल रहा है यह, लेकिन भेदविज्ञानकी अपूर्व कला है कि राग रहते हुए भी रागका उल्लंघन करके यह अपने विशुद्ध स्वभावमे पहुंच जाता है। हो रहे है राग, है कर्मविपाक, किन्तु इसका स्वभावमे प्रवेश नही है, मैं तो ज्ञानस्वभावमात्र हू, यह राग मैं नही हू। इस प्रकारकी जो भीतरमे बुद्धि चलती है इसके बलपर यह जीव रागको भी लाँघकर रागसे भी अटक न रखकर एक निज शुद्ध स्वभावमे पहुँच जाता है।

अपने ही प्रज्ञागुणसे अपने ही सहज गुणोंमें अपनेको अवस्थित करनेका कर्तव्य—तब करें क्या और कैसे? अपने ही उस प्रज्ञागुणके द्वारा, इस ही शुद्ध ज्ञानके द्वारा अब रागद्वेषसे बिल्कुल हटकर दर्शन ज्ञान चारित्रमे ही अपनेको अवस्थित करे। देखो बडी शान्ति से अपने आपपर दया करके अपने आपके हितकी बात सुनी जाती है। समताका आदर करो, कषायोको हटाओ, रागद्वेषसे हटकर उस समताका आनन्द लो। अनादि कालसे अब तक रागद्वेष विषय कषायोमे ही यह जीव पडा तो आया है। उसमे कोई लाभ उठा पाया क्या अब तक? छोटी-छोटीसी बाधाये भी बडी महसूस होती है—लोग मुझे हल्का जान लेगे तो फिर मेरा क्या जीवन रहा, ये भी बातें सब कषायोकी है। अरे भगवान देखेगे तो क्या होगा? हम जो कषायरूप परिणाम रहे है और इसी तरह भगवान देख रहे है उसका तो डर नही मानते और यहाँके ये मायावी पुरुष जो कर्मप्रेरित है, खुद संकटोमे पडे है, अपने आत्माका बोध नही रखते है, ऐसे इन पुरुषोका डर लगा है। ये जान रहे है कि अमुकने मुझे गाली दी। तो यह समझ गए हैं कि इसमे कुछ दम नही है, इसका तो भय मान रखा है और अनन्त केवली भगवान जान रहे है कि यह ऐसा कषायपरिणत हो रहा है, इतने अशुद्ध विभावोमे जब अपने आपकी सुध ही नही रहती है तब यह जीव करेगा क्या? वहाँ विकार होते हैं तो उनमे ही यह अटक जाता है, लेकिन विकारोमे अटक जानेकी बात भली नही है। देखिये—प्रकृति है सभीकी महान बननेकी। हर एक कोई चाहता है कि मैं महान बनूं, पर महान बनना इन समागमोकी पद्धतिपर नही है, किन्तु स्वयसे उस स्वभावमे अवस्थित रहनेपर निर्भर है। यही काम करो, स्वाधीन काम है, कर्तृत्वशक्ति जिसका गवाह दे रही है, यही हो सकता है, यह अबाधित परिणमन है, सो दर्शन ज्ञान चारित्रमे अपने आपको लगाओ और यहाँ ही अपनेको निश्चित करो। देखिये यदि पूर्ण निर्णयके साथ यह प्रोग्राम चित्तमे आ गया है तो समझिये कि नियमसे कभी निर्वाण प्राप्त होगा, कोई बाधा

न आयगी । जहाँ यह सहजस्वरूप दृष्टिमे आ गया वह तो आ गया, अब उसमे कोई ट
न देगा । बाधा होगी तो हमारी शिथिलता या अज्ञानभावसे होगी, पर मेरे धर्म कार्यमे
बाधा डालने वाला नही हो सकता । धर्म क्या है ? रागद्वेष ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप स्थि
ऐसा कोई करे तो उसमे कोई बाधा दे सकता है क्या ? यह स्वय ही बाधक बनता है अ
से । तो इस अज्ञानसे हटकर अपने आपकी उस स्वरूप निधिका दर्शन करके वहाँ ही ३
उपयोगको निश्चल करें और तृप्त रहे, । ये सारे विकल्प टलें, विकल्पोका निरोध करें,
भक्ति इसीमे है । जो परपदार्थमे विकल्प मच रहे थे उनपर खेद हो, उनसे हटे रहे
भगवानसे गद्‌गद् भाषामे प्रार्थना हो, यह है प्रभुकी भक्ति । तब बाह्यपदार्थोके स
विकल्पोको चित्तसे हटा दीजिए । भीतरका बल बढाइये । मुझे ये कुछ न चाहिए । मुझे
बाहरी पदार्थोंका कोई उपकार न चाहिये । मैं तो स्वय अपने आपके विशुद्ध अमूर्त निरा
निजाश्रय, पराश्रय रहित सहज अविकार स्वभावमे मग्न रहू, बस यही मात्र हमारी
है, अन्य कोई हमारी चाह नही है । ऐसा भीतरमे दृढ निर्णय हो और ऐसा होनेके ।
उमग उठ रही है तो समझिये कि वह स्थिति अपनी रक्षा की है ।

बाह्यपदार्थोंमें लगनेकी निन्द्यता व प्रतिषेध्यता—बाह्यपदार्थोमे लगनेकी स्थिति ३
नही है । जैसे कोई वृद्ध पुरुष व्यापारादिकके कार्योमे अपने लडकोको सलाह देनेकी ८
करता है, उसमे बीचमे कुछ काम करता है, पर वे लडके स्वय ही इतना समझदार
इतनी बुद्धि वाले है कि स्वय ही अपना काम अच्छी तरह चला रहे है, और फिर समय
परिवर्तन भी है, उस स्थितिमे क्या हालत होती है कि उस बूढे व्यक्तिको उन लडकोके ब
लगनेमे न उन लडकोका ही भला हो पाता है, न खुदका ही भला हो पाता है । और, अ
रहनेसे उन लडकोकी भक्ति आदिक भी उमडती है, अनुराग भी जगता है । तो वह
रुष भी प्रसन्न है और वे लडके भी प्रसन्न है । ऐसे ही समझिये कि इन बाहरी प्रसंग
लगनेसे न तो इन बाहरी पदार्थोमे कोई काम बनता है, जैसा चाहू वैसा बाहरमे बन ज
सो तो नही होता, और न इसका ही कुछ काम बनता है, बल्कि उन परपदार्थोमे लग
तो इसका ही काम बिगड जाता है । कर्मबन्ध हो, व्याकुलता हो, क्षोभ हो, ये सारी बरब
हो जाती है, तो इन समस्त परके उपयोगजालोसे इन विकल्पोसे अपनेको हटा करके ध्य
करे तो दर्शन, ज्ञान, चारित्रका ही ध्यान करे । जिस तरह अपनी पूर्ण जिन्दगीकी घटना
का स्मरण करके सोच रहे होगे कि ओह ! बचपनमें कैसा माता पितामे लीन थे । कुछ
हुए तो अन्य बातोमे लीन रहे, और बडे हुए तो स्त्री आदिकमे लीन हुए, किस तरह .लं
रहे ? यह जान रहे थे कि ये ही मेरे सर्वस्व हैं, इनसे ही मेरा महत्त्व है, इनसे ही सुख
और उनके बीच रह करके अपने आपमे बडप्पन जैसा अहंकार भी बसाया था । वह

बिल्कुल सारहीन था।

निज सहज अन्तस्तत्त्वमें लगनेका प्रताप—अब मोड दूसरा बना लीजिए दर्शन ज्ञान, चारित्र ये निर्मल परिणमन, यह शुद्ध जीवत्वकी दृष्टि, इस शुद्ध आत्मद्रव्यका आलम्बन यही मेरे ध्यानमे रहा करे। सोते हुएमे भी ध्यान चले तो इस पर ही चले। जगतेमे भी पद पद पर इसमे ही मन चले। तब फिर यहाँका प्रताप देखिये वैसी वेगकी रुचि बन जाना चाहिए जैसी पहिले परपदार्थोमे लीनता थी। बल्कि उस लीनतासे भी बढकर यहाँ लीनता होना चाहिए। वहाँ तो विवशता थी। अज्ञान अवस्थामे परपदार्थोमे लीन होनेकी कोशिश बहुत अधिक की, पर लीन हो न सके क्योकि वस्तुस्थितिने मना कर दिया। कोई किसी पदार्थमे आ नही सकता। कोशिश बहुत की कि मै इस जीवमे बिल्कुल समा ही जाऊँ, बिल्कुल इस ही मे लीन हो जाऊँ, पर कोशिश न चली क्योकि वहाँ वस्तुस्थितिने उल्टे काममे साथ न दिया। वहासे मना हो गया कि हम तुम्हारी इच्छाके अनुकूल परिणाम नही सकते। इस अज्ञानदशामे परपदार्थोके प्रति कितने ही विकल्प कर लिए जाये पर ये किसीके हो नही सकते। तुम भले ही अज्ञानतासे उनके प्रति मुग्ध होकर उन्हे अपना मान बैठो, पर वे तुम्हारे कभी हो नही सकते। उनकी ओरसे तो तुम्हे धक्का ही मिलेगा। वे धक्का कोई तुम्हे छू कर न मारेगे किन्तु तुम्हारी इच्छाके अनुकूल जब उन परपदार्थोंका परिणमन न होगा तो तुम हैरान होकर उनका पीछा स्वय न कर पाओगे। यही धक्का लगना हुआ। अरे इन परपदार्थोसे अपनी दृष्टि हटाकर निज स्वरूपमे लीन हो जाओ। यह निजकी लीनताका काम तो स्वाधीन है, स्वतन्त्रताका है। परपदार्थोमे लीनताका काम पराधीन है। इससे इन बाहरी पदार्थोमे अपनी लीनता न रखिये। अगर इन बाहरी पदार्थो की ओर लीनता रहेगी, रुचि रहेगी तो समझिये कि हमारे भाग्य फूट गए। वैसे भाग्य (कर्म) फूटना यह तो भली बात है। अगर भाग्य फूट जाय फिर तो कहना ही क्या है? ये भाग्य (कर्म) ही तो इस जीवको ससारमें रुलानेके कारण बन रहे हैं। ये भाग्य (कर्म) तो पूर्णरूपेण सिद्ध भगवानके फूट चुके हैं, वे ही अभागे हो पाये है, उनकी समस्त कर्मप्रकृतिया नष्ट हो चुकी हैं। तो अभागी होना एक बड़ी उच्च स्थिति है, पर यहा व्यावहारिक दृष्टिसे समझिये कि परपदार्थोमे लीनता रखने वाला व्यक्ति पतित रहेगा। यहा परपदार्थोमे लीनताकी बात कह रहे हैं। परपदार्थोमे लीनताकी बात तो पराधीन है, पर स्वात्मस्वरूपमे लीनताकी बात अत्यन्त स्वाधीन है। सो इन परपदार्थोकी लीनता चित्तसे हटाओ और अपने आत्मस्वरूपमे लीन होओ, निर्विकल्प हो जाओ।

स्वैकत्वस्मरणमें सकल झंझटोंका प्रक्षय—अभी किसीके चित्तमे यह आता है कि अभी तो मुझे बहुत काम पडे हैं। बच्चे है, घरके अनेक झंझट हैं, अभी इतने इतने काम

मेरे करनेको पडे हुए है, कैसे मुझसे इन परपदार्थोंका सम्पर्क छूट सकेगा ? मेरे ऊपर तो बडे झझट है । पर हे आत्मन् ! तेरी यदि अपने आपके आत्मस्वरूपमे लीनता हो जायेगी तो सब झझट खतम हो जायेंगे। इतने पर भी तू उन झझटोके बीच नही रहा है तो भी उनका कुछ भी बिगाड न हो सकेगा। अरे सबका अपना-अपना भाग्य है। जिसको जब जैसा होना होगा वैसा होगा।

देखिये—वज्रबाहु अपनी स्त्रीमे कितना अधिक आसक्त था। जब स्त्री अपने भाई के साथ अपने पीहर जाने लगती है तो वज्रबाहु भी उसके साथ चल देता है। लेकिन मार्ग मे जब किसी मुनिराजके दर्शन हुए तो क्षण भरमे ही वज्रबाहुका हृदय परिवर्तित हो गया, मोह गल गया, उन्हे अपने आपके आनन्दमय स्वरूपका दर्शन हो गया। और, थोडी देर बाद जब निर्ग्रन्थ होकर स्वय उस रूपमे स्थिर हो गए तो फिर कुछ झझट रहा क्या ? देखिये—कितना बडा झझट था वज्रबाहु पर ? क्या उनका वह कम झझट था जो कि अपनी स्त्रीमे आसक्त हुए उसके पीछे लगे जा रहे थे ? पर स्वरूपानुभव हुआ कि सब झझट समाप्त हो गए। तो ससारके समस्त सकट एक साथ मिटें इसकी मूल औषधि है स्वरूपानुभव। यदि यहाँकी एक एक सकटकी समस्या सुलझा सुलझाकर अगर आप चाहे कि हम सब समस्याये सुलझा लेंगे, सारे सकट मेट लेंगे, तो यह बात कभी हो ही नही सकती। आप एक समस्या सुलझायेंगे तो दूसरी समस्या उलझ जायगी, याने आप एक सकट मिटायेंगे तो दूसरा सकट सामने खडा हो जायगा। यो आप एक एक करके सारे सकट मिटा नही सकते। यहाँके एक एक सकट मिटानेकी चेष्टा करना जिन्दा मेढक तौलने जैसी बात है। जैसे कहा जाय कि साहब आप एक किलो जिन्दा मेढक तौल दीजिए, तो क्या कोई तौल सकता है ? अगर तराजूपर रखनेको होगे त्यो ही उनमेसे कुछ मेढक उछलकर बाहर हो जायेंगे। जब तक उन बाहर हुए मेढकोको उठाकर आप तराजूपर रखेंगे तब तक उस तराजूमे से और भी कुछ मेढक बाहर उछल जायेंगे। तो जिन्दा मेढक तौलना जैसे असम्भव है इसी प्रकार यहाके एक एक सकटको मिटाकर सारे सकट मेटना असम्भव है। हे आत्मन् ! सर्व सकटोको एक साथ मिटानेमे तू समर्थ है। स्वात्मानुभूति कर। इस स्वात्मानुभूति करनेके लिए जो तेरी कर्तृशक्ति है उसका उपयोग कर। यहाके व्यथके विकल्पोमे पडकर अपने जीवनको बरबाद न कर। समस्त परपदार्थोंकी उपेक्षा करके एक अपने आपके स्वरूपमे लीन होकर अपने ही उन गुणोमे विहार कर। और, एक ही अचलित जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उस ही मे तू रह। उससे अतिरिक्त उस ही मे जो ज्ञेयाकार झलक रहा उन तकमे भी, जो ज्ञेयाकारके बहानेसे व्यवहारनयकी अपेक्षा चारो ओरसे दौड रहे इन पदार्थोंमे तू विहार मत कर। विहार कर तू अपने आपमे। करनेको कर्तव्य यही पडा है।

स्वगुणविहारका कर्तव्य—स्वविहारके कर्तव्यको इस भाषामे निरख लीजिए। करने का काम क्या पडा है ? जो कार्य प्रभुने किया, तीर्थंकरोने किया, भगवन्तोने किया, जिस कार्यको करके वे सदाके लिए संकटोसे छुटकारा पा गए, उन कर्तव्योको कर। इन कर्तव्यो को करनेके लिए आपको यह उत्साह जगाना चाहिए कि जो भगवानमे शक्ति है वही शक्ति मुझमे है। एक अंश भी कम नही है जो शक्ति प्रभुमे है वही शक्ति पूर्णरूपसे मेरेमे है। फर्क एक विकास अविकासका है। जब उस शक्ति और स्वभावकी दृष्टिसे निरखे तो जो प्रभु है सो मैं हूं। इतना भी भेद न रखकर ऐसा निरखें कि बस मैं यह एक उत्कृष्ट आत्मतत्त्व हू। यही परमात्मतत्त्व है। अपनी शक्तिको देखे यही परमात्मतत्त्व है। अपनी शक्ति को देखे तो अभेददृष्टिमे अपने आपका वह पूर्ण परमात्मस्वभाव दृष्टिमे आये। तब मुझे क्या करना है ? यही मैं अपने द्वारा उपासनीय बनूं, बस यही एक काम करनेका है। लोग देखेंगे कि क्या किया इसने, लेकिन यह कितना कठिन काम है, कितना इसमे बल लग रहा है, कितना यह अनन्त पौरुष चल रहा है कि अपने आपका ज्ञानोपयोग अपने आपके ज्ञानस्वभावमे ही आये, मुडे, इस ही मे स्थिर हो, ऐसा करके देखिये तो सही, कितना अनन्त पौरुष करना पडता है। और, बाहरी विकल्प ये तो आसानसे लग रहे है। यही तो आश्चर्य है कि जो असम्भव बात है वह आसान लग रही है और जो सम्भव बात है अपने स्वभावमे वह इसे कठिन लग रही है। कठिन नही है, सरल है, निर्णय करके आइये, श्रद्धाके साथ आइये, अपने आपकी ओर अपने आपकी उपासना अपने आपके स्वरूपमे लीन होना, यह सब आसान जँचेगा। तो यही एक करनेकी स्थिति है कि मैं ही मेरे द्वारा उपासनीय होऊँ, क्योंकि यह मैं अनन्त शक्तिमान हू।

निज महान अनन्तशक्तिमानकी उपासनीयता—किसी शक्तिमानको भजोगे, उसकी सेवामे रहोगे तो कुछ मिल ही जायगा और कही निर्बलकी अथवा अचेतनकी सेवामे रहोगे तो क्या मिलेगा ? तो जो बहुत शक्तिमान हो उसका आश्रय लो। ऐसा निरखना है कि जो शक्तिमान हो उसके आश्रयमे रहना है। तो अब जरा शक्तिमानका ही तो निर्णय करो कि शक्तिमान है कौन ? क्या यह घर, ये कुटुम्बी जन, ये विषयभूत तत्त्व, रूप, रस, गंध, स्पर्श ये मेरे लिए शक्तिमान है क्या ? ये मुझे शान्ति दे देंगे क्या ? ये शक्तिमान नहीं। इनसे मेरेको कुछ न मिल सकेगा। इनका आश्रय करनेसे तो हम अपनी भूलसे बरबाद होते चले जायेंगे। शक्तिमानको भजो। अनन्त शक्तिमानको भजो, सर्वस्व शक्तिमानको भजो। वह कौन है ? क्या घर कुटुम्बमे रहने वाले बन्धु मित्र है ? इनकी सेवामे मेरी भलाई मिल जायगी क्या ? ये शक्तिमान नही है। आगे बढो ये भी शक्तिमान नही है, इनकी शरणमे

भी मेरेको लाभ नही । तो यह देह, यह शरीर इसको भजे ? अरे यह भी शक्तिमान नही है, यह तो मिट्टी है, जल जाने वाली चीज है, व्यर्थकी बात है । यही हाल यहाँके विषय भोगोका है । अगर विषयभोग भोग लिए तो यह तो एक व्यर्थकी बात है, ये विषयभोग कोई शक्तिमान चीज नही । तो इन देहादिकके आश्रयमे मत रहो, कुछ और आगे बढो, देह के और भीतर चलो । तो मेरेमे जो भाव उठते है, विचार विकल्प, रागद्वेषादिक होते है इनको तो मैं भज लूँगा ? इनमे तो बड़ा मौज मिलता है । इनमे तो मन भी बहुत लगता है।

जैसे मैं कषाय करता हू, राग करता हू, उसमे जब विभोर हो जाता हू तो यहा मौज लूटने मे स्वतन्त्रता नजर आती है। इनको तो मैं भज लू ? तो कहते है कि अरे यह भी तेरा भ्रम हो तो इन रागद्वेष, विकल्प विचार आदिक को मत भज, ये तो तेरे बिगाड के ही कारण बन रहे है । जरा और आगे बढे तो लो ये अरहत, सिद्ध प्रभु ये तो शक्तिमान है, मैं इनको भज लू ? हा इनको भज लो । चलो प्रभु के पास और प्रभु से अपने मन की बात कहो कि हे प्रभो, मैं आपको अनन्त शक्तिमान समझकर आया हू । आपको भजता हू । तो प्रभु की दिव्यध्वनि मे यही बात आती है कि हे आत्मन् ! देख तू स्वय अनन्त शक्तिमान है । मेरे को भजकर तू अपने आप मे लीन न हो सकेगा । वहा पर विकल्प रहेगा । मेरी तरह तू भी शक्तिमान है, जैसे मैं अनन्त शक्तिमान अपने स्वरूप भजकर सकटो से छूट गया हू ऐसे ही तू भी उस अनन्त शक्तिमान अपने स्वरूप को भजकर सर्व सकटो से छूट जा । तो अपना अनन्त शक्तिमान आखिर मे सब जगह डोलकर खुद मे ही मिलेगा । तू अपने इस शक्तिमान को भज । यही तेरा देव है, यही तेरा गुरु है और यही तेरा सर्वस्व है । तो हम जब अपने आपकी ओर आये, उसमे ही लीनता बनायें तो अनन्तशान्ति, अनन्त आनन्द का होना और अनन्त सकटो से छुटकारा आदि ये सब बातें अपने आप बन जायेंगी । एकपर दृष्टि देने से, एक की साधना बनाने से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते है । अपना मनोरथ है धर्मपालन, शुद्ध शान्ति व आनन्द की प्राप्ति । तो निष्कर्ष यही निकला कि एक अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को भजें तो यही अपना सर्व मगल होगा ।

प्रथम कर्मशक्तिका वर्णन करनेके बाद कर्तृशक्तिका वर्णन किये जानेका सयुक्तिक कथन—कारक शक्तियोमे से दो शक्तियोका वर्णन हुआ है कर्मशक्ति और कर्तृशक्ति । इन कारकोमे व्याकरण शास्त्रमे सबसे पहिले कर्ता कारक बताया है, लेकिन कर्मशक्तिकी बात पहिले बताये बिना किस माध्यमसे कर्ता करण आदिक बताया जा सकता है ऐसी एक अडचन होती है, इस कारण सबसे पहिले कर्मशक्तिका वर्णन किया है । पहिले विदित हो जाय कि यह कार्य है, इसके सम्बन्धमे बात चल रही है । तभी तो यह प्रश्न होगा कि इस

का करने वाला कौन है, इसका साधन क्या है, यह किसके लिए हुए है, यह कहांसे होता है, किस आधारमे होता है और, है किसका ? ये सारे प्रश्न तब उठते है और ये चर्चाये तब आती है जब पहिले कर्म विदित होता है। तो सबसे पहिले कर्मशक्तिमे यह बताया है कि आत्माका कर्म वह है जो हो रहा है और निरपेक्ष रूपसे परके आश्रय बिना अपनी ही शक्तिके कारण जो कुछ भाव होता है वह है आत्माका कर्म। और, कर्तृ-शक्तिमे बताया है कि इस कर्मका करने वाला कौन है ? वह है यह आत्मा ही, क्योकि कर्म न आत्मासे पृथक् है और न कर्ता आत्मामे पृथक् है ? होने वाले भावका हुआने वाला ही तो यह आत्मा है। इस प्रकार कर्मशक्ति और कर्तृशक्तिके वर्णनके बाद अब करण शक्तिका वर्णन चल रहा है।

आत्मामें करणशक्तिका प्रकाश—करण शक्तिका अर्थ है कि हो रहे भावके होनेमे जो साधकतम हो, जिसके बिना हो ही न सके ऐसा जो साधकतम हो, उस रूप होनेकी शक्तिको करणशक्ति कहते है। आत्मामे भाव क्या हो रहा है ? जिसका वर्णन पहिले भी किया गया था, पराश्रयके बिना निरपेक्षतया स्वतत्र होकर अपनी उस शक्तिके कारण स्वभावसे जो बात बने वह कहलाता है कर्म, और, ऐसे कर्मके होनेमे साधकतम क्या है ? तो यही आत्मा। यहाँ यह बात समझनी होगी कि द्रव्यमे जितने भी परिणमन होते है उन सब परिणमनोका निश्चयत कारण वही द्रव्य होता है, जिस उपादान करके कहा उस ही का कारणरूपसे उपादान करके कार्य प्रकट होता है। लेकिन कुछ कार्य होते है औपाधिक और कोई कार्य होते है निरुपाधि। चूंकि यह आत्माकी प्रसिद्धिका प्रकरण है। आत्मा कैसे जाना जाय कि यह है, जिसका अनुभव किया जानेसे कल्याण हो उस आत्माकी जानकारी के लिए यहाँ ज्ञानमात्र भावरूपमे आत्माका स्मरण किया गया था। मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान-मात्र हूँ इस भावमे सर्व आत्मतत्त्व आ गया। कैसे आ गया, इस बातकी सिद्धिके लिए यहाँ अनन्तशक्तियोके वर्णनकी बात आयी। अनन्तका वर्णन कौन करे ? १०० का भी वर्णन होना कठिन होता है फिर भी उनमे जो मुख्य शक्तियाँ है, जिनके परिचयसे हममे निर्मल परिणाम होनेका अवसर आ सकता है। उनका वर्णन यहाँ चल रहा है। तो निश्चयत पदार्थके परिणमनके लिए करण वही पदार्थ होता है किन्तु यहाँ तकना है आत्माका निरपेक्ष परिणमन रूप कार्यका करण। तो यहा शुद्धपरिणमन, निर्मलभाव, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप परिणमन, जिसमे रहकर आत्माकी स्पष्ट प्रसिद्धि होती है। उस निर्मल आत्माका साधन क्या है ? एक अखण्ड आत्मद्रव्यका आलम्बन। किसका आश्रय करे, उपयोगमे किसको लिया जाय कि यह निर्मल परिणामोका ताता चल उठे ? इसका निर्णय करो। इसमे जो उत्तर आयेगा वही करण मान लीजिए।

निर्मल परिणमनमें आश्रयभूत कारणका अनाश्रय—आत्मभावके साधनोका जब विश्लेषण करके निरखते है तो बाहरके जो ये पदार्थ है अथवा देव, शास्त्र, गुरु बाहरी अन्य द्रव्य, अन्य साधन, इन साधनोसे आत्मामे सम्यग्दर्शन, ज्ञान चरित्र पर्याय नही बनता है। ये व्यवहार साधन है और इन साधनोका अर्थ यह है कि ज्ञान चारित्र रूप परिणमन हो रहा हो उस निर्मल पर्याय प्रकट होनेसे पहिले जो शुभभाव बनता है उन शुभभावोका आश्रयभूत ये देव शास्त्र गुरु है। परमार्थत तो जिस समयमे यह वीतराग परिणमन हो रहा हो, सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र रूप परिणमन हो रहा हो उस परिणमनमे तो कोई निमित्त नही है बाहरी पदार्थ। कोई आश्रयभूत नही है, क्योकि उस समय उपयोगमे विविक्त किसी परका आश्रय हो तो वह तो विकल्प है। और, ऐसे विकल्पकी स्थितिमे वह अराग निर्मल परिणमन कैसे हो ? एक समयमे दो परिणमन नही हो सकते। या विकल्प तरग रूप परिणमन हो या निर्विकल्प परिणमन हो। तो परमार्थत जिस समय निर्मल परिणाम हो रहा है उस समयमे कोई परद्रव्य आश्रयभूत नही होता, लेकिन जिन निर्मल परिणामोके होनेसे पहिले जिन शुभ भावोका आना जरूरी होता है, जहाँ पात्रता जगती है ऐसे शुभभावोके आश्रयभूत देव, शास्त्र, गुरु परमेष्ठी यद्यपि विशिष्ट रूपसे व्यतिरेक तौरसे ये हैं परमात्मा, ये हैं जिनवचन, ये हैं गुरु, इस तरह परक्षेत्रमे, परस्वरूपमे रहने वाले ये पावन पदार्थ आश्रयभूत है उस शुभ भावके जिन शुभ भावोके अनन्तर शुद्ध वीतराग निर्मल परिणमन उत्पन्न होता है। तब इस तरहसे यहाँ समझा होगा कि उस सहज आत्मभावका साधन कोई आश्रयभूत पदार्थ भी नही है। परका आश्रय करना तो इस सहज भावमे बाधा है। तब क्या हुआ करण ? निश्चयत साधकतम कौन हुआ ? यही एक अखण्ड आत्मद्रव्य। यहाँ पर भी यह निर्णय करना कि इस तरह भेदकल्पनासे समझा गया अखण्ड आत्मद्रव्य यह मैं तत्त्व हू, उपयोग हूँ, और मुझे इस अखण्ड आत्मद्रव्यका आलम्बन लेना है, उसका आलम्बन लेनेसे मेरे निर्मल परिणाम प्रकट होगे, इस प्रकारके भेदरूप पर्यायके समय वह निर्मल परिणाम नही है. किन्तु जब इस अखण्ड आत्मतत्त्वका इस अभेद रूपसे आलम्बन होता है जहाँ कि ये विकल्प भी नही होते हैं इस प्रकारका जो निजका अभेदाश्रय है वह है निर्मल परिणामका साधकतम।

कल्याणमार्गकी शुरूआतके लिये प्रारम्भिक साधनके पूर्वका वातावरण—इस कल्याणमय भावकी व्यक्तिके लिए, इसके अनुभवके लिए सर्वप्रथम कहासे चलना होता है ? और उन सब चलनोमे कब कहा कौन करण पड रहा है, यह सब भी एक जानने योग्य तत्त्व है। यह जीव सर्वप्रथम वस्तुस्वरूपके परिचयमे आता है। इससे मानो कोई सत्सगतिमे आया। और केवल उस सगके अनुरूप अपना बाहरी वर्ताव रख करके चल रहा है कि

जहाँ कभी वस्तुस्वरूपके परिचयकी जिज्ञासा भी न बनी ऐसा संग भी कोरे व्यवहार धर्मके समयमे भी यह आत्मा जो कुछ परिणाम कर रहा है उसका भी करण यही आत्मा है। लेकिन वहा है विकारभाव, जिस प्रकारका भी है, मंद कषाय होनेसे शुभभाव, उसमे आश्रयभूत पर है लेकिन यह है एक उत्थान करने वाली प्रारम्भिक भूमिका। स्वरूपका बाह्य वातावरण। जैसे कि हम आप लोग भी बचपनसे व्यवहारमे चले आये है, दर्शन करने मा आयी तो खुद भी साथमे आ गए। समझ वहा कुछ नही है। कहो भगवान की तरफ पीठ करके उल्टी दिशामे नमस्कार करें। कितनी ही वाते हो, लेकिन वह था एक प्रारम्भ। भाव नही, किन्तु ऊपरी। ऐसी ही बातमे रहकर ऐसा संस्कार जमा कि आने जाने योग्य स्थान यह ही है और अपने को पूजने योग्य स्थान यह ही है। इसमे इतना लाभ तो हुआ कि जो अन्य स्थान है, अपात्र है, अनायतन है उनकी ओर रुचि न होगी यही एक काम हुआ, लेकिन अभी ये सब ऊपरी ही वातावरण है। इन्हीमे रहते रहते कभी कुछ स्वयंमे ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती और उसमे बढे, वस्तुस्वरूपके परिचयकी उमग उठी तो अब शास्त्राभ्यास करने लगे, स्वयं पढने लगे, दूसरोसे पढाने लगे। उसमे कुछ तथ्य मालूम हुआ, कुछ संसारकी असारता विदित हुई, ये सब समागम असत्यसे प्रतीत होने लगे, ज्ञानमे रुचि बढी, ऐसे साधनके समयमे भी करण कौन है ? यह ही आत्मा, लेकिन इन साधनोमे भी अभी पराश्रयता है, बाहरी आलम्बन है। अभी वह सहज आत्मतत्त्वकी बात नही आयी है। अब ऐसे वस्तुस्वरूपके परिज्ञानकी श्रेणियोमे रहकर बहुतसा समय गुजारा, कभी कुछ चाहने लगे, कभी मन न लगा, लेकिन एक सस्कार बना कि ज्ञान करना ही है, उसके अध्ययनमे लगे ही रहे।

स्वभाव और विभावमें अन्तर परखनेका वैभव और साधकतम—ज्ञानार्जनकी वृत्तियो मे चलते हुए इसको किसी समय एक बहुत बडा विचार आता है एकान्तमे स्वाध्याय करते समय, किसी पक्तिके आश्रय उसका गहरा विचार करते हुए शास्त्रका अध्ययन करते हुए भीतरमे एक पौरुष जगा–ओह ! जिन वचनोमे यह लिखा है, यह है मेरा करनेका कर्तव्य। यो भीतरमे एक अपने आपको परखनेकी भावना बनी। परखने लगा। और, जब परखने लगा। **और, जब परखने चलेगा यह भीतर तो इसके लिए सब आसान हो जायगा। सबसे** कठिन काम तो यह है कि अपने आपको परखनेकी बुद्धि जगे। इसका काम बहुत कठिन है, लेकिन परखनेकी बुद्धि आ जाय और परखनेकी मनमे भावना जग जाय, लो अब इस आत्मकल्याणके सब काम आसान बन गए। इससे पहिले वे सब काम बडे कठिन थे। करना ही क्या है ? जैसे कोई बडा पहलवान किसी दगलमे आया हो, उससे कुश्ती लडनेके लिए कोई तैयार न होता हो। परन्तु कोई दुबला कमजोर आदमी उससे लडनेको तैयार हो जाय

और वह कहे कि हम तो तुमसे लडेगे मगर हमारी एक शर्त है।' 'क्या शर्त है?'...शर्त यही है कि जब हम तुम दोनों अखाडेमे आ जायें, एक दूसरेसे कुश्ती लडने लगें तो तुम तुरन्त ही जमीनपर गिर जाना। लो अब उससे और क्या काम कराना चाहते? अरे वह गिर पडे फिर उसको जीतनेके लिए रहा ही क्या? तो यो ही समझिये कि आत्मामें अपने आपमे स्वभाव विभावके परखनेकी बुद्धि जग गयी तो फिर इससे वढकर और क्या काम चाहते? अब तो सब इसके आगे आसान है। कठिनाई तो यह थी। तो अब यह कही एकान्तमे किसी पक्तिके अर्थका आश्रय लेता हुआ अपने आपमे विचारकर परख करनेके लिए चला तो वहाँ परख हो जाना आसान हो जाता है। जहाँ स्वभाव विभावका भेदज्ञान जगा वहाँ दो बाते उसे स्पष्ट नजर आयेगी। यह तो बध है, यह तो बन्धन है, यह तो बरबादी है, यह तो उसकी दुर्दशा है, मैं तो यह स्वभावमात्र हू, जो अनादि अनन्त अहेतुक एक चैतन्यस्वभाव है उस स्वभावका उपयोग बने। उपयोग बनना सरल भी है और बहुत कठिन भी है। इसके लिए भीतरकी इतनी बडी साधना चाहिए कि जिस साधनाके सामने बाहरी बडी-बडी विद्याओकी साधनायें न कुछ जैसी चीजें है। उससे वढकर नियंत्रण संयमन चाहिये तब यह अपने आपमे अपने स्वभावकी निरख कर सकता है। लोग तो इसीको ही बडा कठिन काम समझते है—जैसे कोई नट लोग बडे लम्बे बॉस थोडी थोडी दूरीपर गाड देते है, उनमे किसी रस्सेके एक एक छोर बाँध देते है, फिर उस रस्सेपर वे चलते है, तो लोग कितना उन नटोकी तारीफ करते है। कहते है—अरे कितना सधा इनका शरीर है? लेकिन जरा यहाँ आत्मस्वभावकी दृष्टि करनेकी साधनाकी तो बात सोचो, कितना सधा होकर अपने भीतर प्रवेश करना है—कितना धीरे समतासे। कहाँसे उपयोग चलेगा और कहा उपयोग जायगा और कितनी उसकी मजिल है, और कैसे उसका दर्शन करेगा? ये बातें कोई दूरी और विलम्बपनेकी नही है। वहा कुछ भी दूरी नही है। उपयोगको कहासे आना है? यही आत्मा है, यही प्रदेश सर्वस्व है। उपयोग आयेगा कहासे? लेकिन उपयोग जब बाहरमे बहुत दूर दूर भटक गया, विषयभूतका आश्रय करके यह उपयोग उपयोगपनेसे जब दूर भटक गया तब कितनी दूरसे खिच-खिच करके इस उपयोगको लाना है। सर्व बाह्य पदार्थोंका विकल्प न रहे, कोई भी परपदार्थ उपयोगमे न रहे ऐसी तैयारी हो तो वहा आत्मस्वभावके दर्शनकी पात्रता होनी है।

ज्ञानीका परभावसे असहयोगका उपक्रम—हे प्रियतम आत्मन्! कल्याणलाभके लिये काम तो दो ही करना है ना? एक तो असहयोग और दूसरा सत्याग्रह। बाह्यपदार्थोंमे जो उपयोग चलता है उनका सहयोग, उनका आश्रय, उनके प्रति विचार, विकल्प, तरग आदि

यही है कि मेरेमे जो सत्यस्वरूप है वही मैं हूँ, अन्य नही हूँ। इस प्रकारके इस सत्यका ऐसा आग्रह करना अभेद आश्रय बनकर यह स्वय सत्य उपयोगमय बन जाय। यही करना है सत्याग्रह ऐसे अभेद उपयोगसे जब निजमे विराजमान कुछ सत्यका आग्रह बनता है तो वहाँ इस अनन्यशरण सहजपरमात्मतत्त्वसे अभेद होनेमे फिर विलम्ब नही लगता। इन दो बातोंमे सें असहयोग और सत्याग्रह इनमे से आसान बात होगी असहयोगकी। जिन जिन बाह्यपदार्थोमे हमारा सहयोग है, जिन बाहरी बातोमे हमारा आलम्बन है, कुछ स्थूल परिज्ञान भी बनाया तो भी हम उनसे हट सकते है। किसमे उपयोग लगाये ? ये सब असार है। इनसे कोई मेरा हित नही नजर आता है, और ये मेरेसे अत्यन्त भिन्न है, मेरे लिए विपदा है। मैं ज्ञानमात्र निज धामसे चिगकर बाहर अभिमुख होऊँ, बाहर दृष्टि करूँ, इस बातसे भी मुझे तत्त्व क्या मिला ? क्या ऋद्धि समृद्धि मिली ? अरे वहासे तो हटना है वहा उपयोग नही देना है। यो विचार करते करते उन आश्रयभूत पदार्थोकी भिन्नता विचारकर वहासे उपयोग हटावे। यदि एक काम बन गया, यह एक सत्य बन गया तो आत्माका आलम्बन होना आसान हो जायगा। इस समय एक बात विचारणीय है कि इस तरहकी साधना तो प्राणायाम करने वाले बहुतसे संन्यासी भी कर लेते हैं। ॐ वगैरह शब्द लिखकर उसमे ही अपने नेत्र गडाकर निरन्तर देखते रहते है, इस क्रियामे भी तो अन्य विकल्प खतम हो जाते है, बाहरी विकल्प नही रहते हैं, ऐसी ऊँची यहा भी साधना बन जाती है, लेकिन यहा यह अन्तर जानना कि वस्तुस्वरूपके परिचयका जहा अभ्यास बन चुका है, जान सब गए है, उसीकी बुद्धि है, उसीकी बात है, उसीकी वासना बनी है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष यदि किसी समय परोपयोगसे हटे और बाह्यसे असहयोग उसका निष्पन्न हो जाय तो उसे फिर आत्माका आलम्बन पा लेना बहुत सरल होता है। तो यही एक काम प्रारम्भमे पडा हुआ है कि इन समस्त बाह्यपदार्थोका असहयोग करे, उनकी अपेक्षा करे तब ही हम इन विदेशियोसे मुक्त हो सकते है। जब हम इन कर्मविदेशियोके, अर्थात् जो मेरे देशमे नही, मेरे स्वरूपमे नही, ऐसे इन विदेशी कर्मोके विपाकसे प्राप्त होने वाले समागम और फलमे सहयोग दे रहे है तब तो ये विदेशी अपना डटकर राज्य जमा लेगे, क्योकि उनके दिए हुए फ़लकी हमने आशा कर लिया। और, जब हम इन विदेशियोके दिए हुए फलकी आशा ही न रखे, उनकी उपेक्षा रखे। जो कुछ समागम देते हो, जो कुछ लौकिक मौजकी सहूलियत देते हो, मेरी दृष्टिमे ये सब तुच्छ हैं। पराधीन सुख पाया तो क्या सुख है ? जैसे देशकी स्वतंत्रता चाहने वालोके ये ही तो नारे हैं कि पराधीन होकर कोई पद मिले, कुछ भी बना दिए जाये, पर उसमे क्या सुख ? हम अपने आश्रयसे अपना ही समझकर कुछ होते तो वह हमारे लिए आदेय था। जैसे देशकी स्वतंत्रता चाहने वाले लोग यह सोचते हैं, ऐसे ही

आत्माकी स्वतत्रता चाहने वाले ये ज्ञानी पुरुष यह चिन्तन करते हैं कि मेरेको तो विदेशी कर्मोंके विपाकसे कोई पद मिल जाय, धनी हो जायें, देह मिल जायें, सुन्दर समागम मिल जायें तो मेरी निगाहमे ये सब तृणवत् है। इन्हे मैं क्यो चाहूँ? इनसे मेरा क्या काम सरेगा? ये तो मेरी स्वतत्रताके हेतुभूत न होगे। तो यो इन विदेशी कर्मोंके फलमे जो सहयोग नही देते है ऐसे पुरुष इस आत्मद्रव्यका आलम्बन सहज सुगमतया कर सकते हैं। तो पहिला काम है यह असहयोगका।

असहयोगभाव और भेदविज्ञानमें साधकतमका विचार—अब यह भी विचार कीजिए कि इस परोपेक्षाके कार्यमे करण कौन है? इस कार्यमे करण मैं ही हू। जहाँ यह विकट कर्मोंकी लीला चल रही है वहाँ यह असहयोगकी चिन्तना भी चल रही है। यहाँ भी करण परमार्थत कोई दूसरा नही है, लेकिन ये भी विकारभाव है, शुभभाव हैं, इनमे अभी आश्रयभूत कारण पड रहा है तो पडे, लेकिन इस शुभ आशयमे आश्रयभूत कारणसे निकल कर कुछ नही आया है, अतएव वह आश्रयभूत कारण कार्यमे साधकतम नही हो सकता है। इस स्थितिमे भी, इस भावमे भी साधकतम मैं ही हूँ। यह तो अभी प्रारम्भकी बात चल रही है। जो सहज आत्मभाव है, उसका जो प्रताप है उस प्रताप वाली बात अभी नही आयी हैं। इससे पहिले भेदविज्ञानमे आत्मा और बन्ध, स्वभाव और विभाव इनका छेदन करनेमे क्या पौरुष है, क्या करण है, क्या विधि है? उस विधिकी बात चल रही है। इस भेदविज्ञानरूप कार्यमे करण निश्चयत मैं ही हू। भेदबुद्धि है प्रज्ञा। वह आत्माका ही अभिन्न परिणमन है, तो वहा पर भी जो भेदविज्ञान हो रहा वहा भी करण मैं ही हू। जब परख लिया जाता है अपना स्वभाव तो उस समय फिर इसको ग्रहण करनेकी बात चलती है। तो जैसे भेदविज्ञानमे मैं ही साधकतम था तो अब भेदविज्ञान करके स्वभावग्रहणके प्रयोग मे भी मैं ही साधकतम हूँ। इस विषयका आगे वर्णन चलेगा।

आत्मा और बन्धके द्वैधीकरणरूप कार्यमें प्रज्ञामय आत्माकी साधकतमता—मोक्ष मार्गमे कदम रखनेकी इच्छा रखने वाले जीवोने सबसे पहिले अपना कदम बढाया तो वह भेदविज्ञानका कदम बढाया। भेदविज्ञानमे आत्मा और बंधको दो करनेकी बात है। आत्मा और बध दोनो याने स्वभाव व विभाव ये अनादि परम्परासे एकसे होते आ रहे हैं अर्थात् स्वभाव तिरोभूत हो गया है, विभाव यहा व्यक्त रूपमे जच रहा है, ऐसी स्थितिमे जीवको मोक्षमार्ग मिले, तो पहिला काम यह है कि मोक्षमार्गका विरोधक जो आत्मविभाव है उसका भेदन किया जावे। आत्मा और बन्धको दो कर देना, तो वह अलग है, यह मैं आत्मा अलग हूँ। इस प्रकारके इस आत्मबधको दो कर देनेमे कर्ता तो आत्मा है और कार्य भी गया है कि आत्मा और बन्धको पृथक पृथक कर दिया गया। लेकिन इसका करण क्या

है ? साधन क्या है ? लोग जब काठकी कोई वस्तु बनाते है तो उसे पहिले टुकडे करनेके लिए कुल्हाडीका उपयोग करते हैं। तो वह कुल्हाडी करण हुआ। किसके द्वारा उस काठके टुकडे किए जायें ? अथवा पत्थरके दो टुकड़े करना हो तो उसके लिए हथौडी छेनी आदि चाहिए इसी प्रकार आत्मस्वभाव और रागादिक विकारोका छेद करना है, उसे पहिले भिन्न रूपसे परिचयमे लाना है तो इस कामके लिए साधन क्या, करण क्या है ? ऐसी जब गहरी दृष्टिसे विचार किया जाय तो निर्णय होगा कि वह करण मुझ आत्माने भिन्न नही है। क्या है वह करण ? प्रज्ञा, भेदबुद्धि। तो इस भेदविज्ञानके प्रयोगके द्वारा आत्मा और बन्धमे दो भेद कर दिए जाते है। वह प्रज्ञा क्या चीज है ? शुद्ध आत्मानुभूति है लक्षण जिसका, ऐसी वह एक भेदज्ञानरूप बुद्धि है, भेदज्ञानमे भी शुद्ध आत्माकी अनुभूति और स्व अभेद ज्ञानमे भी शुद्ध आत्माकी अनुभूति है। पर यहा इतना अन्तर है कि एक तो विकल्प सनाथ है और एक विकल्परहित है। जिसे यह पता नही कि चावल यही कहलाता है वह चावलको शोध कैसे सकेगा ? उसमे जो छिलका पडा है, कंकड है, अन्य कूडा है उस सबको अलग वही कर सकता है जिसकी दृष्टिमे यह है कि यह चावल कहलाता है। इसी प्रकार रागादिक विभावोको इन विकारोको वही अलग हटा सकता है या अपने उपोगमे वही इन्हे अलग समझ सकता है कि जिसके उपयोगमे यह बसा हो कि शुद्ध आत्मतत्त्व यह है। तो भेदविज्ञानके प्रयोगमे भी शुद्ध आत्माका अनुभव तो जगा। परिज्ञानरूप रहा, गाढ परिचय रहा। निर्विकल्प अनुभव न हुआ, अभी विकल्प सहित है। लेकिन वह भी प्रज्ञा है क्या ? आत्मासे कोई भिन्न वस्तु है क्या ? आत्माका ही वह एक परिणमन है। तो ऐसे अभिन्न करणके द्वारा इस ज्ञानी पुरुषने आत्मा और बन्धमे द्वेधीकरण किया था, इस द्वेधीकरणके समय भी करण आत्मा ही रहा।

आत्मा व बन्धका स्वलक्षण—अब इस द्वेधीकरणमे उसने क्या किया है, जरा इस का भी विवरण देखिये। इस ज्ञानी पुरुषने जाना कि जो आत्माका स्वलक्षण है, आत्माका निजस्वरूप है वह तो इसमे है और जो आत्माका स्वलक्षण नही है वह है अन्य, विपदा, कलुषता, बन्ध। तो आत्माका स्वलक्षण कौन है ? तो स्वलक्षण जानने के लिए एक युक्ति समझनी होगी कि वस्तुका स्वलक्षण वह कहलाता है कि रहता हुआ वह जिस जिसमे व्यापक रहकर रहे और निवृत्त होता हुआ जिसको लेकर हटे, ऐसा असाधारणभाव ही हो सकता है कि वह अपनी वस्तुमे व्यापक रहता है और यदि वह हटे, कल्पना कर लें ऐसी तो वह वस्तु ही हट जाती है। वहा फिर वस्तु ही नही रहती है। ऐसे जो कोई उसके चिन्ह हो सो उसका स्वरूप है। वह है चैतन्यस्वरूप। जो अन्य द्रव्योमे न रहकर अपने आपमे होनेसे असाधारण भावरूप है, ऐसा यह मैं एक चैतन्य लक्षणके द्वारा ही लक्ष्यमे आता हू

और यह मैं समस्त गुणपर्यायोमे व्यापक हू, सर्वत्र यही मैं चेतना हू, अत मेरे आत्मद्रव्य यह साधारण है अर्थात् आत्मद्रव्यमे सदा रहने वाला व्यापक है। किसी स्थितिमे चेत रहे, किसी स्थितिमे न रहे, ऐसा नही है, किन्तु यह चेतन गुण मेरेमे साधारण गुण है सब द्रव्योमे साधारण नही, किन्तु आत्मद्रव्यमे साधारण है, सर्व आत्माओमे है और मु आत्मामे त्रिकाल है। त्रिकालव्यापी होनेमे इसे साधारण कहा, किन्तु रागादिक तो असा धारण भाव है। मेरे आत्मामे सदाकाल नही है। चेतनको जब असाधारण भावके रूप देखा तब तो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन द्रव्योमे भेद हुआ कि मैं चेतन हू औ जीव पुद्गल धर्मादिक इनमे यह चेतन नही पाया जाता, इसलिए इनसे मैं जुदा हू, और ज अपने चैतन्यस्वरूपको रागादिक विकारोमे निराला समझनेका मौका आये तब देखें कि ज मेरेमे साधारण हो सो तो मेरा स्वरूप है और जो मुझमे असाधारण हो वह मेरा स्वरू नही है। साधारण है चैतन्यस्वरूप। वह सब स्थितियोमे रहता है। जब मैं संसारी हू त भी है, जब मैं साधक हू तब भी है। शुद्ध होऊँगा तब भी है। ये रागादिक भाव तो मे आत्मद्रव्यमे असाधारण है, कभी हुए है, ये सदा रहनेके नही है, ये व्यापक नही हैं, ऐसे ये रागादिक अपना ही लक्षण लिए हुए है, मेरा लक्षण नही लिए हुए हैं, मेरा लक्षण तो वह है जो मुझमे त्रिकाल व्यापक ऐसा साधारण हो। रागादिककी असाधारणताके बावत यह भी जानना चाहिये कि रागादिकमे चेतनेका जरा भी माद्दा नही है। रागादिक होंगे तो उनका अनुभव तब बनता है जब मै उन्हे चेतता हू, उनमे अपना कुछ आभास देता हू तब रागादिक है और वे विकारक बनते है। तो रागादिकमे चेतनेका जरा भी माद्दा नही है। जहाँ चेतना छू भी नही गई, ऐसे रागादिक मैं क्या बन सकूँगा ? रागादिक मुझसे पृथक हैं।

आत्मा व बंधके द्वैधीकरणका महान पौरुष—देखिये—आत्मा व बन्धके द्वैधीकरण के सम्बधमे यह ज्ञानी पुरुषकी परिणति चण्डी, काली आदिक रूपको रख रही है। उन विभावविकारोको तो वह जरा भी नही टिकने देती। उनका खण्डन कर रही है। रागादि विकारान् चण्डयति, खण्डयति इति चण्डी, कलयति भक्षयति रागादिविकारान् इति काली। जो भक्षण कर दे, खण्डन कर दे रागादिविकारोका वे चण्डी, काली आदि है। खण्डन करने का अर्थ है स्वभाव और विभाव इन दोनोको अलग अलग परिच्छेद लें, ये रागद्वेष मोहादि मैं नही। मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हू। और, फिर भक्षण करनेका यह अर्थ है कि इन रागादि विकारोका विलय कर देना। अब वे टूटकर कहाँ जायेंगे सो बताओ ? क्या इस प्रवचन हालसे बाहर गए ? क्या आत्मप्रदेशके बाहर छटपटा रहे ? ये रागादिक कहाँ लुढक रहे हैं ? इनका तो भक्षण हो गया। भक्षण हो गया मायने इस ही द्रव्यमे विलीन हो गए ये रागादिक विकार। गये कहाँ ? अच्छा यदि विलीन हो गये ये रागादि विकार तब तो इस

आत्मामे कही ठहरे तो होगे। किसी जगह पडे तो होगे ?

विलीन होकर किसी वस्तुमे, किसी जगह पडे तो रहते है ? तो कहते हैं कि यो नही विलीन होते, उनका तो भक्षण हो गया, उनका तो रूपक ही बिगड गया। जैसे किसी पदार्थ का भक्षण कर लिया जाय तो उस पदार्थका रूपक बिगड जाता है ऐसे ही भक्षण किए जाने पर उन रागादिक विकारोका रूपक बदल गया। यो ज्ञानी पुरुषकी परिणति चण्डी काली आदिकका रूप रखकर एक बहुत बडा सग्राम मचा रही है जिसमे इतना बडा काम किया जा रहा है कि अनन्त संसार नष्ट किया जा रहा है। भेदविज्ञानका पौरुष कोई सामान्य पौरुष नही है। जहाँ सम्यक्त्वका अभ्युदय हुआ है और सम्यक्त्व होनेपर होता क्या है ? अनन्त संसार दूर हो गये। अब रह गया कुछ साल या सागर पर्यन्तका अवसर। तो इस अनन्त संसार, अनन्त काल, अनन्त जन्म मरणके सामने यह कुछ सागरपर्यन्तका समय क्या गिनती रखता है ? यह तो कोई चीज नही है। इतना बडा भारी पौरुष इन चण्डी, काली आदिक परिणतियोके प्रयोगसे हो रहा है। ये रागादिक भाव ये असाधारण भाव है, मेरे चैतन्यस्वरूपसे अतिरिक्त भाव हैं, मेरे नही। जो मेरेमे समस्त पर्यायोमे व्यापे रहे वह तो मेरा। जो मेरेमे न रहे वह मेरा क्या ? लोग तो व्यवहारमे कहते है कि जो मेरे सुख दुख मे सब स्थितियोमे साथ रहे वह तो मेरा है और जो मेरा किसी भी स्थितिमे साथ न दे, धोखा दे वह मेरा क्या ? तो यह चैतन्य मेरी सब स्थितियोमें साथ ही रहता है, मगर ये रागादिक मेरी सब पर्यायोमे व्यापी नही रहते है। और की तो बात जाने दो, ये तो दूसरी क्षण ही नही ठहर सकते है, ये मेरे क्यो हो ? ये आये है तो नष्ट होनेके लिए। मैं अविनाशी हू, मेरा स्वरूप चैतन्य है।

प्रज्ञात्मक निज करणसे चैतन्यस्वभाव और रागादिका द्वैधीकरण——ऐसे चैतन्यस्वरूप मे और इन रागादिक भावोमे जो भेदविज्ञानका अनन्त पौरुष किया जा रहा है इसका करण क्या है, साधन क्या है, किसके द्वारा किया जा रहा है ? वह है प्रज्ञा। प्रज्ञासे अपनेमे यह काम स्वत चल रहा है। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, रागादिकके बिना सदा चिन्मय रहता हू। कभी यह स्थिति भी आती है आत्मामे कि ये रागादिक रच भी नही रहते है, परन्तु चेतन तो प्रकाशमान ही रहता है, और इस वक्त भी रागके बिना चेतन प्रकाशमान है, चेतनमे रागका स्वरूप नही, राग चेतनके स्वरूपसे पृथक है। तो रागके बिना जब चेतनका उठना हो रहा हो, चेतनका होना होता हो तो रागादिक मेरे स्वरूप फिर कहाँ रहे ? इस तरह रागादिक भावोमे और चैतन्यस्वरूपमे भेदज्ञान उठ रहा है। किन्हीको यह शंका हो सकती कि राग और चेतन ये एक साथ ही जीवमे जब बन रहे हैं तो इनके द्वैधीकरणका प्रसग क्या है ? यह भी है। जिस ही आत्मामे चेतन है उस ही मे रागभाव है, एक साथ चल रहे हैं, उठ रहे

है, उनमे तो ऐसी समीपता है, एक क्षेत्रावगाह है। यह द्रव्यका परिणमन है, चेतन भी है, राग भी है, फिर यहाँ भेदकी क्या बात करते हो ? तो सुनो—चेतन और राग याने आत्मा का वह ज्ञान स्वरूप और रागादिक विकारभाव जो आत्मामे चल रहे है यह न समझिये कि एक रूप होनेसे चल रहे है किन्तु ये चेत्यचेतक भावकी समीपतासे चल रहे हैं। राग चेत्य है, चेतनेमे आ रहा, जाननेमे आ रहा, अनुभवमे आ रहा और परिणत हो रहा। ऐसा आत्मा दर्शनमे आ रहा। यहाँ दर्शनके मायने सम्यक्त्व नही किन्तु ज्ञानदर्शन सदा चलता है ना तो ज्ञान परपदार्थका भी चलता है और निजकी पर्याय गुणोका भी चलता है। जैसे यहाँ चलते हुए आत्मामे उस रूपसे आत्माका जो दर्शन होता है उस अशुद्ध रूपमे दर्शनगुणका यह परिणमन चला तो उमे भी उस रागको जाना देखा तो ऐसे चैत्यभावकी प्रत्यासत्तिके कारण ही ये दोनो एक जगह है अर्थात् ये रागादिक चैत्य हो रहे हैं और ये चेतन, ज्ञान ये चेतक बन रहे है। इतनी निकटता है, पर इस निकटताके कारण उन्हे एक न समझ लेना चाहिए।

चेत्यमान रागादिकोंसे आत्माकी चेतकताका समर्थन—ये रागादिक हो रहे हैं, इस से तो और समर्थन यह मिला कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है। यह बात सुनकर कोई आशका कर सकता है कि यह तो कुछ अनचीन्ही सी बात कही जा रही है कि रागादिकके होनेसे आत्माके चेतनेका समर्थन मिले। यह बात कैसे सम्भव है ? तो यो सम्भव है देखिये—कोई पुरुष कमरेसे बाहर है, किसी भी जगह बैठा है और उसकी दृष्टि रात्रिमे उस कमरेकी ओर जाती है, जहाँ कमरेके भीतर एक कोनेमे बिजलीका बल्ब जल रहा था, वह तो उसे नही दिखाई पड रहा था, पर ठीक खिडकीके सामने जो मेज या चौकी वगैरह रखी थी वह प्रकाशित हो रही थी। सो देखिये उसे बिजली तो नही दिखी मगर मेज या चौकी वगैरह को ही देखकर यह ज्ञान कर लिया कि इस कमरेमे प्रकाश हो रहा है, इसी तरह ये रागादिक विकार जब ज्ञानमे आये कि ये रागादिक हो रहे तो ये ज्ञानमे आये हुए रागादिक यह बतला रहे कि यह चेतन है, इसमे रागादिक उठते है, तो क्या रागादिकका प्रकाश अचेतन मे आयेगा ? क्या पुद्गल, धर्म अधर्म आदिक ये रागरूप परिणत होते है ? अरे ये रागादिक ही बता रहे है कि यह चेतन है।

रागादिक भावोंसे परे एवं सूक्ष्म ज्ञानस्वभावकी दृष्टिकी उत्तमता—रागादिकसे ज्ञानकी भिन्नता परखनेके लिये बहुत स्थूल रूपसे भी जानना चाहे तो प्राय लोग इसी तरह तो बताते हैं, लोगोका रागद्वेष देखकर, कषाय देखकर, क्रिया देखकर बताते हैं कि यह जीव है। जीव दिखे कैसे ? अरे यह क्रिया, यह चलना, यह उठना बैठना, ये विचार, ये कषाय ये सब जीवकी सूचना दे रहे है कि जीव है यह। तो रागादिक जो चेतनेमे आये तो चेतनेमे आये

हुए रागादिक तो आत्माकी चेतनताको ही सिद्ध कर रहे हैं कि है कोई चेतक। इस तरह इस रागमें और चैतन्यस्वभावमें एकता नहीं है, फिर अज्ञानी जीवको यहाँ इस प्रत्यासत्ति के कारण आगे बढकर एकताका व्यामोह हो गया। कुछ ऐसा लगता होगा कि यह राग ज्ञानसे कुछ मोटी चीज है, पुद्गल जैसी मोटी बात नहीं कह रहे, किन्तु अन्तर्दृष्टिसे विचार करे तो ऐसा लगता कि ज्ञानका जो शुद्ध काम है जानन प्रकाशमात्र यह तो बहुत सूक्ष्म बात है और राग करना, प्रीति करना यह तो उस ज्ञानसे मोटी सी चीज लग रही है। कुछ यों ही ज्ञानमे, विकल्पमें बात आ रही है कि राग तो ज्ञानसे मोटी चीज है। देखो— जो पतलीसे पतली हो, सूक्ष्मसे सूक्ष्म हो उसको अव्वल नम्बर देना चाहिए। जैसे खेल खेलने वाले बच्चे लोग गोलीका खेल खेलते है तो उस खेलमे गोली खेलनेके लिए पहिले नम्बरमे कौन चले, दूसरे नम्बरमें कौन चले, तीसरे नम्बरमे कौन चले तो वे अपना परीक्षण देते है, यो समझिये कि जो उनका केन्द्रस्थान है, जिसे गुल्ली कहते है, जो जमीनमे खुदा हुआ छोटा सा गड्ढा होता हे उसमे वे अपनी अपनी गोली गिराते है। अब उस गड्ढे मे पहिले जिसकी गोली गिर गयी वह अव्वल नम्बर पाता है। गड्ढेसे कुछ बाहर गोली रह गयी तो वह दुव्वल नम्बर पाता है, उससे कुछ और दूर रह गयी तो वह तिव्वल नम्बर पाता है, उससे भी दूर गोली रह गयी तो वह पुसड्डी नम्बर पाता है, और वे लडके कभी यो भी कहने लगते कि हम तो पानीसे पतले है, हवासे पतले है, आकाशसे पतले हैं आदि। जो बालक सबसे पतली चीज बता देता है उसको मीरा नम्बर (अव्वल-नम्बर) दिया जाता है। तो इसी प्रकार जरा अपना अव्वल नम्बर दीजिए। अपना अव्वल नम्बर क्या है? कोई कहता है कि मैं मनुष्य हूँ, यह तो बडी मोटी बात है। यह तो दिखता है, पकडमे आता है। कोई कहे कि मेरा भाग्य यह मैं हूँ। तो यह उससे पतली चीज हुई। कोई कहे कि मेरा राग भाव, तो वह भी मोटी बात होगी। और कोई कहे— शुद्ध ज्ञान चैतन्यमात्र। तो देखिये—इसके सामने ये सब रागादिक मोटे हो गए। ज्ञानप्रकाश तो देखो - जो अधिकसे अधिक सूक्ष्म दृष्टिका दिखे उसका अव्वल नम्बर हो गया। मोक्षमार्गमे उसकी चाल पहिले होगी, वह आगे बढेगा और वह सत्य विश्रामके स्थानमे पहुंच जायेगा। ऐसा यह ज्ञान जीव चैतन्यस्वरूप यह तो मैं हू। ये रागादिक बन्ध मैं नही हू। ये विकार हैं।

शुद्धात्मानुभूतिलक्षणा प्रज्ञा द्वारा आत्मबन्धका द्वैधीकरण करके आत्मग्रहणके करण की मीमांसाका संकल्प—उक्त प्रकार जिस प्रज्ञाके द्वारा स्वभावका और विभावका भेदन किया, वह प्रज्ञा है क्या? वह है शुद्ध आत्मानुभूति, लक्षण, भेदविज्ञान। भेदविज्ञान भी तब तक नही जगता जब तक जो उपादेय है लक्ष्य है, जिसे ग्रहण करना है वह दृष्टिमे न हो।

शोधना कहो, भेदविज्ञान कहो, दो टुकडे करना कहो, सबका एक ही अर्थ है ? चावलका शोधना उससे न बनेगा जिसको चावलका स्वरूप नही मालूम है । आत्माका शोधना उससे न बनेगा जिसको कि आत्माका स्वरूप मालूम नही है । तो इस भेदविज्ञानके पौरुषमे इस जीवने जो कुछ भी किया है पुरुषार्थ सिद्धि की है उसमे करण क्या हुआ ? यही प्रज्ञास्वरूप आत्मा । अब इसके आगेकी बात देखिये—यह तो कथन कलके ही विषयका स्पष्टीकरणभूत हुआ । आगे चले तो एक जिज्ञासा होती है कि हमने आत्मस्वरूपको और इन रागादिक बन्धनोको अलग कर लिया । तो अलग करनेके बाद हमारा कर्तव्य क्या है ? वह कर्तव्य है कि जिस तरह हमने यहाँ दो भाग कर दिया कि यह मैं आत्मा हू और ये विकार है तो अब उसी तरहसे एक पौरुष यह करना है कि विकारोको छोडें और इस आत्मस्वभावको ग्रहण करे । ऐसे करनेमे भी करण क्या होगा ? देखिये—जीवोका साधनका फिकर रखने का बडा अभ्यास है । मेरी जिन्दगी कैसे निभेगी ? इसी फिकरमे लाखोका वैभव जोडकर रख जाते है । कही खराब दिन न आ जाये तो कैसे गुजारा होगा ? तो जरासे गुजारेके लिए, जो गुजारा पशुपक्षी भी कर लेते है, बताइये वे क्या परिग्रह लादे फिरते हैं ? कुछ नही, पर उनका भी तो गुजारा चलता है, ये मनुष्य तो इन पशु पक्षियोसे अधिक भाग्यशाली ही होगे, लेकिन इन्हे विश्वास नही है । सो अपनी ये इतनी फिकर रखते है कि मैं खूब धनका सचय कर लूं, न जाने कब क्या हाल होगा ? पर आचार्यजन बतलाते है कि हे आत्मन् ! तू यदि अपना कल्याण चाहता है तो आत्मसिद्धिकी चिन्तना कर, इस आत्मस्वभावको ग्रहण कर । तो वह पूछता है कि काहेके द्वारा उस आत्मस्वभावका ग्रहण करे ? साधन तो बताओ, करण तो बताओ । तो आचार्यदेव बतलाते है कि देख तेरा वह साधन, तेरा वह करण तू ही है ।

आत्मकार्यमें आत्माकी साधकतमता—आत्मामे स्वय अपने आपके ही कारण परका आश्रय लिए बिना, पर-उपाधिके बिना या परके विकल्प किए बिना जो बात स्वय होती है वह है वास्तविक कार्य और उस कार्यमे साधकतम यह स्वय आत्मा है अर्थात् यह कार्य स्वयके आलम्बनसे स्वय प्रकट होता है, इस प्रकारकी शक्ति इस आत्मामे है । आत्माके इस सहज कार्यको उत्पन्न करनेमे भिन्न साधनके खोजनेकी जरूरत नही, क्योकि इससे भिन्न साधन ही नही होता है । तो यो ही अपने आपके कार्यमे स्वय यह साधकतम है, इस प्रकार की शक्ति आत्मामे है, इसीको कहते है करणशक्ति । आत्माका शुद्ध कार्य, उसकी व्याख्यामे इसका सम्बध । शुद्धका अर्थ आप अविकार भाव भी न लगाओ याने विकाररहित ऐसा भी अर्थ न करे किन्तु शुद्धका अर्थ जब करने बैठेगे तो अविकार अर्थ निकलेगा । शुद्धका अर्थ है केवल । केवल आत्मासे ही, अर्थात् जहाँ किसी परका किसी भी प्रकार लगाव न रखा

गया हो, ऐसा आत्माका ही केवल काम हो उसे कहते है आत्माका शुद्ध कार्य। शुद्धका अर्थ है वह ही केवल। जैसे पूछा जाय कि स्थावरोंमे किस गतिके जीव है तो यह उत्तर होगा कि स्थावरोमे शुद्ध तिर्यञ्च है। तो इस शुद्धका अर्थ क्या ? क्या अविकार तिर्यञ्च अर्थ है सिद्ध भगवान जैसे अविकार तिर्यञ्च ? नही। उसका अर्थ है कि स्थावरोमे तिर्यञ्चके सिवाय और कोई नही है। यह हुआ शुद्ध तिर्यञ्च। तो इस दृष्टिसे भी आत्मामे लगाओ, जहाँ किसी दूसरेका सम्बध न हो, ऐसे आत्मासे होने वाला जो कार्य है वह है आत्माका शुद्ध कार्य। अब यह बात वेगपूर्वक आ ही जाती है कि ऐसा जो कुछ भी कार्य होगा कि जिसमे परका आश्रय नही है, सम्बध नही है, परकी ओर बुद्धि नही है, केवल आत्माका ही आश्रय है, उससे जो भाव उत्पन्न होता है वह है शुद्ध निर्मलभाव। तो ऐसे कार्यकी बात इस प्रकरणमे कही जा रही है कि आत्माके ऐसे आवश्यक कार्यका साधकतम यह आत्मा ही है।

आत्मग्रहणरूप कार्यमें आत्माकी साधकतमता—आत्मकार्यके साधकतमको बतानेके लिए जो प्रारम्भसे अथवा प्रारम्भिक कार्यसे चर्चा चल रही है उसके सिल्सिलेमे आज यह बताया जाता है कि भेदविज्ञान करके अर्थात् प्रज्ञामय अभिन्नात्मक करणसे आत्मा और बन्ध मे दो टुकडे कर दिये, अब उपयोगमे यह समझ पैदा करके करना यह है कि जो हेय है उसे छोडे और जो आदेय है उसे ग्रहण करे। चावल शोधने बैठे—जान लिया यह कि चावल यह है और कुडा यह है तब कर्तव्य क्या है कि कूडेको फेककर अलग करना और केवल चावल अलग करना। अब कोई पुरुष कूडेको अलग न करे या थोडी देरको अलगसा किया और फिर उसीमे वह कूडा गिरा देवे तो उससे प्रयोजनकी सिद्धि क्या होगी ? इसी प्रकार जब जान लिया कि यह मै आत्मा हू ज्ञानमात्र और ये रागादिक विकार ये बन्ध है, औपाधिक है, पराश्रयज है, परभाव है, परद्रव्य है, ऐसा जान करके करना क्या है कि उन विकारोको तो छोडना है और आत्मस्वभावको ग्रहण करना है। जिसको छोडना है, जिससे हटना है उससे तो पूरा ही हटना होगा। और पूरा हटनेके लिए उसे पूर्ण रूपसे अनात्मा समझना होगा, तब ही स्वात्मासे मिलन होगा। ये विकारभाव आत्माके अवलम्बनसे प्रकट नही होते। हुए आत्मामे, पर हुए परके अवलम्बनसे प्रकट। उपयोगने परका आश्रय किया तब विकारोका जन्म हुआ, अतएव ये परके सकेत पर नाचने वाले विकार हैं, ये मेरे नही है। ये परका आश्रय करके उत्पन्न हुए है। तो इनमे आत्माश्रयता नही है, पराश्रयता है। और जिसका आश्रय रहता हो, जो जिससे अपना सम्बन्ध जोडे हुए हो उसको तो उस ही तरह फेक देना है। यह तो हो गए हैं, मेरे नही है। तो यो अब दूसरी तीसरी निगाहमे आया कि ये कर्मके है, उपाधिके है, पुद्गलके है, मेरे नही है। अब हेयसे एकदम मुडना है। अब तीसरी चौथी निगाहमे यह बतलाया जा रहा है कि जब ये विकार कर्मके है तो जो

ई, ये तो परद्रव्य हे । इन्हे धीरेसे हटाओ । उस द्रव्यकर्म और हटावके आधार पकड करके उन्हे इतना गिराया गया है कि वे परद्रव्य हो गये, इस तरह गिरानेकी आवश्यकता हुई है । क्या है ? जिन्होने मुझे अनन्त-का तक गिराया उनको यदि मै इस समय इतना तेज गिरा दूं तो इसमे कोई मेरा कसूर न माना जाना चाहिए । तो ये परभाव है, पर है, परद्रव्य हैं, उनको तो छोडना है, हेय करना है, और आत्माको ग्रहण करना है । यहाँ यह जिज्ञासा हुई कि ऐसा कार्य करनेमे साधकतम कौन है ? उसका उत्तर दे रहे है कि इस आत्माके ग्रहण करने रूप कार्य मे भी साधकतम यही स्व है आत्मा । जिस तरहसे इसके विभागरूप कार्यमे यह स्वभाव है, यह बन्ध है, ये अलग किए, जुदे परखे, इस कार्यका साधकतम प्रज्ञामय यह आत्मा है, इसी प्रकार जब भेद करके हेय किया बन्धको और आत्माको ग्रहण किया तो इस ग्रहणरूप कार्य मे भी साधकतम आत्मा है । ग्रहण भी किया गया इसी प्रज्ञाके द्वारा सो यह प्रज्ञा भी आत्माकी ही तो बात है । तो अपने ही द्वारा उसे ग्रहण किया गया और एक बात और विशेष यह समझ लीजिए कि आत्माका ग्रहण करना आत्माके आश्रयसे होगा । किसपर दृष्टि दें तो आत्माका ग्रहण हो ? इसका उत्तर तो बताओ क्या बाहरकी भीतोपर दृष्टि दें आत्माका ग्रहण हो जायगा ? आत्माके ज्ञानकी बात कह रहे हैं यहाँ । जो शुद्ध ज्ञानमात्र महज स्वरूप आत्मा है उसका ग्रहण कैसे होगा ? इस ही स्वरूपका आश्रय लिया जायगा तब आत्माका ग्रहण होगा । आत्माके ग्रहणमे निर्मल पर्यायोका होना स्वाभाविक बात है । तो ऐसा आत्माका ग्रहण भी इस प्रज्ञाके ही द्वारा होता है । यह प्रज्ञा क्या है ? एक नियत सहज स्वत शुद्ध जो अतस्तत्त्व है उसका आलम्बन करने वाली जो परिणति है उसे कहते है प्रज्ञा, प्रकृष्टरूपसे ज्ञान कर लिया यही है प्रज्ञा । उस प्रज्ञाके द्वारा जैसे पहिले इस आत्मबन्धोका भेद किया था तो यह ही प्रज्ञाके द्वारा ग्रहण किया जायेगा ।

आत्मग्रहणका विधान—आत्माका ग्रहण करना किस तरह हो रहा ? भावग्रहणका रूप तो देखिये—ऐसा ग्रहण नही है जैसे पुस्तक हाथमे ग्रहण किया, यो ही ग्रहण करने वाली बात हो । अरे यह ग्रहण भीतर ही भीतर बिना ग्रहणका ग्रहण हो रहा है । वहाँ ग्रहण क्या किया जाना है ? यही तो बात कही जा रही है, ग्रहण करने वाला है चेतन । चेत गया, चेतने वाला भाव । तो चेतने वाले भावमे, उस अमूर्तभावमे आत्मवस्तु किस कोनेमे आयेगी, कौनसे अगमे आयेगी, किस प्रदेशमे आयेगी ? ऐसी अगर कोई भिन्न अगमे आनेकी बात होती, भिन्न प्रदेशमें ही आत्माके ग्रहणकी बात होती तो लौकिक ग्रहण जैसा ग्रहण कह दें, पर ऐसा नही है । वहाँ तो आत्माके सर्वस्व स्वरूपका अनुभवन चेतन, जानन-देखन है । यही आत्माका ग्रहण है । वहाँ यह अनुभवन कर रहा है । किसरूपमे

अनुभव कर रहा है यह बताया नही जा सकता। किसे ग्रहण कर रहे है यह वचनोके अगोचर है, लेकिन वचनोके अगोचर है तो भी उस भेदको भी समझना है। तो उसमे भेद दृष्टि करके समझनेकी बात चलेगी।

आत्मग्रहणका दिग्दर्शन—मैं जानता हू, अपनेको जानता हू। अपनेका जानना क्या कहलाता ? जहाँ केवल ज्ञानमात्र ज्ञानमे रह रहा हो वह कहलाता है अपनेको जानना, इसमे सारे विकल्प हट गए। अन्य किसी पदार्थका विकल्प नही है। किसीका उपयोग नही दिया जा रहा है, ऐसा जो अपने आपको जानता है, यह तद्विपयक बात है। मैं जानता हू , खुद जानता हू, दूसरा कोई मुझसे मिल करके और मेरे जाननेमे सहयोग दे रहा हो तो निरख लीजिए। कहाँ कोई सहयोग दे सकता है, कहाँ कोई आ सकता है, किधरसे कुछ मिल जायगा ? मैं जान रहा हू स्वय निरपेक्ष केवल। इस कार्यमे कोई श्रम नही हो रहा, किन्तु वह तो वस्तुका स्वभाव है, आत्मपदार्थका यह स्वभाव है कि वह जाने। जान रहा है। मै स्वयं जान रहा हू, स्वयको जान रहा हू। इस जाननेमे आया क्या, जाना क्या जा रहा है ? यह ही एक आत्मतत्त्व। मैं जान रहा हू, स्वयंको जान रहा हू। अपने जाननहारको ही जान रहा हू, जाननहारको जान रहा हू, उस अनुभवमे मैं असंख्यात प्रदेशोको नही जान रहा हू। मैं गुण पर्याय द्रव्य विकल्पको नही जान रहा हू इस तरहके विकल्परूपसे जानन नही चल रहा है, किन्तु जो जाननक्रिया है , जाननहार है उसे ही मैं जान रहा हू। और, इस जाननहारके द्वारा ही जान रहा हू। और, ऐसा जान करके मिला क्या ? ज्ञान। यह ज्ञान दिया किसको ? किसके लिए जाना ? इस जाननका फल क्या ? तो इसका प्रयोजन इसका सम्प्रदान यह भी मैं ही हू, इस ज्ञाताके लिए ही जान रहा हू।

यहाँ तो लोग कुछ जानेगे तो उसका प्रयोजन कुछ लौकिक मिथ्या लाभ वाला बनावेगे, कुछ आय बनेगी यो सोचेगा, पर वहाँ जो जानन हो रहा है उस जाननका प्रयोजन किसलिए हो रहा ? बस जान लिया इसके लिए हो रहा, इसके आगे कोई प्रयोजन नही। यह तो मैं ज्ञाताको ही जानता हू, इस स्वय ज्ञाताके द्वारा ही जान रहा हू। इस स्वय ज्ञाताके लिए ही जान रहा हू। इस ज्ञातामे ही जान रहा हू। इस तरह उसे जो आत्माका ग्रहण हो रहा है, परिचय हो रहा है इस परिच्छेदनमे इस परिज्ञानमे करण कौन है ? वह करण यह मैं आत्मा ही तो हू। आत्माका ग्रहण कुछ और अन्तर्दृष्टिसे परखिये—जाने, जाननहार बने और जाननहारको नजरमे ले ले, लो यह भी एक काम है। जाना और इस जाननहारको दर्शनमे लिया, यह एक दर्शनका काम है। उस सम्बधमे भी क्या कर रहा है यह ? जो कर रहा है उसकी ओरसे कह रहा हू कि यह मै स्वयं इस द्रष्टाको ही देख रहा हू। इस भेदको भी हटा दिया जाय तो वहाँ क्या गुजर रहा है ? जो स्वयं चेत रहा हो,

स्वयके लिए चेतता हो, जानके विकल्पको अतीत वहीका वही पदार्थ, वही तत्त्व, वही उससे चेतनमे आ रहा है। इतना महान पुरुषार्थ जो मोक्षमार्गमे यह मोक्षमार्गी कर रहा है इस पौरुषका भी करण क्या है ? वह करण है यह स्वय आत्मा।

करणशक्तिके वर्णनमें ग्राह्य शिक्षा—यहाँ अपनेको यह सीख लेना है कि अपनी भलाई है अपने शुद्ध कार्यमे। अर्थात् केवल उसके ही द्वारा परके आश्रय विना, जो कुछ हो सकता हो वह मेरे लिए अच्छा है। जैसे कोई लोग अनेक लोग, लौकिक जन कहते हैं ना कि यह भगवानने किया, खुदाने किया, उसकी सुक्रिया हम अदा करते है। तो इस प्रकार आत्मामे आत्माके ही द्वारा केवल आत्मामे ही जो कुछ होता हो, तो उसके लिए सुक्रिया हो, धन्यवाद है, भला है, कल्याणमय है, उस ही का भला है, तो मेरा भला मेरे शुद्ध कार्यमे है। करने योग्य मेरा शुद्ध कार्य है मेरे लिए वह मेरा शुद्ध कार्य है, वह कार्य करना है मुझे ऐसी यदि अपनी तैयारी हो रही हो तो ऐसेमे हमारा एक ही निर्णय है कि वह मेरे इस शुद्ध आत्मद्रव्यके आश्रयसे ही होगा अन्यके आश्रयसे न हागा। शुद्ध आत्मद्रव्य के मायने विकार छोड दे, अन्य उपाधि उपराग इनका ससर्ग तजकर जो अपने आपमे दृष्टगत हो वही इस आत्माका शुद्ध स्वरूप है। इसके आलम्बनसे ही मेरा कार्य होगा, भला होगा, कल्याण होगा। अन्य किसी भी परके आश्रयसे मेरा कल्याण नही है। बाहरी जो आश्रयभूत कारण है घर मकान आदिक अशुभोपयोगके कारण उनसे हटना है ही। किन्तु सूक्ष्म मीमासासे परखें परमात्मदेव, शास्त्र गुरु आदिक शुभभावके आश्रयभूत कारण, इनके आश्रयके समयमे भी वह शुद्धभाव व्यक्त नही होता, किन्तु उसका आश्रय भला है। इसका कारण यह है कि पावन देव, शास्त्र, गुरुके आश्रयसे होने वाले शुभभावकी धारामे चलता हुआ जीव निवृत्त विकल्प होकर शुद्ध भाव परिणत हो सकेगा, उसके लिए कर्तव्य है यह कि भक्ति भी करे, करना ही चाहिए, पर यथार्थ ज्ञानदृष्टिसे ओझल न हो कि वह सम्यक्त्व परिणाम, वह निश्चय सम्यक्चारित्र, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान और सर्व विकास जो आत्माका शुद्ध विकास है वह सबका सब एक आत्मद्रव्यके आश्रयसे ही होता है। आत्मद्रव्यके ऐसे आश्रयमे जहाँ यह भी विकल्प न हो कि आत्मद्रव्यका आश्रय मैं कर रहा हू। आत्मद्रव्यका मुझे आलम्बन लेना है, इस आत्मद्रव्यके आलम्बनसे मुझे शुद्धभाव प्रकट होगा। इस प्रकार भेद भाषामे बँधे हुए आत्मद्रव्यके आलम्बनकी बात नही कह रहे, किन्तु इन शब्दोमे जो लक्ष्यभूत कहा है बात वही कह रहे है, सो इसही विकल्पके बिना जो बचा इस भाषामे उसकी बात कही जा रही है। ऐसे आत्माके आश्रयसे आत्मामे शुद्धभावका परिणमन होता है, उसका साधकतम कौन है ? वह है यही आत्मद्रव्य। इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी निश्चय प्रारम्भिक प्रक्रियासे लेकर मोक्षमार्गमे जितना निर्मल परिणाम होता है और मोक्ष-

मार्गकी साधना पूर्ण होने पर जो परमात्मत्व प्रकट होता है उस परमात्म अवस्थामे जो केवल ज्ञानादिकरूप अनेक परिणमन चल रहे है वे सब परिणमन स्वाश्रयज है, आत्मावलम्बनसे उत्पन्न होते है। इनमे किसी पराश्रयका सम्बन्ध नही है।

निर्मल परिणामकी स्वाधीनताका दर्शन--अब रही निमित्त कारणकी बात। करणशक्तिके कारणकी ही बात खोली जा रही है कि आत्माका विशुद्ध कार्य, केवल आत्माका कार्य किस साधकतमसे होगा? तो उसमे आश्रयभूत कारणकी चर्चाये चली अब निमित्त कारणपर भी दृष्टि दी जाय तो यह शुद्ध कार्य किसी निमित्तके आश्रयसे भी न होगा। यद्यपि यह बात वहाँ है कि ७ प्रकृतियोके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है, लेकिन वह ७ प्रकृतियो का क्षय सद्भावरूप निमित्त नही है, किन्तु अभावरूप निमित्त है। और, चूँकि ऐसा सम्यक्त्व होना तो आत्माके शुद्ध कार्यकी ही बात थी, लेकिन यह कार्य जब न था और उससे विपरीत मिथ्यात्व परिणमन था और वह परिणमन हो रहा था सद्भावरूप उपाधिका निमित्त पाकर, तो अब जब उस विपरीतसे विपरीत बना अर्थात् उस विपरीत मोह परिणामका अभाव बना, उसके लिए यह आवश्यक है कि विपरीतका निमित्तभूत कारण हटे बस वही बात हो रही है क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे। तो वह हटे और हटनेका नाम है क्षय और उसका निमित्त पाकर हुआ है क्षायिक सम्यक्त्व तो इसमे भी अन्तर समझ लेना कि इसमे जो सम्यक्त्वभाव है वह तो है स्वाधीन, परके हेतु बिना, पर इसमे जो क्षायिकता व्यपदेश किया गया है वह है नैमित्तिक। यो क्षायिकतामे उपाधिका ख्याल आता है, यह निमित्तसे हुआ, पर वहा जो बर्त रहा है वह आत्मद्रव्यके आश्रयसे बर्त रहा है। किसी निमित्त या आश्रयभूत बाह्यपदार्थके आश्रयसे नही बर्त रहा है, ऐसे केवल आत्माके अवलबनसे ही जो कार्य होता है उस शुद्ध कार्यमे करण यह आत्मा ही है। इस बातको बहुत सीधी भाषामे यह समझिये कि हमे करना है धर्म, और धर्म है रागद्वेष न रहे, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहे, ऐसा धर्मपरिणमन किसका आश्रय लेनेसे होगा? साक्षात् तत्काल तो वह होगा शुद्ध चिन्मात्र आत्मद्रव्यके आश्रयसे, क्योकि इस आश्रयको छोडकर किसी भी परका आश्रय मान लोगे तो वहा या तो शुभ भाव होगा या अशुभ भाव होगा। परवस्तुका आश्रय लेकर जो भी भाव वह शुभ या अशुभ याने अशुद्ध भाव होगा। आत्माका शुद्ध भाव न होगा। हमे चाहिए शुद्ध भाव। वही है धर्म। तो उसके पानेके लिए हमे इस शुद्धका आश्रय लेना होगा। इस तरह करणशक्तिमे यह बताया है कि आत्माके शुद्ध भावरूप कार्यके लिए साधकतम यह ही आत्मा है।

आत्मामें सम्प्रदान शक्तिके प्रकाशकी भूमिका---आत्माको लक्ष्यमे लेनेके लिए प्रकारके अनुभव करनेका अनुरोध किया गया है कि अपने आपमे यो निरखे कि मै हू। यह ज्ञानस्वरूपकी भावनाकी प्रमुखतासे आत्मा सम्पूर्ण अनुभवमे आयेग

बताते हुए यहाँ यह प्रसग चल रहा है कि वह ज्ञानमात्र आत्मा लक्ष्यमे कैसे आये और वह ज्ञानमात्र आत्मसर्वस्व किस प्रकार है ? इन अनन्त शक्तियोके वर्णनसे उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का बोध कराया जा रहा है। उन शक्तियोमे आज सम्प्रदान शक्तिका वर्णन होगा। सम्प्रदान शक्तिका अर्थ है कि स्वय अपने आपसे देनेमे जो भाव आये अर्थात् स्वयमे जो भाव बने उसकी उपेयता इस आत्माके द्वारा वह उपेय है, भाव आदेय है, अनुभवमे आने योग्य है, इसके लिए ही उसका वह सर्व फल है, ऐसी उपेयतारूप शक्तिको सम्प्रदान शक्ति कहते है। सम्प्रदान कारक बडे विवरणपूर्वक बताया जाता है व्याकरण शास्त्रमे और यहा कारको की ही पद्धतिसे इन कारकोका वर्णन चल रहा है। इन कारकोमें यह बताया जा रहा है कि वस्तुत वही पदार्थ अपने कारको रूप है। करता है तो यही, किसीको करेगा तो वह अपनेको ही अपने ही द्वारा करता है, अपनेमे करता है और इससे अतिरिक्त एक सम्बन्ध की भी बात बतायी जायगी तो वह अपना ही है। तो यहाँ अपने लिए कर्ता है इस बातको स्पष्ट किया जा रहा है। किसी भी कार्यके सम्बधमे यह जिज्ञासा तो होती है कि आखिर यह है किसलिए ? कोईसी भी बात हो, वस्तुके सम्बधमे यह जिज्ञासा बनती है कि होगा क्या इसका ? क्यो है यह ? किसके लिए है, प्रयोजन क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रत्येक कार्यके सम्बधमे होती है। जब प्रकरणमे यह बताया गया कि केवल आत्माका कार्य तो परउपाधि का आश्रय लिए बिना ऐसी अपने आपके ही आलम्बनसे जो बात होती हो वह कार्य जब कर्मशक्तिमे बताया है तो जिज्ञासा होती कि यह कार्य है किसलिए ? उसका उत्तर इस सम्प्रदान शक्तिमे आ जाता है।

सम्प्रदान कारकसे सम्बन्धित दानार्थक, शक्तार्थक, भद्रार्थक व तादर्थ्य नामके चार विभाग—सम्प्रदान कारकके सम्बधमे यहाँ चार विभाग बना लीजिए। सम्प्रदान कारक एक तो दान अर्थमे होता है। कोई चीज यदि दान की तो उसमे जिसके लिये दान की उसके लिये सम्प्रदान कारकका प्रयोग होता है, जैसे वज्रजघके लिए श्रीमतीको दिया, जयकुमारके लिए सुलोचनाको दिया आदिक जो कथन आते है वहाँ वे दानार्थकमे आये है। किसके लिए दिया ? यहा भी यह वस्तु अमुकके लिए दी, तो यह सम्प्रदान हुआ ना, यह हुआ दान अर्थ मे। दूसरा विभाग है तादर्थ्यका, निमित्तका। निमित्तके भावमे भी सम्प्रदान कारक होता है। जैसे यह पतेली साग बनानेके लिए है, यह थाली खानेके लिए है आदिक रूपसे उनके प्रयोजनको जब बताया जाय निमित्तको, किस निमित्तके लिए है, किस प्रयोजनके लिए है, वहा पर भी सम्प्रदान कारकका प्रयोग होता है। एक प्रयोग होता है शक्ति अर्थमे। जैसे यह पुरुष इसके लिए काफी है, यह इसके लिए समर्थ है, जहा शक्तिका सामर्थ्यका, समर्थताका निमित्त बताया जाय तो वहा पर भी सम्प्रदान कारकका उपयोग होता है। चतुर्थी विभक्ति

वहा भी होती है। चौथा विभाग है सम्प्रदान कारकका, भद्र अर्थ, क्षेम अर्थ, इसके लिए कल्याण हो, इसके लिए क्षेम कुशल हो, इसके लिए दीर्घायु हो, यो भद्र, क्षेम, कल्याण, कुशलता आदिकके अर्थमे सम्प्रदानकारकका प्रयोग होता है। इस तरह चार विभागोमे मुख्यतया सम्प्रदान कारकका प्रयोग होता है और भी कुछ थोडेसे है किन्तु वे गौणरूपसे है। तो इन चार विभागोमे से क्रमश विचार करे तो आत्माके कार्यका सम्प्रदान कौन होता है ? इन चारो ही विभागोमे विचार चलेगा जिसमे पहिले दानकी बात ले लीजिए।

दानार्थक सम्प्रदानकी मीमांसा—दानका अर्थ तो सम्प्रदान ही कह रहा है। दान और फिर प्रदान तिसपर भी सम्प्रदान। दानका अर्थ है देना। इस आत्माने क्या दिया ? अन्तरमे विचारिये कि यह आत्मा क्या देता है ? आत्मामे स्वतन्त्रतया अपने आपकी ही सत्तासे उत्पाद व्यय ध्रौव्यके कारण यहाँ पर बात क्या चलती है ? इसमे पराश्रय, उपाधि सम्बन्ध आदिकी बात न लीजिए। सम्बन्ध तो जीव पर एक अन्याय है। और अन्यायमे एक दशा बन रही है, यह उसका कार्य है क्या ? इस तरहके राग करना, क्रोध करना, अरे ये काम मेरे है क्या ? जैसे यहाँ कोई कुलीन पुरुष हो तो लोग समझाते है उसे—अरे तुम तो बडे कुलके आदमी हो, ऐसे छोटे आदमियोके मुँह लगे रहनेका तुम्हारा काम है क्या ? तो यह हुआ एक संगति दोष अथवा कोई औपाधिक दोष। उसे लोकमे कार्य नही कहते, जिसे समझते ही हैं सब। यहाँ भी तो देख, हे चेतन ! तेरे इस चैतन्य कुलका काम है क्या कि किसी भी परपदार्थमे राग अथवा द्वेषकी बुद्धि जगा देना, उसे इष्ट अनिष्ट मान लेना, जब कि वे मुझसे अत्यन्त दूर है। कभी भी किसी भी परजीवका, किसी भी परपदार्थका तुझमे प्रवेश न था, न है, न होगा। अन्तर्दृष्टिसे देख तो विदित होगा कि मैं स्वरूपसे सत् हूँ, पररूपसे असत् हू। इतनी तो भिन्नताकी बात है और फिर भी किसीमे इष्ट बुद्धि करता है, किसीमे अनिष्ट बुद्धि करता है, यह कितनी तेरे पर आपत्ति लगी हुई है। यह कर्मविपाक है, यह परसम्बन्ध है, यह तो तेरे पर अन्याय हो रहा है, तेरी बरबादी हो रही है। यह तेरा काम है क्या ? अपने कुलकी सभाल कर। उस चैतन्य कुलमे क्या हुआ करता है। इस चैतन्य कुलके जो पुरुखा हुए है उन्होने क्या काम किया, जरा उनके चरित्रकी भी तो बात देख। तू तो यहाँ की बातोमे ही अटक रहा है। मैं इस कुलका हू, ब्राह्मण हू, क्षत्रिय हू, आदिकको ही तू अपना कुल समझ रहा है। तू अपने उस शुद्ध कुल को नजरमे तो ले। लोकमे पुत्र किसका नाम है ? सुत और पुत्रमे फर्क है। जो सुत है वह पुत्र नही, जो पुत्र है वह सुत नही। सुत उसे कहते है जो पैदा हुआ हो। और पुत्र उसे कहते हैं जो वंशको पवित्र करे। तो तेरा वंश है क्या ? तेरा वंश है चैतन्यवंश, जिसमे अन्वय रूपसे तू चला आ रहा है, जिसका अन्य किसीसे अन्वय नही बन सकता। ऐसे इस

चैतन्य कुलमे तू आया है तो उसको पवित्र कर, उसको अबाधित बना। यह है तेरी पुत्रता। तू पुत्र बन तो ऐसा बन। तू पैदा भी यहीसे होता, तेरी सारी बाते भी इसही आत्मस्वरूप से बनती। आत्माकी शक्ति स्वय विकारके लिए नही हुआ करती। विकार होते है उपाधि निमित्त पाकर, किन्तु आत्मा स्वय अपने आप अपनी ओरसे क्या कर सकता है, यह शिक्षा धर्मादिक द्रव्योसे ले सकते है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये क्या किया करते है? यह जो उपदेश उनका है वही सभी द्रव्योमे है। वहाँ भी हम क्या करते हैं? हमें क्या करना है, मुझमे क्या बात होना चाहिए? पर सम्बन्ध विना, पर-उपाधि विना केवल अपने आपके एक द्रव्यकी बात कही जा रही है। उसको तो देखो तो ऐसा जो एक अपना कार्य है उस कार्यका सम्प्रदान कौन है? यह ही स्वय आत्मा। उसे दिया किसने? इसी आत्माने।

मेरे सहज स्वाधीन कार्यके सम्प्रदानका निर्णय—देखो विचारो—मेरे निर्मल परिणामको, मेरे सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्रको देने कौन आयगा? किसको इतनी दया है जो देने आ जाय? मतलब यह है कि जिसमे दयाबुद्धि है, कृपाबुद्धि है ऐसे गुरुजन भी तो केवल भाव ही तो करेंगे। और, अपने भावके अनुसार देशनाका यत्न ही करेंगे। और, क्या वे देंगे? अर्थात् अभिन्न होकर वे मेरे सम्यक्त्वरूप परिणाम लेगे क्या? कोई देने न आयगा मेरे शुद्धभावको देगा सम्यक्त्व परिणाम, यही आत्मा। अन्य कोई दूसरा देनेके लिए न आयगा। हम भले ही प्रयत्न करते है हर प्रकारके पौरुष करते हैं, ऐसे शुभभावकी धारामे रहते है कि जिस धारामे रहकर विपरीत मार्गकी बात न बने किन्तु ऐसी अनुकूलता बन जाय कि किसी भी समय विकल्पको छोडकर निर्विकल्प इस स्वकी अनुभूति अथवा प्रतीति दृष्ट हो जाय, ऐसी बात बनती है तो उस भावमे परमेष्ठी आश्रय हैं, देव, शास्त्र, गुरुका आश्रय है। इस भूमिकामे करना यही चाहिए और ऐसा ही करते हुएमे हम अपना मनोरथ सिद्ध कर सकेंगे, लेकिन देखना यहा यह है कि शुद्ध परिणामको देगा कौन? उसका दाता कौन? किसकी ओर हम दृष्टि रखें, किससे हम क्या मागे? किसका हम आश्रय करें कि हमारी दृष्टि मिले, श्रद्धा मिले, निर्मलता जगे। अनादिकालसे अब तक परका मुख ताकते हो गया है, परका आश्रय करते हो गया है, बाह्य-बाह्यमे ही उपयोगका भटकना होता है लेकिन अब तक मिला क्या? अरे जिसमे यह जीव मिला-मिला कहता है वह तो मुफ्त मिला सा है। लोकमे अनेक वैभव पडे हुए हैं। जरा पुण्यका उदय है सो मिल गए हैं पर वहाँ पर भी मिला क्या इस आत्माको? कोई बडा लखपति करोडपति अथवा राजा महाराजा भी हो गया तो वहाँ उसके आत्माको उस सब वैभवसे मिला क्या? अरे जिन बाह्य पदार्थोंमे यह तन्मय होकर अनुभवता कि ये मेरे मित्र, ये मेरे बन्धु, ये मेरे कुटुम्बी जन, यह

मेरा वैभव, अरे इन सब बाह्यपदार्थोंसे इस आत्माको मिलेगा क्या ? हमारा देने वाला यही आत्मा है। यही देता है, यही आत्मा दाता है, एक वह शुद्ध जीवत्वभाव जो सब विशेषोंमें रह रहा है, विशेषोमे रहता हुआ भी वह किसी एक विशेषरूप भी नही है। चल रहा है विशेषमे मगर किसी विशेषमय सदाके लिए बन जाय यह नही हो रहा है। तो सर्व विशेषो मे रहता हुआ, चलता हुआ वह एक पदार्थ क्या है ? उसे सामान्य दृष्टिसे परखेगे तो परि-ित होगा वह शुद्ध जीव, केवल जीव। किसी विशेषरूप नही बन पाया। विशेषरूप बनता हुआ भी वह किसी विशेषमय ही नही हो गया। शाश्वत ऐसा है वह कौन ? ऐसा वह जीव है शुद्ध जीव द्रव्य।

परमपावन भावके अनुपम दाता और अनुपम पात्रकी एकता—यहाँ अविकार, निर्विकारकी बात नही कह रहे, रागादिक दोष रहितकी बात नही कह रहे, किन्तु उस सामान्य जीवको कह रहे है जिस शुद्ध जीवका आश्रय हो, आलम्बन हो तो वहाँ देख लीजिए। कितनी स्थितियाँ बनी ? किसी परका आश्रय न रहा, किसी विषयका ख्याल नही है किसी ओर दृष्टि नही है, ऐसी स्थितिमे जहाँ कि यह उस शुद्ध द्रव्यपर ही दृष्टि हो, उसका ही आश्रय बन रहा हो, जिसकी बनी उसकी बात समझ लीजिए, और जितनी देरको बनी उतनी देरकी बात समझ लीजिए कि शुद्ध द्रव्यके आश्रयके समय इस जीवमे क्या निष्पत्ति होती है, क्या भाव बनेगा ? कोई शुभभाव, निर्मलभाव, विशुद्ध भाव। जितने भी अशमे आलम्बन है उतने ही अशमे उसका फल है। तो ऐसे उस शुद्धभावका दाता कौन हुआ उसका आश्रय करे, उसके मुहकी ओर तके, उसपर दृष्टि लगाये रहे, जिसका आलम्बन करनेपर सहज शुद्ध आनन्द मिले ऐसा वह दाता कौन है ? वह है एक यह विशुद्ध, एक सामान्य जीवत्वभाव। उसका आश्रय करे, वही हमारा दाता है। तब दाता तो बडा अनोखा मिला। वह सदा ही मेरे पास है और सर्वनिधियोका निधान है। जहाँ विमुखताका निधान जहाँ विमुखता होनेका सन्देह ही नही है, मैं इस शुद्ध द्रव्यका आश्रय करूँ और फिर भी मुझे कुछ न मिले, ऐसा नही हो सकता। जैसे यहा लोकव्यवहारमे ऐसा देखा जाता है कि देखो अमुकसे सम्बन्ध बनाया है, पर पता नही मिलेगा या न मिलेगा, यो एक सदेह रहता है, इस तरहका सदेह शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय करते हुएमे नही है। जब सर्व ओरके विकल्प-जालोसे हटकर शुद्ध आत्मद्रव्य उपयोगमे आयगा तो उस शुद्धभावकी जागृति नियमसे होगी। वहा कोई विधानकी बात नही है। जब यहा देखा जा रहा है कि जो पदार्थ जिस विधिसे बन जाता है तो शुद्धभावकी उत्पत्ति होनेकी विधि यही है परका आश्रय छूटे, परका उपयोग हटे, और, रहा अब यह उपयोग तो यह अनाश्रय तो हो न जायगा। जब परका आश्रय न रहा तो यह अनाश्रय तो न हो सकेगा, उसको स्वाश्रय मिल गया। अब उस ... से

यहाँ यह शुद्धभाव प्रकट होगा तो ऐसा। अनोखा दाता अपने ही अन्दर सदा विराजमान है, पर हम ही उसकी ओर दृष्टि नही देते, उसके अभिमुख नही होते। यदि उसके अभिमुख हो जाये तो इसमे सदेह नही, यह नही हो सकता कि वहासे कुछ मिले नही। तो इतना अनोखा दाता है यह चैतन्यस्वभाव, और उसका लेने वाला भी यही है अनोखा पात्र चैतन्यस्वभाव।

अन्यमे आत्मभावके सम्प्रदानकी अशक्यता—इस चैतन्यस्वभावका आश्रय करनेसे जो मिला सो उसको लिया किसने, यह भी तो देखिये। आश्रय किया उस शुद्ध द्रव्यका और आश्रयमे दान भी मिला। वह दान है शुद्धभाव। वह शुद्धभाव लिया किसने ? कुछ दिया तो कोई लेने वाला तो होता है। किसने दिया ? इस आत्माने। किसको दिया ? इसही आत्माको। जो निर्मलभाव प्रकट हुआ है आत्मासे उसको किसी दूसरे ने झेल लिया क्या ? बीचमे से छीन लिया क्या ? जैसे चन्द्रहास शस्त्रकी प्राप्ति की थी शम्भुकुमारने और लक्ष्मणने छीन लिया था उस तरहमे अपना यह भगवान आत्मा जो शुभभाव दे रहा है उन्हे कोई दूसरा भव्य जीव छीन लेगा क्या ? ऐसा नही होता। वह तो पृथक् षट्कारक व्यवस्थाकी बात है उदाहरणमे और, यहा जो शुद्ध स्वके आश्रयसे प्रकट हुआ निर्मलभाव है उसे लेने वाला तो यह ही आत्मा है, दूसरा नही है। और फिर दिया किसने ? लिया किसने, यह भी तो निरखिये—कोई व्यक्तरूपमे वस्तु हो जो अपने क्षेत्रको छोडकर दूसरे क्षेत्रमे रख लिया जाय, लोकमे देना लेना इसीको तो कहते हैं कि भाई कोई पुस्तक दी। पुस्तक मेरी थी इस क्षेत्रमे अब यहा न रही, दूसरी जगह दूसरे क्षेत्रमे पहुच गयी। यो देना लेना हो गया। यह देना लेना लौकिक देना लेना है। व्यावहारिक बात है, यहा पारमार्थिक अलौकिक अनुपम देने लेनेकी बात निरखिये—मोक्षमार्गके प्रकरणमे यह सम्प्रदानकारककी बात कही जा रही है। दिया किसको और लिया भी किसको ? देखिये—देनेकी शक्ति इस ही मे है और लेनेकी शक्ति भी इस ही मे है। कोई दूसरा जीव उसे ले भागे, झपट ले, छीन ले, ऐसा नही हो सकता। मैं ही दाता, मैं ही लेने वाला। ऐसी सम्प्रदान कारक शक्तिकी बात यहा बतायी जा रही है कि हे आत्मन् जो शान्तिका धाम है, आनन्दका स्थान है, सर्वकल्याणमय है, सर्वस्व है, जिससे उत्कृष्ट कुछ हो ही नही सकता, ऐसा उत्कृष्ट दान तेरा यह आत्मा ही करेगा और इसको लेने वाला तू ही होगा, दूसरा कोई न होगा। इस तरह पर्यायको प्रकट करनेकी शक्ति भी मुझमे और उस पर्यायको झेलनेकी, लेनेकी, अनुभवने की शक्ति भी मुझमे है।

एकीभावरूपसे प्रकृष्ट दानमें सम्प्रदानता—यहाँ दानकी बात, प्रदानकी बात, सम्प्रदानकी बात चल रही है। दान कहते हैं साधारण देनेको और प्रदान कहते है प्रकृष्ट वस्तु

का देना, उत्तम चीजका देना, उत्तम दे, उत्तमको दे, उत्तमके लिए दे वह है प्रदान। लोकमे भी जब कोई बहुत बड़ा दान करता है तो कहते है कि अमुकने यह प्रदान किया। प्र शब्द से प्रकर्षताका बोध स्वय हो गया सुनने वालेके हृदयमे और कहने वालेके हृदयमे। तो एक दान हुआ और यह हुआ प्रदान। तो इससे बढकर और क्या प्रदान होगा ? इससे बढकर और प्रकृष्ट तत्त्व क्या होगा कि जो आनन्दका धाम, शान्तिका स्थान ऐसा शुद्ध ज्ञानमात्र रहता है, ज्ञाताद्रष्टा रहता है, ऐसा निर्मल सद्भाव हो वही है प्रकृष्टदान। प्रकृष्ट चीज और यह प्रदान हो सम्प्रदान याने सम् अर्थात् एक रूपसे प्रदान हो, तन्मयतासे प्रदान हो वह है संप्रदान, देने लेनेके प्रसगमे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी बात लोकव्यवहारमें आया करती है। क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरता न हो तो देना क्या और लेना क्या ? जैसे लोग मजाक करते है कि ये सब मकान वैभव आपके ही है, मगर हाथ मत लगाना, कही न ले जाना, क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर न होने देना यह तो कोई लेना देना नही है, यह तो मजाक है। यहाँ आत्मामे लौकिक दान नही है, यहा तो सम्प्रदान है एक रूपसे वहाँ परिणमन है, वहाँ ही आश्रय है, वहा ही अनुभव है। वहा ही देना है, वहा ही लेना है। ऐसा विलक्षण अनुपम जो प्रदान है वह है सम्प्रदान। तो यह जो आत्मकार्य हुआ है, निर्मल भाव है उस निर्मलभावका सम्प्रदान क्या है ? तो उत्तर आता है कि यही आत्मा। जिसने दिया उस ही ने लिया। इस शुद्ध जीवत्वके आश्रयसे वह निर्मल भाव हुआ तो निर्मल भावका अनुगमन करने वाला वही मात्र केवल जीव है, दूसरेके लिए नही है, यह स्वयके लिए है। इसमे वस्तुस्वरूपकी घोषणा बराबर चल रही है। यह मैं आत्मा यही स्वय कर्ता हू, स्वय कर्म हू और स्वयं करण हू। इन तीन शक्तियोकी बात पहले कही जा चुकी है। तो जब मेरे ही द्वारा किया गया यह शुद्ध भाव मेरेको ही किया गया और मैंने ही किया है, इतने बडे भारी सुकर्मका, उत्तम कार्यका सम्प्रदान कौन है ? झेला किसने, लिया किसने, फल किसने पाया ? इस जिज्ञासाके समाधान मे यहां सम्प्रदान शक्तिका वर्णन चल रहा है कि लेने वाला, भोगने वाला, अनुभवने वाला यह मैं एक अद्वैत हू, इस तरह सम्प्रदान शक्तिमे जब प्रयोजन खुद ही मिला, जब अन्य परिणतियोंका प्रयोजन खुद ही मिला, जब अन्य परिणतियोका प्रयोजन हम कभी न सोचें और इस ही अपने प्रयोजनके लिये इस शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय लें।

दानकी विधि आदिकी विशेषतासे विशेषता—सम्प्रदान शक्तिका अर्थ है स्वयके द्वारा दीयमान भावको उपेय बना लेना। स्वयके द्वारा दीयमान अर्थात् स्वयके आश्रयसे पर सम्बंध बिना केवल स्वके आश्रित होकर जो भाव होता है उसे कहते है स्वयदीयमान, ऐसे उस परिणामको उपेय बना सके, ऐसा कौन है ? वह है यह ही आत्मा। ऐसे उस भावको स्वयं ही झेले, ग्रहण करे, अपने ही तन्मय बने, ऐसी शक्तिको कहते है सम्प्रदान शक्ति।

दानके सम्बधमे तत्त्वार्थसूत्रमे बताया है कि विधि, द्रव्य, दाता, पात्र, इनकी विशेषतासे दान विशेषता होती है, यह एक लोकदानके सम्बधकी बात है ।

जैसे साधुजनोको आहार देना अर्थात् उत्तम साधु उत्तम पात्र है, और सप्तगुण सहित श्रावक उत्तम दाता है और, नवधाभक्ति आ जाय वह विधि है और जो द्रव्य दिया जाय, जो देय पदार्थ है वह द्रव्य कहलाता है । तो इनकी विशेषतासे दानकी विशेषता कही है सो चारोकी विशेषता दानकी विशेषतामे क्यो आवश्यक है ? यह भी बात कुछ भी विचारने पर स्पष्ट हो जाती है । विशेषतामे नवधाभक्ति की जाती है । यहा कोई यह सन्देह करे कि लो साधु महाराज इतने अभिमानी हैं कि इतना कोई नम्रतासे कहे तब जाकर भोजन करे। तो उसने सदेहीने इसका मर्म नही समझा । इसके ध्येय दो है—एक तो यह कि साधु वहा से आहार नही लेना चाहता कि जिस दातारकी भीतरसे इच्छा न हो देनेकी, दूसरी बात यह है कि वह यह कैसे समझें कि यह भोजन शुद्ध है । दोनो बातोकी परीक्षा नवधाभक्तिसे हो जाती है । जिनकी रुचि है, साधुमे भक्ति है और बडे आल्हादसे अपनेको धन्य समझते हुए, अपना बडा सौभाग्य मानते हुए, साधुजनोको देखकर पुलकित हो जायें कि धन्य है, ये मोक्षमार्गकी, रत्नत्रयकी मूर्ति आये हैं, कल्याण तो इसी मार्गसे होता है, कल्याणमय प्रभु हैं, ऐसा उनको निरखकर जो एक आल्हाद होता है ऐसे भक्तिमान दाताका ही द्रव्य वे ग्रहण करना चाहते हैं । जिनकी इच्छा नही है, जो कषायावेशमे रहते हैं, जो अयोग्य पुरुष हैं उनके हाथसे आहार नही ग्रहण करते । दूसरी बात—जो इन सब विधियोको भली प्रकार कर रहा है उसे इन सब बातोका भी तो पता है कैसा शुद्ध द्रव्य हो, आहार शुद्ध हो, किस तरहसे विधि है, सर्व शुद्धताका उन्हे परिज्ञान है, यह बात नवधाभक्ति देखकर ही तो मुनिने समझी । मुनि तो एषणासमितिमे मौनपूर्वक रहते है । तो इस नवधाभक्तिकी विशेषतामे दानकी विशेषता है । उत्तम दाता हो, उत्तम पात्र हो, उत्तम द्रव्य हो, उत्तम विधि हो ।

अध्यात्म संप्रदानकी विशेषत—इस आध्यात्मिक सम्प्रदानके सम्बन्धमे तो देखो—लोकमे तो यह बात है दान, विधि, द्रव्य, दाता और पात्र । और इस आध्यात्मिक निर्मल भावके आदान प्रदानमे स्वय ही आदाता है, स्वय ही प्रदाता है, इस सम्बन्धमे वह कैसा अलौकिक दाता है, अलौकिक विधि है, अलौकिक पात्र है और अलौकिक देय है । तब ही इसे प्रदान शब्दसे कहा है—प्रकृष्ट दान, विधि भी प्रविधि है, देय भी प्रदेय है, दाता भी प्रदाता है और पात्र भी प्रपात्र है । यो सभी उत्कृष्ट है, और फिर ये सब बाते कही भिन्न-भिन्न जगह नही है, एकीभावसे ही सब हो रहा है, जिसको सम् उपसर्ग सूचित करता है। सम्का अर्थ है एकीभावरूपसे । जब यहा ही सम्प्रविधि है, यहाँ ही सम्प्रदाता है, यहा ही सम्प्रदेय है और यहा ही सम्प्रपात्र है तब यह है सम्प्रदान । इसकी क्या विधि है ? यह

उपयोग ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय करे जहा किसी विशेषका विकल्प न हो ऐसा एक शुद्ध जीवत्वभाव उसके चिन्तनके सहारे, जहा एक उस आत्मद्रव्यका आश्रय हो, उसकी ओर उपयोगकी एकाग्रता हुई ऐसी विधिमे यह मिलता है सम्प्रदान, दान, प्रदान, सम्प्रदान और इसका देने वाला है यही शुद्ध ज्ञायकस्वभाव, ज्ञायकभाव आत्मा, जहांसे यह निर्मल-भाव प्रकट हुआ है यह है सम्प्रदाता और वह निर्मलभाव जहा क्षोभ नही, जहा परम-पावनता है, जो बडे योगीन्द्रो द्वारा पूज्य है ऐसा परिणाम है सम्प्रदेय और इसका लेने वाला भी यह है और प्रपात्र, सम्प्रदान भी यह यही आत्मद्रव्य है। इस तरह जिसको यह विश्वास है निर्णय है, इस ही ओर जिसका कदम चल रहा हो कि मेरा भला एक इस शुद्ध परिणाममे है और यह परिणाम एक मात्र केवल आत्मद्रव्यके आश्रयसे प्रकट होता है यदि किसी भी भिन्न परवस्तुका आश्रय उपयोग द्वारा करते है, उस ओर लगते है तो उस लगनेकी स्थितिमे कोई आश्रित भाव ही होता है, शुभ भाव हो या अशुभ, किन्तु वह शुद्ध-परिणाम स्वाश्रयसे प्रकट होता है।

सम्प्रदानकी सम्प्रविधि—देखिये यहा ज्ञानी पुरुषकी क्या स्थिति हुई ? इसको सर्व नयोसे सर्वदृष्टियोसे उस वस्तुस्वरूपका अभ्यास किया था। वहा अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले व्यवहारनयसे भी स्वरूपकी शिक्षा पायी और शुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले शुद्धनयसे भी वहा हितके लिए शिक्षा पायी। अब यहां यह ज्ञानी उस अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले, जो केवल अपने विषयमात्रको दिखा देता है ऐसे उस व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ हुआ है। व्यवहारनय मिथ्यानयकी बात नही है किन्तु एक निर्वि-शेष जो सामान्य शुद्ध द्रव्य है उसको न बताकर उस ही के बतानेके लिए भेदपूर्वक पर्याय दिखाते हुए, गुण दिखाते हुए जो वर्णन किया जाता है वह है व्यवहारनय। तो ऐसी अनन्त शक्तियोको, इन गुण पर्यायोको जानकर इसने आत्मद्रव्यकी पहिचान कराई। तो व्यवहार मिथ्या नही हुए। इसे मिथ्या नही कहते, किन्तु अभूतार्थ कहते है। अभूतार्थका अर्थ मिथ्या नही किन्तु स्वयं स्वाश्रय परिपूर्ण रूपसे जो सहज हो उसका नाम है भूत और ऐसा जो अर्थ है, निश्चेय तत्त्व है उसे कहते है भूतार्थ। तो यहाँ गुणभेद करके विशेष करके बात कही गई, वह हुआ व्यवहारनय। इसका महान उपकार है। इसकी ही कृपापर हम उस निश्चयनयके लक्ष्य तक पहुंचे है और इतना ही क्या कहा जाय, जो व्यवहारनयने बताया है, चीज वही निश्चयनयमे है, लेकिन व्यवहारनयकी जो पद्धति है उस पद्धतिमे मे जिसकी ओर सकेत है उसे तो ग्रहण करे और जो विकल्पात्मक पद्धति है, भेदरूप पद्धति है उस विकल्पको, भेदको, विकारको, उसको न परखे, न देखे तो वहाँ यही तो निश्चयनय मिला। इसे छोडकर हम और निश्चनयमे पहुंचे कहाँ ? अर्थात् इतनी कृपा है, फिर भी जो

इसकी पद्धति है इस मे, इस भेदमे उपयुक्त रहे, यहाँ ही अटके रहे तो हम अखण्ड आत्मद्रव्यके आश्रयकी स्थिति, आनन्द निर्मलता नही पा सकते हैं। इस कारणसे ज्ञानी व्यवहारनयसे परे हुआ, विरोध नही किया है, किन्तु मध्यस्थ होता हुआ आलम्बन किसका लिया कि शुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले उस निश्चयनयका बल लिया और उस बलसे मोह दूर हुआ और ऐसी स्थितिमे उसमे यह वृत्ति जगी जैसे वह कोई दूसरा इन शब्दोमे कहता है कि न मैं दूसरोका हू और न मेरे कोई दूसरे है। देखिये—शुद्ध द्रव्य के दर्शनमे जो नजर आया उतनेको ही स्व माना और उससे भिन्न सो यह पर है। इस तरह से भी अपने स्वके ग्रहण करनेके लिए एक दूसरेके स्वस्वामी सम्बधको दूर कर रहा है और बहुत दूरमे, मकान, घर, धन आदिक इन सबके सम्बधको तो धुनित कर ही चुका, ऐसी स्थितिमे उसका यह सचेतन है कि यह शुद्ध ज्ञानमात्र मैं हू। यो अनात्माको छोडता है और आत्माको आत्मारूपसे ही ग्रहण कर रहा है, यह भी ग्रहण किया, उपादान किया, सम्प्रदान किया। उसे ग्रहण किया है तब वह परद्रव्यसे तो व्यावृत्त हो गया। एक उस ही मे आलम्बित हो करके अपने उपयोगमे क्या रहा ? वही शुद्ध आत्मा। तो विधि इसकी ऐसी अपूर्व है जिस विधि द्वारा यह अपने आपके द्वारा दीपमान भावको उपेय वना लेता है, ग्रहण कर लेता है, ऐसी शक्तिका नाम है सम्प्रदान शक्ति।

सम्प्रदान कारकके चार महाविभागोंमें प्रथम दानविभागकी मीमांसामें आत्माकी सम्प्रदानशक्तिका निरीक्षण—सम्प्रदान कारकमे जो चारविभाग बताये गए थे—१–दान, २–तादर्थ्य, ३–शक्तार्थ व ४–भद्रार्थ। इन चार सम्प्रदान कारकके महाविभागोमे यह दान विभागकी चर्चा चल रही है। इस प्रकार इसको याने उपयोगको जो अनुभवता है, वेदता है, चेतता है उसे समझिये कि मैं। मैं आश्रय किसका ले रहा हू ? उस उपयोगका अथवा कहो इस मेरेका जो आधार है, स्रोत है, शरण है उसका यहाँ आश्रय लिया जा रहा है। ऐसा यह मैं स्वय उपयोग भी मैं ही हू और वह शुद्ध द्रव्य भी मैं ही हू। तो ऐसा यह मैं स्वय स्वयका आश्रय करके स्वय भावको ही ग्रहण कर रहा हू, ऐसी यहाँ एक सम्प्रदानकी दृष्टि की जा रही है। वस्तुस्वरूपसे भी निरखा तो प्रत्येक पदार्थमे हो क्या रहा है ? चूंकि वह है, अतएव वह निरन्तर उत्पाद व्यय करता ही रहता है। उत्पाद व्यय करतेमे होता है भाव, भवन, परिणमन। ऐसे परिणमनोका कभी भी व्यय न हो सके, नाश न हो सके ऐसी विशेषता वस्तुमे स्वभावत होती है। तो है और वहाँ हो रहा है। तो हो रहा है तो क्या हो रहा है ? वही वस्तु हो रहा है। किसके द्वारा हो रहा है ? उस ही के द्वारा हो रहा है। और, किसके लिए हो रहा ? उस ही के लिए हो रहा। यह एक सामान्य कथनकी बात कही जा रही है, जिसका फलित अर्थ यह निकला कि पदार्थमे जो उत्पाद व्यय होते

रहते है, परिणमन होते रहते है उनका प्रयोजन यह है कि उनकी सत्ता बनी रहे। अपनी सत्ताके लिए अपना परिणमन चल रहा है प्रत्येक पदार्थमे। तभी तो कहा है कि सत्तासे अनुस्यूत है समस्त पदार्थ और सत्ता कहलाती है उत्पादव्ययध्रौव्यमयी, तो जैसे सभी पदार्थोमे यह बात पायी जा रही है कि उनका सम्प्रदाय उनमे ही है, यहा चेतना होनेके कारण अनेक विशेषताये देखी जा रही है, इसमे सम्वेदन है, सचेतन है, अनुभवन है, व्यवस्था है, आल्हाद है और समस्त जगतको जाननेका इसमे सामर्थ्य है, इसी कारण सर्वद्रव्यो मे सारभूत इस आत्मद्रव्यको कहा गया है।

प्राकरणिक स्वहित प्रेरणा—यहाँ अब यह आवश्यक होता है हम आप सब लोगो को कि चूकि अब तक दु खमे क्लेशके बन्धनमे रहे है, मलिनतामे रहे है तो यह मलिनता, यह शक्ति, यह बन्धन, यह हमारे लिए हितकारी नही है, अहितरूप ही है, अत परमाणु मात्रमे भी राग न हो, श्रद्धाकी बात कही जा रही है जिसके रचमात्र भी किसी एक पदार्थ मे रागके प्रति हितकी श्रद्धा हो उस पुरुषको सम्यग्दृष्टि नही कहा गया है। जैसे कोई सोचे कि मैं अपने घरमे रहता हू। घर बैठे सैकडो रुपये किरायेमे अथवा ब्याजमे आते है। हमको तो किसीसे लडाई झगडा वगैरह भी नहीं करना पडता, हमको किसीसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषाये भी नही करनी पडती, हमको कही बाहरमे किसीसे ममता भी नही है, हमारे घर सब प्रकारके मौजके साधन है। बरबाद तो ये अन्य लोग हो रहे है। हम तो बड़े आराममे है। दुनियामे कही कुछ भी होता रहे हमे उससे क्या मतलब ? हमे तो सिर्फ एक अपनी स्त्रीमे ही राग रह रहा । अरे एक अपनी स्त्रीको ही उसने सर्वस्व समझ लिया, पञ्चेन्द्रियके विषयपोषणकी बात घर बैठे बन रही है तो कैसे कहा जाय कि वहा मलिनता नही है, अथवा आत्महिसा नही है या मिथ्या बात नही है। जिसके रचमात्र भी रागमे हितबुद्धि है, उसे अपना मानता है, उसके कहाँ सम्यक्त्व है ? तो जहाँ बाहरमे कोई उपयोग लगातार हो, दृष्टि बनाता हो, उससे हित माना जा रहा हो वहा तो इसको मिलता क्या है ? उसकी बात यहाँ नही कही जा रही, किन्तु आत्मप्रसिद्धि करना है, इन बरबादियोसे हटना है, सदाके लिए संसारसंकट मिटाना है हमे तो उसका मार्ग तो दूसरा ही है और वह मार्ग बडे साहसपूर्वक करना ही चाहिए। भला एक क्षणभरका साहस और यह श्रेष्ठ काम बन जाय, परमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि ही न रहे, यथार्थज्ञान प्रकाश हो जाय कि मेरा सब कुछ काम मेरेमें ही होना है। दूसरेसे मेरा सम्बन्ध नही है, कोई मुझे निर्मल न बना लेगा, सुखी न बना देगा। कोई मेरा शरण न बन जायेगा। यह वस्तुस्वरूप ही यह बात बता रहा है। हम किसी बन्धु मित्रको गाली नही दे रहे कि मेरा कोई शरण नही, सब अपने-अपने स्वार्थके साथी है। यह कोई गालीकी बात नही। यह वस्तुस्वरूपकी

बात है। कोई कितना ही घनिष्ट मित्र हो और कितना भी अपना आदर आस्था उसके प्रति बनाये हुए हो फिर भी वह अपने मित्रकी कोई परिणति करनेमे समर्थ नही है। कौन किसका भला कर देगा ? तो जब हमे अपने द्वारा ही अपना काम करना है ऐसी स्थिति है, निर्णय है, सही बात है तो ऐसी सावधानी वाले भवमे जहाँ कुछ चेत हो रही है, हम कुछ समझ सकते हैं ऐसी जगह आकर हम अपने इस आत्मकल्याणके कामको न करे तो इससे बढकर मूढता क्या होगी ? अभ्यास करे, अपनी परिणति बनायें परोपेक्षाकी। परसे मेरे को कुछ नही ग्रहण करना है। परसे मेरे आत्मामे कुछ नही आता है अतएव किसी परमे हम क्या इष्ट अनिष्ट बुद्धि करें ? क्या परकी अपेक्षा करे ?

वास्तविक आत्मरक्षाकी प्रमुखतामें ही कल्याण—यहाँ आत्मरक्षाकी बात चल रही है ? एक यह निर्णय बताओ कि दुनियाके इन बाहरी पदार्थोंमे कुछ सुधार करना है या अपने आत्मामे ? आत्मामे सुधार करना है तो बाहरी बातोमे सुधारका आग्रह छोडें। वह तीव्र अभिनिवेश ऐसा ही होना चाहिए जिसके लिए छटपटा जाय, यह परिणाम न रहना चाहिए। मुझे आत्मलाभ करना है, आत्मरक्षा करना है। वह आत्मरक्षा होती है गुप्त विधिसे, गुप्त ही गुप्त। अपने आपमे अपने ही भावको ले लेकर उस ही भावको ग्रहण करना। उस ही भावमे सततिमे यह अपना सुधार कर लेगा। हमारे सुधारकी विधि भी कोई व्यक्त विधि नही है, हम आप पूजा, भक्ति, उपवास, तपश्चरण आदि करते है, और और भी ऊचे ऊँचे धर्म कार्य करते है, ये जो दिखनेमे आ रहे, जो बाह्य कार्य हैं ये बाह्य कार्य हमारे लिए एक सहायक तो है कि इन साधनोमे रहकर यह गुप्त ही गुप्त अपने आपके अन्दर बसे हुए अलौकिक आनन्दको प्राप्त करले, किन्तु धर्मस्वरूप कुछ अन्त ही है तो यहा भी इस व्यक्त कार्यके करते हुएमे भी कोई अव्यक्त गुप्त विधिसे ही हमने धर्म पाया, न कि उस व्यक्तविधिसे। वह स्थिति है जिसमे चलकर हम उस मार्गको पा सकते है। तो अब आप देखिये—इसकी विधि कितनी गुप्त है ? उस दान और ग्रहणकी विधि कितनी अन्तर्निहित है ? उस विधिसे हम आपको कुछ अपनी रक्षाका कार्य कर लेना है और इस जीवनको सफल करना है।

आत्मरक्षाके लिये समताभावको उपेय करनेकी शीघ्रताका कर्तव्य—आत्मरक्षाके लिये कही बाहर नही जाना है। सबमे समताकी बुद्धि रहे। अंत भीतरसे सब जीव मेरे लिए समान है। किसी पर भी मेरे द्वेष मत जगे। किसीको भी बरबाद करनेका मेरेमे भाव मत आये, मेरे लिए सब समान है। किसी परिस्थितिमे हो, और कुछ शान्तिसे प्रतिकूल न होकर अपना प्रतिकार भी बने, उस प्रतिकारके समयमे भी अन्त दूसरे जीवके प्रति द्वेषबुद्धि नही हो। इसके लिए दृष्टान्त देखिये—जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था

अपने महलमे, उस समय श्रीरामके भक्त राजाओने श्रीरामसे कहा कि अब बडा अच्छा मौका मिला है—रावणको बाँधें, मारे, पीटे कुछ भी करे ताकि उसे विद्या सिद्ध न हो सके। तो देखिये युद्ध नीतिमे कुछ भी बात नही विचारी जाती। कर, बल, छल आदिसे कैसे भी शत्रुको परास्त करो, ऐसी राजनीति है। कूटनीतिमे ये सब बाते कूटनीतिज्ञों द्वारा आदेय मानी गई है, लेकिन श्री रामका यह उत्तर था कि यह नही हो सकता। मैं रावणको बाधा नही पहुचा सकता। और अन्त तक भी जब उसके विनाशका काल आने को था उस समय तक भी रावणको समझाया कि ऐ रावण हमको तुमसे कोई विरोध नही है, तुम भी एक चैतन्यस्वरूप जीव हो, मैं भी एक जीव हूँ। केवल इतनी बात है कि मेरी सीता मुझे दे दो, फिर तुम सुखपूर्वक राज्य करो। अब देखिये—प्रतिकार तो बहुत बडा किया जा रहा है, युद्ध भी हो रहा है, अनेक लोगोंका हनन भी हो रहा है वे युद्धके समयमे ध्यान न लगाने बैठते होगे, कही बारह भावनाओका चिन्तवन करने न बैठते होगे, इतना सब होते हुए भी श्री रामके हृदयमे जो सम्यक्त्वका प्रकाश चल रहा था उसमे रच भी अन्तर न था। इसे कहते है—किसी जीवके प्रति द्वेष बुद्धि मूलसे नही है। तो यही बात हम आपको इस भवके सुखके लिए भी करना है और परलोक सुधारके लिए भी करना है। हम ऊपरी ऊपरी धार्मिक क्रियाओको करके ऐसा संतोष करके बैठ जाये कि बस हमने तो धर्म पाल लिया, करने योग्य कार्य तो कर लिया, पर अपने अन्तरङ्गमे बैठी हुई इन चाण्डाल कषायोपर दृष्टि न दे, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोको ढीला न करे तो उन बाह्य क्रियाओसे लाभ क्या पाया ? अरे इन कषायोको तो उस तरहसे ध्वस्त करना है जैसे एक जुलाहा रुई धुनता है। वह रुईका एक एक कण तब तक धुनता रहता है जब तक वह पूर्णरूपेण धुन न जाय। ठीक ऐसे ही इन कषायोको तब तक धुनते रहे, मिटाते रहे जब तक कि ये पूर्ण रूपेण समाप्त न हो जाये। यही काम हम आप लोगोके करनेका है।

स्वयं दीपमानभावोपेयता—आत्माकी उपलब्धि तो सभी जीवोके सदा रहा करती है। कौन जीव किसकी उपलब्धि कर रहा है यह उसकी योग्यताकी बात है, उन उपाधियो मे जो सहज पराश्रयके बिना केवल स्वद्रव्यके आश्रयमे होती है उस उपलब्धिकी सम्प्रदेयता का प्रसग यहा चल रहा है। मैं ज्ञानमात्र हू इस चितनमे इस चितकके वह समस्त अखण्ड आत्मद्रव्य आया हुआ है। उस ज्ञानमात्रके अनुभव द्वारा वह अखण्ड द्रव्य अनुभवमे आता है, ऐसे अनुभवके समय जो स्वयं दीपमान भाव है उसकी उपेयता इस आत्मामे है और उसको उपेय करनेकी शक्तिको सम्प्रदान शक्ति कहते है। उसके अतिरिक्त जितने भी अन्य भाव है, उस चिद्भाव, चैतन्यशक्ति, चिन्मात्रके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे औपा-

धिक भाव है और वे पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुए है, अतएव उन्हे सिद्धान्त-शास्त्रोमे, अध्यात्मग्रन्थोमे पौद्गलिक कहा गया है। उन औपाधिक भावोको सम्प्रदानमे यहा नही कहा जा रहा है। किन्तु उसे जो उपेय करता है उसका ससारमे परिभ्रमण होता है। उसे उपेय रूप न देकर जो अपने स्वाश्रित शुद्ध भावको उपेय करता है वह कर्मबन्धसे मुक्त होता है। तभी ज्ञानीका विस्ताररूप यह चिन्तन चलता है कि मुझमे जो कुछ अब तक हुआ परमार्थत वह मैंने नही किया और न मैने कराया और न मैने कोई करते हुएको अनुमोदा, इस तरहका वहाँ भाव है, यह बात कही जा रही है एक उस शुद्ध आत्मद्रव्यको स्व मानने की स्थितिकी बात। उसमे यह तत्त्व बसा है कि मैंने स्वय अपने आश्रयसे यह कार्य किया हो ऐसी बात नही हुई है। किन्तु वहाँ परका आश्रय था, कर्म निमित्त था और उस स्थिति मे ये सारी बातें हुई है। मै तो सहज एक चैतन्यशक्तिमात्र हूँ।

अतिरिक्त भावोंकी मिथ्यारूपता—जिस समय यह ज्ञानी प्रतिक्रमण करता है वहाँ भावना जगती है कि जो मैंने किया, कराया, अनुमोदा वह मिथ्या हो। वह मिथ्या किस प्रकार हो? जो हो गया वह न की तरह बन जायगा क्या कि नही था, ऐसा कौन मान ले? वह तो हुआ था। तो मिथ्या कैसे हुआ? कह दिया ऐसा, तो मिथ्या हो जायगा क्या? नही हो सकता। अत इस आशयमे यह बात प्रतीतिमे पडी हुई है, उस चैतन्यका भान है कि जिसकी दृष्टिमे यह जच रहा है कि वह मिथ्या ही था। हुआ क्या? वह तो था ही मिथ्या। जैसे कहते है कि मिथ्या होओ। अरे होओ क्या? मिथ्या था, मिथ्या है और मिथ्या रहेगा। अरे मेरे ज्ञानमे वह मिथ्या जच जाय कि वह मेरा स्वरूप नही है। मैं एक चित्शक्तिमात्र हू और स्वय अपने आपमे इसका एक सामान्य प्रतिभास रहे, ज्ञाता दृष्टा रहे यह है सम्यक् बात। हो क्या रहा है? यह बात होनेकी जगह है कि हो क्या रहा है? ज्ञानीकी दृष्टिमे ये मिथ्या जच रहे है, ये मेरे स्वरूप नही है, ये औपाधिक भाव है, इन्हे मैंने नही किया, मैं न करूँगा इस प्रकारका जो ज्ञानीके अन्तर्भाव है जिसमे औपाधिक भावोको मिथ्या समझा वह किस बल पर है? वह इसी बलपर है जिसका कि यह सम्प्रेद-यताका प्रसग चल रहा है। आत्माका सम्प्रेदय वास्तविक है क्या? उसके समक्ष ये सब मिथ्या हैं। जो मिथ्या था वह मेरी दृष्टिमे मिथ्या समझमे आ जाय, यही तो है ये सब मिथ्या होओ। यह है अत प्रसगकी बात। चरणानुयोगमे व्यवहारकी प्रक्रियामे तपश्चरण द्वारा उन्हे समाप्त करनेका पौरुष किया जाता है। पापका सस्कार न रहे, बुद्धिमे यह आ जाय कि हाँ गुरुने जो प्रायश्चित दिया है वह मेरेको प्रमाण है, ऐसा मान करके, प्रायश्चित करके अपनेको नि शल्य बनाता है और शल्यसस्कारसे छूट कर इस ही शुद्धद्रव्यमे उपयोगकी प्रगति करनेको उद्यत हो जाता है। उसका सम्प्रदेय क्या है और जिसके भानमे आ गया

उसको फिर यह जचता है कि जो कुछ यह विकल्प विकार परिणमन है ये सब मिथ्या है अर्थात् हमारे स्वरूपमे नही हैं। आत्मद्रव्यके आश्रयसे मिलता क्या है? ये मिथ्या बाते अथवा किसी स्वरूपका ही भाव मिलता है। तो इस जीवकी यह भावना रहती है कि इन समस्त कर्मोके जो फल है उनका मेरा त्याग रहे, उन्हे सम्प्रदेय नही बनाता हूँ। मेरा सम्प्रदेय तो स्वाश्रयज निर्मल शुद्ध परिणाम है, वे मेरे उपेय है।

विकारविहारसे निवृत्त होकर चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्वके उपासककी भावना--जो विकार है वे स्वभाव नही, ये कर्मफल मेरे लिए उपेय नही हैं। समस्त कर्मफलोका जब इस की बुद्धिमे त्याग हो जाता है तो इन सब कर्मोमे उसका विहार खतम हो जाता है। विहार का अर्थ है जहाँ उपयोग चले। कितना यह जीव विहार कर जाता है और फिर यह कितनी स्थिरताके साथ अपने आराम गृहमे अवस्थित हो जाता है? जब यह जीव विहार की दौड लगाता है तो यह तो जहाँ जहाँ राग है, मोह है वहाँ वहाँ विहार कर जाता है। यह बुद्धिपूर्वक विहारकी बात कही जा रही है। यो तो प्रभुका विहार अलोकाकाशमे भी चल रहा है, पर बुद्धिपूर्वक बात चल रही है। जो जीव चलकर इष्ट अनिष्टकी बुद्धि करे, इस उपयोगको भ्रमाते रहे उनका बाहरमे विहार होता रहता है। पर बाह्य पदार्थोसे (घर धन दौलत, स्त्री पुत्रादिकका उसका उठता क्या है? वहाँसे तो साफ उत्तर मिल जाता है। रागी जीव उन परपदार्थोमे राग करता है, पर उस रागके फलमे उसे हर जगह कमी ही कमी नजर आती है, कभी तृप्त नही हो पाता। बाह्य पदार्थोमे राग करके जब सन्तोष नही मिल सकता तो कमी तो हमेशा यह अनुभव करेगा ही और वहाँसे कुछ मिला नही, वह सदा उसके साथ रह सकेगा नही। अपने आपका योग जैसा है रहा, न रहा, तो फिर यह वहाँसे हटा, अथवा उसमे कुछ प्रतिकूलता जंची तो हटा या किसी जीवने कषायवश होकर इसकी ही तो पुष्टि करेगा यह। इसे जचा नही तो हटा जिसकी शरण गया वहाँसे इसे हटना पडा, फिर भी इतनी सुध इस जीवको नही आयी कि जब सब बाह्य पदार्थ मुझे अशरण हो रहे है, ठुकराते है तो मैं क्यो उनकी शरण जाऊँ? मैं तो अपनी ही शरणमे रहूँ। नही मिलती है शरण फिर भी यह बाह्यपदार्थोकी ओर ही शरण पानेके लिए दौड लगाता है। जो सम्प्रदेय नही है उसे सम्प्रदेय बनानेका यत्न करना एकीभावरूप से उस विकारको, उस बाह्य वस्तुको अपने रूप बनानेका यत्न करना, बस यही तो जगतमे दुख है। इस ज्ञानी पुरुषने कर्मफलकी असारताका निर्णय करके अपने लिए सोचा है वह यह सोचा कि सारी अन्य क्रियाओमे विहार मत हो। मुझे इन कर्मोका फल न चाहिए। अब मैं उसके विहारसे हटकर एक चैतन्यलक्षणवाले आत्मतत्त्वको ही भजता हू और इस प्रकार आत्मतत्त्वको भजता हुआ मेरा जो काल चल रहा है, परिणति चल रही है यह

मेरी अचल बन जाय, अनन्त काल तक यही रहे।

स्वभावकी अनुरूपता पाने वाले भावकी सम्प्रदेयता व आदेयता—जब ज्ञानमात्र अनुभव करके स्वानुभव जगता है तो स्वानुभवकी स्थितिमे जो आनन्द प्रकट होता है उसके बाद अर्थात् जब विकल्प अवस्था आती है तो उस विकल्प अवस्थामे उसी आनन्दके लिए ही लालसा जगती है और कोशिश की जाती है कि फिर मेरी वही निर्विकल्प स्थिति बने। फिर वही एक सामान्य प्रतिभास मेरा आये ऐसी स्थिति बनाते है लेकिन न बन सके तब भी उसकी स्मृति ही इस जीवके आनन्दके लिए काफी हो जाती है, स्वानुभवकी जैसी स्थिति का अनुभव किया, वह अनुभव, वह उपलब्धि न भी अब हो लेकिन उसका स्मरण आनन्द का करने वाला बनता है। तो उस चैतन्य लक्ष्यके भजनेके समय जो मेरी स्थिति हुई, परिणति हुई वही मेरी अनन्तकाल तक रहे ऐसी मेरी वाञ्छा है। तो यहाँ सम्प्रदेय हुआ यही इस आत्माका शुद्ध भाव और इसके देने वाला हुआ यही आत्मा और उसको लिया, ग्रहण किया, अनुभव किया तो उसके करने वाला भी यही आत्मा है। इस प्रकार अभेद सम्प्रदान कारकमे जो अपना प्रयोजन बन रहा है, हित बन रहा है उस हितका जो अधिकारी है ऐसा भव्य पुरुष, ऐसा आत्मा, ऐसा प्रभु यह वदनीय है। भव्य जीव सिद्ध शुद्ध स्वरूपका ध्यान करके उस स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इसका वस्तुत भाव तो यह है कि उस समय मे भी इस जीवने अपने आपमे ही अपने उस भावको एक करके कुछ लाभ पाया, लेकिन वहाँ शुद्ध स्वरूप पर जब दृष्टि है तो शुद्ध स्वरूपकी एकता होती है स्वभावसे। जैसे रागादिक विकारोकी एकताका भेद क्या स्वभावसे हो जाता है? सभी की समझमे यह बात है कि रागादिक विकारोका अभेद, एकत्व स्वभावके साथ नही है, किन्तु स्वाभाविक परिणमन का एकत्व, अभेद उसमे मिल जाय ऐसी अनुरूपता स्वभावके साथ है, यही तो कारण है कि जब सिद्ध भगवतका शुद्ध स्वरूप ध्यानमे आता है तो वह शुद्ध स्वरूप जो ध्येय हुआ है वह अलगसे ध्येय न रहकर शुद्ध स्वभावमे अभेदरूपसे बन जाता है और वहाँ उस शुद्ध स्वरूपके चिन्तनमे आत्माके सहज शुद्ध स्वरूपका चिन्तन आ जाता है। तो स्वभाव परिणमनका तो स्वरूपस्वभावके साथ अभेद बनता है पर विकारका स्वभावके साथ अभेद नही बनता। तब फिर सम्प्रदेय विकार कैसे होगा? सम्प्रदेय है वही जो मेरे स्वभावमे अभेदपने को प्राप्त हो। ऐसे उस सम्प्रदेय भावको उपेय बनाया है इस भव्य जीवने और ऐसा उपेय बननेकी जो शक्ति है उसे कहते हैं सम्प्रदानशक्ति।

अखण्ड आत्मद्रव्यके आश्रयसे सर्व गुणोंका विकास—देखिये जहाँ अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय करनेसे जो शुद्ध भाव हुआ है, भेद दृष्टिसे देखे जानेपर निरखिये वहाँ श्रद्धागुणका सम्यक्त्व परिणमन हुआ है, चारित्रगुणका आत्मामे अवस्थितिरूप परिणमन हुआ।

इन सबके कार्य वहाँ चल रहे है। आनन्दगुणका कार्य एक सहज आनन्द बन रहा है, एक अखण्ड ज्ञानमात्र आत्मद्रव्यका आश्रय लेनेसे, उसको उपयोगमे लेनेसे यहाँ सर्व गुणोमे शुद्धता चल रही है। यहाँ यह भी बात जानना है कि उन सर्व गुणोमे शुद्ध कार्य चल तो रहा है, लेकिन किसी गुणका ही लक्ष्य करके उस एक गुणका ही आलम्बन किया जाय तो वहाँ शुद्ध कार्यमे बाधा आ जायगी। हुआ है सर्व गुणोमे वह शुद्ध कार्य, किन्तु विधि है अखण्ड आत्मद्रव्यके आलम्बन करनेकी। एक गुण, पर्यायरूप, भेदरूप, विशेषरूपसे कुछ भी उपयोगमे लिया जाय तो वहा तो विकल्पकी विश्रान्तिका अवसर नही है, होगा अवसर मगर उस कालमे तो विकल्पकी विश्रान्ति नही है और इस स्थितिमे जो एक सम्प्रदेयकी बात कही जा रही है वह बात वहा नही बन रही है। तो खण्ड आत्मद्रव्यके आश्रयमे यह निर्मलभाव यह निर्मलता जगी तो कितनेमे जगी, ऐसी स्थिति होती है स्वरूपाचरणकी स्थितिमे तो वहाँ जो सम्प्रदान मिला जो आत्मासे भाव प्रकट हुआ है वह भाव किसके लिए प्रकट हुआ है? स्वयके लिए प्रकट हुआ है। स्वयने ही उसका तत्काल विशुद्ध आनन्दरूप फल पाया है इस कारणसे दानार्थक सम्प्रदान कारणमे सम्प्रदान यह ही आत्मा हुआ।

परमार्थतः अन्य पदार्थका आत्माके लिये लेनदेनका अभाव—एक इस आत्मभाव के अतिरिक्त अन्य चीजोपर जब देने लेनेका कोई ध्यान करे तो विचार करने पर यह विदित होगा कि बाह्यपदार्थोका लेन देन इस आत्मामे नही है। यह ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा इसमे आत्माका भाव ही तो समा सकेगा, अन्य पदार्थका भाव, गुण, पर्याय इसमे न समा सकेगा। जब कभी कोई जीव किसी बाह्य वस्तुको देने या लेनेके प्रसंगमे जो भाव बनाता है वह भाव ही आत्मामे समा पाया है वस्तु नही। वस्तु तो वस्तुकी जगह है, और वस्तु का सम्प्रदान उस वस्तुमे ही है। वस्तुका होना जहा है उस होनेका फल कौन पायगा? वही वस्तु। दूसरा नही। निश्चयत सम्प्रदान स्वयंका स्वय ही हुआ करता है। लोग कहते है कि मैंने अमुक चीज दी, इसके लिए दी, यह व्यवहार है। वस्तुत देने वाले ने जो भी परिणाम किया वह उसने दिया और अपने लिए दिया। लेने देनेका भी जो परिणाम ग्रहण किया उसका देने वाला वही और उसका लेने वाला वही। मोक्षमार्गमे विहार करने वाले साधु सतजनोको देखकर श्रावकके चित्तमे बडी भक्ति उमडती है, क्योकि इस श्रावक को भी उस रत्नत्रयकी प्राप्तिकी अभिलाषा है। उस श्रावकको इतनी प्रसन्नता होती है साधुको देखकर जितनी कि अपने घरके लोगोको देखकर नही होती। साधु आये है और उनको भक्तिपूर्वक दान किया है तो चैतन्यभावकी उस श्रावकको सुध है तो सम्यक्त्वके सहित जो दान किया है उसमे भी उसे रत्नत्रयका लाभ चल रहा है भीतरमे। और, भीतरमे कोई पुरुष उस चैतन्यस्वरूपका भान तो रखता ही न हो, केवल एक बाहरी बात

कि भाई दान देनेसे या दु खियोका दु ख दूर करनेसे आत्माका हित होता है, आगे सुख मिलेगा तो उसमे मदकषायके भावसे जो शुभ भावसे पुण्यका बध हुआ पुण्यका फल मिल गया, स्वर्गोमे पैदा हो जाय या मनुष्य हो जाय तो वहाँ भोगोपभोगके साधन मिल जायेंगे। अभी उसने ससार बन्धन काटनेकी युक्ति नही पाया। ससार संकट मिटें ऐसी युक्ति है तो एक इसही शुद्ध आत्मद्रव्यके आश्रयमे है। जगतमे भले ही विशेषका आदर है लेकिन अध्यात्मप्रेमियोको और उस स्वानुभूतिके लक्ष्य वाले पुरुषोको तो सामान्यका आदर है। सामान्य प्रतिभास हो, परपदार्थ उपयोगमे मत आवो। तो विशेष तत्त्व मेरेमे मत बने। मैं उस मुझ तत्त्वको ही निरखूं, ऐसा ही यत्न चलता है तो वहा उस अखण्ड आत्मद्रव्यके आश्रय जो भार हुआ वह है सम्प्रदेय और उसको ग्रहण किया इसही ने। यो स्वय दीप-मान भावकी उपेयतामयी शक्तिको सम्प्रदानशक्ति कहते हैं।

तादर्थ्यरूपमें भी आत्मकार्यके लिये आत्माकी सम्प्रदानता—सम्प्रदान कारकमे पहिले चार विभाग बताये गए थे कि इसे दानार्थकमे सम्प्रदान देखिये, तादर्थ्यमें शक्तार्थमे और क्षेमार्थमे भी देखिये। अब जरा तादर्थ्यकी बात देखो—तादर्थ्यका अर्थ है जिसके प्रयो जनसे यह बात हो रही हो। तादर्थ्यमे लेना है धातुकी क्रियाको। जिस क्रियाके लिए, जिस भवनके लिए निमित्त हो वस्तु, उसके लिए चतुर्थी विभक्ति लगती है। जैसे यह लोटा लाया हू पीनेके लिए, यह पतेली आयी है राधनेके लिए। जैसे यहा भिन्न-भिन्न पदार्थोमे तादर्थ्य का व्यवहार करते है तो किसी करण अर्थमे, धातुकी क्रिया अर्थमे ही करते हैं। अब यह देखिये कि यहा जो भाव हुआ है वह किसलिए हुआ है आत्माने जाना, यह जान रहा है आत्मा, यह ज्ञानी पुरुष, भव्य पुरष, यह उत्कृष्ट समाधिमे लीन पुरष। जान रहा है, किस-लिए जान रहा है ? जाननेके लिए जान रहा है। इसमे आगे और कोई उसका प्रयोजन नही है। प्रयोजनकी बात यहाँ तादर्थ्यमे देखी जा रही है। जान करके मुझे क्या करना है ? यहा मोही जन जानते है तो इसलिए जानते है कि मुझे इस विषयका लाभ होगा, इस मे अमुकका लाभ होगा, पर वह न शुद्ध जानना है, न शुद्ध जीव है, न वह ज्ञानप्रकाश पाये हुए है। जो ज्ञानप्रकाश पाये हुए है उस जीवका जो जानन हो रहा है उसकी ओरसे पूछियेगा कि यह जानन किस लिए किया जा रहा है। वह जानन जाननेके लिए हो रहा है, जहा इतना भी विकल्प नही कि मैं ऐसा जानना शान्तिके लिए कर रहा हू। इतना भी भेद नही, इतनी भी बात नही। मैं यह जानना ससारसे मुक्त होनेके लिए कर रहा हू। यह भी भेद नही। यह जानना मै मुक्तिके लिए कर रहा हू क्या ? नही। वस जान रहे हैं। किसलिए जानते हैं ? बस जाननेके लिए जानते हैं। वहा परमार्थदृष्टिसे निरखिये—तो उस जाननका प्रयोजन क्या है ? ऐसे ही भिन्न-भिन्न सभी गुणोंके उस शुद्ध कार्यमे

प्रयोजन निरखिये, क्या है उसका प्रयोजन ? तो उसके प्रयोजनमे गुणका कार्यमात्र है, उस स्वरूप हुआ है, उस होनेके लिए यह हो रहा है। जहाँ विकल्प हो, अभिप्राय हो उस परकी ओर अपनी वाञ्छा रख रहा हो, व्यामोही जीव हो वह सोचेगा प्रयोजन और कुछ। कर तो रहा हूँ मैं अपनेमे ही कुछ और प्रयोजन सोचा जा रहा है अन्य कुछ। यह इसका समन्वय किसी प्रज्ञामार्गमें तो नही बन सकता है। उसका जो कुछ सम्प्रदान हो रहा है, सम्प्रदेय हो रहा है, जो था उसकी बात चल रही है, उसका प्रयोजन अन्य वस्तु नही, अन्य भाव नही, उसका प्रयोजन मैं हूँ, जानना हो रहा है जाननेके लिए, न कि श्रद्धाके लिए, अन्य गुणोके लिए भी नही, भेददृष्टिमे देखे तो एक गुणका सम्प्रदेय अन्य गुण भी नही होता। यहाँ भेददृष्टिमे कह रहे हैं—वस्तुत भेददृष्टिका कोई वस्तुमे अवसर नही। समझनेके लिए ही कहा जा रहा है। तादर्थ्य रूपसे भी विचार करे तो आत्माका तादर्थ्य यही है, प्रयोजन यही है। इस ही प्रयोजनके लिए सब हो रहा है। जरा पुद्गलमे भी तो देखो—ये पदार्थ बन रहे हैं, परिणाम रहे है, तो किसके लिए ? अपने लिए। उनकी सत्ता बनी रहे इतने मात्रके लिए। मिट्टीसे घडा बनता तो घडेकी ओरसे देखो—दूसरोको पानी पिलानेके लिए नही बना, किन्तु अपनी सत्ता बनाये रहनेके लिए बना। पर्याय न बने तो सत्त्व कैसे रहेगा ? यो ही समझिये कि सभी वस्तुओका प्रयोजन भी वह स्वय ही है, फिर आत्माका प्रयोजन तो यह स्वयं आत्मा है। तो तादर्थ्य रूपमे भी आत्माका सम्प्रदान आत्मा ही है।

व्याकरणशास्त्रमे शक्तार्थक घटनामे भी सम्प्रदान कारकका प्रयोग होता है। जैसे देवदत्त यज्ञदत्तके लिये शक्त है इत्यादि। तो इस अध्यात्मप्रसंगमे भी देखिये आत्मा किस भावका सम्प्रदान करनेके लिये शक्त है और किस भावके झेलनेके लिये, ग्रहण करनेके लिये शक्त है ? आत्मा सद्भूत पदार्थ है। अत अनवरत इसमे परिणाम होते ही रहेगे। आत्मा उन परिणामोके व्यक्त करनेके लिये शक्त है। अब यहाँ यह निरखिये कि मात्र आत्मा स्वय स्वाधीनतया परका आश्रय किये बिना परउपाधिके सम्बन्ध बिना किस परिणामरूप परिणमनेके लिये समर्थ है ? इसका समाधान एक द्रव्यको विषय करने वाले शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि करने पर सुगमतया विदित हो जाता है। आत्मा स्वाश्रयज शुद्ध भावके लिये समर्थ है और ऐसे शुद्ध भावको अभेदरूपसे उपेय करनेमे यही आत्मा समर्थ है। आत्मा किसी परपदार्थकी परिणति करनेके लिये शक्तिमान नही है। उस परकी परिणतिको करनेमे वही पर शक्तिमान है। परमे मैं कुछ करता हू, कर दूंगा, करता था आदि विकल्प अज्ञानावस्थामे उठा करते है। कहीं अज्ञानी परपदार्थोंकी कोई परिणति नही कर देता है। अज्ञानीका तो वहाँ विकल्परूप परिणमन हो रहा है। वह विकल्प विकार पराश्रयमे कर्म-

विपाकका निमित्त पाकर हो रहा है, वह स्वायत्तरूपसे पराश्रय बिना नही हुआ है, सो आत्म उस विकारके करनेके लिये भी शक्तिमान नही है । आत्मा शुद्ध स्वायत्त सहज भावके लिये ही शक्तिमान है । यदि ऐसा न मानकर यह कहा जाय कि आत्मा विकारके लिये शक्तिमान है तो विकार स्वभाव हो जायगा तब फिर विकार अनिवार्य हो जावेगा । हा, अशुद्ध पर्याय की योग्यतामे योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव निमित्त हेतु मिल जानेपर विकार होता है और वह विकार आत्माकी उस समयकी एक पर्याय है, फिर भी विकारका स्वभाव आत्मामे नही है, अत विकारके लिये आत्मा शक्तिमान नही है । इस प्रकार आत्मा अपने विशुद्ध ज्ञाताद्रष्टारूप परिणमनेके लिये शक्तिमान है और उसी परिणमनको उपेय करनेके लिये शक्तिमान है । यो शक्तार्थताकी दृष्टिसे भी यही आत्मा सम्प्रदाता और यही उपादाता है, ऐसी आत्मामे अभ्यर्हित सम्प्रदान शक्ति है ।

सम्प्रदान कारकके विभागमे चौथा विभाग बताया गया है क्षेमार्थक । आत्मा किसके लिये क्षेमरूप है, कल्याणरूप है, चिरजीव है, आनन्दस्वरूप है, हितरूप है ? आत्माके शील स्वभाव, स्वरूपका परिचय होनेपर सुगमतया यह परम रहस्य विदित हो जाता है । आत्मा आत्माके लिये क्षेमरूप है, भद्र है । आत्मा सहजज्ञानानन्दस्वरूप है, उसका प्रतिक्षण भवन, कार्य, विशुद्ध परिणमन स्वयके क्षेमके लिये है । यह निर्मल शुद्धभाव ही कल्याणरूप है, मगलमय है । इस परमात्मतत्त्वके लिये मगल हो । आत्मा पापको गलाकर सुखको उत्पन्न करे ऐसी वृत्ति इस स्वय आत्माके लिये होती है । यह आत्मा ऐसे मगलमय, कल्याणरूप शुद्ध निर्मल स्वकीय भावसे अनवरत परिणमता हुआ चिरकाल तक अनंत काल तक ऐसे पवित्र जीवनसे जीवित रहे ऐसी इस आत्मामे सम्प्रदानशक्ति है । यह आत्मा आत्माके लिये ऐसा चिरजीवित रहता है । आत्मा आनन्दस्वरूप है । आत्माको आनन्द इसी स्वरूपसे प्राप्त होता है । जो बात जहाँ हो वहीसे प्राप्त हो सकती है । किसी भी परपदार्थके आश्रय से आनन्द कभी प्राप्त हो ही नही सकता । इस अखण्ड स्वद्रव्यके आश्रयसे ही आनन्द प्राप्त होता है और वह इसी आत्माकी समृद्धिके लिये है । आत्माके लिये ही आत्मा आनन्द रूप है । यही आत्माका परमहित है । आत्मा आत्माके लिये परमहितरूप है । इस प्रकार क्षेमार्थक दृष्टिसे भी यही आत्मा आत्माके लिये सर्वतोभद्र है और स्वय हीयमानभावकी उपेयताकी शक्तिवाला है । यो आत्माका सम्प्रदान आत्मा ही है । आत्मा सहजज्ञानभावका स्वय कर्ता है, सहज ज्ञानभावमय कर्मरूप यह स्वय आत्मा है । सहज ज्ञानभावका करण साधकतम यही आत्मा है । और स्वयके द्वारा स्वयके साधनसे अभेदनिष्पन्न कर्ममय यह स्वय आत्मा है । उसी आत्माके सम्बन्धमे यहाँ बताया जा रहा है कि यह जो सहजकर्म हो रहा है यह किसके लिये हो रहा है, किसके क्षेमके लिये हो रहा है ? यह आत्मसर्वस्व

नही बन पाता है, क्योकि वहा आश्रय अखण्डका नही लिया गया है। सदशका लिया गया है। तो समस्त गुणोका शुद्ध विकास होता है अखण्ड आत्मद्रव्यके आश्रयसे।

सम्प्रदानत्वशक्तिके वर्णनके उपसंहारमें षष्ठ, सप्तम अष्टम व शिक्षाप्रद परिचय— छठी बात यह समझना चाहिए—आत्माका बाहरमे किसी पदार्थसे लेनदेन नही है, जैसे कि लोग बाहरी लेनदेनमे बडे व्यासक्त होते हैं तो वे दु खी होते है। तत्त्व तो वहाँ यह है कि परमाणुमात्रका भी मेरेमे लेनदेन नही है। परमाणु परिपूर्ण सत् है, वह अपनेमे लेनदेन करेगा। मैं स्वय स्वतत्र सत् हू। मैं अपनेमे लेनदेन करता हू। मैं देता हू तो अपने उस जानन देखन परिणमनको और लेता हूँ तो इस ही जानन देखन परिणमनको। बाहरमे किसी भी बातसे हमारा लेनदेन नही है। ७ वी बात यह समझिये कि परपदार्थका लेनदेन नही है यह बात तो कुछ सुगमतया भी समभमे आ सकती है लेकिन उसके तो विकारका भी लेनदेन नही है। मैं स्वय सहज सत् क्या हू, उस अखण्ड सत्पर दृष्टि दूं तब निरखूं कि क्या आत्मासे विकार निकला करते है ? क्या ये विकार करनेका स्वभाव रखते है ? हो जाते है किसी घटनामे और परिणमा यह है। इतनेपर भी विकारको देनेका इस आत्मामे स्वभाव नही है। सामर्थ्य तो उसे कहा जाय कि दूसरेका आश्रय किए बिना स्वय समर्थता रख रहा हो, सामर्थ्य तो उसका नाम है, इसे कहते हैं विशुद्ध सामर्थ्य। इसमे ऐसी विशुद्ध सामर्थ्य नही है। तो उन विकारोको मैं अपने स्वभावसे देता नही और मैं लेता भी नही हूँ। ८ वी बात यह समझिये कर्तव्यरूपमे कि हम अनेक लेनदेन कर ही रहे हैं और धर्म प्रसगमे भी बाहरी वस्तुका लेनदेन चलता है, आहार देना, शास्त्र देना, और भी अनेक प्रयोग्य वस्तु देना और ऐसा देना कर्तव्य भी बताया गया है। दान है, कर्तव्य है, लेकिन जिसके चैतन्य स्वभावका भान हुआ नही है, उसका लेन देन थोडा मदकषाय होनेके कारण, उसके प्रसगमे लेनदेनकी बात होनेके कारण पुण्यबन्ध होगा, उसे देवगति मिले, भोगभूमि मिले, और भी साधन मिले, लेकिन ससार नही कटता है। और जिसे चैतन्यस्वभावका भान है ऐसा पुरुष श्रावक रत्नत्रयकी मूर्ति साधु सतोको आहारदान, शास्त्रदान आदिक करता है और करते हुएमे प्रतीतिमे यह ही पडा है कि मैं यह अपनेमे ही अपना लेनदेन कर रहा हू। बाहरी लेनदेनको मै करनेका भीतरमे स्वभाव नही रख रहा हूँ और फिर भी ऐसे ही उन साधुजनोके प्रति भी वह चिन्तन कर रहा है कि ये भी अपनेमे अपना विशुद्ध लेनदेन कर रहे हैं। ऐसे उन रत्नत्रयकी मूर्तिको निरख करके इस स्वभाव समताके कारण ऐसा आल्हाद होता है कि उस समय इस कार्यमे प्रवृत्त होता है किन्तु शुद्ध प्रतीतिसे विमुख कही नही होता। इन सब बातोको समझकर हमको यह शिक्षा लेना है कि जब हम एक स्वतत्रतया निरपेक्षरूपसे सत्त्वके कारण मैं आत्मवस्तु हू, इस ही कल्पनाके कारण मैं अपने

शुद्ध भावरूप परिणमनका सामर्थ्य रखता हू । हमारा आनन्द और हित उसीमे है जैसा कि पुराण पुरुषोने किया है, इस चैतन्य कुलके पुराण पुरुषोने किया है । वही उपाय करके मै भी उस ही परमात्मत्व पदको ग्रहण कर सकता हू । यहाँ आत्माको ज्ञानमात्र अनुभव करके प्रेरणा की है संतोने कि अपने आपका अनुभव करे कि मै ज्ञानमात्र हूँ ।

अपादानत्वशक्तिका वर्णन—ज्ञानमात्र अनुभव करनेमे वह समग्र आत्मा अनुभवमे आता है । वह समग्र आत्मा क्या है, उसके वर्णनमे यहाँ शक्तियोका वर्णन चल रहा है । जिनमे सम्प्रदानशक्तिका वर्णन हुआ, अब अपादानशक्तिका लक्षण कर रहे है । अपादान-शक्तिका स्वरूप यह है कि उत्पादव्ययसे आलिगित जो भाव है उसका अपाय होनेपर भी जो अविनाशी है ऐसी ध्रुव स्वभावरूपसे रहनेकी शक्ति होना सो अपादानशक्ति है । इसका स्पष्ट अर्थ है कि आत्मामे उत्पादव्यय चलता रहता है । उन भावोका उत्पाद नाश होता रहता है । जो पर्याय हुई वह पर्याय दूसरे क्षण न रही और इस तरहसे उत्पादव्यय होते रहते है, उन भावोका पर्यायोका विनाश होनेपर भी यह मूल वस्तु जिसकी शक्ति निरखी जा रही है यह अविनाशी है और ध्रुव है । ऐसी ध्रुवताकी शक्तिका नाम है अपादान-शक्ति । अपाय होनेपर भी जो ध्रुव हो उसे अपादान कहते है । जैसे वृक्षसे पत्ता गिरा तो पत्ताका अभाव हुआ । वहाँसे गिरा, निकला, लेकिन वृक्ष वही ध्रुव बना हुआ है । दृष्टान्तमें जितना समझनेके लिए कहा जा रहा उतना समझना है । देखो ना—वृक्ष तो वही का वही ज्योका त्यो खडा है और पत्ता यहाँसे आधा फर्लाङ्ग दूर उड गया । तो पत्तेका अपाय हुआ इतनेपर भी जो ध्रुव हो उसे अपादान कहते है । तो यहाँ वृक्ष अपादान हुआ । ध्रुव [illegible] दान हुआ । इस लक्षणके अनुसार यहाँ देखिये—आत्मद्रव्यसे पर्याये बनती है, [illegible] होता है । निकली, नष्ट हुई, हुई, नष्ट हुई, परिणति हुई, दूसरे क्षण विलीन [illegible] होते रहनेपर भी जो ध्रुव है कहासे पर्याय बनी, वह ध्रुव तत्त्व क्या है ? [illegible] द्रव्य । उस ध्रुवकी ध्रुवता बनी रहे ऐसी शक्तिका नाम है अपादानशक्ति ।

आत्मामें अपादानत्वशक्तिका प्रकाश—अब यहा अपने आपके [illegible] कीजिए—मेरा अपादान कौन है ? मेरा ध्रुव कौन है ? देखिये—[illegible] वृक्ष था । अब अपाय हो गया, चला गया, विलीन हो गया, यह [illegible] हो गयी पत्ते वाली बात, लेकिन उसके लिए शरण क्या थी, [illegible] रहता हुआ वह हरा भरा हो रहा था ? अपनी जवानीमे [illegible] कौन शरण था उस पत्तेके लिए ? वह वृक्ष शरण था । [illegible] आयगा । उसके लिए शरण हो गया । तो यहा पत्ता [illegible] दूसरा आया, परतु है तो पत्तेकी ही बात और दे[illegible]

कौन है ? एक यही वृक्ष । तो पत्तेका अपाय होता हुआ भी आखिर पत्तेके लिए शरण वह वृक्ष ही तो रहा । अब इस पर्यायका अपाय होता रहता है । अपाय होता रहने पर भी आखिर यह किसी न किसी पर्यायरूप तो रहेगा । तो हर वर्तमानमे पर्याय आयेगी । भावी अनेक क्षणोमे पर्याय आयेगी । उन पर्यायोकी सतति तो न मिटेगी और अनुभवन, शृङ्गार, सुहावना आदिक सब कुछ बातें तो इस पर्यायके वल पर ही होती रहती हैं, मगर निष्पर्याय द्रव्य हो तो वहाँ क्या बात सोची जा सकती है ? वृक्षमे पत्ते न हो, केवल ठूठ हो तो वहाँ क्या बात नजर आयेगी ? कुछ भी तो बात न बनेगी । यो ही समझिये कि पर्याय न हो, निष्पर्याय हो तो यह आत्मा सत् रहा ही क्या ? क्या चीज हुई है ? यह तो पर्यायोरूप रहेगा ही । रहेगा प्रति पर्यायमे एक पर्यायरूपमे, तब फिर अनुभवन भी उसीके बलसे है । शृङ्गार शोभा बडप्पन महत्त्व यह आत्मप्रभु है, बडा शक्तिमान है, यह सब परखा कैसे ? पर्यायोके बलसे ही तो परखा । प्रभुका ऐसा ज्ञान है कि तीनो लोक अलोकको जानता है, ऐसा अनन्त आनन्द है कि जिसकी उपमाके लिए कोई पदार्थ ही नही मिल सकता है । यह सब वात तो पर्यायसे ही समझा है । तो उनमे ऐसी पर्याय रूप रहना कि जिन पर्यायो रूप रहनेमे आनन्दका अनुभव है, अनाकुलता है, ऐसी पर्यायोके लिए शरण कौन है ? यह ही आत्मद्रव्य ।

अपना आश्रय ध्रुव तत्त्व—यह आत्मद्रव्य ध्रुव है, उसके लिए ध्रुव मेरा आत्मद्रव्य है । मेरेको आश्रय उसका लेना चाहिए जो ध्रुव हो । यहाँ मेरेसे मतलब है आत्माका मगर पर्यायमुखेन आत्माका ग्रहण किया है । मेरेको याने इस उपयोगको आश्रय किसका लेना चाहिए ? जो ध्रुव हो, क्योकि अध्रुवका आश्रय लेनेमे हानि है । अध्रुवका आश्रय लिया वह मिट गया तो एक तो कमजोरी मेरेमे थी कि मैं किसी जगह स्थिर नही रह पा रहा हूँ और अब ले लिया अस्थिरका आश्रय तो दोनो ओरसे इस अस्थिरतारूप त्रुटिको बल मिल गया । जिसका आश्रय लिया, जब वही खतम हो गया, वियुक्त हो गया, तो अब यह उपयोग फिर कहाँका आश्रय ढूँढेगा ? लो अस्थिरता इसकी ही बढ गई । कमसे कम एक ओर तो विश्वास रहे । स्वयं अस्थिर है और अस्थिरका आश्रय करें तो दोनो तरहसे हम फिसल गए । कमसे कम एक आधार तो ध्रुव रहे, उसकी ओरसे तो धोखा न रहे । हम अस्थिर रहते हैं, ठीक है, हम अपनेको स्थिर करेंगे, अगर ऐसा होनेके लिए जिसका हम आश्रय लें वह तो ध्रुव हो एक ओरसे तो विश्वास हो कि हमे वहाँसे धोखा न मिलेगा । कोई चीज पानी पर गिरी और उस जगह यदि कोई काठ वगैरह मजबूत चीज तिर रही है तो वह चीज उस पर टिक जायगी और यदि पानीमे कोई पत्ता ही तैर रहा है तब तो उस पर डाली जाने वाली चीज डूब जायेगी । तो कमसे कम हमे इतना तो विवेक करना

चाहिए कि हम अपने उपयोगको उसके आश्रय करे जो पदार्थ ध्रुव हो । तो देख लीजिए—मेरे लिए ध्रुव क्या है ? मेरे लिए ध्रुव मेरा वह शुद्ध आत्मद्रव्य है, जो वह शाश्वत रहेगा और मेरे निकट रहेगा ।

मेरे लिये ध्रुव मेरा शुद्ध आत्मद्रव्य—यदि हम चेतन पर शाश्वतोका आश्रय करे, जो भी जीव है वे भी अपनेमे ध्रुव है, उनका कुछ आधार लें तो मेरे लिए तो वह ध्रुव नही है, उनके लिए ध्रुव है । तब उनका आश्रय लेनेसे हमारा काम न बनेगा । मेरा हित मेरे शुद्ध ध्रुव आत्माका आश्रय करनेमे ही है । यह मेरा आत्मा ध्रुव क्यो है ? प्रथम बात तो यह है कि यह अहेतुक है । यदि किसी हेतुके बलपर किसी अन्य पदार्थकी कृपासे या किसी निमित्तसे या किसी भी बाह्यवस्तुसे मेरी सत्ता बनी होती या मेरी सत्ता होती तो मै वहाँ ध्रुवताका सदेह करता । जो पराश्रयज है उसका तो मिटनेका स्वभाव है । मै तो अहेतुक हू अतएव अनादि अनन्त हू, स्वत सिद्ध हू । तब यह मैं आत्मा यह ही तो मैं अपने लिए ध्रुव रहा । तो यह है मेरी शुद्धता । यहा पर्यायकी बात नही कही जा रही है, किन्तु यह मैं स्वय अपने सहज सत्त्वके कारण जो कुछ हू क्या वह मिट सकता हू ? और, जो कुछ मेरा सहजस्वरूप होगा क्या वह विपरीत हो सकेगा ? स्वरूपमे स्वभावमे तो वही बात रहेगी, ऐसा पर-सम्बध, पर-आश्रय इन सबके बिना जो अपने आपमे सहज स्वरूप निरखा गया है उसे कह रहे शुद्ध आत्मद्रव्य । वह है ध्रुव । उसका आश्रय करनेसे हमारा हित परिणमन होता है । वह शुद्ध क्यो है ? जिस ध्रुव शुद्धका हम आधार ले रहे है वह शुद्ध क्यो है ? शुद्ध है, शुद्ध शुद्ध है, स्वभावकी बात चल रही है । शुद्ध तो यो है कि समस्त परद्रव्योसे विभक्त है इस कारण वह शुद्ध है और शुद्ध शुद्ध यो है कि वहाँ पर भी जो पराश्रयज औपाधिक निमित्तनैमित्तिक भाव हो सकता है, होता है, वह उसके स्वरूपमे नही है । वह सब मेरे स्वभावमे नही है । तो जब हम उसके स्वभावमे दृष्टि करके निरखते है तो परपदार्थसे भी शुद्ध है अर्थात् दूर है, और विकारसे भी दूर है अर्थात् विकार स्वभाव वाला है । परिणमन क्या हो रहा है ? उसकी बात उसकी जगह है और वह भी सयुक्तिक बात है, लेकिन हम इस समय अपनी प्रज्ञाको ऐसे वेगके साथ उस शुद्ध तत्त्वपर ले जाना चाह रहे है कि बीचमे यह किसीमे भी न अटके और ज्ञान कर ले ।

ज्ञानकी अप्रतिहत शक्ति—ज्ञानकी तो ऐसी सामर्थ्य है कि जिसका ज्ञान करना चाहे सीधा तुरन्त उसीका ज्ञान कर ले । बीचमे कोई अटक नही रहती । यही बैठे हुएमे यदि पार्श्वनाथकी टोकका ध्यान आ गया तो यह भीत जो सामने खड़ी है उसने भी ध्यानको अटकाया नही । और सारा जंगल, सारा पहाड कुछ भी ज्ञानको रोडा नही अटका पाता । ज्ञान तो सीधा ही उस टोकको जान लेता है । तो ज्ञानमे यह सामर्थ्य है । आत्माका ज्ञान

है उस विधिसे हम जाने तो हम शरीरसे भी न अटककर, कर्मोसे न अटककर विकारोसे न अटककर, इस स्वाश्रयताके वलसे हम अन्त प्रकाशमान अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध आत्म-द्रव्यका परिचय कर सकते है। तो ऐसा वह पदार्थ शुद्ध है और कैसा शुद्ध है कि अपनेमे अपने उस सहजभावको धारण किए हुए है। ज्ञान दर्शनात्मक है, आनन्द स्वरूप है। जो मेरा सहज अनन्त चतुष्टय है, उससे वह नित्य प्रकाशमान है ऐसा यह मेरा आत्मद्रव्य मेरे लिए ध्रुव है।

मेरा महान शरण्य ध्रुव आत्म द्रव्य—कहाँ जाऊँ ? किसकी शरण ढूढूं ? ऐसी आकुलता प्राय मनुष्योके चित्तमे रहती है, किन्तु ससारकी ये स्थितिया ऐसी भयावह हैं, दु खकारी है कि इसको किसी भी स्थितिमे सन्तोष न हो सकेगा कि मै अब तो पूरा जैसा हो चुका हू। अब मेरे करनेको कुछ काम नही रहा। और, अब मै भरपूर हो गया हू। ऐसा सन्तोष उसे न मिल सकेगा। क्योकि ससारकी स्थितिया ऐसी ही प्रकृति रख रही हैं। तो इस स्थितिमे प्रत्येक मनुष्यके मनमे यह भावना जगती है कि मै महानका शरण गहू, जहा मै परिपूर्ण आनन्द स्वरूप रहूँगा। तो अब ढूढे शरण। एक एक वातकी शरण पर विचार करते जाइये, इतनेसे ही स्पष्ट हो जायगा कि घरमे जो वावा नही रहे, पिता नहीं रहे, जिनके जो भी नही रहे है वतलाओ क्या वे शरण हो सके ? इससे भी समझ सकते है, जिन जिनसे प्रीति की, जिन-जिनसे सम्बन्ध रखा, जब वे न रहे तो शरण क्या होगा ? और की बात जाने दो जिस देहका मेरेसे घनिष्ट सम्वन्ध है, बन्धुजनोसे भी अधिक घनिष्ट सम्वन्ध है। देख लीजिए इसही मे तो मै रह रहा हू। ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध वाला यह देह भी जब मेरेको शरण नहीं होता तो और किसकी शरणकी मै खोज करूँ ? बाहरमे कोई मेरे लिए शरण नही है। मेरे लिए शरण मेरेमे ही अनादि अनन्त अहेतुक यह जो चित्स्व-भाव है, मेरा सहजभाव है, जिसका मर्म तब पहिचाना जाता जब कोई इसके लिए तैयार होकर बैठे। तैयारी क्या है कि किसी भी परपदार्थका विकल्प न जगे, किसी परपदार्थको अपने चित्तमे न बसायें, इस प्रकारकी कोई तैयारी करे और किसी क्षण ऐसा हृदय बन जाय, ऐसा भाव बन जाय कि जिसमे किसी परपदार्थका ग्रहण नही-है, ध्यान नहीं है, ख्याल नही है, वह स्वय इस मर्मको जान लेगा कि मेरेमे वह सहज स्वभाव क्या है ? क्या स्वरूप है ? ऐसा वह सहजभाव स्वयं यह मै आत्मद्रव्य मेरे लिए ध्रुव है, मेरे लिए शरण है, उसके ही आलम्बनमे हित है और वह एक ही तो है। एक वैसे भी है, अखण्ड है, एक है, और अपने स्वभावका परिवर्तन भी नही करता है यह। उस ही स्वभावरूप है। अनादिसे अब तक कितने अचेतनोमे यह भ्रमता फिरता चला आया है ? अनन्त भव हो गए। तो अनन्त शरीर मिले, इन सब शरीरोमे टक्कर मारते हुए।

आत्माकी धर्मस्वरूपता व कल्याणमयता—जीवका कल्याण धर्मस्वरूप होनेमे है। जो जीव साक्षात् धर्मस्वरूप होता है वह अपनेमे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिरूप होता है। अब जरा अपने लिए निर्णय करें कि हमे ऐसा परमात्मस्वरूप चाहिए या बाह्यपदार्थविषयक विकल्पविपदा चाहिए। बाह्यपदार्थोंके प्रति किए जाने वाले विकल्पोसे तो इस जीवकी दुर्दशा ही हो रही है। उस दुर्दशासे क्या अभी अघाया नही ? यह दिखने वाला सारा जगत है क्या ? यह लोक ३४३ घनराजू प्रमाण है। एक राजूमे असंख्याते योजन होते है। अब इतने बडे लोकमे यदि आज इतनी सी थोडी सी भूमिमे हम आये और यहाँ कुछ परिचय बनाया तो यह तेरे लिए क्या है ? अरे यहाँसे मरण करके इतने बडे लोकमे कहींसे कही जाकर पैदा हो गये, तब फिर तेरे यहाँका क्या रहा ? अरे तू इस स्थानके इन परिचयोका ममत्व त्याग दे। और, कालकी बात देखो तो इतने बडे अनन्तकालके सामने यह १००-५० वर्षका जीवन काल कुछ गिनती भी रखता है क्या ? कुछ भी तो गिनती नही रखता। तब फिर इतनेसे समयके लिए यदि कुछ विषयोका आराम भोग लिया या कषायोका, अहंकारका प्रयोग कर लिया तो यह तो तेरी हत्या है। तू अपने आपके आत्माको सुरक्षित रखना, विषयकषायोसे परे रखना, एक भूतार्थके विषयभूत शुद्ध आत्मद्रव्यपर दृष्टि अधिकाधिक बनाये रखना यही है तेरा अमूल्य वैभव, उत्कृष्ट वैभव, उत्कृष्ट पद। तू उसमे तृप्त रह। तू तो साक्षात् धर्मस्वरूप है। तू धर्मको कहाँसे बटोरना चाहता है ? अरे शरीरमे धर्म नही है। किसी तीर्थ, मंदिर आदिक स्थानमे धर्म नही है। धर्मस्वरूप तो स्वयं यह भगवान आत्मा है। इसका आश्रय ले, तो वहाँसे अपना धर्म प्रकट होगा। यदि ऐसी अपने आत्माकी सुध है तो तीर्थ मन्दिर आदि भी तेरे इस काममे सहयोगी बन जायेंगे और यदि अपनी ही सुध नही है तो कोई बाहरी पदार्थ तेरे धर्ममे सहयोगी नही बन सकता। साक्षात् धर्मकी बात तो आत्मासे ही प्राप्त होगी।

धर्मेश्वर आत्मतत्त्व—अब देखिये—यह आत्मा कैसा दाता है, कैसा निर्मल पर्यायकी यह खान है कि निकालते जाओ—पर उसमे कभी न्यूनता न आने पायेगी। सिद्ध भगवान निरन्तर ज्ञान, आनन्द, शक्ति आदिकमे परिणमते रहते है, प्रतिसमयकी पर्याय होती है, विलीन हो जाती है होती है, विलीन हो जाती है और ऐसी निर्मल पर्याय होते रहनेका वहाँ तांता बना रहता है, लेकिन वह ध्रुव अपादान वह शुद्ध आत्मद्रव्य क्या कभी कुछ खाली रहा ? अरे यह धर्म कल्पवृक्ष है स्वयं भगवान आत्मा। इस स्वयंके भगवान आत्मापर ही दृष्टि दे, बाहरमे किसीसे तेरा कुछ सम्बन्ध नही है। देख तेरी चतुराई इसमे नही है जो बाहरी पदार्थोंके प्रति सुधार बिगाडकी बात मनमे लिए हुए है।

अरे इन पापोंकी बातोंको तू महत्त्व न दे। ये तेरे लिए कुछ नही है। महत्त्व दे अपने आत्मस्वरूपका। तू तो स्वयं अनन्तकी खानि है, प्रभुसमान है।

अपनी उस प्रभुताकी सम्हाल कर। केवल यही एक काम तेरेको करना है। बीचमे यदि विभाव आते है, विकल्प उठते है तो ये तो तेरे दुश्मन है, तेरी बरबादी करने वाले है। अनन्तकाल इन्ही यातनाओमे रहकर व्यतीत हो गया। ऐ विकल्पो, ऐ विभावो, अब तुम दूर हटो। तुम्हारे लिए मेरे उपयोगमे स्थान नही है, इस तरह साहस प्रयोग करके जो अपने धर्मवृक्ष की छायामे रहता है उसको क्लेश नही रहता, उसको तो शान्ति ही रहती है। तो यह आत्मा स्वय साक्षात् धर्मस्वरूप है और देख तेरा मनोरथ यही है ना, तेरी कामना तो यही है ना कि शान्ति हो, धर्मस्वरूप हो। तो धर्म जहाँसे प्रकट होता है उसका आलम्बन ले यही तेरा सत्यशरण है। जगतमे तेरा अन्य कोई शरण नही है। ये सब कर्मके प्रेरे जन्म मरणके दुःख भोगने वाले ससारके जीव ये स्वय ही पहिले अपनी आफत टाल लें, यह ही उनके लिए बहुत है, तेरा ये करेगे ही क्या ? तू अपने ही शान्त स्वभावको देख। यही तेरा मनोरथ है, यही तेरा कल्पवृक्ष है, यही मेरा धर्म है। लेकिन इन सारे मनोरथोपर यदि किसीने हमला किया है तो वह है बाह्य मोहदृष्टि। सारे निर्णय वहाँ बसे है। बाहरमे मोहदृष्टि करे तो यही तेरा पतन है और अन्तरङ्गमे अपने शुद्ध आत्मद्रव्यकी दृष्टि करे तो वहाँ तेरी रक्षा है। तू वहाँ शान्त रहेगा।

धर्ममनोरथका घातक दृष्टिमोह——इस धर्मकी, मेरे वास्तविक मनोरथकी हनन करने वाली कोई चीज है तो वह है बाह्य मोहदृष्टि। कुशल बने, वस्तुस्वरूपका अभ्यास करे, उसको अपने प्रयोगमे लावे, सर्वसे उपेक्षा करे, अपने आपमे अपना चिन्तन करे तो लाभ पावेगे, आनन्द पावेंगे। मेरा यह आत्मा स्वय धर्मरूप होकर प्रकट होता है। धर्म कही बाहरसे नही आता और न उसके प्रकट करनेकी कोई बाहरी क्रिया है। वह तो अपने आपकी दृष्टिसे, अपने आपमे से ही प्रकट होता है, करके भी देख लो थोडा किसी भी समय सारे ससारको अणु-अणुको, सर्व अन्य जीवोको अपने लिए सारभूत न जानकर वह स्वय है, जो है सो है, भिन्न है, उनसे मेरा कुछ नही, इतना ही समझकर जरा विकल्पोको तोडकर तो देखो— अपने आपमे स्वाश्रय रहकर तो देखो—वहा अपूर्व शान्ति मिलती है। वही शान्ति मिली, उन बडे-बडे चक्रवर्तियोको जिनके छह खण्डका राज्य था, वे तीर्थंकर देव जिनकी सेवामे इन्द्र रहते थे उन्हे यह ही अनोखी विभूति मिली थी, जिससे निर्ग्रन्थदशामे जगलमे रहकर भी परम आनन्दकी प्राप्ति हो रही थी। वह धर्म तेरे पास ही है। उसका घात करने वाला दर्शन मोह है। जरा कुशलता तो ला, वस्तुस्वरूपका अभ्यास तो कर। देख तेरे सारे विघ्न दूर हो जायेगे और यह आत्मा निष्कम्प होकर अवस्थित हो जायगा। बाहरमे दृष्टि देकर झगडे दूर करनेका प्रयास मूर्खोका है और अन्दरमे दृष्टि देकर झगडा दूर करनेका प्रयास विवेकियोका है। हे आत्मन् ! अन्दरमे देख—तेरी सारी विडम्बनाये समाप्त होगी।

ऐसा यह तत्त्वोपलब्धि ऐसा यह ज्ञानप्रकाश यह सदा मगलरूप हो, सदा जीवित रहे, सभी के लिए कल्याणप्रद हो। इस ही दृष्टिके, इस ही विषय भूतार्थके आलम्बनसे अनन्त सिद्धियाँ हुईं और होगी।

उदाहरणपूर्वक अपादानकी स्थायिता व शरण्यताका दिग्दर्शन--अब देख--तेरा अपादान, जो भाव तेरेसे ही प्रकट होता है उसका अपादान तो तू ही है। जैसे वृक्षसे पत्ता गिरता है और उसमे नये पत्ते बनते है तो जो नये पत्ते बनते है तो जो नये पत्ते बने उनका आधार, उनका अपादान वह ध्रुव वृक्ष है। उसमे से वे पत्ते निकले और उन पत्तोके पुष्ट रहनेके लिए वही वृक्ष शरण है। इसी प्रकार मेरा शुद्ध भाव मेरी शक्तिसे प्रकट होता है, वह मेरे आत्मद्रव्यसे ही निकलता है और उनके लिए यह आत्मद्रव्य शरण है, उन निर्मल परिणामोकी सतति जो बनती है उसका शरण कौन है? उनका आधार कौन है? यह ध्रुव अपादान है। यहासे ही आनन्द, ज्ञान, धर्म प्रकट होता है। कोई ऊपरी बाते बहुत बहुत जान लेवे, जैसे भूगोलकी पुस्तकोसे सारी दुनियाके नदी, नाले, पहाड आदि तो जान लेवे, मगर यह न जान पावे कि मेरे ही गावका यह नाला कहासे निकलता है और कहा गिरता है तो किसीके द्वारा पूछे जानेपर वह क्या उत्तर दे देगा? ऐसी ही बात आविष्कारोके सम्बधमे है। कोई बडे-बडे आविष्कार सम्बधी ज्ञान कर लेवे--रेडियो, बेतारका तार, फोन, ग्राम आदिककी जानकारी कर लेवे, पर यह न पता हो कि मेरे अन्दर उठने वाले ये भाव, ये विकल्प, विचार तरग आदि कहांसे उठा करते है अथवा मेरे शुद्ध भाव कहासे प्रकट होते है आदि, तो उसकी उस आविष्कार सम्बन्धी जानकारीसे लाभ क्या? मेरा जो शुद्धभाव है वह मेरी ही ज्ञानशक्तिसे प्रकट होता है, ऐसा वह कल्याणमय भाव उसका अपादान यह मैं हू। जैसे वृक्षसे पत्ते निकलते है तो वृक्ष कही उससे थकता नही है, बल्कि हर ऋतुओमे वह नये नये पत्ते देता रहता है। इसी तरह इस आत्म अपादान मे यह निर्मलभाव प्रकट होता है, एक क्षणमे भाव उठते, फिर मिटते, फिर नये भाव बनते यही दशा चलती रहती है। कही यह नही देखा जाता कि आमके वृक्षसे आज आमका पत्ता निकला और कल इमली, नीम आदिकका निकलने लगे। तो जैसे वृक्ष पत्ते निकालते रहने पर भी थकता नही है वह हर ऋतुमे नये पत्ते देता रहता है इसी प्रकार यह धर्मवृक्ष कभी थकता नही है। प्रतिक्षण निर्मलपरिणाम देता रहता है। यह इस धर्मकल्पवृक्षकी कला है। ऐसी इस शुद्ध सहज सिद्धिके लिए भाव नमस्कार हो। वह सहज शुद्ध क्या है, जो सहज ही शुद्ध है, स्वत सिद्ध है, भूतार्थ रूप है, अपने आपके सत्त्वसे ही जो अपना सहज स्वभाव है उसका आलम्बन ले तो सारी बाधाये समाप्त हो जायेंगी।

मेरा असंदिग्ध शरण्य--यह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने शरण्य ध्रुव अपादानके

आलम्बनसे निरन्तर कल्याणरूप वर्तता है। यह निर्णय करनेका है कि मेरा ध्रुव क्या है हम किसका सहारा ले कि जहाँसे हमको धोखा न मिले ? जो एक रूप रहे वहासे धोखा न मिलेगा। जो रग बदले, अनेक रूप हो वहासे धोखा मिलता है। ये बाहरी पदार्थ कभी किसी रूप परिणमते कभी किसी। कभी पास है कभी दूर हैं, कभी सयोग है कभी वियोग है, यो नाना स्थितियोमे रहते है। इनके आलम्बनमे धोखा है, अशान्ति है, बरबादी है। और, यहाँ परभाव, विकारभाव ये भी नानारूप रख रहे हैं। कितने अनुभाग, कितनी विषमता, ऐसे इन अनेक भावोकी कल्पनामे भी धोखा ही है, ससारपरिभ्रमण है। और तो बात जाने दो, एक उस अखण्ड आत्मद्रव्यमे गुणभेद करके भिन्न-भिन्न शक्तियो को निरखकर या उसकी भिन्न-भिन्न पर्याये चाहे वे निर्विकार शुद्धपरिणत हो, एक भिन्न अश को निरखकर परदृष्टि करें तो वहाँ भी यह स्थिर न रहेगा। वहाँ भी यह धोखा ही खायेगा। तब धोखा कहाँसे न मिलेगा ? यद्यपि वह शुद्ध परिणमन ध्रुव है इस दृष्टिसे कि शुद्ध परिणतिके बाद शुद्ध शुद्ध ही परिणति होती है। कही शुद्धमे यह न होगा कि अब केवलज्ञान है तो कभी मतिज्ञान बन जाय, या अवधिज्ञान बन जाय। वह तो निरन्तर केवलज्ञान ही रहेगा। वहाँ अन्य प्रकारका परिणमन नही, सदृशतासे वह पर्याय नित्य है, ध्रुव है लेकिन प्रति क्षण परिणमती है। और, ऐसे प्रति क्षण परिणतभावके आलम्बनमे भी इसमे कोई अतिशय पैदा न होगा। हा होगा अतिशय, पर उसके माध्यमसे जब हम निर्विकल्प हो और उस भूतार्थके आलम्बनमे आये तब।

मेरा ध्रुव अपादान मेरा शुद्ध आत्मद्रव्य--मेरे लिए ध्रुवतत्त्व क्या है ? वह शुद्ध आत्मद्रव्य। शाश्वत वह शुद्ध कहा होगा ? कही न बता सकेंगे, क्योकि जिस शुद्ध आत्मद्रव्य की चर्चा की जा रही है वह इसी प्रकार व्यक्तरूपमे नही हुआ करता है। उसमे कोई न कोई विशेष निरन्तर ही रहेगा। विशेषरहित वस्तु नही होती। हम उस शुद्ध आत्मद्रव्यको कहा बताये कि लो यह रखा है या यह जीव सिद्ध है, वह शुद्ध आत्मद्रव्य है या यह ससारी जीव है, यह शुद्ध आत्मद्रव्य है। यह कैसे बताया जावे ? हम उस शुद्ध आत्मद्रव्य को किसी भी पर्यायमे नही बता सकते कि यह है वह शुद्ध आत्मद्रव्य। वह तो फिर भी ज्ञानके द्वारा परिचयमे आ जाता है। ज्ञानमे कला है यह कि वह विकल्पोमे न अटके और उस शुद्ध दृष्टिसे परे विशेषोके विकल्पसे अतीत ऐसा वह शुद्ध आत्मद्रव्य दृष्टिमे आया, जिसके विषयमे स्वय कुन्दकुन्दाचार्यस्वामीने कहा है कि वह शुद्ध आत्मा क्या है ? समयसार मे भी जिसका वर्णन आया है। पूछा गया कि एकत्वविभक्त आत्मा, शुद्ध आत्मा किसे कहते है ? तो वहा उत्तर दिया गया कि जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। अप्रमत्तके मायने ७ वे गुणस्थानसे लेकर सिद्ध पर्यन्त और प्रमत्त है एक पहिले गुणस्थानसे लेकर छठे गुणस्थान

तक। लो इन दो बातोमे ही सब जीवोका सग्रह आ गया लेकिन पर्यायसे शुद्ध तो ये अरहत प्रभु और सिद्ध प्रभु है। इनका निर्विकार परिणमन है। पर उसे परिणमनको देखनेकी बात कुन्दकुन्दाचार्य नही कह रहे, किन्तु उस शुद्ध आत्मद्रव्यकी बात कहते है कि जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है। किन्तु एक ज्ञायकभाव स्वरूप है, एक चैतन्यस्वरूप है। उसे शुद्ध आत्मद्रव्य कहा है। ऐसा शुद्ध आत्मद्रव्य कहाँ बताओगे ? जीव तो प्रमत्त मिलेगा या अप्रमत्त याने निर्विकार मिलेगा या विकारी मिलेगा। तो कहा व्यक्त रूपसे बता सकेंगे ? इसको तो तकना ही होगा। हा इतनी सुगमता अवश्य है कि निर्विकार शुद्ध परिणमने वाले स्वरूपको निरखकर हम उस शुद्ध आत्मद्रव्यको निरखकर आसानीसे पहिचान जाते है, क्योकि वहा जो पर्याय है वह स्वभावके साथ अभेद रखती हुई है, ऐसे उस माध्यमसे, अरहंत सिद्ध के स्वरूपके ध्यानसे हम शुद्ध आत्मद्रव्यके परिचयमे सुगमतया पहुंच सकते है, और यहा थोडीसी कठिनाई है। जो जीव रागद्वेषरूप परिणम रहा है, स्वयकी ही बात लो जो सम्यक्त्व हो जानेपर भी रागद्वेष विकार अवस्था तो कर्मविपाकवश चल रही है और जिस समय जो भाव चल रहा है वह समय वह उस भावरूप है, इतने पर भी यदि कोई विवेकी है, जिसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा है वह इन विकारोमे न अटककर, इन विकारोको मुख्य न करके, उनकी उपेक्षा करके शुद्ध आत्मद्रव्यका यहा भी भान कर सकता है। तो ऐसा शुद्ध आत्मद्रव्य वह मेरा ध्रुव अपादान है।

अध्रुव भावोंसे हटनेमें कल्याण— इस निज ध्रुव तत्त्वको छोडकर अन्य जो भाव है, अध्रुव भाव है वह इस आत्मासे अन्य चीज है इसलिए उसकी दृष्टिमे, उसकी उपलब्धिमे, उसकी आशामे उसका आलम्बन न लेना चाहिए। देखो—मेरा ध्रुव मेरा यह आत्मद्रव्य है, मेरे ध्रुवसे मेरा आनन्द प्रकट होगा, किसी अन्यसे न होगा। यह मेरा देह है. धन है, सुख दुःख है, स्त्री, पुत्र, मित्रादिक है, यो जगतमे कितने ही जीवोसे सम्बध बनाया, पर उनसे शान्ति, आनन्दकी बात न मिली। अरे ये तो अध्रुव है, बाहरी चीजें है, अब अपने इस अध्रुवभावको भी देखिये—ये विचार, जिनमे आज हम इतना मस्त रहते है, यही विचारमय हम अपने आपको अनुभवते है और उस ही विचारके अनुकूल कार्य करनेके लिए हम सकल्प वाले बनते है जैसा कि ससारमे हो ही रहा है सभी जीवोको, वे सारे भाव अध्रुव है। उनके आलम्बनसे, उनकी बात माननेसे, उनके मुताबिक चलनेसे मेरे आत्माका कोई सुधार नही है। भला कोई कहे कि मेरेमे ये विचार आये तो उनका आदर करना चाहिए तो भाई आदर करते-करते तो अनादिकाल व्यतीत हो गया। यदि उसके आदरमे ही मौज है तो यही निर्णय है कि अभी संसार हमारा बराबर बन रहा है, जन्ममरणकी परम्परा हमारी बराबर चलती रहेगी।

मिथ्याभावोंको त्वरित प्रहत कर देनेका सन्देश—भैया ! चाहे वह वर्षोसे विचार

बनाया हो, वर्षोकी बात क्या ? परम्परासे अनन्तकालसे चला आ रहा हो मिथ्यात्वभाव तो क्या जो बहुत दिनसे गलत बात चल रही है उसको नही मिटाना चाहिए ? उसके रखने मे कोई बुद्धिमानी है क्या ? मुझमे अनादिकालसे चल रहा है, पर समझ लिया कि ये विचार मेरेमे आये है, इनसे मेरा कुछ हित नही है, तब फिर इनके छोडनेमे विलम्ब क्यो किया जाय ? साहस करके एक अपने आपमे जो हित भाव है, इन औपाधिक भावोसे एक ही प्रहारमे अपना सम्बन्ध तोड दे, और देख, जब भी तुझे अपने इस स्वरूपके, परमात्मतत्त्व के दर्शन होगे तो इसी विधिसे होगे कि एक ही प्रहारमे, एक ही झटकेमे इन समस्त पर-भावोसे नाता तोडा जायेगा। यह काम धीरे-धीरे करनेका नही है। धीरे धीरे उसे कहते है कि जहाँ करते न बने और करनेमे लगे हो, याने अनभ्यास दशामे काम करना धीरे धीरे काम करना कहलाया। हम निर्मोह होनेका आनन्दमय होनेका धीरे धीरे अभ्यास कर रहे है तो उसका अर्थ है कि हमसे बनता नही है। और उस ओर हमारी दृष्टि है। अत निरखिये तो जिस क्षणमे स्वानुभूति जगी, जिस क्षणमे शुद्ध शुद्ध आत्मद्रव्यकी उपलब्धि हुई, जिस क्षणमे निर्विकल्पता हुई वहाँ तो एक ही साथ विकल्पोको दूर किया गया है। धीरे-धीरे वाली बातमे यह अनुभूति नही बना करती। ऐसा यह मैं शुद्ध आत्मद्रव्य जो स्वयके लिए ध्रुव, अपादान हो उसका शरण लो। यह बाहरी सगम मित्र स्त्री धन धान्य सोना चाँदी आदिक बाहरी पदाथ ये तो परत शुद्ध हैं, मेरे लिए ध्रुव नही हैं। मेरा ध्रुव तो यह चैतन्यस्वरूप उपयोगात्मक आत्मा ही है। तो देखिये इस समय अध्रुव शरीरादिक को लिए बैठे है, कहा शरीरसे जुदे आप बैठे है ? शरीरमे फसे है। अध्रुव शरीरादिककी उपलब्धि कर रहे है, उसीमे एक क्षेत्रावगाह हो रहे है। इतने पर भी मैं इसको नही देखता हू, मैं इसकी उपलब्धि नही करता हूँ, मै इसमे अपने उपयोगको नही फसाता हू। तो यहा रहते हुए भी मैं इस अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध आत्मद्रव्यको ही प्राप्त होता हू। यह तो ज्ञान है इसका जो विषय बनाया गया यह ज्ञान उसकी उपलब्धि करेगा। यह तो ज्ञानकी बात ह। और यह रहनेकी, चिपकनेकी, बँधनेकी, सयोगकी बात है। ज्ञानकी बात ज्ञानके ढगकी है। यह सम्बन्ध है तो बना रहे, इतने पर भी मैं इसको उपलब्धिमे न लेकर एक शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता हू।

उत्पादव्ययालिङ्गित भावके अपायमें भी निरपाय ध्रुव अपादान—आत्मकार्यका अपादान कौन है ? इस प्रसगमे बताया जा रहा है कि चूंकि आत्मपर्याय अथवा वे दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक भाव आत्मासे अभिन्न हैं और उस एक शाश्वत आत्मद्रव्यसे प्रकट हुए है इस कारण इन निर्मल भावोका अपादान आत्मद्रव्य है। यद्यपि इस ही आत्माकी भूमिकामे विकार भी अशुद्धपर्याय योग्यतामे रहा करते है तिसपर भी उन विकार भावोके निकलनेका

इस आत्मामें स्वभाव नही है कि स्वभावत निरपेक्षरूपसे ये विकारभाव आत्मासे उद्गत हुए हो, इस कारण एक शुद्ध दृष्टिमे अर्थात् केवल आत्मामे ही क्या होता है, उस आत्मासे क्या निकलता है, इतना ही दृष्टिमे रखकर यहाँ सब सोचा जा रहा है तो निर्मल परिणामो का अपादान यह शुद्ध आत्मद्रव्य है। यह शुद्धता कैसे अपनी एकतामे है जिसका वह एक स्वरूप है ? ६ पदार्थोंमे रहकर भी जो अपनी एकताको नही छोडता अर्थात् आत्माका जो सहज स्वरूप है उस सहज स्वरूपकी ओरसे निरखे तो विदित होगा कि वह तो शाश्वत अन्त प्रकाशमान एक स्वरूप है। ऐसी एकता ही वास्तवमे निरन्तर है, हितरूप है, उसकी दृष्टि ही कल्याणकारी है। इसकी ही सत्यं शिवम् सुन्दरम्के रूपसे लोगोने उपासना की है। कुछ दार्शनिकोने उसको एकान्तत पकड लिया और उसमे होने वाले उत्पादव्ययसे बिल्कुल ही एकान्तत निषेध किया, इस कारणसे वहाँ वह सही तत्त्व न बन सका और इस तरह उस सर्वाद्वैतवादमे सत्य शिवम् सुन्दरम्की कल्पना हो करके भी सत्यं शिवम् सुन्दरम न रह पाया। यहाँ अपादानशक्तिमे बताया जा रहा है कि अपादान ध्रुव आत्मा ही है, ऐसा एकान्त नही, किन्तु अपाय होनेपर जो निरपाय है ऐसा ध्रुव आत्मा अपादान है। इससे यह सिद्ध किया गया कि आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

अपादानशक्तिमें ध्रुवताकी दृष्टि—अपादानशक्तिमे जो परिचय पाया गया है उस परिचयमे यह प्रसिद्ध हुआ है कि यह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। उत्पादव्ययसे आलिंगित होकर उत्पादव्यय रूप है, किन्तु यह तो हुआ वस्तुस्वरूप। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप ही है। उपादके बिना व्यय ध्रौव्य नही ठहरते, व्ययके बिना उत्पाद ध्रौव्य नही ठहरते, ध्रौव्य के बिना उत्पादव्यय नही ठहरता, इस प्रकारसे उत्पादव्ययध्रौव्यकी अविनाभाविता है। यों पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणा सत्तासे ही अनुस्यूत है, पर अपादानशक्तिमे अपादानत्वके नातेसे देखा जा रहा है तो उत्पादव्यय गौण हो जाता है और ध्रुवता मुख्य हो जाती है, उत्पादव्यय होकर भी जो ध्रुवताकी शक्ति लिए हुए हो उसे कहते है अपादान। जहाँ "भी" लगना है वह हो जाता है गौण और उसे लगा करके जो कहा जाता है वह हो जाता है मुख्य। जैसे लोकव्यवहारमे ऐसी बहुतसी बाते बोली जाती है, हाँ बात यद्यपि ऐसी ही है लेकिन होना चाहिये यह, तो उसकी मुख्यता चाहिये वालेमे गई। "होनेपर भी" इसका जिससे सम्बध है उसपर मुख्यता नही गयी। तो उत्पादव्ययसे आलिंगित है यह ध्रुव आत्मद्रव्य। पर जो उसमे ध्रुवताकी शक्ति है उस शक्तिको प्रकट यह अपादान शक्ति कर रही है। ऐसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यमे जो एकता है और शुद्धता है वही सुन्दर है। वस्तुत देखो तो सभी पदार्थ अपने एकत्वके निश्चयमे आये हो तो उस रूपसे वे भले जंचते हैं, विसम्वादरहित जंचते हैं, वहाँ कोई क्षोभ नही विदित होता है, शान्ति अवस्थित रहती है, ऐसी एकता

बनाया हो, वर्षोकी बात क्या ? परम्परासे अनन्तकालसे चला आ रहा हो मिथ्यात्वभाव तो क्या जो बहुत दिनसे गलत बात चल रही है उसको नही मिटाना चाहिए ? उसके रखने मे कोई बुद्धिमानी है क्या ? मुझमे अनादिकालसे चल रहा है, पर समझ लिया कि ये विचार मेरेमे आये है, इनसे मेरा कुछ हित नही है, तब फिर इनके छोडनेमे विलम्ब क्यो किया जाय ? साहस करके एक अपने आपमे जो हित भाव है, इन औपाधिक भावोसे एक ही प्रहारमे अपना सम्बन्ध तोड दे, और देख, जब भी तुझे अपने इस स्वरूपके, परमात्मतत्त्व के दर्शन होगे तो इसी विधिसे होगे कि एक ही प्रहारमे, एक ही झटकेमे इन समस्त पर-भावोसे नाता तोडा जायेगा। यह काम धीरे-धीरे करनेका नही है। धीरे धीरे उसे कहते है कि जहाँ करते न बने और करनेमे लगे हो, याने अनभ्यास दशामे काम करना धीरे धीरे काम करना कहलाया। हम निर्मोह होनेका आनन्दमय होनेका धीरे धीरे अभ्यास कर रहे है तो उसका अर्थ है कि हमसे बनता नही है। और उस ओर हमारी दृष्टि है। अत निरखिये तो जिस क्षणमे स्वानुभूति जगी, जिस क्षणमे शुद्ध शुद्ध आत्मद्रव्यकी उपलब्धि हुई, जिस क्षणमे निर्विकल्पता हुई वहाँ तो एक ही साथ विकल्पोको दूर किया गया है। धीरे-धीरे वाली बातमे यह अनुभूति नही बना करती। ऐसा यह मैं शुद्ध आत्मद्रव्य जो स्वयके लिए ध्रुव, अपादान हो उसका शरण लो। यह बाहरी सगम मित्र स्त्री धन धान्य सोना चाँदी आदिक बाहरी पदाथ ये तो परत शुद्ध हैं, मेरे लिए ध्रुव नही है। मेरा ध्रुव तो यह चैतन्यस्वरूप उपयोगात्मक आत्मा ही है। तो देखिये इस समय अध्रुव शरीरादिक को लिए बैठे है, कहा शरीरसे जुदे आप बैठे हैं ? शरीरमे फसे है। अध्रुव शरीरादिककी उपलब्धि कर रहे हैं, उसीमे एक क्षेत्रावगाह हो रहे है। इतने पर भी मैं इसको नही देखता हू, मैं इसकी उपलब्धि नही करता हूँ, मैं इसमे अपने उपयोगको नही फसाता हू। तो यहा रहते हुए भी मैं इस अनादि अनन्त अहेतुक शुद्ध आत्मद्रव्यको ही प्राप्त होता हू। यह तो ज्ञान है इसका जो विषय बनाया गया यह ज्ञान उसकी उपलब्धि करेगा। यह तो ज्ञानकी बात है। और यह रहनेकी, चिपकनेकी, बँधनेकी, सयोगकी बात है। ज्ञानकी बात ज्ञानके ढगकी है। यह सम्बन्ध है तो बना रहे, इतने पर भी मैं इसको उपलब्धिमे न लेकर एक शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता हू।

उत्पादव्ययालिङ्गित भावके अपायमें भी निरपाय ध्रुव अपादान—आत्मकार्यका अपादान कौन है ? इस प्रसगमे बताया जा रहा है कि चूँकि आत्मपर्याय अथवा वे दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक भाव आत्मासे अभिन्न है और उस एक शाश्वत आत्मद्रव्यसे प्रकट हुए है इस कारण इन निर्मल भावोका उपादान आत्मद्रव्य है। यद्यपि इस ही आत्माकी भूमिकामे विकार भी अशुद्धपर्याय योग्यतामे रहा करते है तिसपर भी उन विकार भावोके निकलनेका

इस आत्मामे स्वभाव नहीं है कि स्वभावत निरपेक्षरूपसे ये विकारभाव आत्मासे उद्गत हुए हो, इस कारण एक शुद्ध दृष्टिमे अर्थात् केवल आत्मामे ही क्या होता है, उस आत्मासे क्या निकलता है, इतना ही दृष्टिमे रखकर यहाँ सब सोचा जा रहा है तो निर्मल परिणामो का अपादान यह शुद्ध आत्मद्रव्य है। यह शुद्धता कैसे अपनी एकतामे है जिसका वह एक स्वरूप है ? ६ पदार्थोमे रहकर भी जो अपनी एकताको नही छोडता अर्थात् आत्माका जो सहज स्वरूप है उस सहज स्वरूपकी ओरसे निरखें तो विदित होगा कि वह तो शाश्वत अन्त. प्रकाशमान एक स्वरूप है। ऐसी एकता ही वास्तवमे निरन्तर है, हितरूप है, उसकी दृष्टि ही कल्याणकारी है। इसकी ही सत्य शिवम् सुन्दरम्के रूपसे लोगोने उपासना की है। कुछ दार्शनिकोने उसको एकान्तत पकड लिया और उसमे होने वाले उत्पादव्ययसे बिल्कुल ही एकान्तत निषेध किया, इस कारणसे वहाँ वह सही तत्त्व न बन सका और इस तरह उस सर्वाद्वैतवादमे सत्य शिवम् सुन्दरम्की कल्पना हो करके भी सत्य शिवम् सुन्दरम न रह पाया। यहाँ अपादानशक्तिमे बताया जा रहा है कि अपादान ध्रुव आत्मा ही है, ऐसा एकान्त नही, किन्तु अपाय होनेपर जो निरपाय है ऐसा ध्रुव आत्मा अपादान है। इससे यह सिद्ध किया गया कि आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

अपादानशक्तिमें ध्रुवताकी दृष्टि—अपादानशक्तिमे जो परिचय पाया गया है उस परिचयमे यह प्रसिद्ध हुआ है कि यह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। उत्पादव्ययसे आलिंगित होकर उत्पादव्यय रूप है, किन्तु यह तो हुआ वस्तुस्वरूप। वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप ही है। उपादके बिना व्यय ध्रौव्य नही ठहरते, व्ययके बिना उत्पाद ध्रौव्य नही ठहरते, ध्रौव्य के बिना उत्पादव्यय नही ठहरता, इस प्रकारसे उत्पादव्ययध्रौव्यकी अविनाभाविता है। यो पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षरण सत्तासे ही अनुस्यूत है, पर अपादानशक्तिमे अपादानत्वके नातेसे देखा जा रहा है तो उत्पादव्यय गौण हो जाता है और ध्रुवता मुख्य हो जाती है, उत्पादव्यय होकर भी जो ध्रुवताकी शक्ति लिए हुए हो उसे कहते है अपादान। जहाँ "भी" लगना है वह हो जाता है गौण और उसे लगा करके जो कहा जाता है वह हो जाता है मुख्य। जैसे लोकव्यवहारमे ऐसी बहुतसी बातें बोली जाती हैं, हाँ बात यद्यपि ऐसी ही है लेकिन होना चाहिये यह, तो उसकी मुख्यता चाहिये वालेमे गई। "होनेपर भी" इसका जिससे सम्बध है उसपर मुख्यता नही गयी। तो उत्पादव्ययसे आलिंगित है यह ध्रुव आत्मद्रव्य। पर जो उसमे ध्रुवताकी शक्ति है उस शक्तिको प्रकट यह अपादान शक्ति कर रही है। ऐसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यमे जो एकता है और शुद्धता है वही सुन्दर है। वस्तुत देखो तो सभी पदार्थ अपने एकत्वके निश्चयमे आये हो तो उस रूपसे वे भले जंचते है, विसम्वादरहित जंचते हैं, वहाँ कोई क्षोभ नही विदित होता है, शान्ति अवस्थित रहती है, ऐसी एकता

सभी द्रव्योमे है। प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूपसे है, अपने ही गुण पर्यायोके एकत्वरूपसे रहता है; इस कारण ऐसी एकता ध्रुवता सर्व पदार्थोमे है, किन्तु यहाँ आत्महितकी बात चल रही है। अत. आत्माके सम्बन्धमे ही यह सब परखा जा रहा है।

अपादानशक्तिमय आत्मद्रव्यकी सर्वत्र सुन्दरता—यह आत्मा यद्यपि नाना अवस्थाओ मे रह रहा है, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिक सर्व अवस्थाओमे रह रहा है। यह विकारोका भी आधार बन रहा है और अविकारका तो स्वाभाविक आधार है। ऐसी सर्व स्थितियोमे रहता हुआ भी वह अपनी एकताको छोडे हुए नही है। यदि अपनी उस मूल एकताको छोड दे पदार्थ तो ये सारे व्यञ्जन पर्याय ये सब बिखर जायेंगे, ये ठहर नही सकते। तो ऐसी सर्व अवस्थाओमे जो एकपनेको लिए हुए है ऐसा वह शुद्ध आत्मद्रव्य यद्यपि सर्व पदार्थोके बीच पडा हुआ है। जहा यह आत्मद्रव्य है वहा ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल सभी रह रहे है। कहा जाय यह जीव, जो इन शेष ५ द्रव्यो को छोडकर केवल अकेलेमे ही रहे। शुद्ध भी बन गया। तो भी लोकमे ही रहा, वहा पर भी छहो द्रव्य मौजूद है। तो यद्यपि सब द्रव्योके बीचमे रह रहा है यह आत्मद्रव्य, मगर किसीमे भी मिला भिडा नही है, सर्वसे विविक्त है, ऐसा यह आत्मद्रव्य है। ऐसा यह एक और शुद्ध आत्मद्रव्य अपादानभूत है। उस एक शुद्ध आत्मद्रव्यकी ओर दृष्टि होने पर वहा उस दृष्टिमे ऐसा विदित होता है कि उसके साथ किसीके बन्धकी कथा करना विसम्वादिनी ही है, वह शुद्ध जीवस्वरूप नही है। ऐसे उस आत्मद्रव्यसे इन पर्यायोका अभाव होता है। यह तत्त्व जिसका आलम्बन लेने पर एक विकल्प विपदारहित स्थिति बनती है वह यद्यपि नित्य ही अन्त प्रकाशमान है, अर्थात् वह तत्त्व सदा है। पदार्थकी सत्ताका प्राणभूत एकत्व किसी भी पदार्थसे अलग नही होता, ऐसा वह अन्त प्रकाशमान है, लेकिन वर्तमानमे यहा जीवोके बन क्या रहा है कि कषायसमूहके साथ उसे एक कर दिया गया है। जैसे कि यहा सभी जीव ऐसा ही तो अनुभव करते हैं कि ऐसे विचार वाला है सो ही मैं हू। जिसमे ऐसी तरग कषाय भावना विषयवासना जो कुछ भी बन रहा है बस ऐसा ही तो जीव है। जीवकी बात ऐसी ही है, और जीवके लक्षण भी ये ही हैं। जो खाये, पिये, चले, उठे, बैठे, बुरा माने, अच्छा माने आदिक वह जीव है। जीवोमे ही तो ऐसी बातें पायी जाती हैं। पुद्गलोमे कहा ये चीजें पायी जाती हैं ? इस तरहसे कषायचक्रके साथ एकीक्रियमाण रूपसे अपने को भी मानता है यह मोही। जीवका शुद्ध स्वरूप क्या है ? केवल उसके ही सत्त्वके कारण उसमे क्या स्वरूप है इसका भान नही है तो कषाय समूहके साथ एकीक्रियमाण हो रहा है तो वह तिरोभूत होता रहता है। यह अपादानभूत आत्मद्रव्य उसकी दृष्टिमे न रहा, लेकिन आत्मामे वह ध्रुवताकी शक्ति कही गई नही, वह मोही जीव ही नही देख रहा है,

लेकिन उस ध्रुव आत्मद्रव्यसे शुद्ध भाव प्रकट हो जाय ऐसी शक्ति उसकी गई नही है। जो जब निरख ले तब ही उसके यह निर्मलभाव प्रकट होने लगता है। यह तो जब तक देखा नही जा रहा, उसका आलम्बन नही किया जा रहा तब तक ये विभाव नृत्य हो रहे है।

एकत्वगत शुद्ध आत्मद्रव्यके दर्शनका उपायभूत प्रथम वैभव—यह ध्रुव आत्मद्रव्य अपादानभूत जिसकी निगाहसे, जिसके आलम्बनसे ये विकल्प, विषय दूर होते है और अपने मे सम्यक्भाव प्रकट होता है, इस शुद्ध एकत्वका दर्शन करनेका उपाय क्या है ? तो परमार्थ तो उपाय वह यहीका है तुरन्त करनेका कि करें दृष्टि, पर ऐसा करनेके लिए हमने क्या साधन बनाया है, किस ढगसे चलें कि जिससे हम उसके पात्र बन सके। उसकी दृष्टिकी पात्रता आनेके लिए भी तो कोई वैभव मेरेमे पहिलेसे प्रकट रहना चाहिये। थोडा बहुत वैभव मेरे प्रकट होगा तो हम उस अतुल वैभवके पानेके अधिकारी होगे।

तो वह कौनसा वैभव है जो अभी प्रकट करने योग्य है, जिससे कि हमे उस अतुल वैभवको प्राप्त करनेका अधिकार मिले ? यह बात समयसारमे ५ वी गाथामे टीका करते हुए अमृतचन्द्राचार्यने कुन्दकुन्दाचार्यके वैभवकी प्रशंसामे बताया है। ग्रन्थकारने अपने उन समस्त वैभवोके साथ, उन सब वैभवोके बलपूर्वक एक शुद्ध आत्माके कथन करनेका सकल्प किया है। ऐसा बताते हुए उनके वैभवको दिखाया है। तो उनके वैभवको जानकर हमे भी अपने लिए यह समझना चाहिए कि ऐसा ही वैभव मेरे प्रकट हो तो हम भी उस शुद्ध एकत्वके दर्शनके अधिकारी बन सकते है। उनका वैभव दिखाया है। पहिला वैभव तो यह था कि समस्त पदार्थोको प्रकट करने वाला और स्यात् पदसे मुद्रित ऐसा जो शब्दब्रह्म है, आगम है उस आगमकी उपासना की। और उस उपासनासे वह बल प्रकट हुआ जिस बल पर शुद्ध एकत्वका दर्शन करानेका संकल्प किया है ग्रन्थकारने। उससे हमे यह शिक्षा मिलती है कि हमे उस शब्द ब्रह्मकी उपासना करना चाहिए। परमागमका अभ्यास जिसमे कि स्याद्वाद नीतिका वर्णन है और जो सभी पदार्थोकी बात बताता है। देखिये—एक थोडे ही रूपमे सर्व सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, इतना भी समझ ले कोई यथार्थ रूपसे तो उसने एक अपने प्रयोजनके माफिक सबको जान लिया और उससे और अन्त चलकर जब अपने को अपने रूपसे परखा—मैं यह निज गुण पर्यायमे ही तन्मय हू, स्वकीय चैतन्यात्मक हू और बाहरमे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक तो देखा ही था और वहाँ यह भी निरखा गया कि ये सभी पदार्थ अपने ही असाधारण गुणमय है, लो इतना ही निरखनेमे अपने प्रयोजनके माफिक समस्त पदार्थोको जान लिया। यह मैं स्व और बाकी इस तरहके रहने वाले सभी पदार्थ पर है। उन उन परपदार्थोको हम एक एकको जानें तब हम परके ज्ञाता कहलायें, ऐसा हमारा कुछ प्रयोजन भी नही है। प्रयोजन तो समस्त परसे निवृत्त होनेका है और वह

इतने ही रूपमे जान लिया कि सब पर है, ये सभी स्वसे विविक्त है और है भी सब इसी प्रकार अपने अपने स्वकीय गुणपर्यायोमे तन्मय और मुझसे अत्यन्त पृथक्। लो, जहाँ जरा जरासे प्रदेशोमे सर्वपदार्थोंका उद्भापण हो जाता है और भी विस्तारपूर्वक वहाँ वर्णन है "ही" ऐसा स्यात् शब्दसे मुद्रित परमागमसे वह वैभव, शक्ति प्रकट होती है कि जहाँ हम आत्मभावके अपादानभूत उस शुद्ध आत्मद्रव्यके दर्शन कर लेते है।

एकत्वगत शुद्ध आत्मद्रव्यके दर्शनके उपायभूत द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वैभव— दूसरा वैभव बताया है कि समस्त विपक्षोके निराकरण करनेमे समर्थ और अत्यन्त सबल ऐसी युक्तियोके आलम्बनसे वह वैभव प्रकट हुआ है जो युक्तियोसे खरा उतरे, उसमे विशेष महत्ता आ जाती है। तो कुछ युक्तियोसे, चिन्होसे उस तत्त्वको पहिचानें, ऐसा हमारा वैभव प्रकट हो कि हममे एक उस विशुद्ध तत्त्वकी ही बुद्धि आये। इस शब्दब्रह्मसे पहिचाने गए तत्त्वका और विशेषरूपसे हम अपना निर्णय बना लें। तीसरा वैभव बताया है कि अपने गुरुकी सेवा द्वारा उनका प्रसाद पाया है और उस प्रसादसे जो शुद्ध तत्त्वका हमे अनुशासन प्राप्त हुआ है. बोध कर उनके प्रसाद रूपमे शुद्ध अनुशासन मिला है। देखिये—जिसके गुरु के प्रति शुद्ध निश्छल बुद्धि रहती है ऐसे हृदयमे विद्याका सचार बहुत सहज ही होता रहता है, तो वे गुरुजन कैसे थे ? निर्मल विज्ञानघनमे डूबे हुए थे, उनका ज्ञान स्पष्ट था, वे ज्ञान की भावनामे निरन्तर रत रहा करते थे, ऐसे पर और अपर गुरु (अरहत परमेष्ठीसे लेकर साधु पर्यन्त तक) से जो शुद्ध तत्त्वका उपदेश प्राप्त किया है, उससे इस वैभवका जन्म हुआ है। वे पर अपर गुरु सदा जयवत होओ। यह तीसरा वैभव बतला रहे हैं कि शब्दागमसे जाना, युक्तियोसे कसा उसे ही जब गुरुआगमसे जान लेते है तो बहुत दृढता होती है। तो यह वैभव भी अपनेको होना चाहिए। चौथा वैभव बताया है कि इन तीन उपायो द्वारा प्राप्त कर लिया गया वह वैभव उपाय। इतनेपर भी अपने अनुभवमे बात न उतरे तो वैभव मे वह उत्कृष्टता नही आती। तो उन ग्रन्थकारके एक यह भी वैभव था कि निरन्तर झरने वाला जो सुन्दर सहज आनन्द है, उस निरन्तर झरते हुए सहज आनन्दसे जिसका आविर्भाव हुआ है सम्वेदन, अनुभव, परिज्ञान अर्थात् ज्ञानानन्दका जहाँ एक निर्मल जागरण हुआ है ऐसा जो उनका स्वसम्वेदन हुआ उस स्वसम्वेननसे वह वैभव बना अर्थात् अनुभवसे भी सब कुछ समझा, ऐसे इस वैभवके बलसे ग्रन्थकारने उस शुद्ध एकत्वके वर्णनका सकल्प किया है। अब इस ही उपायसे चलकर उस शुद्ध एकत्वके दर्शनका यत्न करें जिससे कि हमारी निर्मल पर्यायोका प्रकाश हो।

शुद्ध आत्मद्रव्यका स्पष्ट विवरण—वह शुद्ध आत्मद्रव्य जिसके विषयमे कुन्दकुन्दाचार्य देवकी स्पष्ट घोषणा है वह शुद्ध आत्मा क्या है ? जो प्रमत्त नही, अप्रमत्त नही, केवल

एक ज्ञायकभाव है, जो स्वत सिद्ध है, जिसे इस आत्मीय भावका अपादान बताया जा रहा है वह तो स्वत सिद्ध है, किसी दूसरे पदार्थके द्वारा निर्मित नही होता है। माता पिताने बनाया हो या किसी अन्य ईश्वरने बनाया हो, या किसी पदार्थोंके मेलसे बनाया गया हो, ऐसी कृत्रिमता नही है। वह तो स्वत सिद्ध है, अनादि अनन्त है। एक निर्मल ज्योतिस्वरूप है। ऐसा वह ज्ञायकभाव ऐसा वह सहज ज्ञानमात्र, वह शुद्ध एकत्वगत आत्मद्रव्य आत्मकार्यका अपादान है, जिसका वर्णन अध्यात्मग्रन्थोंमे कुन्दकुन्दाचार्यदेवने किया है। यद्यपि ससार अवस्थामे देखिये यहाँ पर इसकी क्या परिस्थिति बन रही है? अनादि बन्ध परम्परा से चला आया है और कर्मपुद्गल व यह आत्मा एक क्षेत्रावगाहमे है, दूध पानीकी तरह मिल रहे हैं और उनमे एकत्व बुद्धि भी बन रही है। इतनी सारी बाते होती है, इतना सब कुछ होने पर भी जिस किसी भी आत्माके सम्बन्धमे जब शुद्ध द्रव्यकी निरूपणा करते है, भली प्रकार विशेषरूपसे उसका अवलोकन करते है तब वहाँ यह विदित होता है कि ये शुभ अशुभ भाव इसके स्वभावसे नही परिणम रहे हैं अर्थात् ऐसे विकारके करनेका यहाँ स्वभाव नही है। यह अपने आपके स्वभावमे सहज चित्स्वरूप है। उसकी ओर दृष्टि दिलाता है यह शुद्धएकत्वका परिचय। ऐसे उस शुद्ध आत्मद्रव्य उपादानकी चर्चा इस अपादान शक्तिमे की जा रही है। अपादान शक्तिके स्वरूपको बताते हुए यह कहा है कि उत्पाद व्ययसे आलिंगित अपायसे भी जो निरपाय है अर्थात् अपाय होते रहने पर भी, पर्यायोका व्यय होते रहने पर भी जो विनष्ट नही होता ऐसी ध्रुवताकी शक्तिको लिए हुए यह अपादान शक्ति है। इससे यह बात भी ध्वनित हो जाती है कि क्षणिकवादमे एक एक क्षणको ही सम्पूर्ण द्रव्य मान लिया गया है, पर एक-एक क्षणका जो कुछ माना गया वह तो अपायस्वरूप है। उसकी लाज रखनेको सतान आदिक शब्दोसे बात बनायी गई, लेकिन जिसे सतान कह रहे वह सतान चीज क्या है? वह है यही एक विशुद्ध आत्मद्रव्यकी बात। है कोई उनमें व्यापक एक आत्मतत्त्व। जिस आत्मतत्त्वमे से ये सब पर्यायें चलती है। यह चित्तक्षण ये सब उससे ही निर्गत होते हैं। ऐसे इन सब पर्यायोका स्रोतभूत जहाँसे इसका निर्गम हुआ है ऐसा स्रोतभूत यह शुद्ध आत्मद्रव्य इसका अपादान शक्तिमे वर्णन किया गया है।

कल्याणमय धर्मभावकी शुद्ध आत्मद्रव्यसे आविर्भूति— सर्व कल्याण धर्मभावमे है अर्थात् रागद्वेष मोह रहित जो आत्माका जानन देखन परिणमन है उसमे सर्व कल्याण है, लोग बहुत विवशताके साथ अनुभव करते है कि मैं बडे कष्टमे हूं। पर उनके कष्टका रूपक सुनो तो वे किसी बाह्यपदार्थका नाम लेकर उसकी परिणतिकी चर्चा करेंगे। खुद कष्टमे है तो अपने कष्टकी चर्चा करे ना। कष्टकी चर्चामे बैठेंगे तो कष्टकी चर्चा भी नही कर सकते,

वे तो परपदार्थकी परिणतिकी चर्चा करते है, क्योकि कष्ट तो आत्माकी उस समयकी परिणति है इसे वे यथार्थ जानते ही नही है। तुम्हे कष्ट होता है तो जरा उस कष्टको दिखाओ—आत्माकी कष्टपरिणतिका स्वरूप बतायें तब तो कहा जायगा कि हाँ इसने अपना कष्ट सही बताया। लोग दुखी होते रहते है और अपना दुख बता भी नही सकते हैं, नाम लेते है परपरिणतिका, अमुक मकान नही बन पाया, देखो बीचमे छत गिर गई, कितनी विपदा है ? अमुक लडका भाग गया, वह बात नही मानता, यो बतायेंगे परपदार्थकी परिणतिका काम। तो यह जीव अपना सही कष्ट भी तो नही बता पाता। उन कष्टोका अभाव होना इसीके मायने धर्म है। कष्ट है रागद्वेष परिणति। किसी परपदार्थमे चूंकि लेना देना तो कुछ है नही और फिर मान रहा है कि इससे मुझे हित है, इससे मुझे आराम है, इससे मेरी समृद्धि है। तो भीतर अधर जो एक कल्पना बना रखी है उस कल्पनाका दुख है। वह कल्पना अधर यो कहलायी कि कल्पनाका आधार परवस्तु नही, क्योकि परवस्तुकी उसके उसके अपने ही गुणपर्यायोका आधार वही परवस्तु है और किसी परवस्तुका कुछ भी आश्रय हुए बिना स्वय अपने आपमे कल्पनाये जगती नही है इसलिए कल्पनाओका स्व भी आधार न रहा और पर भी आधार न रहा, ऐसी निराधार अधर होने वाली जो रागद्वेषकी कल्पनाये हैं, विचार है, इनसे सारा जगत परेशान है, उन सबका अभाव हो, इसीके मायने है धर्म। तो सर्व कल्याण, अपना सर्व हित धर्मभावमे है। वह धर्मभाव कहाँसे मिलेगा ? उसका विवरण अपादानशक्तिके परिचयमे मिल जाता है। यह धर्मभाव रागद्वेषरहित ज्ञानपरिणमन वीतराग विज्ञान इसके इस शुद्ध आत्मद्रव्यसे ही प्रकट होगा, किसी अन्य पदार्थके आश्रयसे प्रकट न होगा।

अक्षुण्ण एक शुद्ध चिज्ज्योतिमात्र अपादानभूत आत्मद्रव्य—जिस शुद्ध आत्मद्रव्यके आश्रयसे यह धर्म प्रकट होता है वह कैसा है ? जो जानता है वह इसकी व्याख्या, वह इसकी विशेष आख्या, याने अपनेमे स्पष्ट प्रसिद्धि कर सकता है। उनके लिए तो यह आत्मा जिससे कि धर्मभाव प्रकट होता है वह प्रत्यक्ष है, अक्षुण्ण है, जिसमे किसी भी परवस्तुके द्वारा कुछ भी वहाँ क्षोभ नही होता है। कौन जीव दुखी है ? जो भी दुखी है वह अपने आपके आधारसे चिगकर बाहरमे आश्रय लेता है उससे दुखी है। जो काम व्यर्थका है, ऊधमका है, अनावश्यक है, बिल्कुल अनर्थका है ऐसा प्रयोग करता है और दुखी होता है। कष्ट छोड दो, क्लेश छोड दो, उनको धर्मभाव है ही। तो ऐसा धर्मभाव जिस आत्मद्रव्यसे प्रकट होता है वह यहा यह मैं आत्मा हूँ, जो मेरे लिए प्रत्यक्षभूत है। भला बाहरी क्षेत्रमे रहने वाली चीजोको जान जाये हम और जानने वाला यह मैं स्वयके क्षेत्रमे रहने वाला स्वयको न जान पाऊँ तो यह अधेरेकी ही बात तो होगी। जाने जानेमे कठिन तो होना चाहिये था, ये बाहर

मे रहने वाले पदार्थ, उनको जाननेमे कठिनाई होगी और स्वयं जो ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान ही जानने वाला है, ज्ञानमें ही रह रहा है ऐसा स्वका जानना सरल होना चाहिये, लेकिन कैसा अनादि विष इस जीवने पिया है, मोह मदिरा पी है कि स्वयं जो ज्ञानसमुद्र है, ज्ञानविधि है उसकी तो सुध नही लेता और बाहरकी चीजे जानना इसे बडा आसान लग रहा है और कठिन लग रहा है स्वका जानना, लेकिन जिनको मोह मदिराका नशा उतर गया है, जिनको बाहरी पदार्थोंमे वस्तुस्वरूपके किसी प्रकारका अब अज्ञान नही रहा है ऐसे पुरुषोको यह आत्म प्रत्यक्ष, अक्षुण्ण, निर्दोष, किसी भी बाह्यपदार्थसे क्षुब्ध न होने वाला हू। कोई कितनी ही गालिया दे, कितना ही विरोध करे, कोई कितना ही अपने आपमे श्रम करे, वह उनकी परिणति है। उनसे इस आत्मामे कुछ भी क्षुण्णता नही आ सकती है। ऐसा यह अपने स्वरूपमे अक्षुण्ण चैतन्यमात्र ज्योतिस्वरूप है, अनन्त नित्य सहज विज्ञानघन, ऐसा यह मै आत्मद्रव्य एक हू, नानारूप नही। यहा उस शुद्ध आत्मद्रव्यकी सुध चल रही है जो सर्व पर्यायोमे, सर्व अवस्थाओ मे व पदार्थोंमे गत होकर भी अपनी एकताको नही तजता, सहज ही वह एक स्वरूप है। ऐसा यह मैं अपने निर्मल भावोका अपादानभूत ध्रुव आत्मा एक हू और यह मैं शुद्ध हू। परमार्थत अपादानकारकपनेकी भी क्या बात है ? एक यह है और होता है, वस्तुस्वरूप यही है, भेदबुद्धि करके अभेद पद्धतिसे कारकको समझ रहे है तो वहाँ समझ आती है कि जो हो रहा है। इसमे वह अपने ही आश्रयसे हो रहा है परके आश्रय बिना सहज जो कुछ भी भाव हो रहा उसका अपादान यह ही आत्मवस्तु है।

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वके सुपरिचयकी स्थिति—देखिये—जिस समय ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वका मर्म ज्ञात हो रहा है, उस समय तो उसकी स्थिति निर्मल अनुभूति मात्र है। जैसे पाण्डवोको गुरुने पढाया। कथामे ऐसा कहते है कि युधिष्ठिर बहुत सत्यप्रिय था। तो जब उन्हे गुरुने पढाया कि—"क्रोध मत करो।" ये ६ अक्षर पढाये गये तो सभी ने याद कर लिया। गुरुने कहा—अच्छा अपना पाठ सुनाओ तो सभी ने सुना दिया—"क्रोध मत करो।" पर जब युधिष्ठिरसे पाठ सुना गया तो युधिष्ठिर इस पाठको न सुना सके। बोले—हमे अभी यह पाठ याद नही हुआ। यो ही दो तीन दिन गुरुने युधिष्ठिरसे पाठ सुनानेको कहा तो युधिष्ठिर न सुना सके। गुरुको गुस्सा आया और दो तीन बेंत मार दिया। अब इतने पर भी युधिष्ठिरको गुरुपर रच भी गुस्सा न आया, तब बोले—हाँ महाराज! अब पाठ याद हो गया। कैसे ?…जब दो तीन बेत लगनेपर भी हमने समझा कि युधिष्ठिरको (खुदको) गुस्सा नही आया तब समझा कि हाँ अब सही सही पाठ याद हो गया—"क्रोध मत करो।" तो यहा आप लोगोको पाठ दिया जा रहा है—"आत्मा ज्ञानमात्र है" यह पाठ याद करो। तो किस तरहसे आप याद करेंगे ? अरे इतने शब्द रट लेने से पाठ याद

करना नही कहलायगा, किन्तु असली याद करना वह कहलायेगा कि जब समस्त कारक-प्रक्रियाओसे उत्तीर्ण केवल एक शुद्ध ज्योतिमात्र उपयोगमे बस रहा हो, ऐसी निर्मल अनुभूति के समय समझना चाहिए कि वह पाठ याद हुआ है कि "आत्मा ज्ञानमात्र है"। जिसको यह पाठ याद हो रहा है वह सुना न सकेगा कि हमे पाठ याद हो गया है। तो वह शुद्ध आत्मद्रव्य तो एक उस कारक चक्र प्रक्रियासे उत्तीर्ण निर्मल अनुभूतिमात्र है, उसे याद कर चुकने वाला सुनाये तो सुना सकता है, पर जिस समय याद हो रहा है उस समय सुनाना कठिन है। ऐसा यह मैं शुद्ध एक आत्मद्रव्य अपने आत्मकार्योका अपादानभूत हू, अन्यका अपादानभूत नही, अर्थात् केवल उसके ही आश्रयसे अन्यका आश्रय लिए बिना मुझसे विकार होते हो ऐसी बात नही। देखिये--विकारोको, औपाधिक नैमित्तिक स्वीकार कर लेनेपर आत्माके शुद्ध स्वरूपके भानमे कितना सहयोग मिला ? यहा अशुद्ध निश्चयनयके प्रयोगका अवसर नहीं है, यहा करे व्यवहारनयका प्रयोग, या करे परम शुद्ध निश्चयनयका प्रयोग। व्यवहारनयका प्रयोग भी इस शुद्धनयके विषय तक पहुचानेमे कितना अधिक सहयोगी हो रहा है ? इस प्रकरणमे आप समझ सकते है। ये रागादिक विकार जिनका पुद्गल स्वामी है, क्यो स्वामी है कि पुद्गल कर्मके निमित्तसे ये उत्पन्न हुए है, उनके साथ यह अन्वयव्यतिरेक रख रहा है, तो जिसके साथ यह अन्वयव्यतिरेक रखता है, जिसके सकेतपर यह नाच रहा है। जीवका वहा कोई मालिकपना नही है, तो ऐसे जो क्रोधादिक भाव नाना प्रकारके है वे मेरे स्वामीरूपसे बस रहे हो अर्थात् केवल मेरा ही आश्रय लेकर ये बन रहे हैं, ऐसा नही हो रहा। ये तो कर्मोदयका निमित्त पाकर हो रहे हैं, मेरे नही है। जिस शुद्ध आत्मद्रव्यकी बात निरखी जा रही है, उस तत्त्वके ये क्रोधादिक भाव नही है। वह अभेद एक स्वरूप है, फिर भी कुछ भेदपूर्वक अगर विचारेगे तो इतना निहारेगे कि यह तो ज्ञानदर्शनसमग्र है, ज्ञानदर्शनात्मक है, ऐसा यह मैं शुद्ध आत्मद्रव्य चैतन्यस्वरूप हू।

अन्तस्तत्त्वकी पारमार्थिक वस्तुता--अन्तस्तत्त्वकी बात सुनकर साधारणजन या इस मार्गमे चलने वाले इसकी विशेष स्वीकृतिके बिना ऐसा सोच सकते कि कहा क्या जा रहा है, कुछ बात ही नही कही जा रही। कुछ बात पकडेमे ही नही आ रही। अरे-- चौकी, पुस्तक, घडी आदिककी बात कहे तो समझमे आयगा कि हा यह बात कही जा रही है। कही मन्दिर, तीर्थकी बात करें समझमे आये कि हाँ यह बात कही जा रही है, लेकिन इस शुद्ध आत्मद्रव्यकी चर्चामे तो कुछ कहा ही नही जा रहा है, कोई शब्दरचना ऐसी है कि मन बहलाया जा रहा है। कुछ मिलता नही, तो ऐसी शका न करना चाहिए।

वह आत्मद्रव्य यद्यपि आकाशकी तरह अमूर्त होनेसे, अतिसूक्ष्म होने से न पकडमे आये, लेकिन आकाशकी बात तो लोग कुछ जल्दी समझ लेते हैं कि है आकाश। अरे आकाशमे तो रूप, रस, गध स्पर्श नही है। लेकिन किसी छोटेसे भी पूछो तो कह देता

है कि है आकाश, कोई लोग आसमान कह देते हैं, पर देखो—आकाश जैसी सूक्ष्म बात रूप-रसगंधस्पर्शरहित बात उसे तो साधारणजन मान ले जो कि पर है, भिन्न है और आकाशवत् अमूर्त रूपरसगंधस्पर्शरहित और इससे अधिक बात क्या है कि इसमे ज्ञान हो रहा है, प्रतिभास हो रहा है, चेतना है यह, और इससे भी बढकर बात क्या है कि स्व है यह । तो आकाशसे अधिक बाते इसमे दो और बढ गईं, जिससे कि अपने आत्माकी जानकारी होना बहुत सरल हो जाना चाहिये । आकाशकी जानकारीसे अधिक सुगम हो जाना चाहिये । वे दो बाते कौनसी अधिक है ? और बातें तो आकाशके समान है, अमूर्त है, सूक्ष्म है, निराधार है । बहुत बाते तो समान मिल जाती है पर उससे अधिक दो बाते ऐसी है कि जिनका अपने आपको प्रत्यक्ष होनेके लिए विवश हो जाना चाहिए । क्या वे बाते है कि यह ज्ञानदर्शनरूप है, जाननदेखनस्वरूप है । आकाशमे कहाँ है यह ज्ञानदर्शन ? और फिर यह स्व है निज ही तो है । तो समझना चाहिए कि आकाश आदिककी तरह मै पारमार्थिक वस्तु हू, केवल कल्पनाकी चीज नही हूँ । तब क्या करना चाहिए कि इस ही मे निश्चल रहू, क्योकि इसका आश्रय होगा तो आत्मकल्याणमय भाव ही प्रकट होगा, आनन्द ही प्रकट होगा, तो ऐसे इस आत्मद्रव्यमे जो अपनी दृष्टि करता है, इसके ज्ञानोपयोगमे रहता है उसको बाहरी आश्रय न रहनेके कारण दुर्भावोका अवकाश नही है । धर्म इसीके मायने है कि जो क्लेश है वह रच न रहे सो धर्म हो गया, अर्थात् रागद्वेषादिक भाव क्लेशरूप है, रूप, रस है, विषम है, असहज है, कृत्रिम है, क्लेशसे हुए है और क्लेश ही इनका फल है । ऐसे उन रागादिक भावोका यहाँ अभाव है और मात्र जाननदेखनहार स्थिति है, ऐसे उन रागादिक भावोका जहाँ अभाव है और मात्र जाननदेखनहार स्थिति है उस परिणतिको कहते है धर्म । ऐसा धर्म जहाँसे प्रकट हो, जहाँसे निकले, जिसकी दृष्टि बने उसे कहते है अपादान ।

आत्मद्रव्यकी उद्धान्तसमस्तविकल्पता—यह मै आत्मा जब मै अपने अपादानभूत उस शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय लेता हू तो यो समझिये कि जैसे चिरकालसे कोई जहाज किसी लहरमे फँसा हुआ गडबड चल रहा हो और सहज ही उस गोल भवरके बीचमे ही थोडा सहारा मिले, रास्ता मिले तो बड़े वेगपूर्वक जहाज निकल जाता है और फिर बडे ही आराम से वह पार हो जाता है । ऐसे ही यह उपयोग इन रागद्वेषादिक तरगोमे खूब हिल रहा था, इसको थोडीसी एक दृष्टि मिली, आश्रय मिला, चीज मिली, वही भीतरके भीतर है । वे रागद्वेषकी लहर तरगें भी इस आत्मामे चल रही थी और वह जो गली मिली है वह भी इस आत्मामे मिली है । जैसे वह जहाज ही फसा था लहरमे, वह लहर भी जलमय था और जब थोडा रास्ता मिला तो वह भी जलमय था । मिल गया, छूट गया । ऐसे ही इस आत्मा मे थोडासा मार्ग मिले, दर्शन हो, दृष्टि हो, वह वहासे तरगोसे मुक्त हो जाता है और अपने

ापको निस्तरग ज्ञानमात्र अनुभव करता है ।

शिवमार्गदृष्टि बलसे भी आनन्दकी झलक--जो ज्ञानानुभवके मार्गपर चलता है समे आनन्द बर्त ही रहा है, पर कोई मार्गपर भी न चल पाये और केवल मार्ग दिख जाय समे ही उसको आशिक वही आनन्द बर्तता है । जैसे कोई पुरुष किसी दूरके गाँवसे अपने ावको जा रहा था, रास्तेमे शाम हो गई, अँधेरी रात थी, रास्तेमे एक भयानक जगल । छोटी छोटी पगडडियाँ बहुतसी फूटी हुई थी । वह एक जगह रास्ता भूल गया, चलते चलते अँधेरा भी बहुत होने लगा और बहुतसी झाडियोमे भी फँसने लगा । अब वह सोचता ; अब और अधिक गल्ती न करें, नही तो पता नही, कहाँके कहाँ पहुचेंगे ? रास्ता भूलकर अगर आगे चलते गए तब तो फिर वह गल्ती और भी लम्बी होती जायगी । फिर तो बडी कठिन समस्या आ जायगी, इसलिए अब आगे न बढे यही ठहर जावें, कुछ हिम्मत बनावे । ात्रि है, अँधेरा है, भय जगता है, पर चारा ही क्या है ? अपने आपका ही सहारा लें तो ीरता प्रगट होगी । यो वह मुसाफिर कुछ सा्स करके वही ठहर गया । अब एक बार चानक ही बिजली चमकी, कुछ उजेला हुआ, उस उजेलेसे सामने कुछ दूरीपर सडक दिख ई । प्रकाश फिर समाप्त हो गया । उसे सडक तो दिख ही गई । वह उसी जगह पडा है, सा ही घना अधेरा है, वैसा ही भयकारी दृश्य है, उसी तरहसे वहाँ पर वह रहा है, वह ार्गपर अभी जरा भी नही च ा, लेकिन उस मार्गके (सडकके) दिख जानेके कारण उसे ब वह आकुलता नही है जो पहिले थी । भूल गए तो न जाने कहाँके कहाँ पहुचेंगे, न ाने मेरा क्या हाल होगा ? पता नही इस भयानक जंगलमे ऐसे समयमे प्राण बचेंगे भी या ही आदिक जो अनेक विह्वलतायें पहले हो रही थी वे अब नही हो रही । केवल वर्तमा ो कुछ उपस्थित भय है बस उसे हिम्मतसे सहनेका साहसभर करना पडता है और भीतर ाकुलता नही है । तो मार्गदर्शन होनेपर इस जीवको एक अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है । सके उन निर्मल भावोका यही अपादान है । शुद्ध आत्मद्रव्य क्या है उसकी दृष्टि होनेमे ही सको वडे वैभवकी प्राप्ति है फिर भी सहारा ले, आलम्बन ले, ध्यान करे, वहाँ ही रमे, फेर उसका यह मार्गपर चलना हो गया ऐसा यह मैं शुद्ध अपादानभूत आत्मद्रव्य अपने ार्यका अपादानभूत हू । यहाँ तक बहुत कुछ यह समझा कि ज्ञान धर्म वीतराग परिणति, र्वकल्याणमय भाव इस आत्मद्रव्यसे प्रकट होता है ।

आत्मकार्यमें आत्माकी अनन्य अपादानता—किसी भी बाहरी पदार्थसे यह मेरा ान, मेरा धर्म, मेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणमन किसी भी बाह्यपदार्थसे प्रकट नही ोता, तो मेरे दर्शन ज्ञान चारित्रका अपादान कोई बाहरी पदार्थ नही है । जिनको इस अपा- ानभूत तत्त्वकी सुध नही उन्हे प्राय ऐसी ही श्रद्धा हो जाती है कि इस तीर्थसे ही मुझे धर्म

मिला, इस मदिरसे ही मुझे धर्म मिला, अमुकसे ही मुझे धर्म मिला। यहाँ निमित्तकी चर्चा नही कर रहे, निमित्त है, आश्रयभूत है यह बात ठीक है, पर यहाँ तो अपादानशक्तिकी बात चल रही है, और जब जिसकी बात चलती हो पूरे बलके साथ उसके ही स्वरूपका दर्शन करे तो उसके चमत्कारका परिचय होता है। है वे, उनका विरोध न करे। विरोध न करके मध्यस्थ होकर अपने निर्मल भावोके अपादानभूतकी दृष्टिमे यह सब सुने तो विदित होगा कि यह ज्ञान, यह धर्म कहाँसे प्रकट हुआ है ? अज्ञानी जनोकी तो इस विषयमे अनेक मान्यताये है और इस श्रद्धापूर्वक कि मानो इस अन्य उपादानसे ही मेरा यह धर्म प्रकट हुआ, लेकिन विचार करे, ज्ञानपर्याय प्रकट हुई तो ज्ञानपर्याय कहाँसे प्रकट हुई ? वृक्षसे पत्ता प्रकट हुआ तो पानी मिट्टी आदि बाहरी चीजोंके सम्बधसे वह हरियाता रहता है। हवा भी होती है, वह भी एक कारण है, मगर वह जो पत्तेका अंकुर हुआ जरा निरीक्षण करके देखे–वह हवा से प्रकट हुआ या बाहरी चीजोसे या उसही वृक्षअगसे ? यो भी देखिये–ज्ञान शास्त्राध्ययनकी स्थितिमे प्रकट हुआ, गुरुजनोकी वाणीसे प्रकट हुआ, मगर यह तो देखे कि इसका अपादान क्या है, स्रोत क्या है, कहांसे यह परिणमन आविर्भूत होता है ? तो विदित होगा कि न वह ज्ञान शास्त्रसे प्रकट होगा, न दूसरेके बोले गए शब्दसे प्रकट होगा। और जैसे कोई रूप देखा आँखोसे तो ज्ञान हो गया कि यह काला है, तो उस रूपसे भी यह ज्ञान प्रकट नही होता। विषयभूत है मात्र वह। ज्ञान प्रकट होता है तो इस आत्म उपादानसे प्रकट होता है, इसी तरह मूर्तिकता, गध, स्पर्श आदिक जिन-जिन विषयोको हम जानते है इनसे भी प्रकट नही होता, और अन्य पदार्थ धर्मादिक भी न होते, और रागादिक भाव, विकारभाव ये विषयभूत है उन रूप बात हो रही है वह ज्ञानमे आती है, लेकिन यह ज्ञान किसी रागसे प्रकट नही होता। किसी वैभवसे प्रकट नही होता। यह ज्ञान तो इस शुद्ध अपादानसे प्रकट होता है। तब जो उत्पादव्ययसे आलिंगित हुए ये प्रकट हो रहे, ये सब होनेपर भी जो अपाय रहित है ऐसी ध्रुवताकी शक्तिको अपादानत्व शक्ति कहते है। ऐसी शक्ति इस आत्मामे है, उस शक्तिको शक्तिमानसे अभेद करके उस अखण्ड आत्मद्रव्यका आश्रय करनेसे ये सब कल्याणमय दशाये प्राप्त होती है।

अधिकरणशक्तिके निरूपणका संकल्प––सभी जीवोको शान्ति अभीष्ट है, और जितने भी यत्न करते है सब शान्तिके लिए करते है। चाहे वे उपाय विपरीत वनें अथवा अनुकूल बने किन्तु सभी प्राणियोकी चेष्टा एक अपनी शान्तिके लिए ही हैं। यदि कोई प्राणी किसी घटनासे दुःखी होकर आत्मघात भी करना चाहता है, अर्थात् फाँसी आदिक लगाकर, कुवेमे गिरकर, समुद्रमे डूबकर अपने प्राणघात भी करना चाहता है ऐसी स्थितिमे भी उसका ध्येय शान्ति पानेका ही है। उसे यही सूझ रहती है कि ऐसा उपाय करने से

मुझे शान्ति मिलेगी या जिसके द्वारा मुझे दुःख पहुचा है उसको मेरे मर जानेसे आफत आ जायेगी, विडम्बनामे वह पड जायेगा और मुझे शान्ति मिल जायगी। कुछ भी विचार बनाये कोई, जितनी भी चेष्टाये है उनका प्रयोजन है शान्ति पाना। अब शान्तिके सम्बन्धमे ही विचार करें कि सत्य उपाय क्या है जिससे मुझे शान्ति मिले। अभी कल तक उपादान शक्तिका वर्णन था, जिसमे यह बात प्रकट हुई थी कि शान्ति जहाँ है, जहाँसे आविर्भूत होती है वहाँ दृष्टि दें, उसे साहसमे लें तो शान्ति मिलेगी। जहाँ शान्तिका नाम नही है वहाके आलम्बनसे शान्ति किस तरह मिल सकती है ? तो उसही शान्तिके लिए इन सब शक्तियोका वर्णन करके इसमे अखण्ड द्रव्यका पहिचान कराया गया है कि यहाँ भरी हुई है शान्ति। यह है शान्ति स्वभाव वाला। यहाँसे आनन्द प्राप्त हुआ। उसीकी व्यक्तिके लिए आज अधिकरणशक्तिका वर्णन चलेगा।

आत्मामें अधिकरणशक्तिका प्रकाश--अधिकरण शक्तिका अर्थ है आधार होना। अपने आपके परिणामका आधार हो सकना ऐसी शक्तिको अधिकरणशक्ति कहते है। याने भाव्यमान जो भाव है, अपनेमे अपनेसे ही होने वाला जो भाव है उसका आधार हो सकना ऐसी शक्तिको अधिकरणशक्ति कहते है। अपनेमे होने वाला भाव क्या है ? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जो होगा भाव, जो मेरेमे मेरे ही आश्रयमात्रसे हो सकता है भाव उस भावका आधार यह मैं आत्मा हूँ। आधारका अर्थ व्याकरणशास्त्रमे जहा अधिकरण कारकका प्रसग आया है, बताया है कि जो कर्ता, कर्म और क्रियाका आश्रय हो, आधार हो वहां अधिकरणकारकका प्रयोग होता है। जो कर्ताका आधार हो अथवा कर्मका आधार हो अथवा क्रियाका आधार हो उसे कहते है अधिकरणकारक। जैसे चटाईपर स्थित पुरुष शास्त्र पढ रहा है—लो यहा कर्ताका आधार बना चटाई, चौकी पर रखी पुस्तकको पढ रहा हू, लो यहाँ कर्मका आधार बनी चौकी, और चटाई पर बैठता हू, यहा क्रियाका आधार बना चटाई तो लोकव्यवहारमे तो कर्ता, कर्म, क्रियाके आधार भिन्न होते है लेकिन तात्त्विक दृष्टिसे जब निरखा जाता है तो वहा आधार भिन्न होनेकी बात तो दूर रहो अर्थात् भिन्न तो है नही आधार, लेकिन यही आधार कर्ता, कर्म, क्रिया तीनोका रहता है। ऐसा भी नही है कि कर्ताका कोई आधार है, कर्मका कोई दूसरा आधार है और क्रियाका कोई अन्य आधार है। यो तीनो आधार अभिन्न भिन्न होने पर भी इन तीनोका अभिन्न आधार एक है। इस दृष्टिसे अपने अधिकरणोकी बात देखी जाय तो मेरे सहजस्वभावसे भाव्यमान भावका मेरा ही आधार है। परका आश्रय किये बिना जो बात हो उन भावोका मैं कर्ता हू। तो उस कर्ताका आधार कौन ? यह मैं ही। और, मुझमे जो भाव्यमान भाव है उसके आश्रयसे निष्पन्न हुआ भाव है। वह भाव मेरे द्वारा किया गया है, मेरेसे ही निष्पन्न हुआ

है, तो वह हुआ कर्म। उस कर्मका आधार कौन है ? यह ही आत्मा और जो हुआ परिणमन, परिणति, बनना, एक भावसे हटकर दूसरे भावरूप होना। इस प्रकारकी जो भवन परिणमन क्रिया है उस क्रियाका आधार कौन है ? यह ही आत्मा। इस तरह अधिकरणता इस आत्मतत्त्वमे है इन सब भव्यमान भावोकी। उसके आधार रूपसे होनेका सामर्थ्य हो उसे कहते है अधिकरण शक्ति। अब कुछ व्यवहारदृष्टिसे भी यो विचारे। अधिकरणके प्रयोग ६ रूपोमे हुआ करते है—एक तो जो उसका अधिकरण हो, जिसके आधारमे वस्तु का रहना हो, भावका रहना हो। भाव किसमे रह रहा है इस प्रश्नका जो उत्तर है वह आधाररूप अर्थ है। इस आधारमे यह भाव रह रहा है यह हुआ आधार-आधेयभावका सम्बन्ध। भाव है आधेय और यह आत्मा है आधार। इस आधार-आधेय भावको निरखने से यह निर्णय और शिक्षण मिलता है कि मेरा जो हितरूप परिणाम है, रत्नत्रयरूप भाव है निर्मल भाव, उनका आधार यह मै आत्मा हूँ। तब मेरेको यह भाव किसी अन्य वस्तुसे मिलेगा, यह एक शका नही रहती, और इस नि शकताके कारण वह अपने उपयोगको किसी बाहरी पदार्थमे नही जोडता है। वहा ऐसी प्रतीक्षा नही, वहा उपयोगका जोडना इस ज्ञानीके होता है, क्योकि उसको यह निर्णय है कि मेरा सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप परिणाम मेरे आत्मामे ही होता है। उसका आधार यह मैं आत्मद्रव्य हू।

बाहर शरण पानेकी अशक्यता— देखिये एक तो आधारकी मुद्रासे अधिकरणका प्रकाश होता है। दूसरे—जैसे कि व्यवहारकी बात कहते है कि मेरेको तो यह आधार है। जैसे परिवारमे कह देते कि मेरा आधार तो मेरा अमुक लडका है। इस लडके के आधारसे ही मेरा जीवन है, अथवा पिताके आधारसे ही इनका जीवन है। इसके लिए तो अमुक मित्रका आधार है, इसके बिना तो यह रह ही नही सकता है। तो एक आधार होता है सहारे जैसे अर्थमे। इसका तो वही सहारा है, दूसरा कौन सहारा होगा ? यदि सहारेके रूपमे भी निरखे तो मेरेको सहारा मेर आत्मा है। इस आत्माको छोडकर मेरा कौन सहारा होगा ? सहारा मिला, सहयोग मिला, मदद मिली आदि ये सब सहारा कहलाते हैं। तो मेरेको सर्वस्व सहारा यह आत्मद्रव्य है। व्यवहारसे यद्यपि परमेष्ठी भक्ति ध्यान आदिक मेरे लिए सहारा है, तथापि यहा शक्तिकी बात चल रही है कि अधिकरण शक्ति किसमे है और शक्तिमानकी समीक्षासे ये सब प्रकरण जब चला रहे हैं और इनको सुन रहे है तब उस नीतिसे ही यह ध्यान देना है कि मेरा वास्तविक सहारा किसका है ? किसके सहारे यह आत्मभाव प्रकट होता है ? तो मेरा वह सहारा है मेरा ही आत्मद्रव्य। इस आत्मद्रव्यके शरणरूपमे भी अधिकरणका, आधारका प्रयोग होता है, बल्कि जो शरण लेना चाहता है वह शरणमे पहुचता है। शरण्यके पादमूल्यमे, शरणके निकट, शरण्यके

पास पहुचता है, उसके लिए वह आधार बनता है। तो शरणकी दृष्टिसे भी देखो—तो इस जगतमे मेरेको शरण क्या है ? ये जो कुछ थोडीसी पहिचान हो रही है, यह थोडासा क्षेत्र, ये थोडी सी मायामयी मूर्तिया (सकले) जिनसे इस मुझ आत्माका कुछ सम्बन्ध नही, कुछ नाता नहीं, जो कोई मेरे प्रभु नही, जिनके खुश हो जानेसे इस मुझ आत्माका कोई सुधार होगा नही, ऐसे वे है कौन ? अथवा उनके नाराज हो जानेसे मेरी हानि क्या हो जायेगी ? जब जरा भी सम्बन्ध नही है तब भी उन पर उपयोग पहुचता है। ये लोग क्या कहेगे—क्या समझेंगे आदि किसी भी प्रकारसे यहाँ क्षोभ होता है वह क्षोभ व्यामोह है ना, वह मिथ्याभाव है, क्योकि ये कोई मेरे लिए शरण नही है। एक एक परवस्तुपर विचार करते चलें—जगतमे ये दृश्यमान कोई पदार्थ मेरे लिए शरणभूत नही है।

स्वयंको स्वयंकी ही शरण्यता—मेरेको शरण तो मेरा ही शुद्ध आत्मद्रव्य है। यह मैं स्वय जो सत् हू वही मेरे लिए शरण है। लोग कह देवें कि इनका कोई शरण नही, इनके पास कुछ नही, एक जीर्ण कुटी भी नही है, कहा बैठेगे ये, कहा आराम करेगे ये। इनके लिए तो कुछ भी शरण नही है, इनके अपने आरामके लिए कुछ भी शरण नही है। सो बाहरमे यह बात तो ठीक है लेकिन स्वय तो इस स्वयके लिए शरण है। अरे इस आत्मकुटीमे बैठा हुआ आराम करता रहे, कुछ गुनगुनाता भी हो, कुछ थोडा बहुत किसी भी प्रकारका रोषण भी करे, कुछ प्रीति करे आदि तो इस आत्मस्वरूपमे ही बैठा हुआ करे। जब इन विकल्प-विपदाओपर दृष्टि पहुचती है कि मेरे लिए ससारमे ये विकल्प विपदा हैं, मेरेको कष्ट तो मात्र ये विकल्पभाव है तो उन विकल्पभावोसे रूषना, उन विकल्पभावोसे झुझलाना ये भी जरा अपने आपके अन्दर ही बैठे हुए करते चलो। कुछ राग द्वेष करनेकी इस जीवकी आदत है, कुछ तृप्ति मौजसे रहनेकी इसकी आदत है सो साम्यरूप न रह सके तो अपने आपके अन्दर बैठा हुआ ही ये सब कर ले। करनेका ढग विशुद्ध होगा, इसीमे प्रीति करे, रुचि करे। जब आत्माके इस सहज स्वरूपकी दृष्टि होती है, यहा जो एक आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्दकी तृष्णा करने लगे। यहा पर तो तृष्णा करने लायक कुछ भी नही है, बस मुझे तो यहा एक आत्मानुभूति ही चाहिए, उसीकी लालसा रहे, उसी की तृष्णा रहे, यहाकी अन्य कुछ भी चीज न चाहिए, मुझे यह आत्मानुभूति अधिकाधिक हो, चिरकाल तक के लिए हो। यह काम यहाकी जो व्यावहारिक अपटपट आदते बना रखी है उनसे मुख मोड़ करके किया जा सकता है। इसी कामके करनेमे अपना लाभ है, कल्याण है। तो निरख लीजिए कि जगतमे मेरेको बाहरमे क्या शरण है ? शरण तो जाने दो, बल्कि वे अशरण है, बरबादीके हेतुभूत हैं।

बाह्यपदार्थका शरण न हो सकनेकी स्पष्ट झांकी—अभी तक जिन जिनके परिवारमे

मा, वाप, दादा, बाबा आदि जो जो भी मरे उनके प्रति विचार करे तो कुछ सत्यताका भान हो जायगा। भला बतलाओ--जो जो लोग भी परिवा मे मर चुके हैं उनसे मोह करके आपको मिला क्या ? उनको अपने माननेसे वे आपके हो सके क्या ? उनसे आपका कुछ सम्बंध भी था क्या ? यदि आपसे उनका कुछ वास्तविक सम्बंध होता तब तो उन्हे आपके साथ सदा रहना चाहिए था, पर ऐसा तो होता नही, तो जिन जिनके प्रति अपना सम्बन्ध वना रखा था वह सब असार था, उसमें कुछ दम न थी, वह मिथ्या था, भ्रम था, इन्द्रजाल था। सब बात स्पष्टतया समभमे आ जाती है।

तो जैसे उनके प्रति ये बातें सकभमे आती है ऐसी ही बात तो वर्तमान वाली है, उससे कुछ कम नही है। वहा कुछ असार था, बेकार था यह सब राग प्रेम और क्या यहा कुछ साकार बन जायगा, कुछ कामका बन जायगा ? सो बात नही है। ठीक वहीकी वही बात जो वियुक्त पुरषोके साथ गुजरी वही संयुक्त पुरुषोके साथ भी है। यहां भी राग विकल्प आदिक सब अपनी बरबादीके लिए है। अनन्तकालमे बडी दुर्लभतासे नरभव मिला। कुछ और बार भी मनुष्यभव मिला होगा, पर वह बेकार हो गया। आज यह मनुष्यभव मिला जिससे यह ज्ञानप्रकाश है कि अपने मनको समभा सकते है, सर्व बाह्यपदार्थोसे उपेक्षा बना सकते है, अपनेमे ही रमनेकी बात बना सकते है। ऐसे दुर्लभ अवसरको पाकर इस अवसर को, इन क्षरणोको बाह्यपदार्थोके उपयोगमे सम्बंधमे खो देना यह हमारे लिए कितनी मूढताकी बात होगी जितनी मूढता वाली बात अनन्तकालसे करते आये है। तो अपने उस सत्य शरण को ढूढे जहांसे फिर कभी धोखा न मिल सके। यहाँ लौकिक शरणमे सर्वत्र अभी तक धोखा ही धोखा मिला है। उसका प्रमाण यह है कि सबसे निराले यहा निठल्ले बैठे हुए है। सभी पुरुषोकी यही बात है, विकल्पमे कोई माने अपनेको बडी पोजीशन वाला किसी तरह माने वह उसकी अपने मनकी मियामिट्ठू वाली बात है, पर तत्त्वत तो सभी रीते है। केवल वे भरे पूरे है जिन्होने अपने आपमे इस आत्मस्वभावकी समृद्धिका दर्शन, अनुभवन किया है। तो यहां बाहरमे कही कुछ शरण नही है। शरण है तो अपना ही आत्माराम। यही मैं मेरे लिए शरण हू। बाहरमे कही कोई शरण नही।

अहा, मेरा स्वास्थ्य बने फिर कोई फिकर नही। स्वास्थ्यका अर्थ है स्वमे स्थित हो जाना। यहां तो लोग इस स्वास्थ्य शब्दका दुरुपयोग करते है। जब कोई पूछता है कि कहिये भाई आपका आजकल स्वास्थ्य कैसा चल रहा है ? तो पूछा तो यह कि आजकल आपके कितना अपने आपके स्वरूपचिन्तनका कार्य चलता है और कितना बाह्यपदार्थविषयक विकल्प चला करते है··· , पर सुनने वाला उत्तर क्या देता है ?···अजी हमारा स्वास्थ्य आजकल बहुत अच्छा है, हम काफी मोटे हो गए हैं, हमारा वजन भी कई किलो बढ़ गया

है । अरे पूछा तो क्या था पर उत्तर क्या दिया ? पूछा तो था आत्माके विषयमे पर उत्तर दिया शरीरके विषयमे । तो ऐसे पुरुषको बहिरा न कहा जायगा तो फिर और क्या कहा जायगा ? बहिरा उसे ही तो कहते है कि पूछा तो जाय और कुछ, उत्तर देवे और कुछ । यहाके ये सब मोही जीव बहिरे ही तो बन रहे है । पूछा कुछ जाता है उत्तर कुछ देते हैं । आचार्यजन पूछते कुछ है, उत्तर वे मोही प्राणी कुछसे कुछ दे रहे हैं तो इन्हे बहिरा न कहा जाय तो फिर क्या कहा जाय ? जैसे—बताते है कि कोई आदमी अपने गावको किसी दूसरे गावसे बैगन खरीदकर लिये जा रहा था । वह पुरुष बहिरा था । रास्तेमे किसी किसानने जो कि उससे परिचित था—कहा, भैया राम राम, तो वह क्या उत्तर देता है ? बैगन लिये जा रहे है । फिर उस किसानने पूछा—भैया घरमे बाल बच्चे मजेमे है ना ? तो वह क्या उत्तर देता है ? सबको भूनकर खायेगे । भला बतलाओ—पूछा तो कुछ और उत्तर दिया कुछ । तो ऐसे लोगोको बहिरा न कहा जाय तो फिर और क्या कहा जाय ? यहा पर भी तो यही बात चल रही है । लोगोसे पूछा कुछ जाता है और वे उत्तर देते है अपने स्वार्थ से भरा । यदि वहाँ वास्तविक स्वास्थ्य हो जाय तब तो वह जीवका परम कल्याण है । तो स्वास्थ्यका आधार स्व ही तो रहा । स्वस्थित होना ही परम शान्ति है, परम कल्याण है, अपने आपका अपने आपमे स्थिर हो जाना बस यही मेरे लिए शरण है । तो इसका शरण भी कोई बाहर नही है, किन्तु यह स्वय आत्मा ही शरण है ।

स्वयंको स्वयका ही आलम्बन—अधिकरणकी बात, आधारकी बात अवलम्बनरूपसे भी लोग कहते हैं—मेरेको यह अवलम्बन है । मेरेको यह लाठी अवलम्बन है, इसके ही सहारे मेरा चलना फिरना हो पाता है । तो अवलम्बन मेरे लिए मेरा ही अवलम्बन है, देखिये—जगतमे जिन जीवोके कोई पूछने वाले भी १०–५ लोग होते हैं अथवा सभी परिरिवारके लोग व मित्रजन वगैरह पूछने वाले होते है, इसकी मनचाही बातमे सहयोग देने वाले भी होते है तो वे कब सहयोग देने वाले हैं, कब ये आलम्बन बन जाते है जब कि इसका खुदका भी आलम्बन हो । चाहे धनबल हो, शरीरबल हो, कोईसा भी बल हो, काई प्रकारका बल हो, तब दूसरे लोग इसको पूछने लगते है । तो उन लोगोकी अपेक्षामे कही यह न समझना चाहिए कि वे सभी लोग हमारी सत्ताके लिए पूछ रहे हैं अथवा हम ऐसे बडे है इसलिए पूछ रहे हैं । अरे इसमे ही स्वय बल है तो इसे दूसरे लोग पूछेगे । और, यदि इसमे स्वय बल नही है तो वही पूछने वाले किनारा कस जाते है । तो इस लोक व्यवहारमे भी सभी प्राणियोने खुदका ही सहारा लिया है । तो यहाँकी इन मायामय परिस्थितियोमे भी खुदका ही बल काम देता है । तो परमार्थत मेरा कल्याण हो, मगल हो,

शान्ति मिले, सुख मिले। वास्तविकता जगे इन बातोके लिए मैं ही स्वय आलम्बन हू दूसरा नही।

स्वयंमें स्वयंकी अवधार्यता--एक ऐसी भी बात बनती है कि जिसमे जिसका आधार है, सहारा है, भरोसा है विश्वास है उसका ही उपयोगमे अवधारण रहा करता है। उस अवधारणसे यह परख होती है, उस अपने आपकी ज्ञानोपयोग वृत्तिसे परख होती है कि हमारे लिए यह सहारा है। यह इसका आधार मान रहा है। अवधारणसे अधिकरणकी परख होती है। इस चेतना प्रसगमे तो अवधारण भी देखें तो सदा यह जीव किसका अवधारण किए हुए है? "मैं" का अवधारण किए हुए है ये सब जीव। प्राणियोने उस "मैं" को जैसा सहज स्वरूप है उस तरहसे नही जान पाया किन्तु कोई सोते हुए पुरषको भी जगाकर कहे तो जगनेमे वह "मैं" के अवधारणसे जगेगा। वहाँकी बात बहुत बनती है। तो देखिये--कोई अधसोया हुआ है, थोडा जग सा रहा है तो उसका नाम कोई लेकर कोई बात धरे भी, बात करे तो वह जगकर कह उठता है कि आप हमारा नाम लेकर क्या कह रहे थे? यो हर बातमे उसके मैं मैं का अवधारण रहता है और इस अहं प्रत्ययके द्वारा जीवका अनुमान बनाया गया है, क्योकि जीव अहं प्रत्ययवेद्य है। अवधारण भी सबको इस "मै" का, आत्माका ही बनता है। अभी खोटे रूपका अवधारण चल रहा था, सत्यप्रकाश पाने पर यथार्थरूपसे भी अवधारण होगा। अवधारण भी मेरा मेरेको ही बन रहा है इस कारण तब भी मैं ही आधार था, और जब मैं उस आधारको परख लूंगा, जान लूंगा, उस ओर ही दृष्टि होगी तो वहाँ मैं आधार होऊँगा, फिर हमारा सब कल्याणमय परिणाम बनेगा। शुद्ध निर्मलभाव बनेगा। हम पहिले यह ही निर्णय कर ले कि हम कहाँ है, किस जगह है, हम किस आधारपर है, हम किसमे बस रहे है यही बात पहिले समझ ले, फिर उस ही के मार्गसे हम उसीके अन्त स्वरूपको समझ लेगे। पहिले मोटे रूपसे जान ले कि हम कहाँ रहते है? कोई बच्चा स्कूलमे दूसरे बच्चेसे पूछता है कि बताओ यह पुस्तक किसकी है? तो कोई मजाकरूपमे यह उत्तर दे देता है कि यह पुस्तक कागजकी है। तो देखो उत्तर तो ठीक ही दिया, पर वह तो उसका मजाकका उत्तर है। उस बच्चेको कही वस्तुके स्वरूपका परिचय तो नही हो गया है, सो उसका वह उत्तर एक मजाकमे शामिल है। जिन्हे स्वस्वामी सम्बन्धका परिचय नही है उनको जीवोकी बात कहना कभी मजाकमे बना रहेगा, और स्व-स्वामित्वका परिचय होगा तो सच्चाई जैसी बात करेगे। तो परका आधार सम्बन्ध परमे ही है, यह सुपरिचित कर लेगे। तात्त्विक बात यह है कि सभी पदार्थोका आधार स्वय ही है। किसीका आधार वस्तुत स्वरूपवत कोई अन्य पदार्थ नही होता।

प्रत्येक वस्तुका स्वयं अपने आधारमें सर्वस्व--अधिकरण शक्तिके प्रसगमे यह बहुत

जा रहा है कि मेरे निर्मल भावोका आधार क्या है ? निर्मल भाव रहते कहाँ है ? उद्धृत कहाँ होते है ? उस प्रसंगको लेकर यहाँ यह चर्चा चल रही है कि प्रत्येक द्रव्यका अपना ही स्वय आधार है । आत्मामे निरपेक्षतया आत्माके आश्रय उत्पन्न होने वाले भावोका आधार आत्मा ही है । दृष्टान्तमे भी देखिये बताइये यह पुस्तक कहाँ है ? तो उस पर दृष्टि रखकर कोई कहेगा कि यह पुस्तक चौकी पर है । तो चौकी कहाँ है ? मन्दिरमे है । मन्दिर कहाँ है ? अमुक गाँवमे । यह गाव कहा है ? जम्बूद्वीपमे । जम्बूद्वीप कहा है ? मध्यलोकमे । मध्यलोक कहा है ? इस लोकमे । यह लोक कहा है ? आकाशमे । यह आकाश कहा है ? किसके आधार पर यह आकाश है ? बस यहा जबान रुक जायगी । कुछ भी उत्तर न देते बनेगा । आकाशको किसका आधार बताया जाय ? मगर वहा समाधान यही देंगे कि वह तो अपने ही आधारमे है । क्यो अपने आधारमे है ? क्योकि वह एक सद्भूत वस्तु है । तो इसी तरह जितने भी सद्भूत पदार्थ है वे सब वस्तुत अपने ही आधारमे है । जब उस वस्तु से बाहरकी ओर दृष्टि देते है तो जो उसके निकट है उसे कह देते है कि यह इसका आधार है । वस्तु स्वयमे जितना है उसको दृष्टिमे लेकर उत्तर दिया जायगा तो वही है अपने आधारमे । कर्मपरमाणु अपने आधारमे है, प्रत्येक अणुका कार्य उसके उसके आधार मे होता है । किसीको किसी दूसरेका वस्तुत आधार नही है । देखो— बडे बडे महापुरुष अपनी गृहस्थीमे प्रतापके समय कितने बडे प्रतापी थे ? कैसा मित्रोका, परिवारका, शरणा-गतोका प्रतिपालन किया करते थे, कितना उनका वैभव था, लेकिन वे सब पराश्रयज बातें थी, उनको तृप्ति इनमे नही हुई, और जब शुद्ध ज्ञान प्रकाश हुआ तो सारे ठाठको छोडकर निर्ग्रन्थ होकर जब देहका भी आश्रय छोडकर अर्थात् उपयोगको देहमे न बसाकर जब अपने आपके स्वका आधार लिया, आश्रय लिया तब उनको वहा तृप्ति हुई । यह जीव अपनी शान्ति तृप्तिके लिए बाहरमे अनेक पदार्थोका आधार ढूंढता फिरता है । यह विदित नही है कि वास्तविक कल्याण, मोक्षपद उत्कृष्ट विकास मेरा हित केवल मेरे ही आश्रयसे होता है, मेरे ही आधारमे होता है, अन्य किसीके आधारमे नही होता । तो जैसे आकाश निराधार है, सद्भूत पदार्थ है, अपने स्वरूपमे रह रहा है, इसी प्रकार प्रत्येक सत् परके आधारसे नही, किन्तु अपने अपने आधारमे रहता है । किसीके स्वरूपास्तित्वका निर्माण किसी दूसरेके आधीन नही है । आज तक कोई असत् सत् नही बना । जो है वह मिटा नही । सत् है, इसको कौन निर्माण करता ? लेकिन यह मेल बैठ रहा है कि अनादिसे ही किसीके निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक कहाता है । जहा यह लोकाकाश है वहा ही ये सब द्रव्य है । लोकाकाश कहा है ? लोकाकाशका नाम इन सब द्रव्योंने ही तो बनवाया । जहा ये शेष सभी द्रव्य है उतने आकाशका नाम लोकाकाश है । कोई व्यवस्था नही किसीने बनायी कि

यह लोकाकाश है और यहा ही द्रव्य रखें, इससे बाहर न जाय, सारी व्यवस्था स्वत सिद्ध है, ऐसी ही प्राकृतिक चली आ रही है, वहा भी परमार्थत. प्रत्येक सत् अपने आपके स्वरूप मे है।

रागादिक विकार व ज्ञानमें अत्यन्त वैलक्षण्य होनेसे परस्पर आधाराधेय भावका अभाव——मैं इन बाह्यपदार्थोंमे नही हू। इन बाह्यपदार्थोंकी चर्चा तो दूर रहो, मैं अपने इन रागादि विकारोके आधारसे भी नही हूँ। ज्ञातादृष्टा रहना, वीतराग रहना, केवल शुद्ध ज्ञान रहना और रागविकार होना ये दो बाते विलक्षण तो है ही। स्वरूप ही इनका उल्टा है। किसी राग विकारका कलक स्वरूप और किसी ज्ञाता दृष्टाका उत्तम स्वरूप ऐसे विभिन्न स्वरूप वाला यह ज्ञान क्या रागके आधारसे बनता होगा ? रागने क्या इन स्वाभाविक धर्मोंको प्रकट किया ? ज्ञाता दृष्टा रहने रूप विकास यह रागसे निकलकर नही आया। इसका आधार राग नही किन्तु यह स्वरूप ही है निज। यहाँ भी तो कहते है कि एकका दूसरा कुछ नही लगता, क्योकि भिन्नप्रदेशी है, भिन्न प्रदेश वाले पदार्थकी एक सत्ता तो नही बनती। यहाँ यह देखिये कि इन दोनोका भिन्न स्वरूप है, और ऐसा भिन्न स्वरूप है विपक्षरूप कि इनका मेल नही हो सकता परस्परमे कि ज्ञानमे राग रहे और रागमे ज्ञान रहे। ज्ञान तो है आत्मज भाव और राग है कर्माश्रयज भाव, औपाधिक भाव, वैभाविक भाव। तो राग और ज्ञानमे आधारआधेयकी बात नही कही जा सकती। तब बात क्या है कि जो विकार है वह विकारस्वरूपमे ही रहता है, वह ज्ञानस्वरूपमे नही रहता, जाननपनमे नही रहता। जाननपनकी बात विलक्षण है, रागविकारकी बात विलक्षण है। तो ये क्रोधादिक विकार ज्ञानसे पृथक्भूत है। इन क्रोधादिक विकारोमे ज्ञान नही है। इनमे वस्तुत आधार आधेय सम्बन्ध नही।

धर्मका अमोघ, अनुपम व तात्कालिक फल——यहा उस धर्मकी चर्चा की जा रही है जो हितकारी है, संसारके क्लेशोको दूर कर देने वाली है, वास्तविक है। यह कभी हो नही सकता कि धर्मरूप परिणाम हो और आत्माको मुक्ति न मिले या शान्ति न हो। लोग शकाये कर वैठते हैं कि अमुकने २५ वर्ष पूजा की, इसकी दीनता तो मिटी नही। उन्होने धर्मका जो सही स्वरूप है उसे तो परख नही पाया और बाहरी क्रियाओको धर्मका स्वरूप मान लिया, तब सन्देह होता कि देखो अमुक तो इतने वर्षोंसे पूजा कर रहा है लेकिन इसका दुख नही टला ? अरे उस पुरुषने न तो दुखका ही स्वरूप जाना और न धर्मका स्वरूप जाना, इससे उसकी वे धार्मिक क्रियाये थोथी ही रही। उसने वास्तवमे धर्म किया ही कहा ? यह तो एक मौजका काम है। जिसके चित्तमे जैसी बुद्धि आती है, मनका मौज होता है वह मौजका ही एक रूप रख रहा है। धर्म तो उसे कहेगे जो परके आश्रय बिना स्वय ही आत्माके सहज

स्वभावके आधारमे प्रकट हो। धर्मका लक्षण बताया है— "वत्थुसहावो धम्मो" अर्थात् जो वस्तुका स्वभाव है वही उसका धर्म है। आत्माका स्वभाव है सहज चैतन्यभाव ज्ञान दर्शन, सो यद्यपि धर्मभाव किये जानेकी भी चीज नही है।

वह तो वस्तुमे अनादि अनन्त अन्त प्रकाशमान है, पर उस धर्मकी दृष्टि होना बस यही धर्मका करना कहलाता, यही पालन है। अपने आत्मका निरपेक्ष सहज शुद्ध स्वरूपका भान होना, उपयोगमे आना और उस रूप आचरण होना, उस ही मे स्थिर होना अर्थात् विकल्पोसे हटकर निर्विकल्प वीतराग विज्ञानमय होना यही है धर्म। देखिये—यद्यपि ऐसे इस उत्कृष्ट धर्मका कोई अपना व्यावहारिक रूप बनाये तो निर्ग्रन्थ दीक्षा लेगा क्योकि बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध विकल्पका कारण बनता है। उन समस्त पदार्थोसे निवृत्त हो जायगा, निःसग हो जायगा, ऐसी स्थिति करके साधना बनेगी, लेकिन अधिकरण शक्तिके नाते देखिये कि तिसपर भी धर्म किस शक्तिमे, किस परिणतिमे प्रकट होता है, देहकी परिणतिमे या बाहरी क्रियामे ? धर्म प्रकट होता है आत्माके सहज स्वरूप दर्शन ज्ञान चारित्रमे, ऐसा है यह सहज प्रियतम धर्म। ऐसा धर्म कोई कर पाये तो क्या वह अशान्त रहेगा ? क्या उसको कोई दुःख रहेगा ? वह तो उसी समय तृप्त है। उसका तो यह निर्णय है कि मैं कृतार्थ हूँ, बाहरमे मेरे करनेको कुछ नही है। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक रहा ही करते है, तो उनमे मैं क्या परिणति करूँ, मैं क्या कर सकता हू ? ऐसे निर्णयके कारण वह कृतार्थ है, तृप्त है, शान्त है, उसको कहा अशान्ति है ? जिसको सन्देह हुआ हो कि धर्म करते इतना समय हो गया, पर शान्ति नही मिली। तो उसने वास्तवमे धर्मका स्वरूप नही समझा व दुःखका भी स्वरूप नही समझा। दुःख मानता है परपरिणतिको। जैसे—इसका घर अच्छा नही है, इसके मित्र विपरीत चलते है, इसके कुटुम्बी जन अनाज्ञाकारी हैं, निर्धनता लगी हुई है, यो बाहरी पदार्थोकी परिणतिको कहता है वह दुःख, और दुःख वह है नही। दुःख है विकल्प।

दुःखका वास्तविक रूप—दुःख है ज्ञानसुधा सागरमे निमग्न रहनेका स्वभाव रखने वाला यह आत्मा अपने उपयोगको ज्ञानसमुद्रसे बाहरकी ओर निकलकर फेंक देता है यही है मूल दुःख, इसका बाहरी पदार्थोमे दृष्टि देनेका ढग इसी तरहका है कि मानो अपने भीतर की उस निधिको बाहरमे फेंक दिया। तो जो अपने आप पर इतना अन्याय करे कि अपनी उस ज्ञाननिधिको अपनेसे हटाकर बाहरी पदार्थोमे फेंक दे तो ऐसा पुरुष तो दुःखी ही रहेगा प्रकृत्या। दुःखका कारण अन्य कुछ न बताये कि अमुक पदार्थ यो हो गया सो दुःख है। दुःखका कारण यह है कि अपने इस ज्ञानसुधासागरसे हटकर बाहरी रेतीली भूमिमे इस उपयोग मछलीको पटक दिया। मछली तालाबसे निकल कर बाहर गिर पडे तो कोई कहे कि देखो इस रेतने दुःख दिया, इस जमीनने दुःख दिया। अरे दुःखका कारण तो मूलमे

यह बना कि अपने इस ज्ञानसुधासागरसे फिक कर दूर हो जाता है सो दुखी होता है। तो जिनका यह सदेह है कि धर्म करने पर भी दुख नही मिटता उन्होने न धर्मका ही स्वरूप जाना और न दुखका ही स्वरूप जाना। धर्म है आत्माश्रयज भाव, धर्म है इस विशुद्ध आत्मद्रव्यके आधारमे। आधार है मेरा यह मैं, शरण है मेरा यह मै। वैसे भी सोच लीजिए कि यदि यह उपयोग अपने इस शुद्ध आत्मद्रव्यको निरखकर इस शुद्ध चैतन्यके अवलोकनमे ही तृप्त रह रहा है तो बाहर कही कुछ भी छिदे भिदे और वैसा ही परिणमन करे कोई विरोधी इसका लक्ष्य करके विरोधकी कल्पना ही करता रहे अथवा विरोधी वचन भी बोले या कही कैसा भी परिणमन हो, लेकिन इस गुप्तस्वरूप इस धर्ममय आत्माके लिए कोई बाहरी पदार्थ इसके दुखके हेतु नही बन सकते। यह ही अपने ज्ञानभावको तजकर यदि बाहर आता है, अधर्ममे आता है तो यह दुखी होता है, तो इसमे मेरा ही तो अपराध कारण है।

ज्ञानकी ज्ञानतास्वरूपमें प्रतिष्ठितता--यहाँ निरखियेगा स्वरूप निर्णय करके कि विकारमे और मेरे स्वभावमे (इस ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थितिमे) कितना अन्तर है ? विकार तो अज्ञानरूप है और यह मैं वीतराग ज्ञानन यह ज्ञानरूप है। ज्ञान और अज्ञानमे आधार आधेय भाव हो सकता है क्या ? ज्ञानी पुरुषको ये दोनो बातें स्वभाव और विज्ञान, यह जाननस्वरूप और ये रागादिक विकार ऐसे पृथक् स्वरूप वाले नजर आ रहे है कि जिनमे मेल करनेका कोई अवकाश ही नही। उक्त विवेचनसे यह निर्णय हुआ कि इस ज्ञान और अज्ञानमे आधार-आधेयपना नही है, तब फिर उसका यह ज्ञान धर्म, उसका यह जाननधर्म जब इस रागके आधार भी न रहा तो किसके आधार है ? किसका आधार बताये ? स्वरूप-दृष्टि कीजिए यह ज्ञान ज्ञानके आधार है, यह ज्ञानविकास ज्ञानमात्र आत्माके आधार है। आत्मद्रव्य कहो, ज्ञानमात्र कहो, ज्ञान कहो सब एक बात हो रही है। जैसे एक आकाशको कोई प्रश्न करे कि यह किसके आधार पर टिका हुआ है ? तो वहाँ उत्तर होगा कि आकाश तो केवल एक आकाशमे ही प्रतिष्ठित है। वहाँ ही रह रहा है उसके लिए पर कोई आधार नही है, ऐसे ही अपनी बुद्धिको लेकर, अपने ज्ञानस्वरूपको उपयोगमे लेकर वहाँ उस प्रकार से अपनेको डुबाइये याने जिस ज्ञानस्वरूप है उस स्वरूप रूपसे उपयोगको डुबाइये, यह है इसके जाननेकी प्रायोगिक पद्धति। इस स्थितिमे वहाँ शेष अन्य द्रव्यका रोपण नही है। तब वहाँ यही दिखेगा कि इस ज्ञानका ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नही है।

अपने परमार्थ आधारकी सुधकी निधि वालोंके आकुलताका अभाव--यह मै ज्ञान-स्वरूप आत्मा इसका प्रभु सम वैभव है, लेकिन ससारी प्राणी अपने आपपर अपने ही स्वभावसे नित्य अन्त प्रकाशमान इस अलौकिक वैभव पर दृष्टि नही देते है और बाहर

दृष्टि करके मानते है कि मैं दीन हूँ, मैं बलिष्ठ हूँ आदिक। इस रूपसे बुद्धि करते है और दुःखी होते है। दुःख दूर करना है तो उसका उपाय सिवाय निज आत्मभगवानके आश्रयके कुछ न मिलेगा और उसके पहिले जो भी आश्रय हैं—पूजा, भक्ति, स्वाध्याय आदिक वे सब इस आत्मद्रव्यकी उपासना करानेके लिए है। जो भी जीव सिद्ध हुए है वे भेदविज्ञानके बल से अपने आपमे एकत्वनिश्चयगत आत्मस्वरूपमे अभेद होकर सिद्ध हुए और इस उपायके अभावमे जीव अब तक बँधे पडे हुए है। तो यहा यह जानें कि मेरे धर्मका आधार क्या है, मेरे कल्याणका आधार क्या है, मेरे हितका, मेरे कल्याणका आधार क्या है ? वह है सहज शुद्ध आत्मद्रव्य। जिसने अपना आधार पाया वह आकुलित नही रह सकता। जैसे ये लौकिक मुसाफिर जब मुसाफिरी करते हैं, रेलमे जाते है तो अपने साथ बहुतसे मुसाफिर साथमे खाने का टिफिन बाक्स ले जाते हैं। उनको मुसाफिरीमे क्या फिकर ? जहा ही भूख लगी, झट खोला और खाया। और, जिनके पास नही हैं, वे स्टेशनोपर खानेका सामान पूछते फिरते है, हैरान होते रहते है, यो ही जिन्होने अपने आपके आत्मस्वभावका दर्शन, अपनेको ज्ञानमात्ररूपमे अवलोकन, यह निधि प्राप्त कर ली है उनको इस अपनी लम्बी मुसाफिरीमे कही फिकर नही रहती। कभी भी वैसी ही कठिनसे कठिन स्थिति आये झट उस निधिकी ओर दृष्टि की, अपने आपके आधारमे आये, लो सारा दुःख मिट गया। उन्हे क्या चिन्ता है ? चिन्ता तो उन्हे रहती है जिनको अपने आपका आधार नही मिला। लोगोने अपने वास्तविक वैभवको पहिचाना ही नही, यहाके इन मायामायी वैभवोको ही (घर द्वार, धन धान्य, रुपया पैसा, सोना चादी आदिक) को ही अपना वैभव माना, सर्वस्व माना, उनसे ही सुखकी आश लगायी, पर होता क्या है कि इन बाह्य वैभवोके ही पीछे रात दिन हैरान रहा करते हैं, दुःखी रहा करते है।

अपने आधारकी सुध वाले महात्माओंके प्रतिकूल स्थितिमें भी अनुपम धैर्य, साहस एवं परमसमताका अभिनन्दन—देखिये गत समयमे बहुतसे ऐसे पुरुष हो चुके हैं जिन्होने अपनी उस वास्तविक निधिको पहिचाना था, और यहाके इस मायामयी वैभवको असार जानकर ठुकराया था। देखिये सुकौशल सुकुमाल जैसे राजपुत्र जो कि जवानीके प्रारम्भमे ही विरक्त हो गए, निर्ग्रन्थ होकर तपश्चरण करने लगे। अब उनकी मा इस बातसे दुःखी थी कि मेरा पति भी मुनि हो गया और जिस पुत्रका मैंने आधार तका था वह भी मुनि हो गया। ओह ! इस पुत्रने भी मुझे बहुत दुःखी किया, वह भी मुझे छोडकर चला गया। यो उस पुत्रको बडी शत्रुताकी दृष्टिसे देखा। उस खोटे भावमे मरण करके वह (सुकौशलकी माता) सिंहनी बनी। सिंहनी होकर उसने सुकौशल पर आक्रमण किया। मुखसे खाया, दातोसे चीथा और पञ्जोसे खरोचा, इतने पर भी सुकौशलकी क्या स्थिति थी ? अरे

उनका उपयोग तो उस शुद्ध चैतन्यवैभवमे लग रहा था। वहा ही ध्यान था, उसही रूप अपनेको मानता हुआ तृप्त हो रहा था। अन्त आकुलता न थी। देखिये—बाह्य स्थिति उनकी कैसी हो रही थी पर अन्तरङ्ग स्थिति किस प्रकारकी थी? अभी आप लोग ही यहासे कही जावे, रास्तेमे कोई भयंकर जगल मिले कुछ अधेरासा भी होने लगे तो आप यह ख्याल करके कि कही सिहादिक हिसक पशु न आ जाय तो खा जाय, भयभीत हो जायेगे। तो जब सिहका संकल्पमात्र करके भय उत्पन्न होता है तब तो फिर सुकौशलकी उस समय कैसी स्थिति बतायी जाय जब कि सिहनी उनके सामने थी, पजो और दातोसे सुकौशलके सुकुमारदेहको विदार रही थी, इससे बढकर भयकारी स्थिति और क्या कही जाय? लेकिन उस समय सुकौशल रच भी चलित न हुए। उन्हे इस शरीरका रंच भी भान उस समय न था। एक निजात्मनिधिको ही निरख निरखकर वे खुश हो रहे थे। ऐसे ही सुकुमाल मुनिको स्यालिनीने तीन दिन तक खूब अच्छी तरहसे भखा, खूब चीथ चीथ कर खाया, बडा अच्छा मौका मिल गया था, पिछले भवोकी शत्रुता भी थी, उस समय सुकुमाल मुनि रच भी हिल डुल भी न रहे थे, सो सुकुमालका शरीर खूब चीथ चीथकर स्यालिनी द्वारा खाया गया, लेकिन ऐसी कठिन स्थितिमे भी वे आत्मस्वरूपके ध्यानसे रच भी चलित न हुए। बाह्यमे इतनी विकट स्थिति थी फिर भी वे अन्त प्रसन्न ही रहे। तो जिन्होने अपने आपके आधारको समझ लिया और जो उस पर प्रायोगिक कदम बढाने लगे उनको आकुलता नही होती। यह तो मुनिराजोकी बात है। जरा गृहस्थोमे देखिये—जिस समय सती सीताको रामके आदेशानुसार कृतान्तवक्र सेनापतिने तीर्थ करा देनेके बाद भयानक जगलमे छोडा और कुछ रुधकर कहते हुए, रथ घुमाते हुए, आसू बहाते हुए कहा—ऐ सीते पावन महादेवी! यह जगल बहुत भयानक है, तुमको ऐसे भयानक जगलमे छोडा जाना योग्य नही है फिर भी श्री रामके आदेशानुसार मुझे छोडना पड रहा है। क्या करूँ, श्री रामका ऐसा ही आदेश था, माफ करना, । कुछ अपनी दासताको धिक्कारने लगा, सती सीता, जिसको कि विवेक था, श्रद्धा थी, जिसने अपने आपके आधारको समझा था व सम्हाला था, उसने सेनापतिके करुण रुदनको सुनकर भी भगवान कारणसमयसार निज-परमात्मतत्त्वका आधार चितारकर मनमे धीरता धरी, और सेनापतिसे कहा—ऐ सेनापति, तुम दुखी मत होओ—जावो मेरी तरफसे पतिदेवको (श्री रामको) यो कह देना कि—"जिस तरह लोकापवादके भयसे मुझे छोड दिया है उस तरहसे इस लोकापवादके भयसे अपने इस पवित्र धर्मको न छोड देना।" सेनापति वापिस लौट गया। तो देखिये—सीताने अपने आपके आधारको पहिचाना था, और उस ही आधारको सम्हाला था जिससे भयानक विपदाके समयमे भी वह आकुलित न हुई। तो जिसे अपने आपके आधारका पता न

व उसको प्राप्त कर लेता है, बाह्य स्थितियोको निरखकर रच भी आकुलित नही होता है, घबराता नही है, दु खी नही होता है । वह तो अपनी उस अनुपम निधिको ही निरख-निरख कर तृप्त रहता है ।

अधिकरणशक्तिकी व्याख्यामें सभी कारकोंकी अभिन्नताका दर्शन—अधिकरणशक्ति मे बताया गया है कि हुआये गए भावके आधारमय होनेरूप शक्तिको अधिकरण शक्ति कहते है । इस लक्षणसे यह भी प्रकट होता है कि वह जो आत्माका भाव हुआ है उसका कर्ता भी यही आत्मा है । इस ही के द्वारा वह हुआ है । होना तो जिस पदार्थका हुआ, स्वय ही हुआ व इसका हुआने वाला भी यही स्वय हू । अकर्मक धातुमे प्रेरणा भी लेंगे तो वह स्वय की स्वयसे प्रेरणा लगा करती है, जैसे यह अपनेको हुआता है । यदि करनेकी बात या अन्य कुछ बात हो तो उसमे भिन्नकी भी बात सोची जा सकती है । लोकव्यवहारसे भी जहाँ होनेकी प्रेरणा देने वाला कोई है तो वहाँ भी भिन्न नही हो पाता । तो इस प्रकार आत्मा मे आत्माके आश्रयसे जो भाव उत्पन्न हुआ है उसका आधार बना रहे, ऐसी इस ही आत्मा मे शक्ति है । इस लक्षणसे सभी कारकोका बोध हो जाता है । करने वाला भी यही है और जब इसने ही किया, इसमे ही हुआ तो कर्म भिन्न कैसे हो सकता है ? जिसका कर्ता और अधिकरण दोनो स्पष्टरूपसे भिन्न है उसका कर्म भिन्न कहा होगा ? और, जिसका कर्ता, कर्म, क्रिया बाहरमे नही है उसका साधन (करण) भी वही परमार्थ है और उसमे यही ध्रुव अपादान भी है । इतना सब कुछ अभेद निरखनेपर स्पष्ट विदित हो जाता है कि सम्प्रदान भी यही है । तो एक अधिकरण शक्तिकी लक्षणकी व्याख्यामे सभी कारकोमे अभिन्नता प्रकट होती है । इससे यह बात विदित हुई कि आत्मामे आत्माके ही आश्रयसे हुआ भाव जिसमे किसी परका आश्रय नही बनाना है किसी अन्य निमित्तसे नही हुआ है, ऐसी एक अपने ही सर्वस्व सामर्थ्यसे होने वाला जो भाव है उस भावका कर्ता कोई भिन्न नही । किसी निमित्त अथवा आश्रयसे यह भाव नही होता, अर्थात् परका तो इसमे अत्यन्ताभाव ही रहा । रही निमित्तनैमित्तिककी बात, शुभ अशुभभावोमे जो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है वह ठीक है, क्योकि अगर परनिमित्त बिना कोई विषम भाव बनने लगे शुभ अथवा अशुभ भाव तब वे तो स्वभाव बन जायेंगे और उनका कभी क्षय भी नही हो सकता । लेकिन इस प्रकरणमे यह निरखना होगा कि वह पराश्रयज भाव है । यहा स्वाश्रयज भावकी दृष्टि चल रही है एक आत्महितके प्रसगमे । तो अधिकरण शक्तिका अर्थ है—भाव्यमान भावके आधार रूपसे होनेका सामर्थ्य ।

विशल्याके जीवकी पूर्वभवमें अनङ्गशराके जीवनमें भयङ्कर प्रतिकूल घटनामें भी धीरताका आदर्श उदाहरण—जिन जीवोने ऐसे अपने विशुद्ध आधारको पाया है, इस आधार

पर जिनकी दृष्टि पहुचती है और जिनकी यह ही रुचि है, इसके शरणमे रहनेसे रक्षा है, शान्ति है, निराकुलता है तो जीवको और चाहिये क्या ? तो जिसके आधारमे यह शान्ति का अनुभव करता है, ऐसा जिसको आधार मिला है ऐसा पुरुष प्रतिकूल स्थितियोमे भी क्षुब्ध नही होता, अन्त विचलित नही होता कि कही अपने स्वरूपकी सभाल खो वैठे। उसे अपने आपके स्वरूपकी सभाल बराबर बनी रहती है। देखिये—विशल्याके पूर्वभवकी एक घटना आयी है, जब कि वह एक चक्रवर्तीकी पुत्री थी। उसका नाम था अनङ्गशरा। वह रूपमे वहुत सुन्दर थी। उसको हरनेके लिए अनेक लोगोने कोशिश की और एक बार कोई विद्याधर उसे हर ले गया। वह विमानमे बैठाये हुए हरकर लिए जा रहा था। कुछ लोगो को खबर पडी तो उन्होने उस विद्याधरका पीछा किया। तो उस विद्याधरने डरके मारे उस पुत्रीको एक जंगलमे छोड दिया। वह जगल अति भयानक था। अब देखिये उस जंगल मे उस चक्रवर्तीकी पुत्री का शरण कौन था ? कुछ भी तो उसके पास न था। मात्र जो कपडे पहिने थी वही थोड़े दिन रहे होगे। साल दो सालमे वे भी फट गए होगे, फिर किस तरहसे वह रही होगी, इस पर तो कुछ विचार कीजिये--शायद वह तो नग्न ही रही होगी या पत्र वक्कल पहिने होगे। और कोई साल दो सालकी बात नही, वह ३ हजार वर्ष तक उसी जंगलमे रही। अब बतलाइये उसके लिए उस भयानक जगलमे कौन शरण था, कौन रक्षक था। उसका तो किसीको पता ही न था। उसके पिताने बहुत छानबीन की, पर उसका कुछ पता न चला। देखिये—वहाँ पर तो उस चक्रवर्तीकी पुत्रीके लिए खाने पीनेका भी कुछ सेरा न था। उसकी वहाँ पर कोई बात पूछने वाला भी न था, किस तरहसे उसने इतना ३००० वर्षका लम्बा समय व्यतीत किया होगा ? लेकिन वहा पर भी उस अनङ्गशराने (उस पुत्रीने) अपने आधारको पहिचाना था, उसे सम्यक्त्वके प्रभावसे वहां पर भी रंच भय न था। उस पुत्रीने अपनी शक्तिको, अपने आधारको अपने उपयोगमे लिया था, इसी कारण उस भयानक जगलमे भी प्रसन्न रही। प्रमाण इसका यह है कि जब अन्तमे किसी तरहसे उस चक्रवर्तीको अपनी पुत्रीका पता पडा तो उस जगलमे पहुँचा। उस समय उस पुत्रीकी क्या स्थिति थी ? अरे एक महाभयानक सर्पने (अजगरने) उसके आधे अंगको (पैरोसे लेकर कमर तक) निगल लिया था। जब पिताने (चक्रवर्तीने) अपनी पुत्रीको पहिचाना और उसको ऐसी भयानक दशामे देखा तो उसका जी दहल गया। उस सर्पके ऊपर विकट रोष किया, शस्त्र द्वारा उस सर्पके खण्ड खण्ड कर देनेका विचार बनाया। उसी समय वह पुत्री बोल उठी--"ऐ पिताजी तुम इस जीवको न मारो, इसे अभयदान दो" बतलाओ--उस अनङ्गशराकी यह स्थिति क्या प्रमाणित नही करती कि उसने ३००० (तीन हजार) वर्षका अपना जीवन विशुद्ध भावोमे व्यतीत किया होगा ? और, विवशतामे भी सही, किन्तु जब रागद्वेष

के आश्रयभूत पदार्थ सामने नही होते तो वहा विशुद्धिके जगनेका भी प्राकृतिक अवसर है। अब बतलाइये—इससे प्रतिकूल घटना और क्या प्रस्तुत की जाय ? यहा तो लोग दो चार दिनोमे ही घबडा जाते है, पर उस चक्रवर्तीकी पुत्री अनङ्गशराने जो स्थितिया ३००० वर्ष तक देखी होगी उनका क्या बखान किया जाय ? लेकिन वहा पर भी उन विकट स्थितियोमे भी उसने अपने आधारभूत उस आत्मद्रव्यकी उपासना किया होगा, उसीको अपने आश्रयमे लिया होगा, अपने आधारभूत भगवान आत्मद्रव्यकी सुध लिया होगा जिससे वह वहा पर भी प्रसन्न रही। तो धन्य है उसका जीवन जो अपने आधारको तके और उसको ही अपने आश्रयमे ले।

अति प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी सम्यग्दृष्टि नारकीका प्रसादपूर्ण अन्तर्ज्ञान—यहा हम आप मनुष्यजीवनमे जी रहे है तो किसलिये जी रहे है ? क्या धनार्जनके लिए ? क्या सासारिक मौज लूटनेके लिए ? अरे ये तो सब थोथी बाते है, इनमे पडकर तो अपने इस दुर्लभ मानवजीवनको व्यर्थमे ही खो देना है। यहाके बाहरी प्रसंगोमे ही रह रहकर बेचैन हो होकर यदि इस जीवनको व्यर्थ ही गँवा दिया तो फिर आगे क्या स्थिति होगी, इसपर भी तो कुछ विचार करे। देखिये यह प्राणी अपनी बरबादी कर रहा है, अपने आधारभूत परमतत्त्वको नही पहिचान रहा है, उसका आश्रय नही ले रहा है। यही कारण है कि इसका कल्याण नही हो पा रहा है। अरे इस संसारके विकट आवागमनके कष्टोसे मुक्ति प्राप्त होगी इस ही आत्मद्रव्यका आश्रय लेनेसे। अब और भी ऊचीसे ऊची घटनाये देखिये—कोई सप्तम नरकका नारकी हो, उसको यदि पूर्वकालके देशना सस्कारके वशसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाय तो फिर उसकी अन्तर्दृष्टि कितनी बदल जाती है ? उसे क्या इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव नही होता ? होता है। तो अपने आधारका आश्रय लेनेसे ऐसी होती है उस सम्यग्दृष्टि नारकीकी स्थिति। और भी देखिये—सप्तम नरकके नारकी की जघन्य आयु २२ सागरकी तथा उत्कृष्ट आयु ३३ सागरकी बतायी है। इतना काल व्यतीत होनेके पहिले उन नारकियोका बीचमे मरण नही होता, इतने लम्बे काल तक वह नारकी जीव सप्तम नरकके घोर दुःख सहता रहता है, फिर भी सम्यक्त्वके जागृत होनेसे (अपने आपके आधारका पता पडनेसे) तथा उसको ही अपने आश्रयमे लेनेसे उसे वे वेदनायें वेदनारूप नही प्रतीत होती। और एक ३१ सागरकी आयु पर्यन्त तक रहने वाला नवग्रैवयकका अहमिन्द्र देव जो कि मिथ्यादृष्टि हो उसकी चाहे कितनी ही मौज माननेके साधनोकी स्थिति हो फिर भी वह निरन्तर दुःखी रहा करता है। इन्द्रोका दुःख तो अधिक है, देखिये हुक्म मानने वाले को भी दुःख होता है और हुक्म देने वालेको भी। कही ऐसा नही है कि हुक्म मानने वाला ही दुःखी होता हो, हुक्म देने वाला नही। तो अब देखिये—उस सम्यग्दृष्टि नारकीकी और

नवग्रैवयकके अहिमिन्द्र देवकी तुलना कीजिए। किसमे शान्तिका अभ्युदय हो रहा है और किसमे नही ? अब इससे अधिक प्रतिकूल स्थितियो वाला उदाहरण और क्या बताया जाय ? अरे जिन नरकोमे निरन्तर मारकाट है, कोई जीव किसी दूसरे पर दया करने वाला नही है, जहा खोटी लेश्याके ही परिणाम है, जहा निरन्तर दुख ही दुख बताया गया है और फिर शीतके कारण प्राकृतिक दु.ख है, वहाकी भूमिके स्पर्शके प्राकृतिक दुख है, वहा रहने वाले जीव कटते, छिदते भिदते है, खण्ड-खण्ड हो जाते है फिर भी मरते नही है। वे पारेकी तरह फिर मिल जाते हैं। ऐसी प्रतिकूल स्थितियोमे भी जिनको इस आत्मदेवका आधार मिला है उनको वहा भी कोई विह्वलता नही होती।

लौकिक पुत्र पिता माताको आधार माननेका क्लेशकारी व्यामोह—अब इन सब घटनाओसे हम आपको शिक्षा यह लेते रहना चाहिये कि बाहरमे चाहे करना कुछ भी पडे, पर सदा भीतरमे यह भान रहे कि इससे मेरा पूरा नही पड़ता। मेरा पूरा पडता है इन रत्नत्रय भावोसे, सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र परिणमनसे। और, इनका वह आधार है आत्म-द्रव्य। इनका जो कुछ भी अभेदषट्कारकरूपसे समझा गया उसकी परखमे चिन्तना कीजिए। अव जरा कुछ व्यावहारिक दृष्टिमे आकर भी चिन्तन कीजिये। मै किसका आधार लूं, किसका शरण लूं कि मुझे शान्ति प्राप्त हो ? समस्या तो सबकी एक ही है। सभी चाहते हैं कि मुझे वह आधार मिले, ऐसा सहारा मिले जहा मेरेको शान्ति ही प्राप्त हो। तो ऐसा आधार क्या है ? बाहरमे दृष्टि पसारकर देख लो—क्या पुत्रके आधारसे शान्ति मिल जायगी ? प्राय सभी लोग पिता पिता ही तो है अपने अपने पुत्रोके, पर आप बता-इये—पुत्रके आधारसे आपको शान्ति मिली क्या ? अरे कितने-कितने विह्वलता उन पुत्रोके प्रति रहते है, फिर भी ममता ऐसी है कि उनके द्वारा कष्ट पाते रहते है फिर भी उनको हृदयसे अलग नही कर पाते। एक घरके दरवाजेपर बैठा हुआ बूढा अपने पोतोके द्वारा हैरान किए जानेसे दुखी हो रहा था। कोई पोता शिरपर चढे, कोई मूछ पटाये, कोई बाल नोचे, कोई पीठ पर लदे · तो वह बूढा हैरान होकर दुखीसा बैठा हुआ रो रहा था। इतनेमे एक सन्यासी जी दरवाजेसे निकले। संन्यासी जी ने पूछा—बाबा जी क्यो दुखी हो रहे हो ? तो वह बूढा आदमी बोला—महाराज हमको इन नाती पोतोने बहुत हैरान कर रखा है, कोई शिरपर चढते, कोई मूछ पटाते, कोई कुछ करते, सो महाराज हमपर बडी आपत्ति है। तो सन्यासी बोला—अच्छा हम तुम्हे एक तरकीव बतावेगे जिससे तुम्हारी ये सब आपत्तिया टल जायेंगी। इतनी बात सुनकर वह बूढा बहुत खुश हुआ। उसने समझा कि संन्यासी जी कोई ऐसा मत्र पढ देगे कि ये सब नाती पोते फिर तो हमारे सामने हाथ जोडते फिरेंगे। पर सन्यासीने कहा—"बाबाजी तुम घर छोड दो, हमारे साथ चलो, बस

तुम्हारी ये सब आपत्तियाँ खतम।" इतनी बात सुनकर बाबा जी बिगड गए सन्यासी जी पर, बोले—"अरे तुम कौन आये हमको बहकाने ? ये हमारे नाती पोते है, हम इनके दादा है, ये हमारे नाती पोते ही कहलायेगे, हम इनके दादा ही कहलायेगे। हमारे इस सम्बन्ध को कौन मेट सकेगा ? तुम तो महाराज बीच मे दलाल सा बनकर आये हो, तुम अपनी रास्ता जावो, हम नही जाते तुम्हारे साथ, हम तो यही रहेगे।" तो देखिये इस ममताके ही कारण तो ये प्राणी दुखी होते जाते और फिर भी इस ममताको नही छोडना चाहते। यह ममता डाइन तो इस जीवको ऐसा पीस डालती है कि जैसे वज्रका आघात पीस डालता है। तो ये प्राणी पिसते भी जा रहे हैं फिर भी मैं पिस रहा हू ऐसी सुध भी नही करते। तो देखिये हम इस जगतमे किसका आधार ले कि हमे शान्ति प्राप्त हो ? और अध्यात्ममे देखे तो मेरा पुत्र तो मेरा ही निर्मलभाव है। वही मुझसे पैदा होता है, उसका ही मैं जनक हू, और मेरी ये शक्तियाँ ये ही सब उस भावकी जननी हैं। तो वह पुत्र क्या ? निर्मलभाव, और पुत्र कहते उसे हैं जो अपने वशको पवित्र करे। वश मेरा क्या है ? चैतन्यवश। लोग मानते—मैं वैश्य हू, क्षत्रिय हू, ब्राह्मण हू आदिक तो ये मेरे वश नही। मैं जो कुछ हू उसी को निरखकर बताओ कि मेरा कुल क्या है ? मेरा वश है चैतन्य। उस मेरे वशको जो पवित्र करे वह है मेरा पुत्र। अब उस चैतन्यवशको पवित्र करने वाला दूसरा कौन होगा ? मैं ही अपने अपराधसे अपवित्र बन रहा था और मैं अपने आपमे पवित्र बन रहा हू। बनूं तो मैं ही तो पवित्र कर सकता हू, यही मैं पुत्र हू और इसीका ही मुझे सहारा है और इन सबको उत्पन्न करने वाला भी यही मैं हू। मेरा फिर भी कही बाहर नही है, मेरा रक्षक भी कही बाहर नही, मेरा जनक भी कही अन्यत्र नही। मैं हू निर्मल पर्यायरूप, सो ही मैं अपने आपमे अपने आपका ही सहारा लिए हुए रहता हू। पिताका भी सहारा बाहरमे कोई सुख शान्तिका कारण है क्या ? इसके भी अनेक दृष्टान्त मिलते है। बडे पुराण पुरुषोके दृष्टान्त देख लो, अथवा यहाँ ही अनेक दृष्टान्त मिलते है।

लौकिक स्त्रीको आधार माननेका अनर्थक व्यामोह—बाहरमे मेरे लिए कोई शरण नही है। लोग समझते है कि मेरी स्त्री मेरे लिए शरण है क्योकि जीवनमे प्राय करके स्त्री ही साथ देती हुई देखी जाती है, पर वास्तवमे वह भी शरण नही, अरे सभी जीव अपने-अपने भाव लिए हुए हे, अपने-अपने कषायभाव लिए हुए चल रहे हैं और उस कषाय भाव के अनुकूल अपने आपमे अपना परिणमन किये जा रहे हैं, कौन किसका पूछने वाला है ? यहाँ तो मित्रता केवल कषायसे कषायके मिलनेकी है, कषायसे कषाय न मिली तो काहेकी मित्रता ? यहाँ वास्तवमे कोई किसीका शरण नही। मेरी स्त्री मुझमे ही है। जो मेरी निर्मल परिणति है वही मेरी स्त्री है। जो रमावे उसीको तो स्त्री कहते हैं, मेरे रमाने

वाली मेरी ही भावपरिणति है, चैतन्यपरिणति है, उसी शुद्धपरिणतिरूप रमणीका सहारा ले। इस चैतन्यपरिणतिरूपी स्त्रीमे रमण करनेसे यह भी प्रसन्न है और वह चैतन्यदेव भी प्रसन्न है। बाहरमे कहाँ क्या खोजते ? बाहरमे ऐसा है कौन जो मेरे लिए शरण हो ? मित्रकी बात देखिये—मित्र कहलाता है वह कि जहा कषायसे कषाय मिल गई। पर यह मित्रता क्या ? हा कुछ धर्ममार्गमे मित्रताकी जरूरत है, पर यहा भी यदि वही (कषायसे कषाय मिलनेकी) पद्धति रही तब तो यह कोई प्रशसनीय मित्रता न कहलायेगी। अरे कुछ साधर्मी बन्धु मित्रता करे तो धर्ममार्गमे बढनेके लिए करें। स्वाध्याय, सगति, सयम, धर्म चर्चा, धर्मपालन आदिके कार्योंके लिए मित्रता बनाये तब तो वह प्रशंसनीय मित्रता कहलायेगी। यहाकी इस झूठी मित्रतामे तो कुछ गम नही। यहा किसीसे शरणकी आशा करना व्यर्थ है।

गुरु शिष्य आदि सम्बन्धोंमें भी आधाराधेय भावका अभाव—एक बहुत बडा नाता होता है गुरु शिष्यका। यह नाता माता, पिता, पुत्रादिकके नातेसे भी बढकर होता है, पर वहां पर भी क्या गुरुको शिष्यके आधारसे या शिष्यको गुरुके आधारसे शान्ति प्राप्त होती है ? यद्यपि अन्य लोगोकी अपेक्षा बहुत कुछ यह बात है कि एक दूसरेके शान्त होनेमे निमित्त है, क्योकि वहा एक हितका सम्बन्ध है, लेकिन वस्तुतः देखा जाय तो शान्ति उन्हे भी अपने अपने आधारसे ही प्राप्त होती है। किसी एकके आधारसे किसी दूसरेको शान्ति नही मिलती। शिष्य कहते है उसे जो शिक्षित किया गया हो, अनुशाशित हो और गुरु वह है जो अनुशासन करे, मार्ग दर्शाये। तो यहा अपने आपमे देखिये—मार्गदर्शक कौन और अनुशाशित कौन ? तो यही अपने आपके भावमे जो एक मार्गदर्शन हुआ यही गुरु और शिष्यपनेकी परमार्थत बात है। यहा बाहरमे किसका शरण लिया जाय कि शान्ति प्राप्त हो ? एक-एक करके सबका निरीक्षण करते जावो, तत्त्व यही मिलेगा कि किसी भी बाह्यपदार्थका आधार, शरण, आश्रय लेनेसे, उसमे हितदृष्टि करनेसे अपने स्वरूपको न पाकर, अपने स्वरूपसे च्युत होकर उन्हे आश्रयभूत बनानेसे शान्तिका अभ्युदय नही होता, किन्तु अपने आपके इस भगवान आत्मद्रव्यके आधारमे ही वह निर्मल परिणमन होता कि जहा शान्तिका साम्राज्य हो।

आत्माकी आन्तरिक व्याधियां और दुःखमयता—यह ससार दुःखसे परिपूर्ण है। संसारका अर्थ है रागादिक विभाव। रागद्वेषादिक जो स्वरूपके प्रतिकूल विभाव है उनका नाम है संसार। संसार दुःखमय है, इसका अर्थ यह लगाना चाहिये कि ये रागद्वेषादिक परिणमन सब दुःखमय है। आत्माके आश्रयसे, परका आश्रय बिना जो मेरेमे सहज होता हो सो होओ, वही कल्याणमय भाव है। उसके अतिरिक्त जितने पराश्रयज भाव है वे सब

दु खसे परिपूर्ण है। ऐसे इस ससारमे जन्ममरण बुढापा विकल्प शका आदिक कितने रोग बताये जाये, इस जीवको वे सब परेशान किये हुए हैं। जैसे कहते है कि शरीरमे करोडो व्याधियाँ है, जितने रोम होते है उनसे कई गुना व्याधियाँ है और आत्मामे उससे तो कितनी ही गुनी व्याधियाँ है, जैसे शरीरकी अनेक व्याधियोका पता भी नही रहता और व्याधियाँ बनी रहती हैं ऐसे ही जीवमे कितनी व्याधियाँ है ? अनगिनते, जिनका कि इस जीवको पता भी नही रहता। जैसे मोटे रूपके रोगका पता रहता है, बुखार हो गया, फोडा फुसी हो गया, खून खराब हो गया, खाज खुजली हो गई, वात रोग हो गया, आदि यो मोटे रोगोका तो पता है हमे, पर गुप्त सूक्ष्म रोग और कितने हैं, उनका हमे कहाँ भान है ? उनका भान नही है तो हम अधिक दु ख नही मानते मगर वे जो कुछ करते है, उन रोगोका जो प्रभाव है वह तो शरीरमे चलता ही रहता है। और कितने ही छोटे रोग ऐसे हैं जिनका पता न होनेसे उसको दूर करनेका यत्न नही होता। और वे ही छोटे रोग धीरे धीरे बढते-बढते किसी समय बहुत बडा रूपक रख लेते हैं। ऐसे ही यहाँ आत्मामे देखिये कितने ही रोगोका हमे पता ही नही है, न जाने कितने विकल्प, कितनी विपदाये, कितने सताप इस जीवको मिल रहे है, पर उपयोग कहीका कही होनेके कारण उन सूक्ष्म रोगोका इस जीवको पता ही नही है। अरे पता न रहे न सही, मगर वे रोग समय आनेपर अपना असर (प्रभाव) तो दिखायेगे ही। अज्ञानी जीवोको भी कहाँ यह पता है कि मुझमे भ्रमका रोग लगा हुआ है। पता न हो तो क्या हुआ ? वह भ्रम तो अपना असर दिखायेगा ही, उससे इस जीवको कष्ट तो मिलेगा ही। ऐसे अनेक रोग इस आत्मामे बसे हुए है जिनका हम इलाज नही करते है और जन्म, मरण, विकल्प, मोह आदिक रोगोका यदि हम इलाज नही करते है तो ये रोग धीरे धीरे अपना विशाल रूपक रखते जाते है व ससारमे जीवको परिभ्रमण कराते है।

आत्मव्याधियोंके दूरीकरणमें स्वयं आत्मद्रव्यकी चिकित्सकता——जीवमे औपाधिक इन रोगोको दूर करनेके लिए किस वैद्यका सहारा ढूंढा जाय ? यहाँ लोकमे तो यदि कोई बीमार हुआ, किसी रोगसे पीडित हुआ तो झट किसी वैद्यकी शरण ग्रहण करता है। वहा पहुचकर अपने रोगका निवारण करता है। पर यहा यह जीव इन आन्तरिक गुप्त रोगोंको दूर करनेके लिए किस वैद्यकी शरण गहे ? यहाके रोग भी वैद्यके द्वारा तभी दूर होते हैं जब अपना खुदका उदय अनुकूल हो। बहुतसी घटनायें ऐसी देखी गई है कि यदि उदय अनुकूल है तो बिना किसी वैद्यका शरण लिए, बिना किसी प्रकारकी चिकित्सा किए स्वय ही रोग दूर हो जाता है। तो यहा आन्तरिक हेतु पुण्योदय है। तो बात यह कह रहे थे कि यहाके लौकिक रोगोको मिटानेके लिए तो लोग वैद्यका शरण लेते है, पर अपने वास्तविक

रोगोको (जन्म मरण, रागद्वेष, मोह विकल्प तरग आदिको) मेटनेके लिए किस वैद्यका सहारा लें ? तो व्यवहारमे हमे सहारा है उनका जो शुद्ध आत्मा है, जिनका उपयोग निर्मल है, ऐसे शुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूपकी उपासना करे, भक्ति करे, यही हमारे लिए व्यवहारमे सहारा है। किन्तु ये बाह्यमे है। इनकी मैं उपासना करता हू, इस प्रकारसे बाहरमे उपयोग ले जाकर उपासना यदि करते है तो समझिये कि अभी वहा अन्तराल पडा हुआ है, भेद पडा हुआ है। वहा वास्तविक शान्तिका उदय नही हो पाता। हा शुभभाव हो रहे है, पात्रता जग रही है, इन विकल्पोसे भी परे केवल ज्ञानमात्र उस शुद्ध आत्मद्रव्यका जब आधार होता है तो शान्तिका, धर्मका अभ्युदय होता है तो मेरे इन रोगोके विनाशके लिए कौनसा वैद्य है ? यह खुद ही मैं। यह खुद ही चिकित्सक बन जाय तो ये विपदाये दूर हो जाये। शिवपथिक महात्मा यह चिकित्सक खुद बना है और करता क्या है ? औषधिपान, ज्ञानके रसमे चारित्रका औषधिका सेवन करता है। वह ज्ञान और चारित्र क्या है ? वीत-राग, ज्ञाताद्रष्टा रहना और इस ही ज्ञानस्वरूपमे स्थिर होना। तो यह भी किस उपायसे बनेगा ? इसका उपाय बस यही है—शुद्ध आत्मद्रव्यका आधार। अधिकरण शक्तिमे अधि-करण स्वभावशक्तिका भी कोई आधार ले तो अन्तर पड जायगा, निर्मलभाव न बनेगा। है उस अधिकरण शक्तिका प्रताप, लेकिन अधिकरण शक्तिसे तन्मय इस अखण्ड आत्माका कोई आश्रय ले तो निर्मल पर्याय प्रकट होती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र रत्नत्रय धर्म प्रकट होता है। इसीको अध्यात्मशास्त्रमे विस्तारपूर्वक बडे बडे सतोने कहा है—निज सहज विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वाभावात्मक निज अन्तस्तत्त्वमे अवस्थित होना, इस ही रूप है रत्नत्रय। इसी को कहते है अभेदरत्नत्रय। जहाँ आत्माकी शक्तियोका भेद किया जाय यही है अधिकरण-शक्ति। इस अधिकरणशक्तिके प्रतापमें मुझे शरण अपने आपमे मिलेगा। भेदबुद्धिमे भी अभी अपूर्व शरण नही मिल पाया। आत्मामे क्या खासियत है इसका ही वर्णन करनेके लिए गुणभेद है, लेकिन गुणभेद करके पृथक गुण पर भी जब तक श्रद्धा है, जब तक चर्चा है, विचार है, चिन्तन है, तब तक वहाँ अभेद अनुभव नही। सर्वशक्तियोमे व्यापक जो एक शुद्ध आत्मद्रव्य है उसके आलम्बनसे यह निर्विकल्प ज्ञानानुभूति प्रकट होती है। तो मेरे इन रोगो की चिकित्साके लिए आधार मेरा ही यह शुद्ध आत्मद्रव्यरूप वैद्य है।

स्वयंकी हुकूमतमें स्वयंका शासन—लोग तो अपनी मौज रखनेके लिए, अपने साधन बनानेके लिए अथवा अपना शासन बनानेके लिए किसी बडे अफसरका सहारा लेते है, लेकिन यहाँ खुदका साम्राज्य पानेके लिए खुदका शासन पानेके लिए, खुदका आनन्द पानेके लिए हमारा अफसर कौन ? हमारा बडा कौन ? जिसका आधार लिया जाय तो कही बाधा न हो, विघ्न न हो, किसी प्रकारका अन्तराय न आये, ऐसा मेरा आधार है, मेरा ही खुदका

अखण्ड शुद्ध आत्मद्रव्य। देखिये मौजमे और आनन्दमे बहुत कुछ फर्क है। मौज क्या चीज है ? अगर सस्कृत शब्दसे देखो तो मा ओज अर्थात् जहाँ ओज न रहे, आत्मामे कान्ति, कीर्ति, बुद्धि, विकास आदिक जहाँ न रहे उसे कहते है मौज। सो देखिये—जितने वैषयिक सुख है इनमे आत्माका बोध नही रहता, वह विषयरचिया दीन हो रहा है, परकी आशा करना है, इसे शान्तिका कहाँ उदय है ? ऐसे सासारिक मौज ये दुखरूप लगने लगें, वह आत्मा पूज्य है, वह आत्मा निकटभव्य है, ससारसे पार हो जायगा। बात जो जैसी है उसे वैसी समझ लेनेमे कोई दिक्कत आ रही है क्या ? हाँ आती है। किसको आती है ? जिसकी विषयोमे रुचि है, जिसके मिथ्यात्वका उदय है।

व्यामोहमें आजीवन कष्टभागिता—यह बात प्रगट है कि ये सासारिक वैषयिक सुख दुखसे भरे हुए है और इस सग समागमके बीच रहने वाला गृहस्थ जीवनभर दुखकी चर्चा करता रहेगा। बचपनमे और तरहके दुख है। जैसे बडे लोग तो सोचते है कि हमसे तो ये छोटे-छोटे लडके सुखी है। इनको किसी बातकी कोई फिकर ही नही है, खूब खेलते कूदते, मौजसे रहते है। इनको वस्त्राभूषणोसे लोग शृङ्गार करते है, इनकी लोग बडी परवाह करते है, सुखी तो ये है , पर उन छोटे-छोटे बालकोके दुखको तो देखिये—वे सोचते है कि मेरे ऊपर तो माता पिता वगैरह सभीका अनुशासन है। जो चाहे हमे झट डाट डपट देता है, हमे ये माँ बाप वगैरह जैसा वे चाहे वैसा रखते है, हमको तो बहुत दबकर रहना पडता है। सुखी तो ये बडे लोग है , ऐसी उन बालकोकी बुद्धि नही होती है क्या ? अरे ऐसी बुद्धि उनके रहती है तभी तो वे जरा-सी बातमे दुखी हो जाया करते हैं। वे सोचते हैं कि मैं भी यदि इनकी तरह बडा होता तो क्या इतना पिटना पडता, इस तरहकी धौसें सहना पडता, मुझे क्यो दुखी होना पडता ? यो छोटे-छोटे बालक भी अपनेको दुखी तथा बडे बूढे लोगोको सुखी अनुभव किया करते है। पर वही बालक जब जवान होते हैं, शादीशुदा हो जाते हैं तब फिर उनके दुखोका ताँता देखिये—निरन्तर आकुलित रहा करते है। अनेको परेशानियाँ बनी रहती है। तभी तो लोगोने एक कहावत कहा है कि "विवाह होने पर बन गए चतुष्पद"। यहाँ चतुष्पदका अर्थ है चार पैरो वाला अर्थात् जानवर। यद्यपि जानवर शब्द बडा उत्तम है, जानवरका अर्थ है ज्ञानमे वर जाननेमे श्रेष्ठ, विद्वान, योगी, ध्यानी आदि, पर लोकरूढिमे जानवरका अर्थ नीच, मूर्ख, तुच्छ आदि शब्दो से लिया जाता है। तो लो विवाह हुआ कि बन गए चतुष्पद। याने दो पैर स्त्रीके और दो खुदके, ऐसे चार पैरो वाले चतुष्पद बन गए। और जब कोई बाल-बच्चा हो गया तो हो गए षट्पद् याने ६ पैरो वाले। ६ पैरो वाले होते है भँवरा वगैरह, तो बाल-बच्चा हो जाने पर तो भँवरे जैसी दशा इस जीवकी हो जाती है। जैसे भँवरा यहाँ गया, वहाँ गया,

इधर बैठा उधर बैठा··। ऐसे ही ये जीव (हम आप) इधर जाते, उधर जाते यह करते वह करते, इधर बैटते उधर बैठते··। और जब और भी अधिक बच्चे हो गए याने अष्टपद बहुपद वगैरह बन गए तो अष्टपद वाले जीव जैसे मकडी वगैरह जीव है उनकी जैसी हालत इस जीवकी हो जाती है। जैसे मकडी स्वय ही जाल पूरती है और उसी जाल मे फसी रहा करती है, उसे वहाँसे निकलनेका मौका नही मिलता, ऐसे ही यह प्राणी स्वय ही बाल बच्चोका झझट पालता है, उन्हीके बीच फंसा रहा करता है, दुखी रहा करता है और उनसे निकलनेका मौका नही मिल पाता।

व्यामोहमें विद्याकी भी कष्टहेतुता—इस प्राणीके दुखकी कहानी कहाँ तक कहे—अगर कोई विद्वान भी बन गया तो उसके अन्दर भी यश, कीर्तिका एक ऐसा रोग लग जाता है कि जिसके पीछे वह आत्मघात तक कर डालता है। गुरुजी कहा करते थे कि कोई एक पडित जी बनारसमे थे ऐसे जो बहुत विद्वान थे, पर वृद्धावस्थामे भी वे रात दिन शास्त्राध्ययन किया करते थे। कुछ लोगोने उनसे कहा कि पडित जी आप इतने तो विद्वान है कि आपके पचासो शिष्य है। चारो ओर आपकी विद्वत्ताकी प्रशसा होती है फिर भी आप इतना अध्ययन सम्बन्धी श्रम क्यो करते है? तो पडित जी बोले—हम इसलिए अध्ययन अधिक करते है कि कही ऐसा न हो कि हमे कभी किसीसे शास्त्रार्थ करनेमे नीचा खा जाना पडे। यदि कभी मैं किसीसे शास्त्रार्थ करनेमे नीचा खा गया तो फिर मुझे कुवे मे गिरनेके सिवाय अन्य कोई चारा नही। बताते है कि उनको हुआ भी ऐसा ही, कभी किसी नये विद्वानसे पाला पड गया, वे पडित जी शास्त्रार्थमे उससे हार गए और कुवेमे गिरकर मरण को प्राप्त हो गए। तो देखिये—कैसा तृष्णाका, क्रोध, मान, माया, लोभ, आदिक विकारो का इस जीवमे रोग लगा है जो कि इस जीवको परेशान किए हुए है। इस जीवके ये सूक्ष्म रोग कैसे मिटे? किसका शरण ले यह जीव कि ये सूक्ष्म रोग मिटें? अरे यह आश्रय ले, आलम्बन ले अपने आत्मस्वरूपका जो कि स्वत ही आनन्दमय है। इन समस्त परपदार्थो का आश्रय न रहे, केवल स्वका ही आश्रय रहे तो यह रत्नत्रयभाव, आनन्दभाव प्रकट होता है।

स्वयंके लिये स्वयंका ही आधार और बड़प्पन—मेरा आधार यह मैं ही हू। मेरे लिए बडा यह मैं ही हूँ। कहाँ बाहरमे अपना बडा ढूंढते? बाहरमे कहाँ किसका आधार तकते, बाहरमे कहाँ किसकी शरण गहते? अरे शरण गहो अपने आपकी, आश्रय लो अपने आपका। एक कथानक है कि कोई मनुष्य बहुत पापी था। उसकी स्त्रीने एक दिन उसे एक पत्थर दिया और कहा—देखो—तुम प्रतिदिन इस बटियाको चावल, फूल आदि चढाकर घटी बजाकर पूज लिया करना और बादमे चौबीस घटेके लिए पापोका त्याग कर दिया

करना। सो देखिये—उसने ऐसा करना स्वीकार कर लिया। उसने यह ध्यान न दिया कि इसमे तो पापोका सदाके लिए त्याग हो जायगा, पर सोचा कि यह कौन बडी बात है? रोज इस वटियाको पूजकर सिर्फ २४ घटेके लिए पापोका त्याग कर दिया करूँगा। अब क्या था—वह प्रतिदिन उसी वटियाको चावल, फूल आदि चढाये, घटी वजाये और २४ घटे के लिए पापोका त्याग कर दे।

ऐसा करते करते एक दिन क्या देखा कि उस वटिया पर चढे हुए चावलोको एक चूहा खा रहा था, सो सोचा—अरे इस वटियामे वडा तो यह चूहा है इसकी पूजा करना चाहिए—सो वह चूहाकी पूजा करने लगा। एक दिन उस चूहेपर झपटी विल्ली, सो सोचा—अरे यह विल्ली तो इस चूहेसे भी वडी है, इस चूहेकी पूजा क्यो करूँ? विल्लीकी पूजा करनी चाहिए। सो वह अब विल्लीकी पूजा करने लगा। एक दिन उस विल्लीपर झपटा कुत्ता, सो सोचा—अरे इस विल्लीमे वडा तो कुत्ता है, अब वह कुत्तेकी पूजा करने लगा। एक दिन वह कुत्ता रसोईमे घुसने लगा तो उसकी स्त्रीने कुत्तेको लकडी फेककर मारा। वह कुत्ता चिल्लाकर भागा, सो उस पुरुषने सोचा—अरे इस कुत्तेसे वडी तो मेरी स्त्री है सो वह स्त्री की पूजा करने लगा। अब क्या था, स्त्री रोज पुजती थी, उसका दिमाग और अधिक चढता जाता था। एक दिन क्या घटना घटी कि उस स्त्रीने भोजन वनाया उस दिन दालमे नमक अधिक पड गया था, जब वह पुरुष भोजन करने बैठा तो दालमें नमक अधिक लगा सो बोला—दालमे नमक क्यो ज्यादा डाल दिया? तो स्त्री बोली—'अरे तो क्या हुआ? हाथ ही तो है अधिक पड गया तो क्या करें? थोडा गरम पानी मिला लीजिए तो नमकका खारापन मिट जायगा।" उस पुरुषको उस स्त्रीपर गुस्सा आयी दो चार तमाचे जड दिए। स्त्री रोने लगी। उस पुरुषने सोचा—अरे इस स्त्रीसे वडा तो मैं ही हू। मैं व्यर्थ ही इसकी पूजा करता रहा। तो देखिये—उस पुरुषने कितने-कितने आधारोकी पूजा की, लेकिन उसे वह आधार मिला अपने आपके ही अन्दर। अब जरा अपनी ओर आइये मेरा यह आत्मद्रव्य एक ऐसा आधार है कि जिसका आश्रय लेनेसे नियमसे सर्वसंकट टल जाते है।

चैतन्यजीवनका आधार—आजकल एक पद्धति जीवन बीमा करने की चली है। जीवन बीमा कम्पनीके अन्दर बहुतसे लोग अपने जीवनकी बीमा कर देते है। अब जीवन बीमा करने वाला व्यक्ति उस बीमा कम्पनीके एजेन्टोको देवताकी तरह पूजता रहता है, क्योकि उसे सदा यह भय बना रहता है कि कही ऐसा न हो कि मेरा मरण हो जाय और मेरा यह धन मेरी स्त्रीको न दिया जाय, कम्पनी ही सारा धन न खा जाय, इस बात का भय उसे बना रहता है, इसलिए वह एजेन्ट लोगोसे बडी मिन्नत सी करता रहता है और जीवन बीमा कम्पनीके एजेन्ट लोग क्या जाप जपते हैं कि कही ऐसा न हो कि यह

व्यक्ति मर जाय और इसकी स्त्रीको सारा धन हमे अभी ही देना पडे। तो देखिये—दोनो ही (जीवन बीमा कराने वाला भी और जीवन बीमा करने वाले एजेन्ट लोग भी) एक दूसरेके जीवन बनाये रखनेके आधारसे बन रहे है, लेकिन यह बात तो उनकी एक धोखे वाली है। वहाँ किसीके चाहने से किसीका जीवन नहीं रह रहा। क्या कोई मिलेगा ऐसा ठेकेदार जो किसीके जीवनका ठेका ले सके? मेरे जीवनमे किसी भी प्रकारकी कोई गडबड न होने पावे और मेरा यह मनुष्यजीवन गुजरनेके बाद भी जिसका आधार लिया है उसके आधारसे सुख शान्ति आगे भी बनी रहे, इसमे किसी भी प्रकारका विघ्न न आ सके, ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति मेरे जीवनके प्रति ठेका ले सकेगा क्या? नही ले सकता। यहा बाहरमे किस दूसरेको अपना आश्रय तकते? किस दूसरेको अपना आधार, सहारा, शरण समझते? अरे मेरा सर्वस्व, मेरा आधार, मेरा सहारा मेरे लिए यह मैं ही हू। मेरे चैतन्यजीवनका आधारभूत यही मैं हू।

ज्ञानकी स्वयंकी ओर मोड़ होनेमें ही कल्याण—जब तक हम अपने आपके ज्ञान-स्वरूपपर यह रागद्वेषमोहादि विकारोका पर्दा पड़ा हुआ है तब तक अपने आधारभूत आत्मस्वरूपका परिचय नही पा सकते, उसका प्रत्यक्ष दर्शन नही कर सकते। लेकिन, समझना तो इस ज्ञानके द्वारा ही है ना, और समझना है खुद इस ही ज्ञानको। तो कितना एक सहजकाम है ज्ञानानुभवका ज्ञानमे, जहां कुछ भी श्रम नही करना है, कही दूर नही जाना है, कही अपनेको बाहरमे फेंकना नही है। केवल यह है, स्वयं, परिणमता है, बस इसका मुख बदलना है, बाकी सब काम सही चल रहा है। किसी परद्रव्यका कार्य नही करते, किसी पररूप नही हो जाते। यो सब काम शुद्ध चल रहे है–यहा शुद्धके मायने है परका कुछ न आना जाना। पर मुख गडबड है इतनी भर बात है। मेरा मुख मेरी ओर मुड जाय फिर तो अपना काम सही निपटा लूंगा। लेकिन, यही काम तो कठिन इतना है कि मेरा मुख, ज्ञानका मुख मेरी ही ओर आ जाय, बाहरकी ओर मुख न रहे, बस यही मात्र तो एक करनेकी चीज है। फिर तो यह कृतकृत्य है। कितना सा फिर काम करनेको रह जाता है? जरा सोचिये—सम्यग्दर्शन होने पर यह निश्चय हो गया इसके अब अनन्त ससार नही रहा, तो अनन्त संसारकी बात बने, ऐसा बन्धन तो अब उसके नही है। तो जब वह बन्धन न रहा तो अब बन्धन ही क्या रहा? उसका शेष बन्धन क्या बन्धन है? बन्धन तो था वही, अनन्त ससारमे परिभ्रमण कराने वाला, अब वह बन्ध रहा नही। तो कठिन तो यह है कि अपना मुख अपनी ओर मुड जाय, बाहरकी ओर मुख न रहे इतनी ही तो बात है। तो यह काम कैसे होगा? अपने आपकी ओर मुखको मोडना है तो अपने आपकी ओर देखना होगा। जैसे आखोका व्यायाम कराने वाले लोग क्या कहते हैं? अपनी

आख घुसाओ। इस व्यायाममे दृष्टिबल बढता है। आखोकी पुतली को गोल गोल चारो ओर घुमवाते है। ठीक है। पुतलियोके घूमनेमे अडचन कुछ न होगी। उसका उपाय अगल बगल ऊपर नीचे देखने लगो, कोई ठीक सामनेकी ओर ही दृष्टि रखे, सामने की चीज ही उसकी दृष्टिमे आवे तो पुतलीका व्यायाम नही हो सकता। जिस ओर उसकी दृष्टि होगी उसी ओर ही नेत्र मुडेगे। तो जैसे जिस ओर दृष्टि करे कोई तो उस ओर ही पुतली मुडती है, इसी प्रकार हम आपको अपने आपकी ओर मुख करना है तो अपने आपकी ओर दृष्टि करनी होगी। यदि अपने आपकी ओर दृष्टि जगे, अपने आपकी ओर मुख मुडे तो वहाँ इस जीवका सर्वकल्याण है।

स्वयंका आधार पाये बिना कठिन क्रियाकाण्डोंसे भी मोक्षमार्गका अलाभ—तात्पर्य यह है कि अपनेको एक अपने आपका ही आधार लेना होगा तब मोक्षमार्ग अथवा शान्ति-मार्ग प्राप्त हो सकेगा, ससारके कर्मबन्धनसे, आवागमनसे छुटकारा प्राप्त हो सकेगा। यही भूल की तो फिर और कुछ भी करने जावें। जैसे बहुत बहुत शुभोपयोगके कार्य करना, व्रत, तप आदिकके कार्य करना आदि, पर अपने आपके भीतरकी गुत्थी न सुलझनेसे, अपने आपके सहजस्वरूपका प्रकाश न पानेसे शान्तिका मार्ग नही प्राप्त हो सकता है। हाँ अधिक से अधिक नवग्रैवेयकमे पहुचकर अहमिन्द्रादिकका पद प्राप्त हो जायगा, अहमिन्द्रका पद ऐसा है कि जहाँ ३१ सागर पर्यन्तकी लम्बी आयु होती है, जहाँ पर हजारो वर्षोंमे कभी क्षुधा लगती है तो कठमे अमृत झरता है, जहाँ बडे आराम साधान उपलब्ध होते है आदि। यही तो एक लौकिक जनोकी दृष्टिमे विकासका रूप है, मोक्षका रूप है। सो उन्होने जो कल्पना की है वह भी एक इस तथ्यको लिए हुए है कि वह तो गया वैकुण्ठ। अब सदा शिवकी जब मर्जी होगी तब वह उसे वैकुण्ठसे ढकेल देगा, उसे फिर यहाँ ससारमे आकर जन्म लेना होगा। ऐसी मान्यता वाले भी लोग है। लेकिन जरा सोचो तो सही कि वह मोक्ष कैसे कहा जा सकता, जहाँ ससारमे पुन जन्ममरणके चक्करमे पडना पडे। वह वैकुण्ठ तो ग्रैवेयक है। ग्रीवाको ही कष्ट कहते है। तो यहाँ यह कह रहे थे कि बाह्यमे आधार तककर कितने ही शुभकार्य कर लिए जायें पर वहाँ शान्तिका मार्ग प्राप्त न होगा। शान्ति पानेके लिए तो एक अपने आपको ही अपना आधार लखकर, उसीमे उपयुक्त होकर अपने ज्ञाना-नन्दस्वरूपमे लीन होना होगा। तो अपने आपके ही अन्दर अपने आधारको तकें और उसीके बलसे अपने परमधामको प्राप्त करे।

अधिकरणशक्तिमें परमार्थ आधारकी दृष्टि—आत्माकी अधिकरण शक्तिके सम्बन्धमे यह बताया जा रहा है कि आत्माके सहारेसे, अन्य किसीकी अपेक्षा बिना जो भाव होते हैं वे सहज स्वाभाविक निर्मल परिणाम होते है और उनका अधार यह शुद्ध आत्मद्रव्य है।

जैसे अपादान कारकमे बताया गया था कि शुद्धभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र परिणाम कहाँसे प्रकट होता है ? इसी निज शुद्ध आत्मद्रव्यसे । क्या उसे यह बताया जायगा कि रागसे प्रकट होता है अथवा परद्रव्यसे प्रकट होता है अथवा रागीसे प्रकट होता है ? वहाँ तो यही ध्यानमे आयगा कि उस शुद्ध आत्मद्रव्यसे प्रकट होता है जो सर्वभावोमे व्यापक होकर भी एकरूप रहता है । यही बात आधारकी भी है । और, वह सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूप निर्मल भाव, आत्मभाव आत्माके ही मात्र आश्रयसे हुआ परिणाम, इसका आधार यह शुद्ध आत्मद्रव्य है । उस रत्नत्रयका आधार क्या रागभाव है अथवा कोई पर द्रव्य है अथवा रागी जीव है ? पर्याय शुद्ध है और जहाँ हुई है वह आधार शुद्ध ही कहा जा सकेगा । किसी अन्य पर्याय वाले जीव उसके आधार नही कहे जा सकते । ऐसे ही उस शुद्ध आत्मद्रव्यका वर्णन समयसारमे किया गया है । स्पष्ट ही जहाँ बता दिया गया कि हम ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यकी बात कर रहे है, उस शुद्ध ब्रह्मकी बात कर रहे है जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, न कषायसहित है, न कषायरहित है । इस उपलक्षणसे और भी बाते समझ लीजिए । जो न संसारी है, न मुक्त है जो न कषायसहित है, न कषायरहित है, ऐसा एक शुद्ध चिद्भावात्मक सत् उस शुद्ध आत्माकी बात समयसारमे कही गई है । अब समझ लीजिए कि यह शुद्ध ब्रह्म और ब्रह्मवादियोके द्वारा माना गया ब्रह्म करीब करीब सुननेमे एकसे लग रहे होगे लेकिन स्याद्वादका आश्रय लिए बिना इनमे महान अन्तर हो जाता है । प्रयोजनसे, निर्विकल्पताके उद्देश्यसे पर्यायकी अपेक्षा न रखकर, गुणभेदकी अपेक्षा न रखकर केवल एक शुद्ध आत्मद्रव्यको निरखनेका आदेश किया है, पर इसके मायने कोई यह समझ ले कि बस ब्रह्म तो ऐसा ही है, रागद्वेष, कषाय, भ्रमण, सुख दुःख आदिक जीवमे नही है, ऐसा कोई पर्यायका निषेध कर ले तो स्याद्वादका उसने विघात किया । देखना क्या है ? है सब, पर सबका क्या करे ? उद्देश्य, दृष्टि तो इस ओर ही है ।

ज्ञानानुभूतिके प्रयोगमें गुणभेदका, पर्यायभेदका अदर्शन--जब पाण्डवोकी धनुर्विद्या की परीक्षा ली गई, वे परीक्षा देने आये तो द्रोणाचार्यने एक वृक्ष पर कागजकी चिडिया बनाकर रख दी। उनके गृहस्थावस्थाकी यह बात है । और, वहाँ उनकी धनुर्विद्याका परीक्षण करने लगे । उस परीक्षणमे कौरव भी आये । जब वे परीक्षार्थी उस कृत्रिम अजीव चिडियाकी आँखमे तीर मारनेके लिए निशाना लगा रहे थे तो बारी बारीसे द्रोणाचार्य सभीसे पूछते जाते थे कि बताओ तुम्हे क्या दीखता है ? तो प्राय सभी यही उत्तर देते गए कि हमे तो यह वृक्ष दीखता है, चिडिया दीखती है, धनुष बाण दीखता है और आप सब भी दीखते है । सो ऐसा उत्तर देने वालेको गुरु द्रोणाचार्य अनुत्ती

जा रहे थे। अन्तमे जब अर्जुन की बारी आयी तो उससे भी प्रश्न किया गया कि बताओ तुम्हे क्या दीखता है ? तो अर्जुनने उत्तर दिया कि महाराज, हमे तो सिर्फ चिडियाकी आख दीखती है और बाणकी नोक। बस इतने पर ही अर्जुनको उत्तीर्ण कर दिया। तो ऐसे ही यहाँ समझिये कि यहा हम आप आत्मविद्याकी परीक्षा देनेके लिए आये हैं। हा जरा सावधान हो जावो ·, सावधान है। हाँ बताइये तुम्हे क्या दीखता है ? ··· अरे हमे तो सारा वैभव दिख रहा है, अनन्तशक्तिया हैं, गुण है, पर्यायें है और प्रत्येक गुणके निरन्तर परिणमन चलते हैं, हमको तो ये सब कुछ दिख रहे है। अच्छा तो तुम हट जाओ। · · तुम परीक्षामे अनुत्तीर्ण रहे। अब किसी निकट भव्य जीवकी बारी आयी···। अच्छा अब तुम्हारी परीक्षा होगी। सावधान हो ना ? हा सावधान हैं।· · बताओ तुम्हे क्या दीखता है ? सो वह तो कुछ बोल ही न सकेगा, उसकी ओरसे कोई आवाज ही न आयेगी, पर उसके अन्तरङ्गमे क्या बीत रहा है, उस बातको हम (प्रवक्ता) आवाजसे बोल रहे है। जब उस भव्यसे पूछा गया कि बताओ तुम्हे क्या दीखता है ? तो मानो उसका उत्तर यही होगा कि हमे तो मात्र शुद्ध आत्मद्रव्य ही दिख रहा है। और, जिस दृष्टिके द्वारा दिख रहा है उस दृष्टिकी सम्मुखता तो वही है। बस इस समयमे जो पर्याय बन रही है ना दृष्टिकी, वह दृष्टि वह परिणति और यह शुद्ध आत्मद्रव्य, वह सम्मुख है, इसके अन्तरालमे कुछ नही है। हा चलो तुम उत्तीर्ण हो गए। तो जिन्होने यह जवाब दिया था कि अनन्त शक्तिया है, गुणपर्याय हैं उनका जवाब गलत तो न था, लेकिन यह देखिये कि परीक्षण किसका हो रहा था और गुण किसका गाया जा रहा था ? इस बातका अन्तर था। किन्तु, कोई पुरुष केवल एक उस शुद्ध ब्रह्मको ही स्वीकार करे। स्वीकार तो करेगा क्या, जब वहा कुछ है ही नही, सत्त्व ही नही है ऐसे एकान्तको स्वीकार क्या किया ? अपने तथा विकल्पको स्वीकार किया।

समयसारको जानकर उसमें स्थित होनेका फल अनन्त आनन्द--भैया ! निष्पीत पर्यायमे ही निरखो वह आत्मद्रव्य, लेकिन जहा यह दृष्टि जग रही है वहाँ तो सारे गुण पर्याय अन्त निष्पीत हुए है, उनका तो वहा पता ही नहीं है। जैसे पानी पी लिया गया तो वहा क्या रहा ? जब कोई पदार्थ पी लिया गया तब तो फिर उस पदार्थको नि शेष पूर्ण-तया पी लिया गया, दृष्टि ही नही है उस ओर। तो ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यके दर्शनकी बात कही जा रही है कि वह है मेरे हितका आधार, सर्वकल्याणका आधार, रत्नत्रयका आधार। तो जो ऐसे इस समयसारको साधता है वह पुरुष उत्तम सुखमे पहुच जाता है। उस समयसारका वर्णन समयप्राभृत ग्रन्थमे है। उसका अध्ययन करके शब्दार्थसे, तात्पर्यार्थसे जानें उस समयसारको और इतना ही नही कि तत्त्वसे, अनुभूतिसे, पद्धतिसे उस

समयसारको जाने, उसकी बात कही जा रही है कि वह उत्तम सुखमे पहुंचाता है समय-प्राभृत ग्रन्थमे यह अन्तिम निश्कर्ष बताया गया है। यह भगवान परमात्मा जो समयसार-भूत है उसका प्रतिपादक भगवान, परमागम, शास्त्र जिनमें कि समयसारका ही निरन्तर वर्णन है ऐसे इस शब्दब्रह्मका अध्ययन करके उसका अर्थ जानकर, भाव जानकर फिर इस समयसार सद्ब्रह्मको ही जो अनुभवता है ऐसा पुरुष जो पूर्ण विज्ञानघन इस परमब्रह्ममे स्थित हो जाता है वह पुरुष साक्षात् उस ही समय बढने वाले एक चैतन्यरससे निर्भार जो आत्माका निराकुल परिणमन है उस स्वरूपसे होता हुआ परम अनाकुलताको भोगता है, भोगेगा।

आनन्दके आधारका समीक्षण--देखिये--हम आपको चाहिये क्या? आनन्द। किसीसे भी पूछ लो-- इसके विपरीत कोई जवाब न देगा। क्या कोई कहेगा कि मुझे दुःख चाहिए? न चाहेगा। सभीकी यही आवाज होगी कि मुझे चाहिये आनन्द। ठीक है, तुम बहुत अच्छा चाहते हो? संसारके ये सभी जीव चाहते तो बहुत भली बात। कोई दुःख भी चाहने लगता होता तब तो बडी गडबड़ी होती। फिर तो मोक्षमार्गमे उनका लगाना ही मुश्किल हो जाता। अब तो बडी सरलता है। जिससे पूछो वही कहता कि हमे आनन्द चाहिए। सभीकी इच्छा आनन्दप्राप्ति की है, सो आनन्द इस जीवका स्वरूप है, स्वभाव है, उसीको चाहते है सभी जीव इसलिए कोई कठिनाई नही है। लेकिन, उसको उस रूपमे निरखकर तो नही चाह रहे। चाहते हैं आनन्द, मगर आनन्दका जो स्वरूप है, यथार्थ आत्माका जो स्वभाव है उसपर दृष्टि रखकर तो नही चाह रहे है कि हमे चाहिये यह आनन्द। दृष्टि रख रहे है उन दुःखोपर और कह रहे हैं कि हमे चाहिये यह आनन्द। सभी संसारके परिणमन क्लेशरूप है, दुःखरूप है, उन्हीकी चाह कर रहा है यह। एक यह बात भलीभाँति बन जाय कि यह जीव आनन्द चाहे, तो आसान तरीका बन जायगा कि यह मोक्षमार्गमे लग जायगा। वह आनन्द आत्माका स्वरूप है, उसका घात हो रहा है जिन परिणामोसे उन परिणामोको छोडे तो वह आनन्द मिल जायगा। तो उस आनन्दको देख लो, परख लो। घरमे आनन्द हो, चूना, मिट्टी, लोहा, सीमेन्ट आदिसे बने हुए मकानमे आनन्द हो, सोना चाँदी आदिक धातुओमे आनन्द हो, वहाँसे आनन्दकी किरणे फूट फूटकर निकलती हो, ऐसी बात यदि हो तो बताओ? अरे ये सब तो बाह्यपदार्थ हैं, ये मेरे स्वरूप से अत्यन्त भिन्न है, इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही है। आनन्द कहा वहासे आयगा?

अपनी विपरीत करतूतसे अपनी बरबादी--अहो, यह जीव आनन्दस्वभावी होनेपर भी बाह्यमे दृष्टि करके अपने आनन्दका घात कर रहा है। जैसे कोई कषायी किसी बकरेको लिये जा रहा था उसका घात करनेके लिए। गर्मीके दिन थे, रास्तेमे उस कषायीको बडे

जोरकी प्यास लग गयी, धूपकी गर्मीसे पीडित होकर वह एक वृक्षके नीचे ठहरकर १०–५ मिनटके लिए आराम करने लगा। बकरेको भी वही छायामे खडा कर लिया। उस बकरेने अपनी पूर्वकी आदतवश अपने पैरोसे जमीनको खरोचा उस जगह बैठना सोचा होगा या यो ही खरोचा होगा, सो क्या घटना घटी कि ज्यो ही उस बकरेने जमीनको अपने पैरोसे खरोचा त्यो ही उस जगह एक छुरी निकल आयी। (किसीकी गिर गयी होगी) अब क्या था, उस कषायीने बकरेके खूनसे अपनी प्यास बुझानेके लिए उस छुरीसे बकरेका प्राणघात कर दिया। तो देखिये—जैसे उस बकरेका जमीनमे खरोचना व छुरीका निकालना उसके ही प्राणघातका कारण बना, यो ही यह ससारी प्राणी अपनी खोटी करतूतोसे अपनी ही बरबादीका साधन बनाकर अपनेको बरबाद करता रहता है और बाहर ही बाहर जिस किसीको भी आधार मानता रहता है। अरे कहा है आधार ? कौन है आधार ? कुछ विचारिये तो सही। स्वय ही पता पड जायगा कि बाहरमे हमने जिन-जिनका (दादा, बाबा आदिकका) आधार तका वे कोई आधार न हुए। वे सब मेरेसे अत्यन्त भिन्न थे। तो जैसे मरे हुए (वियुक्त) पुरुष मेरे आधार नही ऐसे ही सयुक्त समागममे आये हुए ये कुटुम्ब परिवार मित्र ये भी मेरे आधार नही हैं। मेरा आधार तो यह मैं आत्मप्रभु हू। यो सब यथार्थ परिज्ञान करने वाला कोई कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष भी इस परिणतिमे आ तो नही पा रहा, क्यो नही आ पा रहा कि विषयकषायके सस्कार वासनायें ऐसी बनी हुई हैं कि ज्ञान करके भी पूर्वभ्रमके सस्कारके कारण हट हट जाता है, यह स्थिति बनी है अभी पहिली भूमिकामे। तब यह ज्ञानी पुरुष उपाय करता है, क्या उपाय करता है ? एक अन्तरङ्ग उपाय और एक बहिरग उपाय। अन्तरग उपाय तो उसमे समझिये और वह हो रहा है योग्यताके अनुसार। वह उपाय है—आत्माके सत्यस्वरूपका जानना और उसमे स्थिर होना। तो जानना जहा बन पा रहा, हो रहा, मगर इतनेमे यह तृप्त नही होता। जो आनन्दकी चीज है, आनन्द धाम है वे सब चीजें एक साथ पूरी मिल जाना चाहिये। ऐसी तो लोगोकी भी आदत है, वही बात इस ज्ञानीमे भी है। है आनन्दका धाम यह स्वय आत्मद्रव्य, अर्थात् यह मुझे पूरा-पूरा मिल जाना चाहिये, कसर न रहे,'यह भावना तो है ना, पर हो रहा है कुछ काम, धीरे काम। तो उस ही कामको बढानेके लिए अब यहा बहिरङ्ग प्रयास क्या करना है कि विकल्पोके आश्रयभूत इन समस्त परपदार्थोंका त्याग करना है।

गृहस्थधर्म व व्यवहारधर्म दोनोंमें धर्मत्वका आधार, त्याग व शुद्धात्मद्रव्यका आश्रय— धर्मव्यवहार दो प्रकारके कहे गए है–गृहस्थधर्म और मुनिधर्म। दोनो धर्मोमे किया क्या गया है ? एक ही काम। विकल्पके आश्रयभूत परपदार्थोंका त्याग किया गया है। मुनिधर्ममे तो स्पष्ट मालूम पडता है कि विकल्पके आश्रयभूत परपदार्थोंका त्याग किया गया है, लेकिन

गृहस्थधर्ममे तो यह बात नही। वह तो बहुतसी चीजोको लिए हुए है। घर है, दुकान है, स्त्री है, सब कुछ है तो वहां तो धर्म न बन सकेगा ? तो सुनो—गृहस्थधर्म भी त्यागके आधारपर चलता है। धर्म नाम प्रवृत्तिका नही है किन्तु त्यागके आधारपर धर्मकी परिभाषा चलती है। क्यो संदेह हुआ है कि गृहस्थ धर्ममे तो प्रवृत्ति है, फिर वह धर्म कैसे कहलायेगा ? जो प्रवृत्ति है वह दोष है। अरे यह तो नही कहा जा रहा कि गृहस्थके पूर्ण धर्म है। उसने तो अहिंसाणुव्रत पाला। प्रयोजनवश स्थावर जीवोका घात करना पड़ता है, रसोई बनाने आदिक बातोकी प्रवृत्ति चल रही है, मगर इतनी पद्धतिकी प्रवृत्ति किस बल पर रही, यह भी तो देखिये - त्रसघातका जो उसने परित्याग किया और त्रसघातके विकल्पके आश्रयका भी परित्याग किया, वह आधार है गृहस्थ धर्ममे धर्मपनेका। इसी तरह सब जीवोमे ले लीजिए। चतुर्थ व्रत है ब्रह्मचर्याणुव्रत। स्त्री परिग्रह है उसके अभी, लेकिन यहा ब्रह्मचर्याणुव्रतमे जो धर्म हुआ है वह अनेक अन्य सर्व स्त्रियोके परित्यागसे धर्म हुआ है। अब एक स्त्रीका परिग्रह रह गया, वह उसके लिए दोष है। इस दोपका त्याग करनेके लिए आगे बढेगा और कभी पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत भी लेगा। पर धर्मपना आया कहां से ? वह आया है त्यागसे, न कि प्रवृत्तिसे। अब लोगोमे देखते है, मुख्यतया प्रवृत्ति, कभी कभी निवृत्ति बेचारेकी भी चर्चा हो जाती है, मगर देखनेमे तो आ रही है प्रवृत्ति और उसही के रूपसे यह समझ लिया गया है कि यह है गृहस्थधर्म। धर्मके नाते बात सर्वत्र एक होगी चाहे मुनि हो, चाहे गृहस्थ हो। जो निवृत्ति है वह है धर्म। जो एकत्वविभक्त आत्मद्रव्यकी दृष्टि है वह है धर्म। जहा जितने अंशमे है वहा उतने अंशमे है।

गृहस्थलिङ्ग व मुनिलिङ्ग दोनोंको ज्ञानमें न लेकर दर्शन ज्ञान चारित्रके आधारभूत अखण्ड चित्स्वभाव आत्मद्रव्यका आधार ग्रहण करने का आदेश—गृहस्थधर्म व मुनिधर्म जो ये दो धर्म है, इनको दो लिङ्ग (चिन्ह) कह लीजिए—गृहस्थलिङ्ग और मुनिलिङ्ग। और, ऐसे गृहस्थधर्मके पालनकी स्थितिमें धर्मसाधना हो रही है, जितना सम्भव है। और मुनिधर्मकी स्थितिमें धर्मपालन विशेष हो रहा है, किन्तु हे प्रज्ञावान पुरुष ! जरा यह तो निरखो कि धर्म किसके आधारसे हो रहा है ? धर्म गृहस्थलिङ्ग और मुनिलिङ्ग इनके आधार से नही हो रहा है। वह स्थिति अवश्य है, बनी है, चल रही है, मगर धर्मभाव जो प्रकट है वह एक शुद्ध आत्मद्रव्यके आधारमे प्रकट हुआ है। यदि यह बात न होती तो बड़े-बडे योगी, ध्यानी पुरुष इस द्रव्यलिंगका उपयोग हटाकर, उपयोगमे द्रव्यलिङ्गका आश्रय न करके एक उस ब्रह्मका आश्रय करके ही ध्यानमे क्यो बढ़ते रहते ? जिसके आधारसे जो बात होती है उसके लिए वह ही दृष्टि करनी होती है। यदि मुनिलिङ्ग या गृहस्थलिङ्गके आधारसे धर्म बनता होता तो बड़े-बड़े योगी, मुनि, इनको छोडकर अन्य कुछ न सोचना

चाहिये था, अन्दरकी दृष्टि न करना चाहिये था । अन्दरके मायने स्व इस लिङ्गके मुकाबले मे अन्य क्या हुआ ? वही ब्रह्म, शुद्ध तत्त्व । लेकिन उपयोगसे उनको त्याग करके अपने आपके शुद्ध आत्मद्रव्यका ही आधार लिया । और, कभी यह भी उपदेश किया गया है कि समस्त द्रव्यलिंगको त्यागकर दर्शन ज्ञान चारित्रमे स्थित होओ । त्यागना क्या ? नग्नपना मिटा ले, वस्त्र धारण कर ले तो इसके मायने तो विकट लिंग (विडम्बनालिंग) बन गया । देखो योगियोने द्रव्यलिंगके आधारभूत शरीरसे ममकारको हटाया तो जब उपयोगमे शरीर का सम्बन्ध छूटा तो द्रव्यलिंगका भी ममत्व, सम्बन्ध सहज व्यक्त हुआ । सो उस द्रव्यलिंग का उपयोग न कर, ज्ञानमे उसे विषय न बनाकर, उस ओर लक्ष्य न देकर, उसकी दृष्टि न रखकर आवो दर्शन ज्ञान चारित्रमे स्थित होओ, आध्यात्मिक सत महतोके द्वारा यह उपदेश किया गया है । स्थित होओ दर्शन, ज्ञान, चारित्रमे । हे आत्मन् ठहर ! कहाँ ठहरे ? इसके ठहरनेका स्थान क्या ? और, ठहरना होता किस तरह है । वही यह मूर्तपदार्थ तो नही कि रख दिया गया वहाँ कि वह ठहर गया । यह तो आकाशकी तरह निरालम्ब, निराश्रय स्वाश्रय एक पूज्य तत्त्व है । उसका ठहरना हाथ पैर आदिकके द्वारा नही होता है । हाथ, पैर आदिक उसके है ही नही, तो फिर आत्माका ठहरना किस साधनसे होता ? उपयोग द्वारा, ज्ञान द्वारा । उपयोग साधनसे आत्मा ठहरा करता है । तो कभी ठहरा था यह धन वैभव आदिक परपदार्थोंमे, वहाँ उपयोग दिये हुए था । अब विरक्त हुआ, आ गया द्रव्यलिंगमे गृहस्थलिंगमे, मुनिलिंगमे, तो यहाँ भी यह बताया गया है कि ठहर । कहाँ ठहरें ? उपदेश है कि लिंगमे मत ठहर, शरीरमे मत ठहर, चाहे नग्नरूपमे हो या कोट, कमीज आदिक वस्त्रोंसे सहित हो, ऐसे लिगमे तू मत ठहर । तू ठहर दर्शन, ज्ञान चारित्रमे । गृहस्थ ठहरेगा थोडा जिससे पूरा नही पडता, मुनि ठहरेगा अधिक, जिससे कि पूरा पडेगा । ठहरनेका आदेश किया गया है दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल परिणाममे । तो इन बाहरी स्थितियो की दृष्टि न रखकर दृष्टिका विषय बनाइयेगा एक इस शुद्ध आत्मद्रव्यको । यही मेरा आधार है, इसी आधारसे मेरा कल्याण होगा और ससारके समस्त संकटोसे मुक्ति प्राप्त होगी ।

पर द्रव्य व परभावका आधार तजकर दर्शन ज्ञान चारित्रका आधार लेनेका संदेश— अनादि ससारसे इस जीवने अपने अज्ञानसे परद्रव्योको ही आधार समझा और अपने उपयोगको परद्रव्योमे लगाता रहा । कभी कुछ मदकषाय हुई तो धर्मकार्यके नामपर । परोपकार के नामपर यह परद्रव्योमे अपना उपयोग लगाता रहा, किन्तु पर्यायबुद्धि इसने नही छोडी और जिस पर्यायमे गया, भावरूप या व्यञ्जनरूपमे पर्यायमे आपा मान करके चला, सो इसमे दोष तो उसके ही अज्ञानका है । तो यह संसारी जीव अपने इस अज्ञानदोषसे परद्रव्योमे अपनेको लगा रहा है । परद्रव्योका आश्रय पाकर, कर्मउपाधिका निमित्त पाकर

उत्पन्न हुए विभावोमे अपनेको लगाया है, किन्तु यही जीव जब ज्ञानके सम्मुख होता है तब इसे खबर होती है कि ओह ! यह मैं व्यर्थ ही अनादिकालसे इन परद्रव्योमे और परभावो मे लगा रहा। यह तो हमारी एक महान अज्ञान दोषकी बात हुई। अब मैंने समझा कि मेरी वे सब बाते सारहीन थी। उनमे पडकर अपना समय हमने व्यर्थ ही गुजारा। अब इस अपने आत्माको अपने ही इस प्रज्ञा गुणके द्वारा, अपनी ही इस बुद्धि वलसे वहाँसे हटाऊँगा और दर्शन ज्ञान चारित्र रूप धर्ममे, अपने आपके आत्मस्वभावमे अपने आपको लगाऊँगा। इस तरहका उसका निर्णय चल रहा है। तो समझ लीजिए कि इस लोकमे मेरा आधार मात्र मै ही हू। यह मैं अपने आपमे ही प्रविष्ट होकर, गुप्त होकर अपने आपमे मग्न होऊँ, निर्विकल्प होऊँ, ज्ञानमात्र रह जाऊँ तो यही मेरा एक कल्याणमय परिणाम है। अब मेरेको कर्तव्य यह है कि बाह्यके समस्त पदार्थोंसे ज्ञानको हटाकर एकाग्रतासे इस निज सहज दर्शन, ज्ञान चारित्रका ही ध्यान करूँ, उसकी ही धुन रखूं, उसमे ही रुचि हो, बस यही चेतूं, जानूं, समझूं। आराम, चर्चा, विहार आदि सब कुछ बस मै इस ही आत्मामे करूँ। जैसे जब कोई मनुष्य थक जाता है तो वह किसी जगह आरामके स्थानमे कुछ ढीला ढालासा बैठकर आराम लेता है, इसी तरह हम आप भी विकल्प करते करते थक गए है। मात्र एक इस ही भवमे विकल्प किया हो सो नही, अनादिकालसे इन्ही विकल्पोमे ही पगे चले आ रहे हैं, तो इन विकल्पचक्रोमे रह-रहकर मैं तो थक चुका हू, अब मुझे इस सत्य आरामकी जरूरत है। वह आराम मुझे कहाँ मिलेगा ? मेरेमे ही मिलेगा। अब मैं एकाग्र होकर, सर्व परसे दृष्टि हटाकर एक अपने आपमे ही आराम करूँ, उसीमे ही सरलतापूर्वक ठहर जाऊँ, अपने उपयोगको निर्भार बना लूं, बस यही मेरे लिए कल्याणका सत्य आधार है। किसी अन्य पदार्थमे मैं विहार मत करूँ। इस प्रकार जिसको ज्ञानप्रकाश हुआ है वह इस धुनमे रहता है।

अचेतन व अन्य चेतनके आधार की भयावहता—इस ज्ञानीने पूर्णतया यह निर्णय कर लिया है कि मेरा पद मेरा स्थान, मेरा धाम यह मैं सहज आत्मतत्त्व हू, जिस पर भी विश्वास करूंगा किसी भी चेतन अथवा अचेतन पदार्थ पर, तो वहाँसे कोई हितकी बात न मिलेगी, किन्तु कोई क्लेश ही होगा और उनमे भी अचेतनपर उपयोग दूं, अचेतनको शरण मानूं तो वहाँ केवल मेरी ओरसे ही विडम्बना है, अचेतनकी ओरसे कुछ नही है। जैसे घडी सुन्दर लग रही तो उसके प्रति हम रागभाव कर रहे, हम अपने आपकी ही ओरसे अपने आपको विडम्बनामे डाल रहे हैं, घडी वेचारी अपनी तरफसे कोई चेष्टा ऐसी नही करती कि जिससे मेरे राग हो, आकर्षण हो अथवा अन्य कोई क्षोभ हो। किन्तु इस चैतन्यप्रकाशकी ओरसे ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जिससे यह जीव राग अथवा विरोध करने

लगता है। तो हमने अपनी गडबडी अपनी ओरसे ही किया। उस बेचारे अचेतन पदार्थने कोई गडबडी नही किया। इन अचेतन पदार्थोसे चेतन पदार्थ तो और भी भयकर है। ये अचेतन अन्य सब चेतन पदार्थ इस जीवके लिए पदभूत नही है और अपने आपमे उत्पन्न होने वाले औपाधिक भाव, रागादिक विकार ये भी पदभूत नहीं है। मेरा पदभूत मेरा स्व ही है जो मेरेमे निरन्तर रहे ऐसा है वह ज्ञानभाव।

भावोंमें अतत्स्वभावरूप व तत्स्वभावरूप उपलभ्यमान भावका विवेक—यद्यपि इस भगवान आत्मामे बहुत प्रकारके भाव हो रहे हैं, भूमिका है, किन्तु इन सब भावोमे यह निर्णय तो करना चाहिए कि मेरे स्वभावरूपसे पाये गए भाव कौन है और मेरे अस्वभावरूपसे होने वाले भाव कौन है ?

जैसे ये रागद्वेषादिक विकार भाव होते है, जिनमे ये ससारी प्राणी विश्वास किए बैठे है। जो समस्त परभावोसे अतत्स्वभावरूपसे पाये जाते है, वे मेरे स्वभाव भाव नही हैं। नोकर्म, कर्म, इनका आश्रय, आधार, निमित्तपूर्वक उत्पन्न हुये भाव हैं, और मेरी इस भूमिमे, मेरे ही इस प्रदेशमे उत्पन्न हुए है फिर भी ये मेरे स्वभावरूप न होगे। वे अनियत हैं। नियतभाव तो एक स्वभावभाव है, जिसके बीचमे कही भी यह संदेह नही कि और किस्मका इसका परिणाम बन सकता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप जो परिणाम रहे है प्रभु भगवान अरहत सिद्ध, केवलज्ञानरूप परिणाम रहे हैं तो उस स्वाभाविक परिणामनमे वही सदेह नही कि ये सिद्ध भगवान आज तो केवलज्ञान, अनन्त आनन्दरूप परिणाम रहे और यदि किसी समय कोई विघ्न आ गया तो ऐसा वहाँ सदेह नही हैं। वह नियतभाव है, स्वभाविक भाव है। तो ये रागादिक विकार अनियत अवस्था वाले हैं। अन्तर देखते जाओ—स्वभावका और विभावका। तब स्वय यह निर्णय होगा कि मुझे आधार, आश्रय, आलम्बन किसका लेना चाहिए ? ये रागादिक विकार एक नही, अनेक है। जहाँ अनेक है वहाँ फिर क्या कुशलता क्या आराम ? और, वह भी कभी कुछ, कभी कुछ, ऐसे ये रागादिक विभाव ये अनेक भाव हैं और इतनेपर भी क्षणिक है, मिट जाने वाले भाव है और व्यभिचारी भाव हैं, अर्थात् कभी आत्मामे हैं, कभी नही हैं। कभी कम हैं कभी अधिक। इस तरहके ये रागादिक विकार मेरे स्वभाव नही हैं, ये स्थायी नही रह सकते, इस कारण मेरे पद नही हैं, मेरे आश्रयके योग्य नही हैं। इनका आधार करना योग्य नही है, किन्तु जो भाव स्वभाव रूपसे पाया जा रहा है अपनी उसी नियत अवस्थाओमे रहकर हुआ जो एक हो, स्थायी हो और सदा आत्मामे रहता हो, ऐसा वह ज्ञानमात्रभाव ज्ञायक स्वरूप, वह है प्रभु।

पञ्चविध ज्ञानकी मूलमें एकज्ञानपदरूपता—अब इससे भी और अन्तर्दृष्टि करके निरखें तो इस ही ज्ञानगुणके जो परिणमन है मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यय-

ज्ञान और केवलज्ञानादिक इन सबके रूपमे और अलग-अलग स्वरूपमे परखे गए, भिन्न किये गए ये भाव, ये भी कोई अनेक स्वरूप नही, किन्तु वही एक स्वरूप जो परमार्थभूत ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है वही परमार्थभूत है और इन भावोमे जो भाव इस ज्ञानस्वभावमे अभेद रूपसे एकताको लिए हुए है ऐसा वह केवल ज्ञानभाव मेरा तो अभेद इस स्वभावमे है, पर शेष चार भावोका अभेद इस स्वभावमें नही मिल पाता। यद्यपि परिणमन है, शुद्ध परिणतियाँ है, किन्तु इसे कहते है सम्यक्विभाव। जिसको कुन्दकुन्दाचार्यदेवने नियमसारमे स्पष्ट बताया है कि ज्ञान दो प्रकारके होते है—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। विभावज्ञान दो प्रकारके होते है सम्यक्विभाव और मिथ्याविभाव। लो वही बात यहाँ बतलाते है कि स्वभावमे उन ज्ञानोकी पूर्ण अभिन्नता अभेदपना नही हो पाया है यह केवलज्ञान यह उस स्वभावसे अभेदरूप है। सो जो अभेदरूप है वह क्या ? वही है, तो वह एक ज्ञानपद ही रहा। और, उसके अन्दर चलें तो यह केवलज्ञान परिणमन प्रतिक्षण जो होता रहता है वह इस अनादि अनन्त, अहेतुक, असाधारण ज्ञानस्वभावसे, कारणरूपसे उपादान करके उसके भीतर प्रवेश करते हुए पर्याय होनेके कारण यह केवलज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमता रहता है। यह ज्ञानस्वभाव शाश्वत वही एक है और केवल ज्ञानपरिणमन प्रतिक्षण सदृश सदृश होता रहता है, इतने भर बोधके लिए यह विशेषण दिया हुआ है। तो यहाँ भी वही एक ज्ञानपद पदभूत हुआ जिसका कि हमे आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञानबलके उस ही एक ज्ञानकी प्रतीति करानेके लिए, उनकी स्तुति करानेके लिए ही मानो बना हुआ है। जैसे कि दिनमे कुछ बादल आये हैं, सूर्यके नीचे बादल आ गए तो प्रकाश अब सूर्यका यहाँ तेज न रहा, कुछ बादल हटे तो दिखता है कि लो यहा तो मील दो मील तक प्रकाश है। और जब बादल बिल्कुल हट गए तो दिखता है कि यहाँ तो पचासो मील तक प्रकाश है। तो यह प्रकाशभेद सूर्यके स्वभावमे भेद नही डालता। किन्तु सूर्य पूर्ण प्रकाशमय है, इसका ही यह ख्याल कराता है। इस तरह ज्ञानकी थोडी प्रकट धारा सम्पूर्ण ज्ञानका ध्यान कराती है, न कि इतने ही ज्ञानरूप है यह आत्मा। यो वह एक ज्ञानमात्रपद वही परमार्थभूत है, उसका ही स्वाद लेना चाहिए, उसका ही आलम्बन लेना चाहिए, उसका ही आधार, अधिकरण शक्तिबलसे प्राप्त होनेपर ये सर्व संकट दूर हो सकते है। ऐसे इस अपने आपके सहज स्वरूपका आलम्बन हो तो अपना स्वरूप मिलेगा। अपने आपका प्रत्यक्ष होगा। बहुत बडी तृप्ति होगी। भ्रम नष्ट हो जायगा। आत्मलाभ बनेगा, बाह्यअनात्मतत्त्व दूर हो जायगा, अब कर्म इसे बेहोश न कर सकेंगे। रागद्वेष भी कब तक उठेंगे ? वे भी दूर होगे। तब बन्धन कहाँ होगा ? आश्रव कहा होगा ? निर्जरा ही निर्जरा होकर इस जीवकी शुद्ध अवस्था प्रकट होगी।

आधारभूत ज्ञानका ज्ञान द्वारा ही उपलम्भ—यह एक ज्ञानीका निर्णय है कि मेरे को एक शुद्ध आत्मद्रव्यका है और इस ओर ही यत्न है। वात कभी वने, किसी भवमे भी बने, वह ऐसे चिन्तनके समयमे भवकी वात नही सोच रहा। इस भवमे तो मोक्ष नही है, अगले भवमे होगा, वात ऐसी है लेकिन इस ओर वह ध्यान नहीं दे रहा है, वह तो उसकी ओर लगा है, होगा ऐसा ही, यद्यपि, न होगा अभी मोक्ष, होगा आगे, लेकिन उसका चिन्तन चल रहा है और उसमे उसका प्रकाश चल रहा है। तो एक ऐसा जो ज्ञानमात्र पद है वही आलम्बन करने योग्य है, जिसने अपने ज्ञानका आलम्बन नही किया, केवल प्रकाशसे शून्य है ऐसा पुरुष कल्याणलाभके लिए या शब्दोसे सुन लिया ऐसे इस अन्तस्तत्त्वके लाभके लिए मुक्तिप्राप्तिके लिए कितने ही मन, वचन, कायकी कल्पनाओकी चेष्टायें करे, कितने ही विचार, कितनी ही क्रियाये, कितने ही वचन व्यवहार और कितने ही तपश्चरण करें, पर इन क्रियाओके द्वारा इस ज्ञानका उपलम्भ न होगा।

देखिये—साक्षात् साधनोकी वात चल रही है। इस समय दृष्टि है एक साक्षात् मिलन वाली, उस दृष्टिमे क्या बात मिलती है? ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानके द्वारा होगी। किसी मन, वचन, कायकी चेष्टा द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति न होगी। स्थिति है, मन, वचन, कायकी चेष्टा विना रहा न जायेगा। चेष्टायें तो होगी ही, क्योकि इस शरीरको साथ लगाये चिपकाये फिर ही रहे है। चेष्टायें उस ही प्रकार होगी जिस प्रकारका ज्ञान अज्ञान-भाव होता है, इतने पर भी किसी वचन कायकी परिणति द्वारा या उसके अधिकरणमे ज्ञान नही प्राप्त होता है किन्तु ज्ञान प्राप्त होता है ज्ञानमे ही, ज्ञानके द्वारा। तब कर्तव्य यह है कि इस निजपदको जो वडी-वडी क्रिया-कलापो द्वारा भी प्राप्त नही होता है और एक सहजज्ञान की कलाके द्वारा सुलभ है ऐसे उस ज्ञानपदमे ही रमे, तृप्त हो, सतुष्ट हो, उसमे ही अपनेको कृतार्थ समझें, अनुभव करें, यही एक कल्याण रूप है। इस एक निज आधारको छोडकर बाहरमे ये सब जो कुछ भी चीजें पडी हुई है, ये मन, वचन, काय, कर्म इन्द्रिय, विषय विकार आदिक इस किसीके आधारसे मेरे कल्याणमय धर्म न होगा। वहाँ नहीं है मेरा धर्म।

धर्मलाभके लिये धर्माधारकी दृष्टिका अनुरोध—प्रियतम आत्मन्! जहाँ होता है धर्म वहाँ ही देखिये—इन पदार्थोंका तो मैं कर्ता नही, इनका कराने वाला नही, इनका मैं करण भी नही, स्वतत्र सत् है ये सभी पदार्थ, और विकारोकी बात अनेक बार बतायी जा चुकी है कि कैसी उनकी निष्पत्ति है, उन्हे भी पौद्गलिक रूपसे निहारा जाता है। तो ये परद्रव्य जिनका सत्त्व मुझसे निराला है, जिनका मैं कर्ता भी नही, कारण भी नहीं, जिससे मैं उत्पन्न भी नही होता, अत्यन्त भिन्न सत् है, वहाँ मेरा धर्म, वहाँ मेरी शान्ति

कहाँसे प्रकट हो सकती है ? इन बाह्य पदार्थोका उपयोग तज कर, आधार तजकर हमे यह अनुभवना चाहिये कि मै अपनेको ज्ञानमात्र जितना अनुभव करूँ वह है मेरा कल्याण धर्म और वास्तविक पौरुष । कृतार्थताका कार्य ज्ञानमात्र अनुभवमे है और ज्ञानमात्र अनुभव को तजकर बाहरसे जितना जो कुछ भी आश्रय लेना है, विकल्प करना है, ये सब मेरे लिए अकल्याणरूप है । वास्तविक आनन्द तो आत्मामे आत्मा द्वारा आत्माके लिए जो प्रकट होता है वह है । वह क्या है ? विशुद्ध ज्ञानमात्र आत्मीय आनन्द । आनन्दका अर्थ है --आ समन्तात नन्दन आनन्द , आ का अर्थ है चारो ओरसे, नन्दनका अर्थ हे समृद्धिशाली होना । जिसका अर्थ है कि सर्व ओरसे समृद्धिशाली होना । इसको कहते है आनन्दमय । यह जीव चारो ओरसे समृद्धिशाली कब होता है जब इन मायामयी लौकिक बाहरी वैभवो का आश्रय छूटा हो और उनका विकल्प लेश भी न हो, और इस स्थितिमे एक स्वका आश्रय रहा हो तो स्वय ही उछल-उछलकर अपने आपमे से ही वेगपूर्वक वह स्वाधीन आत्मीय आनन्द प्रकट होता है वह है सत्य आनन्द । ऐसा आनन्द जहाँ ज्ञानीने अनुभव किया है उसको उसही आनन्दका स्मरण है । अन्य समयोमे भी शान्त और अक्षुब्ध बना रहता है । इस प्रकार इस अधिकरण शक्तिमे यह निर्णय पाया गया कि अपना आश्रय, अपने ही आधारसे अपनेमे जो भाव प्रकट होता है । बस उसको उसकी ओर जोडे, उसे ही दृष्टिमे लें तो इससे आत्माका कल्याण है ।

आत्मीय अभिन्नषट्कारकोंके वर्णनका उपसहार--देखिये इस आत्माके आधारमे आत्मामे जो भाव प्रकट हो वह अभिन्न है आत्मासे । तो जैसे वह आधेय आधारसे अभिन्न है इसी प्रकार उसका करने वाला भी यह आत्मा अभिन्न है । इसका कर्म भी यह निर्मल भाव अभिन्न है, इसका साधन भी यहाका ही परिणाम यहाका ही पौरुष यह अभिन्न है और इस विकासका, इस ज्ञानावरण भावका सम्प्रदान भी यह मैं आत्मा हू । फल किसे मिला ? इसही मुझ आत्माको । जो निर्मलभाव होगा उसका फल उस ही को तो मिलेगा। और वह भाव वहासे प्रकट होगा, इस ही मे प्रकट होता है । इस तरह अभेदषट्कारक दृष्टिसे ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको दिखानेके लिए ६ कारकशक्तियोका वर्णन हुआ । प्रयोजन है कि ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव पाना ही परम पौरष है । वह कैसे पाया जाय ? वह ज्ञानमात्र आत्मा कहा है ? अनन्त शक्तियोकी परखसे समझे कि यह ज्ञानमात्र आत्मा है। देखिये समझा अनन्त शक्तियोकी परखसे और अनुभव करना है फिर ज्ञानमात्र अनेकाी परख करके फिर एक ज्ञानमात्र रूपमे रहना है । कोई कहे कि पहिले ही अभी ही एक ज्ञानमात्र अनुभवमे वन जाय अनेककी परख क्यो करते हो ? यह बात असगत है । जानना होगा, उन शक्तियोसे ज्ञानमात्रका परिचय होगा और ज्ञानमात्रके परिचयसे उन

अनन्त शक्तियोका विशद बोध होगा। जैसे समझ लीजिए—'अनेका अन्ता विद्यन्ते यत्र स अनेकान्त। यो अनेकान्तका ज्ञान करने पर ही वह अनेकान्त मिलेगा कि जहा एक भी धर्म न रहेगा, एक भी भेद उपयोगमे न रहेगा। ऐसा अभेद रूप अनेकान्त यो ही न मिलेगा। पहिले अनेक अन्तोका अध्ययन परिचयपूर्वक निर्णय बने और उससे फिर ऐसा अभेद पौरुप बने कि जहा एक भी अन्त न रहा, धर्म न रहा, भेद न रहा, ऐसा अखण्ड परिपूर्ण वस्तुका परिचय मिला। ऐसे ही अनेक शक्तियोका परिचय करके उस ज्ञानमात्रका अनुभव करनेकी प्रक्रिया बनती है।

सम्बन्धशक्तिके वर्णनके प्रारम्भमें सम्बन्धको कारकोमें न रखनेके कारणकी जिज्ञासा— आत्माकी शक्तियोमे अभी तक अधिकरणशक्तिका वर्णन हुआ। आज सम्बन्धशक्तिका वर्णन चल रहा है। सम्बन्धशक्तिका अर्थ—स्वभावमात्र स्वस्वामीपने वाली शक्तिको सम्बन्धशक्ति कहते है, अर्थात् इस आत्माका स्वामित्व केवल स्वके भावपर ही है और स्वका भाव ही इसका स्व है, इस प्रकार स्वस्वामीपनेरूप शक्तिको सम्बन्धशक्ति कहते है। प्रसंगमे यह विचार करना है कि कारकोमें ६ कारक कहे गए है और इस सम्बन्धको कारक नही कहा गया है। षट्कारक व्यवस्था बतायी गई है. संस्कृत भाषा प्रयोगमे भी ६ कारक कहे गए है, सम्बन्धको कारक नही कहा गया। इसका कारण क्या है? और, जब कारक नही कहा गया है फिर सम्बन्धशक्तिको बतानेका प्रयोजन क्या है? सम्बन्ध विभक्तिमे तो बताया गया है पर कारकमे नही। विभक्तियाँ ७ होती है, जैसे जैनेन्द्र व्याकरणमे विभक्ती इस शब्दके आधारपर यह नाम दिया गया है—व् इ भ् अ क् त् ई। जैसे अन्य व्याकरणोमे बडे-बडे नाम दिये गए हैं—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पचमी, षष्ठी और सप्तमी। जैनेन्द्र व्याकरणमें नाम दिये है, बा इप् भा अप् का ता ईप्। देखिये जैन सतोकी बुद्धि कितनी खोज पूर्ण थी, उन्होने कितनी सूक्ष्म खोज करके यह सिद्धान्त बनाया। व्याकरण सिद्धान्त तो सभी ने अपने अपने बनाये, मगर जैनसाधुओने अत्यन्त सक्षेपमे करना चाहा। जैसे कोई लोग बोलते हैं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, तव प्रदीप शब्दमे देखो—प्र तो हो गया ह्रस्व और दी हो गया दीर्घ तथा प हो गया प्लुत। तो अत्यन्त सक्षेपमें करनेके लिए "प्र" और "दी," "प" इस तरहके संज्ञा शब्द चलते हैं। क्यों जीभको ज्यादह हिलाना पड़े? थोड़ा ही जीभ हिला दिया बस काम चल गया। विभक्तीके इन सातो नामोका प्रयोजन एक यही है कि ये सातो नाम "विभक्ती" इस शब्दमे से ही निकल बैठते हैं। "विभक्ती" शब्दमे ७ शब्द है—व इ भ अ क त ई, यो स्वर और व्यञ्जन मिलकर विभक्तीमे ये ७ शब्द है। उन ही सातो शब्दोंसे ७ विभक्तियाँ बन गईं। इसका एक सूत्र है "आप्पराहलच" जिसका अर्थ है कि विभक्ती शब्दमे जितने अक्षर है उनमे जो हल हो, व्यञ्जन हो उसमे तो 'आ' लगा दीजिए और जो स्वर हो उसके अन्तमे प् लगा दीजिये—तो विभक्तियोकी वे ७ सज्ञायें बन जाती है। और

ये सातो संज्ञाये तीन-तीन प्रत्ययोकी बोधक है—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, इस तरह विभक्तियोमे तो 'ता' आया है, षष्ठी आयी है, सम्बन्ध आया है, पर कारकोमे सम्बन्ध नही आया, इसका कारण क्या है ?

सम्बन्ध विभक्तीको कारकोंमें न रखनेका कारण—जैन व्याकरणमे बताया गया है "ता शेषे" याने षष्ठी विभक्ती शेष अर्थमे आती है। उस शेषका अर्थ क्या है ? जैनेन्द्र-व्याकरणकी सत्र क्रमानुख्या वाली शब्दार्णवचन्द्रिकामे कहा है "कारकाणामविवक्षा शेष"। कारकोकी विवक्षा न रहना, कारकोसे बाहर की जो बात है वह सब शेष कहलाती है। जैसे अंग्रेजी भाषामे मुख्य सम्बन्ध रखने वाले दो कारक है—(१) नोमिनेटिव और (२) औब्जेक्टिव। इनके अतिरिक्त अन्य सब शेष है और उनका प्रयोग टू, बाई, फोर, इन, फ्रोम आदिक शब्दोको लेकर किया जाता है। संस्कृत व्याकरणमे भी यह बात सुनाई जाती है कि कारकपना ६ मे आता है, क्योकि बताया है मृदर्थोदतिरिक्त. स्वस्वामिसम्बन्ध.। प्रतिपादिकोमे बसने वाले अर्थोसे जो भिन्न अर्थ है यह स्वस्वामिसम्बन्ध अर्थ क्या हुआ ? षष्ठीका प्रयोग दो शब्दोसे अपना ताल्लुक रखेगा, सम्बन्धका प्रयोग दो पदार्थोसे ही ताल्लुक रखेगा जब कि कारकोमे दो शब्दोके ताल्लुककी आवश्यकता नही है। क्रियाका कारकभूत एक एक शब्दसे सम्बन्ध रहेगा। जैसे—पढा–किसने पढा ?, पढा–किसको पढा ?, पढा–किसके द्वारा पढा ?, पढा–किसके लिए पढा ?, पढा–किसमे पढा ? यो एक क्रियाका कारकभूत एक एक शब्दसे ताल्लुक सीधा हो गया, लेकिन सम्बन्धमे दो शब्द ही बोले गए—जैसे राजाका पुरुष, फलाने देशका राजा आदि। उसका सम्बन्ध क्रियासे नही है, बल्कि शब्दका शब्दसे सम्बन्ध है। इसलिए इसे कारक अर्थमे नही लिया गया। फिर भी यह छोडा नही जा सकता, क्योकि यह विभक्ती अर्थमे आता है। दो का भी सम्बन्ध हो तो उसमे भी अर्थ है।

षष्ठी विभक्तीकी आवश्यकतापर प्रकाश—षष्ठी विभक्ती प्राय. इतने अर्थोमे आती है (१) स्वस्वामीपन। बताना–जैसे राजाका मंत्री, राजाका पुरुष, राजाकी सेना आदि, यह स्वस्वामी को बताने वाली बात है। (२) सम्बन्ध बताना- जैसे भारतका राजा, अमुक घरका पुरुष आदि, यह सम्बन्ध बताने वाली बात है। (३) समीपता बताना—जैसे ग्रामके समीप, वनके समीप आदि, यह समीपता बताने वाली बात है। (४) ता (शेषका) एक अर्थ होता है समूहको बताना—जैसे रुपयोका समूह, पुस्तकोका समूह आदि, यह समूहको बताने वाली बात है। (५) एक अर्थ होता है विकारको बताना—जैसे पानी की लहर। देखिये पानी और लहर ये कोई अलग अलग चीजे नही है, लेकिन यह भी पानी का विकार बताने वाली एक बात है। (६) एक अर्थ होता है अवयवका बताना—जैसे हाथकी अगुली, यह अवयव बताने वाली बात है। (७) एक अर्थ होता है स्थानको

बताना—जैसे गायका स्थान, अमुक आदमीका स्थान आदि। तो इन मुख्य अर्थोंमे होते है, शेषके प्रयोगमे षष्ठी विभक्ती होती है, पर इसमे आप देख लो कि दो शब्दोका ताल्लुक रहा। अब इसके बाद यदि क्रिया बोली जाती है तो क्रियाका सम्बध दूसरे शब्दसे होगा, पर जहाँ षष्ठी विभक्ती लगती है उससे न होगा। जैसे अमुक पुस्तकको फाड दिया, तो फाडनेका सम्बन्ध पुस्तकके साथ रहा, कर्मके साथ रहा, पर षष्ठीके साथ क्रियाका साक्षात् सम्बध न रहा। इससे यह तो सिद्ध होता है कि कारकपना सम्बधमे नही हैं लेकिन विभक्ती अर्थ अवश्य है। यह जिज्ञासा होती है सभीको कि इसका कौन स्वामी है ? उक्त प्रकार इतनी व्याकरण सम्बन्धी बाते बताकर कारक और विभक्तिमे अन्तर दिखाया गया, अब प्रकृत विषयपर आते है।

आत्मामें सम्बन्धशक्तिका प्रकाश—सम्बन्धशक्ति यह बतलाती है कि स्व स्वामी अर्थात् आत्माका जो भाव है वह तो आत्माका धन है, स्व हैं, वैभव है, और इसका स्वामी आत्मा है, आत्माका स्व अन्य नही, आत्मा किसी अन्यका स्वामी नही। सम्बन्ध शक्तिमे विध्यात्मक और प्रतिषेधात्मक इन दोनोका अर्थ यह है कि यह निरखना कि मेरा जो भाव है, गुण है, प्रदेश है, स्वरूप है, स्वभाव है वह तो मेरा धन है, मेरा स्व है और इस ही स्वका मैं स्वामी हू। इसीके साथ यह भी जानना कि मेरा इस आत्माके अतिरिक्त जितने भी अन्य पदार्थ है वे मेरे धन नही, मैं उनका स्वामी नही। ससारमे जीव जो दुखी हो रहे हैं वे एक इसी अज्ञानसे दुखी हो रहे है। प्रयोजनवश किसी बाह्य पदार्थमे लगना पडे, व्यवस्था करनी पडे तो वह बात अलग है, लेकिन इन ससारी प्राणियो ने तो बाह्य वस्तुमे ऐसी आत्मीयता की है कि उनका यह ध्यान बन गया है कि इन बाह्य पदार्थोंके बिना तो मेरा जीवन ही कुछ नही है। उन अज्ञानी जनो को वैसा साहस ही नही हो सकता जैसा कि ज्ञानी को साहस है। बडे-बडे चक्रवर्ती तीर्थंकर जो कि जब तक घरमे रह रहे थे तब तक इन्द्रादिक सेवा किया करते थे, बडे-बडे राजा महाराजा बडे-बडे वैभवोको त्यागकर एक निर्जन स्थानमे एक अपने आपका ही परिग्रह जिनके रह गया है, जिन्होने अन्य कुछ भी नही ग्रहण किया है, ऐसे वे ज्ञानी विवेकी पुरुष उन निर्जन स्थानोमे भी कितने बडे साहस और धीरताके साथ रहते थे ? सिह, हाथी, सर्प आदिक जतुवोका भी उन्हे रच भय न था, शत्रुओका भी भय न था, भूख प्यास आदिक किसी प्रकारकी वेदनाओका भी भय न था। अहो, उन्होने कैसा अमृतरसका पान किया कि जिससे वे अपनेको अमर अनुभव करते रहते हैं। उनको एक ऐसा ज्ञानप्रकाश मिल गया कि जिससे वे अपनेको सर्व पदार्थोंसे निराला, सर्व विकारोसे निराला, केवल ज्ञानमात्र केवल ज्योति स्वरूप उनको परिचय हुआ है, वे उसको ही देख देखकर तृप्त रहा करते हैं। वे तो अपने

अनन्त साम्राज्यमे आ गए।

ससङ्गतामें विषैला जीवन---बाहरी पदार्थोका जो समागम है वह तो एक विषैला जीवन है, वहाँ आनन्द कहाँ रखा है ? और, देखो ना—बाप अपने बेटेकी रक्षा करता है, बचपनसे लेकर अन्त तक कितने कष्ट सहे—धन कमाया अपने बेटेके लिए, उसे पाल पोस-कर बडा किया, पढाया लिखाया, इतना सब कुछ करके वह तो सोच रहा था कि यही मेरे घरका दीपक है, यही मेरा प्राण है, यही मेरे जीवनका आधार है·· पर होता क्या है कि वह बेटा उस बापसे किनारा कस जाता है। तो बताइये उस बेटेसे बापको मिला क्या ? कुछ भी तो न मिला। तो ऐसी ही बात सभीकी समझो। जिन जिन चेतन अचेतन आदि समस्त पदार्थोंका सम्पर्क है, उनमे बहुत-बहुत घुले मिले रहनेके बाद भी बताइये आपको लाभ मिला क्या अब तक ? बताइये कितने भरे पूरे हुए अब तक ? जैसे—-बोरेमे गेहूँ भर दिया, मान लो १० किलो भर दिया तो उतने तो भरे रहे, उसमे १० किलो और भर दिया तो उतने भरे रहे, उसमे फिर १० किलो और भर दिया तो उतने भरे रहे, ऐसे मान लो १०० किलो गेहू भर दिया तो वह बोरा पूरा भर गया, तो ऐसे ही यदि यहाँ समझने चले जो जो भी यहाँ उद्यम करते है ये ससारी जीव---अब इतना सुख मिला, अब इतना सुख पा लिया आदि। यो अनादिकालसे ऐसे ऐसे सुख पाते आये है, पर बताओ वे सुख अभी तक तुममे भरे हुए हैं क्या ? अरे अपनेको रीते ही अनुभव कर रहे होगे। तो यहाँके ये मौज, ये छुटपुट सुख कोई वास्तविक सुख नही। बल्कि इनकी बात तो ऐसी है कि ज्यो ज्यो ये सासारिक सुख मिलते जायेगे त्यो त्यो ही ये प्राणी रीते होते जायेंगे। तो देखिये---कितनी विचित्र यह विडम्बना है ? तो यहा किसी भी परपदार्थसे कोई सम्बन्ध है क्या ? कुछ भी तो सम्बन्ध नही है। फिर भी यह मोही प्राणी मोहमदिराका पान करके बेहोश होकर अपने आपको बरबाद किए जा रहा है। इसके चित्तमे कभी यह बात नही आती कि अरे अभी थोडे ही दिनोमे यहाँकी समस्त चीजें विघट जाने वाली है। यह दिखने वाला खुदका शरीर भी जलाकर भस्म कर दिया जायगा। जिस शरीरको अपना मान रहे, जिसकी रात दिन इतनी सेवा कर रहे जिसको बहुत पुष्ट, साफ, स्वच्छ रखना चाहते, जिसमे पर्यायबुद्धि करके इतने अहंकार किए जा रहे, वह शरीर इन परिजनो द्वारा, पडौसियो द्वारा, मित्रो द्वारा जला दिया जायगा। लोग इसकी ठठरी बनाकर श्मशानमे पहुंचा देगे। घरके लोग बडी शानसे (एक मेरा ही अधिकार इस पर है ऐसा समझकर) इसे यहाँसे उठाकर बाहर ले जाकर जला देंगे। देखिये जगतके इन मोही प्राणियोकी विचित्रता कि मृतक शरीरको उठानेके लिए, लोगोसे अपना बडप्पन पानेके लोभसे या धनके लोभ से या लोग समझ जायें कि इस पगडीके बाँधनेके पात्र यह है, या लोग यह

जान जाये कि यह व्यक्ति इसका (मृतक का) खास सम्बन्धी है, इसीको धन मिलना चाहिए तो किसी भी लोभमे सही, वे स्वय उस अर्थीको उठाकर ले जायेंगे और जला देंगे।

परमार्थ स्वस्वामी सम्बन्धसे अपरिचित पर्यायव्यामुग्धोंको अपनी विपत्तिका भी अपरिचय—देखिये—जिस व्यक्तिने अनेको शरीर अपने जीवनमे जलाये उसे यह पता नही कि एक दिन यही हाल मेरा भी होने वाला है, मेरा भी यह शरीर इसी भाँति जलाकर भस्म कर दिया जायगा। सभी लोग दूसरोके प्रति तो बडी जल्दी ऐसा सोच लेते हैं पर खुदके विषयमें कुछ नही विचार पाते। जैसे—एक जगलमे एक पुरुष गया हुआ था। उसने देखा कि जगलमे एक जगह आग लग गयी है, कुछ खरगोश, हिरण आदिक पशु भी उस अग्निमे जल रहे है। सो अग्निके भयसे वह एक पेडपर चढ गया। पेड पर बैठा हुआ वह देख रहा था कि अग्नि तेजीसे मेरी ओर बढती आ रही है और बहुतसे पशु उसमे जलभुन भी रहे हैं फिर भी वह उस कौतुकको देख देखकर खुश हो रहा था। (अनेक लोग ऐसी प्रकृतिके होते हैं जो कौतूहलप्रिय होते है) तो वह पेडपर बैठा हुआ व्यक्ति सारे दृश्योको देख देखकर खुश हो रहा था, पर उसे यह पता नही कि यह अग्नि इस पेडपर भी थोडी देरमे आयगी, जिसपर हम चढ़े हुए है, यह पेड़ भी थोडी देरमे जलेगा और मैं भी। तो परमार्थ स्वस्वामी सम्बन्धका पता न होनेसे यह विडम्बना बनी है, परके सम्बंधकी दृष्टि जग जानेसे यह विडम्बना बनी है। इस पर विचार तो विवेकी पुरुष ही कर सकता है। कदाचित धन अधिक कमा लिया, धनपति हो गए, शरीर बूढा हो गया, तो क्या हो गया? बूढा हो जाने पर तो वह हालत होती है, जैसे लोग कहते हैं कि इसकी बुद्धि सठिया गई। धन भी जीवन मे खूब जोड जोडकर धर गए तो उससे लाभ क्या पाया? आखिर मरण करके तो जाना ही होगा। अब मरण हो चुकनेके बाद क्या होगा सो कुछ पता नही, पर यह तो निश्चित ही है कि जो जैसे भाव कर जायगा, जैसे परिणाम कर जायगा उसको वैसा होगा। जैसे कोई बडे आरम्भ परिग्रहमे लिप्त है तो समझिये कि वह नरक गतिका पात्र होगा, क्योकि उसके नरकगतिके कर्मोका आश्रव हो रहा था, कोई मायाचारी, छल कपट आदिके परिणाम करता है तो वह तिर्यञ्चगतिका पात्र होगा। कोई थोडे आरम्भ परिग्रहमे रहकर सन्तुष्ट रहता है तो वह मनुष्यगतिका पात्र होगा, और कोई दान पुण्य, पूजा, भक्ति, सयम आदिक के परिणाम करता है तो वह देवगतिका पात्र होगा।

परविविक्त व स्वैकत्वगत होनेकी शिक्षाके लिये सम्बन्ध शक्तिका वर्णन—यहाँ शिक्षा क्या लेना है कि भाई अल्प आरम्भ परिग्रहमे रहकर सन्तुष्ट रहो। यद्यपि परिग्रहकी कोई सीमा नही निर्धारित की जा सकती। क्योकि करोडपतिके आगे लखपति कम परिग्रह वाला है, लखपतिके सामने हजारपति कम परिग्रह वाला है, और हजारपतियोके आगे ये छोटे

छोटे गरीब लोग कम परिग्रह वाले है, तो परिग्रहकी कोई सीमा तो नही है, पर यह समझिये कि जो जितने परिग्रहमे सन्तुष्ट है वह उतना ही अल्पपरिग्रही है। देखिये----कोई चक्रवर्ती हो, वह छह खण्डकी विभूति वाला है और सन्तुष्ट है तो उसको बडा परिग्रही नही बताया है, और उसकी तो स्वर्गगति बतायी है। अनेक चक्रवर्ती तो मोक्ष भी गए है। जिसने तृष्णा की, वह नरक भी गया। तो जो मिला है पुण्यके उदयसे कमसे कम इतना तो करो कि उससे आगेकी वाञ्छा न रखो। तृष्णा न रखो कि इतना धन और मिल जाय। इसमे उसको धर्म साधनाका मौका मिलता है। तो जब तक इस जीवको परपदार्थोमे स्वामित्व सम्बन्ध लगा है, ऐसी बुद्धि उसकी विकृत हुई है तब तक इस जीवको कही भी चैन नही है। यह सम्बन्ध-शक्ति हम आप सबको यह शिक्षा दिलायेगी कि हम परमार्थत अपने स्वस्वामित्वकी बात परख। मै स्वामी और स्वभाव मेरा धन इसके आगे और कुछ बात नही है। बाहरी बाते तो ऐसी है कि समझो कि जैसे कोई कहता है कि भाई यह सारा ठाठबाट आपका है, पर भाई एक बात यह है कि आप इसे छू नही सकते। और, ऐसा ही आर्डर तो इन बाह्य पदार्थोका मिल रहा है। तुम उपयोगसे मान रहे हो कि यह मकान मेरा है, सो ठीक है तुम खूब मानते जावो कि यह मकान मेरा है, यो तुम्हारे माननेमे कोई रोक-टोक नही है। तुम अपना माननेमे स्वतत्र हो। पर मकानकी ओरसे मानो यह आदेश है कि तुम मुझे छू नहीं सकते। ऐसी ही बात समस्त पदार्थों के प्रति है। सोना, चादी, धन दौलत आदिक जिन जिन परपदार्थोमे तुम अपना माननेकी बुद्धि बनाये हुए हो सो ठीक है, मान लो इन्हे कल्पनासे अपना, पर इनकी ओरसे उत्तर यही है कि तुम मुझे छू नही सकते। यहा तो कोई कोई लोग मजाकमे ही कह देते है कि भैया, यह सब कुछ आपका ही तो है पर इस को छूना नही। यो चेतनपदार्थों की बात तो एक मजाककी है, पर ये अचेतन पदार्थ मजाक नही कर रहे। इनकी ओरसे तो यह सत्य घोषणा है कि तुम मान लो मुझे अपना पर मुझे छूना नही। ये अचेतन अपनी स्वरूपस्थितिके ईमानसे नही चिगते। जैसे घडीमें चाभी भर दिया तो यह अपनी ओरसे बीचमे धोखा न देगी। वह तो ७ दिन तक ईमानदारीसे चलती रहेगी। कोई अचेतन पदार्थ अपनी ओरसे धोखा नही देता। मान लो कदाचित घडी बीच बीचमे बन्द हो जाती है तो उसमे घडी ने अपनी ओरसे धोखा नही दिया किन्तु उसके पेच पुर्जेमे ही कुछ कमी है सो उसने यह बात दरशा दी तो इन समस्त परपदार्थोकी ओरसे मानो यह घोषणा है कि ऐ प्राणी तू चाहे कल्पनासे हमे अपना मान ले, माननेमे तू पूर्ण स्वतंत्र है, पर तू हमे छू नही सकता। मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तेरेमे है। मेरा तेरेसे कोई सम्बन्ध नही। यह घोषणा इस सम्बन्धशक्तिसे प्राप्त होगी। इसके वर्णनमे यह बात जानना है कि मै सर्व पदार्थोसे निराला केवल अपने स्वरूपमे तन्मय हूं। इसे यह सम्बन्ध

शक्ति बता रही है।

सम्बन्धशक्तिके परिचयका प्रयोजन अन्य पदार्थके सम्बन्धके विकल्पका परिहार— सम्बन्धशक्तिमे यह बताया जा रहा है कि हे आत्मन्! तेरे मालिकाईपनेका सम्बन्ध तेरे आत्माके गुण और स्वभावपरिणमनसे है। गुणोका मालिकाई तो यो है कि तू भी शाश्वत है और ये गुण भी शाश्वत है। अत. आत्मामे पायी जाने वाली जो शक्तिया हैं—ज्ञान, दर्शन आदिक गुण है उनका तू स्वामी भले प्रकार है ही और स्वाभाविक परिणाम का स्वामी तू यो है कि निरपेक्ष रूपसे, परके आश्रय बिना, उपाधिसे रहित होकर अपने आपके एकत्वमे रहते हुये ये परिणामन होते है। इन परिणमनो पर तेरा अधिकार है, अर्थात् किसी अन्यकी प्रतीक्षा आश्रय नही करना होता है, इस कारण स्वाभाविक परिणमनका स्वामी भी तू ही है लेकिन इन बाहरी पदार्थोंका, जो अत्यन्त भिन्न हैं, जिनमे अपना कुछ भी स्वरस नही वे तेरे कतई नही। तू उनमे रच मात्र भी यह बुद्धि मत कर कि ये मेरे कुछ हैं, किसी भी प्रकार हैं। इस तरह जरा भी उनमे ममत्व या आत्मीयताकी बुद्धि मत कर। तेरा सम्बन्ध इन बाहरी पदार्थोसे नही है। ये बाहरी पदार्थ धन वैभव, सोना चादी, मकान महल आदि तेरेसे प्रकट भिन्न है। उनका तो स्वरूप ही निराला है, फिर भी यह मोही जीव इतने अत्यन्त निराले पदार्थो को भी 'यह मेरा है' इस तरहसे अपनी बुद्धि करता है। कोई वजह नही है कि यह मेरा है, ऐसा अनुभव करना चाहिये था, लेकिन अज्ञानी प्राणीने ऐसी मोहमदिरा पी लिया है कि जैसा चाहे बकता है, जैसा चाहे मानता है। तत्त्व तो है और भाति, पर इसकी दृष्टिमे वह बात आती ही नही। तो प्रकट भिन्न हैं ये धन वैभव आदिक पदार्थ। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उन ही मे है, वे अपने स्वरूपसे ही रह रहे हैं, हमारी वे कुछ परवाह नही करते और यहा कोई पुरुष उनकी भी परवाह नही करते। वे तो अपने अज्ञानसे उस तरहका अपना उपयोग बनाते है। तो ये धन वैभव आदिक प्रकट पर है, इनका तू स्वामी नही है। इनमे तू अपना सम्बन्ध मत जोड।

अज्ञानमें रागजन्य पीड़ा सहते जाने पर भी रागको न त्याग सकनेकी कुबुद्धि— जैसे यहा कोई बच्चा अपने से किसी बडेको गाली दे देता है तो वह बडा उसके तमाचा मार देता है। तो उस तमाचेका प्रतिकार वह पुन गाली देना समझता है। सो फिर गाली दे देता है। परिणाम यह होता है कि वह बडा फिर उसके तमाचा मार देता है। यो वह बच्चा गाली देता जाता है और तमाचे सहता जाता है। उसके यह बुद्धि नही उपजती कि गाली देना बन्द कर दे तो तमाचे की मार बन्द हो जाय। इसी तरहकी हालत इन ससारी मोही प्राणियोकी है। ये परपदार्थोंको अपनाते जाते, इष्टवियोग अनिष्ट सयोग आदिकी पीडाओसे हैरान भी होते जाते, फिर भी उन्हे अपनाते जाते है। अरे, उनके यह बुद्धि नही

उपजती कि उन परपदार्थोंमे अपनत्वकी बुद्धिको, ममत्वकी बुद्धिको त्याग दे तो मेरी ये सब पीडायें शान्त हो जाये। तो इन मोही प्राणियो ने रागसे उत्पन्न हुए दु खको मेटनेका उपाय राग करना ही समझा है। पर ऐसा कभी हो नही सकता कि राग करनेसे रागजन्य दु ख मिट जाये।

विकारोंका अस्वामित्व--अरे इन धन वैभव, मकान महल, सोना, चाँदी आदिककी तो बात क्या—तेरे अन्दर उठने वाले ये विचार विकल्प तरग अथवा ये मन, वचन आदि की चेष्टायें ये भी तेरी चीज नही है। तू जो अपनेको ऐसा अनुभव करता है कि मैं सावला, गोरा, निर्बल, सबल आदि हू ये भी तू नही है। जिन वचनोमे तू अहंकार करता अथवा ममता करता वे भी तू नही, जिस मनमे तू अहकार करता वह भी तेरी चीज नही। तो ये सब बाह्य चीजे है, तेरी कुछ है नही, फिर भी मानता है कि ये सब चीजे मेरी है इसीलिए तेरे भीतरमे संताप (अन्तर्दाह) बना रहता है। इन अत्यन्त भिन्न परपदार्थोंके प्रति स्वामित्वबुद्धि जगती है तो उसका फल तू स्वय ही भोगेगा। सो इस बारेमे भी भली प्रकार सोच ले कि ये पुद्गल (मन, वचन, काय आदिक पदार्थ) ये सब परद्रव्य है, ये मैं नही हूँ। कैसे हैं ये परपदार्थ। इन समस्त परपदार्थोंका स्वरूप अस्तित्व मुझसे बिल्कुल विलक्षण है, तेरा स्वरूप तुझमे ही है। किसी एक द्रव्यका स्वरूप दूसरे द्रव्यमे नही जाता। तो मन, वचन, कायका स्वरूप भली प्रकार ज्ञानमे होनेसे उनके प्रति उपेक्षा जगेगी। जो लोग त्याग के लिए या राग मेटनेके लिए अपना बहुत खेद मानते हैं—क्यो इन परपदार्थोंमे चित्त जाता है? क्यो यह राग उठता है? मत उठे उद्वेगके साथ यो विचार करते है, मगर एक यह उपाय नही करते कि जिसमे राग गया उसे एक बार चाहे रोको मत, जाने दो, जाता है, पर राग मेटनेके खेद करनेके बजाय उस पदार्थका स्वरूप सही जानने लगें कि वह पदार्थ किस स्वरूपका है, किस ढंगका है? पदार्थका स्वरूप जाननेके बाद जो सत्यता समझमे आयगी तो वहाँसे उपेक्षा अवश्य होगी। तो इन पुद्गल द्रव्योका सही स्वरूप जान लेना चाहिए कि इनका सत्त्व स्वरूप क्या है? इनका रूप, रस, गंध, स्पर्शका स्वभाव है, स्वरूप है, मैं ध्रुव, अनादि अनन्त हू, ये मेरे कैसे हो जायेंगे?

दृश्यमान पदार्थोंकी मायारूपता—ये दृश्यमान पुद्गल द्रव्य क्या है। जो वास्तविक पुद्गल द्रव्य है एक एक अणु परमाणु, ऐसे अनेक परमाणुओका जो एक पिण्डरूप पर्यायसे परिणमन होता है वह है यह पुद्गलस्कध। देखो— जिस रूपमे दिख रहा है यह भी माया रूप है, इसका असली स्वरूप नही है। जैसे जीव जिस तरह नजर आ रहे हैं, विदित हो रहे है--ये पशु हैं, ये पक्षी हैं, ये मनुष्य है, ये मूर्ख हैं, ये विद्वान है आदिक, तो ये जीवके स्वरूप नही। ये तो सब मायारूप चीजे हैं। जीव तो एक शुद्ध बुद्ध ज्ञायक स्वभावमात्र

है। एक शाश्वत तत्त्व है, और ये सब मायारूप है, इसी प्रकार आंखोसे जो दिखता है ये सब भीत, चौकी, चटाई, सोना, चादी आदिक ये सब भी मायारूप हैं, ये एक एक अणु जो परमार्थभूत पुद्गल है उनके पिण्डपर्यायरूपसे यह परिणमन हुआ। इन दृश्यमान पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप विदित हो जाय तब वहाँ राग न रहेगा, उपेक्षा हो जायगी। तो ये मन, वचन, काय आदि पुद्गलात्मक है और मैं अपुद्गलमय हू, निर्दोष ज्ञायकस्वभावमात्र हू, ऐसा यह मैं ही मेरा हू। यह सचयात्मक पुद्गल पदार्थ ये मेरे कैसे हो सकते हैं ?

बाह्य पदार्थोंको अपना बनानेकी रंच भी वजहकी अशक्यता:—कोई पदार्थ मेरा बने उसकी कोई वजह तो होना चाहिए। या तो मैं उसका कारण होऊँ, तो कुछ सम्बन्ध जोड लिया जाय कि ये बाहरी पदार्थ मेरे है या उनमे मैं कुछ करता होऊ तो थोडीसी उपचारभूत भी गुञ्जाइस मिले कि मैं इनका स्वामी हूँ। इन परपदार्थोंका स्वामी जब भी किसी ढगसे अपने को बताया जाय तब वहा देखिये कि उनसे मेरा सम्बन्ध क्या है ? मैं उनमे कुछ करता हूँ या कराता हूँ या उनकी मै कुछ अनुमोदना करता हू या कराता हू या उनका मैं पोषण करता हू आदिक किसी भी रूपमे मैं सहयोगी होऊँ तब भी कुछ सम्बन्धकी बात मान ली जाय। लेकिन ऐसा कोई भी निदान नही मालूम होता है कि जिससे यह निश्चय किया जाय कि इन मन, वचन, काय आदिक समस्त परपदार्थोंका मैं स्वामी हू। अरे ये तो अनेक परमाणुओकी पिण्डरूप पर्यायें है। ये मैं नही हूँ। मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व हू, ये पुद्गल पदार्थ मेरे कैसे हो सकते हैं ? इनमे तो सम्बन्धकी बात मानना एक अज्ञानभरी बात है।

सम्बन्धशक्तिके परिचयसे परविभक्तताका विशद बोध—यह सम्बन्ध शक्ति परसे विभक्त और निजके एकत्वमे गत स्वको प्रमाणित करती है। हे आत्मन्, तू तो समस्त परपदार्थोसे अत्यन्त जुदा है, तेरा उनसे कुछ सम्बन्ध नही, तू तो अपने स्वस्वामीसम्बन्धरूप से है। यहा सम्बन्ध शक्तिके परिचयमे दो बातें बतायी गई थी कि तू दूसरेके सम्बन्धसे रहित है, और तेरा तेरे ही भावसे सम्बन्ध है। तो दूसरेका सम्बन्ध जुडाया और अपने आपका सम्बन्ध जुडाया। इतने पर भी सम्बन्ध शक्तिके कहनेका मुख्य अर्थ है, तात्पर्य है परसे सम्बन्ध छुडा देनेका। अरे जो खुद है उसका सम्बन्ध जोडना क्या ? यह सम्बन्ध तो केवल दृष्टिके बलसे जुडाया जा रहा है, है तो तू ज्ञानमात्र और भ्रमसे परसे अपना सम्बन्ध मान रहा था तो उस सम्बन्धके कारण तू दु:खी हो रहा था। तो तेरे उस भ्रमजन्य सम्बन्धको यहा छुडाया जा रहा है।

अकलंकदेवने राजवर्तिकमे यह दृष्टान्त दिया हैं कि कोई पुरुष किसी दूसरे गाँवको जाने लगा तो थोडी दूर चलनेपर रास्तेमे उसे यह दिखा कि किसी ८–१० सालके बालक

को एक हाथीने अपनी सूंढमे लपेटकर फेंक दिया और वह बालक मरणको प्राप्त हो गया। और, उसका स्वयंका बालक भी ८--१० वर्षका था, उसी बालककी सक्ल सूरतसे मिलता जुलता था, सो उसे यह भ्रम हो गया कि ओह ! यह बालक तो मेरा है जो हाथी द्वारा मारा गया, बस वह मूर्छित होकर गिर पडा, बेहोश हो गया। कुछ लोगोने इस दृश्यको देखकर यथार्थ बातको समझ लिया। उस पुरुषकी मूर्छाको मिटानेका वे प्रयत्न करने लगे। एक व्यक्तिने स्वयं ही उस पुरुषके घर जाकर उसके ही बालकको लाकर उसके सामने खडा कर दिया। जब उस पुरुषने अपना बालक अपने नेत्रोके समक्ष खडा हुआ पाया तो झट ठीक हो गया। तो उस पुरुषको यह भ्रम हो गया था कि यह बालक मेरा है, इसीसे वह अचेत हो गया था। और, जब उसे सही पता पड गया कि वह बालक मेरा न था तो वह सचेत हो गया। तो इसी तरहसे इन संसारी अज्ञानी जीवोको मूर्छा लगी हुई है और ऐसा सोचते कि ये सब पदार्थ मेरे है। यो परपदार्थोमे जबरदस्ती आत्मीयताकी बुद्धि कर रखी है। ये परपदार्थ इस आत्मीयताको नही सह सकते, इस कारण ये ज्योके त्यो जुदे रहते है। मानो तो, न मानो तो दोनो ही स्थितियोमे बाहर जैसे है वैसे ही है, उनमे अन्तर नही आया। लेकिन इस मोही प्राणीने अपनेमे सारा अन्तर बना डाला। भ्रमवश यह दुखी हो रहा है। जिस क्षण इसका यह भ्रम मिटेगा कि ये समस्त बाह्यपदार्थ मेरे कुछ नही है। मेरा तो मात्र मैं सहज ज्ञानस्वरूप हू। जब अपने आपमे इस सहज ज्ञानस्वरूपकी बुद्धि जगेगी तब इसका यह सब अधेरा अज्ञान विडम्बना आपत्ति संकट ये सब दूर हो जायेगे। तो सम्बन्धशक्तिका वर्णन बाहरी पदार्थोके सम्बन्धको छुडा देता है। ये मन, वचन, काय मेरे कुछ नही है।

दृश्यमान पदार्थोंके बननेके कारणकी जिज्ञासा और उसका समाधान---अभी यहाँ कोई जिज्ञासु यह जानना चाहता हो कि यहाँ मेरा नही है और मेरा इससे कोई सम्बन्ध नही, मैं इसका करने वाला नही, किसी तरह मैं इनका सहयोगी नही, तो ये सब चीजे बन कैसे गई ? हम तो यह ही समझ रहे है कि जो कुछ यहाँ बनता दिख रहा है वह सब इस जीवकी ही महिमा है। यह जीव न होता तो ये चीजे जो बनी हुई दिख रही है वे कैसे दिखती ? यह जो भीत दिख रही है इसको यदि किसीने बनाया न होता तो बन कैसे जाती ? अरे किसीने ईंटें पारी होगी, उनकी चिनाई वगैरह की होगी तभी तो भीत बनी। तो मालूम पडा ना कि जीवने इस भीतको किया। अब वह ईंट किससे बनी ?... मिट्टीसे। उस मिट्टीरूपको इस पृथ्वीकायिक जीवने ग्रहण किया, फिर पृथ्वी शरीरका संचय हुआ, फिर उससे ईंटे बनी, फिर भीत बनी। तो मूल कारण जीव ही हुआ ना इस भीतके बननेमे ? ऐसे ही समझ लीजिए कि यदि यह जीव न होता तो ये चीजें कुछ न बनी हुई दिखती।

जिस जीवकी कृपासे ये सब पुद्गल अपना अस्तित्त्व रख रहे है उसीके संबधमे जीवको यहां कहा जा रहा है कि तू कुछ नही करता। अरे यदि जीव करता नहीं है तो फिर ये सब चीजे बन कैसे गईं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर उसपर अब विचार करते है। यहाँ जो कुछ बनता है पहिले उनके ही भीतरी स्वरूपको देखिये—ये पदार्थ चौकी, कागज, भीत वगैरह सब है क्या ? ये बहुतसे परमाणुओके पिण्ड हैं इस बातमे तो कुछ सशय है नही। अब उनमे से एक परमाणु कितना होता है, इसपर भी तो कुछ विचार कर लीजिये। एक अणु जो स्वय है वह एकप्रदेशी है। वह एक अणु लोकके एक प्रदेशपर ही ठहर सकता है। एक परमाणु दो प्रदेशोको नही रख सकता। और, एक प्रदेश कितना छोटा होता है ? सो बताया गया है कि मानो जितने करोडो, अरबो, खरबो वर्षो के समय होते हो उनसे भी ज्यादह प्रदेश है सूइके नोक बराबर एक क्षेत्रमे। अब आप समझ लीजिए कि उसमेसे केवल एक प्रदेश कितना कहलाता होगा ? उतनी जगहको ही घेर सकता है अणु तो अणु कितना छोटा हो गया ? वह है पुद्गल द्रव्य। ऐसे ऐसे अनन्त परमाणुओका पुञ्ज हो गया तो यह दिखता है कि यह भीत है, यह काठ है, यह पत्थर है आदिक। अगर शुद्ध द्रव्यमे दृष्टि करके देखें तो यह कुछ दृष्टिमे नजर न आयगा। तो ऐसे प्रदेशमात्र जो परमाणु हैं उन परमाणुओ मे स्पर्श होता है, रूखा, चिकना, ठंडा, गरम आदिक होते हैं। तो उनमे जो स्निग्ध रूक्षत्व आदिक गुण हैं परमाणुओमे उनकी वजहसे इसके बन्धन होता है और वे परमाणु एक एक मिलकर स्कधरूप हो जाते हैं। इनकी उत्पत्ति इस ढंगसे है। इस ढगसे न समझें कि जीव की कृपा है, इसका ही बनाया है, इसके ही कारण ये सब हुए है। यह जो परमाणुओका पुञ्ज बना है, यह दिखने वाला सब ढाँचा बना है, परमाणुओमे जो रूखा, चिकना आदिक गुण हैं, उनमे ऐसा स्वभाव है कि उनके कारण बन्ध हो जाता है। जैसे कि जीवमे राग-द्वेषके कारणसे बन्ध होता रहता है, यो ही इन परमाणुओमे स्निग्ध रूक्षत्वकी वजहसे बन्ध होता रहता है। हाँ इतना अन्तर जरूर है कि आत्मा तो एक बार शुद्ध होनेपर चूँकि उसमे रागद्वेष नही रहे, तो तब उसके बन्ध नही चल सकता। लेकिन परमाणुओमे जो बन्ध हो रहा है वह किसी परपदार्थके कारण नही हो रहा है, किन्तु जिन दो मे बन्ध होता रहता है, उनका ही जो अपना स्निग्ध रूक्षत्व गुण है उनके कारण हो रहा है। एक बार भी ये परमाणु स्कधसे अलग हो जायें, लेकिन बँधनेका कारण तो उनमे पडा हुआ है, इस कारण शुद्ध होनेपर भी उन परमाणुओका बन्ध हो जाता। मगर सिद्ध होनेपर बन्धका कारण नही पडा है इस कारण वहाँ बन्ध नही होता। तो ये जो चीजें हम आपको दिख रही हैं ये सब पिण्डरूप हैं। इनका करने वाला जीव नही। यह तो इसके स्वभावसे इस तरहका पिण्ड होता रहता है। परमाणु पुद्गल द्रव्यमे स्निग्ध रूक्षत्वकी डिग्रियाँ होती है। जैसे पानी

चिकना होता है, और बकरीका दूध उससे भी चिकना होता, गायका दूध उससे भी चिकना होता, भैंसका दूध उससे भी चिकना होता और मेढेका दूध उससे भी चिकना होता है। तो जैसे पावभर दूध इन सब जानवरोका अलग अलग निकालकर रख दिया जाय तो चाहे तौलमे उनमे अन्तर नही है, पर उनकी चिकनाईकी डिग्रियोमें अन्तर रहता है। तो इसी तरह समझिये कि इन पुद्गल परमाणुओमे भी स्निग्ध रूक्षत्वकी डिग्रियोका अन्तर रहता है। जब उनका मेल-मिलाप होता है तो एक बन्धन बन जाता है।

जघन्य गुणका तात्पर्य—एक बात और ध्यानपूर्वक सुनिये और ग्रन्थोमें कही लिखा हो तो प्रमाणित कर लीजिए। जैसे बुखारकी डिग्रियाँ कमसे कम ९६ होती है और उसे कहेगे जघन्य बुखार। और, अगर कोई कहे कि जघन्य बुखार ९६ डिग्रीको क्यो कहते, एक डिग्रीको जघन्य कहो। जब ९६ डिग्री बुखार होता है तो १, २, ४, १०, १५ डिग्री आदिक भी तो बुखार होता होगा ?…अरे होती तो है डिग्रियाँ पर वे समझमे कहा आती ? हा ९६ डिग्रीसे अगर १ डिग्री बढ गया तो १ डिग्री बढा हुआ कहा जायगा, २ डिग्री बढ गया तो २ डिग्री बढा हुआ कहा जायगा। इसी तरहसे यह बात सम्भव हो सकती है कि परमाणुओमे जघन्यसे जघन्य स्निग्धता है। उसमे भी अनेक अविभाग प्रतिच्छेद होगे और फिर १ अविभाग प्रतिच्छेद न हो तब फिर जघन्य अविभाग प्रतिच्छेद क्या कहलाता होगा ? कम से कम जितने अविभाग प्रतिच्छेदका पिण्ड परमाणु हो, जिससे कम अविभाग प्रतिच्छेद न हो वह होता है जघन्य गुण। उसको एक गुणकी संज्ञा दी है। यदि जघन्य अविभाग प्रतिच्छेद हो तो १, २, ३ आदिक अविभाग प्रतिच्छेद हो, जब अविभाग प्रतिच्छेदका स्वरूप समझा जाता है तो इसी ढगसे कहा जाता है कि जहा ऐसा लगता है कि एक कभी न मिल सके। जैसे ज्ञानगुणके अविभाग प्रतिच्छेद मे केवल ज्ञानगुणके अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त है, हम आपको जितने भी ज्ञान प्रकट होते है वे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद है। अल्पसे अल्प भी ज्ञान हो तो वहां भी अनेक अविभाग प्रतिच्छेद होते है। द्रव्यरूपसे अविभागी एक अणु होना सम्भव है। कई परमाणु मिल गए, कई प्रदेश हो गए, पर उसमे जो भावात्मक अविभाग प्रतिच्छेद है उसमे एक अविभाग प्रतिच्छेद मात्र बिरलके रह जाय यह सम्भव नही जंचता। तो ऐसी स्थितिमे कुछ यह बात प्रतीत होती है कि कमसे कम अविभाग प्रतिच्छेद जितने होते हैं, सो उसे एककी संज्ञा देना चाहिए। और जब बढकर २, ३ आदिक अविभाग प्रतिच्छेद हो जाये तो उन्हे २, ३ आदिककी संज्ञा देना चाहिए। इस तरह एक पुद्गलके गुणसे दो अधिक गुण वाले परमाणुके मिलनेसे बंध होता रहता है। तो कहनेका प्रयोजन यह है कि तू ऐसा मत समझ कि मैंने अमुक पदार्थको बनाया, अमुक पदार्थमे कुछ किया।

परसे सम्बन्धोपचार होनेके ५ वजहोंमें से किसी भी वजहकी असंभवता—देखो इस

जीवका सम्बन्ध इन ५ बातोसे होता है–(१) या तो उसका अस्तित्व बनाया हो, (२) या अस्तित्व तो न बनाये किन्तु उसका कर्ता हो जाये, (३) कर्ता भी न हो किन्तु उसको ला दे, इकट्ठा कर दे, तो चलो फिर भी कुछ अधिकार है। (४) न भी लाये लेकिन कोई परिणति बना दे तब भी इसका सम्बन्ध माना जाय। (५) अगर परिणति न भी बनाये फिर भी उनको ढाँचेमे ढाल दे, चलो तब भी सम्बन्ध मान लिया जाय। तो पाच तरहसे बात कुछ सम्बन्धकी आ सकती है। उसका अस्तित्व किया हो अथवा उसका कर्तृत्व हो, उसे मेक-अप किया हो या उसका लाना किया हो, जैसे चीज तो है उसको ला दिया, अथवा उसमे परिणति किया हो, सैट-अप किया हो तब भी सम्बन्ध बताया जाय। और अगर ये सब धन वैभव सोना चाँदी आदिकमे इन बातोमे से कुछ नही कर पाता, फिर क्या वजह हो सकती है जो यह कहा जाय कि ये पदार्थ मेरे हैं ? उनकी सम्बन्धबुद्धि छोडो और अपने आपके गुणमे, स्वभावमे, परिणामनमे अपने स्वामित्वकी बात समझो।

मन वचन कायका मुझसे पृथक् सत्त्व तथा अक्रियमाण होनेसे सम्बन्धका अनवकाश– स्वभावमात्र ही मेरा स्व है और इसका मैं स्वामी हूँ। इस प्रकार स्वस्वामित्व सम्बन्ध बताते हुए प्रसगमे यह कहा जा रहा है कि मन वचन और काय ये मेरे नही है। मेरे ये इन कारणोसे नही है कि पहिली बात तो यह है कि इनका सत्त्व जुदा है और मेरा सत्त्व जुदा है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी मन, वचन, कायके निराले हैं, वे पौद्गलिक है, परमाणुवोके पिण्डसे रचे हुए है और यह मैं टकोत्कीर्णवत् शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निराला हू। दूसरी बात यह बतायी गई है कि ये तब ही ये कुछ मेरे कहलाते जब मैं इनका कर्ता भी होता, लेकिन मैं इनका कर्ता नही हूँ। ये मन, वचन, काय अपने ही पौद्गलिक शरीर वाले है, पुद्गल परमाणुओके सचयसे बने हुए हैं। मैं तो अपनी शुद्ध चैतन्य परिणतिका कर्ता हूँ, मै इनका कर्ता नही हू। मैं अपने आपमे स्वतत्र सत् हू और मुझमे निरन्तर परिणमन होते हैं, मेरे ही आश्रय मेरे ही सहज सत्त्वके कारण जो परिणाम हुआ वह परिणाम, उसका मैं कर्ता हू, किन्तु मन, वचन, कायका कर्ता नही हूँ, इस कारण भी ये मेरे नही है। मैं तो शरीररहित हूँ, शुद्ध चैतन्यमात्र हू, इन किन्ही का मैं कर्ता कैसे हो सकता हू ? इन सबका जो कुछ भी स्कधरूप परिणमन हो रहा है सो इन ही के परिणमनसे हो रहा है। जैसे यद्यपि मैं (जीव) स्वभावसे अबध हू, मेरा स्वरूप, स्वभाव स्वतत्र है, किसी परसे मिलाजुला नही है, बन्धनरहित है। तो स्वभावसे बन्धरहित होने पर भी जब रागद्वेष रूप परिणमन होता है तो यह बन्ध चलता है, ऐसे ही परमाणु भी यद्यपि स्वरसत स्वभावत अबध हैं लेकिन उनमे स्निग्ध रूक्षत्व गुणका परिणमन विशेष होता है। तो उसके कारण ये बँध जाते हैं और स्कध रूपमे एक दृश्य मूर्तदशामे आ जाते है। यो ये परमाणु जब

अपने जघन्य गुणमे रहते है तब तक तो ये बन्ध योग्य नही होते, जब इनमे अपने आप स्निग्ध, रूक्षत्व गुण बढते है तो परस्पर बन्धको प्राप्त होते है। जैसे जीवमें यह बात पायी जाती है कि जब जघन्य रागद्वेप हुए अर्थात् जिनसे और कम अनुभाग कम स्थिति कम न हो सके अन्य, उसे कहते है जघन्य रागद्वेप। जैसे जघन्य द्वेप ९ वें गुणस्थानमे उदित होता है और जघन्य राग १० वें गुणस्थानमे उदित होता है। तो वह अबंधक है, इसी प्रकार जघन्य गुणवाले जो परमाणु हैं वे भी बन्धके पात्र नही है। तो मैं उन पिण्डोका भी करने वाला नही हूँ। इस कारण मैं उनका स्वामी नही हूँ।

पुद्गलपिण्डका आनेतृत्व होनेसे मुझमें सम्बन्धकी आरेका--अब तीसरी बात सोचना है कि कोई सोचे कि चलो—मैंने पुद्गल पिण्डको किया नही, पुद्गल पिण्डका सत्त्व जुदा है, इस कारण मेरे कुछ नही है। मकान, धन, सोना, चाँदी आदिक इनका मैं करने वाला नही हूँ तो लाने वाला तो हूं। मन, वचन, कायके परमाणुओको भी लाता हूं। कर्म परमाणुओको भी ग्रहण करता हूं सो उनका मैं लाने वाला तो हूं। अब तो सम्बन्ध रहा, उसमे ही सम्बन्ध (स्वामित्व) बन जायगा। जैसे लोकमे किसीका स्वामित्व बतानेके लिए कोई न कोई प्रसंग बता दिया जाता है। एक कथानक है कि एक बार गौतम (महात्माबुद्ध) किसी जंगलमे से निकल रहे थे वहां एक भाडीके नीचे पड़ा हुआ हंस पक्षी दीखा। उसका शरीर बाणसे बेधा हुआ था, वह हांफ रहा था। उसके नयनोंसे अस्रुधार बह रही थी। गौतमको उसे देखकर उस पर दया आ गयी। झट भाडीसे निकालकर अपनी गोदमे लिया, उसके हृदयमें बेधे हुए तीरको निकाला, एक नदीके तटपर ले जाकर उसके घावको धोया, पानी पिलाया, इतनेमें ही उसका चचेरा भाई देवदत्त हाथमे धनुष बाण लिए हुए उसके पास पहुंचा। बोला—"हे भाई ! यह हंस मेरा है, मुझे दे दो। तो गौतम बोला— मैं इस हंसको तुम्हें नहीं दे सकता, यह हंस मेरा है।" दोनों आपसमे झगड़ने लगे। गौतम बोला— "यह हंस तुम्हारा कैसे है ?" तो देवदत्त बोला— "मैंने इस हंस पर तीर मारा है, इसका शिकार मेरे ही द्वारा हुआ है इसलिए इसको लेनेका मेरा ही अधिकार है।" उत्तरमें गौतम बोला—"इस हंसके हृदयमें बेधे हुए बाणको मैंने निकाला है। इसके लगे हुए घावको मैंने धोया है, इसे जल मैंने पिलाया है। इसके प्राणोंकी रक्षा मैंने किया है अतः इस पर मेरा ही अधिकार है, यह हंस मेरा है मैं इसे नहीं दे सकता।" आखिर दोनोंमें यह निर्णय हुआ कि चलो महाराजके पास अथवा पिता जी के पास चलकर इसका निर्णय करें। दोनों ही राजकुमार राजा शुद्धोदनके पास पहुंचे। दोनोंने अपनी-अपनी बात कह सुनाया-- गौतम बोले कि यह हंस मेरा है, मुझे मिलना चाहिये और देवदत्त [illegible] मेरा है, मुझे मिलना चाहिए। तो राजा शुद्धोदन ने यह निर्णय दिया कि मारने [illegible]

बचाने वालेका अधिकार ज्यादह होता है अत य. हस गौतमका है। तो इस कथानकमे बताया यह जा रहा है कि लोग परवस्तुओको मेरा समझनेके लिए न जाने क्या क्या सोचा करते है ? मार दिया तो मेरा है। बिगाड दिया तो मेरा है। बहुतसे लोग तो कहते है कि यह मेरा शत्रु है याने उन्होने शत्रुमे भी ममता ला दी, लेकिन चलो शत्रुमे ही सही, यह ममता करनेके लिए और इस सम्बन्धको बनानेके लिए न जाने कितने ही नाते बन गये। बनाये कोई कुछ भी नाता, पर कोई वस्तु किसी दूसरेकी कुछ नही हो सकती।

पुद्गल पिण्डका आनेतृत्व न होनेसे मुझसे सम्बन्धके अभावका समाधान---बात यहा यह चल रही है कि इन मन, वचन, काय, धन, वैभव आदिकका मैं कर्ता भी न सही, पर इनका लाने वाला तो मैं हू, इस कारण तो कुछ सम्बन्ध रहा ? तो उसपर भी विचार कीजिये—मन, वचन, काय और कर्म इन सभीको ले लीजिये—ये जो अपने कर्मरूप परिणम रहे है, अपनी क्रियारूप बन रहे हैं, अपनेमे अपनी जो स्थिति बना रहे है, सो यह देखिये कि ये सब अपने आपके उपादानसे बना रहे है—पहिली बात, और इस तरह बनते हुए ये पिण्ड इस ससारमे ये इतने भरे हुए हैं कि यह ससार सारा भरा हुआ है। जैसे कार्माणवर्गणाओसे सारा लोक भरा हुआ है। जब जीव ही भरे हुए है सारे लोकमे लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर अनन्त जीव मिलेंगे तो जब इतने जीव भरे हुए है तो जीवके साथ औदारिक शरीर भी है, अन्य शरीर भी है, उनकी वर्गणाये भी है तो वे सब भी भरी हुई है। तो जो मोटे पदार्थ है वे भी दिखते कि बहुत पडे हुए है और जो सूक्ष्म पदार्थ हैं वे भी बहुत पडे हुए है। कर्मवर्गणाये भी पडी हुई है। जिस समय रागादिक रूप परिणमता है तो ये वर्गणाये कर्मरूप परिणम जाती हैं, यह लाने वाला कहासे हुआ ? और कदाचित बाहर से भी कुछ आये शरीरकी वर्गणायें अथवा कर्मवर्गणायें, सो मुख्यतया तो विस्रसोपचय ही कर्मरूप बँधता है, मगर जिस समय विस्रसोपचय कर्मरूप बँधने लगे तो बाहरका कोई अणु यहा आयगा तो विस्रसोपचयमे मिलता हुआ, उनके सजातीय बनकर वह भी बँध गया, तो ऐसे बाहरसे बध जाये, लेकिन लाने वाली बात कहा रही ? अगर आये भी हैं तो आ रहे हैं। जैसे चुम्बक पत्थर जो लोहेकी सुइयोको खीच लेता है याने लोहेकी बहुतसी सूइयां रखी हो और उनके पासमे चुम्बक पत्थर आ जाय तो वे सूइया सबकी सब उसकी ओर खिच जाती हैं। अब उसे चाहे कोई यो कहे कि इस चुम्बकमे लोहेके खीचनेकी शक्ति है और चाहे कोई यो कहे कि उन लोहेकी सूइयोमे चुम्बककी ओर खिंचनेकी शक्ति है। अब इसपर अधिक विचार करेंगे तो सबल विचार यह बनेगा कि लोहेकी सूइयोमे खिंचनेकी शक्ति है। ये लोहेकी सूइया इस तरहके निमित्तको पाकर स्वय अपनी क्रियासे उस ओर खिच गई हैं। अब चुम्बकमे खीचनेकी शक्ति है, इसको अगर सबल विषय बनाते हैं तो वहाँ आपत्तिया

आती है। प्रथम बात तो यह है कि चुम्बककी जो भी क्रिया होगी वह उसके ही प्रदेशमे होगी। तो खीचनेरूप क्रिया कहाँ बाहर पडी हुई है और कहाँसे वह परिणति होती है? जिस द्रव्यमे जो गुण हो, जो पर्याय हो वह उसके प्रदेशमे ही रहती है, उससे बाहर नही पहुचती। तो खिचना नाम क्या है? उस खिची हुई सूईकी बातको समझ करके णिजन्त प्रयोग होता है कि उसने खीचा। तो जैसे लोहेकी सूइयाँ खिचकर आयी है, ऐसे ही कार्माणवर्गणाये अन्य वर्गणाओमे भी खिचकर आयी, लेकिन उनके खीचने वाला जीव नही है। जीव तो अपने अमूर्त शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमे रहता है। उसके खीचनेका क्या प्रसंग है? तो जैसे अपने स्वभावको न पाकर जीव जो पृथ्वी आदिक रूप परिणमन कर रहे है, निगोद शरीरमे जन्म ले रहे है, इन सब रूप बन रहे है तो वहा जो शरीरका ढेर बन रहा है, कर्मका ढेर बन रहा है वह कर्मका व शरीरका ढेर ससारमे भरा हुआ है और निमित्त पाकर वे सब बन जाते है, पर इतने पर भी जीवने उन वर्गणाओको खीचा नही है, अतएव इस नाते से भी कोई मन, वचन, काय, कर्मको अपना नही कह सकता कि इनका मैं करने वाला तो नही, इनका सत् तो मैं नही, लेकिन इनको लाने वाला तो मैं हू? तो यह जीव इन इन मन, वचन, काय, कर्म इनको लाने वाला भी नही है अतएव इनसे इस जीवका सम्बन्ध नही है।

पुद्गलपिण्डोंकी कर्मत्वपरिणति मुझसे अक्रियमाण होनेसे सम्बन्धका अभाव—अब चौथी बात यह कही है कि पुद्गल पिण्डोका सत् जुदा है। पुद्गल पिण्डोको हमने किया नही है, पुद्गल पिण्डोको हम लाये भी नही है, लेकिन पुद्गल पिण्डोमे कर्मत्वको तो हम कर देते है, मन, वचन, कायके पुद्गल स्कधोमे जो परिणमन बनते है, अवस्था बनती है, उसे तो मैंने कर दिया, क्योकि मेरा सम्बन्ध न हो तो मन, वचन, काय बन कैसे सकते? और, कर्मो मे कर्मत्व तो मैंने कर दिया। मेरे रागद्वेष भाव हुए और उसके कारण कर्मत्व आया तो कर्मको हमने खीचा भी नही हो, लाये भी नही हो, किया भी नही हो, और उसकी सत्ता भी जुदी हो, लेकिन उसका कर्मत्व तो मैंने किया। इस नाते से तो कह डालें कि कर्म मेरे है? और, सारी दुनिया कहती है कि कर्म मेरे है, भाग्य मेरा है, मेरा ऐसा भाग्य है, यह सब पदार्थोंके स्वामित्वके निषेधकी बात कही जा रही है कि मैं तो एक शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी हू और जो इस मेरे आश्रयसे परिणाम बने वह मेरा कर्म है। तो कर्मत्वको पैदा किया मैंने, इस कारण मानना चाहिए कि ये कर्म मेरे है, इस पर भी एक विचार करो। उन कार्माणवर्गणाओमे कर्मत्व किसने किया? यद्यपि विस्रसोपचय कर्म वर्गणाये भी इस जीवके एक क्षेत्रावगाहमे हैं, और बहिरङ्ग याने उनका नि[illegible] रागद्वेष रूप परिणमन है। यह भी हुआ। अब उन पौद्गलिक अचेतनोका [illegible]

मे जो कर्मत्व परिणमन हुआ सो मुझ जीवके परिणमनको साथ लेकर हुआ या उनमे ही केवल कर्मत्व परिणमन हुआ, उनमे ही परिणमन हुआ, क्योकि वे मेरेसे जुदे सत् है उनमे कर्मरूपता आयी तो उनके ही उपादानसे आई, मुझ परिणमने वाले जीवके बिना ही वे कर्मत्वशक्तिरूप परिणमनेकी योग्यता रखते थे, सो कर्मरूप परिणाम गए हैं। तो मैं पुद्गल पिण्डोमे कर्मत्वका भी करने वाला नही हू। फिर कैसे कहा जाय कि मेरा सम्बन्ध है, मैं कर्मका कुछ लगता हूँ और कर्म मेरे स्व है ?

कर्मत्वपरिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर कर्तृत्वाभाव होनेसे कायका, कार्माण शरीरका मेरेसे पार्थक्य—अब एक ५ वी जिज्ञासा और शेष रह गयी है। यह जिज्ञासु यह जानना चाहता है कि चलो मन, वचन, काय, कर्मसत् जुदा है इसलिए सम्बन्ध नही माना। कर्म का, पिण्डका मै करने वाला नही। कर्मका पिण्डका मैं लाने वाला भी मैं नही, जो परिणमन आया, ज्ञानावरण आया या जो उनमे अनुभाग आया उनका भी मै करने वाला नही, मगर एक बात यह निरखिये कि कर्मत्वसे परिणमे हुए कर्मका, कार्माण शरीरका बनाने वाला तो मैं हू, अथवा पिण्डरूप परिणमते हुए कायादिका ढाचा बनाने वाला तो मै हू। जैसे ईंट और भीत। एक तो ऐसी ईंटे जो कि बिखरे हुए रूपमे पडी है अथवा चट्टासा भी बना दिया गया हो, वे भी बिखरी ही कहलाती है, तो एक तो ऐसी ईंटे और दूसरी ऐसी ईंटें जिनकी चिनाई करके ढगसे एक शरीराकार (भीताकार) ढाचा बना दिया गया, वही भीत हो गई, इसी प्रकार ये कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणमति हैं, इस परिणतिके ही साथ वे कार्माणशरीररूपसे रच जाती है, उनका एक ढाचा बन जाता है। जैसे कि जीवका आकार है व शरीरका ढाचा है, उस ढंगसे इन कार्माण शरीरोका भी ढाचा बनता है उसे कहते है कार्माण शरीर। कर्ममे और कार्माण शरीरमे अन्तर तो है, क्योकि कार्माण शरीर नामकर्मके उदयसे जिस शरीरकी प्राप्ति हो उसे कहते हैं कार्माणशरीर और जो जीवके रागद्वेषादिक विभावोका निमित्त पाकर जो कर्मरूप परिणमा नही है ऐसी कार्माण वर्गणाओमे कर्मत्व आना इसे कहते हैं कर्म। तो कर्ममे और कार्माण शरीरमे अन्तर रहा। तो हम उस कर्मत्वके कर्ता तो न सही मगर कार्माण शरीरके तो कर्ता है, इस पर भी तो विचार करें। जीवके उन रागद्वेपादिक भावोका निमित्त पाकर ये पुद्गलकाय ये कर्म कर्मरूप परिणाम गए, और केवल कार्माण शरीर ही नही किन्तु उन कर्मोंके उदयमे औदारिक आदिक शरीर भी बने, पर ये शरीर स्वयमेव उत्पन्न होते है, न कि जीवकी परिणतिको साथ लेकर उत्पन्न हुए। इस कारण यह भी नही कहा जा सकता कि औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण, इन शरीरोका भी मैं करने वाला हू। इनका भी करने वाला मै नही अतएव ये भी मेरे स्व नही है, ये सब पुद्गल द्रव्यात्मक है। स्व-

स्वामी सम्बन्धत्व शक्तिमे यही देखा जा रहा है कि मेरा सम्बन्ध मेरे स्वके साथ है। अपने सहज गुण और सहज परिणमन उनका मै स्वामी हू। इसके अतिरिक्त न मै धन वैभवका, न मन, वचन, कायका, न रागद्वेषादिक विकारोका स्वामी हू। ये रागादिक विकार भी केवल मेरा आश्रय करके नही उत्पन्न होते, फिर ये मेरे स्व कैसे कहलाये ? ये पराश्रयज है और कर्मके उदयका निमित्त पाकर हुआ करते हैं इस कारण ये मेरे नही है।

इन्द्रियादि दस प्राणोंके स्वामित्वका मुझमें अभाव—अब लोग अधिक ममता करते है प्राणोकी। और बडी बडी घटनाओंके सब कुछ छोडनेको तैयार हो जाते है मगर प्राण नही छोड सकते, चाहे धन छोड दे, कुटुम्ब भी छोड दे। घरमे आग लग गई हो तो जहां तक बनेगा—धन निकालेंगे, और तेज लग गई तो धनकी भी उपेक्षा करके पहिले परिजनो को निकालेगे। मान लो निकालते निकालते आग बहुत तेज बढ गई और कोई बच्चा अन्दर रह गया, न निकल सका तो वह दूसरोसे कहता है कि भैया मेरे बच्चेको निकाल दो, हम तुम्हे १० हजार रुपये देगे। अब देखिये—उसे क्या प्यारा रहा ? अपने प्राण। उसकी स्वय उस आगके बीच घुसनेकी हिम्मत नही पडती। तो लोग प्राणोसे प्यारा अन्य कुछ नही समझते। इसी कारण जैसे किसी मित्रको अपना प्यार बताना हो कि हम तुमपर बहुत अधिक प्रेम करते है तो वह कहता है कि हम तुमको प्राणोसे भी अधिक प्यार करते है। इसकी तुलनाकी बात बताया करते हैं। इससे भी सिद्ध है कि वह मित्र उतना प्यारा नही है जितना कि कह रहे कि तुम मुझे प्राणोसे भी ज्यादह प्यारे हो। लेकिन उसको यहा बता रहे हैं कि प्राणोसे प्यारा दुनियामे कुछ नही होता है। तो जीवको सबसे अधिक प्रिय प्राण हुआ करते है, लोग भी उन प्राणोसे सम्बन्ध बताते है कि प्राण तो मेरे कहलायेंगे ? तो इस शकाकी भी बात समझ लीजिए कि प्राण क्या चीज है ? ५ इन्द्रिय, ३ बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये १० प्राण माने गए है। इन १० प्राणोकी रचना पर ध्यान दे तो यह विदित होगा कि ये सब प्राण मुझसे निराले है। मैं तो चैतन्य प्राण स्वरूप हू और ये पुद्गलात्मक है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये सब क्या हैं ? ये भी पुद्गलात्मक है अथवा मनोबल, वचनबल, कायबल ये भी जीवके कोई गुण या स्वभाव नही हैं, श्वासोच्छ्वास और आयु भी नही है। तो व्यवहारसे ही लोग १० प्राणोसे जीनेको जीव कहते हैं। अब देखिये—व्यवहार वहां लगाया जाता है जहा उसकी मूल बात कुछ पडी हुई हो। इस जीवमे जीवत्व शक्ति है तब व्यवहारके प्राणो वाली बात भी इसमे उपचरित कर सकते है। अन्यथा भीतमे, घडीमे, रेलगाडीमे इनमे क्यों नही प्राणकी बात लगा बैठते ? यों नही लगा बैठते कि विचार करनेकी वहां गुजाइस ही नही है। विचारकी गुजाइस भी वहा हो जहा मूलमे कुछ बात हो। तो जीवमे जीवत्वशक्ति है। १० प्राणोसे जीवे सो

जीव, यह तो एक व्यवहारकी बात है। अगर यह जीव १० प्राणोसे जीता हो, ऐसी ही बात हो तो जब ये दशो प्राण नही रहे, जैसे सिद्ध भगवान प्रभु तो फिर उनका जीवत्व ही खतम हो जायगा, किन्तु ऐसा तो नही है। तो यह जीव प्राणोके बिना भी जीवित है। इससे सिद्ध है कि प्राण जीवके जीवनके कारणभूत नही, इस कारण प्राण भी मेरे नही, ये भी बाह्यपदार्थ है,

चैतन्य प्राणकी अनुभूति होनेपर इन प्राणोंसे उपेक्षाका दिग्दर्शन—देखो– जिन योगीश्वरोने अपने इस चैतन्यप्राणको पहिचाना वे निर्जन स्थानमे तपश्चरण करते थे और उनपर कोई उपसर्ग आ गया, शेरनी ने खाया, स्यालिनी ने चोथा, किसी ने आग लगा दी और एक बैरीने तो एक मुनिराजकी खालको धीरे-धीरे छीलकर नमक भरा था। उसने यो सोचा था कि अगर मैंने सीधा ही इसे मारा तो बदला क्या ले पाया ? इसलिए वैसा उपाय करके उन मुनिराज पर उपसर्ग ढाया था। इस तरहके अनेक उपसर्ग हुए, किन्तु जिनके चैतन्य प्राण उज्जीवित हैं, उपयोगमे है ऐसे उन संतोको ये सारे प्रयत्न ऐसे ही ऊपरी रहे जैसे कि और कही हुये हो। शरीरमे प्रीति होना यह तो एक ममताकी बात है। जिन लोगोको अपने बच्चेमे ममता है उनको यदि उनके बच्चेको कोई परेशान करता हो, हैरान करता हो तो उन्हे ऐसा लगता है कि मानो मेरे ही ऊपर आफत आ रही हो, उन्हे बडा दर्द महसूस होता है और अगर किसी दूसरेके बच्चेको कोई हैरान कर रहा हो तो उसके प्रति उन्हे रच भी दर्द नही होता। तो यह तो एक तीव्र ममताकी बात है। जिनको इस शरीरका बडा ध्यान रहता है, जो इस शरीरकी बहुत-बहुत सेवा करते है वे उस समय बहुत दु खी होते है जब कि इस देहके पोषणमे कोई बाधा डालने लगता है। उनके दु खी होनेका कारण बना शरीरके प्रति तीव्र राग। और, जिनको इस शरीरसे भिन्न अपने चैतन्यस्वरूपकी धुन रहती है उनको शरीर सम्बन्धी कोई भी बाधा होनेपर रच दु ख नही होता। वे जानते हैं कि इस शरीरसे मुझ आत्माका क्या सम्बन्ध ? यह शरीर मेरा नही, ऐसे ही ये सब प्राण भी मेरे स्वरूपसे अत्यन्त निराले है। यह आत्मा अपने आपमे पूर्ण स्वतन्त्र है, यही मेरा स्व है, इसका ही मैं स्वामी हू। इस तरह स्व स्वामित्व सम्बन्ध शक्ति मे यह प्रकट किया जा रहा है कि आत्माका सहज भाव यही तो है स्व और जो स्वाश्रयज परिणमन है यही है इसका स्व और यह ही आत्मा इसका स्वामी है।

जीवके प्राणस्वामित्व न होनेका कारण—स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइंद्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये जीवके १० प्राण कहे गए है। ये प्राण भी जीवके स्व नही है। जीव तो एक स्वय अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावको लिए हुए अपने ही गुणपर्यायमे व्यापक अमूर्त चैतन्यस्वभावमात्र है।

यह जीव औपाधिक भावोसे परखा जाता है तो प्राणो ी तो कथा ही क्या है ? ये प्राण इस कारण भी निराले हैं कि ये पौद्गलिक कर्मके का' हैं और पौद्गलिक कर्मके कारण भी हैं। भावेन्द्रियकी दृष्टिसे यद्यपि ये जीवकी परिणतिरू। पडे है अर्थात् जो इन्द्रियज ज्ञान है ऐसा वह ज्ञान यद्यपि जीवकी एक विकृत अवस्था है, लेकि। ये जीवके यो नही है कि ये पौद्गलिक है अर्थात् पुद्गल कर्मके विपाकसे निष्पन्न हुए है। आत्मा अपने आपमे केवल आत्माके ही आश्रयसे जिसमे परका न आश्रय हो, न निमित्त हो, न सम्बन्ध हो, किसी भी प्रकारका परसे सम्बंध न हो ऐसी स्थितिमे जो केवल आत्माके आश्रयसे भाव हुआ वह है आत्माका भाव। किन्तु ये प्राण तो पौद्गलिक है। और, पुद्गल कर्मविपाकसे उत्पन्न हुए है। यह जीव मोहादिक जो पौद्गलिक कर्म है उनसे बधा हुआ है। तभी तो यह जीव प्राणोमे निबद्ध रहा करता है। अनादिकालसे लेकर अब तक यह जीव इन प्राणोसे निबद्ध रहा। कोई क्षण ऐसा नही हुआ कि जिस क्षण इन व्यवहार प्राणोसे रहित यह जीव रहा हो। एक शरीर छोडा, दूसरा शरीर ग्रहण करने चला तो वहां भी ये इन्द्रियप्राण रहे। शरीरमे ये द्रव्येन्द्रिय न रहे तब भी ये इन्द्रिय प्राण रहे। और आयु तो रहती ही है, कायबल भी उसके साथ रहेगा। निकृष्टसे निकृष्ट जीव एकेन्द्रिय और वे भी मरणके बाद विग्रहगतिमे हुए तो उसके भी एक इन्द्रिय, एक कायबल और एक आयु, ऐसे तीन प्राण तो रहते ही है। इन प्राणो बिना यह संसारी जीव एक क्षण भी न रहा, लेकिन प्राण बिना रहेगा तो यह जीव। जब संसार अवस्था दूर होगी, मुक्त दशा इस जीवको प्राप्त होगी तो फिर वहां ये इन्द्रिय आदि प्राण न रहेगे। इन इन्द्रियादि प्राणोसे इस जीवका जीवत्व नही है। ये तो एक व्यावहारिक चीजें है। जीव तो इन प्राणोसे निराला है। तो यह जीव इन मोहनीय कर्मादिक विपाकोसे इस ससारमे भ्रम रहा है, प्राणोसे बँध गया है। अब इस दशामे ये पौद्गलिक कर्मफलको पा रहा है। सो यह अन्य अन्य कर्मोमे भी बँध जाता है। तो इन कर्मोके बन्धनमे ये प्राण ही कारण हुए। इस कारण ये प्राण पौद्गलिक है और पुद्गल कर्मके कारणसे हुए है। इस कारण भी ये पौद्गलिक है। ये प्राण मेरे नही है। मैं इनका स्वामी नही हू, मैं तो सहज चैतन्यभावका स्वामी हू। जो मेरेमे शाश्वत् रहे वह तो है मेरा स्व और उसका ही मैं स्वामी हू।

परद्रव्य क्षेत्र काल भावसे आत्माकी विविक्तताका परिचय—यह सम्बन्धशक्ति अपने आपमे अपने ही शाश्वत भावसे सम्बन्ध बताकर अन्य सब विकार अन्य परद्रव्य अन्य गुण इन सम्बन्धोकी मान्यताको तुडानेकी शिक्षा दे रही है। तेरा किसी भी बाह्यसे सम्बन्ध नही है। भला कितना बडा तो यह लोक है, ३४३ घनराजू प्रमाण। इस लोकमे यह परिचित दुनियाका इतनासा क्षेत्र कुछ गिनती भी रखता है क्या ? पहिले तो एक राजू क्षेत्रका

विस्तार देख लीजिए कितना होता है ? एक एक प्रदेशमात्र पतला एक राजूप्रमाण तिर्यक् विस्तार हो तो उसमें असंख्याते योजन समाये हैं। एक योजन दो हजार कोशका होता है ऐसे ऐसे असंख्याते योजन पड़े हो फिर भी वह क्षेत्र एक राजू नही पूरा होता है। जैसे मध्यलोकमे एक राजू बताया है तिर्यक रूपमे, जहा असंख्याते द्वीप समुद्र है। एक द्वीप, फिर उससे दूना समुद्र, फिर द्वीप, फिर उससे दूना समुद्र, इस तरह सब दूने दूने विस्तार वाले है, और प्रथम द्वीप है एक लाख योजनका। तो देखिये ये कितने योजन हो गए ? यह तो अभी तक प्रतरराजूप्रमाण क्षेत्रकी बात कही गई। ऐसे ऐसे ३४३ घनराजू प्रमाण इस लोकमे यहांका परिचित यह हजार पांच सौ मीलका क्षेत्र कुछ कीमत भी रखता है क्या ? इतनेसे क्षेत्रमे किससे क्या परिचय करना ? और, यहां परिचय भी किसका किससे किया जा रहा ? मायाका मायासे परिचय किया जा रहा। ये दिखने वाले शरीर मायारूप ही तो हैं। इनमे कुछ सार भी है क्या ? अब इसी तरहसे कालकी बात देखिये—अनादिकालसे लेकर अनन्तकाल तकका समय यह कितना बड़ा काल हो गया ? इतने बड़े कालके सामने यह १००-५० वर्षका जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या ? अरे इतनेसे जीवनमे, इतनेसे क्षेत्रमे बाह्यबुद्धि करके पोजीशनकी बात सम्हालकर अपने आपके इस सहज ज्ञानस्वरूपके दर्शनका आनन्द खोया जा रहा है, यह तो एक खेदकी बात होनी चाहिए। और, यह सब बन रहा है इस प्राणनिबद्धताके कारण। तो इन प्राणोको ही अपनेसे विभक्त देख लो ना-- तो जहां अपनेको इन प्राणोसे विभक्त एक शुद्ध चैतन्य प्राणमय समझा फिर यहांके समस्त संकट स्वत ही दूर हो जायेगे। तो ये प्राण जिनपर जीवोको सर्वाधिक प्यार है ये प्राण भी मेरे नही है। मैं तो इनसे निराले केवल चैतन्य स्वभावमात्रका स्वामी हूँ।

दुःखमूल पौद्गलिक प्राणोंकी संतति दूर करनेका उपाय—इस प्रसंगमे यह बात शिक्षणमे आती है कि हमे पुद्गल प्राण न चाहिये—इन प्राणोकी संतति न चाहिये, मैं तो इन प्राणोके बिना भी सत् रह सकता हूँ, मेरा अस्तित्व कभी समाप्त नही होता है, जो प्राणोके बिना सत् रह सकता है, ऐसा वह मैं सत् इन प्राणोके बिना ही रहू तो इसीमे मेरा कल्याण है। लेकिन यह प्राणसंतति किस तरह छूटे, इसका उपाय देखना है तो इस उपायको देखनेसे पहिले यह उपाय देखे कि यह पौद्गलिक प्राणोकी संतति चल क्यो रही है ? यो चल रही है पौद्गलिक प्राणोकी संतति, सुनिये—उसका कारण है अनादि पौद्गलिक कर्मविपाक। और, वह विपाक भी नाच रहा है इस बातपर कि शरीरादिकमे ममत्वरूप उपराग बना हुआ है। तो अर्थ यह निकला कि ये प्राण बने रहे संसारमे, इन प्राणोकी संतति चलती रहे उसका मूल कारण है शरीरका राग।

इस जीवके शरीरमे आत्मीयताकी बुद्धि बनी हुई है कि यही मैं हू, बस इसी बुद्धि

के कारण इन प्राणोकी संतति तो चलेगी ही। इन प्राणोकी सततिको मिटाना है, यदि यह बात निर्णयमें आयी हो कि मेरे ये कोई इन्द्रियाँ न रहे, मेरे ये कोई मन, वचन, काय के विकृत बल न रहे, और ये श्वासोच्छ्वास और आयु जो कि इस शरीररूपी कारगार मे डालने वाले विकट बन्धन हैं ये भी न रहे, मै तो एक चैतन्यस्वरूप हू, मैं तो इन प्राणो के बिना ही सुन्दर हू, वही मेरा वास्तविक रूप है, ऐसा यदि चित्तमे निर्णय हुआ है, इन प्राणोको अगर नही चाहते तो उसका उपाय यह है कि इन प्राणोका आधारभूत जो यह शरीर है इससे ममत्व छोड दें। यह शरीर मै नही हू, मैं तो इस शरीरसे निराला हू। शरीर तो पुद्गल है, मैं एक अमूर्त आत्मतत्त्व हू, इस तरह जो इस शरीरसे उपेक्षाका भाव रखे और एक निज आत्मतत्त्वको ही अपना सर्वस्व लखे, ऐसे जीवका ही कल्याण हो सकता है। यह शरीर मैं नही हू ऐसा निर्वाध निर्णय जिसने सत्य ज्ञानबलके द्वारा कर लिया है उसका अचिन्त्य प्रभाव है। उस व्यक्तिकी सारी उलझने समाप्त हो जाती है। जीवने उलझने बनायी है अपने दुराग्रहसे। यह शरीर ही मैं हू और इस मूल मिथ्याशयके बलपर ये भी आशय होते हैं ये दिखने वाले लोग मेरे है, इनसे मेरा कुछ सम्बन्ध है, मै इनका कुछ कर देता हू, ये मेरा कुछ कर कर देते है—आदिक मिथ्या आग्रह के कारण ही इस जीवपर अनेक उलझने पडी हुई है। यदि इतनी उदारता अपने चित्तमे जग जाय कि ये परपदार्थ यो परिणमते है तो परिणमे, इसमे मुझे क्षोभ क्यो करना मैं तो स्वतन्त्र परविविक्त सत् रूप हू। यदि इतनी उदारता अन्तरङ्गमे आ जाय तो बहुत सी उलझने इसकी समाप्त हो जाती है। शरीरादिक बाह्यपदार्थोंमे ममत्व होना, उपराग होना यह कारण है प्राणोकी सतति रहनेका। यदि ये पौद्गलिक प्राण न चाहिये, इनकी सततिको खतम करना चाहिए, इनकी संतति खतम करना है तो इन रागद्वेपमोहादिकको खतम करना होगा। ये प्राण इस राग, मोह आदिककी चिकनाईसे ही इस जीवके साथ चिपके हुए है। जब तक यह राग, मोहादिककी चिकनाई बनी रहेगी तब तक ये प्राण इस जीवके साथ चिपके रहेगे। तो इन पौद्गलिक प्राणोकी संतति ही इस जीवके लिए दुःख रूप बन रही है। इस सततिको खतम करनेका उपाय एक मात्र यही है कि इन रागद्वेष मोहादिक विभाव कर्मोंका विध्वस किया जाय। जब ये उपराग समाप्त हो जायेगे तब इन समस्त इन्द्रियोपर विजय होगी। बस इन्द्रियविजय हुआ कि बस कल्याणमार्गमे कदम फिर बडी तेजीसे बढेगा। उज्जीवित ये इन्द्रियाँ ही तो इस जीवके कल्याणमे बाधक बन रही है। कदाचित् किसीने इन्द्रियविजयका कोई साधन बनाकर इन्द्रियोपर कृत्रिम कन्ट्रोल भी कर लिया तो भीतरमे इन्द्रियका अविजयरूप पडा हुआ जो संस्कार दुश्मन है वह इसको विकासमे आने न देगा। तो सर्वप्रथम इन्द्रियविजयी हो और जितने भी इन इन्द्रियोके आश्रय-

भूत पदार्थ है उनका आश्रय छोड दे ।

प्राणादि सकल झंझटोंके दूर करनेको स्वाधीन सुगम एकमात्र उपाय स्वभावाश्रय— तथ्य तो यह है कि जिसको यह भान हुआ है कि यह मैं आत्मा स्वय आनन्दस्वरूप हू और अपने आप ही आनन्दमय रहता हूँ, यह निर्णय जिसको हुआ हो उसीमें इतना वल आयेगा कि वह इ। वाहरी पदार्थोंकी उपेक्षा कर सकेगा। जिसको यह लग रही है कि मेरा आनन्द तो इन वाहरी पदार्थोंसे है, ये न हो तो आनन्द न रहेगा। तो वह व्यक्ति इन पदार्थो की उपेक्षा कैसे कर सकेगा ? आत्मा सहज ही ज्ञानानन्दस्वरूप है और यही मेरा स्व है, इसका ही मैं स्वामी हू और यही विकास मेरेमे अपने आप अपने आश्रयसे निष्पन्न होता रहता है। ऐसा जिसका निर्णय है उसमे ही यह वीरता आती है कि इन्द्रियविजयी वनें, आश्रयभूत पदार्थोंकी अनुकूलताका परित्याग करें, और जब ऐसी स्थितिमे अपने आपको ऐसा विशुद्धरूप लेते है जैसे कि उपरागरहित स्फटिक मणि यथार्थ शुद्ध स्वच्छ है, इसी प्रकार जब आश्रयभूत पदार्थका आधार छोड दे, इन्द्रियविजयी वने, वाह्य पदार्थो का विकल्प न रखें तो स्वय ही अपने आपमे अपनी स्वच्छताका अभ्युदय होगा और तव यह अत्यन्त विशुद्ध ज्ञान मात्र आत्मतत्त्वका परिचय पायेगा। वस यही परिचय इन पुद्गल प्राणोकी सततिको दूर कर देनेका कारण वनता है। समस्त झंझटोके दूर करनेका यह एक मूल उपाय है। देखिये झझट कितने लगे हैं—प्राणोकी सतति लगी है, कर्मो का वन्ध चल रहा है, शरीरोमे वँधे फिर रहे है, जन्ममरण कर रहे है, नाना विचित्र शरीर धारण कर रहे हैं, कितने ही विकल्प चल रहे है, रागद्वेप मोहकी अन्तर्दाह चल रही है, अरे वडे झझट है, वडी व्याकुलतायें है। हाँ कितने झझट है ? अनगिनते, अनन्त। लेकिन यहाँ घवडानेकी यो वात नही है कि उन अनन्त व्याकुलताओको नष्ट करनेका उपाय केवल एक है, अगर उपाय भी वहुत होते, जैसे कि यहा अनेक पदार्थो का अनेक प्रकार काम बनानेके लिए अनेक साधन जुटाते है, इस तरह यदि इन अनेक व्याकुलताओको (झझटोको) दूर करनेके अनेक साधन होते तब भी उलझन रहती। कहा तक पूरा पडता ? लेकिन झझट हैं बहुत और उन सब अनन्त झझटोको दूर करनेका उपाय है केवल एक। वह क्या उपाय है कि परसे विभक्त अपने आपके एकत्वमे गत इस शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव किया जाय। बस सभी झझट एक बारमे समाप्त हो जायेंगे। तो आत्माको इन सब झझटोसे विभक्त करनेके लिए, पृथक् करनेके लिए इन पौद्गलिक प्राणोका इस तरह विच्छेद करें जिसका उपाय है केवल अविकार ज्ञानस्वभाव निजतत्त्वका आश्रय करना यही है मेरा स्व और इस ही का मैं हू स्वामी। इस तरह स्व स्वभावमात्र स्वस्वामित्व समस्त शक्तिया यह शिक्षा दे रही हैं कि परसे तेरा रच भी सम्बन्ध नही, इसके सम्बन्धमे, पहिले

बहुत कुछ वर्णन किया जा चुका है, जब मैं किसीका कर्ता नही, कराने वाला नही, अनुमोदने वाला नही, कारण नही, उनकी परिणतिका कर्ता नही, उनके ढाचेका कर्ता नही, सत्त्व भी अत्यन्त पृथक् है, फिर कौन गुञ्जाइस है कि किसी परद्रव्यसे मेरा सम्बन्ध माना जाय ? तो इतना अत्यन्त विभक्त है। अब उनसे अपनेको विभक्त समझ लेना चाहिये और निजका जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपमात्र अनुभव करना चाहिये, यही उपाय हो गया कि जो जो भी झझट है, जो जो भी परभाव है, जो जो भी विकार लगे बैठे है, जिनमे निबद्ध हैं, वे सब झंझट दूर हो जायेगें।

देहसे पृथक् स्वतन्त्र सत्त्वान अमूर्त अनस्तत्त्वका अवलोकन---अब एक झलकमे पुन इस बातको लीजिए कि मैं आत्मा एक स्वतंत्र सत् हू, ज्ञानस्वरूप हू। मोटे रूपमे इसको तो सभीने परखा है कि ये अँगुली, ये हाथ, पैर आदिक, यह शरीर, ये जानते नही हैं। जाननहार जो कुछ भी होगा वह अमूर्त पदार्थ ही हो सकता है। मूर्त पदार्थ नही हो सकता। यद्यपि सभी अमूर्त पदार्थ जाननहार नही है लेकिन इस ओरका नियम है कि जो भी जाननहार पदार्थ है वह अमूर्त ही हो सकता है, मूर्त पदार्थ नही हो सकता। जो रूप, रस, गध स्पर्शात्मक है, पिण्ड रूप है ऐसे इन पदार्थोंमे जाननेका माद्दा किस ढगसे आ सकता है ? किसी प्रकार भी नही। तो यह मैं आत्मा स्वतंत्र हू, अमूर्त हू, अपने स्वरूपास्तित्वमे रहने वाला हू और ये अन्य सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्वको लिए हुए है। तो यह जो स्वरूपास्तित्व है यही पदार्थका निश्चय कराने वाला है, यही स्वलक्षण कहलाता है। क्षणिकवादियोने तो स्वलक्षणको इतनी महीन महीन दृष्टियोमें छान-छान करके इतना महीन मान डाला है कि जिनका लक्षण भी ग्रहणमे नही आ सकता। जैसे ये दिखने वाले जो पदार्थ है ये क्या है ? ये सब मायारूप ही तो है। ये कोई वास्तविक चीज नही है, तब फिर वास्तविक तत्त्व क्या है ? रूपक्षण, रसक्षण, गंधक्षण, स्पर्शक्षण। जहाँ यह बुद्धि जाती है कि ज्ञान पदार्थका हुआ करता है, केवल पर्यायका, केवल गुणका, यह स्वयं सत् नही है, इस कारण हमारा ज्ञान कैसे हो ? निरशवादमे यह बताया गया है कि यह रूप क्षण मात्र यही पूर्ण अर्थ है, यह किसीके आधारमे हो या रूपवान कुछ पदार्थ होता हो ऐसा नही है। किन्तु जो क्षणवर्ती रूप क्षण है वही तो सम्पूर्ण पदार्थ है। तो यह रूपक्षण जो निरश है, क्षणिक है यह है हमारा स्वलक्षण। क्या है स्वलक्षण ? वह वचनो द्वारा अगोचर है। वह तो निर्विकल्प ज्ञानसे गम्य है, निर्विकल्प प्रत्यक्षसे गम्य है. सविकल्प ज्ञान से गम्य नही, निश्चायक ज्ञानसे गम्य नही, अनुमानसे गम्य नही। सविकल्पज्ञान मिथ्या माना गया है और दर्शन निर्विकल्प वह प्रमाणभूत माना गया है निरशवादमे। तो क्षिने स्वलक्षण निरशवादमे माना है लेकिन जहाँ भेद होना चाहिये वहाँ तो भेद न पक्षज्ञानको नासता रहता है तो

होता है। तो वहा व्यवहारनयका विरोध न करना चाहिये, जिसकी कृपासे हम समर्थ हुए है और निश्चयनयके विपयको समझनेके पात्र हुए है, उसका विरोध करना उचित नही है। यदि इस व्यवहारनयका विरोध ही किया जायगा तो अनगिनते जीवोका हम अपकार करने वाले सिद्ध होगे, क्योकि जिस तरहसे हम बढ सके है और इस निश्चयके विषयके दर्शनके पात्र हो सके है वह प्रथम सीढी, वह प्रथम वात ही तुम जब विरोधरूपसे बताने लगे तो लोग फिर क्या समझेंगे कि व्यवहारनय विल्कुल मिथ्या है, इस तरहके प्रचारसे अनेक लोगो के पतित बने रहने के कारणभूत हम बन सकते हैं। आखिर कोई किसीका कारण नही है फिर भी यह बतलानेके लिए कि व्यवहारनयकी कितनी उपयोगिता है, यह बात कही जा रही है।

व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ होकर निश्चयनयके आलम्बनसे अपगत मोह होनेके पौरुषकी आदेयता—जब हम कुछ व्यवहारनयसे आगे बढ जाते है और निश्चयनय की बात भी करते है और उस विषयको भी निरखते है तो कही यह न समझना चाहिये कि व्यवहारनयके विषयभूत शक्ति और पर्यायका वहाँ अभाव है, परिणमन ही नही है। इसलिए व्यवहारनय कहीं हटाया तो नही जा सकता। रही एक उपयोगकी वात तो व्यव-हारनयसे परिचय पा करके अब हम आगे बढेगे तो व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ होकर आगे बढे, क्योकि व्यवहारनय तो अपने विषयमात्रको वताता है। जान लिया कि इसका यह विषयमात्र है, अब अवलम्बन करनेकी बात आपके ध्यानकी बात है। तो अपने विषयमात्रको दिखाने वाले व्यवहारनयका विरोध न करके मध्यस्थ होते हुए ये निकट भव्य जीव जब शुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले निश्चयनयका आलम्बन लेते हैं अर्थात् गुणपर्याय के भेदसे रहित केवल एक सहज स्वभावमात्र द्रव्यको निरखाने वाले निश्चयनयका जब हम आलम्बन लेते है तो वह मोह दूर हो जाता है। मोह कहते हैं दो पदार्थोंमे सम्बन्धबुद्धि होनेको। अब वहां दो पदार्थ ही ध्यानमे नही हैं, केवल एक निज स्व ही उपयोगमे है। मोह को कहाँ आश्रय मिलेगा और फिर जब इस विधिसे निज ज्ञायकस्वभावका अनुभव हो जाता है तब फिर मोह वहाँ रहता ही नही है। तो इस तरह मोहसे अलग होकर क्या स्थिति बनी, उस स्थितिको ज्ञानीकी ओरसे सुनो—

मैं न दूसरेका हू, न दूसरा कोई मेरा है, यह उसका दृढ निर्णय हो गया है और इस तरह परपदार्थके साथ स्वस्वामी सम्बधको बिल्कुल हटा दिया है। इस समयमे अब वह एक अपने शुद्ध ज्ञानमात्र आत्माका ही ग्रहण किए हुए है, तब परद्रव्यसे तो हट गया और एक शुद्ध आत्मद्रव्यमे एकाग्रतासे रुक गया। ऐसे उपयोगके समय यदि यह कह दिया जाय कि वह तो शुद्ध आत्मा है, उपयोगका विषयभूत है इस दृष्टिसे वह शुद्ध आत्मा है, ऐसा भी

कहा जाय तो कोई विशेष अत्युक्ति न होगी । कारण यह है कि यहाँ भी तो व्यवहारमे ऐसा ही कहते है । जिसका जो विषय हो, जिसका जो आधेय हो, आधार हो वह उसके नामसे पुकारा जाने लगता है । यहाँ इस ज्ञानीके उपयोगमे, एकाग्रतासे वह शुद्ध आत्मतत्त्व है उसका अनुभव हुआ, उसके बाद इस ज्ञानीका यह निर्णय हो जाता है कि मेरा स्व यही मेरा सहज स्वभाव है और यही प्राप्त करने योग्य है, क्योकि यह ध्रुव है, सदा रहता है, इस ओरसे मुझे कभी धोखा नहीं है और ऐसा जो ध्रुव मेरा सहज चैतन्यस्वरूप है वही मेरा शुद्ध आत्मा है ।

सहज शुद्ध स्वतःसिद्ध शुद्धात्मत्वमें मेरा स्वस्वामित्व सम्बन्ध—मेरा क्या है जगतमे इस बातकी यहा परख की जा रही है । सभी पदार्थोके विषयमे विचार भली प्रकार कर करके आखिर इस निर्णयमे ही पहुंच बनेगी कि मेरा तो केवल मेरा यह शुद्ध आत्मा ही है और यही आत्मा मेरा ध्रुव है । वह सद्भूत है, अपना स्वतत्र स्वरूप रखे हुए है, अपने द्रव्य गुणपर्यायस्वरूप है, अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपसे बना हुआ है और यह अहेतुक है, किसी कारणसे पैदा नही होता । जो किसी कारणसे पैदा नही होता । जो किसी कारणसे पैदा हो वह ध्रुव न रहेगा, उसकी आदि होगी और कारण मिटने पर उसका अन्त भी हो जायेगा । तो जो मैं अहेतुक हू, अनादि अनन्त हू, स्वत सिद्ध हू, ऐसा यह मैं केवल आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभावस्वरूप ध्रुव हूँ, यही मेरा स्व है, इसही का मैं स्वामी हू, यहां आत्माकी शुद्धताकी बात कही जा रही है, तो यहाँ शुद्धताका अर्थ यह नही लेना है कि सर्व कषायोसे रहित वीतराग परमात्मदशा या सिद्ध अवस्था, क्योकि वह तो मुझमे प्रकट ही नही है, उसका फिर आलम्बन कैसे ले ? और, बाहरमे जहाँ यह शुद्धस्वरूप प्रकट होता है, वह परपदार्थ है, परका आलम्बन किसी प्रकार निश्चयत लिया ही नहीं जा सकता है तब फिर मोक्षमार्गमे बढनेकी प्रगति करनेकी कोई विधि ही न रह सकेगी । तो यहा शुद्ध आत्माका अर्थ लेना है अपने आत्माका एकत्व, अकेलापन, वह कैसा अकेलापन है कि जिसमे यह बात झलक गई कि समस्त परद्रव्योसे तो विभक्त है और अपने ही धर्ममे अविभक्त है, तन्मय है, इसीको कहते हैं एकता, अकेलापन । इन पदार्थोमे भी तो अकेलापन यही कहा जाता है कि अन्य पदार्थोसे निराला रहना और अपने आपमे तन्मय रहना । तो इस विधिसे आत्माकी एकताको निरखियेगा । यह आत्मा है ज्ञानात्मक और जो ज्ञानात्मक होगा वह स्वय दर्शनात्मक होगा । तो ऐसा ज्ञानदर्शनात्मक यह आत्मा अतीन्द्रिय है, महान अर्थ है, सर्वद्रव्योमे सारभूत है और ऐसा वह ज्ञानात्मक तत्त्व अचल है, परका आश्रय रखने वाला नही है । तब इस ज्ञानको इस आत्माने अपनेमे धारण किया ना । पक्षज्ञानको अपनेमे धारण किया और इस ज्ञानस्वरूप आत्माको वह आत्मा प्रतिभासता रहता है तो

यही तो हो गया उसका दर्शनात्मक होना। तो इस तरह जो ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक पदार्थ यह मैं आत्मा हू सो समस्त परद्रव्योसे निराला हू, किन्तु मैं किसी भी परद्रव्यमे तन्मय नही हू। मैं तो अपने धर्म और स्वरूपमे ही तन्मय हू। इस तरह इस आत्माकी एकता प्रसिद्ध होती है।

प्रतिनियतरूपादिविषयग्राही इन्द्रियोंसे सर्वार्थग्राहिज्ञानस्वभाव आत्माकी विभक्तता— अब थोडा कोई जिज्ञासु ऐसी आशका रखे कि ठीक है, इन परद्रव्योसे मैं निराला हू, मैं अपनेमे हूँ, लेकिन यहाँ तो इन्द्रियोमे तन्मयता नजर आ रही है द्रव्येन्द्रियसे और अधिक बढकर कोई इसमे तर्क करे तो वहाँ भावेन्द्रियसे तन्मयता बताई जा सकेगी कि यहाँ आत्मा की एकता नजर आ रही है, इससे विभक्त तो नही कहा जा सकता। तो उसके समाधानमे भी यह सोचो कि ये इन्द्रियाँ क्या वस्तु है ? द्रव्येन्द्रियाँ तो जड पौद्गलिक है, उन्हे तो पर-द्रव्यकी श्रेणीमे रखा जा सकता है। अब भावेन्द्रियकी बात भी सोचो कि यह करती क्या है ? प्रतिनियत विषयको ग्रहण कराती है, स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द इन प्रतिनियत पदार्थो को, पर्यायोको ही ग्रहण कराने वाली इन्द्रिय है, लेकिन यह मै ज्ञायकस्वभावी आत्मा इन इन्द्रियोका भी उल्लघन करके कैसा हू कि जो सर्व स्पर्श, रस, गधादिकको ग्रहण करे। ऐसा यह मै वस्तुभूत पदार्थ हू, मेरा स्वभाव, मेरा धर्म प्रतिनियत वस्तुओको, रूप, रस, गध आदिकको ग्रहण करता भी नही है। ये भावेन्द्रियाँ काम कर रही है। मै तो सर्वग्राही हू। तो ऐसा सर्वग्राही आदिकका ग्रहण करने वाला यह मै अन्तस्तत्त्व इन इन्द्रियोसे पृथक् हू। ये इन्द्रियाँ परद्रव्य है, उनसे विभक्त है और मै अपने ज्ञानस्वभावमे तन्मय हू, इस तरह मेरी केवलता है। इन इन्द्रियोका भी उल्लघन करके मेरेमे यह केवलता वसी हुई है।

परिच्छेद्य परद्रव्यसे परिछेदात्मक स्वधर्ममय आत्माकी विभक्तता— अब कोई जिज्ञासु यदि ऐसी मनमे आशका रखे कि ठीक है, परद्रव्य तो पर स्पष्ट है वह न सही मै और ज्ञान की सहयोगी इन्द्रिय भी न सही मै, लेकिन ज्ञानके द्वारा विषयभूत हो रहा है ऐसे जो परि-च्छेद्य पदार्थ हैं उनका तो आलम्बन है, फिर इन विषयभूतको यदि इस ज्ञानसे निराला कर देंगे तो यह ज्ञान फिर ज्ञान भी न रहेगा। ऐसी आशकाके प्रति भी सोचिये—यह आत्मा इन पदार्थोंको जान रहा है, ये परिच्छेद्य वन रहे है और भले ही ये विषयभूत हो रहे है लेकिन इन परिच्छेद्य पदार्थोके प्रत्ययसे यहाँ ज्ञानस्वरूपकी मुद्रा वन रही है, वह ज्ञानस्वरूप तो इसमे निरन्तर वसा करता है। उस ज्ञायक धर्मकी दृष्टिसे देखें तो इस परिच्छेद्य विपय-भूत पदार्थोंसे भी यह मैं निराला हू। इसे सर्वप्रथम परद्रव्योसे निराला कहा गया था, अब यह कह रहे हैं कि ज्ञान जिस ज्ञेयको जान रहा है उस ज्ञेयके जाननेके समय भी यह उस ज्ञेयसे पृथक्भूत है।

परिच्छेद्यपर्यायात्मक तत्त्वसे ज्ञायकस्वभाव ध्रुव शुद्धआत्मा की विलक्षणता—अब एक चौथी बात और सोचने की रह जाती है कि चलो विषयभूत इन पदार्थोंसे भी निराला रहा, लेकिन निश्चयतः तो ज्ञानका विषयभूत यह अन्त ही ज्ञेय पर्याय हो रहा है। अतः ज्ञेय पर्याय, आत्मामे जो एक जानन परिणति बन रही है वस्तुतः वही जाना जा रहा है। जैसे कि हम भीतको जान रहे है तो हम भीतको व्यवहारसे ही जान रहे है, वहा तन्मय नही हो रहे है। हम असलमे यहाँ क्या जान रहे है, वह एक अलौकिक बात है। याने यहाँ ज्ञानमे जो जानन हो रहा है, जो विकल्प हो रहा है, परिज्ञेय बन रहा है वह है निश्चयतः ज्ञेय। यह भीत ज्ञेय नही बन रही, लेकिन उस विकल्पको किस तरह समझाये तो उसके विषयभूत जो बाह्य पदार्थ है उनका नाम लेकर समझाया जाता है कि हम भीतको जान रहे है। तो जैसे यहां समझमे आया होगा कि हम वस्तुतः क्या जान रहे है यही बात सर्व ज्ञानोमे पडी हुई है। हममे अपने आपमे जो ज्ञान परिणमन है, जो अन्तर्ज्ञेय है उससे तो मै मिला हुआ हू, अलग नही हू। वह ज्ञेय पर्याय तो मेरे प्रदेशमे ही तन्मय है। वह कोई बाह्य वस्तुकी बात नही है। उससे मेरा ज्ञान स्वरूप मिला हुआ है। अब उससे न्यारा मत करो। ऐसे केवल्यताकी खींच न कीजिए। ऐसी आशंकाके प्रति सोचिये यहाँ कहाँ जा रहा है उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी बात कि जिसके आश्रयसे इस जीवको निर्विकल्प ध्यान होता है और ज्ञानानुभूति होती है। तो देखिये जो पर्यायें बनी आत्मामे विकल्पका, जाननका, ज्ञेय का जो कुछ यहा ही अन्तः परिणमन बना वह तो क्षणिक परिणमन है। क्षण क्षणमे नष्ट होता रहता है। है वह, ज्ञेय है, वह मेरा परिच्छेद्य, मुझमे तन्मय है लेकिन ऐसी जो पर्याय बन रही है ज्ञेयपर्याय वह प्रतिक्षण नवीन-नवीन भीतर बनती जा रही है उस उस पर्यायका ग्रहण हो रहा, छूट रहा, लेकिन उस पर्यायका ग्रहण करना छोडना, यह मेरे इस सहज स्वभावका स्वरूप नही है। यहा दो बाते सामने हैं। ज्ञायक है सहजस्वभाव और उसका व्यक्तीकरण उसका व्यञ्जन है कोई पर्याय। तो इन दो के मुकाबले बात कही जा रही है कि वह ज्ञायकस्वभाव स्व है, उसका परिणमन हुआ अन्तर्ज्ञेय सो मूलस्वभाव भी आत्मामे तन्मय है और वहाँ जो ज्ञेय बना, अन्तः प्रतिभासरूप परिणमन बना वह भी आत्मामे तन्मय है, लेकिन इस ज्ञानस्वभावका तो ज्ञानस्वभाव है, ज्ञायकस्वभाव हैं, ज्ञेयता स्वभाव नही है। देखो—ज्ञेयपना और ज्ञायकपना यद्यपि आत्मामे दोनो तन्मय हो रहे हैं, लेकिन ज्ञेयपना क्षणिक है, ज्ञायकपना क्षणिक नही है। अतः उस ज्ञेयत्व धर्मसे विभक्त यह मै ज्ञायक स्वरूप आत्मा हू, ध्रुव हू, ऐसी एकता है, इसे कहते है शुद्ध आत्मा।

मेरा ध्रुव शुद्ध आत्मा—अन्तर्ज्ञेयसे भी विलक्षण स्वरूप वाला शुद्ध आत्मा ही मेरा स्व है। ऐसा जानकर अब हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि ऐसे ध्रुव आत्माकी ही

हम उपलब्धि करे। मेरा यह शुद्ध आत्मा ही ध्रुव है, आत्मामे आत्मा ही केवल है। आत्मा मे ही यह एकत्व है। समयसारमे जो यह कहा है कि एकत्वके निश्चयको प्राप्ति समय याने यह आत्मा सुन्दर है तो वह सुन्दर किसके लिए कहा जा रहा है ? केवल इस शुद्ध आत्माके लिए। यह जिसके लक्ष्यमे आया है वह उल्लसित होकर कह बैठेगा कि यह सत्य है, शिव है और सुन्दर है। इस ध्रुव आत्माको छोडकर और जो कुछ अध्रुव चीजे है वे ग्रहण करने योग्य नही है। भला आत्मामे जो अन्तर्ज्ञेय रूपसे निष्पन्न हुआ यह शुद्ध विकल्प अर्थ विकल्प, जब इससे भी निराला करके ज्ञायकस्वभाव जाना जा रहा है तो इन धन वैभव आदिक पौद्गलिक ढेरोकी, इन जडोकी तो कथा ही क्या है ? ये तो स्पष्ट बाहर ही मायामय है। यह देह भी जड है यद्यपि यह देह एक क्षेत्रावगाही है फिर ये जो शरीरादिक जो साथमे लगे है, मै इनको नही उपलब्ध करूँ, मै इनको न जानू, इन शरीरादिकको उपयोग मे न लूं, मेरे लिए तो यह मेरा सत्य ध्रुव एकत्वगत आत्मा ही उपलब्धिके योग्य है। स्व-स्वामित्व सम्बन्धशक्तिमे यह कहा जा रहा है कि मेरा परमात्मा स्व क्या है ? यहाँ स्वका कुछ स्पष्टीकरण हुआ।

शुद्ध आत्मत्वकी उपलब्धिसे अलौकिक आनन्दलाभ—अब यह मनमे जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसे शुद्ध आत्माको पानेसे और उपयोगमे लेनेसे उसकी उपलब्धि होनेसे फल क्या मिलता है ? तो फल यह मिलता है कि जो इस विधिसे अर्थात् परसे हट-हटकर अपने इस ज्ञानस्वभावमे आने वाली विधिसे जो प्रतिभासात्मक इस शुद्ध ध्रुव आत्माको प्राप्त कर लेता है तो उसकी फिर उसमे ही प्रवृत्ति होती है, उसे फिर बाहरमे कुछ नही सुहाता। समझ लीजिए कि जैसे मोही जनोको दूसरेकी रजिस्टर्ड चीजको अपनानेका उत्साह नही होता है ऐसे ही जिसने अपने आपके इस शुद्ध आत्माका अनुभव किया है और स्पष्टरूपसे यह प्रकट हो गया है कि ये विकार ये कर्म शरीर रागद्वेषादिक ये सब पृथक् चीजे हैं। ये मेरे सत्य शिव सुन्दर स्वरूपसे निराले हैं, जिसको यह निर्णय हो गया उसे फिर यह मोह नही होता। प्रवृत्ति होगी तो इस शुद्ध आत्म पदार्थमे होगी। तो नित्य चैतन्य शक्तिमात्र आत्माका ही ध्यान होगा और उस ध्यानके कारण मोहकी गाँठ बिल्कुल टूट जायेगी, गल जायेगी। जैसे गाँठके समयमे डोरा गुथा हुआ रहता है और जब वह गाँठ खुल जाती है तो एक एक डोरा अलग अलग खुल जाता है इसी तरह जब तक भीतरमे मोहकी गाँठ है तब तक इसमे परपदार्थोका उपयोग चलता है, अनेक प्रकारकी उलझनें रहती है, झझट रहती है। वह भूमिका नही प्राप्त होती है जो कि शुद्ध समयसारकी है। किन्तु, जब यह मोहकी ग्रन्थि दूर हो जाती है तो फिर यह आत्मतत्त्व उसके लिए सरल हो जाता है। इस आत्मतत्त्वमे वह प्रवृत्त हो जाता है। तो इस तरह इस शुद्ध आत्माके ध्यानके प्रतापसे मोहकी

गाँठ छिन्न भिन्न हो जाती है तब इससे होता क्या है ? जब मोहकी गाँठ समाप्त हो गयी तो मोहके कारण ही तो रागद्वेष चल रहे थे। अब मोहके नष्ट होने पर ये समस्त राग-द्वेषादिक भी ध्वस्त हो जाते है। जहाँ ये रागद्वेष दूर हुए कि इसमे समता प्रकट होती है। अब यह सुख दु खको समान समझने लगा, अब यह अनुकूल प्रतिकूल स्थितियोमे समता परिणामसे रहने लगा। ऐसे समता भावसे रहने पर अनाकुल अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होती है। जो आनन्द इस जीवने अब तक कभी नही प्राप्त किया उस आनन्दकी प्राप्तिका उपाय मूलमे यही है कि अपने शुद्ध केवल आत्मतत्त्वका स्वरूप परिचयमे आ जाय। इस तरह यह जीव परम आनन्दमय हो जाता है। तो इस स्वस्वामित्व सम्बन्ध शक्तिमे यह बताया गया है कि ऐसे उस शुद्ध आत्माको जो ध्यानमे लेते है उनकी पर्यायमे भी शुद्ध आत्मत्व प्रकट होता है। ऐसे उस सत्य स्वरूपके लिए, ऐसे उस शुद्ध आत्मतत्त्वके लिए मेरा भाव नमस्कार हो, अर्थात् उस ही ओर मेरे उपयोगका झुकाव हो, नम्रता हो। नमना है—किसे नमना है ? इस उपयोगको। किस ओर, नमना है ? अपने इस शुद्ध स्वरूपकी ओर। और, जहाँ यह शुद्ध स्वरूप प्रकाशित हुआ है उस ओर नमना, यही है आत्माका उत्तम मार्दव जो कि अपने आपमे यह अपने ही अवलम्बनसे प्रकट होता है। ऐसे इस शुद्ध आत्मस्वामित्वमे यह बताया गया है कि भले ही अर्थविकल्प किए हो परद्रव्यविषयभूत हुए हो, लेकिन वहा भी अकेला यह मैं एक शुद्ध ज्ञानमात्र हू, यही मेरा स्व है, उसका ही मै स्वामी हू।

स्वभावस्वामित्वके अवबोधके अभावमें अज्ञानियोंकी अत्यन्ताभाव वाले परपदार्थों में आसक्ति—स्वभावमात्र स्वस्वामित्व सम्बन्ध वाली शक्तिके स्मरण करते ही ज्ञानी पुरुषके अन्त. एक ऐसा अद्भुत उल्लास होता है कि सर्व क्लेश दूर होकर आनन्दका प्रवाह आ उठता है। इस लोकमे बाहरमे मेरा है क्या ? जो कुछ सर्वस्व है वह मेरा मेरेमे ही है। जहाँ वर्तमान विकसित इन्द्रियज ज्ञानोको भी निकृष्ट हेय कहा गया है और उन्हे परद्रव्य रूपसे, परतत्त्वरूपसे बताया गया है वहाँ फिर अन्य भिन्न इन परपदार्थोकी तो चर्चा ही क्या है ? सम्बन्धशक्ति प्रकट यह घोषणा कर रही है कि हे आत्मन् ! तेरा इन बाहरी पर-द्रव्योसे कुछ सम्बन्ध नही है। तू उनके सम्बन्धमे विकल्प बनाकर अपने आपको ही बरबाद कर रहा है। ये परद्रव्य जो कि कर्मके उदयके फलके लिए नोकर्मरूप बन रहे है अर्थात् ये ज्ञानावरण आदिक कर्म जब अपने विपाक कालमे आते है और उस समय इस जीवको अज्ञानी, मोही, मूढ, रागी, द्वेषी बनना होता है। ये बाहरी पदार्थ उसमे आश्रयभूत होते है—सहायक होते है, तो जिन परद्रव्योका तू समोह ध्यान कर रहा है और उनको अपने हितरूपसे सोच रहा है, सब चेतन हो अथवा अचेतन, सर्व द्रव्य ऐसे जो तेरे इस इन्द्रियज्ञान के विषयभूत हो रहे है वे सब सहायक होगे तो तेरी निकृष्टताके लिए ही सहायक होगे।

तेरी उच्चताके लिए सहायक तो तेरे ही स्वरूपका आश्रय होगा।

अज्ञानीका कर्म नोकर्ममें अभेदवृत्तिका अध्यवसाय—ये कर्म और नोकर्म, इनमे जीवकी अभेदरूपसे बुद्धि हो रही है, कैसा अभेदरूपसे ? जैसा कि लोग किसी लोटामे या घडामे, घडेके आकारमे और समस्त घडेमे कोई अन्तर नही समझते और अभेद रूपसे उसका प्रयोग करते है इस तरहसे ये अज्ञानी मोही जन इन कर्मोंमे और शरीर नोकर्ममे ऐसे अभेदरूपसे बुद्धि करते हैं। तो जब तक यह अभेदबुद्धि रहेगी, जब तक ऐसे सम्बन्धकी पराकाष्ठा हृदयमे रहेगी तब तक यह जीव अज्ञानी है। यह अज्ञानी जीव इस तरह भी नही मान रहा है कि जो देह है सो मैं हू। इतनी भी सुध उसे कहाँ है ? यदि इतना भी मान ले कि जो यह देह है यह ही मैं हू तो वहाँ कुछ गुजाइस द्वैतकी होगी। देह कुछ और चीज है और यह मैं कुछ और चीज हू इस बातका होश उसे कहाँ है ? यह तो ज्ञानी जनोने समझाया है अज्ञानी जीवोकी हालतको कि यह देहको ही आत्मा मानता है। तो ज्ञानीकी परिभाषाके ये शब्द है। उन शब्दोको कोई अज्ञानी, मोही यदि प्रयुक्त भी करे कि जो देह है सो मैं हूँ तो यह उसकी एक सुनी सुनाई बात है। वह केवल ऊपरी-ऊपरी शब्द कह रहा है, वस्तुत उसे इस तरह द्वैत रूपसे भान नही है, किन्तु इस देहको ही लक्ष्यमे रखता हुआ इस तरहकी अभेद बुद्धिसे भान है। जैसे कि घडेके आकारमे घडेका जो आकार है सो यह घडा है, इस तरहसे कोई नही कहता, किन्तु घडा है ऐसा ही कहता है। इसी तरहसे यह मैं हू, ऐसी समझ (एन्डरस्टूड) है, उसका लक्ष्य इस देहपर है। यह (देह) मैं हूँ, इस तरह परद्रव्यमे अभेदरूपसे परिणत हो रहा है।

स्वभावमात्रस्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिकी परविविक्तताकी घोषणा—सम्बधशक्ति यह घोषणा करती है कि हे आत्मन् ! तू देहसे निराला है, तेरा सम्बन्ध तेरे स्वरूपसे ही है। इस देहमे आत्मीयताकी बुद्धि करके अपना घात मत कर। इस लोकमे तेरा कोई शरण न होगा। तू अनादिकालसे देहमे ऐसी अभेदबुद्धि रखता हुआ अभी तक रुलता आया, लाभ कुछ न पाया। अब तक जितने ये पुद्गल सामने दिख रहे हैं उनको अनेक बार भोग लिया गया होगा, लेकिन मूढजन इन पुद्गलोको ही भोगनेमे प्रवृत्त होते है, उन्हे नयासा समझते है। और, नया समझते हैं यह जाननेके लिए हर एक कोई अदाज कर सकता है। जैसे दाल रोटी तो आप सब रोज रोज खाते हैं, पर क्या कभी ऐसा भी सोचा है कि अरे ऐसी ही तो रोटी दाल कल भी खाया था, रोज रोज खाते है, चलो इसे न खायें या खाते हुएमे मोज न मानें ऐसा आप कभी नही सोचते। आप तो प्राय रोज रोज उसे नई चीज समझते हैं और उसमे आसक्त होते है। यो ही समझिये कि जगतमे दिखने वाले ये सब पुद्गल जो दिख रहे हैं उन्हे न जाने कितने ही बार भोग लिए होगे पर आज भी उन्हे कुछ नईसी चीज मानते है। तो हे आत्मन् ! इस सम्बन्धशक्तिका उपयोग अपने आपमें कर।

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल अर्थात्, स्वपरिणति और स्वभाव, ये ही तेरे स्व है, इनमे ही तू अपने उपयोगको रमा, इन बाहरी पदार्थोंमे तू अपने उपयोगको मत रमा, ये परद्रव्य है, इनसे तेरा कुछ सम्बन्ध नही। यह जीव इन परद्रव्योके सम्बन्धमे अपने आपको निबद्ध कर लेता है, यह अनुभव कर लेता है, कि यह (देह) ही मै हू।

स्वस्वामित्वसम्बन्धशक्तिके अपरिचयमें देहादिविषयक वर्तमान मोहकी विडम्बना—अरे इस देहको ही यह मै हू ऐसा मानना केवल साधारण जनो की ही बात नही, किन्तु बडे-बडे दार्शनिक लोग भी इसी व्यामोहमे पडे हुए है। दर्शन कलाके बलसे बडे-बडे सिद्धान्त रचे। सर्वं वै खल्विद ब्रह्म—सारा यह पदार्थ समुदाय एक ब्रह्म है। क्या किया इन्होने कि यही (दिखने वाले पुद्गलरूप) मैं हू, इस तरहकी बुद्धि वहा आ गई। और ज्ञानाद्वैत-वादियोने माना मैं ही तो ये सब हू, मेरी ही तो यह सब माया है। ब्रह्माद्वैतवादमे ऐसी दृष्टि बनाली गई कि इन पुद्गल आदि सब पदार्थोंरूप ही यह मैं हू। ज्ञानाद्वैतमे यह दृष्टि बनाली गई कि मै ही यह सब हू। यह टौन केवल एकदम साधारण जनोकी नही है किन्तु बडे-वडे दार्शनिकोमे भी यही बात घर कर गई। मोही जन इन बाह्य पदार्थोका तीनो काल का सम्बन्ध लेकर ममता कर रहे है—यह ही मैं हू—यह वर्तमानविषयक ममत्व बनाया है। जिन्हे ममत्व लगा है उन्हे कोई कितना ही समझाये, पर उनकी समझमे आता ही नही। कैसे नही मेरा घर, कैसे नही मेरे माता पिता ? ये मेरे माता पिता, घर द्वार आदि किसी दूसरेके कैसे हो सकते है ? यो उनको कितना ही समझाओ पर उनकी समझमे ही नही आता। अरे जब तक अपने स्वरूप सत्त्वकी बात ध्यानमे न आयेगी तब तक कैसे समझमे आयेगा कि मेरा तो मात्र यही एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, और कोई दूसरा पदार्थ मेरा हो कैसे सकता है ? तो वर्तमानका भी ममत्व यह कर रहा कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ। इस दुराशयमे यह जीव बाह्यकी ओर आकृष्ट हो गया। तो यो समझिये जैसे कोई सुनार अपने औजारोमे बने हुए छिद्रोमे तारको पिरोकर उसे खूब खीचते है और लम्बा करते हैं इसी प्रकार ये पुद्गल भी मानो इस जीवकी जान (उपयोग) खीचते है। अब बतलाइये ये अचेतन पदार्थ यदि इस चेतनकी जान खीच लें तो फिर इस चेतनकी क्या हालत होगी ? तो यह उपयोग जब अपने आपके स्रोतसे हटकर बाहरकी ओर खिच गया तो यह तो अत्यन्त सक्लेश बुद्धिमे विडम्बनामे आ जायेगा, पर ये मोही जीव ऐसी कठिन घटनाओके बीच भी यह अनुभव नही करते कि मेरे ऊपर कितनी विपदा है ? जैसे जल रहे जंगलके बीचमें कोई आदमी फंस गया तो वह पासके किसी पेड पर चढ गया। आग तो उस ओर भी बढती आ रही थी पर उस मूर्खको जरा भी यह होश नही हो रहा था। वह तो क्रूर प्रकृतिका होनेसे यह कौतुक देख देखकर खुश हो रहा था कि वह देखो—खर-

गोश जल गया, वह देखो हिरण जल गया। अरे उस मूढको यह पता नही कि यह बढती हुई अग्नि यहा तक भी आयगी और इस वृक्षको व हमको भी ध्वस्त कर देगी। इसी प्रकार इस ससारी जीवपर अनादिकालसे सकट पर सकट मिल रहे है, सर्वत्र दुखद घटनायें ही इसे देखनेको मिल रही हैं फिर भी इसको अपने आपका कुछ भी चेत नही होता। देखिये अनादिकाल किसे कहते हैं? भला कोई ऐसा निर्णय दे सकता है क्या कि किस दिनसे यह समय शुरू हुआ? अथवा यह सूर्य किस वर्ष किस दिन किस तिथिको सबसे पहिले उदित हुआ था इसके विषयमे कोई सही-सही निर्णय दे सकता है क्या? नहीं दे सकता। तो समझ लीजिए कि जहाँ समयकी आदि ही न आवे ऐसे कालको अनादिकाल कहते है, ऐसे अनन्तकालसे यह जीव इन बाह्य द्रव्योसे आकृष्ट होता हुआ इनको अपना स्वामी मानकर इनकी ओर ही अपने उपयोग रमाकर, इनकी ओर ही खिचा-खिचा फिर रहा है।

स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिके अपरिचयमें भूतकालविषयक मोहकी विडम्बना—यह जीव वर्तमानमे भी मानता है कि ये दिखने वाले पदार्थ मेरे है और मैं इनका हूँ। और, इतना ही नही—भूतकालकी बातको भी कहता कि मैं इनका था और ये मेरे थे। जो भी दादा बाबा गुजर गए, और जो अभी थोडे ही दिन पहिले गुजरे उन सबके प्रति भी यह मानता है कि वे मेरे थे और मैं उनका था। किसीको जब इष्ट वियोग हो जाता है तो समझाने वाले लोग पडोसी अथवा रिस्तेदार लोग आते हैं तो देखिये किस तरहसे समझाते है। अरे वह तो वडा अच्छा था, सबका वडा ख्याल रखता था, कैसा सबसे प्रेम करता था, सबका पालन पोषण करता था, कैसी अनहोनी हो गयी? पर देखो भाई तुम चिन्ता मत करो, तुम्हारे ये जो बच्चे है इनको ही देख देखकर तुम खुश होओ, ये बडे होनेपर सब काम सम्हाल लेंगे। लो समझाने वालोने इस तरहसे समझाया कि उसकी बातोका याद करा करा कर और दुखी बना डाला। इस तरहके समझानेसे क्या कही उसका दुख कम हो सकेगा? बल्कि दुख बढ जायगा। ऐसा समझाने वाला वहाँ कौन आता कि अरे क्या दुख मानते? वह तो तुमसे बिल्कुल भिन्न पदार्थ था, तुम जुदे हो, वह तुमसे जुदा था, तुमसे उसका क्या सम्बन्ध? उसका इतने ही दिनका जीवन था, चला गया तो जाने दो, एक दिन तो सबका यही हाल होता है। इस प्रकारसे समझाने वाला कौन आता? यहाँ तो पागलोकी गोष्ठी है, स्वय भी इसी पागलपनसे जन्म मरणकी यातनाये सहते हैं और दूसरोको भी उन्ही यातनाओका पात्र बनाते हैं। तो बात यह कह रहे थे कि भूतकालकी बातको भी यह जीव कहता कि वे मेरे थे और मैं उनका था।

स्वस्वामित्वसम्बन्धशक्तिके अपरिचयमें भविष्यविषयक मोहकी विडम्बना—अब कह

रहे है कि भविष्यकालकी बातको भी यह जीव कहता कि ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा। इसका एक दृष्टान्त लीजिए जैसे एक लडकी जिसकी अभी शादी नही हुई, सिर्फ शादीकी बातचीत तय हो चुकी है। तो उसके चित्तमे उसी दिनसे यह बात घर कर जाती है कि मेरा मकान तो अब वह होगा। वहाँ ही मेरा जीवन पार होगा, वहाँका ही मेरे लिए मेरा सब कुछ होगा। अथवा एक दृष्टान्त यह लीजिए कि जैसे किसी लडकेकी शादी होनी तय हो जाती है तो भले ही उस लडके ने वह घर अभी तक नही देखा पर शादी की बात तय हो जानेके दिनसे ही उसके चित्तमे यह बात घर कर जाती कि वह मेरी स्वसुराल होगी। वहा ऐसी हवेली होगी, ऐसी छत होगी, वहा के वे वेलोग मेरे ऐसे सम्बन्धी होगे। अथवा एक दृष्टान्त ऐसा ले लीजिए कि जैसे मानो किसीके ऊपर किसीका २५०००) का कर्जा चढा था। और उसकी लिखापढी हवेलीकी बिक्री रूपसे हुई थी, कर्जा वह न चुका सका तो बदलेमें उसका घर जो कि करीब ५००००) की कीमतका था अपने नाम बिक्रीनामा करवा लिया था, मान लो इकरारनामेमे ३ सालका समय दे दिया कि इतने दिनोके अन्दर अगर कर्जा चुका देगे तव तो मकान वापिस दे देगे, नही तो इस मकानके मालिक हम होगे। उसकी स्थिति अब कुछ ऐसी थी कि वह सारा कर्जा चुका सकनेमे अपनेको असमर्थ समझ रहा था, ढीलाढालीमे मान लो ३ वर्षका सारा समय बीत गया, केवल ५-७ दिन ही शेष थे। तो अब कर्जा न चुका सकने की पूरी आशा उस नवीन कल्पित मालिक को हो गयी। बस उसके चित्तमे ५-७ दिन पहिलेसे ही यह बात घर कर गई कि अब तो यह मकान मेरा हो जायेगा। अरे उसे ऐसा ध्यानमे नही आता कि अभी तो ५ ७ दिन तीन वर्ष पूरे होनेमे शेष हैं। ऐसा भी तो हो सकता है कि ३ वर्ष पूरे होनेके अन्तिम दिन तक भी तो वह कर्ज चुका सकता है और अपने मकानको बिक्रीनामा करनेसे बचा सकता है। पर इस जीवकी कुछ ऐसी आदत है कि भविष्यकी बातको भी यह मानता है कि ये मेरे होगे और मैं इनका होऊँगा।

अज्ञान कुटेवका परिणाम—देखिये परद्रव्य अपना कुछ नही है, किन्तु विपरीत मान्यतामे जो बहुत बढ बढकर चलेगा, जो घबडाकर, बढ बढकर बडोसे भी होड मार कर चलेगा उसके तो पैर टूटेंगे ही। यह मूढ जीव तो भगवानसे भी होड लगाकर आगे बढना चाहता है, कैसी होड लगाता भगवानसे कि भगवानने तो जैसा द्रव्य गुणपर्याय वस्तु है वैसा जान लिया। वे यह नही जानते कि यह घर अथवा यह चीज अमुककी है। पर यह मोही जीव उन भगवानसे भी बढकर जानना चाहता है। यह जानता है कि यह मकान मेरा है, ये चीजे मेरी है, तो इस बढ बढकर जानने चलनेका फल यही होगा कि इसके पैर टूटेंगे और यह जगतमे बरबाद होगा। तो इस मोही जीवने भगवानसे ऐसी होड लगा

रखी है कि भगवान नही जानते कि यहा किसका कौन ? पर यह मोही जीव जानता है कोशिश करता है। वे भगवान तो अपने अमूर्त अनन्तचतुष्टयात्मक अपने स्वरूपमे ही रत हैं, वे किसी पदार्थका कुछ कर नही सकते पर यह मोही जीव कहता है कि मैं घरको करता हू, मैं अमुक काम करता हूँ, मैं इसको यो कर दूंगा • तो देखिये यह मूढ जीव भगवानसे भी बढ बढकर चलने लगा। तो ठीक है, क्यो न बढ बढकर जाने ? आखिर प्रभुकी तरह ही तो शक्तिमान यह आत्मा है। शक्ति है इसमे प्रभु तो अपनी शक्तिका भा करके अपने ज्ञानानन्दरसमे लवलीन है। प्रभुने अपनी शक्तिको भजमाकर तो यह महान कार्य कर डाला, पर इसे ससारी मोही जीवने अपनी शक्तिको अजमाकर क्या कोई छोटा मोटा काम किया ? अरे इस जीवने तो जो काम करके दिखा दिया कि जिसकी क्या तारीफ की जाय ? भगवान तो सिर्फ जो उनका स्वभाव था उसमे स्थिर हो गए, पर इस मोही जीवने कीट पतिंगा, पशु, पक्षी, नारक, मनुष्य, देव आदिक नाना प्रकारकी विचित्र देहोको धारण कर लिया। तो क्या यह कोई साधारण बात है ? नाना प्रकारकी अपनी रचनायें कर लेना यह तो एक तारीफकी बात होगी (हास्य) तो यह ससारी प्राणी भगवानसे बढ-बढकर अपना रग, अपना नाच दिखा रहा है, पर इस बढावाका फल तो इसकी बरबादी ही है। अरे आत्मन् ! अब तो तू इस होडसे विराम ले। बहुत काल व्यतीत हो गया होड लगाते लगाते। अब तो तू कुछ विश्राम ले, वस्तुके सत्य स्वरूपको तो तू समझ। तेरा किसी भी परद्रव्यके साथ रच भी सम्बन्ध नही है और न तेरा किसी भी परपदार्थसे रच भी सम्बध कभी होगा। जिस समय ज्ञानी जीवको ऐसा प्रतिबोध होता है कि मेरा तो मै ही हूँ, मैं मैं ही हूँ, मेरा मैं ही था, मेरा मैं ही रहूगा, मेरा स्वामित्व केवल इस शुद्ध आत्मद्रव्यपर ही है। अर्थात् पर-सम्बन्धरहित, विकाररहित, परप्रभावरहित जो कुछ मेरा सहज स्वरूप है बस यही मेरा है, उसीपर मेरा स्वामित्व है। ऐसा जब यह जानता है तो इसके अनेक झझट दूर हो जाते हैं।

अज्ञानी जीवकी समीक्षा—अब जरा समीक्षा करे अज्ञानी जीवोकी ? ये मूढबुद्धि अज्ञानी पुरुष इस पुद्गलको तथा चेतन हो अचेतन हो सकल परिग्रहको ही यह मान रहा है कि यह मेरा है, बँधे हुए हो उन्हे, बहुत दूर पडे हो तो खीचकर घरमे रखकर ममता करता कि ये मेरे हैं, और जो अपनेसे बँधे हैं ऐसे शरीर आदिक उनको भी मानता है कि ये मेरे हैं, लेकिन देखो—भगवान सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे, जिनका कि परम पावन कार्य समय-साररूप अनन्त आनन्दमय सर्वकल्याणरूप है जिनके स्मरण मात्रसे अनेक कर्मबन्धन दूर हो जाते हैं, उन सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे यह दिख गया है कि तू तो उपयोग मात्र है, ज्ञानमात्र है, तू करेगा ज्ञानको ही, तू भोगेगा ज्ञानको ही। अरे इन बाह्यपदार्थोंरूप तू नही है। तू

तो उपयोग मात्र है, कैसे तू कह रहा है कि ये मेरे है ? अरे ये तो पुद्गल है, तू तो ज्ञानमय है। और, देख सोच तो सही—यहाँ कौन किसका हुआ करता है ? जो मुझमे अभेद हो, तन्मय हो वही मेरा हुआ करता है। पुद्गलका रूप है। ठीक है वह उसमे ही तन्मय है। जो जिससे तन्मय हो वह उसका हुआ करता है। यह है निश्चयत सम्बध वाली बात। यदि तू पुद्गलद्रव्यका है तो इसका अर्थ है कि तू पुद्गलमय हो गया। पुद्गलमय हो गया इसका भाव है कि तू अचेतन बन गया। अहो लोग जड (मूर्ख) यो ही तो बन रहे है। लोकमे भी मूर्ख पुरुषोको जड कहनेकी पद्धति है। जैसे—यह तो जड है (मूर्ख है), इससे क्या बात करते हो ? तो जैसे पुद्गल जड है, क्या उस तरहका जड कह रहे है ? नही, अब भी वह जड़ नही है, वह जडताकी ओर खिचा हुआ है इस कारण उसे जड बता दिया। तो वे सभी जीव जड है जो जडकी ओर खिचे हुए है। कहाँ उसके अन्दर चेतना रही, कहाँ समझ है, कहाँ विवेक है जो जड पदार्थोंकी ओर खिच रहा हो ? हे आत्मन् ! देख यहाँ किसी भी परद्रव्यसे तेरा कुछ सम्बन्ध नही है। तू समस्त परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावसे अत्यन्त निराला है।

स्वयंका ज्ञान आनन्दरूप धर्मकी स्वयंसे ही प्राप्यता—प्रियतम आत्मन् विचार तेरा धर्म कहासे मिलेगा ? स्वद्रव्यसे। परद्रव्यसे तेरा धर्म न आ पायगा। जैसे परजीवसे आनन्द नही आता, परजीवसे ज्ञान नही आता इसी प्रकार परद्रव्यसे मेरा धर्म वीतरागता कल्याणमय भाव वह भी प्राप्त नही होता। मेरा निर्मल परिणाम वह भी परसे कहा आयेगा ? तेरेसे आयेगा, तेरेसे ही उसका नाता है। वहीसे प्रकट होगा स्वभाव ही ऐसा है, परद्रव्यसे ज्ञान नही आता, परद्रव्यसे आनन्द नही आता। सम्बन्धशक्ति यह बतला रही है कि यदि ऐसा न माना जाय तो कितना अनर्थ होगा ? क्षणिकवादी मानते है कि परद्रव्य से ज्ञान होगा और इस कारण ज्ञानका तादात्म्य और ज्ञानका तदुत्पत्ति ये दोनो ही सम्बन्ध परद्रव्यसे है। और उनकी दलील है कि देखो ज्ञान हो रहा है तो उसका रूपक तो बतलाओ। उसकी मुद्रा, उसका स्वरूप तो बतलाओ। जरा आप बतलाओ—जब बताने बैठेगे तो इन परपदार्थोंका नाम लेकर बतावेंगे तो वह कहेगा कि लो हुआ ना तादात्म्य। उससे भिन्न कहा रहा वह ? और क्षणिकवादियोका जो एक उपविभाग है उसमे तो ज्ञानाद्वैतवादी यह कहते है कि यह ज्ञान मात्र है। रूपक्षण रसक्षण ज्ञानक्षण आदिक जो जाने गए वे सब तन्मात्र और तद्रूप भी है। ज्ञान पैदा हुआ तो लो भीतसे ही तो मेरा यह ज्ञान पैदा हुआ। अगर भीतसे ज्ञान पैदा न होता तो कैसे हमको यह ज्ञान हो पाता कि यह भीत है ? यो युक्ति भी वे देते है। लेकिन इन मिथ्याभावोमे, इस मोह और आकर्षणमे यह जीव अपनेमे रीता बन रहा है। मुझमे ज्ञान कहा है ? ज्ञान तो उन पर-

द्रव्योसे आया है और आकर यह ज्ञान उस ही परद्रव्यमय है। अपना विनाश कर लिया, अपना घात कर लिया और इस तरहकी कल्पनामे कितने दिन गुजर जायेंगे ? आखिर वही ससरण बना रहेगा। सो ज्ञान है सो ही धर्म है। विशुद्ध ज्ञान, सहज ज्ञान, इन्द्रियातीत ज्ञान, मानसिक विकल्पोसे भी परे ज्ञान यही तेरा धर्म है। आराम कर अपनेमे और आराम करते हुएमे जो कुछ होता हो होने दो। जैसे कोई व्यायाम करने वाला पुरुष बहुत अधिक व्यायाम कर चुकनेके बाद कुछ ढीलाढालासा पडकर लेट जाता है तो वह विश्राम का अनुभव करता है, इसी प्रकार तू भी तो इस अनादिकालसे विकल्पोका परिश्रम करते करते थक गया होगा, अब तो जरा शिथिल होकर अपने आपमे आराम करले। तू इस परमार्थकी बातको क्यो नही विचारता ? तू अपने परमार्थस्वरूपका कुछ विचार तो कर। यहा जो कुछ होता हो होने दे, उसका कुछ भी ख्याल मत कर। तू ऐसा विचार कर कि बस मैं तो जो हू सो ही रह जाऊँ, यही मुझे चाहिये। यहाकी अन्य कुछ भी चीज मुझे न चाहिये। इस तरहसे अपने आपमे तू विश्राम कर। तेरा जो सहज विश्रामगृह है (सहज स्वरूप है) वही तेरा स्वामित्व है अन्य किसी परपदार्थका यहा स्वामित्व नही है।

प्राणियोंसे स्वकी स्पष्ट विभक्तता—आत्माका स्वभाव मात्र ही तो स्व है और उसी का स्वामित्व है। ऐसे सम्बन्धकी बात जिस शक्तिमे पायी जाय उस शक्तिका नाम है सम्बन्धशक्ति। इस सम्बन्धशक्तिके परिचयसे वह भ्रम दूर हो जाता हैं जैसा कि परद्रव्यके सम्बन्धका भ्रम यह जीव अनादिकालसे मान रहा था। जैसे कि ये परद्रव्य मेरे है, यह देह मेरा है, इनसे मेरा इस प्रकारका सम्बन्ध है आदि। यहा सम्बन्धशक्ति यह बतला रही है कि हे आत्मन् ! तेरे शुद्ध जीवास्तिकायसे अतिरिक्त तेरा कुछ भी पदार्थ नही है। चाहे कोई चेतन पदार्थ हो या अचेतन पदार्थ हो, ये पदार्थ तेरे कुछ नही हैं, और ये तेरे कुछ भी नही है यह तो स्पष्ट है ही। साथ ही इस कारण भी ये प्राणी भिन्न स्पष्ट है कि जगतमे जितने भी ये प्राणी पाये जा रहे हैं उनका अभिप्राय विरुद्ध है। जैसा आत्माका स्वरूप है, स्वभाव है उससे विरुद्ध पर्यायमे चल रहे है। रागी द्वेषी मोही ससारमे भटकने वाले कर्मके प्रेरे ऐसे ये मलिन जीव हैं। इन जीवोसे मेरे आत्माका क्या सम्बन्ध है ?

स्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति परिचयसे अन्य परमात्मद्रव्यसे स्वकी विभक्तता—इस प्रसंगमे एक यह जिज्ञासा होती है कि मेरा सम्बन्ध मोही मलिन जीवोसे नही है, यह बात तो समझमे आयी, परन्तु मेरा सम्बन्ध अरहत और सिद्ध परमात्मासे भी नही है, यह समझमे नही आता। बल्कि बहुत कुछ हित देखनेमे आ रहा है। ये अरहत सिद्ध परमात्मा हमे शान्ति प्रदान करते हैं, आनन्द देते है, सुबुद्धि उत्पन्न करते हैं और बडी स्तुतियोमे भी ऐसे गुण गाये गए हैं। भाषाकारोने, स्तुतिकारोने यह गुण गाया है कि प्रभुने सबका उद्धार

किया। अजन चोर जैसे पतितोका भी उद्धार किया। प्रभुको पतितपावन कहा। अनादि-कालसे लोगोकी एक यह धारणा बनती चली आयी है कि मुझे पवित्र करने वाला परमात्मा प्रभु है। हमसे तो उसका सम्बन्ध है ही, यह सम्बन्ध तो हटाया ही नही जा सकता। ऐसी लोगोकी जिज्ञासा होती है, इसे खुद अन्तर्दृष्टिसे विचार करना है। प्रथम बात तो यह है कि जितने भी पदार्थ होते है वे सब प्रदेशवान है। उनके प्रदेश उनके ही स्वरूपमे है, उनके प्रदेशसे बाहर उनका कुछ नही है, और अपने प्रदेशसे बाहर किसी अन्य जगह किसी का कुछ कार्य भी नही होता है। प्रभु अपने जीवास्तिकायको लिए हुए हैं, हम अपने जीवास्तिकायमे है। तब परिणमन जुदा-जुदा ज्ञात हो रहा है। एक पदार्थका परिणमन जिस एक ही मे हो दूसरेमे न हो उसे एक पदार्थ कहते है। तो प्रभुका परिणमन केवलज्ञानरूप, अनन्त आनन्दरूप यह शुद्ध परिणमन उनका उनमे ही हो रहा है, पूरेमे हो रहा है और उनके प्रदेशसे बाहर कही भी नही है। इसी प्रकार मेरा जो परिणमन है—प्रभुकी याद करता हू, प्रभुके स्वरूपका स्मरण करता हू, चिन्तन कर रहा हू और गहराईके साथ उस विशुद्ध ज्ञानप्रकाशका भी अध्ययन कर रहा हू, पर मेरेमे जो भी पर्याय जब बर्ती वह मेरेमे ही है, मेरेसे बाहर नही। तब सिद्ध होता है कि प्रभु स्वतत्र द्रव्य है, हम स्वतत्र द्रव्य है, तब प्रभु मेरा कर्ता नही है यह बात तो यहाँ विदित हो ही जाती है, पर स्वामी भी नही है। प्रभु मेरे कब स्वामी हो जब मेरेमे कुछ परिणमन करे अथवा मेरेमे कुछ हित उत्पन्न कर दें। हम प्रभुका स्मरण करते हैं तो उससे हमारे अन्दर विशुद्धि जगती है, हमारा हित होता है, मार्गदर्शन होता है, ममत्व मिथ्यात्व आदिक जो जाल है उनसे भी हमारा छुटकारा होता है, इसके लिए हम प्रभुके बडे कृतज्ञ है, उनका हमारे लिए यह परम उपकार है। यदि उनकी दिव्यध्वनि न होती तो आज हम यह ज्ञानप्रकाश कहाँसे पाते? यह बात सत्य है। वे हमारे परम उपकारी है। पर अरहतदेवने ही यह बताया है जिसे हम मान रहे और कह रहे, उनकी वाणीमे यह आया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका स्वामी नही है। तो जब द्रव्य परस्पर पृथक् हैं और इसी तरह हम भगवानकी बात मान लेते है जो कि वस्तु-स्वरूपके अनुकूल भी है, तो इससे हम उनके अभक्त न कहलायेगे, बल्कि हम और विशिष्ट ढंगके भक्त कहलायेगे। एक भक्त तो ऐसा होता है कि कह लिया, मान लिया, पर उसे करता नही, क्रियारहित होता है और एक सेवक ऐसा होता है कि जो आज्ञा हो उस कार्य को कर देगे। तो प्रभुकी जो आज्ञा है उस कार्यको अगर कर रहे है तो हम भक्तोमें श्रेष्ठ भक्त कहलायेगे, अभक्त न कहलायेगे। प्रभु भिन्न द्रव्य है, मैं भिन्न द्रव्य हू सो मेरा यह स्वस्वामित्व सम्बन्ध प्रभुके साथ भी नही है और प्रभुका स्वस्वामित्व मेरे साथ नही है। वे अपने आपमे अनन्त चतुष्टयरूप परिणमन कर रहे है। इस अपने आपमे जितना विकास

हो पाता है मोक्षमार्गमे रहते हुए मैं अपना काम कर रहा हू तो प्रभु परद्रव्य है उनसे भी हमारा सम्बन्ध नही, जो अनुकूल है जिनके स्मरणसे हमारा हित होता है उनके भी सम्बन्धकी बात नही है, यह सम्बन्धशक्ति बतला रही है ।

प्रभुका परमार्थ नोआगमभाव नमस्कार—अब रही प्रभुके गुणगानकी बात, प्रभुकी स्मृतिकी बात । तो प्रभुकी स्मृति हम करते हैं, हमे करना चाहिये, उनके गुणोके स्तवनमे प्रथम तो यदि उनके देहकी स्तुति की। उनके कुल माता पिता आदिके नाम बखान कर स्तुति की तो हम प्रभुके गुणोकी ओर नही जा सके जिसके कारण वे महान कहलाते हैं । जब स्तुतिके लिए हम उद्यमी हो तो प्रभुके उस ज्ञानस्वरूपका, आनन्दस्वरूपका, उन सहज शुद्ध भावका ध्यान करे और इस तरह जब हम प्रभुके स्वभावका, शक्तिका ध्यान करते हैं तो उस समय यदि हम सही रूपसे ध्यान कर रहे है प्रभुकी प्रभुताका हम ध्यान कर रहे है, कैसा प्रकृष्ट भवन बन रहा है, कैसी उनकी शक्ति है जो उनकी शक्ति थी वह प्रकट हो गयी है शुद्ध सरलरूपसे, इस तरह हम अगर उनकी प्रभुताशक्तिको निहार रहे है तो यह हमारा शुद्ध निहारना एक साधारण बात बन जायगी, और उसकी प्रभुत्वशक्तिसे एकता करने लगेगे, अर्थात् इस समयका जो हमारा परिणमन है वह परिणमन मेरा प्रभुत्वशक्तिके सम्मुख हो जाता है और इस स्थितिमे अर्थात् जब हम अपनी प्रभुत्वशक्तिसे एकता कर रहे हो, इस घटनाको कहेगे कि प्रभुकी साक्षात् निश्चयस्तुति हो रही है । अर्थात् नोआगम भाव नमस्कार हो रहा है । इसी तरह जब हम प्रभुकी किसी भी शक्तिका ध्यान करते है, विशुद्ध ज्ञान ऐसा सहज ज्ञान, जो उनके आत्माके आश्रयसे ही उत्पन्न हो रहा है, ज्ञानस्वभावके ही आश्रयसे हो रहा है उस ज्ञानकी यथार्थ स्थिति, उनके यथार्थ स्वरूपका जब हम बडी एकाग्रतासे चिन्तन कर रहे हो तो उस समय हमारे उपयोगमे उनका वह शुद्ध ज्ञानस्वरूप आ जाना चाहिए और जब वह आ जायगा तो चूंकि वह सरल है, सहज है, स्वाश्रयज है, उनका सहज स्वभाव है तो उसकी दृष्टि करते हुएमे अब वह परमात्मा व्यक्ति, अब वह परपदार्थ आश्रयमे न रहेगा, केवल स्वरूप ही उपयोगमे रहेगा तो वह स्वरूप अब किसका आश्रय करे, वहाँ परद्रव्यका आश्रय तो छूटा, केवल स्वरूपका उपयोग रहा तो स्वरूप तो नही छूट सकता, क्योकि इसका ही उपयोग तो उस स्वरूपका चिन्तन कर रहा है, तो यह उपयोग अपना आश्रय बन गया और वहाँ अपनी ज्ञानशक्तिसे एकता करने वाला हमारा वह उपयोग बनेगा । इस तरह जब हम अपनी गुणशक्तिसे एकता करते है ऐसी स्थितिमे कहो कि हमने प्रभुके ज्ञानस्वभावकी निश्चयसे स्तुति की । तो यो प्रभुका निश्चय स्तवन चलता है । वहाँ पर भी यह बात निरखियेगा कि जो कुछ हो रहा है मेरा मेरा मेरे से ही स्वस्वामित्व सम्बन्ध है अन्यसे नही । तो यो इस सम्बन्धशक्तिके परिचयसे आत्माके

स्वरूपमे एकताका भान होता है और समस्त परद्रव्योसे एकताका सम्बन्धका विच्छेद होता है, यह तो हुई बात कि मै परद्रव्यसे निराला हू। अब चलो परक्षेत्रकी बात देखो—

स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिके परिचयसे स्वधर्मकी परक्षेत्रविविक्तताका परिचय—मैं परक्षेत्रसे भी निराला हू, पर क्षेत्रसे मेरा भाव नही उत्पन्न होता। मेरा वीतराग विज्ञानरूप धर्म परक्षेत्रसे नही प्रकट होता है। यद्यपि कुछ धामिक रुचि होने पर भाव होता है ऐसा कि तीर्थ वदना करे, तीर्थस्थानसे रहे, इस तीर्थके सम्बन्धसे मेरेमें धर्म प्रकट होगा और कोई लोग तो ऐसा कह भी देते है कि हमारा तो इस तीर्थसे सुधार होनेका परिणाम बना। मेरेमे धर्म विकास हुआ, परन्तु तत्त्वत विचार करे तो जो धर्मविकास है, जो मेरे ज्ञानानन्द स्वरूपका विकास है वह तो मेरेसे ही प्रकट होता है। उस परक्षेत्रसे तीर्थ आदिकसे वह प्रकट नही हुआ है। कोई लोग ऐसा ध्यान करते है कि धर्म तो चौथे कालसे प्रकट होता है और चौथे कालसे केवलज्ञान बनता है, इस कालसे नहीं। तो जिन जीवोका उस चतुर्थकालमे अथवा विदेहक्षेत्रमे वहाँ किसी कालसे यदि बात बनी है तो वहाँ यह न समझिये कि कालद्रव्यके परिणमनरूप उस समयसे बनी है, क्योकि आत्माके अपने आपके परिणमनसे वह बात बनी है। देखिये साधन कितने ही जुट जायें—कुछ बहिरङ्ग साधन होते कुछ अन्तरङ्ग साधन होते, अनेक साधनोके जुटने पर भी जो बात जहाँ बसी है, जिसकी जहाँ तन्मयपना है, जो जिसकी शक्ति रखता है, जिसके स्वभावरूप है, वह भाव, वह परिणाम वहीसे प्रकट हो सकेगा, अन्यसे नही। तैलके लिये तिलोको, कोल्हू का बैलका साधन जुटा रहे, वह बडा मोटा लकडीका खम्भा जो जडा हुआ है जिससे दबता है और वह कोल्हू भी ठीक तैयार है, उसमे बैल जोत दिये, अब यह बतलावो कि उसमे तिल तो न डाले, कोई रेत वगैरह डाल दे तो क्या तैलकी प्राप्ति हो सकेगी ? न हो सकेगी। अरे जो बात जिसके स्वभावमे बसी हुई है वह बात वहाँसे ही तो प्रकट होगी। वहाँ तो जबरदस्ती की जा सकती है—बाह्य साधनके द्वारा, मगर आत्मामे आत्मधर्मको, शान्तिको, विशुद्धज्ञानको उत्पन्न करनेके लिए बाह्य साधनोकी जबरदस्ती नही की जा सकती है। कोई चाहे कि मैं बहुतसी तीर्थयात्रायें कर लूं, बहुत-बहुत क्रिया काण्ड करके बहुत पूजन आदिक करके ही बहुत श्रम करके मैं अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्रको उत्पन्न कर लूँगा, तो उसमे यह बात न बन सकेगी। ज्ञान दर्शन चारित्रकी निष्पत्ति होगी तो एक इस शुद्ध आत्माके आश्रयसे ही होगी। जिन जीवोने इस शुद्ध आत्मतत्त्वका आश्रय नही किया वे अभागे है, वे ससारी जन्तु है, उनका ससार परिभ्रमण है, ऐसे अलौकिक कुछ साधन समागम पाकर भी इन साधन समागमोको मैं न उपलब्ध करूँ अर्थात् इन्हे ज्ञानमे न लूँ, वे तो उपलब्ध है ही। अरे अब उपलब्धको ज्ञानमे बसाये रहनेसे लाभ क्या, पर ऐसे उपलब्ध समागमके प्रसगमे

भी मैं इन्हे न पाऊँ, न ग्रहण करूँ, किन्तु मैं एक इस शुद्ध आत्मद्रव्यको ही ग्रहण करूँ, ऐसे इस सहज शुद्ध आत्माके एव अनुभवसे यह रत्नत्रयधर्म प्रकट होता है, जो श्रेय स्वरूप है, कल्याणमय है, तो यह निश्चय होगा किसी बाहरी क्षेत्रसे, किसी बाहरी जगहसे, चीजो से मेरेको श्रेय नही प्राप्त होता, वह तो मेरे ही आश्रयसे मेरे ही कल्याणभावसे होता है।

सम्बन्धशक्तिके यथार्थ परिचयसे स्वधर्मकी परकालविविक्तताका परिचय—अब परकालकी भी बात सोचो, पर समय इन समयोके द्वारा ये चतुर्थकाल आदिकके द्वारा मेरेमे रत्नत्रयभाव होता है क्या ? उनसे प्रकट होता है क्या ? न तो कालद्रव्यके परिणमनरूप किसी चतुर्थ आदिक कालसे प्रकट होता है और न किसी भी परकालसे अर्थात् किसी परके परिणमनसे प्रकट होता है। अरहत सिद्ध अनन्त आनन्द सम्पन्न हैं, मगर उनकी इस परिणतिसे, उनके इस स्वकालसे मेरा काल नही बनता, मेरी परिणति नही बनती, यह तो एक साधन है। जैसे कि दूसरे जलते हुए दीपकसे दूसरा दीपक मजो दिया जाता है, ऐसे ही प्रभुके ध्यानमे मेरा काम बन जाता है, मगर प्रभुके कालसे मेरा काल नही बनता। प्रभुका परिणमन मेरे परिणमनको कर सकने वाला नही है। वह तो मेरे ही स्वभावसे बात प्रकट होती है। साथ ही यहाँ यह भी बात समझना चाहिए कि ऐसा परमात्मत्व अथवा उसके बादमे ऐसा रत्नत्रयभाव अथवा प्रभुके प्रति इतना विशुद्ध सहज शुद्ध अनुराग भी तब ही प्रकट होता है जब हम अपने आपके आत्मामे कोई आश्रय ग्रहण करते हैं। हम अपने आपकी सम्हाल जब करते है तो वहाँ प्रभुस्वरूप ही शुद्ध ढगसे विदित हो जाता है, तो परकालसे भी मेरा यह रत्नत्रयधर्म प्रकट नही होता। मेरा उसमे स्वामित्व नही है। इस तरह सम्बधशक्तिके परिचयसे परकालकी भी विविक्तता ज्ञात होती है।

सम्बन्धशक्तिके यथार्थ परिचयसे स्वधर्मकी परभावविविक्तताका परिचय—अब देखिये–परभावकी विविक्तता। परभाव, परपदार्थोके जो गुण है, जो शक्तिया हैं, क्या उनका मैं स्वामी हूँ ? अथवा क्या वे मेरे स्व हैं ? उनसे भी मैं विविक्त हू, निराला हू, स्पष्ट ही यह बात है। और, अधिक तो यह बात निरखना है कि मेरे एक क्षेत्रावगाहमे स्थित कर्मके विपाकवश जो ये रागद्वेषादिक विभाव उत्पन्न होते है वे परभाव है, उन परभावोसे भी मेरा दर्शन ज्ञान चारित्ररूप धर्म प्रकट नही होता है। रागसे धर्म नही प्रकट होता है यह बात यहा कही जा रही है, अर्थात् कर्म विपाकसे उत्पन्न हुए जो रागादिक विकारभाव हैं उनसे ये सम्यक्त्व आदिक भाव प्रकट नही होते, किन्तु उनसे निराला विलक्षण स्वरूप रखने वाला जो सहज शुद्ध आत्मद्रव्य है उसके आश्रयसे रत्नत्रय भाव प्रकट होता है तो यो परभावोसे भी मैं निराला हू, इस तरह परचतुष्टयसे विविक्त अपने आपको ज्ञानी निरख रहा है।

जीवत्वशक्तिसे स्वका अभिन्न स्वामित्वरूप सम्बन्धशक्ति—अब इन्ही शक्तियोके सम्बंधकी बात निरखियेगा, जब बाहरमे कोई द्रव्य, बाहरमे कोई क्षेत्र, कोई काल, कोई भाव मेरा स्व न हो सका, मैं किसीका स्वामी न रह सका तो अब अन्त देखो और दृढ निर्णय कीजिये कि हां मै अपने स्वसे अभिन्न हू, अपनी शक्तियोसे अभिन्न हूँ, तो कल्पना करो कि इन शक्तियोमे से अमुक शक्ति न हो तो इसका स्वरूप ही नही बन सकता है, इसका सत्त्व ही नही रह सकता। यद्यपि आत्मामे ये शक्तिया कोई भिन्न-भिन्न नही पड़ी हुई है, किन्तु आत्मा तो एक अभेद शक्तिमान है, लेकिन समझनेके लिए इन शक्तियोका परिचय है, तो समझनेके लिए यह भी जानेगे कि इन शक्तियोमे से यदि एक शक्ति कोई न मानी जाय तो सब मामला बिगड जायगा, कुछ भी सिद्धि न हो सकेगी।

जैसे मानो आत्मामे सर्वप्रथम जीवत्वशक्तिका वर्णन बताया गया है। इसी से शुरू करो। कोई आत्मामे जीवत्वशक्ति तो न है माने और ऐसा माने कि जीवत्वशक्तिके कारण इसका जीना नही किन्तु दस प्राणोके द्वारा इसका जीना बन रहा है—देखो इन्द्रिया है, आयु है, बल है, श्वासोच्छ्वास है तब ही तो यह जीव जी रहा है, तो इस तरह जीवत्वशक्ति न मानें तो पहिले तो यह अडचन आयगी कि दस प्राणोके द्वारा भी जीना नही बन सकता। ये दस प्राण भीत पुस्तक आदिकमे क्यो नही प्रविष्ट हो पाते ? ये क्यो लग रहे है, है कोई यहां मूल प्रकाश जहा यह दस प्राणोकी बात बनती है। दूसरी बात यह बताते है कि दस प्राणोसे ही इस जीवका जीना माना जाय तो जहा ये दसो प्राण नही रहते तो फिर वहां जीवत्व न रहेगा, यह जीव ही न रहेगा। जीवत्वका अर्थ है जीव का सत्त्व बना रहना लेकिन यह बात नही है कि दस प्राणोके बिना जीवत्व न रहे। उन दस प्राणोके बिना सिद्ध भगवान शुद्ध चैतन्य प्राणसे उत्तमतया जी रहे हैं। वहा उत्तम आनन्दका अनुभव हो रहा है। इन शक्तियोमे से किसी भी शक्तिको हटा नही सकते। उपयोगसे हटाओ तो सबको हटाओ, पर किसी एकको हटाओ, किसीको न हटाओ, तो उससे कोई व्यवस्था न बन सकेगी। सबको हटा दीजिए—एक अभेदोपयोगमे आकर उसका स्वाद लीजिए। फिर भी इन सब शक्तियोके परिचयसे जो बात बतायी गई है वह टल नही सकती। वह तो तब भी बन रही है।

ज्ञानशक्ति व आनन्दशक्तिसे स्वका अभिन्न स्वामित्वरूप सम्बन्धशक्ति—शक्तियो के अभिन्न स्वस्वामित्वके संबधमे सोचे कि आत्मामे ज्ञानशक्ति नही है, यह जान रहा है तो जैसे क्षणिकवादी कहते है कि ज्ञान बन रहा है तो विषयभूत पदार्थोंसे उत्पन्न होकर ज्ञान बन रहा है, बस उसीका नाम ज्ञानक्षण है, चित्तक्षण है। वही सम्पूर्ण पदार्थ है दूसर समयमे किसी अन्य पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ तो इस तरह आत्मामे ज्ञानशक्ति न मानी

जाय और यही स्वीकार किया जाय कि बाह्य पदार्थसे ज्ञान आया करता है तो जहाँ बाह्य पदार्थ न रहा, उसका उपयोग न किया, उसमे बुद्धि न फसाया तो क्या यह ज्ञानस्वभाव भी मिट जायगा ? अथवा परसे ज्ञान होता है तो वह ज्ञान उस परका कहलाया। यह कोई ज्ञाता न कहलाया, यह स्वयं मैं कुछ न कहलाया। तो ज्ञान ही मिट जायगा। अरे ज्ञान क्या मिट जायगा ? मैं ही मिट जाऊँगा। किसी भी शक्तिका अपलाप नही किया जा सकता। इन सब शक्तियोसे इस आत्माका अभेद सम्बन्ध है और ये शक्तिया स्व है और यही आत्मा उसका स्वामी है। और भी देखिये मानो कोई कहे कि इसमे आनन्दशक्ति नही है। आनन्द आया करता है, बाहरी पदार्थोसे, विषयोसे, इन भोगोसे। तो प्रथम तो यह ही अडचन आयगी जैसा कि जीवके जीवत्वशक्तिमे बताया गया था। आनन्दशक्ति नही है, इस आत्मामे तो इन भोगोसे आनन्द क्यो न आ जावे ? अरे खुदसे ही तो आनन्द आये और खुद ही आनन्दमय न हो पाये ऐसा कैसे हो सकता ? पर ऐसा विषयोमे तो कुछ है नही। यदि खुदसे आनन्द नही आया, आनन्द भोगोसे आया तो इसका अर्थ है कि भोग न रहेगा तो फिर आनन्द भी न रहेगा, इन्द्रियविषय न रहा तो फिर आनन्द भी न रहा। वह तो आनन्दविहीन हो जायगा। ऐसे तो सिद्ध महाराज भी है। उनके पास कोई भोग विषयोंके साधन नही है, तो क्या यह कहा जा सकता है कि उनको कुछ भी आनन्द नही है ? अरे इस बातको तो स्वय ही अनुभव करके स्पष्टरूपसे जान सकते है कि यह आत्मा स्वयं आनन्दमय है।

प्रभुत्व आदि शक्तियोंसे स्वका अभिन्न स्वामित्वरूप सम्बन्धशक्ति—अन्य शक्तियो की भी बात सोच लो। एक प्रभुत्वशक्ति बतायी गई है, जिससे आत्माकी प्रभुता बनती है, कोई कहे कि आत्मामे प्रभुत्वशक्ति क्या है ? ईश्वर देता है शक्ति, ईश्वर बनाता है शक्ति। जब ईश्वरकी मर्जी होगी तो वह हमे आनन्द देगा, हमे प्रभु बना देगा, बडा बना देगा, जैसा कि रूढिमे आम ख्याल है लोगोका कि मैं कुछ नही हू, ईश्वर ही सब कुछ है, वह ही सर्वशक्तिमान है, मेरी क्या शक्ति है ? यो कोई प्रभुत्व शक्तिका अपलाप न करे और कहे कि मुझे अन्य कोई प्रभु ही बना सकता है तो इसके मायने क्या हुआ कि मेरेमे प्रभुता है ही नही। उस तरहका प्रकृष्टरूप होनेकी शक्ति ही मेरेमे नही है। तो जहा जो बात नहीं, कोई कितने ही कारण जुटाये तो भी वह बात वहा हो ही नही सकती। इन शक्तियो मे जितनी भी शक्तियाँ हैं सबपर चिन्तन करनेसे यही निष्कर्ष निकला कि इन शक्तियोका अपलाप नही किया जा सकता। एक बतायी गई है त्यागोपादान शक्ति अथवा त्यागोपादान-शून्यत्वशक्ति, परका त्याग बना रहना, अपने आपका ग्रहण रहना इसकी शक्ति है। अगर यह शक्ति न हो तो क्या अर्थ बना कि पर ग्रहणमे आ जायगा और खुदका त्याग बन

जायगा। तो रहा क्या ? बनी ना विडम्बना। वस्तुका स्वरूप किस आधारपर अवस्थित है कि वह किसी परका धर्म ग्रहण न करे और अपना कोई धर्म तजे नही। इसीको ही तो त्यागोपादानशक्ति कह रहे है। अथवा अपने त्यागसे शून्य रहे, परके ग्रहणसे शून्य रहे, सो त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति कहते है। यो अनेक शक्तियाँ है, मैं परका अकर्ता हू ऐसी शक्ति है, न हो शक्ति तो इसका अर्थ हो गया कि मैं परको बनाने वाला बन गया। तो परका क्या रहा; वह विडम्बना बन गयी। अभोक्तृत्वशक्ति न हो, मैं परको भोगने वाला बन गया मैं परस्वरूप हो गया, ऐसी एक विडम्बना आ जायगी। यदि अपने आपमे उन शक्तियोको तन्मयतासे न स्वीकार किया जाय तो मानना होगा कि मेरा स्वभाव यह स्व स्व है और उस ही का मे स्वामी हू और इस ही के आश्रयसे मेरा कल्याण होगा। यहाँ सम्बन्धशक्ति का वर्णन चल रहा है, उसकी भी समीक्षा कर लीजिये—आत्मामे स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्ति न हो तो इसका अर्थ हुआ कि आत्माका परके साथ स्वस्वामित्व सम्बन्ध है तो जब पर सम्बन्ध न रहेगा तो आत्मा भी न रहेगा, किन्तु यह तो गलत बात है। देखो देह राग कर्म आदि परके सम्बन्ध बिना अनन्तज्ञानादिसम्पन्न सिद्ध भगवान शाश्वत् ऐसे शुद्ध ही विराजमान रहते है ऐसा ही सर्व आत्माओका स्वभाव है।

निबद्धदेहभव वर्ण गन्ध रस स्पर्शके स्वामित्वका भी आत्मामें अभाव—स्वभावमात्र स्व है और इसका यह ही स्वामी है इस प्रकारका सम्बन्ध सम्बन्धशक्तिमे पाया जा रहा है। इस शक्तिके परिचयसे यह विदित हुआ कि बाह्यपदार्थका कोई भी द्रव्य मेरा स्व नही है और बाह्यका कोई क्षेत्र एव कोई बाह्यका काल अथवा परका भाव ये कुछ भी मेरे स्व नही है। मेरा तो स्वभावमात्र ही स्व है। तो अपनेसे असम्बद्ध अबद्ध पदार्थोके सम्बन्धमे इनका स्वामित्व मना कर अब जरा अपने आपसे निबद्ध पदार्थोमे भी निरखिये कि ये क्या मेरे स्व हैं या इनका क्या मै स्वामी हू ? जब अपनेसे निबद्ध पदार्थोकी ओर चिन्तन करने को चलेगे तो सबसे पहिले चिन्तनीय होगा यह देह और इस देहमे भी सबसे प्रथम दृष्टिगत होते है वर्ण। बहुतसे लोग कहते भी है कि यह काला है, यह गौर है, यह स्वर्णवत् है, यह श्याम है, यह हरित है, और भगवानकी स्तुतिमे भी उनके रूपका वर्णन करते हैं तो वर्णके प्रति लोगोका प्रथम ध्यान पहुंचता है। यह उनका वर्ण है। सो वर्णका ही विचार करो। यह वर्ण कहाँ तादात्म्य रख रहा है ? यह प्रकट पौद्गलिक है, इसका पुद्गल उपादान है और इस ही मे यह उत्पन्न हुआ है इस कारण वर्ण मेरा नही है। मैं वर्णसे विविक्त हू। वर्णके बाद गधकी बात देखो—जब किसी चीजको निहारते हैं तो उसमे प्रथम वर्णपर उपयोग पहुचता है, फिर इसके बाद गंध महसूस होता है यह किसी पदार्थके परिचयके सम्बन्ध मे एक प्राकृतिक क्रमसा बना हुआ है। यदि कोई पुरुष जान बूझकर केवल एक स्पर्शको

ही जानना चाहे, रसको ही जानना चाहे तो उसकी वृत्ति अलग है मगर जब कभी परपदार्थ का बोध होता है तो प्राय पहिले तो वर्णका बोध हुआ, फिर गधका बोध हुआ। वर्ण तो कुछ भी हो उसका भी ज्ञान हो जाता है। वहाँ तो सन्निकर्षके सम्बन्धकी जरूरत नही होती है। गधकी बात यह है कि गध परमाणु खुद भी चलित होकर आते है अथवा सुगधित पदार्थोका निमित्त पाकर पासके स्कध गंधरूप परिणत होकर गधके विषयभूत होते हैं तो देहका यह गध मेरी चीज नही है। मैं तो गधरहित हू, यह गध पौद्गलिक है। मैं एक टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभावमात्र हू, अनुभूतिमात्र मुझसे पृथक् चीज है, यह मेरा स्व नही है, मैं इसका स्वामी नही हू, इसी प्रकार यह स्पर्श ठडी गर्मी रूखा चिकना आदिक रूपसे अनुभूयमान स्पर्श यह भी मेरा स्व नही है। ये भी पुद्गलके उपादानमे उत्पन्न हुए है, इनका मैं स्वामी नही हू।

मोही जीवोंका वर्ण रस गंध स्पर्शमें अहंकार व ममकार—कहनेको तो यह बात कुछ साधारणसी लगती है कि इस पर जोर देनेकी क्या जरूरत है ? जब सम्बन्धशक्तिका वर्णन है तो कोई खास बात कहो, इस देहके रूप रग आदिक ये मेरे नही हैं, इस प्रकार सम्बन्ध तोडकर इनका क्यो चिन्तन किया जा रहा है ? तो प्रकट पराये है, पर है। ठीक है, बात सत्य है, लेकिन इस रूपसे जानने वाले भी कौन हो रहे है ? बडे-बडे पुरुष, बडे बडे लौकिक विद्यावान पुरुष भी या लौकिक कार्योमे जो ऊँचे बडे हुए हैं ऐसे पुरुष भी करते क्या है ? कीर्ति चाहते है, यश चाहते है। उनकी यह धुन बनी है तो इस कीर्ति चाह रूप जो महान विष है उसका आधार क्या बना ? यह मूर्तिमान दिखने वाली चीज। वह भी क्या चीज है ? रूप, रस, गध, स्पर्श आदिकका पिण्ड। लोग चाहते है कि मेरा यश फैले तो इस दृष्टि को रखकर उसने इस देहपर दृष्टि दिया कि इस शरीरको लोग परखे, जाने कि यह अमुक है। तो देखिये किस ढगसे बडे-बडे जानकार लोग भी एक इस रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक मे मुग्ध हो रहे हैं तो ये रूप, रस, गध वर्णादिक मेरे स्व नही है, इनका मैं स्वामी नही हू। इस प्रकार यह शरीर भी आ गया और यह आकार प्रकार भी आ गया। यह इसका सारा ढाचा मेरा स्व नही है, मैं इसका स्वामी नही हू, इसपर अधिक चिन्तन करना इसलिए आवश्यक है कि कीर्ति चाहकी आधार यह मूर्तिक पुद्गल देह बना हुआ है, और यो समझिये कि जब तक यशोवाञ्छा की जा रही है तब तक पर्यायबुद्धि है। तो यह चीज भी मैं नही हू।

संज्ञाज्वरका संताप—दुनियाके जीवोको परेशान करने वाली ये चार सज्ञायें बतायी गई हैं—(१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन और (४) परिग्रह। ये सज्ञायें एकेन्द्रिय जैसे जीवोमे भी पायी जाती है। ये कीडा मकोडा आदिक जो दिखते है जैसे एक चीटीको ले

लो—ये चीटी अपने मुखमे शक्कर का दाना दबाकर ले जाती है, गड्ढेमे घुसती है, निकलती है। यो अनेक क्रियाये जो करती है तो क्या मनके बिना करती हैं? ऐसी शका लोग रखते है लेकिन वात यह है कि इस मनका तो काम है हित अहितका विवेक कराना। कोई इस मनको पाकर हित अहितका विवेक तो न करे और इन वाहरी अहितकारी बातोमे ही इस मनको लगा दे तो यह तो इस मनका दुरुपयोग हुआ। यो समझिये कि अपनी बरबादी करने मे उसने इस मनको और भी अपना सहयोगी बना लिया। आज जो वाहरी व्यर्थकी बातो मे लोग अपना मन लगाये हुए है उनमे इस मनको लगानेकी आवश्यकता न थी, पर इस भोले प्राणीने इन चारो संज्ञाओको (आहार, भय, मैथुन, परिग्रहको) और भी बढावा देने के लिए इस मनको अपना सहयोगी बनाया। यही कारण है कि इन चारो प्रकारकी सज्ञाओ के ज्वरसे यह ससारी प्राणी पीडित हो रहा है। इस जीवमे एक परिग्रह सज्ञा भी है। यह भी एक व्यापकरूपमे इस जीवमे पायी जा रही है। परिग्रह केवल धन दौलत, स्त्री पुत्रादिक परिजन वगैरहको ही नही बोलते—किन्तु अपने यश, प्रतिष्ठा आदिकी वाञ्छा होना, भावी भोगसाधनोकी वाञ्छा होना यह भी एक परिग्रह है। यह मानसिक विकल्पोका परिग्रह इस जीवने व्यर्थमे लाद रखा है। यही कारण है कि यह प्राणी निरन्तर दुःखी रहा करता है। कहाँ तो यह आत्मा है टंकोत्कीर्णवत्, ज्ञायकस्वभावी, ज्ञानमात्र, ६ पदार्थोमे रहकर भी इन ६ पदार्थोसे विलक्षण स्वरूप रखने वाला, लेकिन इसे इस शुद्ध आत्मद्रव्यका परिचय नही हो पाया। तो जिस पर्यायमे हम चल रहे है उसमे ही अहका अनुभव हो रहा है। यह तो कार्यकी प्रणाली है कि लोग इस देहकी भी फिकर नही रख रहे। मगर कोई देहकी फिकर न रखे, इससे यह बात न समझ लेना चाहिये कि इसको शरीरसे ममता नही है। अरे ऐसा भी तो हो सकता कि इस देहके पोषणके लिए ही अनेक प्रकारके विकल्पजालोमे उलझ गया हो जिससे कि उसे इस शरीर तकका भी होशहवास न रहा हो। तो इस देहकी उपेक्षा कर देने मात्रसे यह नही कहा जा सकता कि अपने शरीरसे इसे मोह नही है। अरे उसने तो इन रागादिक विकारभावोमे विकल्पविचारोसे अपनी चेष्टा उन्मत्त जैसी बना लिया है तो भले ही देहकी भी उपेक्षा किसीने कर दी हो लेकिन भीतरमे जो विकल्पजालसे इसने इस शरीरमे ही अहबुद्धि बना रखी है उसका तेज परिग्रह तो इसने बांध रखा है। इन सब बातोका यथार्थ परिचय करके ऐसा जानें कि सचमुच मेरा यहा कुछ भी नही है।

निकृष्ट ज्ञानके आग्रहकी अनर्थता—जिस ज्ञानके बल पर लोग इतना कूदते है वे अपने मे अहंकार करना, दूसरोको तुच्छ मानना आदिक नानाप्रकारके विकल्प बना डालते हैं, तो यह तो एक निकृष्ट ज्ञान कहा गया है। इस निकृष्ट ज्ञानमे जो विकल्प आये हैं उन

विकल्पोके अनुसार बाह्यपदार्थोंकी परिणति कर देनेके लिए यह प्राणी तुल गया है। यह तो इस निकृष्ट ज्ञानका स्वामी बन रहा है। अरे यह निकृष्ट इन्द्रियज ज्ञान भी जब मैं नही हू। मैं तो एक ज्ञानस्वभावमात्र हू तब फिर इन बाहरी वर्ण गध आदिककी तो कथा ही क्या है ? ये कैसे मेरे स्व हो सकते है ? और, मै कैसे इनका स्वामी हो सकता हू ? तो अन्त भेद डालना है, अन्त ही छेदन करना है जिससे कि इन सब अध्रुव तत्त्वोसे निराला ध्रुव तत्त्व दृष्टिमे आये। बहुत आसान तरीकेसे इस तरह भी सोच सकते है कि जो अध्रुव तत्त्व है, अध्रुव भाव है उनकी प्रीति करनेसे मुझे लाभ क्या है ? यह मैं तो आनन्दधाम हू और मेरेमे जो अध्रुव भाव हुये, विचार हुये ये तो विनाशीक चीजे है, ये तो नष्ट हो जायेंगी। इनका ग्रहण करके मुझे क्या हित मिलेगा ? जो भी तरगें उठ रही हैं आत्मामे उन सब तरगोके प्रति यह भाव लायें कि ये तो विनाशीक हैं, इन विनाशीक चीजोसे प्रीति करके लाभ क्या मिल जायेगा ? जैसे कोई प्रेमी अथवा प्रेमिका किसी दूसरेसे यह जानकर उपेक्षित हो जाते हैं कि मैं इससे क्या राग करूँ, यह तो मनमानी प्रकृतिका है, जब चाहे मुझे छोड सकता है, इसको तो कुछ लाज-लिहाज ही नही है, इससे प्रीति करनेसे मुझे लाभ क्या ? तो इसी प्रकार जिन अध्रुव विभावोको, विकारोको हमने समझ लिया कि ये तो विनाशीक चीजें है, मिट जाने वाली है, ये मेरे से अत्यन्त पृथक् है, ये मेरे स्वभावकी चीजें नही हैं, ये मेरे बनकर रहेगे नही तो फिर इनसे क्या प्रीति करना ? ये समस्त अध्रुव बाते तो मेरे लिए अहितकर हैं, ये तो मेरे विनाश करने पर ही उतारू हैं, अत इनसे मुझे अपना पिण्ड छुडा लेना चाहिए। इनसे अपना सम्पर्क तोड लेना चाहिए। मैं व्यर्थ ही इन अध्रुव भावोके पीछे पडकर अपनी बरबादी करता हूँ। अब मुझे उनसे कुछ सरोकार नही। मुझे अब उनके परिणमनमे ऐसा आग्रह न होना चाहिए कि ऐसा ही हो, किस ही भाँति हो, मेरा आग्रह तो मेरे सत्यके प्रति हो। मेरा जो सत्य है, मेरा जो स्वरूप है, मेरा जो सहज भाव है उसके प्रति मेरा आग्रह हो। मैं तो यह हूँ, यही मेरे दर्शनमे रहो, यही मेरे लिए मगलरूप है, इसहीमे मेरा कल्याण है। तो बाहरी वर्ण, रस, गध आदिक बातोमे आग्रह मत होओ। ये बाहरसे जो वर्णादिक दिख रहे है ये मेरे स्व नही है।

रागादिक विकारोंकी अस्वामिता व अहितरूपता—अब जरा और अन्त प्रवेश कीजिए—ये जो रागादिक विकार है ये भी मेरे नही है। ये रागादिक विकार होते है मेरी बरबादी करनेके लिए। जैसे पलासके पेडमे लाख लग गई हो तो वह उस पेडको ठूठ बनाकर छोडती है। तो जैसे पलासके पेडकी लाख उस पलासके पेडको ही बरबाद करने वाली है, इसी प्रकार ये रागादिक विकार उत्पन्न तो होते है इस आत्मामे ही, पर ये इस आत्मा की बरबादीके ही कारण है। जैसे वह पलासके पेडसे ही निकलती है अन्यत्र कहीसे निकल-

कर नही आती और उस पेडमे ही वह व्याप जाती है, लेकिन फिर भी वह लाख उस पलासके पेडको जडसे सुखा देनेका (मिटा देनेका) ही कारण बनती है। इसी प्रकार ये रागादिक विभाव भी इस मुझ आत्मासे ही उत्पन्न होते है, किसी बाह्यपदार्थमे से निकलकर आते नही है, और इन आत्मप्रदेशोमे ही सर्वत्र प्रदेशोमे व्यापते है, फिर भी ये इस आत्माके ही बिगाड करने (पतन करनेके) कारण बनते हैं। तो ये समस्त प्रकारके विकारभाव भी मेरे नही है। ये भी पौद्गलिक बताये गए है। यद्यपि इनका वह आधार अर्थात् जहा ये विलास कर रहे हैं ये कोई उपादान पुद्गल नही है, लेकिन ये विकार पुद्गल विपाकमे ही होते हैं और पुद्गल विपाक विना नही होते है। इसलिए इनका भाव्यभावक सम्बन्ध वहाँ है। इस ज्ञानस्वभानरूप इस आत्माके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नही है। ये राग द्वेष तो एक व्यक्त चीज है और व्यक्तरूप ये बन रहे है। उस व्यक्त रूपके अन्त जो एक प्रत्ययपना पडा हुआ है, आश्रवपना पडा हुआ है जो अन्य कर्मबन्धका कारणभूत हो रहा है ऐसा अन्त प्रत्यय भी मेरी चीज नही है। जिसे ये आश्रयभाव कहते है, और अन्त जिनके उदयसे ये सब हो रहे है ये कर्म भी मेरे नही हैं। यह शरीर ये वर्णादिकके जो सम्बन्ध हो रहे है ये भी मेरे नही है। अन्त जो तैजस शरीर कार्माण शरीर, आदि जो जो भी सूक्ष्म बाते पडी हुई है ये कुछ भी चीजे मेरी नही है।

स्वभावमात्रस्वके स्वस्वामित्वका निर्णय होनेपर परस्वामित्वके प्रतिषेधकी समझ—— ये चित्स्वभावके अतिरिक्त अन्य सब चीजे मेरी नही है, इसको सोचेगा कौन ? जिसने यह समझ लिया हो स्वभावको कि यह मेरा है। जैसे लोकमे यह मेरा घर है, यह मेरा अमुक है ऐसा वही समझ सकेगा जो कि ये सारे घर मेरे नही है, ये सारी चीजे मेरी नही है यो समझ चुका हो। देखिये—जो अपने घर तकको भी कह उठा हो कि यह मेरा नही है तो उसने भी समझा है कि यह घर (आत्मा) मेरा है, जिस बलपर कह रहा कि यह घर मेरा नही है। जो यह मान रहा है कि यह कुटुम्ब मेरा नही है, ये कोई भी पुरुष स्त्री, बच्चे आदि कुछ भी मेरे नही हैं तो उसने इनकी तुलनामे किसीको समझ रखा है कि ये मेरे हैं। यह परस्पर अपेक्षात्मक चीज चलती है। जो किसीको यह कहेगा कि यह मेरा नही है तो उसके निर्णयमे यह बात भी पडी हुई है कि यहाँ मेरा कुछ नही है। यह चीज है, यह भाव है अन्त। क्या मेरा है, ऐसा समझे विना बाह्यमे किसी को भी मना नही कर सकते कि यह मेरी चीज नही है। अथवा जो न यह कह सकते कि यह मेरा नही है और न यह चिन्तनमे लाते है कि यह मेरा है, या तो वह यो दोनोसे पृथक् रहेगा ऐसा निर्विकल्प ध्यानमे रहेगा, और यदि वह यह विकल्प कर रहा है कि यह मेरा नही है तो उसके यह निर्णय पडा है कि यह है मेरा। अथवा जो यह विकल्प कर रहा कि यह मेरा है उसके

यह निर्णय पडा हुआ है कि इसको छोडकर अन्य कुछ भी मेरा नही है । तो जिस पुरुषने यह समझा हो कि स्वभावमात्र मेरा स्व और उसका ही मै स्वामी ऐसा अपने आपमे स्व-स्वामित्वका निर्णय पडा हो उसे ही ये सब बाते, इन सबका प्रतिषेध शोभा दे रहा है, वास्तवमे ये सब कुछ मेरे नही है ।

पर्यायाश्रितव्यवहारसिद्ध रागादिकोंके स्वामित्वका निश्चयतः मुझमें अभाव—अब यहाँ कोई थोडा यो सोच सकता है कि जब मेरी वर्णादिक रागादिक कुछ भी चीज नही है तो ये कुछ भी बाते मत होओ, फिर होते क्यो है ये यहाँ ? अरे जब तिल ही न हो तो फिर ताड कहाँसे बनेगा ? तिल हो तब तिलका ताड बन जाना सभव है । याने तिलका पेड तो एक मात्र पतली टहनी जैसा होता है छोटासा, अब कोई उसको ताड कह डाले, सो यो तिल का ताड कह डालना तो सम्भव है, पर तिल कुछ हो ही नही और ताड बन जावे, यह बात किस तरहसे सम्भव हो सकती है ? जब सारा लोक कह रहा कि ये वर्ण, रस, कर्म, भाग्य आदिक मेरे हैं, मेरा भाग्य फूट गया, मेरा भाग्य आया ऐसा लोग कहते हैं और शास्त्रोमे भी ये बताये गए है तो इनको मना क्यो किया जा रहा है कि ये जीवके नही हैं । वे सब बातें एक व्यवहारनयसे समझना चाहिये अथवा उसके भीतर क्या वास्तविकता है, क्या स्वरूप है ऐसा समझनेके लिए समझना चाहिये । मन्दिरमे बहुत भीतर प्रतिमा विराजमान है । दर्शन तो मुझे प्रतिमाके करना है मगर दर्शनके लिए जितने भी और घर, आँगन, कोठे आदि पड गए उन सबसे गुजर कर हम प्रतिमाके दर्शन करने पहुचेगे, इसी तरह मुझे दर्शन तो करना है अपने आपमे अन्त विराजमान उस शुद्ध कारण समयसारके, लेकिन उसके लिए हम जितनेमे बाह्यमे निबद्ध हैं उन सबमेसे गुजर कर वहाँ सब कुछ छोडकर जावेंगे । इन सबका छोडना इन सबको सही सही जानकर हो सकेगा । इनको जाने बिना इनका छोडना हो नही सकना । इसी कारण गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणा आदिक सबका जानना यहाँ आवश्यक होता है, और व्यवहारमे उन्हे भली भाँति बताया गया है पर यह तो एक साक्षात् बात चल रही है, निश्चयकी बात चल रही है कि ये सब मेरे है । मै तो एक ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ ।

वर्णादिकोंको जीवके मान लेनेपर पुद्गल व जीवमें अन्तरके अभावका प्रसङ्ग—अब जरा इन वर्णादिकके बारेमे कुछ इस दृष्टिसे ध्यानमे लायें कि वर्णादिक अगर मान लिए जाये जीवके, पाये तो जा ही रहे है, ये सब लोग देख तो रहे ही है, अगर ये वर्णादिक मान लिए जावें जीवके तो इसमे क्या अनहोनी हो जायगी ? अनहोनी यह हो जायगी कि फिर तो जीव वर्णादिकमय ही सदा रहा करे, कभी इनसे अलग न हो, लेकिन देखा यह जाता

है कि ससारी प्राणियोमे वर्णादिक पाये जा रहे हैं, पर ससारसे मुक्त जीवोमें ये बाते नही पायी जाती है। तो चीज तो वह कहना चाहिए मेरी, जो मेर सर्व अवस्थाओमे रहा करे, लेकिन जीवकी सही अवस्थाओंमें ये वर्ण कहाँ रह रहे है ? संसार अवस्थामें ये वर्ण विदित होते है, लेकिन मुक्त अवस्थामे कहाँ रहा करते है ? फिर कैसे कहा जाय कि ये वर्णादिक जीवके हैं, ये स्व है और जीव इनका स्वामी है ? नही कहा जा सकता। लेकिन कोई आग्रह ही करे कि हम तो यह ही जान रहे है कि ये वर्ण जीवके ही है तो देख लीजिए, वर्ण जीवका मान लिया और वर्ण कहा गया है पुद्गलका, तो जीव और पुद्गलमे क्या अन्तर रहा ? वह तो वर्णमय हुआ। पुद्गलमे फिर भिन्नता क्या रही ? इससे यह निर्णय करना चाहिये कि ये पौद्गलिक चीजें जीवकी नही है।

संसारावस्थामें भी जीवके वर्णलक्षणत्वका प्रतिषेध—कोई यदि ऐसा भी कह उठे कि चलो इतना तो मान लिया जावे कि ससार अवस्थामे वर्ण जीवका लक्षण है, यह तो वर्ण-मय बन रहा है, मुक्तिकी बात पीछे सोचना। यहाँ तो यह निर्णय करके बैठ जावो कि संसार अवस्थामे जीवका लक्षण वर्ण है, तो यह भी आशंका यो उचित नही है कि कोई मान ले कि वर्ण जीवका लक्षण है संसारमे भी मान लिया, परद्रव्यका लक्षण तो लक्षणरूप से रहा करता है। अब वर्ण जीवका लक्षण है इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ वर्ण पाये जायें वह जीव है और वर्ण लक्षण माना गया है पुद्गलका। तो अर्थ यह हुआ कि जहाँ वर्ण पाये जाये उसे जीव कहते हैं। किन्ही लोगोने यह कहा कि जहाँ वर्ण पाये जायें उसे पुद्-गल कहते है, तो यह नामान्तर हो गया। जीव और पुद्गल कोई भिन्न द्रव्य नही रहे। जैसे कोई लोग पुस्तकको पुस्तक कहते, कोई बुक कहते, कोई किताब कहते, तो ये सिर्फ नाम भर बदल गए, चीज एक है, किताब कहा तो भी वही लक्षण दिखा, पुस्तक कहा गया तो वही, और बुक कहा गया तो वही लक्षण दिखा। ऐसे ही यह शंकाकार जीव और पुद्गल को एक ही लक्षण वाला समझ रहा है, जीव कहा तो वही लक्षण, वर्णादिमान कहा तो वही लक्षण, पुद्गल कहा तो वही लक्षण। और फिर यही पुद्गल शुद्ध होनेपर हो गया भगवान। यही वर्णादिमान पुद्गल जिसे जीव कहा जा रहा, वही कर्मोंसे मुक्त होकर पर-मात्मा बन गया। तो अब परमात्मा होनेका अर्थ क्या हुआ कि पुद्गलकी शुद्ध अवस्था हो गयी और वह प्रभुके रूपमे प्रकाशित हो गया। जैसे ये स्थितियाँ है कि पुद्गल शुद्ध होकर परमाणुरूप रह जाये, पुद्गल शुद्ध होकर भगवान बन जाय, पुद्गल ही तो प्रभु बना है और कोई नही। यो यह आपत्ति आती है। इसमें भी यही सिद्ध है कि वर्णादिक भाव जीव के नही है। जीव स्वयं स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप है और मेरा तो चैतन्यभाव है वह

और उस चैतन्यभावका यह जीव है स्वामी। इस तरह स्वस्वामित्व सम्बन्ध इन इन ही गुणोके साथ है, अथवा इनके सहज भावके साथ है, इन वर्णादिकोको जीव नही कहते, ये पौद्गलिक है।

रागादि विकारोंकी पौद्गलिकता होनेसे आत्माके स्व बननेकी अशक्यता— अब देखिये—ये वर्ण, रस, गध, स्पर्श ये तो स्पष्ट पुद्गल ही है, क्योकि इनका उपादान पुद्गल ही है, किन्तु रागद्वेषादिक भाव भी चूंकि पुद्गल कर्मके विपाकका निमित्त पाकर हुए है इस कारण ये भी पौद्गलिक है, और, थोडा इन शब्दोमे भी देखिये, जैसे सनीमाके पर्देपर मशीनके सहारेसे आक्स (चित्र) डाला गया, बहुतसे चित्र उस पर्देपर आ गए तो वहाँ यह बताओ कि वे चित्र उस पर्देके है या फिल्मके ? जरा इसका निर्णय कीजिये—एक दृष्टिसे निहारते है तो फिल्मकी बात फिल्ममे ही है, उससे बाहर उसकी कोई बात नही गई। वह तो ३५ हाथ दूर है उस पर्देसे, तब फिर उस चित्रको फिल्मका कैसे कहा जाय ? और, उस पर्देपर जब दृष्टि देते है तो यही निर्णय होता है कि पर्देकी सारी बात पर्देमे ही है, अभी जब एक दो घटे बाद सनीमा खतम हो जायगा तो वहाँ कुछ नही दिखता, केवल वह सफेद कपडा जो था सो ही दिखता है। तो वह चित्र उस पर्देका भी नही है। अब जरा प्रयोजन-वश इसका निर्णय तो करो। वे चित्र फिल्मके होनेपर ही आये, फिल्मके अभाव होनेपर नही आये, इस कारण इनका सम्बध फिल्मसे है। यह पर्दा तो केवल उसकी आधारभूमि रही है। ठीक ऐसे ही जब रागसे अपनेको बिल्कुल विविक्त निरखते है तो यह निरखना होगा कि ये रागादिक विकार पुद्गल कर्मके विपाक होने से आये है, नही आये तो न रहेंगे, इस कारण ये मेरे नहीं है, ये पौद्गलिक है, इस तरह ये सब भाव पौद्गलिक कहलाते हैं, ये मेरे स्व नही है और मैं इनका स्वामी नही हू। मैं तो केवल ज्ञानमात्र स्वभावका स्वामी हू और यह ज्ञानमात्र भाव ही मेरा स्व है, इसमे ही मेरा स्वस्वामित्व सम्बन्ध है, इससे अलग बाह्य तत्त्वमे जो स्वस्वामित्वका निर्णय रखते है उसका ही यह फल है और निरन्तर आकुलता भोग रहे है। मैं इन भोगोको नही चाहता, मैं इन अध्रुव भावोको नही चाहता। मैं तो ज्ञानमात्र हू, इस तरह केवल ज्ञानस्वभावका आलम्बन लेनेसे कल्याणकी प्राप्ति होगी।

रागादिकोंकी अस्वता व स्वकी विलक्षणता—इस प्रसङ्गमे यह कहा जा रहा था कि रागादिक विकार जीवके स्व नही हैं और इनका स्वामी यह आत्मा नही है। इसका कारण यह बताया गया है कि ये रागादिक विकार पुद्गल परिणामसे निष्पन्न हुए हैं इस कारण ये पौद्गलिक हैं, अब आज सुनो दूसरी ओरकी बात। जब जीव और विकार इन दोनोमे सम्बन्ध विच्छेदकी बात कही जा रही हो तब दोनोंको ही तो जानना चाहिये। पहिले बताया गया था कि ये रागादिक भाव पौद्गलिक है तो उसकी तुलनामे यह भी

समझिये कि यह जीव ज्ञानमात्र है, स्वानुभूतिगम्य है। निर्विकल्प परम समाधिमे रत रहने वाले योगियोंके द्वारा यह साक्षात् उपलभ्यमान है, और सम्यग्दृष्टि जीवके स्वानुभव स्वसम्वेदन द्वारा गम्य है. ऐसा यह जीव है, वह रागादिक विकारोका स्वामी कैसे हो सकता है ? इन रागादिक विकारोंकी पौद्गलिकता है, इस सम्बन्धमे एक यह भी युक्ति है कि चूँकि अष्ट प्रकारके कर्मोको तो लोग पौद्गलिक कहते ही है, ये तो पौद्गलिक है। अब उन अष्ट प्रकारके कर्मोंका फल क्या है सो तो बताओ ? केवल दुख। उन कर्मोंका फल है केवल दुख। तो जिनका फल केवल दुख है वे क्या है ? पौद्गलिक। अब यहाँ भी देखिये कि इन रागादिक विकारोका भी फल क्या है ? अरे वे तो स्पष्ट दुख ही है। जिन का फल दुख है वे क्या होने चाहिये ? पौद्गलिक। अथवा इस ओरसे भी देखिये कि रागादिक विकार कर्मके कार्य हैं तो कर्म पौद्गलिक है तो ये रागादिक कार्य भी पौद्गलिक है। अब इस ओर देखिये कि यह मै जीव क्या हू ? इसका सहजस्वरूप जो कुछ है वह ज्ञानमय है। रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित है। इसमे शब्द भी नही पाये जाते है, इसको किसी प्रकट चिन्हसे ग्रहणमे नही लाया जा सकता। जैसे आँखोसे देखकर यह बोध हो जाता है कि यह अमुक है। देखो इसमे यह चिन्ह पाया जा रहा, इस प्रकार जीवमे कोई यह चिन्ह व्यक्त नही है, वह तो एक स्वसम्वेदन मात्र से गम्य है और फिर ये सब व्यक्त चीजें तो आकार प्रकारमे अनेक प्रकारकी पायी जाती है, किन्तु इस आत्मामे तो कोई आकार नियत नही है। यह तो केवल एक ज्ञानमात्र अनुभवका विषय बनाया जाने से ही प्रत्यक्ष गोचर हुआ करता है। ऐसे इस जीवके ये रागादिक भाव स्व नही है।

रागादिकोंको जीवके बतलानेकी व्यवहारदर्शनता—अब इस समय यह समस्या सामने आ जाती है कि ये रागादिक विकार मुझ आत्माके नही है तो ग्रन्थोमे ऐसा वर्णन क्यो किया जाता है कि ये मार्गणाये है, ये गुणस्थान है, जीवके है ? इस समस्याका समाधान यह है कि यह सब व्यवहारका दर्शन है। ये अध्यवसाय, ये विभाव, ये रागादिक विकार जीवके है ऐसा जहाँ दर्शन है वह व्यवहारनयका दर्शन है। व्यवहारका दर्शन बताया ही क्यो है ? तो समझियेगा कि व्यवहार इस कारण यह कहलाता है कि यह व्यवहार बाह्य द्रव्यका आलम्बन करके प्रतिपादन करता है इस कारण यह व्यवहार है, किन्तु जो अन्तस्तत्त्व है, जो आधार अथवा स्वाश्रित आधेय तत्त्व है उसका किसी ढगसे प्रतिपादक है यह, अत व्यवहारकी आवश्यकता है। व्यवहारको परमार्थप्रतिपादक बताया गया है। यह परमार्थ तत्त्वका प्रतिपादन कर रहा है। यदि व्यवहार न माना जाय तो देखिये—व्यवहारमे ये दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय आदिक जीव ही तो कहे जाते है। अब व्यवहारको तो माने और कोई यह आग्रह कर ले कि ये कुछ नही है और अपरिणामी चैतन्यमात्र स

कुछ है वह एक वही सत् है, वही ब्रह्म है, केवल इस आग्रहमे और उसे निष्पर्याय मान लेने मे क्या विडम्बना बनती है कि अब तो ये दिखने वाले प्राणी जीव न कहलाये। जब ये जीव नही है यो जैसे जड मिट्टी राख आदिकको मलनेमे कहाँ संकोच होता है ? सभी लोग हाथमे राख मिट्टी आदि लेकर वर्तन मला करते है। वहाँ किसीको सकोच थोडे ही होता। क्यो सकोच नही होता कि इन्हे जीव नही माना जा रहा है। इस प्रकारकी जब त्रस स्थावरके विषयमे परिणति बन बैठेगी तो वह पुण्यरूप धर्म मिलेगा नही। तो एक तो यह विडम्बना बनती है, और दूसरी विडम्बना यह आती कि जीव तो ऐसा है जैसा कि निश्चयनयके विषयका सर्वथा आग्रह कर लिया गया। अन्य है ही नही, पर्यायोको माना ही नही। तब इस दृष्टिमे तो जीव सदा शुद्ध है, उसे मोक्षकी क्या आवश्यकता ? मोक्षमार्गकी क्या जरूरत ? तो मोक्ष भी कोई तत्त्व न रहेगा। तो व्यवहारका दर्शन आवश्यक है और वह परमार्थका प्रतिपादक होनेसे प्रयोजनवान है।

व्यवहारमें परमार्थ एकत्वकी गवेषणा--उस व्यवहारको तो यो समझना चाहिये कि जैसे कोई राजा यात्रा कर रहा हो तो उसके साथ एक बहुत बडी सेना चलती है। राजा सूना कभी नही चलता। कदाचित राजा सूना रह जाय तो लोग उसके पापका उदय कहेगे। तो राजा सूना कभी नही चलता। वह जहाँ जायगा वहाँ ही सजधजके साथ जायगा। उस सेनाको देखकर, यह राजा एक दो मील तक फैला हुआ है ऐसा लोग बोलते हैं, व्यवहार करते है। अब यहाँ देखिये कि क्या सचमुच वह राजा मील दो मीलके विस्तारमे फैला हुआ है ? अरे उस सेनामे राजाका उपचार है, यो ही समझिये कि यह जीव राजा इन पर्यायोमे यात्रा कर रहा है। और इसके अनुसार ही ये अध्यवसान, ये रागद्वेषादिक भाव चल रहे हैं, तो लोग कहते हैं कि यह जीव इतना फैला हुआ जा रहा है। जीव तो वास्तवमे वहाँ एक ही है। वह एक राजा है जो कि ३।। हाथका है, जो उतने ही रूप रगमे है। इसी प्रकार यहाँ भी वास्तवमे जीव भी एक है जो कि अपने सहज चैतन्यस्वभावमात्र है। ध्यान वहाँ देना है। उस ही के साथ इस जीवका शाश्वत स्वामित्व है। न निरखे कोई जीव इन विभावोको तो वे भी वहाँ पडे हुए है लेकिन जो देख लेते है वे सम्यग्दृष्टि जीव हैं, वहाँ व्यक्त भी होने लगते है। अब भली भाँति विदित हुआ कि मेरा न कोई परद्रव्य स्व है, न परक्षेत्र स्व है, न परकाल स्व है और न परभाव स्व है। मेरा तो मात्र मैं यह चैतन्यस्वरूप ही हू। यह स्वस्वामित्व शक्ति यह बतला रही है कि तू सहज ही शान्त है, सहज ही ज्ञानस्वरूप है और वह ही स्वरूप तेरा स्व है। तू शान्तिके लिए बाहरमे कुछ ढूढकर व्यग्र मत हो।

स्वमें समानेपर ही उपयोगका परमविश्राम--अहा, कितना अन्याय उपसर्ग अथवा

अत्याचार है इस जीवपर कि है तो यह शान्तिमय, स्वयं आनन्दमय, परिपूर्ण कल्याणमय, लेकिन इस बातपर यह टिक नही पाता, इस स्वरूपको यह निरख नही पाता। फल यह होता कि बाहरमे इसका उपयोग जाता है। सो देखो हर जगह यह उपयोग जाता तो है किन्तु वे पदार्थ इसको धोखा देते है, ठोकर मारते है और यह बेचारा कोई चारा न होनेके कारण लुढकता रहता है, दुखी होता रहता है। अरे उपयोग ! जब तुझे कोई शरण नही कही मिल पा रहा है तो तू किसके पास जाता है, किससे आशा रखता है ? वह तो तुझे बार बार ठुकरा ही देता है। सो ठीक ही है, प्रत्येक पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है। कोई भी पर-पदार्थ किसी अन्य पदार्थमे तन्मय नही हो सकता, सबकी परिणति न्यारी-न्यारी है। अरे जब तुझे सब जगहसे धोखा ही मिल रहा है, कही सबको ठिकाना नही लगता है तो अब तो तू कुछ विवेक कर अपने आपके आत्मस्वरूपकी ओर जरा झुककर तो देख।

अरे तू बाहरमे कितना ही भटक ले, गिर ले, कुछ भी कर ले, पर आखिरमे अन्तमे तू वहाँ ही आयगा जहाँसे निकला था, तभी तू शान्तिका पात्र बन सकेगा। जैसे ये दिखने वाले बादल समुद्रसे भावरूपमे निकलते है, खूब यत्र तत्र भ्रमण करते हैं, आखिर जब समय आता है, कोई वैसा वातावरण आता है या वैसी ऋतुका समय आता है तो वही जल गिर करके पानीरूप होकर नीचेकी ओरको लुढकने लगता है। जलकी प्रकृति ही है नीचेकी ओर लुढकनेकी। सो वह जल लुढक-लुढककर, नीचे जा जाकर फिर उसी समुद्रमे मिल जाता है। वहाँ पहुचकर ही उसे शान्ति गम्भीरता, निश्चलताकी प्राप्ति होती है। ठीक इसी तरहसे हे जीव तू अपने आपमे भी तो निरख, अरे उपयोग ! तू कहाँ से निकला था, वहाँसे उठा था और किन किन बाह्यपदार्थोमे भटक-भटककर अनेक सताप सहता रहा ? इन विकारभावोके सतापसे पीडित होते हुये रे उपयोग ! तू कितना ही बाहर-बाहरमे भ्रम ले, लेकिन अन्तमे तुझे वहाँ ही आकर शान्ति, संतोषकी प्राप्ति हो सकेगी जहाँ से कि तू निकला था। अरे अब तो तू इन बाह्यपदार्थोमे भ्रमण करनेमे मौज मत मान, वहाँ तो तुझे सर्वत्र हैरानी ही हैरानी हाथ लगेगी। और देख तेरी प्रकृति भी है विनयशील, जिसके कारण तू नीचेकी ओर ही नमने वाला है। अरे, भुकनेका तेरा स्वभाव ही है सो इस ही अपने स्रोतकी ओर झुक। शीलवलके कारण तू आयगा अपनी ही ओर, और जब तू अपनी ओर आयगा, अपनेमे ही रत होगा तब ही तो सही ढंगसे शान्ति संतोषका अभ्युदय कर सकनेका पात्र बन सकेगा। तो तू इस बातमे देर क्यो कर रहा है ? अरे तू तो विकारो से सतप्त होकर यहाँसे भाग मत, उड मत जा। जैसे वह जल जब समुद्रमे है तब वह शान्त है, घन है, गम्भीर है, सरस है इसी प्रकार यह ज्ञान जब अपने स्रोत सागरमे है तब यह भरापूरा है, शान्त है, सरस है, आनन्दमय है। लेकिन जैसे वह जल भाप बन जानेपर

अत्यन्त हल्का हो जाता है। उन भापोमे से उन बादलोमे से अगर कोई आदमी निकल जाय तो भी उसे प्रतिघात नही होता, लेकिन बादल तो खुद ठोकरे खाता रहता है, इतना हल्कासा बनकर उड गया है, इसी तरह रे उपयोग ! जब तू अपने इस स्रोतको छोडकर बाहर जाता है, उडता है तो तू इतना हल्का हो जाता है कि उसके कारण तू यहाँ वहाँ की ठोकरे खाता रहता है और अपने को लुढक लुढक कर रोता हुआ ही अनुभव करता रहता है।

सहज शुद्ध कलाके प्रयोगसे परमार्थस्वस्वामित्वके अनुभवका अवसर—प्रियतम आत्मन् ! तेरेमे सब कलायें है, तू अपनी सहज शुद्ध कलाका उपयोग करे तो तू अपने आपमे रत, सतुष्ट मग्न रहकर कल्याणमय हो सकता है। और, अगर अपनी इस कलाका दुरुपयोग करे तो इस तरह ससारकी इन वेदनाओको सहता रहता है। अब तेरे सामने दोनो ही बाते है और तेरी ही कला पर निर्भर है। कोई यहा श्रम भी नही करना है। अब तू यह छाँट कि तुझे क्या चाहिये ? जैसे किसी दरिद्रके सामने एक खलीका टुकडा और एक मणि रख दी जाय और उससे कहा जाय कि तुम इन दो चीजोमे से छाँट लो, जो चीज तुम्हे पसद हो सो ले लो। और, अगर वह खली लेना पसद करता है तो फिर उसके समान अज्ञानी, मूर्ख और किसे कहा जाय ? इसी तरह हे आत्मन् ! तू इस समय योग्य है, सज्ञी पञ्चेन्द्रिय है, तू सब प्रकारके विचार भी कर सकता है, तर्क वितर्क भी सब प्रकारके कर सकता है, ज्ञान भी पाया है, सब कुछ पाया हे, लेकिन तू अभी भी दीन भिखारी बना फिर रहा है, परपदार्थोंका दास बन रहा है। हे आत्मन् तू तो स्वय प्रभु स्वरूप है, अपने इस कारणपरमात्मतत्त्वको निरख तो सही। अब हम तेरे सामने दोनो ही चीजें रख रहे है। एक ओर तो यह शुद्ध अतस्तत्त्व रख रहे हैं और एक ओर यह राजपाट, धन वैभव आदि। अब बोल इनमे से तुझे कौनसी चीज चाहिये ? तू जो मागेगा सो मिल जायगा। अब कोई माग लेवे धन दौलत राजपाटको तो उसको अज्ञानी मूर्ख न कहा जायगा तो फिर और क्या कहा जायगा ? अरे अपना पौरुष करना है यह कि सत्य ज्ञानको सफल बनाकर हम सत्य तत्त्वकी रुचि बनायें।

परमार्थस्वस्वामित्वके निर्णयबलसे आनन्दप्रद धैर्यका अभ्युदय—खूब परख लीजिये बाहरमे तो शान्तिका सम्बन्ध है नही। किसी भी परपदार्थसे शान्ति मिलेगी, धर्म मिलेगा ऐसा नही है। इस कारण बाहरमे शान्तिकी खोजके लिए तू व्यग्र मत हो। हाँ स्थिति है ऐसी कि गृहस्थीमे अथवा किसी बडे सगमे कि इस उपयोगमे टिक नही पाते हैं, और कदाचित् बाह्य प्रवृत्ति भी करनी पडी तो वहाँ शुद्ध तत्त्वका भान तो रखे रहियेगा, उस तत्त्वका भान न छोडियेगा और ज्ञानी पुरुषोके यह भान छूटता भी नही। जिनको अपने

आपके इस सहज स्वभावका परिचय हुआ है, ज्ञान हुआ है, उनके यह भान छूटता भी नही है। जिसको जिस ओर अधिक आनन्द मिल चुका है क्या वह उस आनन्दको भूल जायगा ? नही भूल सकता। वह चाहे कैसी ही झंझटोमे पड जावे फिर भी उसकी दृष्टि यही बनी रहती है कि मेरा आनन्द तो वह था। इसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवको जो ज्ञानानुभवमे आनन्द मिला है उस आनन्दको यह कैसे भूलेगा ? उसका भान कैसे मिटेगा ? यद्यपि कैसी ही कठिन स्थितियाँ आ जाती है कि जिन्हे देखकर अज्ञानी जन तो घबडा जाते है पर वह ज्ञानी जीव तो अन्तरङ्गसे अपना कुछ और ही प्रवर्तन किया करता है। देखिये–जिस समय सती सीताको श्रीरामके आदेशसे कृतान्तवक्रने जंगलमे छोड दिया तो जंगलमे रहकर भी वह अपने आपको अशरण नही समझ रही थी, बल्कि देखो–जब कोई विकट परिस्थिति हम आप पर आती है तो उस समय एक बडा बल प्रकट होता है और उस दुःखकी स्थिति मे उस धैर्य बलसे जो आनन्द जगता है वह एक विशुद्ध आनन्द जगता है। ऐसा आनन्द तो यहाँके इन मौजके ठाठबाटोमे भी नही मिल पाता। धैर्यका आश्रय लेनेसे आनन्द हुआ करता है। तो जगलमे रहकर भी अपना स्व अपना शरण अपना शुद्ध आत्मद्रव्य उस सीता के भानमे रहता था इसी कारण वहाँ भी वह व्यग्र न थी, और बाहरमे कुछ करना तो पडता ही था। थोडा भय हो जाय तो भय होकर भी उसके भीतरमे निर्भयता रहती थी। ऐसा होना प्राकृतिक बात है। जब कभी कोई ऐसे निर्जन स्थानमे पहुच जाय तो वह अपने बलका इतना उच्च प्रयोग कर लेता है कि जिसका प्रयोग वह मौज और गृहस्थीके प्रसगोमे भी नही कर सकता। तो जिसको अपने उस सहज आत्मद्रव्यका भान है और यह निर्णय है कि मेरा तो यही मात्र स्व है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नही है, उसको ऐसी स्थितिमे भी आनन्द ही बर्त रहा है। जो आनन्द घरमे रहने वाले बडे-बडे साहूकारोके भी नही हो सकता। उन्हे तो परदृष्टि है, पराश्रयता है, भीतरमे कुछ भी धैर्य नही है। वे सेठ साहूकार लोग तो जरा जरा सी बातोमे अधीर हो जाया करते है। तो यो समझिये कि आनन्द धीरताके साथ प्राप्त होगा। अधीरतामे आनन्द नही होता। और, ये बाहरी प्रसंग इन बाहरी पदार्थोका स्वामी माननेके विकल्प, इनमे धीरता कैसे आ सकती है ? ये तो सब अधीरताके ही काम किए जा रहे है। हाँ तो वह सती सीता उस निर्जन स्थानमे रहकर भी अपने आपके उस परमशरण कारणसमयसार शुद्ध आत्मतत्त्वको निरख निरखकर तृप्त रही, सन्तुष्ट रही। उसे बाहरी जंगलका भान भी न रहता था, ऐसे भी क्षण बीच-बीचमे आया करते थे।

परमार्थस्वस्वामित्वके परिचयीके बाह्य व्याकुलता होनेपर भी अनाकुलस्वभावका अन्तः आलम्बन—देखिये जिस सीताको वनमे छुडाया उस ही सीताका जब पहिले वियोग

हुआ था श्री रामको, रावण सीताको हर ले गया था उस समयकी श्री रामकी परिस्थितियाँ देखो—सीताशून्य राम, अकेले वह राम, सीता बिना व्याकुल हो गए थे—कविने अलकारिक भाषामे कहा है या कभी वैसी स्थिति भी बन गई हो, हम इस विपयमे कोई निर्णय नही दे सकते, तो उस समय श्री रामकी क्या दशा थी देखिए—श्री राम वहाँके वृक्षोसे पूछ रहे थे—ऐ वृक्षो, क्या तुमने हमारी सीता कही देखी अथवा जगलके हिरण आदिक पशुओसे भी पूछते थे—ऐ हिरण, क्या तुमने हमारी सीता कही देखी ? · , पर धन्य हैं वे राम जो कि सम्यक्त्वके प्रभावसे उन सब स्थितियोमे भी वे अपने अन्तरङ्गमे विराजमान शुद्ध आत्मद्रव्यका भान बनाये रहे। यही कारण है कि अनेक विडम्बनायें होनेपर भी वे परम पुरुष राम महात्मा कहलाते थे। क्या उनमे महानता थी ? जो कुछ यहाँ कहा जा रहा है और जिसे ज्ञानी जन अपने उपयोगमे लेते है वह सबका भान था। लेकिन कोई अगारकी चिनगारी पडी हो और उसपर ईंधनका ढेर पटक दिया जाय तो लोगोको ईंधनका ढेर दिखेगा वह चिनगारी न दिखेगी, लेकिन वही चिनगारी बढ बढकर उस समस्त ईंधनके ढेर को ध्वस्त कर देती है. यह बात अवश्य है। तो हम किसी ज्ञानीकी किसी बाह्य घटनाको निरखकर उसके विषयमे हम कुछ सही निर्णय नही दे सकते। क्योकि इस आत्माका सम्बन्ध तो अतस्तत्त्वके साथ है। श्री राम उस समय सम्यग्दृष्टि थे कि न थे, इस बातको तो शास्त्रोमे पढकर प्रमाणित कर लीजिए, किन्तु सम्भावना यही बतायी जा रही है कि किसीके दर्शन मोहनीयका अभ्युदय है, चैतन्यस्वरूपका भान है और चारित्र मोहनीय कर्मका तीव्र वेग है तो वहाँ ऐसी स्थिति बन जाया करती है।

चारित्रमोहकी पराकाष्ठाका एक चित्रण और उसमें परमार्थस्वस्वामित्वके भानकी संभावना—बल्देव श्री रामकी और भी एक घटना देखिये—जब देवोने राम लक्ष्मणकी प्रीतिका वर्णन सुनकर यह मनमे ठाना कि हम लोग परख (परीक्षा) करेंगे कि श्री राम और लक्ष्मणकी किस तरहकी प्रीति है तो देव परीक्षा लेनेके लिए आये। और सर्वप्रथम लक्ष्मणके पास जाकर हा राम, हा राम, यह शब्द बोले और विक्रियासे ऐसी घटना दिखा दिया कि श्री राम मर गए है और सभी नरनारी विलाप कर रहे हैं, जिससे लक्ष्मणको यह विदित हो जाय कि श्री राम मर गए हैं, तो उस समय श्री रामके मरणकी कल्पना करके ही लक्ष्मणका हार्ट फेल हो गया। गुजर गए लक्ष्मण। अब उस मृतक शरीरको लिए हुए श्री राम कैसे चले, क्या किया, क्या वार्ता की सो सभी लोगोको प्राय विदित ही है। बताना यह है कि ऐसी स्थितिमे भी किसीको अपने चैतन्यस्वरूपका अन्त भान रहे और विकट स्थिति बाहरमे बने तो भी वह अन्त प्रसन्न रहता है। जिस निकट भव्य पुरुषके स्वस्वामित्वकी दृष्टि हुई है अर्थात् ६ पदार्थोंमे गत शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मद्रव्यकी दृष्टि हुई है

उसके भीतर ही जब परिवर्तन हो चुका तो बाहरी कोई दोषोके कारण कुछ प्रवृत्ति भी हो तो उससे भीतरी गुण दोषका सद्भाव या अभावका यथार्थ परिचय नही किया जा सकता है। वह प्रवृत्ति है चारित्र मोहके विपाकवश और यह भीतरका ज्ञानप्रकाश है दर्शन मोहके अनुदय वाला। श्री रामचन्द्रका दृष्टान्त दिया जा रहा था कि लक्ष्मण मृत हो गए, उनके प्राण उड गए, अब लक्ष्मणके उस मृतक शरीरको अपने कधेपर कुछ कम छह माह तक लिए हुए श्री राम फिरते रहे। उस मृतक शरीरसे श्री राम कहते है—क्यो भाई अभी तक सोते ही रहोगे क्या ? अरे आज पूजन करने भी नही चलोगे क्या, अरे कुछ खाना पीना भी नही करोगे क्या ? अरे तुम तो कुछ बोलते भी नही ? तुम्हे इतनी निद्रा कहाँसे आ गई ? अथवा तुम मुझसे रूठ गए हो क्या ? यो श्री राम लक्ष्मणके पीछे कितना विह्वल हो रहे थे। क्यो इतना विह्वल हो रहे थे ? तीव्र स्नेहके कारण। राम और लक्ष्मण दोनोका पारस्परिक स्नेह जगतमे प्रसिद्ध है। इतना अधिक परस्परके स्नेहका अन्य कोई उदाहरण नही दिया जा सकता। लक्ष्मणने श्री रामके स्नेहमे अयोध्या छोडा, माता पिता छोडा, जगलोकी खाक छानी, जीवनभर उनकी सेवकाईमे रहे। किस कारणसे ? बस स्नेहवश। तो ऐसे स्नेही लक्ष्मणके प्रति श्री रामको इतना अधिक विह्वल होना स्वाभाविक ही था, इतनेपर भी अपने चैतन्यस्वरूपका भान होनेसे वे अन्त विह्वल नही रहे। यहाँ तो यदि कोई श्री राम का जैसा विह्वल होना किसीको देख ले तो उसे तो अत्यन्त व्यामुग्ध कहेगे, पर श्री रामके प्रति ऐसी शका नही करना है कि वे व्यामोहवश उतना विह्वल हो रहे थे। वह तो एक महापुरुष थे। महापुरुषोके अन्दर अन्त अज्ञता नही होती, अत उनकी बाह्यक्रियाये तो कुछ और दिखती हैं पर अन्तरङ्ग क्रियाये कुछ विलक्षण हुआ करती है। जैसे यहा पर भी देख लो - कोई राजा जब किसीपर क्रोध करता है तो वह उसे देश निकाला तक भी करवा देता है, पर कोई छोटा पुरुष यदि किसी महापुरुषपर क्रोध करे तो उसे अपने अन्दर एक बडा साहस लाना होगा, बहुत-बहुत समय तक उसे पहिले अपने अन्दर सक्लेश करना होगा तब कही क्रोधवश गाली वगैरह दे सकेगा। तो देखिये—इन दोनो पुरुषोके (महापुरुष और छोटे पुरुषके) क्रोधमे फर्क है। यह बात एक सूक्ष्म विचार करनेसे समझमे आ सकती है। तो श्री राम एक महापुरुष थे, महात्मा थे, बडी पोजीशनके थे, हर बातमे समर्थ थे, तो जिस समय उनका इस ओर (भ्रातृ स्नेहपर) ध्यान गया तो उनकी इतनी बडी क्रिया हो गई। इतनी बडी क्रिया होनेपर भी साधारण जनोकी भाति हम उनमे उस प्रकारकी अज्ञता निरखे तो यह बात ठीक नही मानी जा सकती है। तो जब लक्ष्मणकी मृत्यु हो गयी, रात्रि व्यतीत हो गयी, सवेरा हुआ तो श्री राम कहते है लक्ष्मणके उस मृतक शरीर से कि हे लक्ष्मण, तुम प्रतिदिन पूजन करने जाया करते थे, आज तुम पूजन करने भी नही

जावोगे क्या ? क्या हो गया है तुम्हे ? अरे तुम तो कुछ बोलते भी नही···।

श्रीरामकी अन्तः व अन्तर्बाह्य सावधानी—अब देखिये श्री रामकी मृत लक्ष्मणको कई माह लिये फिरनेसे आगेकी बात— जटायूका जीव और कृतान्तवक्र का जीव, ये दोनो स्वर्गमे देव हुए थे, उनका श्रीराम पर बडा घनिष्ठ स्नेह था। उस स्नेहके ही कारण उन्होने अवधिबलसे जाना कि इस समय श्रीराम बहुत विपत्तियोमे फसे हुए है—अरे ये विपत्तियाँ नही है तो फिर और क्या है ? बाहरी उपयोगमे ये विपत्तियाँ ही तो है। तो वे दोनो देव आये और अनेक प्रकारके विक्रियासे रचे हुए दृश्य दिखाकर श्रीरामका ममत्व छुडानेके लिए प्रयत्न करने लगे। जिस समय श्री राम लक्ष्मणके मृतक शरीरको अपने कधे पर लिए हुए फिर रहे थे, बडे विह्वल हो रहे थे उस समय देवोने प्रथम दृश्य ऐसा दिखाया कि वे देव कोल्हूमे रेत पेल रहे थे। तो श्री रामने उस दृश्यको देखकर कहा, भाई यह क्या कर रहे हो ? अरे इस कोल्हूमे रेत पेलकर तेल निकालेगे ? · अरे मूर्खो, कही बालूसे तेल भी निकला करता है क्या ? अरे तो मृतक शरीर बोल भी सकता है क्या ? इतने पर भी श्री राम पर कुछ असर न पडा। देवोने दूसरा दृश्य यह दिखाया कि पहाडोपर कमल उगा रहे थे। श्रीरामने पूछा— भाई यह क्या कर रहे हो ? अरे इस पहाड पर कमल उगा रहे है ? अरे मूर्खो, कही पहाडपर कमल भी उगा करते है क्या ? कमल तो तालाबोमे उगा करते है। अरे तो कही मृतक शरीर खाने, पीने, आदिकी कुछ क्रियाये भी कर सकता है क्या ? इतने पर भी श्रीराम पर कुछ असर न था। देवोने तीसरा दृश्य ऐसा दिखाया कि मरे हुए बैलोको गाडीमे जोत रहे थे। उसे देखकर श्रीराम बोले— भाई यह क्या कर रहे हो ? अरे इन बैलोको गाडीमे जोत रहे है। · अरे कही मुर्दा बैल भी गाडीमे जोते जा सकते है क्या ? अरे तो कही यह मुर्दा शरीर चल फिर भी सकेगा क्या ? अब तो श्री रामको कुछ होश हुआ। देवोने चतुर्थ दृश्य और भी दिखाया। सूखे पेडोको सीच रहे थे। श्री राम उस दृश्यको देखकर बोले—भाई यह क्या कर रहे हो ? · अरे इन सूखे वृक्षो को सीचकर हरा बनायेंगे। अरे कही सूखा हुआ वृक्ष जीवित भी हो सकता है क्या ? अरे कही मरा हुआ व्यक्ति जीवित भी हो सकेगा क्या ? लो अब तो श्रीरामके ज्ञाननेत्र खुल गए, समस्त आग्रह भाव हृदयसे निकल गया। *अब देखिये—ऐसी विह्वल दशामे भी वह श्रीराम क्या अपनी मूर्खता को समझ नही रहे होगे ?* समझ रहे थे, लेकिन उनका वह एक कर्मविपाकका ऐसा विचित्र वेग था कि उस घनिष्ठ स्नेहके कारण वे उस मुर्देको छोड नही रहे थे। अच्छा बताइये— जब देव लोग अनेक प्रकारके दृश्य दिखाकर उन्हे सावधान बना रहे थे तो क्या उन दृश्योके समयमे देवो द्वारा प्रत्युत्तर दिया जाने पर वे श्रीराम समझ नही रहे होगे कि यह लक्ष्मण मर चुका

है ? अरे समझ रहे थे, सारी बातोंका उन्हे भान था, लेकिन उनके ऊपर एक कर्मविपाक का इतना तेज प्रहार था कि वे उस मृतक शरीरको एक क्षणके लिए भी छोड नही पा रहे थे ।

स्वस्वामित्व दृष्टिका प्रकाश और उसका विजय—इस प्रसंगमे इस बातपर भी दृष्टि डालनी है कि बताया गया है कि अप्रत्याख्यानावरण कषायका संस्कार ६ माह तक रहता है । देखो वह संस्कार श्रीरामका भी छह माहसे अधिक न टिक सका । फिर भी वह तो एक बडे पुरुषकी बात थी । तो उसमे भी देखो लक्ष्मणका वह देह छह माह तक भी खराब न हुआ था यह भी एक बडे पुरुषो जैसी ही बात थी । यही कारण है कि उनका वह स्नेह विपाक जो चल रहा था, पर वह छह माहसे अधिक तक न टिका । तो बात यहाँ यह कह रहे है कि ऐसी ऐसी विचित्र घटनाओमे भी अन्तरङ्गमे यह भान बना रहता है कि मेरा स्वामित्व तो मेरे सहज भावपर है, पर विपाककी विचित्रता देखिये कि इतना भान होने पर भी उपयोग अगर बाहर निकल गया है तो वह ६ माह तक यो ही भटकता रहता है । स्वस्वामी सम्बन्धशक्तिमे यह बताया जा रहा है कि आत्माका सम्बन्ध तो एक इस निज सहज स्वभावमे ही है, दूसरे पर इसका स्वामित्व नही है । ऐसी-ऐसी बाते, मुनिराजोकी घटनायें पुराणोमे पढते ही हैं, वहाँ शरीरपर आने वाले उपसर्गोपर, शरीरपर होने वाली परिणतिको नही देखना है । वे मुनिराज तो उन उपसर्गोके समयमे भी आत्मध्यानमे ही रत रहे । शरीर तकका भी उन्हे कुछ भान न था । उन्हे इतना तक भी पता न था कि मेरे ऊपर कोई उपसर्ग ढाया गया है । अरे वे आत्मध्यानमे इतना लीन हो गए कि उन्हे खुदके ही शरीरपर होने वाले उपसर्गोका भाग न था । वे तो एक ऐसा भान कर रहे थे कि मेरा तो मात्र यह सहजभाव, सहजस्वभाव, ज्ञानदर्शन चारित्ररूप परिणमन, यही मेरा स्व है । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नही है । अब यह निर्णय हुआ कि यह मै आत्मा सहज स्वरूपका स्वामी हू और उस सहजस्वरूपके ही आश्रयसे किसी भी परद्रव्य कर्मादिक किसीके भी आश्रय निमित्त बिना स्वय अपने आपमे जो परिणमन होता है उसका भी परमार्थत मैं स्वामी हूँ ।

ज्ञेय परद्रव्यके ज्ञायकका परद्रव्यमें अस्वामित्व व एक ही ज्ञायकमें स्वस्वाम्यंशकी कल्पना—अब इस विषयको सुनकर कोई जिज्ञासु ऐसी आशका कर सकता है कि परद्रव्यके साथ इतना तो सम्बन्ध है ही कि देखो यह परद्रव्यका जाननहार है । यह तो समस्त बाह्य पदार्थोंका जानने वाला है । क्या यह सम्बन्ध भी मिट सकता है ? यह सम्बन्ध तो रहेगा ही । तो उस सम्बन्धमे भी अब कुछ विचार करियेगा । शंकाकारका यह भाव है कि घटको जानने वाला तो घटका है । यह जानने वाला ज्ञायक घटका है । तो ज्ञायक घटका है, यह

सम्बन्ध तो नही मिटाया जा सकता है। इस सम्बन्धमे कुछ विचार करने पर यह विदित होगा कि पदार्थ तो देखो---द्रव्य वहाँ दो है--एक तो यह ज्ञेय पदार्थ, परद्रव्य और एक यह ज्ञायक आत्मा। ये दो द्रव्य हैं। तो यहाँ परिणमनको तो निरखिये जो ज्ञेय परद्रव्य है वह अपने रूपसे परिणम रहा है या इस ज्ञायक आत्माके रूपसे ? अपने ही रूपसे परिणम रहा है और यह ज्ञायक आत्मा यह परद्रव्यके रूपमे परिणम रहा है या अपने रूपसे ही परिणम रहा है ? आत्मा अपनी पर्यायोमे ही तन्मय है, परद्रव्य अपने ही पर्यायोमे (परिणमनोमे) तन्मय है। वहाँ कोई अन्तर नही है। कोई एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यका कभी बन जाय यह हो नही सकता। हाँ इतनी बात अवश्य है कि व्यवहारसे यह इसका जानने वाला है, यह कहना सत्य है, अर्थात् इतनी बात तो सच है कि उस परद्रव्यके विषयमे इस आत्माको जानकारी हुई, लेकिन यह बात सत्य नही है कि यह आत्मा परद्रव्योमे तन्मय हो गया, यह ज्ञायक यह जाननहार उस ज्ञेय पदार्थमे तन्मय हो गया। वह ज्ञायक तो अपने स्वरूपसे परिणम रहा है तब इसका उत्तर ही क्या होगा कि यह ज्ञायक किसका है ? यह जाननहार आत्मा किसका है ? तो इसका उत्तर यह होगा कि यह जाननहार आत्मा परद्रव्यका है, यह ज्ञेयका नही। अरे ज्ञेयका नही ज्ञायक तो फिर यह ज्ञायक किसका ज्ञायक है ? ज्ञायकका ज्ञायक है, यह समझदार समझदारका है, समझे हुए पदार्थका यह समझने वाला कुछ नही लगता। यह तो एक अटपटीसी बात लग रही होगी कि यह क्या कहा जा रहा है ? आत्माका ही है, यह ज्ञायक ज्ञायकका ही है, यह जानने वाला जानने वालेका ही है, अरे इनमे सम्बध क्या निकला ? कहते हैं कि कुछ नही। पर यो कहा जाता है समझने वालेने, निरूपण करने वालेने अपनी बुद्धिमे दो अश प्रकल्पित कर लिया--(१) स्व अश, (२) स्वामी अश। जो ज्ञानमे अशद्वय प्रकल्पित किया गया है वह अन्य है, अन्य कुछ नही, वह तो एक ही है, इस कारण भी कह सकते है कि यह ज्ञायक किसीका नही है यह तो यह ही है, तब ही तो परमार्थसे सम्बध नही है, क्योकि स्वमे सम्बन्ध बताया गया और परके साथ सम्बन्ध है ही नही। तब सम्बन्ध नामकी कुछ भी बात न रही। यह आत्मा स्वय स्वतत्र सद्भूत है और सम्बन्ध अगर निरखना है तो स्व-स्वामी अशरूप कल्पना करके ही वहाँ स्वस्वामित्वका सम्बन्ध देखा जाता है। यहाँ यह बात कही जा रही है कि यह ज्ञायक परद्रव्यका नही है लेकिन कुछ दार्शनिक तो यहाँ भी तथ्यको भुला बैठते हैं। और मानते है कि यह ज्ञान ज्ञेयका है, यह ज्ञायक परद्रव्यका है जैसा कि सर्वाद्वैतवादमे ऐसा कहा गया है कि सर्व ब्रह्मस्वरूप है। यह ब्रह्म, यह ज्ञान, यह चित् सर्व कुछ है तो सर्व कुछ मान लिया। ज्ञायकको परद्रव्यमे तन्मय मान लिया, परद्रव्यमय, कैसा ? कि दूसरा कुछ नही। सब कुछ एक ब्रह्म है। तो इसका अर्थ है कि जितने भी परद्रव्य हैं इन सबमे भी वह तन्मय है,

लेकिन परद्रव्यके साथ इस ज्ञायक आत्माकी तन्मयता तो नही है। तो यह ज्ञायक ज्ञायक ही है, इसमे कुछ सम्बन्धकी बात नही कही जा सकती है।

दृश्य परद्रव्यके दर्शकका परद्रव्यमें अस्वामित्व व एक ही दर्शकमें स्वस्वाम्यंशकी कल्पना—ज्ञायकत्वकी तरह आत्माके जितने सहज भाव होते हैं, जो भी सहज परिणमन होते हैं, सहज दर्शन, चारित्र, श्रद्धान आदिक इन सभी परिणमनोमे यही बात पहिले पायेंगे जैसा कि यह आत्मा जाननदेखनहार है इन समस्त द्रव्योको। दर्शन कहते उसे हैं कि जो समस्त भावोका सामान्य प्रतिभास करे। तो इसने सर्वभावोंका सामान्य प्रतिभास किया ना तो यह प्रतिभासक, यह दर्शक सर्व इन बाह्यभावोका है, ऐसा कोई जिज्ञासु सोच सकता है, लेकिन तत्त्व यह है कि यह दर्शक परद्रव्योका कुछ नही है, क्योकि परद्रव्य अपने रूपसे परिणम रहे है और यह दर्शक, आत्मा अपने रूपसे परिणम रहा है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यरूप नही परिणम सकता, यह बात भलीभांति बता दी गई है तब कैसे कहा जा सकता है कि यह दर्शन परद्रव्यका है? दर्शक परद्रव्यका नही है, यदि यह परद्रव्यका हो जाय तो यह नियम है कि जो जिसका होता है वह उस रूप हो जाता है, तन्मय हो जाता है। यदि यह ज्ञान या ज्ञायक इस परद्रव्यका है तो यह परद्रव्य हो जायगा। यह दर्शक या दर्शन यदि परद्रव्यका है तो परद्रव्यमय हो जायगा, तब तो इस आत्माका अभाव हो बैठेगा। किन्तु ऐसा नही है, तब फिर यह अर्थ निकला कि यह दर्शन इन पुद्गल आदिकका नही है। यदि नही है तो फिर यह दर्शक किसका है? जब यह आत्मा जाननहार इन पुद्गल आदिकका नही है तो किसका है? यह दर्शक तो दर्शकका ही है। यह आत्मा तो आत्माका ही है। तो वह दूसरा आत्मा कौन? जिसका कि यह दर्शक हो। वह दूसरा दर्शक कौन? जो इस दशकका हो। तो दूसरा दर्शक कुछ नही है, किन्तु कल्पनामे ही स्वस्वामी अंश बनाया गया है कि यह है स्व और यह है स्वामी। इसका तो यही है। जैसे कोई किसीके प्रति कहता है कि इसका तो यही है तो "इसका" इस शब्दके द्वारा जो प्रतिपाद्य हुआ वह भी यही है। लेकिन पहिले वालेमें तो "स्व" अंश आया और दूसरा 'यही' वालेमे "स्वामी" अश आया। तो केवल अंशसे अन्यता है पदार्थसे नही। यह आत्मा अपनी पर्यायरूपसे परिणम रहा है, और ये पुद्गलादिक द्रव्य अपनी पर्यायरूपसे परिणम रहे है। इस आत्माके ये पुद्गलादिक द्रव्य कुछ भी नही लगते।

दृष्टान्त द्वारा सभीका अन्य सभीके साथ सम्बन्धके प्रतिषेधका निर्देश—जैसे एक लौकिक दृष्टान्त लीजिए। यह सामने भीत खडी है, यह सफेद है तो बताओ इसकी यह सफेदी किसकी है? तो लोग प्राय यही कह उठेगे कि यह सफेदी इस भीतकी है, लेकिन क्या वास्तवमे उनका यह उत्तर सही है? सही नही है। अरे यह सफेदी तो कलईकी है,

खडियाकी है। जो कलई एक ढेरके रूपमे बोरेमे भरी थी वह पानीका सयोग पाकर इतने पतले रूपमे फैल गई है और जो पतले रूपमे फैली हुई कलई व्यापी है उसको ही कूंचीके द्वारा भीतपर फैला दिया गया है। तो वह सफेदी किसकी है ? क्या जो पहिले भीत थी उसकी है—या जो यह कलई पोती गई है उसकी है ? तो यह सफेदी है तो कलईकी, लेकिन लोग कहते है कि भीतकी है, अथवा यह सफेद करने वाली कलई भीतकी है क्योकि वह भीत आश्रय है। कोई तत्त्व तो है—कोई व्यवहारकी बात तो है। जैसे कि जिस तरह भीतके ऊपर यह कलई विस्तृत हो रही है, ऐसी विस्तृत नही। वाल्टीमे ही पानीमे भिगोई हुई थी, वहाँ नही थी, कही आकाशमे विस्तृत न थी, वह कलई वहाँ उस वाल्टीमे ही है, इतनी तो एक व्यावहारिक बात है, मगर परमार्थत वह सफेदी भीतकी नही है वह तो सफेदी की ही है। कलईका दूसरा नाम सफेदी भी है। तो यहा कोई पूछे कि यह सफेदी सफेदी की ही है तो वह दूसरी सफेदी कौन है जिसका यह बन जाय ? दूसरी कोई नही है तब फिर ऐसा बोलनेका अर्थ क्या हुआ ? अर्थ तो कुछ नही हुआ। वह सफेदी ही बोरामे इस तरहकी है, भीतमे इस तरहकी है। वहाँ यह बात कहना कि यह सफेदी सफेदीकी है कोई अर्थ नही रखता, लेकिन समझनेके लिए यहा स्वस्वामी अशकी कल्पना की गई है। वस्तुत भीतकी वह सफेदी नही है। द्रव्य सभी अलग-अलग है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही बन जाया करता है।

परद्रव्यके अपोहकका परद्रव्यमें अस्वामित्व व एक ही अपोहकका अपोहकमें ही स्व-स्वाम्यंशकी कल्पना—ऐसी ही बात चारित्रके सम्बन्धमे सुनो—चारित्रपालन अर्थात् पर-भावका त्याग करना, चारित्रका यही तो अर्थ हुआ। परद्रव्यका त्याग कर दिया, परभाव का त्याग कर दे, रागादिक भावोका त्याग कर दे यही तो हुआ ज्ञातारूपसे रह गया। अब निरखियेगा कि परद्रव्यका त्यागने वाला यह आत्मा यही है अपोहक, क्या यही है परद्रव्य का त्यागी ? कहते है ना, कि मैं घरका त्यागी हू, मैं रागका त्यागी हू, मैं राज्यका त्यागी हू, मैं हरीका त्यागी हू, आदि। जैसे आजकल लोग कह देते हैं ना कि आज मेरा इतनी इतनी हरीका त्याग है, तो यह मैं हरीका त्यागी कुछ बन तो गया ? क्या ऐसा कुछ सम्बन्ध हो गया ? जैसे लोग कहते है ना कि यह मेरा शत्रु है ? वाह ! इसे शत्रुसे भी देखो, प्रेम जग गया जो बडे प्रेमसे बोलता है कि यह शत्रु तो मेरा है, अरे वहाँ प्रीति कहाँ उस शत्रु से, उसका यह ममताका प्रयोग तो किसी विचित्र ही ढगका है। ऐसे ही यह भी समझिये कि यह मैं परद्रव्योका अपोहक हू, यह आत्मा परद्रव्यका त्यागी है, तो यह त्यागी आत्मा यह परद्रव्यका कुछ है क्या ? अरे परद्रव्य तो अपने रूपसे परिणम रहे हैं, और यह त्याग करने वाला यह अपने ज्ञातारूपसे परिणम रहा है। त्याग क्या है ? ज्ञान ज्ञानरूप रहे यही

तो त्याग है, यह अपोहनस्वभावी है। ज्ञानदर्शनसे परिपूर्ण रहा, भरा रहा, पर मैं ज्ञान-दर्शन रूप ही परिणमू, इसीके मायने है समस्त परका त्याग कर दिया गया। जैसे हरीका त्याग किया, कितनी हरीका त्याग किया ? तो कोई बता सकता है क्या ? आपके कितनी हरीका त्याग है ? तो कोई नही कह सकता, क्योकि हरी तो लाखो प्रकारकी है। तब लोग क्या करते कि १०-५ हरी रख लेते है और फिर अपना सकल्प बनाते कि इनके अतिरिक्त हमारा समस्त हरीका त्याग है। तो इस ढगसे त्याग हुआ ना, तो क्या त्याग हुआ ? कुछ हरीका ज्ञान रखकर बाकी समस्त शेषका त्याग। तो वह त्याग क्या हुआ ? एक ज्ञानरूप ही तो पडा, उन ५-७ हरीका ज्ञान रखता हुआ, इसके अतिरिक्त अन्यका त्याग है तो वह ज्ञान-मय त्याग आया और कोई सबका त्याग कर दे तो फिर यहाँ क्या त्याग है ? वह तो ज्ञान-मात्रसे रह रहा है। वह तो त्याग है अथवा ज्ञानी ज्ञानमात्र रहे यही समस्त परद्रव्योका अपो-हक कहलाता है, तो ऐसा यह त्यागी (अपोहक) आत्मा बताओ क्या वह परद्रव्योका अपोहक है ? अरे परद्रव्य तो अपने रूपसे परिणम रहा है और यह ज्ञानी ज्ञाता अपने रूपसे परिणम रहा है। मेरे ये कुछ नही है, मगर फिर भी लोग कहते तो है कि मैं इनका त्यागी हू, मैं इनका अपोहक हूँ। तो कहते है कि ठीक है, व्यवहारमे यह बात सत्य है, पर निश्चयत वह परद्रव्यमे तन्मय नही होता। अत त्यागका विषयभूत जो परद्रव्य है उसका यह त्यागी नही हुआ। तब निश्चयत वह उस परद्रव्यका अपोहक न रहा, किन्तु अपना ही रहा। तो फिर मेरा यहाँ दूसरा कौन ? मेरा मैं ही। केवल एक अश कल्पना की है। वस्तुत आत्मा आत्मा ही है।

स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिके अन्तः परिचयमें स्वस्वाम्यंश कल्पनाके अनवकाशका संकेत—अब आप उक्त विवरणके अनुसार देखें कि परमार्थत स्वस्वामित्वकी बात भी अनु-पचरित न ठहरी। यह मैं आत्मा अपने स्वभावका स्वामी हू। तो क्या यह स्वभाव अलग चीज है और क्या यह आत्मा अलग चीज है ? अरे तन्मय ही तो है, वही तो है। उस एक मे ही स्वस्वामीकी बातका अर्थ क्या बनता है ? तो जब मेरे अपने ही इस परमार्थभूत सहज भावका स्वस्वामित्व नही है तो इन बाहरी परद्रव्योके साथ स्वामित्वकी कल्पना करना तो प्रत्यक्ष मूढता है। कोई भी पदार्थ हो वह अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल भावसे सत् है, परिपूर्ण है। उसका अपनेसे बाहर कुछ नही है, इस नियमके कारण, वस्तुके इस वस्तुत्वके कारण किसी भी वस्तुका पर कुछ नही है और एक ही वस्तुमे सम्बन्ध बताया क्या जाय ? इस कारण खुदका खुदमे सम्बन्धका उपचार भी नही है। स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिका यह भी संकेत मानना चाहिये कि अभेदानुपचारमे स्वके साथ स्व और स्वामित्वकी बात सोचना भी मात्र अंशकल्पना है, परमार्थत वहाँ द्वैत न होनेसे सम्बन्ध की चर्चा हो सकती है। सभी पदार्थ अबद्ध व स्वत परिपूर्ण ही है।

अभेदानुपचारमें स्वस्वामित्व सम्बन्धका भी अदर्शन—स्वस्वामित्व सम्बन्ध शक्तिमे इस समय यह निर्देश चल रहा है, इस शक्तिका दृढ परिचय यह बतला रहा है कि स्वमे स्वामित्व क्या ? और परसे स्वामित्व है ही नही, अतएव द्वैत बुद्धि करके यह स्व है, यह इसका स्वामित्व है ऐसी बुद्धि केवल अभेदोपचारकी है। अर्थात् यद्यपि स्वस्वामीपना अभेद रूपमे है ? लेकिन स्वस्वाम्यश कल्पना हो जानेसे इसका उपचार बनता है, इसलिए अभेदोपचाररूप स्वस्वामित्व सम्बन्धको अभेदानुपचार किया करते है योगी जन तो वहा स्वस्वामित्व का भी भेद नही रहता है। इसीके प्रकरणमे दर्शक, ज्ञायक और अपोहकका सम्बन्ध लेकर वर्णन किया था, अब जरा सम्यग्दर्शीका सम्बन्ध लेकर भी तो सम्बन्ध निरखिये। यह आत्मा जीवादि ९ पदार्थोंका श्रद्धान करने वाला है अर्थात् उन सबका यह सम्यग्दर्शी है तो कोई जिज्ञासु ऐसी जिज्ञासा रखे कि यह तो सम्बन्ब मानना ही चाहिये। है ना यह जीव इन ९ पदार्थोंका श्रद्धान करने वाला ? तो उस सम्बन्धमे भी बात यह है कि ये पुण्य, पाप आदिक ९ पदार्थ जिस पर्यायरूपसे है वे उन पर्यायोरूपसे ही हैं, अथवा ये समस्त परपदार्थ जिनका यथार्थ रूपसे श्रद्धान किया जा रहा है वे भी सब स्वयं स्वयंमे अपने यथार्थरूपसे परिणाम रहे है। और यह श्रद्धान करने वाला आत्मा अपने आपके परिणमनसे परिणाम रहा है, फिर यह सम्यग्दर्शी आत्मा उन पदार्थोंका कैसे कहलायेगा ? उनमे स्वस्वामी सम्बन्ध क्या है ? कुछ भी नही है। तो परमार्थ दृष्टिसे यह आत्मा इतना भी सम्बन्ध नही रख रहा है कि यह सम्यग्दर्शी सम्यग्दृश्य परका कहलाये। यह ज्ञायक परका बन जाय, त्यागी परका बन जाय और, यह श्रद्धान करने वाला परका बन जाय। पर पर ही है और यह आत्मा आत्मा ही है।

निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी दृशि ज्ञप्ति आदिका परमें अत्यन्ताभाव—उक्त बात परमार्थदृष्टिसे समझ लेनेके पश्चात् अब जरा यह परखिये कि यह व्यवहार क्यो बना ? यहा कुछ तत्त्व न हो, कुछ आधार न हो, तथ्य न हो तो यह व्यवहार बन कैसे जायेगा ? अटपट किसी अन्य बातमे क्यो व्यवहार नही बन जाता ? तो अब जरा व्यवहार दृष्टिसे भी परखिये तो वहा भी यह मालूम पडेगा कि आत्माका परद्रव्यके साथ सम्बन्ध नही है। जैसे दृष्टान्तमे पहिले समझाया गया। दृष्टान्त यह दिया गया था कि खडिया भीतको सफेद करने वाली है, वह खडिया भीतकी नही है, तो यहा द्रव्य द्रव्यके मुकाबलेमे निषेध किया गया था कि खडिया भीतकी नही है, लेकिन कोई यह कहे कि खडिया भीतको सफेद कर रही है, तो अब जरा क्रियाकी ओरसे समझिये। खडिया ने सफेद किया तो किसको सफेद किया ? खडियाने खडियाको ही सफेद किया। वह कलई जो पहिले ढेले रूप मे थी वह पानीका सम्बन्ध पाकर, भीतका आधार पाकर फैल गई। और वह इतने पतले

रूपमे फैल गई कि वहा इतना बड़ा विस्तार मालूम दे रहा है। एक छटाक कलई कितनी जगहमे पडी हुई है और वही कलई पानीका सम्बन्ध पाकर भीतका आधार पाकर कोई ८-१० वर्ग गजमें फैल गई। तो भीत अपने ही रूपसे अब भी परिणाम रही है और यह कलई अपने रूपसे अब भी परिणाम रही है। अगर भीतका निमित्त पाकर कलई इस रूपसे विस्तृत हुई है और इस कलईने भी अपने आपका जो यह रूप बनाया है और भीत ने भी अपना जो रूप था वह आवृत करके जो एक सफेदी रूपको व्यक्त किया है, इसमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध तो है, किन्तु परिणमन और स्वामित्वको देखा जाय तो भीतका स्वामित्व, भीतका परिणमन भीतमे है और कलईका कलईमे है। इसी तरह इन सब बातो को निरख लीजिए। आत्मा जान रहा है इन ६ पदार्थोंको, इन बाह्य पदार्थोंको जान रहा है तो व्यवहारसे तो यह बात ठीक है अर्थात् हमारे ज्ञानमे ये बाह्य पदार्थ विषयभूत हो रहे है, जाने जा रहे हैं, समझ बन रही है, लेकिन भीत आदिकमे तन्मय होकर नही जान रहे है। हो क्या रहा है कि उस भीत आदिक को विषयभूत करके यह आत्मा अपने ज्ञान परिणमनको ज्ञानपरिणनसे जान रहा है। इसका जाननेका स्वभाव है। इसलिए यह जान रहा है। इसमे दूसरेके सम्बन्धकी एक बात आयी। इसी प्रकार देखनेके और त्यागनेके सम्बन्धमे और श्रद्धानके सम्बन्धमे भी जानना चाहिये। यह आत्मा अपने ही स्वभावसे श्रद्धानरूप परिणाम रहा है। यह भी तो आत्मामे स्वभाव है कि वह परद्रव्योसे भिन्नरूप ही रहा करे; अबन्धन, अपोहन रूपसे ही र ा करे तो यह सब कुछ जो हो रहा है निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धमे, सो वहा भी प्रत्येक पदार्थ स्वतत्र है, परिपूर्ण है और अपने ही अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपमे रह रहा है। तब परके साथ आत्माका स्वामित्व कुछ न रहा।

विकार और ज्ञानी संधिपर प्रज्ञा छेनीका निपातन—आत्मा एक है, एक ही मे स्व-स्वामी अंश करके उसी स्वके स्वामित्वकी बात कह रहे हैं। सो सम्बन्धशक्ति यह बतला रही है कि हे आत्मन्! तेरा तो तेरे सहज स्वभावके साथ ही स्वामित्व है, अन्य किसीके साथ नही है। इस कारण तू जिस गतिसे बह रहा है रुक, ठहर, इन इन्द्रियके ज्ञानोको प्रोत्साहन मत दे, इनके विश्वासमे मत चल, इस इन्द्रियज ज्ञानके आधारपर होने वाले विकल्पका आग्रह मत कर। तू इनसे निराला एक ज्ञायकस्वभावमात्र अपनेको अनुभव तो कर, ऐसा बोध इस सम्बन्धशक्तिके परिचयसे प्राप्त होता है। अब यहाँ यह भी गुंजाइस नही है कि कोई औदायिक तत्त्व मेरा स्व हो जाय व क्षायोपशमिक भाव मेरा स्व हो जाय। जब मुझ आत्माका इस विकल्पके साथ सम्बन्ध नही है, ज्ञानमे उठने वाले इन अर्थ विकल्पो के साथ भी जब मै अपना स्वामित्व नही समझ पा रहा हूँ तो रागादिक विकारोका स्वामित्व तो मेरा होगा ही क्या? यह विशिष्ट भेदज्ञानकी बात कही जा रही है। जिस जीवने

राग और ज्ञानभाव इनकी सन्धिमे प्रज्ञाकी छेनी मार दी है और इस प्रयोगके प्रतापसे जो रागसे निराला केवल सहज ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभवने लगा है ऐसा पुरुष निकट भव्य है और अल्पकालमे ही वह निर्वाणको प्राप्त होने वाला है । क्या किया इसने ? रागादिक विकार और ज्ञानभाव इन दोनोकी जो सधि हो रही थी, मिलन हो रहा था, (सधि कहते है अनन्तर अव्यवहित सम्बधको) जहाँ इसपर प्रयोग किया गया और रागादिक भावो से विविक्त आत्मतत्त्व परखा गया तो वह कृतार्थ हो गया । अब उसको जगतमे करनेको कुछ काम बुद्धिमे न आनेके कारण वह अनाकुल हो गया है । क्या किया इस ज्ञानी जीव ने ? अपनेको परखा ।

ज्ञायकस्वभाव आत्माके साथ द्रव्यकर्म व विभावका भाव्यभावक सम्बन्ध न होनेसे कर्म व विकारोंसे इस आत्मद्रव्यकी विविक्तता—यह ज्ञानस्वभाव यह सहज ज्ञानस्वभाव रागादिकसे निराला है, क्योकि इन रागादिक भावोके द्वारा यह ज्ञानस्वभाव रजित नही किया जा सकता । ओह ! इस भूमिकामे यद्यपि यह सब रागपरिणमन चल रहा है और इस राग परिणमनके कालमे यह ज्ञानस्वभाव भी अपना मस्तक नही उठा पा रहा है, व्यक्त नही हो पा रहा है, इतने पर भी जो आत्माका सहज ज्ञानस्वभाव है वह, कितने ही तीव्र रागादिक हो फिर भी उनके द्वारा यह ज्ञानस्वभाव रजित नही किया जा सकता है । यदि ज्ञानस्वभाव ही रजित हो जाय तब तो ये रागादिक ही स्वभाव बन जायेंगे । फिर तो कभी उद्धार नही हो सकता, अथवा इसका स्वरूप ही न रह सकेगा । देखिये—ज्ञान चाहे रजित हो जाय, पर ज्ञानस्वभाव रजित न होगा । मैं तो ज्ञानस्वभावरूप हूँ, टकोत्कीर्णवत् निश्चल यह ज्ञानस्वभाव, मैं, सो इन रागादिक भावोके द्वारा ज्ञायकस्वभाव मुझको रजित किया जाना अशक्य है । तब यह राग भावक नही हो सकता और यह मैं ज्ञानस्वभाव भाव्य न बन सका । यह तो हुई रागके साथ मेरी नातेदारीकी बात । नातेदारी कहते है ते ना इति दारी, याने तेरा कुछ नही है ऐसा सबध । कहते हैं ना, कि हमारी तो इनसे नाते दारी है अर्थात् मेरे ये कुछ नही है, इस प्रकारकी बात इनके साथ है । देखो लोग मुखसे तो यह कह रहे है और भीतरमे विश्वास यह बनाये हुए है कि ये मेरे खास सम्बन्धी है, ये ही मेरे सब कुछ हैं । तो यह तो रागके साथ ज्ञायकस्वभाव मुझ आत्माकी नातीदारी हुई, असम्बन्ध रहा । अब परखें द्रव्यकर्मके साथ तो यह द्रव्य कर्मके द्वारा यदि भाव्य हो सकता है तो राग परिणाम हो जायेगा, पर द्रव्यकर्मके द्वारा यह ज्ञायकस्वभाव "मैं" भाव्य नही हो सकता । तो राग मेरा क्या और रागका कारणभूत द्रव्यकर्म मेरा क्या है ? तब मैं सर्व ओरसे ज्ञानभावसे निर्भर केवल चैतन्यमात्र ही अपने आपको अनुभवूं, मेरा परद्रव्य कुछ नही, द्रव्य कर्म कुछ नही, रागादिक कुछ नही । मैं तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ ।

ध्रुव तत्त्वमें स्वस्वामित्व सम्बन्धका समीक्षण—इस समय एक यह भी मोटी बात समझना चाहिये कि प्रत्येक पुरुष अपने आपको ध्रुव रखना चाहता है। जैसे किसीसे कहा जाय कि देखो हम तुमको दो दिनके लिए राजा बना रहे हैं, और दो दिन बादमे तुम्हारा सर्वस्व छीनकर तुम्हे किसी बीहड जंगलमे पटक दिया जायगा, तो क्या कोई इस तरहका राजा बनना स्वीकार कर सकता है ? नही स्वीकार करेगा। वह तो यही चाहेगा कि जैसी मेरी सदा स्थिति रह सके वैसी चाहिए। तो जीवमे ऐसी प्रकृति पडी है कि अपनेको वह चाहता है कि मैं ध्रुव रहू। तो यह प्रकृति इस बातको सिद्ध करती है कि मैं वह हूं जो कि ध्रुव हो सकता हूँ, जो अध्रुव है वह मै नही हू। तो वह ध्रुव मैं क्या हू ? बस यही ज्ञायक स्वभाव, चैतन्यघन। तब ठीक है, उसका सही दृढ निर्णय है कि मैं तो यही ज्ञायक स्वभाव हूं, मैं तो यही चिद्घन हू, अन्य और कुछ नही हू, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष अपने आपमे अपने आपको पाता है और रागादिक विकारोसे विविक्त ज्ञानमात्र तत्त्वकी ओर झुकता है। तो देखो—इसके तो रागादिक विकार भी कुछ नही रहे। तब फिर परपदार्थकी बात क्या कहना है ? ये तो ज्ञेयरूप हो रहे है। चोट किसकी पहुच रही है ? रागादिक विकारोके साथ जो कि ज्ञेयभूत पदार्थ है ये तो ज्ञेय है, इनसे चोट नही पहुंचती, पर इन ज्ञेयोके जाननेके साथ जो रागविकार मिश्रित है, उससे चोट पहुच रही है। ज्ञेय तो ज्ञेय है। यह ज्ञेयविकल्प भी मेरा नही है, और यह ज्ञेयपदार्थ भी मेरा नही है। न तो धर्म अधर्म आदिक पदार्थ मेरे है और धर्मादिक पदार्थोके सम्बन्धमे जो विकल्प हुए है और उनके साथ जो रागद्वेषादिकके विकल्प बने है वे भी मेरे नही है, न वे अर्थविकल्प मेरे ध्रुव तत्त्व है, न ज्ञेय और न रागविकल्प मेरे ध्रुव तत्त्व है। मैं तो वह हू जो कि ध्रुव हू। तो यो मैं ज्ञेयोमे से निराला और इन रागादिकसे निराला एक ज्ञायक स्वभावमात्र हू।

उपलभ्यमान परिणमनकी भी उपलब्धि न करके अन्तः सतत प्रकाशमान चित्तत्त्वकी उपलब्धिके पौरुषकी श्रेयस्करता—देखो जब आपत्तियोसे छुटकारा पाना है तो उन आपत्तियो के पल्लेके अन्त प्रवेश करके देखो कि आपत्तियाँ मै नही। ये आपत्तियाँ तो मेरेसे बाहर-बाहर ही लोट रही है, सो अन्त प्रवेश करके ऐसे निरापद स्वभावका ध्यान करना चाहिये। तो वही उपदेश यहाँ बताया जा रहा है। यह ज्ञानी जीव यो उस ज्ञायकस्वभावको अनुभवता है। जो ६ पदार्थोमे पहुचकर भी अपने सहज एकत्वका त्याग नही करता है। कोई भी आत्मा क्या इन ६ पदार्थोसे निराला कभी किसी अवस्थामे हो सकेगा क्या ? या तो ससारी होगा या मुक्त होगा या सम्वर वाला होगा या निर्जरा वाला होगा या आश्रव वाला होगा या बहिरात्मा होगा, स्वसमय होगा, परसमय होगा आदि यही तो कुछ होगा। अरे क्या आत्मा कभी निष्पर्याय बन सकेगा ? नही बनता है, लेकिन मोक्षमार्गमे बढनेका

उपाय ही यह है कि उस पर्यायकी उपेक्षा करके पर्यायोमे गत जो वह एक सहज एकत्व ज्ञानभाव है उस ज्ञानभावकी दृष्टि करे तो यह मुक्तिका मार्ग निर्बाध चलेगा। यही तत्त्व तो कुछ अन्य अद्वैतवादियोने अपनाया है, तो उनका अपराध कोई अधिक न था। वे बडी भक्ति से और ऐसी स्थितिमे ही अपने चित्तको ले जाना चाह रहे थे जहाँ शान्तिका अनुभव हो, लेकिन वह दार्शनिक इस भावमे तो न रहा, और व्यवहारमे आकर भी उस एकत्वका एकान्त कर बैठा, अतएव यह मानकर भी कि ब्रह्म स्वरूप एक है, अद्वैत है, वही एक मात्र सार है, उस तत्त्वको नही पा सके है। और, यहाँ स्याद्वादी जन अनेकान्त धर्मको स्वीकार करने वाले ये ज्ञानी पुरुष उस ही ब्रह्मस्वरूपको, उस ही अपरिणामी तत्त्वको ये साध लेते हैं। भला बतलाओ कि ब्रह्माद्वैतवादमे भी इस ब्रह्मको अपरिणामी कहा है और यह ज्ञानी भी इस ज्ञायकस्वभावको अपरिणामी रूपमे निरख रहा है, तो अन्तर क्या आया? अन्तर यह आया कि एकने इस स्याद्वादका आश्रय छोड दिया दिया और एकने स्याद्वादका आश्रय कर पर्यायको गौण कर द्रव्यका आश्रय लिया। स्याद्वादसे देखो तो यह आत्मा एकान्तसे अपरिणामी नही है और दोनो ओरसे ही यह बात सिद्ध होती है कि यह ज्ञायकस्वभाव यद्यपि अपरिणामी है तथापि यथाविधि किस ही रूपसे प्रतिक्षण परिणमता रहता है। कही शुद्ध ज्ञानानन्द रूपसे परिणमता है तो कही मिश्रभावसे, तो कही अज्ञानरूपसे परिणमता है। और, इस ओरसे भी देखिये—यद्यपि यह आत्मा प्रतिक्षण नाना पर्यायोके रूपसे परिणम रहा है तथापि यह आत्मा अपने स्वभावमे अपरिणामी ही है। देखिये—यद्यपि और तथापि ने अनेकान्त धर्मको प्रकट किया है।

ध्रुवतत्त्वके प्रतिपाद्यत्वकी पात्रता—अब यहाँ यह मोक्ष मार्गका प्रयोजनवान निकट भव्य जीव पर्यायोमें गत, ६ तत्त्वोमे गत उस एक ज्ञायकस्वभावका दर्शन कर रहा है। उसकी बात यहाँ चल रही है। उसका जिन्होने अनुभव किया ऐसे ज्ञानी आत्माका स्वरूप चिन्तन किस तरह होता है? यह बात वे क्या बतावेंगे किसीको और उस स्थितिके तथ्यभूत बातको भी कौन बतावेगा? लेकिन जिसने उस ज्ञानस्वभावका अनुभव किया है वह ही जब प्रमत्त अवस्थामे, व्यवहार अवस्थामे आया है तो वचनो द्वारा प्रतिपादन करता है। वह स्थिति सर्वथा वचनके अगोचर नही है जो किसी प्रकार कही नही जा सकती। अथवा यो कह लीजिए कि जिन्होने इस ज्ञानस्वभावका अनुभव किया है उनके लिए तो कहा जा सकता है कि वचनके गोचर है और जिन्होने उस स्वभावका अनुभव नही किया है उनके लिए वचनगोचर नही है। यह बात यहाँ ही क्या लेना? मिश्री कैसी होती है? अरे मीठी होती है। कैसी मीठी? तो समझाते हैं कि देखो गन्नेका रस चूसनेमे मीठा होता है। उसी गन्नेको कोल्हूमे पेलकर जब घनरस तैयार होता है तो उसका स्वाद और भी

मीठा होता है। उस रसको जब कडाहीमे पकाकर राब बना लिया जाता है तो वह और भी अधिक मीठा होता है। उस राबका मल निकालकर जब शक्कर बना लिया जाता है तो उसका और भी मीठा स्वाद होता है और उस शक्करको पकाकर जब सारा मल निकाल लिया जाता है तो उसका स्वाद अत्यन्त मधुर होता है। उसे बोलते है मिश्री। इतना सब कुछ शब्दो द्वारा अगर बता भी दिया जाय तो क्या उससे मिश्रीका स्वाद सही सही मालूम हो जायेगा ? अरे नही मालूम हो सकता। किसको ? जिसने कभी मिश्री खाई ही नही है उसको। उसका स्वाद तो उसे ही मालूम हो पाता है जिसने कभी मिश्री खाया हो। तो यो ही समझिये इस ज्ञानानुभूतिके समयकी बात, सर्वथा अगोचर हो सो बात नही। और सर्वथा वचनगोचर हो सो भी बात नही, किन्तु जिन्होने ऐसा अनुभव किया है उनको जब बताया जाता है तो वचनगोचर बन गया और जिन्होने कभी अनुभव ही नही किया है उनको बताया जाता है तो वे आँखे खोलकर मुँह ही ताकते रहते है कि क्या कहा जा रहा है ? तो इस ज्ञानानुभूति का तथ्य किस प्रकार है, उसको ज्ञानी जीव वचनो द्वारा यो कहते है कि वहाँ उसे यह अनुभव हो रहा है कि मैं एक हूँ।

ज्ञानीका एकत्वरूपसे स्वका संचेतन—देखिये स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिका जब इस जीवने अन्तर्बलसे प्रयोग किया और उसको समझ लिया अर्थात् केवल एक शब्दो द्वारा नही किन्तु प्रयोग करके जिसने समझ लिया उस जीवकी, उस समझकी, उस अनुभवकी बात कही जा रही है। मैं एक हूँ। देखो—हमने इससे पहिले अनादि काल गुजार दिया था, पर वहाँ इस तत्त्वकी परख नही कर पायी थी। वहाँ अनादिसे मोहमे ही उन्मत्त थे, अज्ञानी थे, लेकिन तिसपर भी ज्ञायक स्वभाव तो वही था जो अब ज्ञानप्रकाशमे प्रकट हुआ है, आत्मा नही बदला, वही जीव है जो पहिले अज्ञानी था, लेकिन अब उसकी दृष्टि आ गई है तो झट परख गया ओह! यह मैं एक हू। जैसे कि किसीके हाथमे सोनेकी अगूठी हो, मुट्ठीमें बाध तो ली है, अब उस ओर तो दृष्टि न जाय और वह यत्र तत्र ढूँढता फिरता है कि कहाँ गई अंगूठी, उस दिन संदूक भी वह बाये हाथसे खोल रहा है जब कि और दिन दाहिने हाथसे खोलता था। उसका कुछ दिमाग ही नही काम कर रहा है कि मैंने कहा अगूठी रख दिया, सो वह बेचारा हैरान हो रहा था। किसी बच्चेने कहा, अरे दद्दा जिस मुट्ठीको तुम बाँधे हो उसमे तो देख लो कि क्या लिए हो ? जब देखा तो अंगूठी मिल गई। तो इसी तरहसे समझ लीजिए कि किसी ने अपने ज्ञानस्वभावको खो दिया, न पाया तो समझो कि उस ज्ञानस्वभावका कही नाश नही हो गया, वह ज्ञानस्वभाव कहीं अन्यत्र नही चला गया। वह तो ज्योका त्यो अन्त प्रकाशमान है, लेकिन यह अज्ञानी प्राणी अपनी बेसुधी करके उसको प्राप्त न कर पाया। उपरोक्त दृष्टान्तमे ध्यान दीजिए जैसे उस बच्चे

ने बता दिया था कि अरे दद्दा अपनी बधी हुई मुट्ठीको तो खोलकर देख लो, उसमे क्या है, उसके बतानेसे वह अपनी अगूठी पा गया था, तो उससे कही यह वच्चा अन्त ज्ञानी तो नही हो गया था, किन्तु वह तो वच्चेकी एक सहज समझ थी– अरे मुट्ठीको देख लो ? लेकिन उसे उस समय गुरु समझ लो, क्योकि उसकी विह्वलता मिटाया, ठीक इसी तरह इस रागद्वेष मोहसे घवडाये हुए प्राणियो को ये गुरुजन समझा रहे, ये कोई अज्ञानी तो नही है, ये विरक्त है, ज्ञानी पुरुष है, वे क्या समझा रहे है कि हे आत्मन् ! तू अपने आत्मस्वरूपको तो निरख। तू तो इस जगतमे सवसे निराला केवल एक चैतन्यमात्र है। यह दिखने वाली पर्यायरूप तू नही है ! तू तो इससे भिन्न है। तू तो ज्ञानस्वरूप मात्र है। कहा तू वेसुध होकर अपने उस ज्ञानानन्दस्वरूपको वाहर ढूंढ रहा है ? जरा तू अपने आपके ही अन्दर टटोलकर तो देख। जब यह विकल हुआ प्राणी अपने ही हृदयपटलको टटोलकर देखता है तो क्या देखता है ? ओह ! यह मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप तो मेरे ही अन्दर विद्यमान है। कहा मैं इसे बाहरमे खोज खोजकर विह्वल हो रहा था। तो जिसके ऐसा अनुभव रहता है उसी की यह चर्चा चल रही है कि हे आत्मन् ! तेरा स्वामित्व उस भावपर है जो तेरेमे ध्रुव है और तेरेसे कभी अलग नही होता।

स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिके परिचयमें लक्षित एकत्व—स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिके दर्शनमे स्व और स्वामीपनाका वर्णन किया जा रहा है। स्व यह हुआ इसका सहज भाव और स्वामी हुआ यही स्वय आत्मा। तो अनादिकालसे भी इस जीवमे यह स्व था और अनन्त काल तक रहेगा, किन्तु यह मैं हू इस प्रकारसे भान न कर सका। जब किसी गुरुके द्वारा यह समझाया गया तब इसे अपने ही भीतरके प्रज्ञावलसे यह ज्ञात हुआ कि ओह ! यह स्व मैं ही तो हू। उस मैं के सम्बन्धमे कुछ और विशेषताओके साथ कहा जा रहा कि यह मैं क्या हू। यह मैं एक हू, अकेला हूँ, लोग भी परेशान होकर कह बैठते हैं कि मैं तो अकेला ही हू, हमारा कोई साथी नही है, लेकिन उनकी यह वाणी परेशानीकी है, तथ्यको लिए हुए नही है। इस परेशानीके वचनमे भी भीतरमे द्वेष बुद्धि बसी हुई है कि इन्होने मेरेको यो किया, मैंने इनका यो उपकार किया, फिर भी ये मेरे मनकी नही करते आदिक कितने ही विकल्प उसने अन्दर उठाये तब वह कह रहा है कि ये कोई मेरे साथी नही हैं, मैं तो अकेला हू, अकेला ही रहूगा, अकेला ही आया था, अकेला ही जाऊंगा, यह तो जगतकी रीति ही है। तो देखिये—यद्यपि वह शब्दोसे इस तरह कह रहा है, लेकिन वह केवल शब्दो द्वारा ही कह रहा है, वे शब्द उसकी परेशानीके हैं, उसको कही ऐसा अपने शुद्ध एकत्वका भान नही हो गया कि मै तो अकेला ही हू, पूराका पूरा अकेला हू। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म और यह सूक्ष्म शरीर, इन सबका एक पिण्डोला, इतने रूप भी वह नही

जान रहा, किन्तु ऐसा ही कुछ हूँ जैसा कि उसने अपने को मान रखा हो, उसको निरख कर कह रहा है कि यह मैं अकेला हूँ, अकेला ही जाऊँगा · · । अरे केवल ऐसे अकेलेपन की बातोंसे काम नही बननेका, यह भी मिथ्या बुद्धि है, पर्याय बुद्धि है । मै एक हूँ, अकेला हू, सर्वपर्यायोमे गत होकर भी पर्यायोसे निराला एक शुद्ध सहज ज्ञायकभावमात्र हू ऐसा यह मैं एक हू । इस एककी तहमे, इस एकके निकटतर जिसका ज्ञान पहुच जाय वह तो पूज्य है, कृतार्थ है । उस एककी बात यहाँ कह रहे है कि मेरा मै स्वामी हूँ । उसके अतिरिक्त जितने भी विभाव है, भाव है, वे मेरे नही है । जो भाव हो रहे वे पुद्गल कर्मके क्षय, क्षयोपशम, उपशम, उदय आदिक निमित्त पाकर हो रहे है । कर्मका क्षय होने पर भी स्वभावभावको क्षयकी तरहसे न देखिये– किन्तु आत्माके सहज भाव है वे भाव, इस तरहसे तो वे मेरे स्व है और शाश्वत निकट अन्त प्रकाशमान स्वभाव मेरा स्व है । यही मैं एक अकेला हू, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको निहार रहा है, बात यहाँ सीधी सी है । कहा यह जा रहा है कि ज्ञानी अपनेको अकेला निरख रहा । किन्तु शरीररूपसे निराला नही किन्तु सम्पूर्ण रूपसे निराला या सूक्ष्म शरीरको लिए हुए अकेला नही या जिस किसी भी विचारमे, विकल्पमे परिणमा हुआ अकेला नही, किन्तु सर्वविकल्प और पर्यायोके विकल्पसे परे केवल एक सहज ज्ञानमात्र जो सदा शाश्वत एक रूप हो ऐसा यह मै एक हू, वही मेरा स्व है, वही मैं स्वामी हू ।

मेरा शुद्ध ज्ञानदर्शनात्मक स्व—यह मैं एक जब जाना गया तो सुगम ही सिद्ध हो गया कि मैं शुद्ध हू । शुद्धका अर्थ है केवल । किसी भी अन्य भेद, द्वैत, विकल्प विचार औपाधिक भावोसे निराला ऐसा यह मैं एक शुद्ध हू । ये जो गति, इन्द्रिय, काय आदिकरूप भाव प्रवर्तते है अथवा अपने आपमे जो कुछ भी अनुभूतिया प्रकट है उन सब रूप भी मैं न रह सकता, अर्थात् उस काल उस रूप तो रहता, लेकिन दूसरे क्षण वह रूप उसका नही रहता । तो मैं इन व्यावहारिक भावोसे भी निराला एक टकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानभावरूप हूं ऐसा यह मैं शुद्ध हू, तब क्या हू ? निराला हू, शुद्ध हू, सहज हू, चिन्मात्र हू, केवल एक चित्प्रतिभासमात्र हू । यह जीवोपर बहुत बडी विपत्ति है कि जो अपने को चैतन्यमात्र न परखकर किसी भी रूप परख लेते है तो क्या वे इस मूर्तरूपको नही अपने सामने रखे है ? एक चैतन्यमात्र तत्त्वकी दृष्टि रखकर किसी भी रूपमे दृष्टि रखना, इसमे तो पिण्ड रूप जैसा, मूर्त रूप जैसा उपयोगमे आ जाता है । मैं यह मूर्तरूप नही हू, मैं चैतन्यमात्र हू, और वह चित्सामान्य विशेषपनेका उल्लंघन नही कर सकता, इसलिए कह लो कि मैं ज्ञानदर्शनमात्र हू । ये रूप, रस, गध, स्पर्श, मूर्तिकता ये न मिलेंगे और बल्कि अपने आपमे जब तक साकारताका विकल्प रहता है तब तक भी इस जीवको वह परमतत्त्व

नही प्राप्त होता है। ऐसा यह मैं निराकार, रूपादिकसे रहित केवल दर्शनज्ञानमय चिन्मात्र हू, ऐसा चिन्तन इस ज्ञानीका चल रहा है, जिसने परमार्थभूत स्वस्वामित्वका निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करने वाले ज्ञानीके सदा यह निर्णय रहता है कि मेरा अन्य कुछ परमाणु मात्र भी नही है। परमाणु मात्र नही है और वह परमाणुमात्र भी नही है अर्थात् अणु भी जरा भी नही है। ज्ञानी पुरुष एक सर्व अन्य द्रव्योसे अन्य भावोसे विविक्त अपने इस शुद्ध एकत्वको निरखता है।

शुभ अशुभ परिणमनमें स्वत्वका प्रतिषेध—यह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मेरा शुभ अशुभ परिणाम भी स्व नही है। अशुभ परिणाम तो वह है जो विषयकषायरूप होता है, जो आर्तरौद्र रूप परिणाम होता है। किसीको पीडा देकर मौज मानना अथवा किसी कारणसे अपने आपमे आया हो, ऐसा कोई भी अशुभ परिणाम मेरे स्वभावरूपसे तो नही परिणमता है इस कारण वह मै नही हू। और यही बात तो शुभपरिणाममे भी है। भक्ति, दान, पूजा आदिक जो भी शुभपरिणाम है ये शुभ परिणाम भी मेरे स्वभावसे नही परिणमते है, अतएव ये शुभपरिणाम भी मेरे स्व नही हैं, किन्तु मै एक सहज ज्ञानमात्र ही स्व हू। मेरा कौन ? जो केवल मेरे आश्रयसे ही हो, जिसपर मेरा त्रिकाल अधिकार हो। जो स्वय सहज मेरे ही बना रहे ऐसा जो कुछ हो वह मेरा है। ये शुभ अशुभ भाव ये मेरे नही है, इन रूप मै नही परिणमता, मै तो एक ज्ञायकस्वभावमात्र हू। और, भी देखिये—एक तो ये अशुभ भाव मेरे स्वभावसे नही परिणमते, दूसरी बात यह भी है कि जब मै इस मैं ही का आश्रय लेता हू, यही आलम्बन कहलाया। तो जब मै सहज ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि करता हू, उपयोग करता हू तो ऐसे इस शुद्ध द्रव्यके आश्रयसे शुभ अशुभ भाव नही प्रकट होते हैं। भले ही जहाँ इतना दृढ आलम्बन नही है। जब हम शुद्ध आत्मद्रव्यका दृढ आलम्बन नही कर पाते है तो ऐसी स्थितिमे अबुद्धिपूर्वक भले ही शुभ अशुभ भाव किए जा रहे है किन्तु मेरे इस स्वद्रव्यके आश्रयसे हुए वे भाव नही हैं, वे तब भी पौद्गलिक है अर्थात् कर्मोके विपाक आदि कालमे उस प्रकारके भाव हुए है। तो उनको जगह देने वाला भूमिकारूप हू। देखिये होता है यद्यपि मेरा ही परिणमन, किन्तु जिसने एक ज्ञायकस्वभावको ही स्व रूपसे अंगीकार किया है वह तो यो ही नजरमे लेगा कि तुमको मैं स्थान देता हू, तुमको मैं भूमिका बना हुआ हू, इस तरहका मैं बाह्य आधार हू, किन्तु स्वभावमे इनका प्रवेश नही है। यो शुभभाव अथवा अशुभ भाव ये मेरे आश्रयसे उत्पन्न नही होते हैं, इस कारण मेरे नही हैं। यद्यदि यहाँ यह बीचमे जिज्ञासा आ सकती है कि अशुद्ध निश्चयनयसे ये रागादिक भाव इस जीवमे हुए है, जीवसे परिणमे हैं और शुद्ध निश्चयनयसे ये शुद्ध भाव जीवमे हुए तो यहाँ शुद्ध जीवकी बातको तो जीवोसे हटाया नही गया है और हटाया गया है यहाँ अशुद्ध भाव,

रागादिक भाव, और वे है जीवके परिणमन। तो वैसे जीवके स्व नही है ? इसका समाधान सुनो। यद्यपि ये जीवके परिणमन है लेकिन जीवके स्वभावसे ये नही परिणमे अर्थात् इस रूप परिणमनका जीवका स्वभाव नही है। स्वभाव नही है ना, इतना भी कोई कह सकता है तो स्वभाव और शक्तिमे अन्तर क्या है ? शक्ति और स्वभाव ये एकार्थवाचक शब्द हैं। तो जीवमे इन शुभ अशुभ भावोको परिणमन की शक्ति नही है। स्वभाव नही है यह बात भी कह लीजिए। हाँ शक्ति कहकर इसलिए डर लगता है कि तब फिर किसकी शक्तिसे उत्पन्न होता है ? तब फिर स्वभाव कह करके भी यह कहा जा सकता है तो किस के स्वभावसे फिर ये रागादिक परिणाम होते है ? शक्तिका वर्णन यहाँ स्वभावदृष्टिसे है। जो बात स्वभावमे है वही बात शक्तिमे बतायी जा रही है तब स्वस्वामित्व सम्बन्ध शक्ति यह प्रेरणा करती है कि रागादिक विकारोका यहाँ कोई स्वामित्व नही है। इस तरह यह स्वामित्व शक्तिके परिचयमे यह बात प्रकट हुई है कि मेरे तो रागादिक विकार भी स्व नही हैं।

अज्ञानमें क्रोधादि विकारोंका प्रादुर्भाव--उक्त विवेचनमे कहा है कि रागादिक नही है स्व, पर यह तो बतलाओ कि ये रागादिक विकार हो किस तरह जाते है ? जब इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नही, कोई लेनदेन नही तब ये विकार कैसे बन गए ? ये कर्म कही और जगह नाचकर तो न बन जायेगे। तो कैसे बने है ? इनके बननेका उत्तर एक यही है कि ये सब अज्ञानसे बने। आत्माका ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वरूपके उपयोगसे नही बने है किन्तु उस ज्ञान वरूपका उपयोग न रखकर जो अज्ञानभाव बना है उससे बना है वह अज्ञानभाव क्या ? अरे ज्ञानस्वभावको अपनाये, ज्ञानस्वरूको ज्ञानमे लें, ज्ञानस्वरूप ही मैं हू इस तरहका अनुभव बने यह तो है सब ज्ञान, लीला और इससे चिगकर क्रोधादिक भावो मे अपनायत करे, यह मैं हूँ, इस तरहका अनुभव करे, यह है अज्ञानभाव। तब इस जीवके ज्ञानभाव और अज्ञानभावमे कोई अन्तर नही देखा जाता तो इस विशेष अन्तरके न होनेसे यह जीव क्रोधरूप परिणाम रहा है। जो जिस रूप अपनेको अनुभव करेगा उस रूप उसकी चेष्टा बनेगी। जैसे पिता ने यह अनुभव किया कि मैं उसका पिता हू तब पुत्रको जैसे रखना चाहिए, चिन्ता करना चाहिए, पालन करना चाहिए। यह उस प्रकारसे अपनी चेष्टा किए बिना रह न सकेगा। करेगा ही। क्योकि उस तरहका उसने अपना विकल्प किया है, भाव बनाया है, अथवा शुद्ध दृष्टान्तको लीजिए। जो पुरुष अपनेको इस भावमे लाता है कि मैं ज्ञानमात्र हू, केवल जाननमात्र हू, इस तरहका उपयोग भी बनाया है, यो ही अपनेको निरख भी रहा है तो वह ज्ञानरूप परिणमे बिना रहेगा नही। वह ज्ञाता द्रष्टा रूप रहेगा। कही कषायोरूप न बन जायेगा। कही क्रोध उमड रहा हो यह बात उसके न

बन सकेगी तो जैसे जो ज्ञानमे हो इस तरहका कोई अनुभव कर सकता है तो इस संसारी सुभटने यह अनुभव किया कि मैं क्रोधमय हू । तो क्रोधमे अहंरूपसे अनुभव किया, ऐसा कि इसे कुछ अन्य न जाना । तो जैसे ज्ञानको अन्य न जाननेके कारण आत्मा ज्ञान रूप नि शक प्रवर्तता है इसी तरह यह मोही सुभट क्रोधमे व अपनेमे अन्तर न जाननेके कारण नि शक होकर क्रोधादिकरूप प्रवर्तता है, उसकी क्रोधवृत्तिमे रच भी रुकावट नही होती है। थोडा यह तो सोचो कि मै क्या विरुद्ध काम कर रहा हू, क्यो यह हिचक नही होती है ? यो कि इसने क्रोध, मान, माया आदिक रूप अपने को समझ रखा है तो क्यो न यह क्रोधमे वेगपूर्वक डटकर आचरण करेगा ? तो यो यह है अज्ञानीकी दशा।

ज्ञानमय स्व और विकारमें अन्तरके पारखीकी निरापदता—अज्ञानीको यह बोध नही है कि क्रोधका क्रोधन काम है, उसमे गुस्सेका श्रम है, रोष होना, गुस्सा होना, सुध भूलना आदि ऐसे ही काम है और ज्ञानका प्रतिभास काम है, जानन काम है। जो ज्ञान है सो तो मैं हू और जो क्रोध है सो मै नही हूँ ऐसा अज्ञानमे बोध नही है। जिसमे ऐसा बोध हो जाता है बस समझ लीजिए कि उसके अब बाधा नही है, इसपर उपयोग स्थिर हो, उसके लिए लोकमे फिर क्या विपत्ति है, जो अपनेको ज्ञानमात्ररूपमे ही निरख रहा है उसको क्या झझट है ? झझट तो तब बनता है जब कि अपनेको इस रूप माने कि मैं तो त्यागी हू, ब्रह्मचारी हू, साधु हू, मैं ऐसी पोजीशनका हू, मैं ऐसे व्रतका आचरण करने वाला हू, मैं लोगोमे एक अनोखा हू, इनसे मैं ज्यादह समझदार हू आदिक किसी भी रूपसे जब अपने आपमे अनुभव किया जा रहा हो तो झझट तो वहाँ है, किन्तु जो अपनेको सहज ज्ञानमात्र ही निरख रहा है, मेरे लिए तो यहाँ कुछ दुनिया ही नही है, यहाँ का कुछ भी मेरा नही है, यह देह तक भी मेरा नही है, ये समस्त बाह्य पदार्थ जो भी जहाँ पडे है सो पडे है, किन्तु मेरे अन्दर तो वही है जो उपयोगमे हो। जो उपयोगमे हो सो इसका है और जो उपयोगमे नही है वह इसके लिए नही है। तो ज्ञानीके उपयोगमे विकार नही है, फिर झझट ही क्या आयेगा ? जब यह जीव आत्मामे और विकारमे विशेषको, अन्तरको जानता है तब इसके बन्ध नही होता।

क्रोधादिक विकार और ज्ञानस्वमें अन्तरका चिन्तन—क्रोध और ज्ञानमे अन्तर है, मेरे स्वभावमे और इस औपाधिक विलासमे अन्तर है, एक वस्तुपना नही है। बल्कि बातें प्रकट दिख रही है, ये क्रोधादिक भाव, ये अपवित्र हैं, किन्तु यह मैं ज्ञानभाव पवित्र हू। देखिये—यह ज्ञायकभाव है तो कितना (पवित्र) फिर भी अपनेमे विकार भावोको उत्पन्न करके आज कैसा अपवित्र बन रहा है ? तभी तो यह उपदेश किया जाता है कि भाई किसी के दोषद्रष्टा न बनो, गुणद्रष्टा बनो। यदि अपने अन्दर किसीके दोष देखनेकी आदत है तो अपने

मे दोष व्यञ्जित होगे और अगर गुणग्राहिता है तो अपने अन्दर गुणोका अभ्युदय होगा। याने जब हम किसीके दोष निरख रहे हो तो हमारे उपयोगमे दोषमयता विराजेगी, जिसके फलमे अपनेको तत्काल भी हानी देखनी होगी और साथ ही भवितव्य भी खराब हो जायगा। और, अगर हम किसीके गुणोपर ही दृष्टि देगे तो हमारे अन्दर उपयोगमे गुणमयता विराजेगी, जिससे तत्काल भी आनन्द मिलेगा और भवितव्य भी उत्तम होगा। तो इन दोषो पर हम दृष्टि न रखे। हाँ दोष ही देखना है तो अपने आपमे दोषोको देखे जिससे कि अपने अन्दर बैठी हुई कलुषताये मलिनताये, कषायादिकके विकार ये दूर किए जा सके, तुलनामे स्वशक्ति दृष्टिगत हो जानेसे अपने अन्दर एक परम पवित्रताका संचार किया जा सके। अपने अन्दर छिपे हुए ये क्रोधादिक भाव अपवित्र है, अशुचि है, विपरीत है, ये तो दुःख रूप है, आत्माके ये परमार्थ काम नही है। बहुत दुःख था, उस दुःखके कारण कोई ऐसी चेष्टा करनी पडी जो क्रोधरूप बनी, और क्रोध करते हुएमे उस समय भी दुःखी हो रहे, क्रोधमे जीभ भी लडखडाती है, साफ बोल नही निकलता, सुनने वाले लोग समझ भी नही पाते कि यह क्या बक गया। तो क्रोध करनेके कालमे भी वेदना है, क्रोध करनेके बाद भी वेदना है और जिस क्रोधके करनेके बाद भी वेदना है तो जिसमे व जिसके आगे पीछे वेदना है उसके करनेसे लाभ क्या ? तो मुझे ये क्रोधादिक विकार न चाहियें। ये मेरेसे दूर हटें। मुझे तो केवल अपने आपके आत्मस्वरूपके (परमात्म स्वभावके) दर्शन चाहिये। और, ऐसे दर्शन चाहिये जो कि मेरेको निरन्तर होते रहे। अपनी इस तरहकी भावना होनी चाहिए।

सहजज्ञानघनदर्शन व आस्रवनिवृत्तिके बलसे सहजज्ञानके उपलम्भका लाभ---तो जब उक्त प्रकार क्रोधादिक भावोमे और अपने इस ज्ञानभावमे अन्तर जानता है ज्ञानी जीव तब से यह जीव अबध है। उसे कोई अडचन ही नही है, हिचक ही नही है। ऐसे विशेष अन्तर से जब यह ज्ञानी जीव जानता है तब समझ लीजिए कि वहाँ आश्रव दूर हो रहे है और आश्रवोका दूर होना और अपने इस सहज स्वके दर्शन होना, इनमे परस्पर सहयोग है। जब आश्रव दूर होगे तो स्वका दर्शन होगा। और जब स्वका दर्शन हो जायगा तो आश्रव समाप्त हो जायेगे। तो जिस किसी भी प्रकार बने, कभी इस तरहका भी उपयोग बनाकर इस तरहके मार्गको प्राप्त करे, अपने स्वको प्राप्त करे कि ऐसा यह सहज ज्ञानस्वभाव सो ही मैं हू, अन्य मैं नही हू। इन सब वार्ताओके बाद थोडी यह जिज्ञासा हो सकती है कि आखिर ये सब साथमे लदे क्यो हैं और इन कर्मोको बनाया किसने है ? अरे ये कर्म तो मैंने ही बनाया है। सभी लोग कहते हैं कि यह जीव जैसे कर्म करेगा वैसा फल पायगा। तो समाधान सुनो—बात तो यद्यपि सत्य है। और, जो जैसा करेगा वह वैसा फल पायगा, मगर यहाँ तो उसकी बात कह रहे कि जो कुछ कर्ता भी नही है और भोक्ता भी

ऐसा वह एक शुद्ध ज्ञायकस्वभाव कैसे वह अन्यकी चीज है ? जैसे कि समुद्रमे बहुत गहराई मे पहुचकर खोज करनेपर कीमती रत्नकी प्राप्ति होती है ऐसे ही अपने इस ज्ञानस्वभाव-रूपी आत्मद्रव्यको, अमूल्य रत्नको प्राप्त करनेके लिए अपने अन्तरङ्गमे बहुत गहराईमे डुबकी लगाकर जाना होगा तब कही उसकी प्राप्ति हो सकेगी। जीवका जितना भी विस्तार है, जितने भी भावात्मक विस्तारमे जीव रह रहा है उसके अन्त और भी प्रवेश करके इस अमूल्य ज्ञायकस्वभाव रूपी रत्नकी प्राप्ति हो सकेगी। वह ज्ञायकस्वभाव कैसा है ? कर्ता नही, भोक्ता नही, ससारी नही, मुक्त नही। ऐसा वह शुद्ध सहज आत्मद्रव्य कहाँ है ? अरे मैं ही तो खुद हू। जो आत्मद्रव्य है वह न कभी उत्पन्न हुआ, न समूल नष्ट होगा। तो आत्मद्रव्यकी बात कही जा रही है कि वह आत्मद्रव्य इन कर्मोको नही कर रहा है।

अकर्तृस्वभाव ज्ञानघन स्वके स्वामित्वकी दृष्टि—भैया ! करनेके मैदानमे भी आकर निर्णय करे तो कर लीजिए। कर्म भी एक स्वतत्र पौद्गलिक वस्तु है। ये कार्माणवर्गणा नामके पुद्गल स्कध कहलाते है। इन कर्मोंमे जो कर्मत्व आता है वह प्राप्य है, विकार्य है, निवर्त्य है, तो वे कर्म उसके उसमे ही है ये कर्म आये, परिणमे और रच गए। प्रयोजन यह है कि उस कर्मवर्गणाने उस कर्मदशाको ग्रहण किया, जीवने उस दशाको नही ग्रहण किया। जीव तो अपने आपमे अपने भावोको ग्रहण करता है, और इसी प्रकार मैं उन कार्माणवर्गणाओने अपने आपमे कर्मत्वरूप परिणमन किया अर्थात् कर्मत्व विकार उसका ही बना, इस जीवका वह विकार नही बना।

जो जीवकी बात बनेगी वह जीवसे बनेगी। इसी तरह उन कार्माणवर्गणाओके द्वारा ही वह कर्मपना रचा गया, मेरे द्वारा नही रचा गया। और, न ये कर्म मेरे द्वारा ग्रहण किए गए, न मेरे द्वारा रचे गए, न मेरे द्वारा ग्रहण किए गए। कर्मविपाकके समयमे जो सुख दुखरूप परिणमन हुआ तो उसका मैं यह ज्ञानमात्र आत्मा जाननहार तो हू पर उसका ग्रहण करने वाला नही, और मैं विकाररूप होने वाला नही। कैसा अपने आपके भीतर उस शुद्ध आत्मद्रव्यको निरखकर उसकी उपासनामे यह तत्त्व निरखा जा रहा है। ऐसा यह ज्ञायकस्वभाव यह आत्मद्रव्य यह मैं हू, अन्य मैं नही हू, भले ही निमित्तनैमित्तिक भावके प्रसगमे बाते बहुतसी हो रही है कि जीवके परिणमनका निमित्त पाकर पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणमती हैं। कर्मविपाकका निमित्त पाकर जीव रागद्वेष सुख दुख आदिक रूप परिणमते है। सब कुछ होनेपर भी मेरे वे कर्म नही हैं, और, इतना ही क्या ? उन कर्मोंके फलरूप जो सुख दुख आदिक भाव है वे भी मेरे स्व नही है। जैसे किसीको तेज बुखार चढा हो और उस तेज बुखारमे वह ऐसी जगह अपना उपयोग ले जाय कि जहासे अपना अस्थिमात्र शेष अनुभवमे आ रहा हो, ऐसा अकिञ्चनरूपसे अपने आपको अनुभवनेकी स्थिति

मे उसके बुखारमे कुछ कमी हो जाती है। जिस बुखारको कम करनेके लिए कोई औषधि नही काम कर सकती उस बुखारको वह अद्भुत अनुभवन कम कर देता है। तो ऐसे ही यहा अपने आपके बहुत भीतर जाकर अपनेको अमूर्त प्रतिभास मात्र रूपसे अनुभव करने की बात कही जा रही है कि जो अपने उपयोगको अपने आपके अन्तः प्रवेश करके इतनी गहराईमे प्रवेश कर जाय कि जहां केवल ज्ञानमात्र ही अपने आपका अनुभव रहता है, बस उस अनुभवमे ही यहाके समस्त सुख, दु खादिक रूपी ज्वर समाप्त हो जाते हैं। ये कर्म, कर्मफल और विभाव, विकल्प विचार तरग इन सबसे विविक्त जो चिद्भाव है अर्थात् जाननभाव है उन सबसे यह मैं न्यारा हूं और वहां पाया क्या गया ? यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप। सो यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप यही मेरा सर्वस्व वैभव है और इस ही का मैं स्वामी हू, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्यसे, अन्य किसी भी परभावसे मेरा रंच भी स्वस्वामित्व सम्बध नही है।

परद्रव्यापोहनस्वभावी स्व अन्तस्तत्त्वके दर्शनका अनुरोध—स्वस्वामी सम्बन्ध शक्ति मे यह बताया गया है कि हे आत्मन् ! तेरा स्व तेरा स्वभाव ही है। तू अपनेसे बाहर किसी भी वस्तुको हितकारी न समझ कर वहा अपना स्व खोजनेकी व्यग्रताको समाप्त कर दे। देख तू सबसे निराला है। स्वरूपसे ही तू ऐसे स्वभावका है कि कोई परपदार्थ तेरे स्वरूपमे आ ही नही सकता है। ऐसी शका न कर कि परद्रव्यके त्यागी तो मुनिजन ही हुआ करते है, वे ही घरके त्यागी है, गृहस्थ तो घर का मालिक है। देखो—रजिष्ट्री भी हुई है और म्यूनिसपिलटीमे तथा अन्य सभाओमे इसका नाम भी लिखा है तो यह घर का मालिक है, घरका त्यागी तो कोई मुनि ही होता है, यह आशंका न रखें। आत्माकी दृष्टिसे निरखें तो आत्मा सर्व भिन्न पदार्थोंके त्यागका स्वभाव वाला है। दोनोमे इसी स्वरूपको देखो तो यह सबसे निराला, सबके अपोहन स्वभाव वाला है, इससे बाहर कोई पदार्थ नही है। सर्व बाह्य हैं, केवल एक दृष्टिमे अन्तर है, जिनकी दृष्टि सुलझ गई और इस सुलझकी विधिके कारण बाह्य पदार्थोंका संसर्ग दूर हो गया वे सिद्ध बने, लेकिन अन्त. देखिये—सभी जीव समान हैं, जैसे मुनिके घर नही है ऐसे ही इस गृहस्थके भी इस जीव का बाहर कोई घर नही है। सबका अपना-अपना स्वरूप ही अपना अपना घर है। कोई घरमे रहनेका यत्न करेगा तो रह न सकेगा, और अगर रहने की कोशिश करेगा तो वह दु खी ही होगा। यही हाल सब संसारी जीवोंका है। जो अपने आनन्दधामको छोड़कर बाह्य अर्थ को धाम बनावेगा, वह दुःखी होगा। अरे तेरा तो स्वभाव समस्त परपदार्थोंसे जुदा रहने वाला है फिर क्यो बाहर अपना कुछ खोजनेमे व्यग्र हो रहा है ? भला जब शुद्ध नयके प्रयोगसे यह देखा गया कि यह आत्मा एक ज्ञायकस्वभाव है, इसमे भेद करना एक विसम्वाद

की वात वन जाती है, तो विना भेद किए, विना उसमे थोडा धक्का लगाये जैसा वह परिपूर्ण है वैसा ही दृष्टिमे रहने दो, यही है शुद्धनयका प्रयोग।

इष्ट अनिष्ट बुद्धिको त्यागकर अपनेमें अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेका अनुरोध— नय मूलमें दो हुआ करते है– (१) शुद्धनय (२) अशुद्धनय। अशुद्धनयका नाम है व्यवहार-नय। शुद्धनय द्रव्य गुण पर्यायके भेदसे परे एक सहज उत्कृष्ट स्वभावमात्रको निरखता है। और उस एक अखण्ड वस्तुमे यदि गुणका भी भेद किया जाय जैसे कि इस आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है तो यह अशुद्धनय वन गया। अशुद्धनयका नामान्तर है व्यवहारनय। यद्यपि यहाँ यह है सद्भूत व्यवहारनय, लेकिन जिन्होने उस एक अखण्ड परिपूर्ण ज्ञायकस्वभावके उपयोगका स्वाद लिया है उन्हे खेद पहुंचता है इस गुणभेदके करनेमे, इस गुणभेदको करते हुए इस उपयोगको विखेरनेमे उनको खेद होता है। अशुद्ध नयका प्रयोग उनके लिए प्रयोजनवान नही है वल्कि खेदको ही लाने वाला है। हां जो अशुद्ध भूमिकामे हैं, प्राक् पदवीमे है, उनको यह अशुद्धनय व्यवहारनय आलम्बनभूत है। इस प्रकरणमे यह बताया जा रहा है कि ये गुणभेद भी जो कि जीवसे अभिन्न अपना स्वरूप रखते हैं, ये भी इस शुद्धनयसे लक्षित जीवके नही हैं। व्यवहारसे भले ही उपदेश है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चरित्र है, पर उस परमार्थ शुद्ध सहज स्वभावको दृष्टिमे लें तो ये सव कुछ नही हैं। जहा ऐसे उस शुद्ध तत्त्वमे आनेके लिए साहस उत्साह निर्देश किया जा रहा हो और वहां कोई यह कह वैठे कि अरे घरके त्यागी तो मुनि ही होते हैं, गृहस्थ तो घरका मालिक है तो यह भी एक रगमे भग किया। एक वहुत पवित्रतामे अप-वित्रता डाल दी गई है। अरे आत्मन्! देख तू अपने स्वरूपको, तेरे स्वरूपसे बाहर तेरा कही कुछ नही है, अत किसी भी बाह्यपदार्थमे उपयोग देकर यह मेरे लिए इष्ट है, यह अनिष्ट है इस प्रकारकी भीतरी वासनाको तज, वमन कर दे। जैसे कोई खराब भोजन कर लिया गया है और भीतर विष जैसा पैदा करता है, पेटमे दर्द हो, सिरदर्द हो, जी मिचलाये, तो उसका उपाय है कि ऐसी औषधि ले कि वह वमन हो जाय, तब और ऐसा नही करते कि कोई दवा ले लेंगे, ठीक हो जायगा। अरे तुरन्त ही दवा खाकर उसका वमन कर दे, नही तो पेटके अन्दर उसका विष फैलकर बीमारीका एक बडा रूपक रख लेगा। इसी तरह ये इष्ट अनिष्ट बुद्धियाँ विषभोजन है, इनका वमन कर दे। जगतमे कोई भी जीव इष्ट नही है। क्यो हो इष्ट? अरे वस्तुका स्वरूप ही है ऐसा कि वह अपने स्वरूपमे हो। इस प्रकार जगतका कोई भी जीव तेरा अनिष्ट नही है, तेरा विरोधी नही है। वे अपने अभिप्राय के अनुसार अपना परिणमन करते हैं, तू अपनेमे अपनेको निरख और अपने मार्गको शुद्ध बना, शान्तिलाभ ले, अपने आपमे अवस्थित हो तो भला जहाँ गुणभेद भी व्यवहारसे बताये,

परमार्थसे उसकी प्रतिष्ठा नही की गई, तो जगतमे ये बाहरी पदार्थ तेरे होगे ही क्या ?

जड़को स्व और उसका अपना स्वामी माननेमें स्वयंके जड़मय होनेका प्रसङ्ग—भैया, अब कुछ मोटी बुद्धिसे भी देखो, ये बाहरी पदार्थ जो इन्द्रिय द्वारा विषयभूत हो रहे हैं, जिनको अपनाकर बहुत बडी अपनी बरबादी कर रहे है जरा उनकी बात भी तो सोचो। क्या माना है ? जैसे अज्ञानी कहे ये घर आदिक मेरे है, सो सुनो—यदि ये घर आदिक मेरे हो गए तो यह नियम है ना कि जो जिसका स्व है उसके लिए वही परिग्रह बनता है। अब यदि यह अज्ञानी ऐसा मान रहा है कि यह मेरा घर है तो घर यदि इसका हो गया तो इसके मायने है कि घरमय बन गया। और, घर है अजीव, तो यह अजीव बन गया। बोल—तुझे यह अजीवपना मजूर है क्या ? अरे जो घर-घर चिल्ला रहे, बाहरी चीजोको अपनी मान रहे तो बोल यदि वह परपदार्थ तेरा हो गया तब तू उस रूप बन गया ना। बोलो तुम्हे ऐसा मजूर है क्या ? यह तो एक गालीसी लग रही है। अपनेको अजीव होना, जड होना किसीको मंजूर न होगा। अरे तू तो अपने भावोका ही स्वामी बन। बाहरमे जो तुझसे पृथक् पड जाये उनको अपना स्वामी मत करार कर। तू अजीव बनना चाहता नहीं, सो अजीव तो न बन पायगा मगर तू जड हो जायगा। जड मायने अज्ञानी। तो ऐसा जड भी मत बन और अपने सहज स्वको स्वीकार कर। ऐसा स्वीकार करनेका फल क्या होगा कि तू अनाकुल हो जायगा। ये बाहरी पदार्थ अपने उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावमय निरन्तर है। उनमे उत्पादव्यय उनके परिरणमनसे चल रहे है, उनमे तेरा दखल नही है। तो वे बाहरी पदार्थ कैसे ही चलें उससे अब तुझे व्याकुलता न होगी, उसका कुछ भी प्रभाव तुझपर न पडेगा। वाह्य कोई पदार्थ विगडे, मरे, नष्ट हो, किसी भी दशाको प्राप्त हो, जब वहाँ तेरा ममकार न रहा, परिग्रहपना न रहा, उनसे निराला तूने अपने अन्तस्तत्त्वको निरखा तो तेरे को क्या व्याकुलता ? यो इन सर्व वाह्यपदार्थोसे तू ममताको छोड। अपना ही स्वभाव और सहजभाव, इसपर ही अपना अधिकार समझ, स्वस्वामी बन। यदि कर्मोके वेगसे अथवा इन वाह्य वस्तुओमें किये जाने वाले उपयोगकी गतिको, वेगको तू हिलडुलकर, व्यग्र होकर अपना ठहरना बाहर बना रहा है तो इस उद्दण्डताके फलमे जन्ममरणकी यातनाये ही सहेगा। प्रियतम आत्मन् ! ऐसा उद्दण्ड मत बन, अपनेको कन्ट्रोलमे रख, अपना पूर्ण अधिकारी बन, इस ही मे तेरा कल्याण है।

ज्ञानी जीवोंके एकत्वविभक्त स्वका संवेदन—अहा, अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण सहज ज्ञानस्वभावका ज्ञानप्रकाश जिसे मिला, ऐसे शाश्वत सहज स्वका जिसको भान हुआ, किसको भान हुआ ? जिस किसीको भी चाहे, पशु हो, पक्षी हो, नारकी हो, मनुष्य हो, चाहे ८ वर्षका बालक हो, जिस किसीको भी अपने आपके इस सहज स्वरूपका भान

हुआ है ऐसे ज्ञानप्रकाश वालेका जो सम्वेदन है वह सवको एक समान मिला है एकत्वविभक्त-रूपसे। जैसे सर्व परसे विविक्त एक ज्ञानस्वरूपकी तत्त्वमे ही गत उसने अपने आपको जाना, इसी प्रकार अन्य सम्यग्दृष्टियोने भी इस ही प्रकार जाना। और की तो वात क्या ? वह ८ वर्षका बच्चा भी इसी तरह भान कर रहा है। और वह सम्यग्दृष्टि नरकका नारकी भी इस ही एक ज्ञानस्वभावका भान कर रहा है; पशु, पक्षी आदिक भी इस ही प्रकारका भान कर रहे हैं, तो मूलमे अन्तः सबका एक ही प्रकारका भान है। वहाँ अन्तर नही है। ऐसा नही है कि कोई पशु, वालक या नारकी किसी विकल्परूप अपना भान करे। ऐसे अपने इस एकत्वविभक्तस्वरूपका भान करो, जिसका विवेचन इस स्वस्वामित्व सम्बन्ध शक्तिमे किया गया है। ऐसा प्रकाश जिसने पाया है समझो उसने इस जैनशासनका मर्म पा लिया है।

जैनशासनके विवेचनोंका मूल प्रयोजन—जैनशासनमे जो वहुत-बहुत विवेचन किया गया है वह किस प्रयोजनसे किया गया है ? क्या यह सुनकर कि तीन लोक इतने प्रमाण वाले है, ऊर्द्धलोकमे इतने विमान है, ऐसी स्वर्गोकी रचना है, ऐसा सुन-सुनकर क्या यहाँ के खेल खिलौनोको देखनेमे जिस तरह मन वहलाया जाता है, क्या इस तरहसे ही उनको निरखनेमे मन बहलाना है ? किसलिए यह सव वर्णन है, अथवा जहा जीवादिक तत्त्वोका वर्णन है वहा भी ये सव विवेचन अशुद्ध शुद्ध, भेद अभेद, सर्व प्रकारके विवेचन ये किसलिए हैं ? क्या ज्ञानियोकी गोष्ठीमे रहकर अपनी विद्वत्ताका परिचय देकर उन्हे प्रभावित करनेके लिए है ? किसलिए है यह तत्त्वका प्रयोजन और किसलिए प्राप्त किया है यह सब तूने अपना ऐसा योग्य क्षयोपशम ? इन सबका क्या उपयोग है ? प्रयोजन यह है कि ऐसे एकत्व विभक्त शुद्ध आत्माका अनुभव हो, यही है प्रयोजन परमागमके परिज्ञानका। वर्णन बहुत जगह आता है कि अरे आत्मन्, स्वानुभवकर, पार हो जायेगा। स्वानुभव ही एक सर्वोत्कृष्ट चीज है। स्वानुभव है क्या चीज ? अरे वह अनुभव यही है कि ऐसा सर्वविविक्त अपने आपके इस शाश्वत सहज ज्ञानस्वभावमे एकत्वरूप इस अपने आपको जान लें, तो जिसने यह जान लिया उसने मानो सारा ही जैनशासन जान लिया। अरे स्व और पर इतनेके परिचयमे तो सारी दुनिया जान ली गई। अब इस सम्यग्दृष्टिको क्या प्रयोजन है कि उस परका इस तरह विश्लेषण सहित ज्ञान करे कि अगर वहा मेरू पर्वतकी चोटी है तो बीच बीचमे कितने कितने ढेला हैं, कितने-कितने पत्थर है, स्वर्गमे कितने कितने कैसे कैसे विमान हैं अथवा हैं तो किस तरहके आकारके है ? इन सब बातोंके परिचयसे इनका प्रयोजन नही मान रहा, किन्तु इन सब परिचयोका जो प्रयोजन है वह सब उसने पा लिया क्या ? स्व और परका भेदविज्ञान, यह मै स्व हू, इसके अतिरिक्त बाकी सब पर

हैं। कहनेका प्रयोजन यही है कि यह बात यदि कोई समझ सके तो ११ अंग ६ पूर्वका या और और भी जो विशाल ज्ञान हुए है उनका ही सदुपयोग हुआ और, इतनी बात जिनकी समझमे नही है वे ११ अग ६ पूर्वका कितना ही विशाल परिज्ञान लिए है लेकिन उनकी गुत्थी नही सुलझी है और वे इस संसारसे नही निकल पाते है। बड़े कठिन तपश्चरण भी कर डालते हैं, बहुत बढी-बडी साधनायें कर लेते है लेकिन यह एक ऐसा गोरखधंधा है, जिसकी गुत्थी सुलझ गई तो सुलझ गई, और न सुलझी तो फिर उलझ गई, फिर चाहे वह मेढक हो अथवा अन्य कोई बन्दर आदिक पशु हो अथवा मनुष्य हो। यदि अन्दरकी गुत्थी न सुलझ पाई तो फिर बडे बडे तपश्चरण करके भी उसको अन्दरसे रीता ही समझिये। यह स्वस्वामित्व, यह ज्ञानानुभूति, यह शुद्ध तत्त्वका दर्शन, यह ऐसा अमोघ फल देने वाला है, यह इतना महान कल्पवृक्ष है कि जिसने उसका प्रकाश पाया है वह पुरुष मानो सर्व जैन शासनका रहस्य पा चुका है। वह अपने आपको स्वरूपमात्र निरख रहा है। अब क्या रहा उसको जाननेको ? इस एकके जानने पर ही उसने सब कुछ जान लिया, सब जान लिया। सबको अलग-अलग विवेचनपूर्वक नही जाना तो यह भी बिना जाने न रहेगा। जब पूर्ण श्रुतज्ञान हो जाता है, और कुछ ही समय बाद केवलज्ञान हो गया तो सब जाननेमे आ गया, आगे यह भी चर्चा न रहेगी कि इसके पूर्ण ज्ञान नही, लेकिन प्रयोजन क्या पडा हुआ है ? स्वका ज्ञान करना यही तेरा पद है, यही तेरा स्थिर नियत ध्रुवभाव है जो तेरेको कभी नही छोडता और "तेरेको" इस शव्दका वाच्य उपयोगको अगर ले तो हे उपयोग, तू इस मालिकको चाहे छोड दे, मगर यह मालिक कितना सुशील है कि यह कभी अपने इस पदको नही छोडता। यह शाश्वत अन्त प्रकाशमान ही है। जो शाश्वत है, ध्रुव है उसकी ओर दृष्टि कर तो तूने सर्व जैनशासनको जान लिया।

तेरा ज्ञान और तेरा परिच्छेद—यह स्वस्वामित्व सम्बन्धशक्तिका वर्णन कई दिनोंसे चल रहा है। आज इसका १३ वाँ दिन है। इन १३ दिनोमे सम्बन्धशक्तिका जो परिचय पाया और इसमे अनुलोम, प्रतिलोम सब बुद्धियोमे जो तूने अपनेको निरखा, मैं सर्व परपदार्थोंसे विविक्त हू और अपने सहज ज्ञानस्वभावमय हू, इस तरह जो तूने देखा है सो भी निरख ले, सो भी अनुभव कर ले। आज तेरा दिन हो रहा है, तेरा समय है, तेरा क्षण है, इसे यदि पा ले तो संसारके सर्वसकटोसे सदाके लिए छुटकारा हो जाय, ऐसा उपाय तूने पा लिया। और, साथ ही जिस अध्यात्मसहस्रीपर चल रहा है यह कथन तो इसका भी १३ वाँ परिच्छेद है। सो यह तेरा ही परिच्छेद है अर्थात् तेरा ही ज्ञान है। इस १३ वे परिवच्छेदमे ५६ शक्तियोका वर्णन है। इसमे ५२ शक्तियाँ तो इस ज्ञानमात्र आत्माका परिचय कराने वाली हैं। तो यह क्या है ? तूने शक्तियोको जाना तो किसको जाना ?

जाना। यह तेरा ही परिज्ञान है। परिच्छेद ज्ञानको कहते है, क्योकि ज्ञानमे ऐसी पद्धति है कि यह ही है, अन्य नही है, इस प्रकारका उसमे निर्णय वसा है, तो परिच्छेदनमे भी अनादेयको अलग करके आदेयको ग्रहण करना, ऐसी परिच्छेन करनेकी बात है। तो तू अपने आपका परिज्ञान कर।

१३ अङ्ककी मुद्रामें ज्ञायकस्वभावकी उपासनाके शिक्षणका संकेत—अब देख—इस अंककी मुद्राको तो जरा। १३ अंकमे प्रथम १ लिखा है, बादमे ३ लिखा है तो ३ का मुख तो १ की ओर लगा है। यह १३ का अक यह शिक्षण देता है कि जैसें ३ का मुख १ की ओर है ऐसे ही तू भी अपने ३ को १ की ओर अभिमुख कर। तेरा १ कौन है ? ज्ञायकस्वभाव और उसकी परिणतियाँ चल रही है अनेक, सो ३ अङ्क परिणतियोका प्रतीक है तो देख तू अपनी परिणतियोका मुख भी इस ओर कर, जैसे कि ३ का मुख १ की ओर बना हुआ है। यदि तू इस १ की ओर ही मुख करेगा तो तेरेमे ३ प्रभाव पैदा होगे— जिन्हे कहते है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इस १ की ओर मुख इन तीनोका है, जिनका वर्णन षट्कारक सम्बन्धमे किया है और सम्बन्धशक्तिमे बताया है। यह एक (१) ज्ञायकस्वभाव है और—यदि तू इसकी ओर उन्मुख हो जैसे कि ३ का मुख १ की ओर है तो उसमे तीन बाते (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) सहज होंगे। अब इस ३ अकको भी देखो—जैसे पहिले कम पढे लिखे लोग ३ को इस तरहसे न बनाकर तीन डडाकार (≡) बनाया करते थे, जैसे १ सेर लिखना है तो एक डडा (–) बना दिया, दो सेर लिखना हुआ तो दो डडा (=) बना दिया, इसी तरह तीन सेर लिखना हुआ तो तीन डडा (≡) बना दिया करते थे। यो भिन्न-भिन्न रेखाओके रूपमे पहिले ये अक चलते थे। लेकिन जब कुछ समय परिवर्तित हुआ तो उसका रूपक बदल गया, परिष्कृत रूप हो गया। अब उन तीनो डडोको (¦) इस तरह (३) मिला दिया गया, जल्दी जल्दीमे उनको परस्परमे मिला दिया तो उसका रूपक इस तीन (३) के रूपमे बन गया। तो देखो जैसे पहिले रेखा भिन्न रूप में प्रकट हुई ऐसे ही इस १ के सम्मुख होनेपर ये ३ (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) भेदरूपमे प्रकट हुए। जिसे कहते हैं भेदरत्नत्रय, लेकिन इस भेदरत्नत्रयका अभ्यास बहुत अभ्यास होनेके कारण जो भेदरत्नत्रयमे अन्त गति हुई उस गतिसे फिर ये परिष्कृत ३ रत्न चीजे अभेद बन गये, आदिक ऐसे ये इस अभेदरत्नत्रय (एक) १ के सहारे सहारे चल रहे है। जो मुक्तिका मार्ग है वह इस एक (१) के सहारे ही उन्मुख हो रहा है।

१ और ३के निकटतमकी स्थितिकी मुद्रामे बी में स्वपौरुषका संकेत—अब जरा इस १३ की और भी करामात देखो—१३ मे एक ओर तीनको अलग-अलग न करके यदि एक मे मिला दिया जायगा तो उसका आकार इगलिशके 'बी' ('बी')जैसा हो जायगा। यह बी

(बी) मुद्रा हमे यह शिक्षा देती है कि देखो सहारा तो इस एक (१) का ही है। मूलमे जो सबसे पहिले रेखा खिची है, (।) जो १ का अंक लिखा है उसके सहारेसे ही यह सब सब (बी) मुद्रा है, और इन दोनोके आधारसे बी का आकार बन गया। जैसे एक रेखा (।) बनाकर उसमे ३ की मुद्रा मिलाकर (बी) की मुद्रा बनती है तो वहाँ अब १ के ऊपरसे लाइनको निकालकर एकमे मिलाना पडेगा। सो देखो रेखा बाहर निकलकर तो गई, पर उसको अन्तमे उस १ (।) मे ही मिलना पडा। लेकिन न अभ्यास था उस। (१) से निकालनेका तो दुबारा भी बाहर निकली, सो १ से निकलकर आधा भिडकर दुबारा निकलकर भी यह बाहरमें गई परन्तु फिर भी उसे। (१) से ही मिलना पडा तब बी (बी) की यह (बी) मुद्रा बनी। इस बी की मुद्रामे जो ऊपरकी लाइन निकलकर मिली, फिर निकली, फिर वह आखिर उस। १ रेखामे मिली, तब जाकर उसको विश्राम मिला। इसी प्रकार तू एक ज्ञायकस्वरूप है। तेरे ऊपरसे यह उपयोग निकला, इस अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञायकस्वभावको कारणरूपसे उपादान करके ऊपरसे प्रवेश कर। केवलज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा बताया गया है, फिर इसका जो यह उपयोग है इसको क्या है, इसको ऊपरसे निकला हुआ नही कहा जाय क्या ? इस एक ज्ञानस्वभावके ऊपरसे यह उपयोग निकला है मगर निकलकर भी हे उपयोग, तुझे अन्यत्र कही शरण न मिलेगा। तुझे तो। (१) से ही मिलना पडेगा। मिल ले, लेकिन पूर्वसंस्कारवश तू यहाँसे दूर हो गया तो कितना ही दूर हो ले, आखिर तुझे विश्राम मिलेगा, आराम मिलेगा तो इस। (१) मे ही मिलकर मिलेगा। तो इस बी बी की मुद्रासे यह शिक्षा ले कि तू अपनेसे भले निकल गया, लेकिन अन्तमे घूम फिर कर उस एक (१) मे ही आना पडेगा तभी विराम आराम शान्ति पायगा। तब ही तो कहा है कि ज्ञानस्वभावसे अतिरिक्त अन्य कोई कार्य न करना चाहिए, और यदि प्रयोजनवश कुछ कार्य बन जाय तो फिर वहाँसे निकलकर इस एक (१) मे ही लगना चाहिए। यह १३ की सकल हम आपको ऐसी शिक्षा दे रही है।

१३ अङ्कमें तेरा वाला यन्त्र, तेरा चारित्राङ्ग, तेरा पन्थ व तेरा भावका संकेत—और भी देखो— आजकल तो लोग १३ के योगका यन्त्र भी बनाते है, भीतमे भी छाप लेते है इनको चाहे जहाँसे जोडो सब एकमे जुड जायेंगे। शायद उन वैज्ञानिक लोगोने इस [illegible] अंक जैसा यन्त्र इसी लिए बनाया हो कि ये सब चाहे जहांसे जोड दो, सब एक [illegible] जायेंगे। शायद इन वैज्ञानिकोने यही समझा होगा कि इन सबके एकमे [illegible] होनेकी भलाई है (कार्यकी सफलता है) तो अपने इस ज्ञानस्वभावमे प्रवेश कर[illegible] [illegible] इसका रूप है। तो यह १३ अकके आकारका यन्त्र भी यों कल्याणरूप प्र[illegible] [illegible]से शब्दोका अर्थ के महत्त्वकी बात कही जा रही है। और इस १३ मे तुझे क्या [illegible] [illegible] एक ही अर्थ है। [illegible]क्ति है, सामर्थ्य है, लेकिन

ज्ञानस्वभावमे ही अपनी परिणतिको लगा, इसके ही उन्मुख रह। तो ऐसे १३ मे जो कुछ दीखा यह ही जिसका पथ हुआ वह ही तो तेरा पथ है। इसके अतिरिक्त बतला तेरा पथ क्या ? तू अपने ज्ञानस्वरूपको निरख और अपनी परिणतिको इस ओर ही लगा। यह बात त्रयोदशचारित्र अगके पालनसे सुगम होगी, यह भी यहाँ तथ्य है जैसा कि आज दिन भी है सम्यक्चारित्रका। सम्यक्चारित्रका अङ्ग अग जिसे कहते है तेरह प्रकारका चारित्र, ये उस प्रकारसे अंग है जैसे सम्यग्ज्ञानके ८ अग है, ऐसे ही सम्यक्चारित्रके भी १३ अग है। इन समस्त अगोरूप चारित्रको अंगीकार करे तब इस ज्ञायकका साक्षात् मिलन होगा। जो प्राक् पदवीमे हैं वे सन्तुष्ट न रहे। आखिर उपासक उसे कहते है जो इस मुनिधर्मकी इस त्रयोदश चारित्ररूप धर्मकी उपासना करे। यह है एक उसका उपाय। तो १३ का सकेतित मर्म पालन करे तो इस मनुष्यगतिमे जो सबसे उच्च पद है अयोगकेवली, वहाँ १३ भाव पावेगा। अयोग केवली सिद्ध होने जा रहे हैं लेकिन उनका नाम मनुष्य ही है। तो मनुष्यगतिमे उनके १३ भाव हैं। ९ क्षायिक भाव—गति और असिद्धत्व ये २ औदयिक भाव तथा जीवत्व व भव्यत्व ये २ पारिणामिक भाव। ऐसे उत्कृष्ट १३ भाव वाले मनुष्यगतिके उच्चपदको तू पा लेगा। और इससे भी ऊपर अतीत होकर जो इसमे औपाधिक चीजें हैं उनसे भी निवृत्त होना होगा। तेरा कर्तव्य है कि तू इस एक ज्ञानस्वभावके उपयोगकी ही अपनी परिणति बना। इस तरह सम्बन्धशक्तिमे परसे विभक्त करके, परसे सम्बन्ध तोड करके अपने इस सहज स्वभावसे सम्बन्ध जोडनेकी बात कही गई है।

कारक शक्तियों व सम्बन्धशक्तिके वर्णनसे उपलब्धव्य शिक्षायें—क्रिया शक्तिके वर्णनके पश्चात् षट्कारक शक्तियोंका वर्णन चला और उसके बाद सबधशक्तिका वर्णन हुआ। इस प्रकार सात विभक्तियोका आत्मामे अभेद अर्थ प्रकट किया गया। इस वर्णन मे तात्पर्य यह प्रसिद्ध हुआ कि (१) आत्मन् ! तू अपने ही स्वभावका कर्ता है, तेरा कर्तृत्व सहज भावमे है जिसपर स्वतन्त्रतया कर्तृत्वका अधिकार है जिस बीच आश्रय या निमित्त किसीका भी किसी प्रकार सम्बन्ध नही है, अत तू परके साथ कर्तृत्वबुद्धि को छोड दे। (२) तेरा कर्म तेरा सहजभाव ही है, अत तू स्व सहजभावके ही कर्मरूप बन, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ तेरा सहज कर्म नही है, अत दूसरे कर्मकी बुद्धिको छोड दे। (३) तू जिस सहजभावको करता है अर्थात् तेरे जो सहज भाव होते है उनका साधन तू ही मात्र है, अत पावन सहजभाव रूप कर्मके लिये तू स्वभावको ही साधन बना व अन्य बाह्य साधनोका विकल्प भी मत कर। (४) तेरेमे जो सहजभाव निष्पन्न होते है उन्हे तू ही झेलता है, तू ही ग्रहण करता है और तू ही स्वभावमात्र है, अत स्वभावको ही सम्प्रदान बना जिससे सहजभावका तुझे अनुपम लाभ मिले। (५) तेरा सहज भाव तेरे ध्रुव आत्मद्रव्यसे

ही प्रकट होता है, अतः अपने सहजभावको लेनेके लिये इस ध्रुव स्वभाव अपादानकी ओर ही उन्मुख हो, अन्य किसी पदार्थसे अपना हित ग्रहण करनेकी मिथ्या आशाको तज दे। (६) तेरा शिवमय सहजभाव तेरे आधारमे ही प्रकट होता है, अतः अपने ही शुद्ध आत्मद्रव्य को अधिकरण बना, इसका ही आश्रय कर तथा अन्य सर्व पदार्थोंका आधार लेनेकी बुद्धिको छोड दे। (७) प्रियतम आत्मन्। तेरा सम्बन्ध तेरे स्वभाव और सहजभावसे ही है, तू इसका ही स्वामी है; अतः तू अपने सहज भाव स्वभावका स्वामी बन, इस स्वके साथ ही अपनी एकता कर तथा अन्य द्रव्योके साथ अपनी एकता मत सोच, समस्त परसे सम्बन्ध बुद्धि छोडकर इस निज अन्तस्तत्त्वका ही अवलम्बन लेकर जन्ममरणके कष्टोंसे सदाके लिये मुक्त हो जा।

पूर्वोक्त ५२ शक्तियोंके विवेचनका प्रयोजन-उपयोगमें ज्ञानमात्र आत्माकी प्रसिद्धि—यह जीव अनुभवके सिवाय और करता ही क्या है? कही करता है अशुद्ध रूपमे अपना अनुभव, तो कही करता है शुद्धरूपमें। कही ज्ञानको अज्ञानरूपसे, क्रोधादिक रूपसे अनुभवता है, तो कही ज्ञानको ज्ञानरूपसे अनुभवता है, किन्तु उन समस्त अनुभवोमे अब कौनसा अनुभव हम आपके लिए हितकारी है? इसका निर्णय आध्यात्मिक संतोने इस प्रकारसे दिया है कि करना चाहिये ज्ञानमात्र अनुभव। मैं ज्ञानमात्र हूं। यद्यपि जीवमे अनेक गुण है, और प्रदेशादिक है और अनेक विधियाँ भी है, किन्तु अपने आपको निर्विकल्प स्थितिमे ले जानेका सुगम सहज उपाय है—ज्ञानमात्रका अनुभव। इस ज्ञानमात्रके अनुभवमे अनन्त शक्तिमान यह आत्मा स्वयं प्रसिद्ध होता है। तब अनुरूप इन विधिसे ज्ञानमात्र आत्माकी प्रसिद्धिके लिए इन ५२ शक्तियोका वर्णन किया गया था। अब इसके पश्चात् कुछ और भी शक्तियाँ बतलावेंगे जिनसे जीवकी सभी बाते समझमे आ जाये। उन शक्तियोके परिचयसे यद्यपि पूर्वोक्त शक्तियोके परिचयकी भांति सुगमतया ज्ञानमात्र आत्माकी प्रसिद्धि न होगी, तथापि उनके अन्तस्तथ्यको विचारेंगे तो वहा भी ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके निकट पहुंचनेकी स्थिति बन जायगी।

विभावशक्तिका निर्देशविवरण—उन शेष वक्तव्य शक्तियोमे एक विभावशक्ति है। विभावशक्तिका अर्थ है कि जिस शक्तिके कारण यह आत्मा अशुद्ध भूमिकामे रागद्वेषादिक विभावरूप परिणमन कर सकता हो। विभावशक्तिमे दो शब्द दिये है—वि और भाव। वि—भाव अर्थात् विरुद्ध भाव, या वि—भाव अर्थात् विशेष भाव। उनकी उत्पत्ति होनेकी शक्ति—सो विभावशक्ति। विभावशक्ति आत्माकी शक्ति है और नित्य है, लेकिन इसका यह अर्थ न लगाना कि जीवमे विभावोको उत्पन्न करनेका स्वभाव है। वैसे शब्दोंका अर्थ यही निकलता है, विभावकी शक्ति है। शक्ति और स्वभाव इन दोनोंका एक ही अर्थ है। तो अर्थ यह निकलना चाहिए कि विभावको करनेका स्वभाव है, शक्ति है, सामर्थ्य है, लेकिन

इस विभावशक्तिका आन्तरिक अर्थ यह नही है कि इस जीवमे रागद्वेषादिक विकार करनेका स्वभाव है। किन्तु, यहा यह बताया जा रहा है कि इन सब ६ द्रव्योमे से जीव और पुद्गल इन दो पदार्थोंमे अपने स्वभावके प्रतिकूल किन्तु अपनी सीमामे यह परिणमनेका भी सामर्थ्य है, किन्तु उसका अर्थ यह नही है कि जीवमे प्रतिकूल परिणमनेका स्वभाव है। यह परिणमन होता है अशुद्ध भूमिकामे। रागादिक विकार बनते हैं कर्मोदयका निमित्त पाकर। केवल विभावशक्तिके आश्रयसे विकार उत्पन्न नही हुआ करते हैं। इस बातको यदि और भी सुगमतया समझना है तो यो देखिये—विभावशक्तिके दो परिणमन बताये गए है—जब कर्मोदय उपाधि हो तो रागादिक विकाररूप परिणमें, जब कर्मोदय उपाधि नही है तो आत्मा स्वभाव रूप परिणमें।

तो विभावशक्तिका विभावपरिणमन है रागादिक विकार। तो इसके मायने यह ही तो हुआ कि है कोई ऐसी शक्ति कि अन्योपाधि पाकर जिस शक्तिका विपरीत परिणमन बने तो विकार हो, और उपाधिके अभावमे जिसका अनुरूप परिणमन बने तो स्वभाव परिणमन हो। अब इसका नाम यदि कोई स्वभावशक्ति रख ले तो कौनसा अनर्थ है? जिस बातको विभावशक्ति कहकर बताना है उस ही बातको स्वभावशक्ति नाम देकर के बतायें तो उससे प्रासङ्गिक लक्ष्यसे भ्रष्ट नही होगा। स्वभावशक्ति है अर्थात् आत्मामे स्वभावरूप परिणमनेकी शक्ति है। किन्तु, कर्मोदय आदिक उपाधिया हो तो यही स्वभावशक्ति विभाव रूप परिणम जाय, विकार बन जाय। तो एक अनुलोम वर्णन यह है और दूसरा वर्णन होता है इससे प्रतिलोम पद्धतिसे। विभावशक्तिमे भी बताया है कि उदयोपाधि होनेपर विकारपरिणमन होता है और उदयोपाधि न होनेपर स्वभावपरिणमन होता है। यही बात स्वभावशक्ति कहकर लगावो कि उदयोपाधि न होनेपर स्वभावपरिणमन होता है और उदयोपाधि होनेपर वह विकृत परिणम जाता है। ऐसी ही बातें तो सभी शक्तियोमे प्राय लग जाती है। जैसे—श्रद्धाशक्ति कहा तो उदयोपाधि होनेपर इसके विपरीत परिणमन होता है और उदयोपाधि न होनेपर उसका सम्यक्त्वरूप परिणमन होता है। तब यह बात हम अनेक शक्तियोमे भी तो लगा सकते है। अकर्तृत्वशक्ति, स्वच्छत्वशक्ति, इनमे स्वच्छता है, उदयोपाधि हो तो उस स्वच्छत्व शक्तिका विकृत परिणमन होता है उदयोपाधि न हो तो स्वभावपरिणमन होता है। ऐसी बात जब अनेक शक्तियोमे लग सकती है तो यही बात विभावशक्तिमे भी लग सकती है। बात एक है, इसके मायने यह न लाना चाहिए कि इसमे शक्तियाँ दो पडी हुई हैं—स्वभावशक्ति भी है और विभावशक्ति भी है, ऐसी दो शक्तियोकी बात नही कही जा रही। वह शक्ति एक है। एक ओरसे देखो तो उसका नाम स्वभावशक्ति रख लीजिए, पर वहाँ भी पद्धति यही रहेगी कि कर्मोदयोपाधि होनेपर विकृत परिणमन होता है, न हो तो स्वभावपरिणमन होता है। उसीका नाम विभावशक्ति रखकर बोल

लीजिए। वहाँ भी पद्धति यही रहेगी कि उदयोपाधि होनेपर विभापरिणमन होता है और उपाधि न होनेपर स्वभावपरिणमन होता है।

"विभावशक्ति" नामोल्लेखनका प्रयोजन--स्वभावशक्ति व विभावशक्ति इन दो नामोमे से आचार्यो ने विभावशक्ति नाम क्यो चुना ? यो कि दूसरोको समझाना है। यह बात दिखाना है कि ६ द्रव्योमे दो ही द्रव्य ऐसे है जो विभावरूप परिणम सकते है, इसलिए यह नाम दिया है। इस नामके देनेका अर्थ यह न होगा कि आत्मामे विभावरूप परिणमने का स्वभाव है। तो ऐसी इस जीवमे विभावशक्ति कही गई है। जिसका शुद्ध अवस्थामे इस शक्तिका विभावपरिणमन है और अशुद्ध भूमिकामे इस शक्तिका विभावपरिणमन है। विभावशक्तिका विभावपरिणमन कोई सोचे कि स्वभाव होना चाहिये याने विभावका प्रतिलोम स्वभाव होना चाहिए, विभावका विभावपरिणमन तो सिद्धमे कहा जाना चाहिये और विभावका स्वभावपरिणमन संसारमे कहा जाना चाहिये, क्योकि विभावका जो अर्थ है उसके अनुरूप हो वह स्वभाव है, पर ऐसी शंका यहा नही की जा सकती। इसका समाधान विभावशक्तिके निर्देश विवरणमे आ चुका है, अथवा आगममे विभावशक्तिका विभावपरिणमन विभाव (विकार) बताया गया है और स्वभावपरिणमन रत्नत्रय बताया, उससे भी यही बात स्पष्ट होती है कि विभावशक्तिमे जो विभाव नाम रखा है वह एक रूढिका नाम रखा है। कहा है एक उसी शक्तिको कि जिस शक्तिके कारण उदयोपाधि होनेपर विकार रूप परिणमे और उदयोपाधि न होनेपर स्वभावरूप परिणमे। अब उस शक्तिका नाम कुछ भी रखें, नाममे विवाद न होना चाहिये किन्तु उसके भावका विशद बोध होना चाहिए। तो विभावशक्तिका यह अर्थ है कि उदयोपाधि होनेपर यह अशुद्धरूप परिणम सकता है।

शक्तियोंकी स्वयं शक्तिमानके बिगाड़की प्रयोजकताका अभाव--शक्तियाँ कोई भी हो, केवल उसका ही आश्रय हो अन्यका आश्रय न हो तो वहाँ विकार नही हुआ करता है। यदि केवल शक्तियोंके आश्रयसे विकार होने लगें तो वस्तुकी सत्ताका ही नाश हो जायेगा, वस्तु सत् न रह सकेगी। इस लिए केवल मात्र शक्तिके आश्रयसे कोई पदार्थ विरुद्ध नही परिणमता। विरुद्ध परिणमनमे बाहरी वातावरण, बाहरी सन्निधान निमित्त होता है। निमित्त सन्निधान पाये बिना किसी भी पदार्थमे विपरीत परिणमन नही होता। और, विपरीत परिणमनोमे विसमता देखी जाती है। वह विसमता भी यह सिद्ध करती है कि हाँ निमित्त पाकर ये परिणमन हुआ करते हैं। केवल शक्तियोके आश्रयसे परिणमन नहीं हैं। यद्यपि न हो योग्यता, न हो शक्ति तो यह विरुद्ध परिणमन नही होता। इतने पर भी विरुद्ध परिणमनोका, विषम परिणमनोका कारण बाह्य पदार्थका सम्बन्ध भी है। इस तरह इस जीवमे ये विभाव शक्तियाँ पायी जा रही है। ये चार शक्तियाँ जो अब यहाँ बतायेंगे इनका मुख्य उपयोग ज्ञानमात्र आत्माकी अनुभूतिसे तो नही बना। बन भी सकता,

पर सुगमतया नही किन्तु बात सर्व ओरसे देखना है कि आत्मामे किस किस प्रकारकी और सामर्थ्य पडी है, अथवा इस विभावशक्तिको विभाव रूप न निरखकर, केवल इतना ही निरखकर जैसा कि इस शक्तिका अन्तस्तथ्य बता आये हैं निर्देशविवरणमे यदि शक्तिका आश्रय हो तो भी इसका विकारपरिणमन न होगा। विभावशक्तिका जो शुद्ध अन्त रूप है उसके केवल आश्रयसे विकार नही हुआ करता है, किन्तु होता है विकार परनिमित्त, आश्रय-भूत आदिक सन्निधान होनेपर।

विभावशक्ति मुख्यतया यह बात बतला रही है कि ६ प्रकारके पदार्थोंमे से जीव और पुद्गल ये दो ही ऐसे हैं कि उपाधिका सम्बन्ध पाकर विकृत हो जाया करते हैं। यहाँ प्रसग मात्र जीवका है, सो यही घटित करना है। इससे हमे शिक्षा यह मिल जाती है कि देखो—६ द्रव्योमे चार द्रव्य तो स्वभावपरिणमन करते हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अत तथा वे अचेतन है सो उनके लिए तो कुछ उपदेश है नही, कुछ बात कहना नही है, केवल जीव और पुद्गल ये दो विभावरूप परिणमते है—सो पुद्गलोमे चेतना नही, ज्ञान नही, अतएव उनका कुछ बिगाड नही, उनको भी कुछ कहना नही है। जैसे चौकी जल गई, जलकर राख हो गयी तो हो जाने दो, उससे बिगाड किसका हुआ ? उन स्कधो का कुछ भी बिगाड नही हुआ। मानो वह चौकी पुद्गल अपनी ओरसे यह कह रही है कि हे मनुष्य ! तूने क्रोध करके मुझे जला दिया तो इसमे मेरा कुछ बिगाड नही हुआ, मैं तो चलो उस रूप न रही, राख रूप हो गई, लेकिन तूने तो अपना बिगाड कर ही लिया। तेरा क्या बिगाड कि तूने मुझ परपदार्थमे (पुद्गल पदार्थमे) अनिष्ट बुद्धि किया, क्रोध कषाय किया, तो यह तेरा विभावपरिणमन ही तो है। तो पुद्गलोमे अपने मनके अनुकूल परि-णति करनेमे उन पुद्गल पदार्थोका तो कुछ बिगाड़ नही होता, पर इस जीवका तो सारा बिगाड ही हो रहा है। अत इस जीवको उपदेश दिया जा रहा है इन सब शक्तियोके परि-चय द्वारा कि तू अपनी इन शक्तियोकी सम्हाल तो कर। जगतमे तेरा कही कुछ नही है। बाहरसे आँखे मीच और अन्तर्दृष्टि कर तो तेरा तू तेरेमे स्वय मिल जायगा। जो आनन्द-धाम है, सर्वझझटोसे विमुक्त है ऐसा तेरा यह आनन्दधाम तुझे प्राप्त हो जायगा।

उपयोगमें परविकल्प न आने देनेपर झंझटोंका विलय—देखिये—दृष्टान्तमे बहुत पुरानी एक बात उस समयकी कह रहे हैं जब कि ब्राह्मण और क्षत्रियोमे परस्पर विरोध था। यदि ब्राह्मणोका जोर बढ गया तो वे दुनियामे क्षत्रियोका अस्तित्व मिटाने का प्रयत्न करते थे और यदि क्षत्रियो का जोर बढ गया तो वे ब्राह्मणोका अस्तित्व मिटानेका प्रयत्न करते थे। यहाँ लक्ष्मण परशुराम सवादके समयकी एक वार्ता देखिये—लक्ष्मणके प्रकोपको बढता हुआ देख परशुराम क्रोध भरे वचनोमे बोले "रे क्रूर अधर्मी सभल देख, अब मौत

सीसपर आयी है। इतना तो गाल बजानेमें, सच जाने लोक हँसायी है ॥ तू हट जा मेरे सम्मुखसे, क्यो मेरा क्रोध बढता है ? मेरी इस बढती अग्निमे, क्यों घृतके बूंद गिराता है ? ··" तो लक्ष्मण प्रत्युत्तरमे बोले, हे परशुराम–"करि विचार देखहु मन माही। मूदहु आँख कितऊ कछु नाही॥" अर्थात् आप अपने आप स्वयं ही विचार लीजिए, आप मेरी ओर देखकर क्यो व्यर्थमे दुखी हो रहे है ? क्यो अपनी क्रोधकी ज्वालाको और भी बढ़ा रहे हैं ? अरे आप आँखें मीचकर एक अपने आपकी ओर देखिये तो फिर आपके लिए कही कुछ नही है। "यह बात आध्यात्मिक दृष्टिसे कही गई या यो ही क्रोधमे आकर कह दी गई, इसका निर्णय हम नही कर सकते, क्योकि क्रोधमें आकर भी इस तरहसे कहा जा सकता है। खैर किसी भी दृष्टिसे यह बात कही गई हो, पर आशय यहाँ यही लेना है कि यदि हम सारी दुनियासे बाह्य पदार्थोंसे आँखे मीच लें अर्थात् उनका विकल्प तोड दें तो फिर मेरे लिए कही कुछ नही है। और भी देख, तू दुखी होता है किस आधारपर ? ये मेरे परिचित लोग है, ये मुझे क्या समझेगे कि इन्होने मेरी तौहीनी की है, मैं इतने लोगोमे कुछ जँचू··· यो कितनी ही बातें चित्तमे समायी रहती है, जिससे हे आत्मन् ! तू दुख हो रहा है। अरे इन सब दुखोको मेटनेकी एक सुगम सहज औषधि यही है कि तू इनके उपयोगमे ही न रह। इनकी ओर तू दृष्टि मत दे, बस फिर क्या दुःख ? क्या झंझट ? प्राय करके मनुष्य दुखी होते है तो जब दूसरोको भी समझते है कि ये भी कोई है और इनमे मै कुछ हू, बस इतना ही तो झझट है। किसीको कोई बात अकेलेमें समझा दो तो वह बुरा न मानेगा और चार आदमियोके बीचमे समझाओ तो वह बुरा मान जायेगा। अगर अकेलेमे समझाने पर भी बुरा मान जाय तो वह उसकी कुबुद्धिकी बात है, लेकिन तरीका यही है कि किसीको कुछ समझाना हो तो अकेले मे ही समझा देना चाहिए। अनेक लोगोके बीच समझाने पर वह कुछ समझ न पायेगा, क्योकि उसकी दृष्टि अनेक लोगो पर लगी हुई है, वहाँका आकर्षण बना हुआ है। पूरी बात भी वह नही सुन सकता, और सुन भी ले तो जो अहं बुद्धि बनती है—"इन लोगोमे मैं" यह न समझने देगा। तो तात्पर्य यह है कि हमारा कर्तव्य यह है कि अपना ऐसा ज्ञान करें, अपनी ऐसी बुद्धि बनाये कि जिससे अपने उपयोगमे अपना ही मात्र उपयोग रहे, बस समस्त झझट अनायास ही समाप्त हो जाते हैं। विभावशक्तिके प्रसंगमे यहाँ इतना तात्पर्य जानना है कि इसमे ऐसी योग्यता है अशुद्ध भूमिकामे कि विकाररूप यह परिणमा तो मगर केवल शक्तिके आश्रय मात्रसे नहीं, किन्तु उपाधिका सम्बन्ध पाने पर यह होता है, मैं तो वह हू, मेरा भाव तो वह है जो केवल मेरे आश्रयसे बना करे।

आत्माकी प्रदेशवत्त्वशक्तिका निरूपण—अब कहते है कि एक प्रदेशत्वशक्ति भी

आत्मामे है, जिसका कार्य है, जिस शक्तिके कारण आत्मा प्रदेशवान रहता है। देखो—बाते बहुत बता दी जायें आत्माकी, पर सुनने वालोके चित्तमे आत्मा प्रदेशवान रूपसे ज्ञात न हो तो उससे लाभ क्या ? जानेंगे कहाँ ? किसी भी वस्तुके समझनेमे आधार है उस वस्तु को प्रदेशात्मक रूपसे समझ लेना। अगर प्रदेशात्मक रूपसे वह वस्तु समझ ली जाती तो कुछ हर्ज न था। जैसे चीज तो कुछ भी न हो, प्रदेशात्मक ढगसे कुछ न हो और उसका बयान करे तो वह कैसे बयान करे ? जैसे कोई बच्चे लोग आपसमे खेल खेलते हुए एक दूसरेसे कहते है कि तुम बीमार बन जाओ, बन गए बीमार।···देखो—अपनी नाडी दिखाओ, देख लो, अरे तुम्हे तो बडी भयकर बीमारी है, एक काम करो—कुछ आकाशके फूल, कुछ धुवेके कोपल और कुछ हवाकी छाल·· ले आओ, उनकी औषधि बताकर दे देगे तो तुम्हारी यह बीमारी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ··। अब बताओ—कहाँ से ये चीजें आयें ? ये चीजें जब वहा कुछ है ही नही, इनका कुछ सत्त्व ही नही है तो कहा से लायी जा सकेंगी ? जब कोई चीज होगी तभी तो उसका लाना बन सकेगा। ऐसे ही जब कहा गया कि आत्मा ज्ञानदर्शनस्वभावी है, चारित्र वाला है, आनन्दमय है आदि है·· तो आत्मा हो तो सही कुछ चित्तमे, यदि कोई वस्तु हो ही नही तो फिर उसकी शक्तियोंके प्रकार समझे ही नही जा सकते है। तो प्रदेशवत्त्व शक्तिने प्रदेशवत्ता आत्माकी समझी। वहा ही इन शक्तियोकी बात सोची जा सकती है। यहा यह बात विशेष समझना है कि शक्तियोमे पुञ्जके अतिरिक्त प्रदेश नामकी कुछ चीज नही है। क्या कोई आत्मा जगतमे ऐसा भी मिलेगा कि जहा ये शक्तिया पडी हुई हो ?—अरे शक्तियोका ही पिण्ड तो आत्मा है। और, वह आत्मा ऐसा शक्तिमान है, जितनेमे है वही, स्वय अपने आपमे जितनेमे है, बस उसीको प्रदेशवान कहा गया है। कही प्रदेश अलग नही हैं। जैसे घडा अलग हो और उसमे दूध पानी आदि भर दिया जाय, इस तरहसे आत्मा न्यारा हो, प्रदेशवान हो और उसमे ज्ञानादिक शक्तियोका आरोप किया जाय, इस ओरसे निरखकर देखो—आत्मा अनन्त शक्तियोंका पिण्ड है, बस हो गया, वे ही अनन्त शक्तियाँ, बस ये ही सब प्रदेशवान हो गयी। उनका जो पुञ्ज है, विस्तार है वही प्रदेश है।

जीवके प्रदेशात्मकत्वका संदर्शन—जैसे एक स्थूल रूपसे समझ लो—प्रकाश। प्रकाश के कोई प्रदेश है क्या ? यद्यपि प्रदेश उसमे भी हैं, बिना प्रदेशके नही है, फिर भी इस लोक-व्यवहारमे, लोकरूढिमे जिस तरह लोग समझते हैं उस तरहकी समझ द्वारा दृष्टान्त दिया जा रहा है। प्रकाशमे कुछ प्रदेश नही हैं, वह तो उजेला है, प्रदेश तो चौकी, भीत आदिक मे ही हुआ करते है। प्रकाशमे प्रदेश क्या ? लोग कहते तो हैं कि यह प्रकाश इतनेमे फैला हुआ है। बस जितनेमे फैला हुआ है उतने पुञ्जका नाम प्रदेशपना समझ लीजिये। इसी

तरह अनन्त शक्तिमान । ये अनन्त शक्तिया, उन अनन्त शक्तियोकी भेदप्रक्रिया क्या करना ? स्वभाव है, जितनेमे है बस उतनेमे इसके प्रदेश कहे जा रहे है । तब ही तो देखिये-—जैसा विस्तार किया हो उसका संकोच और विस्तार होता है । विस्तार होनेपर यह तो नही होता कि कोई शक्ति इस तरहसे रूठ जाय कि देखो हमको तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार नही है तुम ही फैलो, विस्तृत होओ, हम तो संकोचको प्राप्त हो रही है । अरे अनन्त शक्तियो वाला यह अखण्ड आत्मा है । वह फैला तो इसके मायने है कि आत्मा अनन्त शक्तियोरूप, वह भी उतने विस्तारमे परिणमा अर्थात् वह अखण्ड आत्मद्रव्य फैला । तो ये प्रदेश कुछ नही है आत्माकी उन शक्तियोसे, लेकिन उन शक्तियोका जो निवास है, जो ओकोपाई किया है, अवगाह है, घेरा है, अपने स्वरूको, वाह्य स्थलकी बात नही कह रहे, उनका नाम है प्रदेश, ऐसे प्रदेशरूपसे रहना यह बताती है प्रदेशवत्त्व शक्ति । जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस शक्तिके कारण आत्मा किसी न किसी आकारमे रहता है । इसे कहते है प्रदेशवत्त्व-शक्ति ।

साकार और निराकार दोनों ही अवस्थाओंमें आत्माकी साकारता——अभी यह जीव मनुष्य शरीरमे है, तो जो मनुष्यका आकार है उतनेमे फैला हुआ है । यहाँसे मरण करके जब किसी चीटीके शरीरमे जायगा तो चीटीका जैसा देह है, उस आकार होगा । हाथीके शरीरमे जायेगा तो हाथीका जैसा देह है उस आकारमे हो जायेगा । तो ऐसा सकोच विस्तार आत्मप्रदेशोमे होता है । सर्व अवस्थाओमे आकार समझमे आ रहा है कि यह जीव इतने प्रदेशमे फैला हुआ है, लेकिन जब शरीर नही रहता तब भी यह आत्मा प्रदेश-वान है, इसका वहा भी आकार है । और, आकार वहा रहा क्या कि जिस शरीरसे मोक्ष होता है ? अर्थात् जिस शरीरको त्यागकर सिद्ध हुए है उस शरीरके आकार वहा अशरीर अवस्थामे प्रदेश रहे । जैसे मोम मंजूसामे गहने बनाये जाते हैं—मोमके ऊपर उस धातुकी चादर चढा दी जाती है, बादमे अग्निमे तपाकर मोमको पिघलाकर निकाल दिया जाता है, तो मोमके निकल जानेपर उस आभूषणका केवल मोमके स्थानीय आकार मात्र रह जाता है । इसी प्रकार अरहंतदेवके शरीरसे वह आत्मा निकल गया तो उस शरीरके प्रमाणमात्र आकार रह गया । वहां जीवके संकोच विस्तारकी बात क्या ? जब कर्मोदय है तभी आत्माका संकोच विस्तार होता है । देखिये-इन पुद्गलस्कंधोमे तो है अधोगौरव और जीवमें बताया गया है ऊर्द्ध्व गौरव, अर्थात् इस जीवकी गुरुता ऊपर की ओर ले जाती है और स्कंधोकी (पुद्गलोकी) गुरुता नीचेकी ओर ले जाती है, तो इस ऊर्द्ध्व गौरव स्वभावके कारण यह आत्मा शरीरबन्धनसे छूटा तो ऊपरकी ओर ठीक सीधमे चला जायेगा । इसकी शक्ति ऊर्द्ध्व गतिकी है । कही वह शक्ति खतम नही हो गयी, धर्मास्तिकाय द्रव्यका निमित्त पाकर

गति होती, अब लोकके बाद धर्मद्रव्यका अभाव न होता तो वह ऊपरकी ओर को बढता, उसे कोई रोकटोक नही सकता। किन्तु धर्मद्रव्यका आगे अभाव होनेसे लोकान्तमे ही सिद्ध अवस्थित हो गया। वह तो परमोपेक्षारूप है, शरीररहित अवस्थामे भी यह आत्मा चरम शरीर प्रमाण रहता है। जितने अन्तिम शरीर है उतने आकारोरूप वह वहा रहेगा। तो प्रदेशवत्वशक्ति यह बतलाती है कि आत्मा किसी न किसी आकारमे ही रहता है। प्रदेश बिना किसी भी द्रव्यका अस्तित्व नही है। भले ही कोई एकप्रदेशी है, कोई बहुप्रदेशी है। आत्मा बहुप्रदेशी है, आत्मा प्रदेशवान है और अनन्त शक्तिमान है, यह बात यहाँ निहारना है।

योगशक्तिका निर्देश—जीवमे एक योगशक्ति होती है। इस शक्तिके कारण तथा योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सन्निधान होने पर आत्माके प्रदेशमे परिस्पद होता है। वह प्रदेश परिस्पद स्वाभाविक परिणमन नही है, किन्तु यह कुछ निमित्तका सन्निधान पाकर होता है, ऐसा विकार इस आत्मामे ही होता है। यह बतानेके लिए योगशक्तिका वर्णन किया जा रहा है। योग और क्रियामे अन्तर है। योगमे तो क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर भी नही होता याने बाह्य आकार क्षेत्रमे यह न भी जाय, अपने ही प्रमाणमे रहे और वहा ही योग हो जाता है। क्षेत्रान्तर होकर भी योग होता है और क्षेत्रान्तरमे न जाकर भी योग होता है, पर क्रिया क्षेत्रान्तरमे जाकर ही हो सकती है, अपनेमे रहकर नही होती। तो योग हलन-चलन जैसा कि अपन सबको अनुभव हो रहे है, घिर गए हैं, कँप गए हैं, प्रदेश चलनात्मकता हो रही है, यह सब कहलाता है योग। योग होता है मन वचन कायके परिस्पदका निमित्त पाकर। मनमे, वचनमे, कायमे हलन चलन हो, परिस्पद हो तो उसका निमित्त पाकर आत्मप्रदेशमे भी परिस्पद होता है। योगके निमित्तोमे प्रधान है मनोयोग, वचन योग, काययोग। ये ही मूलमे ३ योग कहलाते है। योग तो प्रदेश परिस्पदका नाम है, पर वह योग जिन कारणोका निमित्त पाकर होता है उनके नाम पर योगके तीन भेद किए गए है—(१) मनोयोग, (२) वचनयोग, (३) काययोग। हलनचलनका निमित्त पाकर जो आत्मपरिस्पदके लिए प्रयत्न होता है वह मनोयोग है। इस वचनयोगका निमित्त पाकर जो आत्मप्रदेश परिस्पद होता है वह वचनयोग है और शरीरकी हलनचलनका निमित्त पाकर जो योग होता है वह काययोग है। यह योग एक भीतरी रहस्य है। बाहरी चेष्टाओको देखकर यह निर्णय नही किया जा सकता कि इसका यह योग है। कहो वह बोल रहा हो अखण्ड एक धारासे और कहो उसके मनोयोग हो अथवा काययोग हो। इस भीतरी बातको बाहरी चेष्टाओसे नही पहिचान सकते हैं, मगर हा अनुमान होता है और हो सकने जैसी बात निर्णयमें आती है, यह भी हो सकता है, मनोयोग भी हो सकता है, वचन योग भी हो

सकता है, काययोग भी हो सकता है। ये योग १३ वे गुणस्थान तक पाये जाते है। कषाय वान जीवोमे भी पाये जाते है और कषायरहित जीवके भी कुछ समय तक पाये जाते हैं। तो जो कषायरहित जीवके योग पाया जा रहा है वह पूर्व संस्कारके कारण पूर्व बातकी ही किसी सम्बन्धके कारण चल रहा है।

योगरहित होने पर फिर इस जीवमे योग नही होते, योगरहित होते हैं १४ वे गुणस्थानवर्ती जीव और सिद्ध। १४ वे गुणस्थान वाला जीव अन्तमे इतनी तेजगतिसे गमन करता है कि एक समयमे ७ राजू गमन कर जाता है। इतनी तीव्र गति होने पर भी उसके योग नही कहे गए है। योगकी स्थितिमें तो अपने आपके प्रदेशमे हलनचलन है। जैसे किसी बडी पतेलीमे पानी गर्म करनेके लिए रखा है। अभी शुरू-शुरूमे जब गर्म होकर पानी ऊपर नही बढ रहा तो उसमे बहुत महीन-महीन बिन्दु भीतर घूमते रहते है। और, जब पानी बहुत ज्यादह खौल जाता है तब वह ऊपरको बढता है और कही वह पानी बगरने लगा तब तो वे जलबिन्दु ऊपर बडी तेजीसे हो गये है। तो जैसे जल गर्म करनेकी प्रारम्भिक दशामे वह पानी खौल खौलकर भीतर ही भीतर चक्कर लगाता रहता है इसी तरह योगमे ये आत्मप्रदेश बाहर न जाकर भीतर ही अपना चक्कर लगाते है और जब शरीरसे चलकर बाहरमे क्रिया होती है तो वहा क्रिया भी हो रही और योग भी हो रहे। तो यह जीव आज तक एक बार भी योगरहित नही बना, कषायरहित होकर भी कषायवान बना। ११ वे गुणस्थानमे कषाय रहित हो गया, वहा मोहनीयकर्मका पूर्ण उपशम है। यथाख्यात चारित्र हो गया, वीतराग हो गया इतना उत्कृष्ट होकर भी चूंकि कर्म उसके उपशममे थे, उनका विपाक हुआ तो फिर वह नीचे गिर गया, कषायवान हो गया, मगर योगरहित होकर कोई भी जीव सयोगी नही हो सकता। कोई समय ऐसा नही रहा अनादि कालसे लेकर अब तक कि जब इस जीवके कोई योग न रहा हो। योगरहित हो जाय तो फिर उसकी सिद्ध अवस्था ही होगी, दूसरी अवस्था नही हो सकती।

बाह्यपदार्थकी परिणतियोंके लिये जीवके योग और उपयोगमें निमित्तत्त्व--योगशक्ति के विवरणके प्रसङ्गमे एक बात और समझना है। जैसे लोग कहते है कि यह कुम्हार घड़ा बना रहा है, उससे अगर कहते हैं कि बतलाओ कुम्हार घडे रूपमें तो नही बन गया, फिर वह घडा कैसे बना रहा ? तो कहते हैं कि नही बन रहा घडेरूप, पर कुम्हार ऐसा निमित्त कारणभूत है कि जिसके कारण घडा बन रहा है। वह जीव खुद निमित्त कारण नही है, किन्तु जीवके योग और उपयोग निमित्त कारण होते है, जीवद्रव्य स्वय निमित्तभूत है। है अवस्था जीवकी ही, मगर जो योग विकार अवस्था है वह निमित्त क।

करती है। यहाँ देखो— हम बोल रहे है और लगातार बोल रहे है, शब्दविन्यास क्रमसे चल रहा है और वहाँ भी देखा जाय तो प्रत्येक शब्दके बीच-बीच हम सोच रहे हैं, मगर शब्द-व्यवहारमे अन्तर नही मालूम पड रहा। क्या हुआ ? जो शब्दवर्गणायें चली उनमे मेरा योग और उपयोग निमित्त बना। यह मैं शाश्वत जीव निमित्त नही बन गया। मैं तो केवल ज्ञानस्वभावमात्र आत्मद्रव्य हू। अगर मैं निमित्त होता तो फिर सब भाषावर्गणायें लोकमे भरी है और मैं बन गया उनमे निमित्त तब तो फिर निरन्तर बोल (वचन) निकलते रहना चाहिए, किन्तु ऐसी बात तो नही पायी जाती। इससे सिद्ध है कि जीव इन वर्गणाओंका, वचनोका निमित्त नही, किन्तु जीवके योग और उपयोग निमित्त कारण होते हैं। योग हुआ यह प्रदेश परिस्पद। उपयोग हुआ, भुकाव हुआ ज्ञानका--जिस ओर लगा, जहाँ बुद्धि गयी, और वह कहलाया उपयोग। यो योग और उपयोग ये निमित्त कर्ता हैं, जीव नही। इन बाहरी पदार्थोंका भी कर्ता जीव नही। तो जो किसीका निमित्त भी नही है ऐसा सहज स्व-भावरूप मैं हूँ, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। योगशक्तिका विकृत परिणमन है प्रदेशपरिस्पद और जहाँ १४ वाँ गुणस्थान है, सिद्ध अवस्था होती है योगके कारणभूत कर्मोदय आदिक नही मिलते है वहा योगरहित अवस्था होती है। तो यह निष्कम्प अवस्था योगशक्तिका स्वभावपरिणमन है। जैसे विभावशक्तिका विभावपरिणमन रागादिक कहा गया है। पर-मार्थत शक्तिका विभावपरिणमन नही, किन्तु उस शक्तिके कारण जो आत्माका, जीवका विभावपरिणमन है वह है रागादिक विकार। इसी प्रकार इस योगशक्तिका विभावपरिण-मन शक्तिका विभावपरिणमन नही, किन्तु इस शक्तिके कारण जीवका ही जो विभाव परि-णमन है वह है प्रदेशपरिस्पद। और जब उपाधि सन्निधान नही रहता, जब तत्प्रायोग्य वातावरण नही रहता, तब जीवका निष्कम्प परिणमन होता है।

जीवमे एक क्रियावती शक्ति है, क्रियावती शक्तिके कारण आत्मा बाह्यमे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हो सकता है, इसीके मायने हैं क्रियावती शक्ति। देखो—यदि आत्मामे क्रियावती शक्ति न होती तब तो बडा झगडा मच जाता, एक बडी विडम्बना बन जाती। जैसे मानो शरीर कहता कि लो मै तो जा रहा हू, यह तुम जीव यही अलग पडे रहो, मै कही बाहर घूम फिर आऊँ तब फिर यही आ जाऊँगा, तो बताइये क्या ऐसा हो सकेगा ? अरे जहा भी जानेकी यह आत्मा इच्छा करेगा वहा ही यह शरीर भी साथ साथ लगा हुआ जायगा। अथवा जैसे एक घटना ऐसी लो कि कोई एक पुरुषको कोई दूसरा पुरुष जबरदस्ती घसीट रहा है, उसका जानेका मन तो नही करता है, याने आत्मा वहा जाना नही चाह रहा है पर वह जब इस शरीरको घसीटकर ले जाता है तो साथमे इस आत्माको भी जाना पडता है। और देखते भी हैं कि आत्माने किसी कामको करनेकी इच्छा की तो आत्मामे एक हलन-

चलन सी होती है तब शरीरमे क्रिया होने लगती है। तो इस क्रियावती शक्तिके कारण आत्मा क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरको जा सकता है। पर देहसे अलग होनेके बाद, कर्मरहित होनेके बाद उसकी जो लोकके अन्त तक जानेकी बात है वह भी इस क्रियावती शक्तिका ही काम है और इस जीवमे क्रियावती शक्तिका कही अन्त न आ जायगा कि सिद्ध भगवान अगर रुक गए तो वहाँ क्रियावती शक्ति खतम हो गयी यह बात नही है, किन्तु वहाँ ऐसा ही निमित्त संयोग वियोग है जिससे उसके ऊपर गति नही होती। जैसे बच्चे लोग एक खेल खेलते है, एक रबडके फव्वारेमे हवा भर देते है, हवा भर देनेके कारण उसको जब ऊपरको उडाते है तो हवाके संसर्गसे वह ऊपरको ही उडता जाता है। और, अगर कही ऊपर मकानकी छत पड गयी तो वह वही रुक जाता है। अब देखिये उसमे और भी ऊपर जानेकी शक्ति तो है पर उसे कोई निमित्तकी ऐसी परस्थिति नही मिलती कि जिससे वह ऊपर उड जाय। ऐसे ही इस आत्मामे क्रियावती शक्ति है, उर्द्धगमन करनेका ही इसका स्वभाव है तभी तो इसे ऊर्द्धगमनस्वभावी कहते है। ढेलेके अन्दर तो अधोगौरव है, अधोगमन स्वभाव है। वायुमे तिर्यक्‌गमन स्वभाव है, लेकिन आत्मामे ऊर्द्ध गौरव है, ऊर्द्ध गमनका स्वभाव है, कर्मरहित होनेपर यदि किसी जीवको देव आयुकर्मके निमित्तसे स्वर्गमे भी जाना हुआ तो वहाँ भी वह अपने ऊर्द्धगौरवके स्वभावको नही छोडता, किन्तु वह कर्मप्रेरित हो गया, यदि कोई जीव नरक जाय तो उसको यह जरूरी नही है कि पहिले जीव ऊपरको जाय फिर नीचेको जाय। जैसे कि कुछ लोगोकी ऐसी धारणा है कि जीव जब मरता है तो पहिले ऊपरकी ओर जाता है, फिर जहा जन्म लेना होता है वहा जाता है, पर उनकी यह धारणा सही नही है। यदि कर्मबद्ध जीव है तो वह जहा भी मरकर जन्म लेगा वहां सीधे मार्गसे, संक्षिप्तपदसे अथवा कम दूरीके मार्गसे जायेगा। वहा वह जानबूझकर मोडे न बढायेगा तो ज्यादहसे ज्यादह यह जीव तीन मोडे तक ले सकता है, पर तीन मोडे कब लेने होगे जब कि उसे एक निष्कुट क्षेत्रसे किसी अन्यत्र निष्कुट क्षेत्रमे जन्म लेना होवे। तो इस जीवमे क्रियावती शक्ति है। यदि जीव विकारी हो गया तो फिर वह जहा चाहे चला जाय, उसके लिए ऊर्द्धगतिका स्वभावपरिणमन नही रहा। जैसे अग्निकी लौ उठती है तो उसका स्वभाव ऊपर जानेका होता है। हवा चली तो वह तिरछी चलती रहती है, उससे कही उसका ऊर्द्धगमन स्वभाव नही मिट गया, विग्रहगति हुई। ऐसे ही जीवमे विग्रहगति होगी तो कही उसका स्वभाव नही मिट गया। जीवमे अनन्त शक्तिया मानी गयी हैं, अनन्त बल है लेकिन वह अनन्त बल बिगड गया तो बिगड जाने पर भी देखो—उसकी मुद्रा उसका दर्शन शरीरबलके रूपमे मालूम हो रहा है। शरीरमें जो बल आया है वह किसका है? इसी आत्माका बिगडा हुआ रहा सहा बल अन्य मुद्रामे प्रगट हुआ (विकृत बल) है। तो जैसे कहते है ना कि

वडे पुरुषकी वात कहा तक विगडेगी ? विगडकर भी उसका कुछ अंश तो रहेगा ही, इसी तरह यह आत्मा इन विषय कषाय आदिकके ससर्गोमे विगड गया, फिर भी इसकी शक्तिके कुछ न कुछ चिन्ह वने ही रहेगे। तो क्रियावती शक्तिमे यह जीव जव कर्मसे आवृत है तो यह चारो ओर परिभ्रमण करता है, जव स्थूल शरीरमे है तो गोलमटोल कैसा ही चल वैठे और जव इस स्थूल शरीरमे नही है, सूक्ष्मशरीरमे है तब तो सीधा ही जायगा और तिरछा गन्तव्य होगा तो मुडकर, जायेगा, वहा विग्रहगतिमे तिर्यक् अथवा गोलमटोल रूपसे न जायेगा। कैसा यह अद्भुत फव्वारा वन गया। यहाँ तक सव शक्तियोका वर्णन हुआ।

अव इन शक्तियोके वारेमे यह वताते हैं कि जीवकी सव शक्तिया ध्रुव हैं, ये शक्तिया सदा रहती है, क्योकि ये द्रव्यशक्तिया हैं, पर्यायशक्तियाँ अध्रुव हुआ करती हैं। पर्यायशक्तिके मायने यह है कि जो जीव जिस पर्यायमे है, उस योग्य जो ताकत है वह पर्यायशक्ति कहलाती है। जैसे—आज यहाँ मनुष्य हैं तो हममे हलुवा खानेकी ताकत है और कही मरकर खटमल हो गए तो फिर क्या खानेकी ताकत रहेगी ? अरे जो हलुवा खाकर वडिया रस वन गया (खून वन गया) उसके खानेकी ताकत उसमे हो जायगी (हँसी)। तो जिस पर्यायमे जो होता है उसको उसी तरहसे होगा। यह कहलाती है पर्याय योग्यता। तो ऐसी वात इन अणुवो, स्कधोमे भी देखो– घटमे पानी भरनेकी शक्ति है तो यह पर्याय योग्यता है। कोई कहे कि प्रत्येक अणुमे पानी भरनेकी शक्ति है, तो ठीक है, उनमे मूल शक्ति जरूर है, कोई ऐसी कि वे मिल जाये, उनका संघात हो जाय तो उस सघात अवस्थामे इसमे पानी भरनेकी शक्ति आ जायगी। इस तरह एक सम्वन्ध वनाकर शक्ति मूलमे उस किस्मकी मान ली जायगी मगर उसमे यह साक्षात् शक्ति नही है। इसी प्रकार जिस पर्यायकी जो वात है पर्याय मिटने पर वह वात खतम हो जाती है, मगर द्रव्य मे जो शक्तियाँ हैं वे कितनी ही पर्याये वदलें, कितनी ही आयें किन्तु वहा द्रव्यशक्ति समाप्त नही होती है। तो जिन शक्तियोका यहाँ तक वर्णन किया गया है वे शक्तियाँ ध्रुव हैं, सदाकाल रहती है।

अब सुनिये—कैसे हम जानें कि ये शक्तियाँ हैं जीवमे ? तो शक्तियोके समझने का चिन्ह है परिणमन। जितने प्रकारके परिणमन होते हैं उतने प्रकारकी जीवमे शक्तियाँ समझियेगा। इस जीवमे जानन चल रहा है, इतनी समझ आ रही है कि जीव जानता है, जानता ही रहता है। भीत जाना, पुस्तक जाना, चौकी जाना, तो अब हम समझे कि इन जीवोमे जाननेकी शक्ति है, उसीको कह दिया ज्ञानशक्ति। कोई पुरुष जो भी काम करता हो, परिणमन करता हो उसे देखकर यह ही तो बताया जायगा कि इसमे ऐसी शक्ति है। जीव आनन्द पाता है, सुख पाता है, दु ख पाता है तो यह परिणमन जिसके होता है ऐसी

कोई शक्ति तो है। तो ये परिणमन शक्तिके सूचक है। जितने प्रकारके परिणमन है उतने परिणमनोकी इसके सामर्थ्य है, उनको शक्ति कहा करते है। कभी ऐसा भी मालूम पडे कि किसी शक्तिका कार्य हो रहा, किसीका नही, ऐसा भी जानकर यह सन्देह न करना चाहिए कि जिसका काम समझमे नही आ रहा है वह शक्ति अब मिल रही है। सिद्ध भगवान नही चल रहे है तो उस जीवमें अब क्रियावती शक्ति नही है, ऐसा न समझना चाहिए। इसी तरह अन्यशक्तियोकी भी बात है। किन्तु, यह ध्यानमे लाना चाहिए कि जो परिणमन हुआ था, हो रहा है अथवा होगा, उसमे उसकी शक्ति पायी जाती है। उन परिणमनोका आधारभूत शक्ति जीवमे है और ऐसी शक्ति जीवमे अनादिकालसे लेकर अनन्त काल तक रहती है। शक्तिका कही स्वभावपरिणमन है, कही विभावपरिणमन है, कही परिणमन विदित नही हो पाता। तो किसी भी प्रकारके परिणमन हो उनका आधार-भूत शक्ति जीवमे शाश्वत है। ऐसी अनन्त शक्तियो स्वरूप जीव तत्त्वकी पहिचान करायी गई है।

यहा शक्तियोका वर्णन हो रहा है। परिसमाप्तका अर्थ ऐसा लेना कि शक्तियोका वर्णन खतम हो रहा है। यद्यपि लोकमे परिसमाप्तका अर्थ खतम होना, नष्ट होना प्रसिद्ध है, पर यहा परिसमाप्त शब्दका अर्थ देखिये--प्र-सम्-आप्त ऐसे तीन शब्द इसमे है। आप्त कहते है पा लिये हुएको, सम् मायने सम्यक् प्रकारसे (भली प्रकारसे) परि मायने चारो ओरसे, जो कि किसी प्रकार अब छूट ही न सके। तो परिसमाप्तका सही अर्थ हुआ--जो सम्यक् प्रकारसे (भली प्रकारसे) इस तरह से प्राप्त कर लिया गया हो कि जो कभी छूट ही न सके। अब देखिये----परिसमाप्त शब्दका अर्थ लोक रूढिमे जो नाश होना (खतम होना) प्रचलित हुआ उसका कारण यह था कि जैसे कोई चीज परिसमाप्त हुई अर्थात् उसके करनेका फिर कोई काम ही न रहा, जो कुछ करने योग्य था सो कर लिया गया, तो जब करनेके लिए कुछ बात न रही, कोई काम ही रहा तो लोगोने समझा कि उसका तो नाश हो गया, खातमा हो गया। बहुतसे लोग ऐसी आशका करते है कि सिद्ध भगवान जब लोकके अन्तमे अकेले विराजमान है, उनके साथ न स्त्री है, न बच्चे है, न घर द्वार है तो फिर वे किस तरहसे सुखकी प्राप्ति करते होगे ? उनका आनन्द तो परिसमाप्त हो गया है। अरे परिसमाप्तका सही अर्थ यह है—अपने आपके सर्वप्रदेशोमे सत्य आनन्दको भली भाँति पूर्णतया प्राप्त कर लेना, लेकिन लोगोको यह बात यहा दिखती नही है इसलिए अर्थका अनर्थ कर डालते है। तो शक्तियोका वर्णन कहा समाप्त हो गया ? हम पर्यायोका वर्णन करेगे तो क्या शक्तिसे पृथक् जानकर कर सकेगे ? फिर भी एक प्रमुखतामे यह बात कही जा रही है कि चलो शक्तियोका वर्णन तो कर लिया गया है, अब यह बतलाओ कि इस जीवमे पर्याये क्यो होती

और वैसे होती है ? इनमे पर्याय कैसे बन गईं ?

समयसारके उपान्त्य कलशमे जहा यह सकेतमे बताया है कि यह तो एक अद्वैत तत्त्व है। समयसारमे आदिसे अन्त तक इसही की तो उपासना की गई है। एक अद्वैत ज्ञायकभाव एक वही है। णाओजो सो उ सो चेव। णाओ ज्ञात णाओ नाथ—जो जाना गया वह तो वही है, जो नाथ है वह तो वही है। नाथमे दो शब्द हैं—न अथ। अथ मायने आदि है, जिसका आदि नही सो नाथ है। जीवके साथ वही है जो अनादि कालसे था। तो उसकी समयसारमे आदिसे लेकर अन्त तक चर्चा हुई, जहा बताया गया वही एक अद्वैतभाव। अब इससे ज्ञान ज्ञेयका द्वैत प्रकट हुआ। लो अब जरासी जड मिली कि यह आत्मा यह ससारी परमात्मा ससारमे रुलने वाला यह परमात्मा भगवान जरा सी गैल मिले तो जैसे बड़ा आदमी जरा सी बातमे क्रुद्ध हो गया तो बडा बिगाड कर सकता है, इसी तरह यह भगवान आत्मा जरासी गैल पा भर जाये, बस यह अपना इतना विगाड कर लेगा कि जैसे ये सब जीव दिख ही रहे है। तो यह अद्वैत ज्ञायकभावरूप है, सो यहा इसमे पहिले तो ज्ञान ज्ञेयका द्वैत हुआ, उसमे स्वपरका द्वैत हुआ, इससे अब अन्तर आने लगा, अब इष्ट अनिष्ट बुद्धि जगी, फिर रागद्वेपका परिग्रह लदा जिससे क्रिया कारकका भेद जगा, अब उस भेद-षट्कारकी वृत्तिसे खिन्न क्रियाकी अनुभूति हुई। अहा, यह विडम्बना मुझे नही चाहिये। मैं तो इसी अद्वैत निर्विकल्प विज्ञानघन अन्तस्तत्त्वमे मग्न रहू। ज्ञानीकी ऐसी भावना होती है। जिनके यह विवेक नहीं। तो इस एक ज्ञायकस्वभावका परिचय न होनेसे, अद्वैतमे द्वैत की बुद्धि होनेसे फिर उनका ऐसा प्रसार हुआ कि क्रियाकारक जैसी बात हो गयी और फिर यह फलको भोगने लगा। जब फलोपयोग हुआ तो फिर ये नीच दशाये बन गईं। तो वह अद्वैत ही रहो, बस इसके सिवाय और कोई आशीश न चाहिए, ऐसी भावना ज्ञानीमे होती है। केवलज्ञान जिसका इतना विशाल परिणमन है कि तीन लोक तीन काल जान जाय। मुझे वह केवलज्ञान न चाहिए। तीन लोक, तीन कालको जानकर क्या करेंगे ? मुझे तो सिर्फ स्वका ज्ञान चाहिए। मुझे स्वका ज्ञान मिल जावे, फिर चाहे केवलज्ञान मिले अथवा न मिले। इस तरह शक्तियोके वर्णनमे उस ही स्व तक पहुचानेका प्रयास किया गया है कि जिससे स्वका अनुभव कर लिया जाय। उस स्व शक्तिकी बात कहकर पर्यायकी बात कह रहे है कि यह पर्याय हुई कैसे और क्यो हुई ? इसका वर्णन आगे चलेगा।

वस्तुका, आत्माका मूल परिणमन—ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वके परिचयके लिए अनन्त शक्तिया है, उनमे से कुछ शक्तियोका वर्णन किया। वहां यह जाना गया कि जैसे आत्म-द्रव्य ध्रुव शाश्वत है उसी प्रकार ये शक्तिया भी शाश्वत हैं, यो इस गुणमय आत्मद्रव्यके समझनेके पश्चात् अब यह जिज्ञासा होना प्राकृतिक है विकल्पमे आने वाले जीवको कि ये

सब विडम्बनाये, पर्याये फिर कैसे बन रही है ? द्रव्य तो अनन्त शक्तिमय है और शक्तियो के आश्रयमे ये विडम्बनाये नही होती है, यह भी बात कह दी गई है। यह विडम्बना कैसे बनी ? उसके समाधानमे सक्षेपरूपसे यह समझिये कि शक्तियाँ तो कारण है उपादानरूपमे किन्तु बाहरी पदार्थ उपाधिका सम्बन्ध है तो ये बाहरी विडम्बनायें बनी, अब इन्ही विडम्बनाओका, इन्ही व्यक्तपर्यायोंका एक समौलिक कुछ वर्णन यहासे देखिये— प्रत्येक द्रव्य निरन्तर अपने स्वभावरूप है। उसका उसमें अपने आपमे सत्त्व है, किसीका किसी द्रव्यके साथ सम्बन्ध नही है। कोई पदार्थ किसी पदार्थके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे मिला नही है, अन्यसे बिल्कुल विविक्त समस्त पदार्थ है और साथ ही यह भी ज्ञात हो रहा होगा कि प्रत्येक पदार्थ स्वरसत उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है, परिणमनशील है। वस्तुका यह स्वभाव है कि है तो वह निरन्तर परिणमता ही रहता है। कल्पना करो कि एक क्षण वस्तु न परिणमे तो ऐसा कभी हो सकता है क्या ? परिणमन ज्ञानमे चाहे न आये कि किस तरह का परिणमन हुआ है, लेकिन परिणमन वहां प्रतिक्षण हुए ही है। तो पदार्थका परिणमन-शील स्वभाव है। आत्मा भी वस्तु है। वह आत्मा केवल है, कर्मबद्ध अवस्थामे भी केवलको निरखकर अभी परिणमनकी बात सुनो व अबद्ध अवस्थामे भी केवलको निरखकर सुनो, वह केवल आत्मा, वह भी परिणमनशील है, क्योकि वस्तु है, अब वस्तुका जो परिणमन हो रहा है सहजस्वभावके नाते से तो वह परिणमन स्वभावसे चल रहा है, यह है एक निरपेक्ष परिणमन। उस परिणमनको कहेगे अर्थपर्याय अर्थात् षट्गुणहानि वृद्धिरूपसे जो वस्तुमे परिणमन चलता है वह है अर्थपर्याय। वस्तुको परिणमना क्यो चाहिये ? चाहिये का क्या सवाल ? वस्तु परिणमनशील होती ही है और, चाहिए का भी प्रश्न करे तो सुनो। वस्तुको क्यो परिणमना चाहिए ? अपना सत्त्व बनाये रखनेके लिए। वस्तुका परिणमन होता है अपने आपका सत्त्व बनाये रखनेके लिए। उसे और क्या प्रयोजन पडा है ? आत्मा भी वस्तु है, वह भी क्यो परिणमा ? अपना सत्त्व बनाये रखनेके लिए परि-णमा। वस्तुमे तो सहज अर्थ पर्याय होती ही है। अब किसीके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके, कुछ कल्पनायें करके, कुछ और पर्याय बने तो यह उसके अज्ञान विपाककी बात है, पर वस्तुमे स्वयं सरलता क्या चीज है और उसका प्रयोजन क्या है ? तो वस्तुमे परिणमन है प्रतिक्षण और उसका प्रयोजन है अपने आपका सत्त्व बनाये रखना। अब इस तरह यह जान गये होंगे कि वस्तु परिणमनशील है, प्रतिक्षण परिणमती है, अपना सत्त्व बनाये रखने के लिए परिणमती है। इस तरह प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थ पर्यायरूपमे प्रतिक्षण रहती है। यह तो हुई एक उस अर्थपर्यायकी बात, जो केवलीगम्य है स्पष्टतया हम आप नही जानते, ज्ञान द्वारा जान रहे हैं, और कुछ प्रक्रियासे भी जानते हैं।

अर्थपर्यायमें विकारका अंगीकरण—यहाँ तक यह निर्णय हुआ कि वस्तु है तो प्रतिक्षण परिणमना चाहिए। किन्तु उस परिणमनका कोई व्यक्त रूप सामने नही आ पाता। एक बालक एक वर्षभर रोज बढता जा रहा है, प्रति मिनट, प्रति सेकेण्ड, लेकिन कुछ पता पडता है क्या कि कलसे आज कुछ बढ गया है ? अरे जब एक वर्ष व्यतीत होता है तब वहाँ विदित होता है कि यह तो बडा हो गया। तो परिणमन प्रति क्षण है, पर वह ज्ञानमे नही आता। तो जितने ये सब परिणमन ज्ञानमे आ रहे है उनका मूल आधार वह मूल अर्थपर्याय परिणमन हैं। जैसे कोई कहे कि हम पदार्थमे परिणमन तो मानते हैं—रागी बन गए, केवलज्ञानी बन गए, पर अर्थपर्याय कुछ नही है, उसने कुछ नही माना तो ऐसी उस सामान्य पर्यायको, अर्थपर्यायको यदि त्याग दें तो यह व्यक्त परिणमन नही हो सकता। तो यह तो है अर्थपर्यायकी बात, लेकिन जिज्ञासा यह बन रही है कि यह व्यक्त परिणमन कैसे हो गया ? यह कीडा बन गया, यह सूकर, गधा आदि बन गया, यह मनुष्य हो गया, यह क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी हो गया, यह नाना कषायोरूप बन गया ये सब बाते कैसे बन गईं ? क्या बात है ? थोडी देरको एक स्थूल दृष्टान्त ले लो कि जैसे कोई एक लोहेका गोल चक्र बडी तेजीसे घूम रहा है। तो घूम रहा है यह तो है उसका स्वाभाविक परिणमन और वहाँ कोई सूक्ष्म मैल लग गया, कोई रुईके ऐसे फव्वारे लग गए तो उस मूल परिणमनमे अगीकृत होकर वे सब मैल भी घूम रहे हैं, तो यद्यपि यह स्थूल दृष्टान्त दिया जा रहा है, वहाँ वह लोहचक्र अलग द्रव्य है और जो मैल आया है, फुई आयी है वह अलग द्रव्य है, लेकिन दृष्टान्तका प्रयोजनमात्र इतना है कि जो परिणमन प्रकृत्या चल ही रहा है उस परिणमनके साथ यह इतना मैला, भद्दा, विकृत, परिणमन (घूमना) चल रहा है तो जो उसका अर्थपर्याय हो रहा है वह मूल घूमना है षड्गुणहानिवृद्धिमे यह विकास, यह भी इस तरह घूम रहा है, परिणम रहा है। प्रयोजन यह है कि जैसे उन मैलोके भ्रमण का मूल आधार उसका सत्त्वप्रकृत्या घूमना है इसी प्रकार हमारे इन विकल्पोका आधार भी इन विकल्पोका निरन्तर रहना बन रहा है। यद्यपि इस तरह नियम नही है कि जहाँ अर्थपर्याय हो वहाँ यह विकारपरिणति साथ चले, लेकिन यहा यह नियम है कि विकार, दुख परिणमन ये सब व्यक्त पर्यायें नही हैं जहाँ अर्थपर्याय हो रही हो, जहाँ मूल परिणमन चल रहा हो अर्थात् विकारपरिणमन असत्मे नही होता। होता क्या है वहाँ कि ये पदार्थ अर्थ पर्यायका स्वभाव रख रहे हैं, आत्मामे यह अर्थपर्याय चल रही है और उसके साथ ही यह जीव मलीमस हो रहा है, आत्मामे यह अशुद्ध पर्याय चल रही है और उसके साथ ऐसी उपाधिके उदयमे विकार पर्यायें है वे अगीकृत हो गयी, अलग नही कि लो यह अर्थपर्याय चल रही है और ऊपर विकारपर्याय चल रही है। उसे यो समझिये कि वह शुद्धभाव तिरो-

भूत हो जाता है और यह विकृतभाव प्रकट हो जाता है। होता है ना एक मूल सेन और उस पर यह व्यक्त सेन, तो इस तरह ये पर्यायें यहाँ व्यक्त हो रही तो क्या है ? यह मूलोत्तर परिरणमन है, अलग-अलग नही है मूल और उत्तर परिरणमन, किन्तु वे मूल परिरणमन अब इस रूपमे व्यक्त हो गया है तो यो इसकी ये व्यञ्जन पर्यायें होती है।'

आत्मामें अर्थपर्याय व व्यञ्जनपर्याय—पदार्थमे दो तरहकी पर्यायें होती है—(१) अर्थपर्याय (२) व्यञ्जन पर्याय। अर्थपर्याय सूक्ष्म और मौलिक परिरणमन है। जिसका हमे पता ही नही लगता, जिसको हम कुछ महसूस ही नही करते। व्यंजन पर्याय वह है जो व्यक्त पर्याय है। क्रोध, मान, माया, लोभका होना अथवा कीडी मकोडा आदिक नाना शरीरोमे उसका परिरणमन होना, आकार बनना, ये सब व्यञ्जन पर्याय है, तो वह व्यञ्जन पर्याय व्यक्त पर्याय है और अर्थपर्याय अव्यक्त पर्याय है। इसके लिए एक दृष्टान्त समझ लीजिए। एक स्फटिकमरिण जो बिल्कुल स्वच्छ है, स्वच्छ परिरणम रही है, लेकिन वहाँ पासमे कोई उपाधि आ जाय लाल कागज पासमे लगा दिया जावे तो वहाँ वह लाल परिरणमन हो गया। वहाँ यह बात न होगी कि सफेद परिरणमन तो अन्य अन्य रहे और वह लाल परिरणमन दूर दूर रहे। यद्यपि दिखता ऐसा है कि हाँ लाल परिरणमन दूर दूर ही है, देखो कागज को थोड़ा हटाया तो लाली भी थोडी हट गई और उसे पूरा हटा दिया तो लाली पूरी हट गई। अगर जल्दी-जल्दी उस लाल कागजको लावें, हटावे, तो उसी तरहसे लाली आती जाती है तो सिद्ध होता है कि वह परिरणमन ऊपर ऊपर है, पर ऐसी बात नही है। और, यह भी नही है कि वहा वह लाल परिरणमन मात्र दिखता ही है। हो वहा सफेद ही परिरणमन सो ऐसा भी नही है किन्तु वह एक ऐसा ऊपरी परिरणमन है कि उस स्फटिकके सर्व जगह मे हो गया लाल परिरणमन, फिर भी निमित्तके हटनेसे उसके हटनेमे देर नही लगती, वह लाल परिरणमन उसमे चिपका नही रहता, उसमे प्रविष्ट नही है और हो रहा है वही सारा परिरणमन तो जैसे लाल परिरणमनका मूल आधार भीतर स्वच्छता परिरणमन है और वही स्वच्छता परिरणमन उस लाल परिरणमनको करके उसका रूप व्यक्त हो गया है, वहा दो परिरणमन नही हैं—एक कालमे एक ही परिरणमन है, पर उस लाल परिरणमनकी विधि तो देखिये– किस तरह हो जाती है ? इसी तरह अपने आपमे इस विकारके परिरणमनकी विधि भी समझना चाहिए।

परविविक्त चैतन्यमात्र स्वके निर्णयमें आत्मलाभ—भैया ! मैं क्या हूँ ? ऐसा मूलमें निर्णय हो तो उस निर्णयके आधार पर हम अपना मोक्षमार्ग चला सकेंगे। जो हममे विपत्तिया है, कलंक है, कल्मषतायें है वे सब दूर की जा सकेंगी, एक मूलको पकड ले—मैं तो यह हूँ, देखिये—सारा दृष्टिका ही तो खेल है। दृष्टिसे ही यह जीव दुखी हो रहा है और दृष्टिसे ही जीव आनन्दरूप हो जायेगा और दृष्टि ही यहा प्रत्येक जगहपर कर रहे है

और कुछ नही। जैसे घरगृहस्थी बसाये हैं, बडे बालबच्चोका प्रसग है, बहुत पोजीशनकी चिन्ता है, इनका जहा जोर है उस जगह भी यह जीव कर क्या रहा है? केवल दृष्टि कर रहा है, कल्पना कर रहा है, इसके अतिरिक्त और कुछ नही करता। सो इस बातको यो समझिये कि तीन लोकके अन्दर यह थोडासा परिचित क्षेत्र कितनासा क्षेत्र है, जिसमे कुछ पोजीशन वाला मानकर अपनेको विकल्पोमे डाला जा रहा है और अपने आपका बिगाड किया जा रहा है। इतना बडा तीन लोक है जिसकी अगर विशेषता बताया जाय तो यह ही कहना होगा कि अहो, इसका तो कोई हिसाब ही नही है। इतने बडे लोकमे आज यहा है, यहाँके विकल्प मचा रहे हैं, इन विकल्पोसे जीवको लाभ कुछ नही मिल रहा है, यहासे मरण करके न जाने कितने अनगिनते योजनके बाद, कितने राजुवोके बाद वहा जन्म होगा, किस पर्यायमे जन्म होगा, फिर इस जीवका यहा रहा कौन जिन विकल्पोमे अपने जीवनके क्षण गुजार दिए गए? इसी तरह कालकी भी बात सोचिये—तीन कालका समय कितना बडा है? अनादि अनन्त काल है। लोकमे तो फिर भी हद है, पर कालमे हद नही है, ऐसे अनादि अनन्तकालमे इतनी लम्बी यात्रा कब तक चलेगी? अनन्त काल तक। यदि इस १०–२०–५० वर्षके जीवनमे कुछ मौजके साधनोमे ग्रस्त रहकर अपने जीवनको व्यर्थ मे खोया जा रहा है तो इसका फल क्या होगा? बस यही अनन्तकाल तककी लम्बी यात्रा मे पडे रहना और दु खकी घोर यातनायें सहन करना। जगतमे जीव अनन्त हैं, इतने अनन्त जीवोमेसे यदि कुछ थोडेसे परिचित लोगोके बीच अपना पोजीशन बनानेकी बात सोची जा रही है तो यह तो कोई विवेककी बात नही है। अरे यहाके अनन्त जीवोमे कुछ लोगोसे परिचय हो पाया तो क्या, न परिचय हो पाया तो क्या? वे कोई भगवान थोडे ही है जो हमारा भला कर देंगे। और जिन परिजनोसे इतना मोह किया जा रहा है वे इस जीवके कुछ लगते है क्या? अरे वे भी उतने ही भिन्न है जितने कि जगतके अन्य जीव भिन्न है। वहाँ जरा भी यह गुन्जाइस नही है कि घरके लोग तो अधिक निराले नही है, पर अन्य लोग पूरे निराले हैं। अब उन अनन्त जीवोमे से कुछ जीवोको छाट लेना कि ये मेरे अमुक है—ये मेरे मित्र है, ये मेरे इष्ट है, ये मेरे विरुद्ध है, ये गैर है, इस प्रकारके विकल्प करके मिला क्या कुछ? बरबादी किसकी हुई? खुदकी। खुदको ही विकल्पित किया, खुदको ही रागी द्वेषी किया, और खुदको ही बरबाद किया। हम जो चेष्टा करते हैं वह अपनेमे करते हैं और उससे हम अपनेको ही सुख दु ख पाते हैं। बाहरमे क्या सम्बन्ध?

अमूलाधार विभावव्यञ्जक पर्यायमें मोहीकी वृत्ति—यहा देखिये—सब पर्यायोका मूल आधार क्या बताया? अर्थपर्यायमे षड्गुणहानिवृद्धिरूप व्यक्त अन्त पर्याय, जिसमे मैल चिपककर यह मैल भी अपनी प्रतिष्ठा पा रहा है इस अज्ञान अवस्थामे। तो इसके ऐसी

ज्योति प्रकट होनी चाहिये थी कि इसको अपने आत्माके शुद्ध कार्यके अतिरिक्त अन्य कार्य करनेमे लाज आनी चाहिए, पर इसकी लाज खतम हो गई, अज्ञानने खतम कर दी और यह बेसुध होकर बाहरी विकल्पोमे ही तो लग रहा है और अपने आपके इस भगवान परमात्मदेवकी सुध नही रख रहा तो यह वर्तमान व्यञ्जन पर्याय, यह व्यक्त पर्याय अज्ञान अवस्थामे जो सही मालूम हो रही है यह मायारूप है। इसका आधार कही कुछ नही है। ये व्यक्त पर्याय भ्रमके कारण हुईं। अपने आपके स्वरूपको न पहिचाननेके कारण हुई हैं, तब इसी कारण इस परिच्छेदमे इन अनन्त शक्तियोका वर्णन किया। अनन्त शक्तियोरूपसे अपने को जाना, अपनी शुद्ध शक्तिको पहिचाना, अपनी इन शक्तियोके प्रसादसे ऐसा होना योग्य हुआ। और वही मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, वही मेरा कार्य है, अन्य कुछ मेरा कार्य नही है, यह बात जिसके चित्तमे बैठती है उसे एकदम ही एक क्षणमे बैठ जाती है, और जिनके चित्तमे बैठ गई उनको फिर सारा ससार असार दिखता है।

अज्ञानियोंको ज्ञानियोंकी वृत्तिपर आश्चर्य—मोही जन मोहीकी वृत्तिपर आश्चर्य करते है। जब मोहियोके दिमागमे यह बात नही समा पाती तो वह इन ज्ञानियोको पागल निरखता है। देखो—कैसा इसने घर छोड दिया, इसने कैसा घरके बाल-बच्चो तकको छोड दिया, किसीकी भी इसने परवाह न की, ये सुकुमाल ये सुकौशल कैसा पागल जैसे हो गए, सासारिक समस्त सुख साधनोको छोडकर कैसा इन्होने जगलकी शरण ली, यो अज्ञानियोंकी दृष्टिमे वे ज्ञानी जन पागल जैसे दिखते है, पर उनको तो कोई ऐसा अद्भुत स्वाद मिल चुका है कि जिसके आगे संसारके सारे स्वाद फीके (नीरस) लग रहे थे। उन ज्ञानी पुरुषोके अब विषयकषायके परिणाम नही बन सकते, रागद्वेष मोहादि विकारभावोको करनेकी अब ताकत नही रही उनमे। वे परिजनोमे अब अपनायत की बुद्धि नही रख सकते, उनकी दृष्टि मे यह बात पूर्णतया समा चुकी है कि यहा सबका भाग्य न्यारा न्यारा है। सभी ससारी जीव अपने पुण्य पापकर्मके उदयके अनुसार ही सुख दुख पाते है। मैं परिवारका पालन पोषण करने वाला न था। व्यर्थमे ही कर्तृत्वबुद्धि करके पापबन्ध कर रहा था। मैंने किसी का कुछ नही किया। सबका अपने अपने भाग्यके अनुसार सब कुछ होता है। तो जहाँ एक सही दृष्टि बन गई ज्ञानी पुरुषोके चित्तमे तो फिर उनकी वह निर्दयता कैसे कही जा सकती है ? यहा भी तो लोग बच्चोके पीछे कितना हैरान रहा करते है। उनको सुखी रखनेके लिए रात दिन बडा श्रम किया करते है और वे मानते है कि मै इन बच्चोका पालन पोषण करता हूँ। अरे वहा यह सोचना चाहिए कि घरके इन बच्चोका ऐसा भाग्य है कि हमको उनके पीछे हैरान होना पड रहा है, उनकी सेवा करनी पड रही है। यह तो मुझे उन बच्चोकी नौकरी बजानी पड रही है। यहाँ तो सबको अपना अपना ही सब कुछ होता है।

अज्ञानियोंकी अन्तःशरण्यसे अपरिचितता—देखिये, यहां इस क्षेत्रसे निर्वाण होने

वालोमे भगवान पार्श्वनाथकी वडी महिमा आज भी जनसमूह द्वारा गाई जा रही है, पार्श्वनाथ प्रभु बालब्रह्मचारी थे, उन्होने वडे-बडे उपसर्गोमे भी धीरता धारण की थी। इतने वडे पुरुषको (महान आत्माको) भी अज्ञानी जन बेचारा समझते होगे। अरे उन्होने सर्वसे विविक्त होकर अपने आपके इस कारण समयसाररूप परमात्मदेवको दृष्टिमे लिया और इस परमात्म देवके मिलनके प्रतापसे वे जगलोमें भी प्रसन्न रहे। वहा पर उन्हे कोई विकल्प था क्या ? जो यहा मुनिजन, विरक्त संतजन ज्ञानकी ही धुन रखने वाले थे उन्हे अज्ञानी लोग पागल कहते थे, बेचारा कहते थे। जैसे कि ये बेचारे वडा तपश्चरण करते है, ये निर्जन स्थानोमे रहा करते है। इन बेचारोके पास किसी भी प्रकारके आरामके साधन नही है, खाने पीने वगैरहकी चीजे भी पासमे कुछ नही है, नौकर चाकर भी नही है, ये बेचारे कैसा एकान्त स्थानमे धर्मसाधना करते हैं। इन अज्ञानियोको क्या पता कि यो वाहरमे इनका कोई शरण नही है, किन्तु भीतरमे उनका शरण सब है। ये अज्ञानी बाहरमे अपना शरण मानकर सचारे बन रहे है और भीतरमे बेचारे बन रहे है। ये प्राणी जीव बडे ही कष्टमे है, इनका कष्ट तब तक दूर नही हो सकता, जब तक अपने स्वरूपको न सम्हाला जाय।

अपने ज्ञानमात्र स्वरूपकी धुन बनाकर भावमरणसे छुटकारा पानेका अनुरोध—इन शक्तियोका वर्णन सुनकर परिज्ञान करके जब तक ज्ञानमात्र तत्त्वको न जाना जाय, तब तक इस जीवका भला नही है। इस जीवका अनर्थ है, बरबादी है, घात है, हत्या है। हम स्वय अपने आपके भ्रमसे, अज्ञानसे अपने आपकी प्रतिदिन हत्या किए जा रहे है। इसही को कहते है भावमरण। अपने ज्ञानकी सुधसे चिगकर बाहरमे कही दृष्टि लगाया, इतनेमे ही भावमरण हो रहा है। तो अब समझिये कि हमारा कर्तव्य है कि भावमरणसे छुटकारा पाये और अपने आपके ज्ञानस्वरूपमे ज्ञानको प्रतिनियत बनायें। अगर वन सके तो इस असार अशरण ससारमे जो सुयोगसे आज साधन पाया है, इन्द्रिय, शरीर, मन पाया है, जैनधर्मका शासन पाया है, ज्ञानावरणका विशिष्ट क्षयोपशम पाया है, वह सब सफल हो जायेगा और एक अपने आपकी दृष्टि हम न पा सके तो इन सबका पाना निष्फल है, और बल्कि यह समझो कि वह अपने पतन, दुर्गति, बरबादीका कारण बन जाता है। जैसे कहते हैं यहाँ कि किसी थोड़ी देरको मिली हुई चीजको पाकर इससे बहुत बढिया काम निकाल लो, तो ऐसे ही थोडी देरको मिले हुए इन उत्तम साधनोका यहा हम आप सदुपयोग कर ले। इन सब चीजोका सदुपयोग यही है कि अपने आपके ज्ञानमात्र स्वरूपको अपनी दृष्टिमे ले लें और यहा की इन मायामय अध्रुव चीजोसे अपने उपयोगको हटा लें। बस एक अपने ज्ञानस्वरूपको अपने आपमे प्रतिष्ठित कर लें, यही एक सबसे बडा लाभ हम आपको उठा लेना चाहिए, अन्य कोई दूसरा कार्य हम आपको करनेको नही पडा है ऐसा

अपना निर्णय बना करके इसकी ही रुचि और इसकी ही धुन बनाना चाहिए।

आत्माकी विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायकी उपपत्ति—इस परिच्छेदमे अब तक आत्माके गुण और गुण पर्यायोके सम्बन्धमे कुछ प्रकाश किया गया। अब इस बातपर विचार कर रहे है कि जो आत्माका आकार देहके सम्बन्धमे बन रहा है अथवा ये ससारी जीव जो ये नाना देहाकारोमे दिख रहे है वे आकार किस तरह बने है ? जब जीव समान है, चैतन्य-स्वरूप है फिर यह विषमता क्यो नजर आ रही है कि कोई चीटीके शरीरके आकारमे ही अपना सर्वस्व अनुभव कर रहा है, कोई हाथी जैसे विशाल देहके आकारमे अपना सर्वस्व अनुभव कर रहा है और १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौडा, २५० योजन मोटा जो स्वयभूरमण समुद्रका मगर मच्छ है वह उस देहमे अपना सर्वस्व अनुभव कर रहा है। तो इस भगवान आत्माकी यह क्या हालत हो रही है कि इसे इतने विचित्र विचित्र देह धारण करने पड रहे है ? यह फर्क कहाँसे आया ? यह फर्क आया है कर्मविपाकसे और इसी कारण सकोच विस्तार हुआ। सो आत्माके प्रदेश संकोच विस्तारके कारण इसमे फैलने और सिकुडनेकी बात पायी जा रही है। कितना अद्भुत अमूर्त द्रव्य है ? अन्य कोई भी द्रव्य न फैलता है, न सिकुडता है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदिक धर्मोंके फैलना सिकु-डना नही होता है। एक आत्मा ही ऐसा है जो फैल भी जाता है, सिकुड भी जाता है, यह एक अनोखी बात है। जिसकी जो बात है, जिसमे जो हो रहा है और अनुभव सिद्ध है उसमे और तर्क वितर्क क्या जमाया जाय ? उसके अनुरूप कारण खोज लेना चाहिये कि यह ऐसा हो क्यो रहा ? यह जो फैला है यह प्रदेशके सकोच विस्तारकी बात क्यो बन रही है ? कर्मविपाकसे देह मिला और देहप्रमाणका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोमे सकोच और विस्तार होता है, वह प्रदेशवी पर्याय है, इसे व्यञ्जनद्रव्य पर्याय बोलते हैं। एक ही शरीर मे जब बच्चा उत्पन्न होता है तो देखिये वह एक या आधे हाथका होता होगा, जवान होने पर वह कई हाथका बडा हो जाता है, वही पहिले कितने रूपमे अपनेको अनुभव कर रहा था, और अब कितनेमे ? इसके लिए दृष्टान्त दिया जाता है दीपकका प्रकाश।

जैसे दीपकका प्रकाश जितनी जगहमे दीपक हो उतनी जगहमे फैलता है। बडे कमरे मे दीपक रखा तो बडे रूपमे फैल जाता है, छोटे कमरेमे रखा तो वह सकुचित हो जाता है। यह दृष्टान्त भी एक दे सकते है। परमार्थत दीपकका प्रकाश दीपकके बाहर है ही नही। लोगोको तो यह भ्रम हो गया है कि दीपकका प्रकाश इस कमरेमे फैला है तो फिर किसका प्रकाश फैला है ? जो पदार्थ प्रकाशित है उसका प्रकाश है वह। दीपकका प्रकाश दीपकसे बाहर नही है। दीपक कितनेको माना है ? वह जो लौ है या बिजलीका जितना वह लौके पास वाला तार है वही तो दीपक है। उसका रूप, रस, गंध, स्पर्श, आभा, प्रभा,

प्रभाव सब कुछ उसीमे है, उससे बाहर नही है, पर यह एक ऐसा निमित्तभूत पदार्थ है कि उसका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ अपनी अधकार अवस्थाको छोडकर प्रकाशरूप अवस्थामे आ जाते है, लेकिन इतनी गहराईकी बात इस दृष्टान्तमें नही सोचना है। यहाँ तो यह निरखा जा रहा है कि दीपकका प्रकाश जितनी जगह पाता उतनी जगह फैल जाता है, ऐसे ही यह आत्मप्रदेश जितना स्थान पाता है, देह पाता है उतनेमें फैल जाता है और इतना ही नही, कभी अन्य कारणोसे समुद्घात होता है तो देहसे बाहर भी यह आत्मा फैल जाता है। इतना तो प्राय दिखता है कि जिसके क्रोध ज्यादह उत्पन्न हो रहा है वह लाल पीला हो जाता है, आपेसे बाहर हो जाता है, मानो उसकी बुद्धि ठिकाने नही रहती। तो वह प्रदेशोसे भी बाहर हो जाता है। जितना भी देह है उससे तिगुने प्रमाणमे बाहर फैल जाता है क्रोधकी अवस्थामे। तो निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोमे सकोच विस्तार होता है। अब यह परिच्छेद समाप्त होने वाला है, तो इसमे सब मार्मिक बातें कहकर पीछे जरा जैसे कोई व्यवस्थित तत्त्वको साफ सुथरा कर पूरा करके जाना होता है इस तरह उसकी शेष बातें कही जा रही हैं कि वह आत्मा प्रदेशवान है और उन प्रदेशोका सकोच विस्तार होता रहता है। इस कारण इतने आकारमे भेद हो गए।

अखण्ड ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके परिचयके लिये अनन्त शक्तियोंका परिचयन—अब कोई जिज्ञासु यह सोच सकता है कि आत्मा तो अखण्ड वस्तु है। बतला ही रहे हैं ऐसा, लेकिन यहा असख्यात तो प्रदेश भी बता दिया और अनन्त गुण बता दिया, अनन्त पर्यायें हो गयी। एक ही समयमे जितने गुण हैं उतनी पर्यायें हो गयी और एक पर्यायमे कितने अश हो गए तो ये तो पृथक् पृथक् अपना स्वरूप लिए हुए हैं। फिर अखण्ड तत्त्व कहा रहा? वैशेषिकवादकी उत्पत्ति इसी जिज्ञासाके आधार पर हुई। जो ज्ञानका स्वरूप है सो दर्शन का स्वरूप तो नही। जो किसी एक शक्तिका स्वरूप है वही अन्य शक्तियोका तो नही, जो गुणका है वह पर्यायका तो नही। अच्छा प्रदेशमे भी चलो– जो किसी एक जगह प्रदेश है, एक प्रदेश है वही तो सर्वप्रदेश नही। तो जब ऐसी बातें समझमे आ रही है कि स्वरूप न्यारा है तो और कसर क्या रह गयी? वे सब चीजें न्यारी न्यारी है। यही है विशेषवाद। और, उसके आधारपर यह जिज्ञासा होती है कि फिर वह पिण्ड अखण्ड तत्त्व कहा रहा? समाधानमे भीतरकी ओरसे चलो—आत्मा अखण्ड वस्तु है एक रूप, अब उसको जो नही समझते हैं उनको समझानेके लिए व्यवहारमे यह सब उपदेश है। इसमे अनन्त गुण हैं, अनन्त पर्यायें है, उतने उसमे अश हैं। यह सब प्रतिबोधके लिए कहना पडता है, और यह अटपट नही कहा गया है। सही अनुकूल वस्तुस्वरूप जिससे समझा जाय उस तरह कहा गया है लेकिन वस्तु तो एक अखण्ड है। जो एक परिणमन होगा वह पूरेमे होगा और

उससे बाहर न होगा। तो आत्मा तो अखण्ड वस्तु है, पर उसका जिन्हें अनुभव नही है ऐसे पुरुषोके लिए अनन्त शक्तियोका वर्णन है। देखिये— अग्नि तो एक है और उसके काम अनेक है। उसका विश्लेषण इस तरह करते है कि यह अग्नि जलाती है इसलिए दाहक है, यह पचाती है इसलिए पाचक है। यह प्रकाश करती है इस लिए प्रकाशक है। वहा तो एक बात पायी जा रही है और एक परिणमन है। अब भिन्न-भिन्न बाते है तो रहे मगर जैसे अग्नि तत्त्वसे एक है मगर व्यवहारसे उसके नाना भेद किए जाते है इसी तरह आत्मा अखण्ड एक है और उसके प्रतिबोधके लिए भेद किया जाता है। जब तक भेद-विमुक्त होकर यह उपयोगमे उस केवलको ही दृष्टिमे न ले तब तक जीवको कल्याणका मार्ग नही मिलता। यह बात विवेकी मेढकोने कर लिया, नारकियोने कर लिया, पशुओने कर लिया, मनुष्योने कर लिया। यहां यह भेद नही है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य जीवने अपने आत्माको किसी दूसरे रूपसे अनुभवा हो, और सम्यग्दृष्टि मेढकके या अन्य किसी पशुके जीवने और किसी तरहसे अपने आत्माको अनुभवा हो ऐसी बात नही है। सम्यक्त्वका अनुभव सबको एक चैतन्यरूपसे ही होता है। जहां यह सिद्ध हुआ कि सब बात सुलझ गई। ये जगतमे जितने भी बाहरमे परिणमन हो रहे है उनसे मेरे आत्माका रच भी सम्बन्ध नही है, केवल अपने आत्मस्वरूपसे ही अपना सम्बन्ध जानकर उसीमे अवस्थित होनेका मग्न होनेका काम करना चाहिए, लेकिन जहा परिस्थितियां इस तरहकी बन रही है कि इस पावन कार्यको नही कर पा रहे वहा खेद अवश्य इस बातका होना चाहिए कि जिन कार्योंमे हमे लगना पड रहा है वे झंझटें हैं। ऐसी दृष्टि रहेगी तो आत्माकी ओर दृष्टि करनेका मौका मिलेगा। यहाके अनेक प्रसंगोमे रहकर आत्माभिमुख होनेका अवसर नही मिल पाता।

ज्ञानीकी बाह्यवृत्ति होनेपर भी अन्तर्लीलाका रहस्य—ज्ञानी पुरुषकी लीला ही अद्-भुत होती है। उसकी हर प्रकारकी वृत्ति उसको किसी न किसी तरहसे रत्नत्रयकी साधना करनेकी ओर ही प्रेरित करती रहती है। अज्ञानी जन, मिथ्यादृष्टि जन उसकी बाह्य वृत्तियों को देखकर उसके रहस्यको समझ नही सकते है। उसकी सारी वृत्तिया रत्नत्रयकी साधना की धुनमे ही चलती रहती है। जो नापेगा वह अपने ही गजसे तो नापेगा, दूसरेके गजसे थोडे ही नापेगा। अज्ञानी जन उस ज्ञानीके प्रति सोचेंगे तो अपनी योग्यताके अनुसार ही तो सोचेंगे, कही ज्ञानियो जैसा तो न सोच पायेंगे। तो अपने आत्मस्वरूपको समझनेके लिए यह एक धर्मचर्चा है। अनन्त शक्तियोको समझ करके क्या करना है? ये भिन्न-भिन्न सब ऐसे निरखनेमे ही तो समय नही गुजारना है, किन्तु उन अनन्त शक्तियोके अभेदरूप उन अनन्त शक्तियोमे एकमेक स्वयं चैतन्यमात्र ज्ञानमात्ररूपसे अपनेको अनुभव करना है।

पहुंचाया गया है हमे उस घाटपर किसी रास्तेसे लेकिन उस रास्तेमे हमे मुग्ध नही होना है। इसी प्रकार अनन्त शक्तियोके वर्णनसे पहुचाया गया है उस अखण्ड ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व पर, लेकिन हमे इन शक्तियोमे से किसी भी शक्तिमे मुग्ध नही होना है, किसी भी शक्तिका विकल्प करके आग्रह करके नही रहना है, किन्तु पहुचाया गया है हमे उस ज्ञानमात्र स्वरूप पर इन शक्तियोके विवेचनके द्वारा। तो बस उस अखण्ड ज्ञानमात्रके अनुभवमे पहुचा दिया जाय इसके लिए यह समस्त शक्तियोका, पर्यायोका विवेचन है। पर्यायोमे तो मूलमे अर्थपर्यायपर दृष्टि दीजिए और शक्तियोमे मूलमे चैतन्यस्वभावपर दृष्टि दीजिए—दो बातें है, और फिर अर्थपर्यायकी दृष्टि भी गौण होगी और उस शाश्वत ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टि ही रह जायगी। वहाँ अनुभवमे पहुचे कि बस ससारके जन्म मरण, भव, परिवर्तन ये सब छूट जायेंगे। इसीको ही कारणसमयसार कहा, इसीको सम्यग्दर्शनका विषय कहा, इसीको परमपारिणामिक भाव कहा, इसीको शुद्ध आत्मद्रव्य कहा, इसीको केवल कहा, क्योकि यह सत् है। जो भी सत् है वह खालिस केवल है, तो ऐसा यह मैं केवल चैतन्यस्वरूप आत्मा यह दृष्टिमे आये, बस यही जैनशासनके सारे उपदेशोका निचोड है, प्रयोजन है। ऐसे इस आत्माके अनुभव करनेका उपाय सुगम ज्ञानमात्र रूपसे अपना चिन्तन करना है। मैं ज्ञानमात्र हू।

तत्त्वदर्शीके तत्त्वदर्शनकी सुगमता—भैया! आत्मकल्याणके लिए बडी उलझनमे नही पडना है, कोई खास कठिनाई नही करना, जिन्होने उस तत्त्वको नही पाया उनके लिए जरूर सब कठिनाई ही है। इस तत्त्वके जानकारके लिए तो कही कोई कठिनाई नही है। जब चाहे उस तत्त्वका दर्शन करके अपनेको आनन्दविभोर कर लेता है। जैसे यात्रा करते हुएमे जिसके पास टिपेनवाक्स हैं, उसमे जो अपने खानेका सामान खूब रखे हुए है उसको यात्रा करनेमे क्या कठिनाई? वह तो जहा भूख लगी, तुरन्त निकाला, खाया और आरामसे रहे, ऐसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुषको कही कोई परेशानी नही होती। आपने देखा होगा कि कुछ ऐसे चित्र बना दिए जाते हैं कि जिनमे केवल कुछ वृक्ष जैसे खडे हुए दीखते है उनमे ऐसी कला पडो होती है कि जरासा इधर उधर घुमाया तो बस अन्य किसी पशु या मनुष्य आदिक रूप दिखने लगता है, या उस वृक्षचित्रके अन्दर ही किसी जगह अगुली फेरकर बता दिया कि यह देखो बैल बना है तो झट उसे बैलका ही आकार उसमे दिखने लगता है। ऐसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुष अनेक प्रसगोके बीच रहता है, अन्य लोग उसकी बाह्य क्रियाओको देखकर उसका अन्त मर्म नही पहिचान पाते हैं, पर उस तत्त्वज्ञानी पुरुषमे ऐसी कला होती है कि उन बाह्य प्रसगोमे रहकर भी लीला मात्रमे अपने उस शुद्ध आत्मतत्त्वका अनुभव कर दर्शन कर लेता है। यहा शुद्ध आत्मतत्त्वका मतलब अरहंत सिद्ध नही कहा जा रहा,

किन्तु आत्माके उस शुद्ध स्वरूपपर ध्यान देना। जहां कर्मोका आश्रव नहीं, सम्वर नही, क्रोधादिक विकार नही, कोई विकल्प तरग नही, कोई रूप रगाकार नही, मुक्ति नही, संसार नही, किन्तु केवल स्व मात्र ऐसे उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी बात कह रहे है। जहां सम्वर आस्रवकी बात कह रहे है कि सम्वरका लक्षरण जहा आस्रव न रहे, रुक जाये सो सम्वर है। आस्रव जहाँ कर्मोका आना सो आस्रव। जब बहुत-बहुत प्रतिबोध करके नाना तरहसे समझा गया कि यह तो है केवल, सत् निज। बस वह दृष्टिमे आ जाय, यह बतानेसे न आयगा, बतानेसे कुछ निकट पहुंचे और उस रूपसे अपने आपका अनुभव करे, प्रयोग करें तो वहां अनुभवमे आ जायगा, समझमें आ जायगा कि आध्यात्मिक संत महंतोने जो शुद्ध आत्मद्रव्यकी बात कही है कि जो न मुक्त है, न ससारी है, न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, जहां ९ तत्त्व भी नही है, वह यथार्थ है, ऐसा केवल यह शुद्ध आत्मद्रव्य है। अब कोई बच्चा भी कोई आत्मतत्त्वसे सम्बधित दोहा बोल दे तो उसे सुनकर झट ज्ञानी पुरुष उस आत्मतत्त्वका भान कर लेगा। ऐसा ज्ञानमात्र रूपसे कोई अनुभव करे तो उसका अनुभव सुगम हो जायगा। खुद ही साधन हो गया, खुद ही साध्य है। जैसे आमके पेडमे लगे हुए आम उस पेडपर ही पक जाते है, अब कोई पूछे कि बताओ कैसे वे पक गए ? अरे न वे भुसमे दबाये गए, न उन्हे खाटपर रखकर पाल बनाया गया, वैसे वे यो ही पक गए ? तो भाई सुनो— उस आममे भीतर स्वय ही ऐसी गर्मी है कि जिसकी वजहसे वे पक गए। दृष्टान्त जिस बात की सिद्धिके लिए दिया जाता है उसको उतना ही अभिप्राय लेकर सुनना चाहिए। जैसे लोग साधुओंसे कह बैठते हैं कि महाराज हमे सम्यग्दर्शन, तत्त्वज्ञान दे दो। तो साधु भी कह देता है--हां हा ले लो। तो बताओ वहां बाहरमे मिल क्या गया ? अरे जो चीज खुदके अन्दरसे ही प्रकट होती है उसे कोई दूसरा कैसे दे देगा ? आत्मा ज्ञानमात्र है। उसका परि-रणमन भी ज्ञानमात्र है। ज्ञानानुभव भी हो रहा और उसकी क्रिया भी ज्ञानमात्र है, याने कितना स्वापेक्ष है वह तत्त्व जहा किसी परकी अपेक्षा नही, राग उसमे मदद नही करता, परद्रव्य उसमे मदद नही करता, किन्तु वह ज्ञानानुभव तो स्वयं अपनी ज्ञानमात्र परिरणतिके द्वारा ज्ञानमात्र साधनसे ज्ञानमात्र अपनेको करता हुआ अनुभूत हो जाता है।

अन्तस्तत्त्वकी उपलब्धिके लिये असहयोग व सत्याग्रहका आन्दोलन—भैया ! आत्महितके लिये दो बातें ही तो करनेकी है—(१) असहयोग और (२) सत्याग्रह। असहयोग यही करना है कि जो समस्त परपदार्थोका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पृथक्-पृथक् है, उनका उनमे है, किसी एक पदार्थका दूसरे पदार्थसे रंच भी ताल्लुक नही है। उनसे अपने अन्दर व्यग्रता लानेका अवकास न आने देना, यही है असहयोग और सत्य है अपना ज्ञानस्वरूपमात्र आत्मतत्त्व, उस सत्त्व स्वरूपका आग्रह करना है। इन दो बातोके सिवाय

दुनियामे करने लायक काम अन्य काम ही नही है। और जो अन्य काम करने होते हैं वे कर्मके विपाकसे हो जाते हैं, लेकिन मैं उन कर्मोसे, उन झंझटोंसे निराला एक शुद्धस्वरूप हूँ। यही सत्य स्वरूप है, यही शिव है, यही सुन्दर है, यही कल्याणरूप है। जो इसके आश्रयमे रहेगा, जो इसके भीतर रहेगा उसको दुःखकी कोई बात नही है, कोई अकल्याण की बात नही है। सुन्दर यो है कि यह केवल है, इसकी सुन्दरता अनोखी है। लोकमे भी कोई पुरुष या महिला वस्त्राभूषण, क्रीम, पाउडर, स्नो, लाली आदिकसे अपने शरीरको सजाती है, बहुत बनती ठनती है तो बताइये उसमे कोई सौन्दर्य आ गया क्या ? अरे वह तो भूत पिशाच जैसी सकल बन गई। अभी थियेटर वगैरहमे काम करते हुए बालक बालिकाओको देखा होगा—जब उनका मेकप किया जाता है, एक बनावट की जाती है तो कितने वे भद्दे लगते हैं, अरे यो ही अगर सीधे सादे स्टेजपर आकर काम दिखाते तो उनके वचनोका कुछ और ही प्रभाव होता। उनके भेपके बनावटीपनमे वचन भी बनावटी मालूम होते है। तो यह बनावट करना तडक भडकके वस्त्राभूषण पहिनना यह कितनी अशोभनीय बात है। हाँ मोही जनोको, मदबुद्धि वालोको, अज्ञानियोको भले ही ये बनावटी रूप सुन्दर प्रतीत होते हो। यह भी व्यवहारमे एक सुन्दरता निरखना है और परमार्थमे केवल आत्म-द्रव्य जो कि सही है, शुद्ध है, उसकी ओर दृष्टि करना, उस शुद्ध आत्मस्वरूपको ही निरख निरखकर खुश होना, उसीको अपना सर्वस्व समझना, यह भी एक सुन्दरताका ही निर-खना है। अपने आपको ज्ञानस्वरूप मात्र अनुभवा जाय तो इसका ज्ञानानुभव होता है।

आत्माको ज्ञानमात्र अनुभवनेके उपदेशका कारण—अब एक अतिम जिज्ञासुकी कोई जिज्ञासा रह सकती है उस पर भी ध्यान कीजिये कि वर्णन आया है कि आत्मामे ज्ञान गुणके अतिरिक्त अन्य भी गुण है फिर आत्माको ज्ञानमात्र ही क्यो कहा जा रहा है ? ठीक है। जैसे बारातमे दूल्हेका छोटा भैया भी है, छोटी वहिन भी है और वे पालकीमे साथ बैठे है, और बारातमे चाचा, मामा आदिक भी हैं, और भी बहुतसे नातेदार, रिस्तेदार व्यवहारी जन है तो वे सब कब शोभित हो रहे हैं ? जबकि दूल्हाके साथ है, उसे वे सब लोग घेरे हुए हैं, ठीक ऐसे ही समझ लीजिए कि इस आत्मामे गुण अनन्त हैं, आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है, अखण्ड स्वभाव है, लेकिन जो अनन्त गुण, सहज भाव साथ चलते है तो वे सब तभी तक शोभित हो रहे है जब तक कि इस ज्ञानमात्र स्वरूपको घेरे हुए हो। ये सारी अनन्त शक्तियाँ ज्ञानभावमे आकर उछला करती है। आत्मा अमूर्त हैं आत्मा अमूर्त है, खूब रहे अमूर्त, पर एक ज्ञानमात्र न रहे तो वह अमूर्त कहाँ विराजेगा ? अमूर्तकी वहाँ चीज क्या रहेगी ? उसका कुछ सत्त्व भी रहा क्या ? एक चैतन्यभर न रहे, अमूर्त आदि रहे आवे तो फिर ये अन्य अनेक गुण उनके परिणाम फिर कहाँ बिरा-

जेगे ? तो यह आत्मा ज्ञानमात्र है। इस ज्ञान मात्र रूपमें अपने आपका अनुभव करने पर वे सब शक्तियाँ उछलती है। और, दूसरी बात सुनो—इस आत्माको ज्ञानमात्र बताया है। उसका यह भी कारण है कि यह ज्ञान ही तो उन सब शक्तियोको जानता है। अनन्त शक्तिया बतायी है, उन अनन्त शक्तियोमे एक ज्ञानशक्ति हुई, बाकी और-और शक्तिया ज्ञानको छोडकर शेष अनन्त शक्तियोको जानन वाला कौन ? यह ज्ञानशक्ति। उनकी प्रतिष्ठा किसने रखी ? इस ज्ञानशक्तिने। तो यह ज्ञानभाव अनन्त शक्तियोको जानता है तब यह ज्ञानमात्र रूपसे अपने आपका अनुभव करता है। और भी बात समझिये कि समस्त शक्तियोमे सबको समझ सके वह एक ज्ञानशक्ति है, ज्ञानमात्र है। इसलिए ज्ञानमात्र कहा। और, अन्तिम बात यह समझ लो कि हम उन अनन्त शक्तियोमें से किसी एक शक्तिपर ध्यान देकर चिन्तन करें तो ज्ञानानुभव न होगा और अनन्तशक्त्यात्मक आत्मतत्त्वको एक ज्ञानमात्ररूपसे अपने आपमें निहारे, मै ज्ञानमात्र हूं, चैतन्यमात्र हू, तो बस ज्ञानानुभव हो जायगा। इसलिए भी आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। जो काम चाहिए उसके लिए जो साधक हो वही बताना चाहिए। तो यो एक अपनेको ज्ञानमात्र अनुभव करे, इससे लिए ही यह सब अनन्त शक्तियोका वर्णन चला है। इन सब वर्णनोके साथ यह १३ वा परिच्छेद समाप्त होता है। इस परिच्छेदमे तेरा ही परिच्छेद बताया गया है। इन शुद्ध अनन्त शक्तियोके परिचयसे अनन्तशक्त्यात्मक ज्ञानमात्र केवल आत्मद्रव्यको निरख, इस ही मे रति कर, तृप्ति कर और इस ही मे सतुष्ट होओ, अवश्य ही सदाके लिये सर्व संसार संकट दूर हो जावेगे और तू पवित्र आनन्दमय रहेगा।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति।।

।। अध्यात्मसहस्री प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ।।

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

❀ शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ❀

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावा प्राप्स्यन्ति चापुरचलं सहजं सुशर्म।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥१॥

शुद्धं चिदस्मि जपतो निजमूलमन्त्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहितं स्पृशतः स्वतंत्रम्।
यत्र प्रयान्ति विलयं विपदो विकल्पाः, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥२॥

भिन्नं समस्तपरत परभावतश्च, पूर्णं सनातनमनन्तमखण्डमेकम्।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥३॥

ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकलं स्वरसाप्तसत्त्वम्।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्धं चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥४॥

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम्।
यद्दृष्टिसंश्रयणजामलवृत्तितानं, शुद्धं चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥५॥

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमशं भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम।
आनंदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहजं परमात्मतत्त्वम् ॥६॥

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्यं निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम्।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेज, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ॥७॥

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदित· समाधिः।
यद्दर्शनात्प्रभवति प्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम ॥८॥

सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्यय याति ॥